प्रधान सम्पादक

धीरेन्द्र मजूमदार

सम्पादक

आचार्य राममूर्ति

वर्ष १२ अंक १

वार्षिक चन्दा ६-००

एक प्रति ०-५०

अगस्त १९६३

नयी तालीम

अनुक्रम

पृष्ठ

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता

नयी तालीम
अ० भा० सर्व सेवा संघ राजघाट,
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष १२] [अंक १

मैं केवल मनुष्य हूँ

मैं अधिकारी हूँ, मैं पुरोहित हूँ, मैं शिक्षक हूँ, मैं किसान हूँ, मैं मजदूर हूँ, मैं लेखक हूँ, मैं सम्पादक हूँ, मैं कार्यकर्ता हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं पंजाबी हूँ, मैं बंगाली हूँ, मैं कांग्रेसी हूँ, मैं जनसंघी हूँ, हर एक कुछ न कुछ है। कोई ऐसा नहीं है, जिसकी जाति, धर्म, प्रान्त, दल, शिक्षा या पेशे की कोई उपाधि एक या अधिक न हो, और जो चाहता न हो कि उसे उसकी उपाधि से ही जाना जाय। उपाधि में विशिष्टता है और विशिष्टता में प्रतिष्ठा।

कोई यह क्यों नहीं कहता कि मैं मनुष्य हूँ—केवल मनुष्य। समाज की परम्परागत मान्यताओं के कारण उपाधि में प्रतिष्ठा भले ही हो, लेकिन उससे यह भी तो होता है कि मनुष्य की दृष्टि और उसके सम्बन्ध एक तंग दायरे में सीमित हो जाते हैं। जब मनुष्य आसानी से व्यापक हो सकता है तो उसे सीमित होना इतना अच्छा क्यों लगता है? उत्तर है—संस्कार। सदियों से समाज का जो जीवन रहा है उसमें ये कुसंस्कार विकसित हुए हैं।

मनुष्य की मूल वृत्ति संकुचित नहीं है, और न उसका विचार ही संकुचित है। संस्कार वृत्ति और विचार के बीच में है, लेकिन अत्यन्त प्रबल है। यह जिम्मेदारी शिक्षा की है कि वह मूल वृत्ति को सँवारे और विचार को संस्कार के दलदल से छुड़ाये, पर यह जिम्मेदारी वही शिक्षा निभा सकती है, जो अपने को आरोहण की प्रक्रिया मानती हो। आज की शिक्षा तो गुण-विकास की ओर ध्यान न देकर

नित्य नयी कागजी उपाधियाँ बनाती बाँटती चली जा रही है। मनुष्य होना ही सबसे बड़ी प्रतिष्ठा है, और मनुष्य कहलाना सबसे बड़ी उपाधि है, यह प्रतीति न शिक्षा में है, न शिक्षक में और न शिक्षित में। जैसे-जैसे उपाधियाँ बढ़ेंगी, मनुष्य को मनुष्य से अलग करनेवाली नित्य नयी दीवालें खड़ी होंगी। मनुष्य से अलग होकर मनुष्य दानव हो जाता है।

हम इतना तो मानने लगे हैं कि विज्ञान के बिना अब जीवन की कोई समस्या हल नहीं होगी। विज्ञान व्यापक है, वह अपने में कोई भेदभाव नहीं रखता। वह वस्तु निष्ठ है, सत्य निष्ठ है। उसकी चुनौती है कि हम मन में जमे हुए स्थिर स्वार्थों और पक्षपातों के ऊपर उठें और जीवन में विचार का शासन स्वीकार करें। आज ऐसा नहीं हो रहा है, इसलिए हमारा ही निकाला हुआ विज्ञान हमारे संस्कारों से जुड़कर हमारे ही विनाश का साधन बन रहा है। अभी वह दिन देखना बाकी है जब मनुष्य अपने कुसंस्कारों के ऊपर उठकर इस बुनियादी सत्य को पहचानेगा।

लोकतन्त्र ने समान रूप से हर मनुष्य को वोटर तो बना दिया, लेकिन मनुष्य-मनुष्य की मूलभूत एकता की प्रतीति के अभाव में वह संघर्षमुक्त नहीं हो सका। लोकतन्त्र की ऊपरी समता भी मनुष्य का दमन और शोषण से छुटकारा दिलाने की परिस्थिति नहीं पैदा कर सकी।

कठिनाई यह है कि शिक्षा जमाने की चुनौती को स्वीकार नहीं कर रही है। वह स्वयं कुसंस्कारों में जकड़ी पड़ी है। शिक्षा एक जबरदस्त सांस्कृतिक शक्ति है, जो व्यक्ति और समाज के पूरे जीवन का नियमन और संचालन कर सकती है, यह भान अभी न शासक को है, न सुधारक को। शासक मनुष्य को बदमाश मानता है, सुधारक बेवकूफ। केवल शिक्षक ही वह व्यक्ति है, जो अगर चाहे तो मनुष्य की सम्भावनाओं को परख सकता है, लेकिन ऐसा करने के लिए जरूरी होगा कि शिक्षक किताब, स्कूल और परीक्षा तक सीमित रहनेवाला केवल शिक्षक न रह जाय, बल्कि मनुष्य बन जाय। शिक्षक के अलावा दूसरा जो भी मनुष्य अपनी उपाधि से ऊपर उठकर मनुष्य बन जायेगा, वह शिक्षक हो जायेगा।

नये जमाने की नयी तालीम का यह पहला कदम है। मैं मनुष्य हूँ और वह दूसरा भी मनुष्य है, यह प्रतीति जगाना नयी तालीम का पहला पाठ और अन्तिम लक्ष्य दोनों है।

—राममूर्ति

नयी तालीम सफल कैसे हो ?

•

विनोबा

कृष्ण भगवान के जीवन में ज्ञान और कर्म का समन्वय होने से वे रथ के घोडे सँभालने के लिए तैयार, जूठे पत्तल उठाने के लिए तैयार और गीता कहने के लिए तैयार, इस तरह हर बात के लिए वे तैयार थे। इसको कहते हैं नयी तालीम।

नयी तालीम की त्रिविध अक्षमता

नयी तालीम का विचार गांधीजी ने सन् १९३४ से ३६ के बीच दिया। उसको शुरू हुए लगभग सत्ताईस साल हो गये। उसका कुछ प्रयोग सरकार की ओर से हुआ, लेकिन उसका जो मूलतत्त्व है वह उसमें विकसित नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? शिक्षक, जो तैयार किये गये, वे पुरातन पद्धति से सीखे हुए थे। उनके मन में उद्योग के लिए बहुत ज्यादा आदर था नहीं। उनके शरीर को भी वैसी आदत न थी और न आदत डालने के लिए दूसरा उपाय ही था। जिन्होंने बीस-बीस साल पुरानी तालीम में काम किया वे अपने शरीर को फिर से बढायें, यह अपेक्षा कहाँ तक ठीक थी? क्योंकि वे शिथिल श्रेणी के थे और उस श्रेणी के मन में काम के लिए हमेशा न्यून भाव था। ऐसी हालत में उनके जरिये नयी तालीम विकसित होगी, यह आशा थी नहीं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने नयी तालीम के तत्त्व को भी नहीं समझा था। उन्होंने यह समझा था कि मुख्य वस्तु तो विषय सिखाना है—ज्ञान यानी विषय सिखाना। उसके लिए साधन के तौर पर थोड़ा उद्योग होना चाहिए। उन उद्योगों के द्वारा उत्पादन भी करना है और उन उद्योगों को साइंस की मदद से अधिक उत्पादनशील बनाना है। उन्होंने इतना समझा था कि ज्ञान दान के लिए साधन चाहिए और उसके लिए उद्योग की परिभाषा सीख लें तो बस है। परिभाषा सीखने के लिए खुद को थोड़ा उद्योग सीखना पड़ता है। कातना, बुनना, भोजन बनाना आदि प्रक्रियाओं की परिभाषा समझने के लिए उनका थोडा ज्ञान हस्तगत कर लिया तो अपना काम बन गया, शिक्षक का काम समाप्त हो गया, ऐसा वे समझते थे। इस त्रिविध अक्षमता के कारण वह प्रयोग सफल नहीं हुआ। प्रश्न है कि अब क्या करना होगा?

ज्ञान और कर्म को एकरूप कैसे करें?

ज्ञान और कर्म को एकरूप बनाने के लिए, जो पहले से ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, उनको उद्योग-वृत्ति देनी है और जो कर्मपरायण हैं, जो शरीर श्रम से अच्छी तरह अभ्यस्त हैं उनको ज्ञानमय बनाना है। यह दूसरा रास्ता हाथ में लेना चाहिए। बिलकुल देहात के लोग, जो काम के लिए अभ्यस्त हैं उनको समझा दिया जाय कि आपके पास उद्योग नहीं है तो हम दो तीन घंटे का उद्योग आपको देंगे और उसकी मजदूरी भी देंगे। इस प्रकार थोड़ी आर्थिक सहायता भी मिल सकेगी। अभ्यास के लिए थोड़ी फीस देनी पड़ती है। उसके बजाय हम शिक्षण के लिए फीस देंगे। अगर उतना शिक्षण देंगे तो दो-तीन रुपये महीना फीस आपको मिलेगी। इस प्रकार वे उत्साह से उद्योग सीखेंगे और तीन घंटा उद्योग करने के बाद मजदूरी मिली तो यह जो उद्योग सीखे हैं उन पर प्रकाश डालने के लिए त्रिविध ज्ञान दिया जायेगा—भाषा सिखायी जायेगी, गणित सिखाया जायेगा, सृष्टि-विज्ञान सिखाया जायेगा, इतिहास, भूगोल, निशान, सब सिखाया जायेगा, लेकिन वह सब उद्योगों पर प्रकाश डालने के लिए होगा।

शिक्षक कौन हो ?

उनके ज्ञान की परीक्षा ली जायेगी। जिनको ९० प्रतिशत मार्क्स मिलेंगे उनको शिक्षक के तौर पर लिया जायेगा। ३३ प्रतिशत मार्क्स से पास नहीं किया जायेगा। अभी ३३ प्रतिशत मार्क्स पाने पर पास करते हैं, क्योंकि विद्यार्थी निकम्मा बोझ उठाते रहते हैं। राजा-महाराजाओं के नाम की यादी (सूची), इधर-उधर का भूगोल, जिसका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसी बातें सिखायी जाती हैं, इसलिए ३३ प्रतिशत मार्क्स से पास कर देते हैं। अगर हम इस ३३ प्रतिशत अंक पाने पर उत्तीर्ण होने की परम्परा खत्म करना चाहते हैं तो काम के साथ ज्ञान भी पक्का करना होगा। इस तरह उनको ज्ञान और कर्म में प्रवीण बनाना होगा। फिर उन्हीं को शिक्षण शास्त्र सिखाकर शिक्षक भी बनाना होगा, बनायेंगे। ऐसे शिक्षकों के मार्ग-दर्शन में विद्यार्थियों में नव जीवन आयेगा, लेकिन इस प्रयोग के लिए थोड़ा समय चाहिए। आप पूछेंगे कि क्या २५ साल कम थे ? मान लीजिए कि २५ साल में काम नहीं हुआ तो आज से ही आरम्भ मान कर काम करें।

भगवान कृष्ण ज्ञान और कर्म में प्रवीण हुए, क्योंकि उन्होंने पहले कर्म सीखा था, उसके बाद ज्ञान। पहले ज्ञान और बाद में कर्म, ऐसा नहीं। गोकुल वृन्दावन में गाय चराना, कुश्ती लड़ना, पेड़ पर चढ़ना, जमुना में तैरना, साँप पकड़ना, गो-सेवा करना, दूध दुहना, गोबर उठाना, लकड़ी चीरना—क्या-क्या काम उन्होंने नहीं किया था ? हर काम में वे प्रवीण थे। उसके बाद जरा 'फिनिशिंग' के लिए वे स्कूल भी गये, जो 'आशादेवी' (आर्यनायकम्) के स्कूल जैसा ही था। गुरु ने उनको ज्ञान मन्त्र दिया। बारह साल की विद्या उन्होंने ५ महीने में प्राप्त कर ली। कृष्ण भगवान के जीवन में ज्ञान और कर्म का समन्वय होने से वे रथ के घोड़े सँभालने के लिए तैयार, जूठे पत्तल उठाने के लिए तैयार और गीता कहने के लिए तैयार, इस तरह हर बात के लिए वे तैयार थे। इसी को कहते हैं नयी तालीम।

अंग्रेजों ने जो तालीम दी वह पुरानी कहलायी; इसलिए इसको 'नयी तालीम' नाम दिया। वास्तव में हमारे देश में बहुत पुरानी वैदिक शिक्षा थी, जिसमें काम करते जायँ और ज्ञान प्राप्त करते जायँ। काम के साथ ज्ञान और ज्ञान के बाद उद्योग ऐसी अखण्ड परम्परा चली और दोनों एकरूप हो गये। फिर भी गांधीजी ने देश के सामने नयी तालीम को इसलिए रखा कि देश में स्वराज्य आयेगा तब अंग्रेजों की पुरानी तालीम चलाना बिल्कुल निकम्मापन होगा; इसलिए नयी रचना चाहिए। जैसे स्वराज्य के लिए नया झंडा तैयार करना चाहिए वैसे ही नयी तालीम भी चाहिए ही।

शिक्षक की विशेषता

नयी तालीम के शिक्षकों की विशेषता होनी चाहिए कि वे अपनी कमाई से खायें। शिक्षण के काम के अलावा कुछ और काम करके भी कमायें। उनसे हम पूछेंगे कि चार घंटे में कितना उद्योग कर सकते हो ? वह कहेंगे कि चार घंटे के उद्योग से महीने में हम ३० रु० कमा सकते हैं, तो अच्छी बात है। ३० रुपये तो मिल गये। हम और ५० रु० देंगे, वह सिखाने के काम के लिए। इस प्रकार कुल ८० रु० हो गये। वह अगर गाँव का लड़का होगा, नयी तालीम पढ़ा हुआ, शिक्षाशास्त्र सीखा हुआ तो आनन्द के साथ गाँव में जाकर कमायी करेगा और बच्चों को सिखायेगा। शिक्षक को अच्छी आमदनी होगी, शिक्षक और विद्यार्थी एक होंगे और जो विद्यार्थी सीखेंगे उनको भी फीस मिलेगी। इस तरह की व्यवस्था होगी तो नयी तालीम फिर से खड़ी होगी। फिर जिनको प्रोफेसर बनाना है, शिक्षक बनना है, नेता बनना है, वे सभी अगर ऐसे स्कूल में गये होंगे तो जीवन की रग रग उनको मालूम होगी और जिस किसी क्षेत्र में वे जायेंगे वहाँ के शिक्षकों में नम्बर एक होंगे और कामयाब होंगे, यह सारा चित्र नयी तालीम का है।

वर्षाऋतु की पुस्तक का पहला पृष्ठ

नरेन्द्र

"कड़क, कड़क, कड़क ....कड....? घड़डड. .....
हं....हं...." सुनकर हम दादी के आँचल में जा छिपे।

"कंस ने देवकी की पुत्री को पत्थर पर दे मारा तो वह बिजली बनकर आसमान में चली गयी और अब हर साल वर्षा के दिनों में प्रकट होती है दुष्टों का नाश करने के लिए।" —दादी ने कहा।

यह सब बातें बड़े भैया सुन रहे थे। उन्होंने दादी से कहा—"दादी, अब यह सब बातें पुरानी पड़ गयी हैं। यह बिजली है, बादलों की आपसी रगड़ से वैसे ही पैदा होती है जैसे दो पत्थरों की रगड़ से चिनगारी। जिस स्थान पर बिजली के लिए सबसे अधिक खिंचाव होता है वहीं यह खिंचकर चली जाती है। इसी को लोग बिजली गिरना कहते हैं। ऐसा होने से आग लग जाती है, इससे बचने के लिए आजकल बड़े-बड़े ऊँचे मकानों में एक तांबे का तार लगाते हैं, जिसका एक सिरा जरा सा ऊपर की ओर निकला रहता है। इस तार को मकान की दीवार के सहारे ले जाकर जमीन में खूब नीचे तक गाड़ देते हैं। ऐसा करने से बिजली का असर मकान पर नहीं होता, वह नीचे जमीन में चली जाती है।"

यह है वर्षाऋतु की पुस्तक के पहले पृष्ठ की पहली पंक्ति। प्राकृतिक नियमों के बारे में जो इस प्रकार की रूढ़ियाँ घुसी हैं उनको दूर करके वैज्ञानिक दृष्टि बनाने का पहला काम शिक्षक का है।

"जिसका दुश्मन खड़ा सामने
उसकी जननी को धिक्कार...."

कान पर हाथ रखकर वर्षाऋतु का यह प्रमुख राग आल्हा बड़े जोश से गाया जाता है। उत्तर भारत के अधिकतर हिस्सों में आल्हा का गायन वर्षाऋतु में ही होता है। किसानों की अधिकतर फौजदारियाँ भी इसी ऋतु के शुरू में होती हैं। खेतों के मेड़ के झगड़े अकसर इसी ऋतु में होते हैं। आल्हा गाने से खूब जोश भी किसानों में रहता है। शिक्षक के लिए ये सब प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे शिक्षण का गहरा सम्बन्ध है।

वर्षा का सम्बन्ध इन्द्र से भी जोड़ रखा है। बुन्देलखण्ड के बच्चे बड़ी मस्ती से गाते हैं—

"इन्दर राजा बेगई आ, बेगई आ
मामाजी की बाढ सूखे, बाढ सूखे"

वहाँ 'बाढ' ईख को कहते हैं। जब वर्षा होने में देर होती है तो सबसे अधिक नुकसान ईख का ही होता है। गरमी भर खेत में खड़ी रहने वाली फसल ईख ही है। किसान गरमी भर ईख को पानी देता है और बड़ी ही बेचैनी से वर्षा का इन्तजार करता है। मान्यता ऐसी है कि वर्षा का देवता इन्द्र है, उसी के हुक्म से वर्षा होती है। वह खुश रहे तो वर्षा जल्दी हो, समय पर हो, उचित मात्रा में हो, परन्तु उसके नाखुश होने पर वर्षा असमय से होगी, कभी अतिवृष्टि होगी तो कभी अनावृष्टि। इन्द्र को खुश करने के लिए यज्ञ किये जाते हैं, पूजा की जाती है।

श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा को बन्द कराया और गोवर्धन की पूजा शुरू करायी, ऐसा प्रसंग पुराण में

आता है। जो भी हो, वर्षा का सम्बन्ध इन्द्र से जोड़ना बड़ा ही बेतुका है। ऐसा कोई राजा नहीं हो सकता, जो वर्षा का नियन्त्रण करे। मैंने कई लोगों से ऐसा कहा। एक पंडितजी, जिनकी आस्था यह है कि हमारे देश में, साहित्य में, धर्म में जो कुछ है वह अक्षरशः सत्य है, अद्वितीय है। जब मैंने इन्द्र के बारे में उपर्युक्त बातें कही तो पंडितजी कहने लगे—'क्यों नहीं हो सकता? इन्द्र तो कृत्रिम वर्षा का विशेषज्ञ था ही।" उनकी इस बात में कुछ तथ्य हो या न हो, परन्तु आज जब हर देश में कृत्रिम वर्षा के प्रयोग हो रहे हैं तो पंडितजी का यह कहना कि इन्द्र कृत्रिम वर्षा का विशेषज्ञ था, तर्कयुक्त हो सकता है।

इतना तो स्पष्ट है कि वर्षा होने के कुछ कुदरती नियम हैं। उन नियमों के अनुसार अगर क्रियाएँ हों तो कृत्रिम ढंग से वर्षा करायी जा सकती है।

धोती सूख गयी, गड्ढे में पानी भरा था सूख गया, उबलते उबलते पानी कम हो गया, कहाँ गया यह पानी? गरमी के कारण भाप बन गया, यही न? भाप हवा में मिल गयी। हवा ऊपर उठी, और अब ऊपर की उस हवा में छोटे छोटे जल कण भाप के रूप में इकट्ठे हैं। ये बूँदें हवा में लटकी रहती हैं। जैसे-जैसे ये बूँदें बढ़ती जाती हैं, हवा इनका भार सहन नहीं कर पाती, और जब भार बहुत बढ़ जाता है तो ये बूँदें बारिश के रूप में बरस जाती हैं।

इसी सिद्धान्त को आधार मानकर कृत्रिम वर्षा करने की खोज की गयी है। खोज का आधार यह माना गया है कि अगर किसी तरह बादल के रूप में पाये जाने वाले इन पानी के कणों को इकट्ठा कर दिया जाय तो ये भारी होकर वर्षा के रूप में बरस जाते हैं।

अमेरिका के प्रो० वारेक और प्रो० वेरेन ने कृत्रिम वर्षा के प्रयोग किये। वे हवाई जहाज में बैठ कर बादलों के भी ऊपर आसमान में चले गये। ४० पौंड धूल-कणों को बिजली युक्त करके उसमें ऐसी शक्ति पैदा कर ली, ताकि जैसे ही वह बादलों पर गिरे, उनमें मौजूद जल-कण इकट्ठे हो जावें और वर्षा के रूप में बरस जावें। इन्होंने इस ४० पौंड विद्युत धूलि को एक वर्ग मील के बादलों पर छिड़क दिया। जोरों की वर्षा होने लगी।

डच वैज्ञानिक प्रो० वेरेट ने बालू के स्थान पर सूखी बर्फ (ठोस कार्बन डाइआक्साइड) का इस्तेमाल किया। उन्होंने एक हवाई जहाज में करीब ४२ मन ठोस कार्बन डाइआक्साइड रखा। आसमान में आठ हजार फुट ऊँचे चढ़ गये। वहाँ से ६५० फु० नीचे बादल पर यह रसायन छिड़क दिया गया। इससे तुरन्त घनघोर वर्षा होने लगी।

सिलवर आयोडाइड नाम के रसायन से भी कृत्रिम वर्षा के बड़े सफल प्रयोग हुए हैं। इस रसायन का गुण यह है कि जहाँ यह पदार्थ पहुँच जाता है वहाँ वाष्प कण इकट्ठे होकर जमने लगते हैं। इसी गुण के कारण जब इसका धुँआ बना कर बादल में काफी ऊँचाई पर पहुँचा देते हैं तो बादलों में वाष्प कण ठण्डे होकर जमने लगते हैं और फिर वर्षा के रूप में गिरने लगते हैं। सिलवर आयोडाइड की बुकनी को हवाई जहाज से भी बादल पर छिड़का जा सकता है। इस रसायन के छिड़कने पर जब एक बार बादल ठण्डा होना शुरू हो जाता है तो फिर यह प्रक्रिया लगातार होती रहती है।

बहुत से लोगों का कहना है कि हिन्दुस्तान में यज्ञ के द्वारा वर्षा कराने का भी यही रहस्य है। वर्षा कराने के यज्ञ की सामग्री इस तरह से तैयार की जाती है, ताकि उसमें से जो धुँआ निकले, उसमें सिलवर आयोडाइड गैस पर्याप्त मात्रा में निकले। इस विषय में अभी तक कोई प्रामाणिक खोज नहीं हुई है। हो सकता है कि खोज होने पर इसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय।

कृत्रिम वर्षा के विशेषज्ञों के रूप में आजकल अमेरिका में मिस्टर इरविंग लांगमूर और मिस्टर इरविंग पी क्रीक का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। इन दोनों ने कृत्रिम वर्षा के सफल प्रयोग किये हैं।

इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि तालीम में लगे लोगों का यह एक बहुत बड़ा काम है कि प्रकृति में घटने वाली घटनाओं के वैज्ञानिक कारण बच्चों को तो बताये ही जायँ, अन्य लोगों को भी बताये जायँ और जन मानस में उनके बारे में, जो रूढ़ि युक्त धारणाएँ घुसी हुई हैं, उन्हें निकाल फेंका जाय।

यह काम शिक्षक का है और वही इसे कर भी सकता है।

विज्ञान-शिक्षण सहज कैसे हो

अब्दुल रज्जाक

गुरु-पक्ष का काम है—बच्चों में ज्ञान के प्रति उत्सुकता पैदा करना, उनसे छोटे-मोटे प्रयोग कराना और प्रयोगों के फल को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न कराना। विज्ञान शिक्षक केवल इतना ही करे तो हमारे स्कूलों में विज्ञान का स्वस्थ वातावरण सहज रूप में तैयार हो जायगा और विज्ञान शिक्षण भार न रहकर, एक रुचिकर विषय बन जायगा।

जन्म लेने के साथ ही बच्चा एक अनोखे संसार में प्रवेश करता है। अपने चारों तरफ नयी नयी विचित्र वस्तुएं देखता है। उन्हें समझने की कोशिश करता है। माँ की गोद में रहकर वह माँ से, पिता से बड़े भाई से, बहनों से पूछता है। शाला आकर उसकी इस उत्सुकता में और वृद्धि हो जाती है। गुरुजी सारी चीजें जानते हैं, ऐसी भावना लेकर वह अपनी हर शंका के समाधान के लिए गुरु के पास दौड़ा आता है। बस, यहीं से हमारे गुरु का काम शुरू हो जाता है। और, शुरू होता है यहीं से विज्ञान शिक्षण।

विज्ञान पेड़ पौधों, कीट पतंगों, जीव जन्तुओं या जानवरों के नाम और उनके अवयवों की लम्बी चौड़ी सूची नहीं है। यह है दैनिक जीवन की हर छोटी या बड़ी विभिन्न प्रकार की शंकाओं का समाधान। यह इतना सरल, सहज और दिलचस्प है कि जितना और कोई भी शिक्षण नहीं। काम है—केवल आंख कान खोले रखने का। हर चीज, जो हमारे सामने से गुजरती है, उसे यथाशक्ति समझने का प्रयास करें, अपनी शंकाएँ पुस्तकों में देखें, अपने से ज्यादा जानकारी वाले व्यक्ति से पूछें, और इस प्रकार स्वयं ज्ञानार्जन करें तथा अपने बच्चों का ज्ञान-वृद्धि में सहायक हो। बस, प्राइमरी पाठशालाओं के लिए इतना ही है विज्ञान शिक्षण।

किसी भी शिक्षण में दो पक्ष होते हैं। एक शिक्षण देने वाला और दूसरा शिक्षण ग्रहण करने वाला। शिक्षण देने वाले पक्ष को गुरु-पक्ष और शिक्षण प्राप्त करने वाले पक्ष को शिक्षार्थी पक्ष कहते हैं। अच्छे शिक्षण में दोनों पक्षों के काम की योजना उत्तमता और समझदारी से बनायी गयी रहती है। जहाँ कोई भी एक पक्ष कमजोर पड़ा, वहीं शिक्षण में कमी आयी। विज्ञान-शिक्षण के साथ तो इस बात का महत्व और भी बढ़ जाता है।

शिक्षार्थी में उत्सुकता पैदा हो, वह जानने के लिए प्रयत्नशील हो यानी उसमें जिज्ञासा जागृत हो तो समझ लें कि शिक्षार्थी पक्ष की इस नींव पर ही गुरु-पक्ष का सुदृढ़ भवन खड़ा किया जा सकता है। अगर कहीं ऐसा नहीं हुआ उल्टे गुरु पक्ष ने ही जबरदस्ती ज्ञान लादने की कोशिश की तो बात नहीं बनेगी। बच्चे अनमने ढंग से अधिक से अधिक सुन तो लेंगे, लेकिन वह सुनी-सुनायी बातें कब विस्मृति के गर्त में चली गयीं, वे स्वयं नहीं जान पायेंगे। हाँ, यह बात और है कि यदि बच्चों में प्रश्नों के प्रति सहज उत्सुकता न जगे तो उन्हें ऐसे वातावरण में ले जायें, ऐसी स्थिति में डाल दें कि प्रश्न अनायास ही फूट पड़ें। इस काम के लिए सैर-सपाटे और पर्यटन काफी हद तक सहायक होते हैं।

काम की दृष्टि से हम दोनों पक्षों के लिए कुछ विस्तार में चर्चा करना आवश्यक समझते हैं, जिससे हमें आगे चलकर प्रत्यक्ष शिक्षण में सहायता मिले और हम किसी चीज को अच्छी तरह समझ या समझा सकें। इस सन्दर्भ में हम पहले गुरु पक्ष की चर्चा करना चाहेंगे।

गुरु पक्ष

अगर हमारे गुरुजन नीचे लिखी बातों को अपने ध्यान-पथ में रखें तो उनकी अधिकांश समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी—

१—हमारे गुरुजन यह समझ बैठे हैं कि जबतक विषय को हम अच्छी प्रकार पूरी जानकारी न हो जाय हम पढ़ा नहीं पायेंगे लेकिन बात ऐसी है नहीं। कौन है जो किसी भी चीज के बारे में सब कुछ जानता है। पारंगत विद्वान भी कहता है कि हमारी जानकारी अधूरी है। इससे आगे भी बहुत कुछ है जिसे मैं नहीं जानता, जिसे अबतक मैं नहीं जान पाया उसे जानने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए ऐसी भावना होती है हमारे वैज्ञानिकों की और इसी बुनियाद पर वे प्रयोग करते जाते हैं और नयी नयी चीजों की जानकारी हासिल करते जाते हैं। हमारे गुरुजन भी बिल्कुल इसी प्रकार सोचें। इतना तो सही है न कि उनके पास बच्चों से ज्यादा जानकारी है और सोचने की शक्ति है। बस सब कुछ तो है उनके पास और चाहिए ही क्या जिसके लिए वे अपने को कमजोर पाते हैं। स्वयं प्रयोग करें समझें और अपने बच्चों को समझाने का प्रयत्न करें।

२—जिस भी विषय को लें जो भी समस्या सामने आये उसके लिए पूर्व जानकारी के रूप में अपनी पाठ्य पुस्तकों को देखें पुस्तकालय से प्राप्त उस विषय की जानकारी की अन्य पुस्तकों को पढ़ें मनन करें या अपने पास-पड़ोस के जूनियर हाईस्कूल अथवा हायर सेकेण्डरी स्कूल के शिक्षकों से निःसंकोच रूप में जानकारी हासिल कर लें। यह जानकारी उनके प्रयोग में सहायक सिद्ध होगी।

३—प्राइमरी स्कूल में बच्चे जिस बात को जानना चाहते हैं उन्हें यह समझा कर बतायें कि उनका ज्ञान अभी बहुत थोड़ा है। इतने अधिक विस्तार में न जायें कि वे उलझ जायें और इस उलझन में विज्ञान के प्रति उनमें बड़ा कठिन है ऐसी गलत भावना पड़ जाय।

४—पाठशाला की पाठ्य पुस्तकें बहुत सोच समझ कर विशेषज्ञों द्वारा तैयार करायी जाती हैं। उनका सहारा लेना सदैव लाभदायक होगा। पाठ्य पुस्तकों में दिये गये प्रयोग बच्चों की उम्र ज्ञान तथा शक्ति के आधार पर निर्धारित किये होते हैं। यथाशक्ति उनको दोहराने का काम बच्चों द्वारा कराना चाहिए।

५—कक्षा में बच्चों द्वारा कराये जाने वाले प्रयोगों को शिक्षक को चाहिए कि पहले स्वयं करके देख लें। प्रयोग करते समय उन सारी बारीकियों को सावधानी से स्वयं समझ लेना चाहिए जिसे आप चाहते हैं कि हमारे बच्चे समझें। जिस समय बच्चे उन प्रयोगों को करने लगें, उनका सावधानी पूर्वक निरीक्षण करें, आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता भी करें।

६—साधन के चुनाव में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। प्रत्येक प्रयोग में आने वाली वही वस्तुएँ लेनी चाहिए जो स्कूल में, घरों में या आसपास मिल सकें। जहाँ तक सम्भव हो कोई बड़ी टेकनिकल मशीन या साधन प्राइमरी स्कूल के प्रयोगों में प्रयुक्त न हो। ऐसे साधन ज्ञान नहीं उलझन बढ़ाते हैं।

७—अपने प्रयोगों के नोट तैयार करने का काम विद्यार्थियों को दें। नोट तैयार कराते समय ध्यान रखें कि बच्चे किस प्रकार कौन सी चीज लिख रहे हैं। ऐसा न हो कि प्रयोग की सत्यता लिखावट के तरीके में गलत अर्थ बताने लगे और आगे चलकर उन्हें भ्रम में डाल दे।

८—शिक्षक अपने प्रयोगों के नोट पहले स्वयं तैयार करें फिर कक्षा में प्रयोग करें। नहीं तो इस साधारण सी असावधानी से कक्षा में प्रयोग असफल हो जाते हैं और बच्चों के मन में शिक्षक के प्रति अविश्वास की भावना पैदा हो जाती है।

विषयगत जानकारी प्राप्त करने के लिए पुस्तकों और विज्ञपत्रों की सहायता ले सकते हैं। इस प्रकार उनका अपना तैयार किया हुआ नोट उनकी जीवन निधि होगी, जो उनके हर कदम पर सहायक सिद्ध होगी।

९—जहाँ तक सम्भव हो विद्यार्थियों को पर्यटन पर अवश्य ले जायें। खेत खलिहानों में बाग बगीचों में, नदी, झील या झरने के किनारे पहाड़ों पर शहर में पानी पहुँचाने वाले जल कल-यन्त्रों पर स्टेशन अथवा बाजारों में घुमाने के लिए बच्चों को ले जाना श्रेयस्कर होगा। घूमने से वे नयी नयी चीजें देखते हैं। उनकी उत्सुकता और जिज्ञासा बढ़ती है और प्रश्न करने की उनकी सहज वृत्ति सतेज होती है।

१०—संग्रह भी बच्चों को बड़ा प्रिय लगता है। भाँति भाँति के पक्षियों की पाँखें, फूल, फल, पत्तियाँ, बीज ऐसी ही अनेक चीजें हैं, जिनके संग्रह की बच्चों में विशेष रुचि होती है। बच्चा जो भी अनोखी चीज देखता है, चाहता है कि हमारे संग्रहालय में आ जाय। यह संग्रह की प्रवृत्ति उसके विकास में अत्यधिक सहायक होती है। वह जो भी वस्तु संग्रह करें, उसके बारे में दो चार पंक्तियों का नोट अवश्य तैयार करके वस्तु के नीचे लिख ले। बड़े बच्चों के ये संग्रह छोटे बच्चों के लिए बड़े काम के साबित होते हैं।

थोड़े शब्दों में कहा जा सकता है कि गुरु-पक्ष का काम है—बच्चों में ज्ञान के प्रति उत्सुकता पैदा करना, उनसे छोटे मोटे प्रयोग कराना और प्रयोगों के फल को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न कराना। विज्ञान शिक्षक केवल इतना ही कर लें तो हमारे स्कूलों में विज्ञान का स्वस्थ वातावरण सहज रूप में तैयार हो जायगा और विज्ञान-शिक्षण भार न रहकर, एक रुचिकर विषय बन जायगा।

शिक्षार्थी-पक्ष

जिस तरह ऊपर लिखी बातें गुरुजनों के लिए हितकर हैं उसी तरह नीचे लिखी बातें शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी हैं किन्तु उनमें इस प्रकार की सहज रुचि उत्पन्न करना और टेव डालना भी शिक्षक का ही काम है—

१—जैसा गुरु-पक्ष के सम्बन्ध में कहा गया है उसी तरह बच्चे प्रश्नों के प्रति जागरूक रहें। जहाँ नयी चीजें देखें, उनके सम्बन्ध में अपनी शंकाएँ गुरु के सामने निस्संकोच रूप से रखें।

२—अपनी पाठ्य पुस्तकों के आधार पर छोटे मोटे प्रयोग करके स्वयं देखें। कक्षा में कराये गये प्रयोग घरेलू जीवन में यथासम्भव प्रयुक्त करें। साइफन से पानी निकालने के तरीके स्कूल में पढ़ते हैं। आवश्यकता पड़ने पर घरों में साइफन का प्रयोग रोजमर्रा के जीवन में करने का अभ्यास डालें।

३—प्राइमरी स्कूल में बच्चे जिस बात को जानना चाहते हैं उन्हें यह समझा कर बतायें कि उनका ज्ञान अभी बहुत थोड़ा है। इतने विस्तार में न जायें कि वे उलझ जायें और इस उलझन में विज्ञान के प्रति उनमें 'बड़ा कठिन है' की गलत भावना पड़ जाय।

४—पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त पुस्तकालयों से लेकर पुस्तकें पढ़ें, उन्हें समझें और उनके सम्बन्ध में अपने गुरु से चर्चाएँ करें। इस सन्दर्भ में इतना स्मरणीय है कि हर छपी चीज सही ही होती है ऐसा हमारे बच्चे मानते हैं। बच्चों का ख्याल है कि जो छप गया वह ब्रह्म-लीक है, उसमें गलती हो नहीं सकती। हमारे गुरुजनों का काम है कि बच्चों की इस गलतफहमी को दूर करें और उन्हें समझायें कि सही और गलत का निर्णय कैसे किया जाता है।

५—संग्रह चित्र तथा आकृतियाँ बनाना आदि प्रत्यक्ष कामों में बच्चों को यथासम्भव रुचि दिखानी चाहिए और इसमें अपने बड़े साथियों और गुरुजनों से यथाशक्य मदद लेनी चाहिए।

विज्ञान-कक्ष

विज्ञान कक्ष के नाम से हम एक ऐसे स्थान की कल्पना करते हैं जहाँ हमारे संग्रह रखे जायेंगे। चित्र, चार्ट तथा एल्बम से सज सँवरे अपने विज्ञान कक्ष में हमें मौसम की दैनिक रिपोर्ट का भी चार्ट रखना चाहिए। यदि सम्भव हो तो गरमी और वर्षा नापने वाले यन्त्रों के सहारे दैनिक तापक्रम अथवा वर्षा का भी चार्ट रखा जाय तो ठीक है। इस चार्ट के सहारे बच्चे अपनी दैनिकी में हवा का रुख गरमी सरदी-वर्षा हर प्रकार की ऋतु परिवर्तन सम्बन्धी जानकारी देने का प्रयत्न करेंगे। जितनी ही जानकारी पाने की आदत बच्चों में हम डाल पायें, उतने ही अच्छे 'बाल-वैज्ञानिक' हम तैयार कर सकेंगे।

●

विज्ञान में सृजन और संहार दोनों शक्तियाँ हैं। अगर विज्ञान का लालन-पालन अध्यात्म की गोद में हो तो उसका विष भी अमृत बन जायगा।—विवेकानन्द

बालवाड़ी में
इतिहास और भूगोल की शिक्षा

जुगतराम दवे

पिछले अंकों में भाषा शिक्षण और गणित शिक्षण की चर्चा की जा चुकी है। आज मैं इतिहास और भूगोल-शिक्षण की चर्चा करना चाहूँगा।

स्कूलों में शिक्षा का चौथा विषय होता है इतिहास। वह भी बालवाड़ी में चले, ऐसा कोई भी नाग नहीं कहेगा और न किसी सामान्य शिक्षिका के मन में ही इस प्रकार का विचार आयेगा।

बालक यानी वर्तमान का प्राणी। उसको इतिहास की क्या जरूरत! और भविष्य भी कैसा?

बालक के लिए इतिहास जैसी कोई वस्तु होगी तो वह उसका अथवा उसके कुटुम्बियों का, उसकी बालवाड़ी का और उसके साथ खेलने वाले बालकों का इतिहास होगा।

होशियार बाल शिक्षिका कभी-कभी बच्चों को इकट्ठा कर उनसे बातें करेगी और अपनी बालवाड़ी में थोड़े समय पहले हुई घटनाओं का बयान करेगी। वह कहेगी—"अरे, तुम्हें स्मरण है, एक दिन अपनी बालवाड़ी में विनोबाजी आये थे और उन्होंने गांधीजी की बात की थी।'

"हम उस रोज नदी गये थे, याद है न! हम गाड़ी में बैठ कर गये थे। रामावतार गाड़ी हाँकता था। नदी जाते समय हमने बन्दर देखा था। हमें देखकर वह पेड़ पर चढ़ गया।'

इस तरह की कथाओं में शिक्षिका ऐसा वातावरण तैयार करेगी कि बालक भी अपने अपने संस्मरण कहने लगेंगे।

'हाँजी, फिर हमने नदी में जाकर स्नान किया था।' और फिर दूसरा बालक बोल उठेगा—'फिर हमने लाई खायी थी।'

तीसरा कहेगा—'नदी में मछलियाँ थीं, उन्हें हमने मूढ़ी दी था। मछलियाँ झट झट आकर मूढ़ी ले जाती थीं।'

फिर चौथे को याद आते ही वह बोलेगा—"रामावतार भाई ने बैलों को नदी में ले जाकर स्नान कराया था।'

इस प्रकार संस्मरण कहने और सुनने की दिलचस्पी बालकों में शिक्षिका पैदा करेगी तो सुन्दर सुन्दर बाल इतिहास उनकी मार्फत तैयार होगा।

कोई कहेगा—'मेरे दादा एक दिन बम्बई से आये तो हमलोग मोटर में बैठ कर उन्हें लेने के लिए स्टेशन गये थे। दादा मेरे लिए रबर की गेंद लाये थे। रास्ते में मेरी गेंद मोटर से बाहर गिर गयी। मेरे बाबूजी मोटर खड़ी करके गेंद ले आये।"

फिर कोई ऐसा बालक, जिसका अपना घर बनाया गया था—उस समय का संस्मरण कहेगा। कोई खेत में 'होरहा' लाने गया था, उसकी याद करेगा।

कुछ लड़के विनोबा की सभा में गये थे, वे सभा के संस्मरण सुनायेंगे। किसी के घर गाय का बछड़ा पैदा हुआ तो वह उसकी बात सुनायेगा।

छोटी छोटी बातें—आज की हुई या बहुत हुआ तो कल की, परन्तु कई आकर्षक घटनाएँ ऐसी भी होती हैं, जो उन्हें बहुत दिनों तक याद रहती हैं।

— अपने जीवन तथा आस पास के जीवन में घटी हुई ऐसी घटनाएँ, जिन्हें बालक कभी कभी याद करता है, उसके लिए बीज रूप में इतिहास शिक्षण ही है।

भूगोल की शिक्षा

यह रही इतिहास शिक्षण की बात। अब मैं भूगोल शिक्षण के सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहूँगा।

भूगोल की पुस्तकें और भौगोलिक नक्शे बालवाड़ी के काम के नहीं हैं, लेकिन भूगोल के संस्कार तो बालकों को बीज रूप से मिलने ही चाहिए।

बालवाड़ी के बच्चों ने छोटा सा प्रवास किया होगा। वह है उसका एक स्मरणीय भूगोल।

बालक अपने माँ-बाप के साथ यात्रा में या बरात में गया होगा, यह है उसका दूसरा भूगोल।

गाँव में किसी का घर किसी ओर है, किसी का खेत किसी ओर है, गाँव का तालाब किसी ओर है, गाँव के टीले किसी ओर हैं, गाँव की बालवाड़ी किसी ओर है, पाठशाला किसी ओर है—ये सब बालकों के भूगोल हैं।

उत्साही शिक्षिका समय-समय पर बालकों के भूगोल से सम्बन्धित चित्र उनके सामने बनायेगी और उन्हें बालवाड़ी की दीवाल पर लटकायेगी। कभी कभी वह किसी गली के घरों का नक्शा बनायेगी। बालक उसमें से किसका कौन घर है, यह देखते रहेंगे और बताते रहेंगे।

कभी कभी शिक्षिका बालवाड़ी का नक्शा भी बनायेगी। उसके आँगन में कुँआँ कहाँ है, आम का पेड़ कहाँ है, झूला कहाँ है वगैरह अपने नक्शे में बनायेगी और बच्चे बड़ी हँसी खुशी से वह सब पहचान लेंगे। बालवाड़ी के मकान में दरवाजे कहाँ हैं, खिड़कियाँ कहाँ है? शिक्षिका की बैठक कहाँ है, यह सब चित्र में होगा और बालक उन्हें ढूँढ़कर बतायेंगे।

बालक जिन्हें जानते हैं, अगर आप पा सकें तो ऐसे दो चार गाँवों के नक्शे भी बनाकर स्कूल में लटकाये जा सकते हैं।

दिशा का ज्ञान होने से कौन से गाँव कहाँ हैं, बालक बता देंगे। बाद भूगोल से सम्बन्धित स्थानों के चित्र और दृश्य भी उतारकर शिक्षिका बालवाड़ी में लटकायगी तो बालकों की भौगोलिक मनोभूमिका तैयार करने में वह बहुत उपयोगी होगा।

चबूतरे का चित्र देखेंगे तो वह जान लेंगे कि यह करारजी का चबूतरा है। टावर का चित्र देख कर उनके ध्यान में आयेगा कि यह बिड़ला का टावर है मंदिर का चित्र देखेंगे तो उस भी पहचान लेंगे। मेलों के चित्र, नदी घाट के चित्र, खेल के चित्र, गाँव के बड़े लोगों के चित्र, ये सब लटकाये होंगे तो कौन चित्र किस गाँव का है, यह बालक एक दूसरे को बतायेगा।

इस प्रकार उनके जीवन में भूगोल के संस्कार डाले जायेंगे। अपने गाँव में रहते हुए भी कई गावों के साथ और कई मनुष्यों के साथ उनका जीवन जुड़ जायेगा। उन्हें बिना सिखाये ही ऐसा लगेगा कि वे छोटे नहीं है, विशाल हैं। अकेले नहीं हैं, बल्कि एक बड़े भूगोल के भाग हैं।

नयी शिक्षा-दीक्षा के नये पैमाने

काशिनाथ त्रिवेदी

यदि शिक्षा के माध्यम से देश के लिए नया नागरिक खड़ा करना है, और उसे स्वतन्त्र भारत की रक्षा और समुन्नति का भार सौंपना है तो पुराने मूल्यों और संस्कारों के साथ जुड़ी हुई सामन्ती तथा पूँजीवादी वृत्ति का निर्माण करनेवाली आज की इस शिक्षा को हम उसके उपयुक्त सम्मान के साथ थोडी दृढता पूर्वक विसर्जित कर दें।

यों तो हमारा भारत बहुत पुराना और प्राचीन देश है लेकिन अपनी नयी आजादी के सन्दर्भ में आज यह नया माना जाने लगा है। आजादी की उम्र के हिसाब से अभी वह अपनी नयी उम्र में से गुजर रहा है। किशोरावस्था पार करके युवावस्था की दिशा में कदम बढ़ा रहा है। पुरातन भारत के लिए आज की आजादी एक नयी चीज है। नयी इसलिए कि उसके पिछले हजार-बारह सौ वर्ष नाना प्रकार की गुलामियों में बीते हैं इसलिए आजादी का कोई स्वाद उसकी जबान पर रहा नहीं है। जबान में पीढ़ियों तक भारतवासियों ने आजादी का मजा लूटा ही नहीं था। एक के बाद एक सदी गुलामी में ही गुजरती चली गयी इसीलिए आज का भारत, आजाद भारत, एक अर्थ में नया भारत है।

युग का आवाहन

आज हम सब अपने इस देश को नये सिरे से बनाने में लगे हैं। बनाना जरूरी हो गया है। अगर आजादी टिकानी है और आने वाली सैकड़ों पीढ़ियों तक हमें और हमारी सन्तानों को आजादी के साथ जीना है तो हमें अपने देश को और देशवासियों को आजादी का गहरा रंग देना होगा—उन्हें दिल से, दिमाग से रुचि-वृत्ति से, विचार व्यवहार से, रीति नीति से, तात्पर्य यह कि जीवन के हर पहलू से आजादी-पसन्द बनाना होगा। जमाने ने हमारे सामने यह एक नया पुरुषार्थ खड़ा कर दिया है। इस पुरुषार्थ के लिए देश के ४५ करोड़ बच्चों जवानों और बूढ़ों को, भाइयों और बहनों को तैयार करना आज का हमारा नया धर्म और नया कर्तव्य है। इसके पालन में जितनी उत्कृष्टता, निष्ठा, तत्परता, क्षमता, कुशलता और समग्रता से हम सब लगेंगे, उतनी ही सफलता हमें अपने लक्ष्य के निकट पहुँचने में मिलेगी। युग का यही आवाहन है और हमें इस युग कार्य के लिए कमर कसनी है।

यह एक मानी हुई बात है कि युग कार्य जितने भी होते हैं, वे समग्र होते हैं और उनके साथ एक परिपूर्ण दर्शन जुड़ा रहता है। युग कार्य की सिद्धि के लिए समग्र पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। बिना सामूहिक चेतना को जगाये और बिना सबकी समग्र शक्ति का संयोजन किये युग कार्य को सिद्ध करना सम्भव नहीं होता। आज हम अपने देश में नव

निर्माण के जितने भी प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें समग्रता की कमी पायी जाती है। यही कारण है कि नव-निर्माण के कामों में जो तीव्रता, उत्कृष्टता, सहजता प्रसन्नता और उल्लास दिखायी पड़ना चाहिए, वह कहीं दिखता नहीं है। कुछ लोग अपनी शक्ति से कहीं अधिक काम करके थक रहे हैं, और दूसरे बहुतेरे केवल तमाशबीन बनकर अपनी सहज शक्तियों को निकम्मा बना रहे हैं। सबकी सामूहिक शक्ति कहीं भी, किसी भी काम में पूरे मनोयोग के साथ लग नहीं रही है, इसलिए विकास का सारा काम खण्ड खण्ड में चल रहा है और समाज में विषमता बराबर बढ़ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत जैसे एक नये स्वतन्त्र देश में शक्ति का इस प्रकार बिखर जाना और अनुपयोगी बनना देश के भविष्य के लिए अच्छा नहीं है।

आज देश में चारों ओर जो व्यापक निराशा, मूढ़ता, जड़ता, अकर्मण्यता, असन्तोष और परस्पर अविश्वास तथा द्वेष की भावना का भारी विस्तार हो रहा है, उससे देश का हर विचारशील नागरिक परेशान और बेचैन है। यदि आज लोगों की यही हालत रहती है, यदि परिस्थिति में तत्काल कोई आशाजनक परिवर्तन नहीं होता है तो केवल कागजी योजनाओं के बल से और महज पैसे की ताकत से हम अपने महान देश का और उसकी विराट मानवता का सही विकास नहीं कर सकेंगे।

'द्विजता' दुर्लभ क्यों ?

मनुष्य समाज के विकास का एक बड़ा और अचूक साधन उसकी शिक्षा दीक्षा है। शिक्षा पाकर ही मनुष्य असल में मनुष्यता धारण करता है। गुरु के चरणों में बैठकर वह रोज रोज मानव जीवन की जो नित नयी दीक्षा लेता है, उसी के परिणाम स्वरूप मनुष्य नया मनुष्य बनता है। उसका पुनर्जन्म होता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ शिक्षित, सस्कारी, शीलवान, ज्ञानवान अथवा विद्वान मनुष्य को, फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, 'द्विज' कहा जाता था। पुराने गुरुकुलों अथवा गुरु-घरों में मनुष्य ज्ञान विज्ञान की जो उपासना करता था, उसके कारण उसका नया जन्म होता था। अनपढ़ व्यक्ति सुपढ़ बनता था, असस्कारी अथवा कुसंस्कारी संस्कारवान बन कर सामने आता था, दुःशील व्यक्ति शीलवान बनकर समाज को भूषित करता था, अज्ञानी ज्ञानी बनता था और अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया को ज्ञान पूर्वक, विचार पूर्वक करने की शक्ति उसमें प्रकट होती थी, इसीलिए वह द्विज कहलाता था।

एक समय था, जब इस देश में इस प्रकार की द्विजता मानव मात्र के लिए सुलभ थी। फिर उसमें कुछ कमी आयी और वह ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तक ही सीमित रह गयी। बाद में द्विजाति कही जानेवाली इन जातियों के लिए भी द्विजता सुलभ नहीं रही। फलतः इस देश की सारी मानवता गहरे अज्ञान में डूब गयी। जीवन अँधेरे से घिर गया। प्रकाश की किरणों का दर्शन दुर्लभ हो गया। लाखों-करोड़ों में कुछ मुट्ठी भर लोग जीवन का थोड़ा प्रकाश पाकर जाने लगे। वे ही कुछ उठे और बढ़े। बाकी सब अँधेरे में डूबे और दबे रहे। पिछली कयी सदियों का हमारा लोक-जीवन इसी हालत में बीता।

व्यापक और विशिष्ट लोक शिक्षण

अब जमाने ने कुछ करवट ली है। गुलामी का अँधेरा कुछ कटा-छँटा है। आजादी का सूरज उगा है, कुम्भकर्ण सी घोर नींद में डूबा हुआ समाज फिर अँगड़ाइयाँ लेकर जागे, इसके लिए कुछ अनुकूलता हुई है। जहाँ तहाँ जीवन में कुछ प्रकाश रेखाएँ चमकने लगी हैं। इस सक्रमणकाल में भारत के करोड़ों करोड़ों लोगों को जगाने, होश में लाने, हिम्मत बँधाने, अपने पैरों खड़े होने की ताकत पहुँचाने और दिलो दिमाग की गाँठों को खोलकर सबको जीवन के नये पथ पर बढ़ाने का भारी पुरुषार्थ हमारा रास्ता देख रहा है।

पहला और असल काम दूर दूर पहाड़ों, जगलों, मैदानों, रेगिस्तानों गाँवों और कस्बों में बसे हुए करोड़ों लोगों को जगाने का है। जब तक जगेंगे नहीं, उन्हें पता ही न चलेगा कि देश में आजादी का सूरज उग चुका है और अब वे उसके उजेले में अपने जीवन को नये तरीके से ढालने के लिए हर तरह

स्वतन्त्र हैं। उन पर गाहस्वागों का परायों का, परदे शियों का अथवा देशवासियों का भी कोई बोझ नहीं है, और न उन पर किसी का कोई जोर और जुल्म अब चलनेवाला है।

यदि इस प्राथमिक महत्व के अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य कार्य के लिए इतने वर्षों के बाद भी सारे देश में कोई सुसगठित और सुनियोजित प्रयत्न प्रारम्भ नहीं किया गया तो देश के करोड़ों लोगों में नयी स्वतन्त्रता के लिए कोई खास उत्साह, विश्वास और श्रद्धा नहीं जाग पायगा। परिणाम यह होगा कि नव निर्माण और विकास के सारे काम ऊपर ऊपर चलते रहेंगे, गहराई तक नहीं पहुँच पायेंगे और देश के लोक जीवन का मूल धारा को प्रेरित और प्रभावित भी नहीं कर सकेंगे अतएव व्यापक और विविध प्रकार का लोक शिक्षण आज का हमारा विशेष आवश्यकता है।

हम नम्रता पूर्वक यह स्वीकार कर लेना होगा कि आज अपने इस देश में शिक्षा के जो भी प्रयोग हो रहे हैं, वे आम लोगों को न तो छू पाते हैं और न उन्हें हिला ही पाते हैं। लोगों को अपनी बुनियादी जरूरतें भी पूरा करने में इन प्रयत्नों से कोई मदद नहीं मिल रहा है। देश के करोड़ों लोग आज भी इस प्रकार का शिक्षा से वंचित रह रहे हैं। उन्हें न नयी शिक्षा मिल पा रही है न पुरानी। उनके पास शिक्षा और संस्कार का सही विचार पहुँचाने में भी हम अब तक असमर्थ ही रहे। हमारी अब तक की सारी विफलताओं और निराशाओं के मूल में हमारे समाज तथा शासन की यह असमर्थता पड़ी है।

हम शिक्षा किसे कहें ?

इस प्रसंग में पहले हम यह सोचें कि आज के अपने सन्दर्भ में हम शिक्षा किसे कहें? आज इस देश के प्राथमिक से उच्चतम विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में नयी पीढ़ी के लोगों को जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है, स्पष्ट ही उसमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह आज के हमारे शिक्षित नामधारी भाई बहनों को स्वतन्त्र भारत का सुयोग्य,समर्थ,और उद्‌बुद्ध नागरिक बना सके। अपनी स्वतन्त्रता के इस सोलहवें वर्ष में भी आज हम अपने देश में हर तरह के गुलामी,लाचारी,मुँहताजी,बेकारी और कमजोरी का पोषण करने वाली शिक्षा ही दे-ले रहे हैं।

आज की इस शिक्षा को इसी तरह चला कर अगर हम आशा करें कि इसे प्राप्त करके निकले हुए लोग देश की और मानवता की उत्तम से उत्तम सेवा करने वाले बनेंगे तो हमारे नम्र विचार से वह आशा कभी फलवती होगी ही नहीं। हम यह स्पष्ट समझ लेना होगा, और तुरंत इस बात का फैसला करना होगा कि यहाँ शिक्षा, शिक्षित व्यक्ति को केवल नौकरी करने लायक बनाने का लक्ष्य रखकर चलेगा तो किसी भी दशा में वह हमारे राष्ट्र जीवन की आज की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकेगा। एक नौकरी का ही विचार शिक्षा के क्षेत्र में प्रबल बना रहा तो वह उस क्षेत्र को और शिक्षित व्यक्ति को भी सदा दूषित और दुर्बल ही बनाता रहेगा।

आज के इस नये सन्दर्भ में हम जरा पीछे मुड़ कर देखना होगा और हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वज ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने सामने जो लक्ष्य रखते थे, उन लक्ष्यों को पुनः ध्यान में लाना होगा और देश में हर जगह उनके अनुरूप शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था जमानी होगी। इस देश में बहुत पुराने समय से विद्या को मुक्ति का साधन और अमरता का वाहन माना गया है। ''सा विद्या या विमुक्तये।' और 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इन दो प्रसिद्ध और प्राचीन वचनों में जो महान आदर्श अंकित हैं उसे सतत अपने ध्यान में रखकर देश की नयी पीढ़ी की समूची शिक्षा दीक्षा का व्यवस्थित संयोजन करके ही हम पूरे देश में नये जीवन-मूल्यों से ओत प्रोत नयी मानवता और नयी नागरिकता के सुभग दर्शन कर सकेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि आज के इस युग में हमें आधुनिक ज्ञान विज्ञान की समस्याओं से दूर बने रहना है अथवा उसे आत्मसात करने में किसी प्रकार की संकीर्णता या संकोच से काम लेना है।

विज्ञान को अध्यात्म से जोड़ना होगा

हम तो अपने ढंग से आधुनिक से आधुनिक ज्ञान विज्ञान की उपासना के लिए भी उतना ही तैयार रहना चाहते हैं जितना आज की अपनी स्थिति मे हम यत्नपूर्वक रह सकते हैं। हमें उसकी सीमाएँ छूने और लाँघने मे न कोई संकोच है और न किसी तरह का कोई परहेज लेकिन हमारी मुख्य शर्त यही है कि आज के बड़े बड़े विविध रूपधारी ज्ञान विज्ञान की उपासना भी हम अपनी जीवन दृष्टि के अनुरूप करेंगे। हमारी वह उपासना हमे सच्चे अर्थों में मुक्त और अमर बनानेवाली सिद्ध हो, इसकी हम पूरी खबरदारी रखेंगे। यदि इस एक मर्यादा को ध्यान में रखकर, जो रक्षा कवच की तरह हमारे साथ जुड़ी रहेगी, हम ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे तो अपनी इस दिशा मे हमारा विकास अबाधित गति से होता चलेगा और उससे न हमें अपने देश में किसी भारी संकट का सामना करना पड़ेगा और न ज्ञान विज्ञान का हमारी व नयी से नयी सिद्धियाँ और उपलब्धियाँ संसार के लिए ही किसी संकट का कारण बनेंगी।

ज्ञान विज्ञान की जिन ऊँचाइयों को आज के इस अणु युग में और अन्तरिक्ष-यात्रा के युग में हम अपनी मूल दृष्टि के साथ छूना चाहेंगे, व केवल भौतिक नहीं होंगी, उनके साथ गहरा अध्यात्म जुड़ा होगा। उनके मूल में समूचा मानवता के सम्यक् पोषण का और उसका समुन्नति का भावना सदा रहेगा। हमारा नयी शिक्षा दीक्षा अपने लिए इस एक कसौटा को अपनाकर आगे बढ़ेगा तो वह इस पीढ़ी के लोगों को भी तार सकेगी और आने वाली अनेकानेक पीढ़ियों के लिए भी उत्तरोत्तर तारक ही बनती रहेगी।

क्या यह कोरा आदर्श है ?

स्पष्ट ही पाठकों को यह सब पढ़कर लगेगा कि यह तो सारा कोरमकोर आदर्शवाद ही है। मैं मानता हूँ कि आज की स्थिति में इस प्रकार के चिन्तन के लिए ऐसी धारणा का बनना अस्वाभाविक नहीं है। जीवन के उच्चादर्शों से दूर हटकर पिछले कई सौ बरसों में हम इतने दुनियादार और व्यवहार ग्रस्त बन गये हैं कि अब आदर्श की ओर देखने का और उससे प्रभावित तथा प्रेरित होने का हमारा सारा हौसला ही गड़बड़ा गया है। बहुत साधारण स्तरवाले, हल्के फुल्के और प्रायः क्षुद्रता तथा पामरता से भरे पूरे व्यवहार में हम इतने डूब से गये हैं कि आदर्श प्रधान सपने देखने का हमारा स्वभाव अब हमसे छिन सा गया है।

आज तो हमारा औसत लोक जीवन व्यवहार के क्षेत्र में भी भारी गिरावट का शिकार बन चुका है, लेकिन इससे निराश होने का आवश्यकता नहीं है। हमारा व्यवहार आज कितना ही गिर क्यों न गया हो, हमें एक बार फिर अपना पूरा जोर लगा कर आदर्श की दिशा में देखने का पुरुषार्थ करना ही होगा और क्रमशः व्यवहार को उज्ज्वल बनाते हुए उसे आदर्श की दिशा में पूरा खबरदारी के साथ आगे बढ़ाना होगा। आदर्शानुगत व्यवहार ही परिवार, समाज, देश और दुनिया में हमारी हस्ती को कायम रख सकेगा। आज के कुत्सित संघर्षों से भरे पूरे इस संसार में सिर ऊँचा करके जाने की और आगे बढ़ते रहने की शक्ति दे सकेगा।

(अपूर्ण)

o

व्यक्ति और समाज एक दूसरे से गठबंधित हैं। अतः पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्ति को समाज में कभी भी नहीं मिल सकती। हाँ, समाज छोड़ कर आप वनों में इसे पा सकते हैं, लेकिन समाज के बिना इसका कोई मूल्य न होगा। पारस्परिक सम्बन्धों की गुरुतरा को ठीक तरह समझ कर और पालन करके ही हम स्वतन्त्रता को कायम रख सकते हैं।

—ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम्

ग्राम-विद्यापीठ

•

स्नेह कुमार चौधरी

[ग्रामीण विद्यापीठों की योजना अभी अपनी प्रयोगिक अवस्था में है। इसमें पुस्तकों तथा मनुष्यों का समान रूप से महत्व है, इसकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। इसके छात्र सीखे गये सिद्धांतों का परीक्षण ग्रामीण समुदाय में करते हैं। —सम्पादक]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने एक विश्वविद्यालय-आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने सन् १९५० में अपनी विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें अन्य अनेक महत्वपूर्ण सुझावों के साथ ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना का भी सुझाव था। उस समय इस प्रकार का कदम उठाना सम्भव नहीं था। उच्च स्तरीय ग्रामीण शिक्षा की आवश्यकता बनी ही रही, क्योंकि भारत गाँवों का देश है और इस का सम्पूर्ण विकास व कल्याण तबतक नहीं हो सकता जबतक ग्रामीण परिस्थितियों से आप्लावित शिक्षण का विकास न हो जाये।

इसी कमी की पूर्ति व ग्राम पुनर्निर्माण के लिए गाँवों में काम करनेवाले उच्च शिक्षा प्राप्त व योग्य कार्यकर्ताओं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से भारत सरकार के द्वारा फिर से उच्च ग्रामीण शिक्षा पर विचार किया गया। इसके लिए सन् १९५४ में 'उच्च ग्रामीण शिक्षा कमेटी' की स्थापना हुई, जिसे 'श्रीमाली कमेटी' भी कहते हैं। इस कमेटी ने सन् १९५४ में ही अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत की, जिसमें यह बतलाया गया कि तत्कालीन परिस्थितियों में ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना न तो सम्भव है और न लाभप्रद ही। इसके बदले उस कमेटी ने विभिन्न क्षेत्रों में कुछ ग्राम विद्यापीठों की स्थापना की सिफारिश की और इसके लिए एक कार्यकारी योजना भी प्रस्तावित की। योजना में उच्च शिक्षा व ग्रामीण शिक्षा में तुलरफा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। कमेटी में अनेक विशेषज्ञ ऐसे थे, जो पहले से ही ग्राम पुनर्निर्माण व ग्रामीण शिक्षा के क्षेत्र में उच्च स्तर पर कार्य कर रहे थे।

इस कमेटी का ग्राम विश्वविद्यालय के विषय में यह विचार था कि यदि कहीं विश्वविद्यालय की स्थापना की जायेगी तो वहाँ पहले चाहे जितना भी ग्रामीण पर्यावरण क्यों न हो, पर इसकी स्थापना के बाद ही उस क्षेत्र का शहरी साँचे में ढल जाना स्वाभाविक है। अतः इसी बात को मद्देनजर रखते हुए इस कमेटी ने उच्च स्तरीय ग्रामीण शिक्षा के लिए ग्राम विद्यापीठ की योजना बनायी। इसके प्रारम्भिक स्तर पर कमेटी की सिफारिश का सभी ने स्वागत किया और इस विचार को अत्यन्त प्रशसनीय बतलाया। भारत सरकार को यह आशा हुई कि इनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों की बड़ी समस्याओं—जैसे अज्ञान, निरक्षरता, अन्धविश्वास, रोग और पिछड़ापन आदि का समाधान किया जा सकेगा और इन क्षेत्रों में काम करने के लिए उच्च स्तरीय कार्यकर्ता मिल जायेंगे।

इसी आशा व आधार पर सन् १९५६ में सब से पहले दस ग्राम विद्यापीठ भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के सचालन में प्रारम्भ किये गये तथा इन में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने वित्तीय अनुदान दिया। सन् १९५९ में राजपुरा, पंजाब में एक और

ग्राम विद्यापीठ खुला। यहीं पर एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यह विद्यापीठ सरकार ने स्वयं अपने द्वारा चलाये जाने की अपेक्षा ऐसी उच्च स्तरीय प्राइवेट संस्थाओं को दिये, जिनकी परम्पराओं का प्रभाव वहाँ के विद्यापीठों पर पड़ सके। भारत सरकार यह चाहती थी कि यह विद्यापीठ सरकारी कालेज न बनें और प्राइवेट संस्थाओं के प्रभाव में आकर ऐसे उत्साही युवकों को प्रस्तुत करें, जो अपने को ग्राम कल्याण और ग्रामीण शिक्षा के कार्य में समर्पित कर सकें। इन विद्यापीठों में हाईस्कूलों अथवा हायर सेकेण्डरी पास नव युवकों को अन्य ग्रामीण शिक्षा अनेक पहलुओं से प्राप्त होती है।

सन् १९५९ तक निम्न ग्राम विद्यापीठों का स्थापना भारत सरकार के द्वारा हो चुका थी—

१ शिवाजी लोक विद्यापीठ रूरल इंस्टिट्यूट, अमरावती, महाराष्ट्र,
२ बलवन्त विद्यापीठ रूरल इंस्टिट्यूट, बीचपुरी, आगरा, उ० प्र०,
३ इंस्टिट्यूट आफ हायर लर्निंग बिरौली,
४ श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय रूरल इंस्टिट्यूट कोयम्बटूर, मद्रास,
५ गांधीग्राम रूरल इंस्टिट्यूट, गांधीग्राम, मदुराई मद्रास,
६ मौनी विद्यापीठ रूरल इंस्टिट्यूट, गारगोटी, महाराष्ट्र,
७ जामिया रूरल इंस्टिट्यूट, जामिया नगर, नयी दिल्ली,
८ कस्तूरबा रूरल इंस्टिट्यूट, राजपुरा पंजाब,
९ लोकभारती रूरल इंस्टिट्यूट, सणोसरा सौराष्ट्र,
१० इंस्टिट्यूट आफ हायर एज्युकेशन, श्रीनिकेतन, प० बंगाल और,
११ विद्याभवन रूरल इंस्टिट्यूट, उदयपुर, राजस्थान।

सन् १९५९ के बाद वर्षों में भी रूरल इंस्टिट्यूट की स्थापना हुई थी।

इन ग्राम विद्यापीठों की स्थापना करते समय प्रमुखतया निम्न उद्देश्यों को सामने रखा गया था—

अ–ग्रामीण क्षेत्रों के नवयुवकों के लिए उनके उपयुक्त उच्च स्तरीय शिक्षा की व्यवस्था करना,

ब–ग्रामीण युवकों की वैयक्तिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध जीवन के आर्थिक और सामाजिक विकास से करना,

स–पहले का परम्परागत शैक्षणिक संस्थाओं में जिस व्यावहारिक, ग्रामीण, व्यावसायिक और सांस्कृतिक शिक्षा का अभाव है उसकी पूर्ति करना,

द–ग्रामीण शिक्षा के द्वारा ग्रामीण नेतृत्व का विकास करना,

य–ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न प्रसार-कार्यक्रमों तथा अनुसंधानों का आयोजन करना,

क–केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के सामुदायिक व राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं में योग देना,

ख–ग्रामीण पर्यावरण के बीच उच्च स्तरीय शिक्षा की स्थापना करना और

ग–ऐसे उत्साही, परिपक्व और योग्य कार्यकर्ता पैदा करना, जो ग्राम विकास, पुनर्निर्माण व कल्याण कार्य में पटु हों और उस क्षेत्र में कार्य करने की पूरी रुचि रखते हों।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विद्यापीठों का पाठ्यक्रम बनाया गया तथा उनमें ग्रामीण विषयों को ही सबसे अधिक स्थान दिया गया। इनमें ग्रामीण स्वास्थ्य, कृषि, कुटीर-उद्योग, रूरल इन्जीनियरिंग, गृह विज्ञान तथा सामुदायिक सेवाओं की उच्च स्तरीय शिक्षा दी जाने लगी और उनके सम्बन्धित प्रमाणपत्र *भी भारत सरकार द्वारा दिये जाने लगे। प्रमाणपत्र* दिये जाने से पहले परीक्षा का आयोजन होता है। इनमें ग्राम प्रसार, अनुसन्धान और क्षेत्रीय कार्यों को अत्यधिक महत्व दिया गया है।

सन् १९६२ से विद्याभवन रूरल इंस्टिट्यूट, उदयपुर में सामुदायिक विकास विषय में दो वर्ष का पोस्ट डिप्लोमा कोर्स भी शुरू हो गया है। इसमें बी० ए० या रूरल सर्विस डिप्लोमा कोर्स पास किया जाता है तथा इसका स्तर परम्परागत शिक्षा क्रम के एम० ए० के बराबर माना जाता है।

ग्राम विद्यापीठों में प्रमुखतया निम्नलिखित तीन पाठ्यक्रम चल रहे हैं—

१. डिप्लोमा इन रूरल सर्विसेज

इसको भारत सरकार तथा करीब करीब सभी प्रान्तीय सरकारों ने विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के समान मान्यता प्रदान कर रखी है। इस मान्यता के आधार पर विद्यार्थी विश्वविद्यालय से पास हुए ग्रेज्युएट के समान ही किसी भी प्रकार की सेवा के लिए योग्य समझे जाते हैं। ये केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षाओं में भी उन्हीं के समान बैठ सकते हैं।

२ डिप्लोमा इन सिविल एण्ड रूरल इंजीनियरिंग

केन्द्रीय सेवाओं में नियुक्ति के लिए इस डिप्लोमा को भारत सरकार ने मान्य किया है। इसके अतिरिक्त असम, बिहार, कश्मीर, केरल, मद्रास, मध्यप्रदेश, मैसूर और राजस्थान की राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय प्रशासनवाले. क्षेत्रों—जैसे, अण्डमान, निकोबार, दिल्ली, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश आदि ने भी मान्यता दी है। महाराष्ट्र राज्य ने इसे ओवरसीयरों के पद की नियुक्ति के लिए मान्यता प्रदान की है।

३. सैनिटरी इंस्पेक्टर्स कोर्स

सैनिटरी इस्पेक्टर के पद के लिए इस सर्टिफिकेट को असम, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर तथा उड़ीसा की राज्य सरकारों ने मान्य किया है।

सन् १९५६ से सन् १९६१ के सत्र तक इन ग्राम विद्यापीठों में कुल २,२५० विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। अब बहुत अधिक प्रचार हो गया है। नौकरी की दृष्टि से भी इन पाठ्यक्रमों को लोग अधिक लाभप्रद समझने लगे हैं। यह देखा गया है कि विद्याभवन रूरल इंस्टिट्यूट, उदयपुर में जब इस वर्ष पोस्ट डिप्लोमा कोर्स खोला गया तो अधिकतर प्रवेशपत्र एम० ए० पास विद्यार्थियों के थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास में गांधीग्राम रूरल इंस्टिट्यूट में तथा सहकारिता में कोयम्बटूर, अमरावती रूरल इंस्टिट्यूट में भी पोस्ट डिप्लोमा कोर्स खुल रहे हैं। पोस्ट डिप्लोमा पास करने के बाद विद्यार्थी प्राध्यापक, निर्देशक तथा जिला आयोजक की सेवाओं के लिए नियुक्त किये जा सकेंगे। ग्राम विद्यापीठों को तृतीय पंचवर्षीय योजना की सफलता में मानव-शक्ति प्रदान करनेवाला सबसे बड़ा स्रोत माना गया है।

अभी तक ग्राम विद्यापीठों में होनेवाली इन परीक्षाओं का संचालन व सफल विद्यार्थियों को डिप्लोमा देने का कार्य केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा हो रहा है, परन्तु अब इसके लिए एक आटोनोमस बोर्ड बनाने के विषय में भी विचार किया जा रहा है, जिसका पञ्जीकरण एवं स्थापना दिल्ली में होगी।

ग्राम विद्यापीठों की यह योजना अभी अपनी प्रायोगिक अवस्था में है तथा इसमें हो रहे कार्यों के अध्ययन हेतु भारत सरकार ने अनेक विशेषज्ञों के विभिन्न दलों को समय समय पर भेजा और उनकी विज्ञप्तियों और सिफारिशों के आधार पर आवश्यक परिवर्तन भी किये।

ग्राम विद्यापीठों में दी जानेवाली विशेष प्रकार की उच्च स्तरीय ग्रामीण शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध केवल शैक्षणिक बातों से ही नहीं, वरन पुस्तकों की शिक्षा के साथ साथ वह क्षेत्रीय व्यावहारिक अध्ययन तथा मनुष्यों का अध्ययन भी करवाता है। इनके पाठ्यक्रमों में पुस्तकों तथा मनुष्यों का समान रूप से महत्त्व है। इसमें छात्रों को अपनी कक्षा में सीखे गये सिद्धान्तों की परीक्षा ग्रामीण समुदाय में प्रसार कार्य के आधार पर करनी होती है एवं इस प्रकार का सम्बन्ध ग्रामीण लोगों से अधिक है बनिस्बत पुस्तकों के।

ग्राम विद्यापीठों की स्थापना हुए आज कई वर्ष हो गये। इसकी उपयोगिता और कार्यक्रम की सफलता का मूल्यांकन करने के लिए अनेक विशेषज्ञों द्वारा इनका अध्ययन भी हुआ है। इसकी स्थापना के मूल में बहुत ऊँचे लक्ष्य होने हुए भी सफलता के विषय में अनेक सन्देह प्रकट किये गये हैं। यह कहा जाता है कि अब यह ग्राम विद्यापीठ भी परम्परागत कालेजों के समान शिक्षित व्यक्तियों को पैदा कर रहे हैं तथा

[शेषांश पृष्ठ २३ पर]

बच्चा और उसकी जननेन्द्रिय-१

•

रामभूर्ति

छ महीने के बच्चे का ध्यान उसकी जननेन्द्रिय की ओर जाने लगता है, और एक डेढ़ साल का होने पर वह उसकी ओर उत्सुकता प्रकट करने लगता है—देखता है, छूता है, हिलाता है। हममें से कई लोग बच्चे को ऐसा करते देखकर चौंक उठते हैं, लेकिन चौंकने की जरूरत नहीं है. बच्चे से कुछ कहने की भी जरूरत नहीं है। हम मान लें कि यह बच्चे की सहज उत्सुकता है, किसी अनर्थ का आरम्भ नहीं।

तीन वर्ष की अवस्था के आप-पास बच्चे की सहज 'प्रौढ़ता' शुरू होती है। अपने सम्पर्क में रहने वालों के प्रति, मुख्यतः माता पिता के प्रति उसके मन में प्रगाढ़ प्रेम पैदा होता है। साथ ही उसमें एक प्रकार की बाल सुलभ, सेक्स भावना (सेक्सुअल फीलिंग) का भी उदय होता है। यह मानना गलत है कि सेक्स भावना किशोरावस्था में ही प्रकट होती है। तीन चार पाँच साल के बच्चों को स्पर्श का आनन्द आने लगता है। वे जिससे प्रेम करते हैं—वह चाहे प्रौढ़ हो या बच्चा—उसके पास रहना चाहते हैं, उसे देखना और छूना चाहते हैं। सामान्यतः इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। अगर बच्चा खेलता है, खाता पीता, सोता है और खुश रहता है तो उसे अपनी राह चलने देना चाहिए, लेकिन अगर वह इन चीजों की ओर से ध्यान हटाकर जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देने लगे तो अवश्य कोई उपाय करना चाहिए। किसी हालत में बड़ों को आतंक या चिन्ता तो प्रकट करनी ही नहीं चाहिए और न तो कुछ करके या कहकर बच्चे पर यही असर डालना चाहिए कि वह कोई बड़ा पापी या अपराधी है। अक्सर इतना काफी होता है कि 'माँ इसे पसन्द नहीं करती', 'यह अच्छी बात नहीं है, कोशिश करनी चाहिए कि बच्चे का दिमाग दूसरी निर्दोष चीजों में इतना लगा रहे कि जननेन्द्रिय के 'खेलों' की ओर न जाय। अक्सर यह होता है कि बच्चा दूसरे बच्चों को जैसा करते देखता है, खुद करना चाहता है, इसलिए अपने बच्चे के साथ-साथ उसके मित्रों पर भी ध्यान देना चाहिए। यह भी होता है कि सभी छोटे बच्चों का गुरु कोई बड़ा बच्चा होता है।

लगभग तीन वर्ष की उम्र के बच्चे पर अधिक ध्यान देने की जरूरत होती है। इस उम्र के कई बच्चे जननेन्द्रिय से बहुत अधिक खेलवाड़ करते हैं। अक्सर उनके मन में यह उत्सुकता होती है कि लड़कियों की बनावट लड़कों से भिन्न क्यों है। कई बार उनके मन में यह भय घुस जाता है कि उनकी जननेन्द्रिय को कुछ हो गया है या हो जाने वाला है। इस भय के कारण भी उनका हाथ बार-बार जननेन्द्रिय पर जाता है, और इसी भय के कारण कई बच्चे बचपन में हस्त मैथुन भी करने लग जाते हैं।

ऐसे बच्चे से यह मत कहिए कि वह अपने को चौपट कर रहा है, यह भी मत कहिए कि वह खराब हो गया है, इसलिए आप उसे प्यार नहीं करेंगे।

सब कहना बेकार है। अगर सचमुच बच्चे के मन में भय है तो उसे दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। ६ वर्ष की अवस्था से जब बच्चे में अपना विवेक (कान्शस) विकसित होने लगता है तो वह स्वयं अपने ऊपर अंकुश लगाने की कोशिश करता है। उसके पहिले तो सब कुछ माता-पिता को ही करना पड़ता है। बच्चे जननेन्द्रिय को बहुत ज्यादा पकड़ते हैं या खोलते बन्द करते हैं तो इसके और कारण भी हो सकते हैं। मन की किसी गहरी चिन्ता को दूर करने के लिए भी वे ऐसा करते हैं; किसी कारण से मन नहीं लग रहा है, उचटा हुआ है या साथियों से मेल नहीं बैठ रहा है तोभी जननेन्द्रिय पकड़ने का आकर्षण होता है, और कई बच्चे तो पेशाब लगने पर भी पकड़ लेते हैं और पेशाब करना टालते रहते हैं। स्नायु की दुर्बलता (*नर्वस ब्रेकडाउन*) के कारण भी यह लक्षण प्रकट होता है। किस बच्चे में कौन-सा कारण काम कर रहा है, इसका जहाँ तक हो सके ठीक-ठीक पता लगाना चाहिए और उचित उपाय करना चाहिए। किसी हालत में यह उचित नहीं है कि बच्चे के दिमाग में भय या पाप की भावना घुसाई जाय, क्योंकि अकसर बचपन के भय बाहरी दबाव के कारण मन में दबे-पड़े रहते हैं और बाद को तरह-तरह के रूप लेकर प्रकट होते हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाते हैं।

हम कितना बरबाद करते हैं ?

यह ठीक है कि हमारा प्रति एकड़ उत्पादन कम है, लेकिन जो भी उत्पादन होता है उसका काफी भाग बरबाद हो जाता है और जो बचता है उसका कितना अंश स्वस्थ हालत में रहता है, यह कहना कठिन है।

१९६०-६१ में भारत की जन संख्या लगभग ४३ करोड़ थी। उस साल ७ करोड़ ९३ लाख टन अनाज पैदा हुआ, जिसमें से लगभग ४४ प्रतिशत यानी ३ करोड़ ५ लाख टन अन्न मनुष्य के पेट में नहीं पहुँचा। उत्पादन के इन आँकड़ों में वह ४ करोड़ ५ लाख टन शामिल नहीं है, जो विदेशों से आया है। ५ से १० प्रतिशत अनाज हर साल बीज में जाता है, कुछ पशुओं को भी खिलाया जाता है, लेकिन बहुत बड़ा भाग संग्रह की दोषपूर्ण प्रक्रिया के कारण विभिन्न जीवों द्वारा बरबाद किया जाता है।

हमारी खाद्य-समस्या के लिए यही आवश्यक नहीं है कि बड़ी-बड़ी योजनाएँ, मशीनें और खाद के कारखाने बनें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम जो पैदा करें उसे जानवरों, कीड़े-मकोड़ों आदि से बचाने के लिए वैज्ञानिक तरीके जैसे, 'एयर टाइट बिन और सीमेण्ट के सिलो आदि' अपनायें। खाना खराब न करें, भोजन बनाने के हमारे ढंग सही हों और चीजों की पौष्टिकता नष्ट न होने दें। साथ ही भोजन की मात्रा पर भी संयम हो।

उत्पादन की वृद्धि और बरबादी की रोक, दोनों की चिन्ता साथ होनी चाहिए, लेकिन ये काम ऐसे हैं कि जब तक पूरे गाँव में साथ सोचने और साथ चलने की परिस्थिति पैदा नहीं हो जायगी तब तक सुधार सम्भव नहीं दीखता। व्यक्तिगत मालिकी और मुनाफाखोरी लोगों को एक होने दें तब तो!

परीक्षा क्यों और कैसे ?

शिरीष

जहाँ शिक्षा में राष्ट्रीय निष्ठा एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा को भरपूर स्थान देना जरूरी है, वहीं समाज में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं और मान्यताओं को जड़मूल से उखाड़ फेंकना भी कम जरूरी नहीं है। बिना ऐसे स्वस्थ वातावरण के परीक्षा के अवगुणों को दूर नहीं किया जा सकता।

शिक्षा-जगत में साधारण शिक्षक से महान शिक्षा-शास्त्री तक सभी महसूस करने लगे हैं कि वर्तमान परीक्षा प्रणाली बड़ी ही दोष पूर्ण है। इससे न तो हम बालकों के समग्र विकास को नाप पाते हैं और न उनकी भावनाओं और रुचियों को ही समझ पाते हैं। हाँ, इतना अवश्य समझ में आ पाता है कि विषय-विशेष को रटने की उनमें कहाँ तक क्षमता है।

फलस्वरूप न जाने कितने मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न छात्र इस प्रणाली में 'फिट' न बैठने के कारण असफल होते हैं या तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण। अत. अपना सन्तुलन खो बैठते है और रल की पटरियों पर लेटकर या नदियो की धाराओ में विलीन होकर या मीनारो से कूदकर अपनी मूक वेदनाओं एवं निरीह भावनाओं का परिचय देते हैं।

हमारी स्वतन्त्रता ने एक दो नही, गिन-गिन कर पन्द्रह वसन्त बिता दिये, लेकिन फिर भी हमारे सोचने के ढग में परिवर्तन न आया। वही शिक्षा, वही परीक्षा, वही अभाव, वही भुखमरी, वही छिछली धार्मिकता और वही ओछी राजनीति। यह सब क्यो ?

हमारी शैक्षणिक व्यवस्था उत्तरोत्तर जीर्ण शीर्ण होती जा रही है। इतने दिनो बाद भी हमारी शिक्षा के ठोस उद्देश्य तय नही हो पाये। इतना अवश्य है कि आज की शिक्षा का चरम उद्देश्य परीक्षा और उसका परिणाम पूर्णतया बेकारी और बेरोजगारी तो बन ही गया है।

परीक्षा क्यों ?

प्रश्न उठता है—आखिर यह परीक्षा क्यो ? क्या बच्चो में आत्मविश्वास और मौन चिन्तन की टेव डालने के लिए ? क्या आलसी छात्रों को सक्रिय बनाने के लिए ? क्या बालकों की अधिकतम जानकारी की जाँच के लिए ? क्या उनके मन में लेखन के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के लिए ? या परीक्षा, केवल परीक्षा के लिए ?

परीक्षा की उपयोगिता के सम्बन्ध मे तो शका का प्रश्न ही नही उठता, किन्तु परीक्षा-प्रणाली की अनुपयोगिता के सम्बन्ध में शका भी नही की जा सकती। आज जैसे थर्मामीटर से गरमी नापते है, वैसे ही हम अकों से बच्चा की प्रगति नापते हैं। यह अक-प्रणाली सर्वथा अशुद्ध है। शुद्ध प्रश्न के लिए १० अक और अशुद्ध प्रश्न क लिए शून्य देना कहाँ तक उचित है ? किस बिन्दु पर बच्च की अशुद्धि हुई है, उसने कहाँ तक सही दिशा में प्रयास किया है, इसकी न तो जाँच होती है और न विचार हा।

महान आश्चर्य उस समय होता है, जब दो चार ही अकों की कमी से बच्चे अनुत्तीर्ण समझे जाते हैं, उन्हें पुन उसी कक्षा म बेमन से एक साल और माथापच्ची करनी पड़ती है। एक अक कम पानेवाला तृतीय श्रेणी में और एक अक अधिक पानेवाला द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण समझा जाता है। बच्चो के साथ यह अनुचित व्यवहार अब अधिक दिनो तक नहीं चलाया जाना चाहिए।

यह अन्याय और कब तक ?

उत्तीर्णता का श्रेणियो के आधार पर किया जाने वाला विभाजन सरासर बच्चो के साथ अन्याय नही तो और क्या है ? पुरस्कार और छात्रवृत्तियाँ जहाँ कुछ के मन में उत्साह पैदा करती है, अधिकांश के मन में हीनता का भाव ही जगाती है, उन्हें निरुत्साह करती है।

कुछ लोग कहते है कि अगर बच्चो के मन में परीक्षा का भय न रहे तो वे पढें ही नही, लेकिन उनकी यह शंका एकदम निर्मूल है, क्योकि अगर थोडी देर के लिए मान ही लिया जाय कि बच्चा परीक्षा के लिए ही पढता है, जो परीक्षा के बाद न जाने विस्मृति के किस गर्त में समा जाती है, जिसकी बच्चो को शायद ही कभी याद आती हो ! तो फिर ऐसी पढाई किस काम की ? ऐसी पढ़ाई से 'शिक्षण' की आशा रखना दिवा स्वप्न नही तो और क्या है ?

ऐसी पढाई, जो भय से होती है, जो भार बन कर सिर पर सवार रहती है, जिसके प्रति मन में किसी कोने में न जिज्ञासा होती है, न उत्सुकता, भला ऐसी पढ़ाई से कही ज्ञान की पिपासा शान्त हो सकती है ? ओस चाटने से कहीं किसी की प्यास बुझ सकी है ?

हम आप ऐसे अनेक छात्रो से परिचित है, जिन्होंने गिने-चुने प्रश्नों के उत्तर रट रटाकर बी० ए०, एम० ए० की परीक्षाएँ प्रथम और द्वितीय श्रेणियों में पास की हैं। ऐसे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने वालों की एक लम्बी कतार हमारे आप के सामने है, लेकिन क्या आपने कभी सोचा है कि इनमें से कितने स्वाध्यायी और चिन्तक हैं ?

आज की पढ़ाई, परीक्षा के लिए, परीक्षा की उत्तीर्णता नौकरी के लिए और नौकरी गिने चुने चाँदी के सिक्को, नहीं, कागज के टुकडों के लिए रह गयी है, फिर भी हम-आप देश के विकास की बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं। इसे दुस्साहस नहीं तो और क्या कहा जाय ? अगर हमारी विकास की सारी योजनाएँ खटाई में पड रही है तो इसके मूल में हमारी शिक्षा की निरुद्देश्यता ही है, ऐसा मानना सत्य को स्वीकार करने जैसा होगा। कागज के पृष्ठों पर बनी अच्छी से अच्छी योजनाएँ व्यवहार में आकर पूर्णतया असफल हो जाती है। आज की हमारी शिक्षा में राष्ट्रीय भावनाओ का पता नही, नैतिकता नाम की कोई चीज नही, फिर हमारे विकास-अधिकारी अगर जनता के पैसे के साथ मनमाना खेलवाड करते है तो हमें आश्चर्य नही होना चाहिए। इसके लिए उन्हें दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता।

परीक्षा की स्वस्थ परम्परा क्या हो ?

आज हमारे सामने सबसे अहम सवाल यह है कि *परीक्षा खत्म नही की जा सकती और न तो खत्म होनी* ही चाहिए, क्योकि परीक्षा की उत्तमता के प्रति शंका भी नही की जा सकती, फिर बच्चो के मन में परीक्षा का जो भूत समाया हुआ है, उसे कैसे दूर किया जाय ? कापियो के जाँचने का कोई निश्चित मापदण्ड न तो निर्धारित हुआ है और न भविष्य में हो ही सकता है। कापियो की जँचाई में समय की कमी और विभिन्न मनोदशाओ के कारण प्राप्तांक में कभी भी सन्तुलन नहीं लाया जा सकता। ऐसी दशा में हमें क्या करना है, आज का यह एक विचारणीय विषय है।

परीक्षा की स्वस्थ परम्परा क्या हो, उसका सही स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में सिर्फ एक दो संकेत कर देना आवश्यक समझता हूँ।

आज अगर लडका साहित्य में रुचि रखता है और नौकरी अर्थशास्त्र पढ़ने से मिलती है तो विवश होकर उसे नौकरी के लिए अर्थशास्त्र पढ़ना ही होगा, क्योकि पढ़ाई का उद्देश्य तो पूर्णतया नौकरी ही बन गया है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले हमें शिक्षा के उद्देश्य में हेर-फेर करना होगा। पढ़ाई की प्रचलित मान्यता में आमूल-चूल परिवर्तन *करना होगा। बच्चो की रुचियों की* हत्या करके शिक्षा की गाडी और आगे नहीं चलायी जा सकती।

जहाँ शिक्षा में राष्ट्रीय निष्ठा एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा को भरपूर स्थान देना जरूरी है, वहीं समाज में व्याप्त भ्रान्त धारणाओ और मान्यताओ को जड़मूल से उखाड फेंकना भी कम जरूरी नहीं है। बिना ऐसे स्वस्थ वातावरण के परीक्षा के अवगुणो को दूर नहीं किया जा सकता।

[नयी तालीम

आज की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में कोई भी एकाएक परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। यदि किसी मूल्य पर यह खतरा मोल भी लें, तोभी अपेक्षित लाभ तो नहीं ही होगा। ऐसी दशा में हमें शुद्धीकरण की प्रक्रिया मन्थर गति से ही चलानी होगी।

शिक्षकों पर विश्वास करना होगा

परीक्षा-विधि म परिवर्तन की बात सोचते समय हमें दो मौलिक बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है। पहली यह कि हमें अपने शिक्षकों के प्रति पूरा-पूरा विश्वास रखना होगा। सम्भव है, ऐसा करन में पहल हमें कुछ कटु अनुभव आयें, कहीं-कहीं अनियमितताएँ हों, लेकिन इतना जोखिम तो उठाना ही होगा। दूसरी बात यह है कि विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से एक कक्षा म पूरा वर्ष बिताने वाला प्रतिबन्ध हमें तोड़ना होगा। निश्चित है कि ऐसा करने पर हमारी शिक्षण-व्यवस्था में कतिपय कठिनाइयाँ आयेंगी, परन्तु उनका सामना करन के लिए हमें तैयार रहना होगा।

वर्ष के अन्त में होने वाली परीक्षाओं का मूल्य घटाये बिना हम परीक्षा का उचित मापदण्ड स्थिर नहीं कर सकते। अन्तिम परीक्षा या आज के शब्दों में 'पास' 'फेल' से जितना कम सम्बन्ध होगा, परीक्षा का वास्तविक स्वरूप उतना ही निखरता जायगा। परीक्षाएँ हर पन्द्रह दिन के बाद होनी चाहिए। पहली पन्द्रहिया में होने वाली परीक्षा मौखिक और दूसरी पन्द्रहिया में होने वाली परीक्षा लिखित होनी चाहिए। इस प्रकार हर महीने प्रत्येक विषय की एक लिखित परीक्षा हो जाया करेगी। आवश्यकतानुसार मौखिक परीक्षाएँ विषयवार साप्ताहिक भी रखी जा सकती हैं।

अगर आखिरी परीक्षा मार्च के अन्त में रखें तो इस प्रकार पूरे वर्ष में प्रत्येक १८ १९ लिखित और मौखिक परीक्षाएँ हो जाया करेंगी। अन्तिम परीक्षा का भी उतना ही मूल्य होगा, जितना अन्य परीक्षाओं का। इस प्रकार विषय की तैयारी में बच्चा को उपेक्षा दिखाने का अवसर ही न मिलेगा। और, ऐसा भी न होगा कि वर्ष का आधा समय व्यर्थ गँवाने में बिताया जाय और शेष परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए रात-रात भर पठन या रटन में।

इस प्रकार की परीक्षा-व्यवस्था में हमें प्रधानाध्यापकों और अध्यापकों पर ही पूरी जिम्मेदारी देनी होगी। आज की वार्षिक परीक्षाओं से उत्पन्न होनेवाली हजार-हजार कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो जायेंगी।

O

[पृष्ठ १८ का शेषांश]

वास्तविक ग्रामीण कार्यकर्ताओं का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं। इनका पर्यावरण और कार्य करने का ढंग शहरी पर्यावरण से ही मिलता-जुलता है। इनकी सफलता के प्रति सन्देहात्मक दृष्टिकोण रखने का एक मूल कारण यह भी है कि इनमें पढ़नेवाले अधिकतर प्राध्यापक और निर्देशक परम्परागत कालेजों के प्राध्यापकों की तरह ही शिक्षित हैं तथा उनकी मनोवृत्ति भी इन्हीं के समान है, जो भारत सरकार की आरम्भिक आशा के अनुरूप ग्राम निर्माण नहीं कर पाती। ग्राम विद्यापीठों में काम करनेवाले कई जिम्मेदार कार्यकर्ताओं की भी यही राय है।

परन्तु यहाँ पर हमें एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि यह एक नयी योजना है और किसी भी नयी योजना की, विशेषतः सामाजिक शिक्षा व ग्रामीण शिक्षा सम्बन्धी योजना की सफलता असफलता का मूल्यांकन इतने कम समय में नहीं किया जा सकता। इसके सुचारु रूप से सचालन के लिए कुछ अधिक समय की आवश्यकता है। अभी भी इसमें कई उल्लेखनीय कार्य हो रहे हैं, प्रसार और अनुसन्धान का विस्तार हो रहा है और ग्रामस्तरीय उत्कृष्ट कार्यकर्ता तैयार करने की अधिक सम्भावना पैदा करने की दृष्टि से भारत सरकार ने तृतीय पचवर्षीय योजना में कई नयी बातें शामिल की हैं। अब तक हुए कार्य की सफलता का पहलू देखते हुए आशा बँधती है कि ग्राम विद्यापीठ देश के नव निर्माण में बहुत अधिक योग दे सकते हैं और अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हो सकते हैं।

भाई और भाई

•

राममूर्ति

दुनिया जानती थी कि रूस और चीन एक बड़े कम्यूनिस्ट विचार परिवार में भाई भाई हैं, लेकिन पिछले दिनों दोनों के बीच के तनाव का जो दृश्य उपस्थित हुआ है उससे ऐसा लगता है कि दुराव की जड़ें गहरी हैं और दरार काफी चौड़ी है। हो सकता है—जैसा कुछ लोग कहते हैं—कि यह झगड़ा घरेलू है और जब जरूरत होगी तो पूँजीवाद के खिलाफ रूस और चीन एक हो जायेंगे। हम मान भी लें कि ऐसा हो सकता है फिर भी दुनिया के दो बड़े-से बड़े राष्ट्रों के शासकों के बीच का यह तनाव प्रभाव में 'घरेलू' नहीं रह सकता। कम्यूनिस्ट-आन्दोलन का प्रभाव आज एक तिहाई दुनिया पर फैला हुआ है। रूस और चीन इस आन्दोलन के स्तम्भ हैं। रूस योरप के गोरे, धनी औद्योगिक साम्यवाद का प्रतिनिधित्व करता है, और उसके मुकाबिले चीन एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के काले, गरीब और खतिहर साम्यवाद का। चीन के मन में नव निर्माण का गर्व है और रूस में सिद्धि का असीम आत्मविश्वास। चीन कहता है—कोई कारण है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भी रूस ही दुनिया के कम्यूनिस्ट-आन्दोलन का नेतृत्व करे, जैसे वह आजतक करता आ रहा है? अपनी जनसंख्या, अपनी गरीबी और अपने रंग के आधार पर चीन एशिया और अफ्रीका के साम्यवाद का नेतृत्व करने का दम भरता है। लगभग हर देश की कम्यूनिस्ट पार्टी में माओ पक्ष के समर्थक हैं, जो कहते हैं कि ख्रुश्चेव में क्या विशेषता है, जो माओ में नहीं है? स्पष्ट है, विचार एकता भी शासकों की महत्वाकांक्षा और प्रतिद्वन्दिता को नहीं दबा सकी है।

रूस और चीन में झगड़ा है, जो बढ़ रहा है, लेकिन झगड़े के मुख्य और अन्तिम कारण क्या हैं, यह कोई नहीं बता सकता। झगड़ा ही नहीं है, झगड़े के साथ-साथ रगड़ा भी है। रूस और चीन दोनों की ओर से लम्बी-लम्बी विज्ञप्तियाँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें कम्यूनिस्ट-दर्शन, क्रान्ति की व्यूह रचना और सामाजिक लक्ष्य के बुनियादी तत्वों की दुहाई देते हुए एक ने दूसरे को 'युद्ध के प्यासे क्रान्तिकारी' और 'गद्दार सुधारवादी' जैसी गालियों से विभूषित किया है। वास्तव में चीन की ओर से मजबूती के साथ यह बात कही जा रही है कि ख्रुश्चेव के नेतृत्व में रूसी और उसके साथी दूसरे देशों के कम्यूनिस्ट 'बूर्जुआ' हो गये हैं इसलिए उनमें एशिया अफ्रीका के साम्राज्य-विरोधी 'प्रालिटरियट' का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति नहीं है।

चीन खुलकर यह कहता है कि चूंकि रूस ने ऊँचे स्तर का आर्थिक विकास कर लिया है, इसलिए वह दुनिया के साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष से भागता है और सुरक्षा के लिए विश्व की क्रान्ति विरोधी शक्तियों के साथ शान्ति और सह अस्तित्व की आड़ लेता है। दूसरी ओर रूस का यह आरोप है कि चीन अभी अधकचरा है, उसका दिमाग अणु युग के पहले की दुनिया में है, वह अपने जोश में भूल जाता है कि अणुयुद्ध में केवल पूँजीवाद का विनाश नहीं होगा, बल्कि *साम्यवाद भी अवश्य खाक हो जायेगा।* रूस मानता है कि इतिहास के विकास-क्रम में हर देश में समाजवाद की जो शक्तियाँ तेजी से विकसित होती जा रही हैं वे विश्व-युद्ध को बचाती हुई वर्ग संघर्ष का लक्ष्य सिद्ध कर सकती हैं, लेकिन चीन का विश्वास इससे भिन्न है। वह युद्ध को अनिवार्य मानता है, इसलिए उसके लिए तैयार होना चाहता है। उसकी दृष्टि में सहअस्तित्व के द्वारा पूँजीवाद

हालैंड की प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली

डा० तारकेश्वरप्रसाद सिंह

[पिछले अंक में लेखक ने हालैंड की प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली में कहाँ तक स्वातन्त्र्य है और उसका संगठन किन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, इस विषय का उल्लेख किया है। इस अंक में विद्यालयों के विविध स्वरूप और उनकी शैक्षिक सम्भावनाओं की चर्चा की गयी है।—सम्पादक]

साधारण विद्यालय

जनता प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व नगर पालिका का है और निजी शिक्षा का प्रबन्ध भिन्न भिन्न प्रकार की समितियाँ तथा संस्थाएँ करती हैं। जनता द्वारा संचालित प्राथमिक शिक्षा का द्वार सभी बालकों के लिए खुला रहता है। स्कूल के शिक्षक किसी भी प्रकार की ऐसी धार्मिक शिक्षा नहीं देंगे, जिससे किसी बच्चे के धार्मिक विश्वास पर आघात हो। इन पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा धार्मिक शिक्षकों द्वारा दी जाती है।

विद्यालय के छात्रों को इस बात की भी पूर्ण आजादी रहती है कि वे इस प्रकार की शिक्षा लें या न लें।

प्रत्येक नगरपालिका के लिए यह आवश्यक है कि वे पर्याप्त संख्या में जनता बेसिक विद्यालयों का प्रबन्ध करे; जिसमें हर प्रकार के धर्म के विचार रखने वाले बालक शिक्षा प्राप्त कर सकें। इस नियम से वे नगरपालिकाएँ मुक्त हैं, जहाँ छात्रों की संख्या १२ से कम है।

साधारणतः ३० छात्रों पर एक शिक्षक की नियुक्ति होती है। यदि ३१ छात्र होते हैं तो एक और शिक्षक की नियुक्ति की जाती है। ३१ से ऊपर हर ४९ विद्यार्थियों पर एक शिक्षक की नियुक्ति की जाती है। अनुमानतः हालैंड में एक वर्ग में ३९ विद्यार्थी होते हैं। शिक्षकों का वार्षिक वेतन सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है। उससे कम या अधिक वेतन नहीं दिया जा सकता। जनता तथा निजी विद्यालय के शिक्षकों को एक समान ही वेतन दिया जाता है।

बेसिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम ६ वर्ष का है। उसमें निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाते हैं—

१ सामान्य भाषा, २ गणित, ३ उच्चभाषा, ४ निदरलैंड्स का इतिहास, ५ भूगोल, ६ प्राकृतिक विज्ञान ७ संगीत, ८ ड्राइंग ९ शारीरिक यातायात के साधन सम्बन्धी नियम तथा आचार और १० लड़कियों के लिए सिलाई कढ़ाई आदि।

बहुत से बालक अनिवार्य शिक्षा के बाद शीघ्र ही अपने जीवन यापन हेतु नौकरी करने लगते हैं। माध्यमिक शिक्षा या तकनीकी शिक्षा या व्यापारिक शिक्षा का मुअवसर उन्हें नहीं मिलता। ऐसे बच्चों के लिए इस नये प्रकार के विद्यालय को 'पूरक प्राथमिक विद्यालय' कहा जाता है। इसमें दो वर्षों की पढ़ाई होती है और सामाजिक विषयों का शिक्षण तथा कारीगरी के काम सीखने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। लड़कियों को सिलाई तथा अन्य गृहस्थी के कामों की शिक्षा दी जाती है।

ग्रामर स्कूल

ग्रामर स्कूलों में ६ वर्षों तक निम्नलिखित विषयों की पढ़ाई होती है—

१ क्लासिक जैसे- ग्रीक तथा लैटिन, २ उच्च भाषा तथा साहित्य, ३ फ्रेंच, ४ जर्मन, ५ अंग्रेजी, ६ इतिहास, ७ भूगोल, ८ गणित, ९ फिजिक्स १० केमिस्ट्री, ११ बायलॉजी, १२ शारीरिक शिक्षा, १३ ड्राइंग और १४ संगीत।

चौथे वर्ष के बाद ग्रामर स्कूल का अध्ययन क्रम दो भागों में बँट जाता है –'अ' तथा 'ब'। 'अ' में ग्रीक तथा लैटिन पर अधिक बल दिया जाता है और 'ब' में अन्य दूसरे विषयों पर। ६ वर्ष के अन्त में एक परीक्षा होती है। इसमें जो विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं वे विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए प्रवेशिका परीक्षा में सम्मलित हो सकते हैं। 'अ' के छात्र धर्मशास्त्र, साहित्य तथा दर्शनशास्त्र पढ़ने के लिए विश्वविद्यालय प्रवेशिका परीक्षा में सम्मलित होते हैं, तथा 'ब' वाले अन्य विषयों के लिए।

ग्रामर विद्यालयों में कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें प्रायः ५ वर्षों की शिक्षा दी जाती है। किसी किसी विद्यालय में ६ वर्षों का पाठ्यक्रम होता है। इस प्रकार के विद्यालय दो प्रकार के होते हैं। तीन वर्षों तक दोनों में एक प्रकार की शिक्षा होती है, बाद में एक में सामाजिक विषयों पर अधिक ध्यान दिया जाता है तथा दूसरे में गणित तथा वैज्ञानिक विषयों पर।

लड़कियों के लिए स्वतन्त्र माध्यमिक स्कूल हैं। इनमें पाँच वर्षों की पढ़ाई होती है। इनमें प्राय निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाते हैं—

१ डच भाषा तथा साहित्य, २ फ्रेंच, ३ जर्मन, ४ अंग्रेजी, ५ इतिहास, ६ भूगोल, ७ गणित, ८ फिजिक्स, ९ केमिस्ट्री, १० बायलाजी, ११ ड्राइंग, १२ सिलाई, १३ संगीत और १४ शारीरिक शिक्षा।

व्यावसायिक विद्यालय

इसमें तीन से चार वर्षों की पढ़ाई होती है और निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी जाती है—

१ डच भाषा, २ अंग्रेजी, ३ फ्रेंच, ४ जर्मन, ५ व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा, ६ पत्र-व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा, ७ व्यापार सम्बन्धी इतिहास तथा भूगोल ८ व्यवसाय, ९ अर्थ शास्त्र, १० व्यापार सम्बन्धी कानून, ११ निदरलैंड के संविधान का इतिहास, १२ गणित, १३ केमिस्ट्री, १४ फिजिक्स, १५ विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान, १६ बायलाजी, १७ ड्राइंग और १८ शारीरिक शिक्षा।

इस प्रकार के रात के भी विद्यालय हैं। जो विद्यार्थी आरम्भिक हाई स्कूल या माध्यमिक शिक्षा वाले विद्यालयों में व्यवस्थित रूप से शिक्षा नहीं पाते व भी परीक्षा में बैठकर तथा सफल होकर इन विद्यालयों के प्रमाणपत्र प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए वर्ष में एक बार परीक्षा होती है।

तकनीकी शिक्षा

इसमें प्रवेश पाने के लिए बच्चे को प्राथमिक शिक्षा की ६ वर्ष की परीक्षा पास करना आवश्यक है। बच्चे की अवस्था कम से कम १२ वर्ष तथा ८ मास की होना चाहिए। इन विद्यालयों में निम्नलिखित काम सिखलाये जाते हैं—

१ लकड़ी का काम जैसे बढ़ई, २ धातु का सामान जैसे फिटर, ३ लुहारी, ताँबे का काम, ४ बिजली का काम, ५ घर की रँगाई, ६ साइकिल, मोटर साइकिल तथा मोटर कार की मरम्मत का काम, ७ दर्जी का काम, ८ जूता बनाने का काम, ९ छपाई का काम, १० डबल रोटी बनाने का काम और ११ कपड़ा बनाने का काम।

यह सभी काम एक ही स्कूल में पढ़ाये और सिखाये नहीं जाते। प्राय स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार स्थानीय विद्यालयों में आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती है। प्राय सभी तकनीकी विद्यालयों में लकड़ी तथा धातु के कामों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि हालैंड में शिक्षा का बहुमुखी विकास हुआ है। यही वहाँ की शिक्षा प्रणाली की मौलिकता तथा नवीनता है।

[समाप्त]

फूल और भिखारी

•

रावी

मेरी वाटिका के द्वार पर वह आया और बोला—'बाबूजी, अपनी बगीची से कुछ फूल मुझे ले लेने दीजिए।'

फटे-पुराने कपड़ों से अस्त-व्यस्त रूप में तन ढके उस तरुण बालक को ध्यानपूर्वक देखते हुए मैंने पूछा—'तुम कौन हो?'

'भिखारी',—उसका उत्तर था और उसमें सन्देह का कोई स्थान न था।

'भिखारियों को ऐसी चीज नहीं माँगनी चाहिए। तुम चाहो तो मैं तुम्हें एक पैसा या एक रोटी दे सकता हूँ।'—मैंने कहा।

'ये तो मुझे दूसरे घरों से पेट भरने भर को मिल जाते हैं।'—उसने कहा और असन्तुष्ट होकर चला गया।

अगले दिन माली ने सूचना दी कि बगीची में कुछ फूलों की चोरी हुई है। मैंने पहरे की व्यवस्था कर दी, किन्तु चोरी का क्रम न रुका। हर रात किसी समय कुछ फूल टूटकर गायब हो जाते।

एक दिन मैंने उसी लड़के को बाजार में देखा। सड़क किनारे बैठा वह फूलों की मालाएँ बना रहा था।

'तुम चोर हो।'—मैंने कहा और उसे पकड़ लिया।

'बिलकुल नहीं बाबूजी, यह आप कैसी बात कहते हैं! मैं तो भिखारी हूँ। भीख के पैसे बचाकर कुछ फूल खरीद लाता हूँ और मालाएँ बनाकर उन्हें बेच देता हूँ। कुछ दिनों बाद मुझे भीख माँगने की जरूरत न रह जायेगी। मुझे चोर बताने का आपके पास कोई सबूत है?'

बालक के स्वर में कड़क थी। उसकी चोरी का मेरे पास कोई सबूत न था। कई लोग हमारी बातचीत सुन रहे थे। ऐसी बेसबूत बात कह कर मैं उनकी दृष्टि में स्वयं को लज्जित अनुभव कर रहा था। चुप होकर मैंने अपना रास्ता लिया।

कुछ दूर पहुँचकर मैंने देखा—बालक मेरे पीछे आ गया है। एकान्त पाकर उसने मुझसे कहा—'बाबूजी, मैं हूँ तो वही भिखारी और आपकी भीख पर ही पनप रहा हूँ। अन्तर इतना है कि आप अपने हाथ से उठाकर दे देते तो दुनिया के सामने भी आपका कृतज्ञ होता, किन्तु अब अकृतज्ञ हूँ।'

—मेरे कथा गुरु ...

•

सेवाग्राम-विश्वविद्यालय

•

डा० कि० वंग

शिक्षा, ज्ञान प्राप्ति और स्वावलम्बन के लिए है, यह बात पालकों एवं विद्यार्थियों के मन में जमनी चाहिए। सारे शिक्षितों को जब कोई भी देश नौकरियाँ नहीं दे सकता तब फिर पालक और विद्यार्थी नौकरी के मृग-जल के पीछे पडकर निराशा और विफलता के सिवा क्या हासिल करते हैं? आज देश को अधिक उत्पादन की जरूरत है। ऐसी हालत में आज की शिक्षा-पद्धति द्वारा शिक्षा पाकर अनुत्पादक व्यवसायों म भीड करके या नौकरी के पीछे पडकर देश की क्या सेवा हो रही है? इसलिए आशा है कि पालकों और विद्यार्थियों की मनोभूमिका में ये संस्थाएँ नयी दिशा में कुछ प्रयत्न कर सकेंगी।

आज की शिक्षा निरर्थक है, ऐसा सामान्य नागरिक से राष्ट्रपति तक सभी तार-स्वर से कहते हैं, लेकिन इस निरर्थकता को दूर करने के उपाय क्या हैं? जो अधूरे उपाय पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में किये गये उनसे रोग कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ा ही है। शिक्षा के इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए कई कमेटियाँ और कमीशन बैठाये गये। उनकी ओर से भारी भरकम रिपोर्टें भी प्रकाश में आयीं, लेकिन रोग जैसा था, वैसा ही आज भी बना हुआ है। विद्यार्थियों के ज्ञान का स्तर नीचा हो रहा है, चरित्र गिर रहा है और किसी भी प्रकार की मेहनत करने का न आज के स्नातक में उत्साह है, न शक्ति ही।

आज का विद्या विभूषित स्नातक युनिवर्सिटी से बाहर निकलने पर नौकरी के लिए मारा मारा भटकता है। नौकरी नहीं मिली तो उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और राष्ट्र के लिए वह एक बोझ बन जाता है। क्या सारे शिक्षितों को नौकरियाँ देना किसी भी देश में कभी भी सम्भव हुआ है? आगामी दस-बीस वर्षों में देश के सारे नौजवान पढ़ेंगे। इनमें से बहुतेरे नौजवान नौकरियों के सिवा और किसी भी *काम या अपने पुश्तैनी धन्धे लायक नहीं* रहेंगे। ऐसी स्थिति में देश के उत्पादन का क्या होगा? यह सार्थ भीति चिन्तकों के मन में आज से ही निर्माण हो गयी है। अत देश की शिक्षा पद्धति में आमूलाग्र क्रान्ति की आवश्यकता है।

शिक्षा सुधार के कतिपय प्रयोग

इसका मतलब यह हुआ कि शिक्षा में ज्ञान एव कर्म का समन्वय होना चाहिए। पढ़ाई करते करते विद्यार्थियों की अर्जन शक्ति का इतना विकास होना

चाहिए कि वे अपने को कार्य क्षेत्र में उतार कर स्वाव लम्बी बना सकें। उनमें कम से कम सौ डेढ़ सौ रुपये मासिक कमा सकने की योग्यता एवं आत्म विश्वास तो पैदा होना ही चाहिए।

इस दृष्टि से भारत में कहने लायक प्रयोग हुए ही नहीं हैं। परीक्षा की पद्धति में छुटपुट सुधार, प्रैक्टिकल काम में कुछ वृद्धि, भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा के साथ नाममात्र उद्योग की शिक्षा को जोड़ना, एक्स्ट्रा करिक्युलर कार्यों में वृद्धि, पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन, अंग्रेजी के सार्वभौमत्व को ठेस न पहुँचाते हुए मातृभाषा की शिक्षा को बढ़ावा आदि कुछ प्रयोग शिक्षा सुधार की दिशा में हुए हैं। नहीं के बजाय ये परिवर्तन अच्छे हैं, लेकिन पर्याप्त नहीं हैं, न इनसे शिक्षा का मूलभूत प्रश्न ही हल होता है।

श्रम प्रतिष्ठा की दृष्टि से अपने देश में कुछ काम हो रहा है लेकिन श्रमाधार पर जीवन-यापन की शिक्षा के क्षेत्र में कोई काम नहीं हुआ है। अमेरिका में अमीरों के लड़के भी कालेज की पढ़ाई के समय माता पिता पर अवलम्बित न रहते हुए होटलों में भोजन परोसकर, बरतन साफ कर, बागानों में कोई न कोई काम करके अपना पढ़ाई का खर्च निकालते हैं। श्री जयप्रकाशनारायण जैसे व्यक्ति ने भी विद्यार्थी जीवन में अमेरिका में ऐसे काम किये हैं। माँ बाप पर अवलम्बित रहने की तुलना में ऐसा स्वावलम्बन सदा श्रेयस्कर होता है। आज भारत की ऐसी परिस्थिति है कि ८० प्रतिशत विद्यार्थियों को शिक्षण के साथ साथ जीविकोपार्जन करना ही पड़ेगा, अन्यथा उन्हें शिक्षा से वंचित रहना होगा।

लेकिन, इससे शिक्षा का मूलभूत सवाल हल नहीं होता है, क्योंकि इस अर्जन प्रणाली से शिक्षा अलग और अर्जन (उत्पादन) अलग ऐसा द्वैत पैदा होता है। एसी प्रणाली में उत्पादन का ज्ञान-प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता यानी उत्पादन, शिक्षा क्षेत्र से बाहर की प्रक्रिया हुई। हमें एसी शिक्षा की निहायत जरूरत है, जहाँ काम करते करते एवं कार्य से समवाय साधकर शिक्षा प्राप्त होगा और शिक्षा की प्रक्रिया में से कार्य प्रस्फुटित होगा। तीन साल पूर्व स्थापित हुए रुद्रपुर कृषि विद्यापीठ से इस दिशा में पहल करने की अपेक्षा रखी गयी थी, लेकिन वहाँ सप्ताह में केवल तीन घंटा श्रम रखा गया है। सप्ताह में तीन घंटे परिश्रम करने वाला विद्यार्थी विद्यापीठ से बाहर निकलने पर अपने परिश्रम के बल पर खेती कैसे करेगा? इसलिए किसान, एसे स्नातकों से प्रभावित होने के बजाय उनका मजाक उड़ाते हैं। भारत के शिक्षा मन्त्री डा० श्रीमाली ने इस प्रश्न का हल रूरल इंसटिट्यूट की स्थापना के द्वारा निकाला, लेकिन इस संस्था के स्नातक भी दूसरों के समान ही नौकरियाँ खोजते दिखलाई पड़ते हैं और इन इंसटिट्यूट के जिन पाठ्यक्रमों में नौकरियाँ दिलवाने की क्षमता कम है, ऐसे पाठ्यक्रमों के लिए पर्याप्त मात्रा में विद्यार्थी नहीं मिलते।

सेवाग्राम के प्रयोग की विशेषता एवं मर्यादाएँ

शिक्षण-क्षेत्र की इस पहेली का हल ढूँढ़ने के लिए नयी तालीम का प्रयोग पिछले २५ वर्षों से सेवाग्राम में एवं देश के कई स्थानों पर जारी है, लेकिन विद्यार्थियों और पालकों के मन में शिक्षण यानी 'नौकरी के लिए पासपोर्ट' यह समीकरण इतना पक्का जम गया है कि यहाँ पर्याप्त संख्या में अच्छे विद्यार्थी नहीं आये। १९५२ में श्री जवाहरलालजी के हाथों सेवाग्राम विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ। १९५४ से १९५६ तक तीन वर्षों में सेवाग्राम विश्वविद्यालय के स्नातक—चरित्र, सेवा भावना, संगठन कुशलता एवं प्रत्यक्ष काम में ऊँचे सिद्ध हुए हैं। आज बहुतेरे स्नातक भिन्न भिन्न रचनात्मक संस्थाओं में काम कर रहे हैं और देश के निर्माण में योग दे रहे हैं। तीन चार स्नातक अपने घर पर सुधरी हुई खेती करके जीविकोपार्जन कर रहे हैं, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि यहाँ के स्नातकों का तात्विक ज्ञान कमजोर रहा। इसी प्रकार इन स्नातकों को अन्य स्नातकों के समान समाज द्वारा प्रतिष्ठा न मिलने से इनमें थोड़ी हीन भावना भी आयी। शिक्षा, नौकरी के लिए यह वातावरण देश भर में बन गया है, इसका परिणाम इन पर भी कुछ तो हुआ ही।

अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा, ज्ञान प्राप्ति और स्वावलम्बन के लिए है, यह बात पालकों एवं विद्यार्थियों के मन में जमनी चाहिए। सारे शिक्षितों को जब कोई भी देश नौकरियाँ नहीं दे सकता तब फिर पालक और विद्यार्थी नौकरी के मृगजल के पीछे पड़कर निराशा और विफलता के सिवा क्या हासिल करते हैं ? आज देश को अधिक उत्पादन की जरूरत है। ऐसी हालत में आज की शिक्षा पद्धति द्वारा शिक्षण पाकर अनुत्पादक व्यवसायों में भीड़ करके या नौकरी के पीछे पड़कर देश की क्या सेवा हो रही है ? इसलिए आशा है कि पालकों और विद्यार्थियों की मनोभूमिका में ये संस्थाएँ नयी दिशा में कुछ प्रयत्न कर सकेंगी।

स्वतन्त्र प्रयोग की आवश्यकता

ऐसा प्रयोग सरकार से एवं किसी युनिवर्सिटी से स्वतन्त्र रहना चाहिए अन्यथा अनुभव ऐसा आता है कि स्वीकृति एवं अनुदान के प्रारम्भ में दिलचस्पी ना रहकर फिर बाद में गड़बड़ी रहता है। युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम और नियमों के बन्धनों के कारण स्वतन्त्र प्रयोग के लिए अवकाश कम रहता है। इनकी स्वीकृति लेने पर संस्था कुछ छोटे छोटे सुधार शिक्षा में कर भी सकती हैं, लेकिन अपने पैरों पर खड़े रहकर उत्पादन कर अपनी गृहस्थी चलाने का आत्मविश्वास ऐसे प्रयोगों में से कभी नहीं बन सकता, फिर कर्म में से ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान द्वारा कर्म प्रेरणा, करिक्युलम के बाहर जाकर आज जो करना पड़ता है उसे ही करिक्युलम के अन्दर महत्त्वपूर्ण स्थान देना आदि बातें हो नहीं सकेंगी, इसलिए मूलगामी प्रयोग करने के लिए आज की परिस्थिति में लाक पर चलनेवाली सरकार से एवं सनातनी युनिवर्सिटियों से अलग रहना ही अच्छा है।

सेवाग्राम विश्वविद्यालय

गत वर्ष अगस्त में नयी तालीम के देश भर के कार्यकर्ताओं की एक गोष्ठी सेवाग्राम में हुई था। उसमें सभी कार्यकर्ताओं ने इच्छा प्रकट की थी कि इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करनेवाले एक विद्यापीठ की स्थापना की जाय और यदि यह काम सेवाग्राम में हो तो बहुत अच्छा। इस इच्छा को ध्यान में रखकर इस वर्ष फिर से सेवाग्राम विश्वविद्यालय का काम शुरू किया गया है। भारत का प्रधान उद्योग कृषि होने के कारण कृषि से उच्च विद्या का आरम्भ किया गया है। अन्य कृषि महाविद्यालयों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं—जैसे, अग्रोनमी, बॉटनी, हॉर्टिकल्चर, एंटामॉलॉजी, इंजिनियरिंग, पशुपालन, रसायन शास्त्र, प्राणिशास्त्र, ह्युमनिटीज आदि विषय यहाँ पढ़ाये जायेंगे। साथ साथ यह ज्ञान काम करते करते एवं काम में से *निर्माण होने वाले प्रश्नों के साथ निगड़ित* करने का प्रयत्न किया जायेगा। वैसे ही इर्द गिर्द के देहातों में कृषि सुधार के प्रयत्न यह विश्वविद्यालय करेगा। इन देहातों की खेती के प्रश्नों पर संशोधन किया जायेगा। इस प्रकार कर्म, ज्ञान, कृषि विस्तार एवं संशोधन इन चारों का समन्वय करनेवाली शिक्षा पद्धति का विकास करने का प्रयत्न रहेगा। विज्ञान प्रयोग की कमियाँ दूर करके विज्ञान का पूरा उपयोग किया जायगा, जिससे वास्तविक ज्ञान में यहाँ का स्नातक कमी महसूस न करे।

विना मूल्य शिक्षण

सात घंटों के परिश्रम से पच्चीस रुपया मासिक कमाई विद्यार्थी विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के समय से ही कर सके, ऐसी योजना सेवाग्राम में की गयी है, यानी विद्यार्थी का भोजन, कपड़ा इत्यादि खर्च इसमें से निकल सके। शिक्षा यहाँ निःशुल्क है। शिक्षा के लिए तज्ञ लोग एवं सेवाग्राम की सौ एकड़ खेती पर्याप्त है। इसमें से ५० एकड़ में सिंचाई की व्यवस्था है। धीरे धीरे वैज्ञानिक गतिशील अध्ययन से उत्पादन कुशलता बढ़ेगी। शिक्षा काल समाप्त होने पर विद्यार्थी-अपने परिश्रम से खेती एवं डेयरी सरीखे सहायक उद्योगों में ६ घंटा काम करके १०० से १५० रु० महीना कमा सकेगा। कालेज का अभ्यास-क्रम उत्तर बुनियादी या हायर सैकेंड्री के लिए कृषि विषय लेकर पास विद्यार्थी तीन साल का रखा गया है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। अध्यापक एवं विद्यार्थी साथ साथ परिश्रम एवं ज्ञानोपासना करेंगे।

विज्ञान एवं अध्यात्म का संयोग

विद्यार्थी, अध्ययन समाप्ति के बाद अपनी गृहस्थी ठीक से चला सकें, इसलिए आज की मँहगाई में १५०० से १८०० रु० सालाना आमदनी की उसे जरूरत है। अत. टेक्नालॉजी इस स्तर की हो कि जिसका उपयोग कर भारत का औसत किसान कुटुम्ब औसत पूँजी के उपयोग से ६-७ घंटे परिश्रम से १५००।१८०० रु० सालाना कमा सके। यदि बहुत ज्यादा खेती या पूँजी लेकर प्रयोग किया गया तो यह प्रयोग अनुकरणीय नहीं होगा। यदि पुराने तन्त्र का उपयोग किया गया तो उत्पादन नहीं बढेगा एवं दारिद्र्य नहीं हटेगा। अत इन दोनों को टालकर मध्यम मार्ग अपनाना होगा। वैसे ही यदि बहुत काम करना पड़ा तो अध्ययन, मनोरंजन एवं समाज-सेवा के लिए समय नहीं मिलेगा। ऐसी हालत में हल के साथ चलनेवाले दो बैलों के पीछे यह तीसरा पुच्छ-विषाण-हीन वृषभ बनेगा। यदि आज की युनिवर्सिटियों की भाँति नाममात्र काम किया गया तो खेती समाप्त ही हो जायेगी और राष्ट्र भूखों मरेगा। अत. आज बीच का रास्ता निकालना ही होगा। ●

एक निवेदन

नयी तालीम के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखने वालों से आशा है कि वे अपने बच्चों को सेवाग्राम विश्वविद्यालय में भेजकर हमारे प्रयोग में सहायक होंगे। बापू की इच्छा थी कि यह कार्य राज्याश्रित न रहकर लोकाश्रित रहना चाहिए। अस्तु, साधन सामग्री तथा अन्य प्रकार की भी आप हमारी सहायता करेंगे, ऐसा हम विश्वास है। —टा० कि० वंग

दैनंदिनी १९६४

सन् १९६४ की दैनंदिनी प्रेस में दे दी गयी है और उम्मीद है कि १ सितम्बर तक प्रकाशित हो जायेगी। ग्राहकों से अनुरोध है कि अपना आर्डर अथवा आवश्यक प्रतियों की संख्या तुरंत सूचित करने की कृपा करें, ताकि दैनन्दिनियाँ आवश्यक संख्या में छापी जा सकें। इस वर्ष अधिकतर वचन नये दिये गये हैं।

आकार—दैनंदिनी दो आकारों में रहेगी। एक, डिमाई ⅛ यानी ९″×५½″ और दूसरा, क्राउन ⅛ यानी ७½″×५″। पिछले वर्ष फुलस्केप यानी ६¾″×४¼″ आकार में छपी थी, वही इस वर्ष उससे बड़े आकार, क्राउनमें निकाली जा रही है।

कोरे पृष्ठ—हर दैनंदिनी में लगभग १६ पृष्ठ कोरे भी रहेंगे, जिनका आप मनचाहा उपयोग कर सकेंगे।

रूलदार कागजः इस बार दोनों प्रकार की दैनंदिनियाँ रूलदार कागज की होंगी।

मूल्य : डिमाई यानी बड़े आकार की डायरी का मूल्य २ रु० ५० न० पै० होगा और क्राउन आकार का मूल्य २ रु० होगा।

कमीशन : दोनों प्रकार की दैनंदिनियों पर कमीशन समान रूप से, २५ प्रतिशत दिया जायगा।

अन्य सूचनाएँ—(अ) एकसाथ ५० या अधिक दैनंदिनियाँ मगाने पर स्टेशन पहुँच फ्री डिलीवरी दी जायेगी। इससे कम संख्या में मगाने पर पोस्टेज, पैकिंग और रेल किराया खरीदार के जिम्मे होगा।

(आ) आवश्यक प्रतियों की सूचना २० अगस्त तक में मिल जानी चाहिए। रकम १ सितम्बर तक भी भिजवा सकते हैं।

(इ) दैनंदिनियाँ बाद में वापस नहीं ली जा सकेंगी, अत कृपया आवश्यक संख्या में ही मगाइये।

(ई) 'सर्वोदय पर्व के दिनों में दैनंदिनी का प्रचार हो सके, वह अधिकाधिक पाठकों के हाथों में पहुँचे, इसलिए इस वर्ष जल्दी ही प्रकाशित की जा रही है।

मूल्य अदायगी—डायरियों की रकम अग्रिम ही भेजनी होगी, उधार नहीं भेजी जायेंगी। रकम मनि-आर्डर या बैंक ड्राफ्ट से **अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन** के नाम से ही भेजिये। गलत नाम होने से परेशानी बढ़ती है।

—व्यवस्थापक
अ० भा० सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी—१

धार्मिक शिक्षण

•

त्याग सर्वथा अवांछनीय और अनुचित ही नहीं, असंभव भी है। धर्म की अनिवार्य शिक्षा लोकतंत्र का एक अनिवार्य कर्तव्य बन जाता है। जहाँ इस प्रकार लोकतंत्र में धर्म का शिक्षा सैद्धांतिक दृष्टि से अनिवार्य दीखती है वहाँ व्यावहारिक रूप से उस पर कई आपत्तियाँ भी हैं।

धार्मिक-शिक्षण का क्या अर्थ है ?

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक है वह यह कि 'हिंदुत्व' की (यानी ऐसे ही किसी धर्म विशेष की) शिक्षा में और 'धर्म' का शिक्षा में बड़ा भारी अंतर है। धर्म हिंदुत्व से बड़ा है व्यापक है। हिंदुत्व ऐतिहासिक तथ्य है, धर्म इतिहासातीत है।

धर्म को जिस हद तक साम्प्रदायिक दायरे में बाँधने का प्रयत्न होता है तब तक तो वह विभाजक तत्व ही बना रहेगा, सर्व-समाहारक नहीं। समाज को टुकड़ों में फाड़ेगा, एक सूत्र में बाँधेगा नहीं। लेकिन धर्म तो समाज का धारक तत्व है, विदारक नहीं। इसका हो अर्थ है कि धर्म सम्प्रदाय से भिन्न है। अंग्रेजी में जिसे रिलीजन कहते हैं वह 'धर्म' नहीं है। स्व० किशोरलाल भाई ने 'रिलीजन' के लिए 'अनुगम' शब्द प्रयोग किया है। यहाँ हम अनुगम की यानी रिलीजन की शिक्षा का विचार नहीं कर रहे हैं।

समाज का धारकतत्व रूपी यह जो धर्म है इसका उगम कैसे हुआ, समाज की धारणा की दृष्टि से धर्म की अपेक्षाएं क्या हैं, धारणा की प्रक्रिया क्या है, प्रत्येक सामाजिक प्रवृत्ति में धार्मिकता या धर्मतत्व क्या और कैसे, संसार के भिन्न भिन्न भाग में इसका क्या क्या रूप रहा है—आदि सारी बातें धार्मिक शिक्षण के अंतर्गत आती हैं।

धर्मों का मूल स्रोत

विचारकों का कहना है धर्म का उगम भय और आश्चर्य में से हुआ। मनुष्य सृष्टि की ओर देखने लगा, एक से एक अद्भुत वस्तु देखकर उसे कहीं भय हुआ तो कहीं आश्चर्य हुआ। शुरू शुरू में प्रकृति उसकी बुद्धि के लिए अगम्य रही, पर ज्यों ज्यों उसकी बुद्धि खुलती गयी त्यों त्यों वह सृष्टि के एक स्रष्टा की कल्पना करने लगा, खुद को उस स्रष्टा की तुलना में अल्प और तुच्छ मानने लगा। फिर क्रमशः अपने अंदर की कुछ सर्जनशक्ति और रहस्यों को जानने की क्षमता अनुभव करने लगा तो उसे सारी सृष्टि सुंदर और भव्य दीखने लगी। इसी सौन्दर्य दर्शन से वह प्रकृति के साथ और उसके बाद उस स्रष्टा के साथ एकात्मता अनुभव करने योग्य हुआ। फिर इन अनुभूतियों को सँवारने, सँजोने और बढ़ाने की दृष्टि से एक दूसरे का साहचर्य आवश्यक हुआ, समाज बना, समाज के नियम बने। उन नियमों की अनिवार्यता का भान हुआ। उसमें से एक दूसरे के लिए कुछ करने, कुछ सहने तथा कुछ छोड़ने की बात जँचने लगी। यह सारा क्रम धर्म-विकास का ही क्रम है।

इस दृष्टि से किसी भी धर्म का विश्लेषण करने पर सब में समान रूप से पाँच तत्व मुख्यतया दिखायी देते हैं (१) विस्मय, (२) व्यक्ति की अल्पता, अतएव किसी दूसरे सर्व शक्त तत्व के हाथों व्यक्ति का आत्म समर्पण, (३) सौंदर्यानुभूति, (४) समाज के बंधनों का भान और (५) सृजनात्मक प्रवृत्ति या निर्माण (क्रियेशन)।

अतः धर्म शिक्षा का अर्थ है धर्म मात्र में विद्यमान इन समानतत्वों की जानकारी देना और साथ ही विभिन्न संतों के जीवन में इन अनुभवों के क्या क्या रूप रहे हैं, वहाँ के जन जीवन में ये तत्व कैसे समाये हुए हैं, यह समझाना और सबसे बढ़कर व्यक्ति के जीवन में ये सारे तत्व प्रकट हों, विकसित हों और समृद्ध हों, ऐसा प्रयत्न करना।

जीवन का मूल्य

व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चारित्र्य तब विकसित होता है जब वह समझ ले कि जीवन क्या है और उसे जीना कैसे है। सही धार्मिक शिक्षा का तकाजा यह है कि व्यक्ति को कैसे जीना है। यह एक नैतिक आदेश के रूप में नहीं बताया जाय, बल्कि वैसा जीवन जीने के लिए बाह्य परिस्थिति से हम कैसे प्रेरित होते हैं यह समझाया जाय। 'संसार ऐसा है', 'मैं ऐसा हूँ' और 'इसलिए मुझे ऐसे जीना है'—यह होगा निर्णय की प्रक्रिया। विस्मय, समर्पण, सौंदर्यानुभूति, सृजनात्मकता और सामाजिकता आदि जो

धर्म-तत्व हैं, और ऐसे ही और भी कई तत्व हो सकते हैं, उनसे प्रेरणा लेकर जीवन की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना धर्म निष्ठ जीवन का, अतएव धार्मिक शिक्षण का लक्षण है।

गणित या भाषा की तरह जोड़-बाकी बताकर या शब्द-व्युत्पत्ति द्वारा धर्म पढ़ाया नहीं जा सकता, बल्कि रोज कुछ पढ़ते-पढ़ाते, कुछ पाठ्यक्रम से बाहर निकल कर दूसरी प्रवृत्तियों में लगाते-लगाते और कुछ स्कूल के तथा समाज के जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरणों का प्रेरणा से धर्म का संस्कार देना और धर्म की ओर प्रेरित करना होता है।

विस्मय स्थान

निसर्ग के अन्दर विद्यमान आश्चर्य-स्थानों का परिचय कराने के लिए शिक्षा में बहुत बड़ी गुंजाइश है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध होते जा रहे हैं त्यों त्यों विस्मय स्थानों का प्रवाह बढ़ता ही जा रहा है। मनुष्य की अब तक की उपलब्धि और निष्पत्ति कोई कम आश्चर्य जनक नहीं है। शिक्षकों में और छात्रों में इतनी नम्रता हो कि जो अद्भुत है उसे अद्भुत कह सकें तो काफी है। इन सबका सही अव लोकन करने के लिए आवश्यक है शिक्षक और विद्यार्थी एक दूसरे के साथ घुल मिल कर रहें। केवल मशीन की तरह अपना विषय रटाते जावें, पुस्तक समाप्त करने की ही फिक्र में रहें तो यह नहीं सधगा। इसके लिए समरस वातावरण चाहिए, सामूहिक जीवन चाहिए, आपसी संबंध नित्य नया और ताजा होते रहना चाहिए, प्रयोग और परीक्षण का सिलसिला जारी रहना चाहिए। विस्मय-तत्व का सही विकास तभी संभव है, जब यह सारा शालेय जीवन में मूर्त हो। अज्ञात का भय और ज्ञात का विस्मय मनुष्य की प्रगति को कुण्ठित करनेवाले नहीं हैं, नये प्रयोग करने को प्रेरित करनेवाले ही हैं। यही धर्म का मूल है।

नम्रता का विवेक

धर्म निष्ठा का दूसरा तत्व है व्यक्ति की अल्पता और परतत्व के आगे समर्पण की तैयारी। दूसरी भाषा में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य को कई दूसरी शक्तियों के अधीन रह कर चलना होगा। प्रत्येक को अक्सर दो शक्तियों के आगे झुकना होता है—एक प्रकृति के आगे और दूसरा मनुष्य के आगे। रूसो ने कहा कि बच्चे को बचपन से ही भान करा देना चाहिए कि प्रकृति की शक्ति उस पर किस कदर हावी है, और उसको मान कर चलना उसके लिए कितना अनिवार्य है। लेकिन रूसो का निश्चित मत है कि मनुष्य की आज्ञा के सामने नत मस्तक होने की वृत्ति को हरगिज प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। लेकिन मनुष्य के आदेशमात्र का तिरस्कार करने की बात कहाँ तक सही है यह संदेहास्पद है। उसके विपरीत हमें प्राकृतिक नियमों की तरह ही मनुष्यकृत नियमों को भी मान देना सीखना होगा। क्योंकि अमुक समाज में रहने के लिए अमुक नियमों के अनुसार ही रहना होता है। इसे मनुष्य का आदेश न मान कर जीवन के लिए आवश्यक सार्वभौम नियम के रूप में आदर देना होता है।

यह सही है कि यह सिद्धांत हजम कर लेना छोटे बच्चों की सामर्थ्य के बाहर है, फिर भी उस दिशा में बच्चों का बचपन से ही मोड़ा जा सकता है। किसी भी विषय को पढ़ाते समय यह तो समझाया ही जा सकता है कि सफलता पाने के लिए अमुक नियमों का पालन करना होता है, अमुक तथ्यों के आधार पर चलना होता है। चाहे गणित का सवाल हो, भाषा का अभ्यास हो, साहित्य की समालोचना हो या भूगोल का ज्ञान हो, सब में यह लागू होता है। खास विज्ञान की पढ़ाई में यह तत्व विशेष रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि विज्ञान के प्रयोगों में बच्चे भौतिक नियमों के निकट संपर्क में आते हैं और सृष्टि तत्व को परख कर देखने लगते हैं। वास्तव में विज्ञान का पहला पाठ ही यह है कि तथ्य का आदेश अक्राम्य है। यही नियम और यही सिद्धांत मानवीय संबंधों में भी लागू होते हैं। समरस जीवन का यह तथ्य है कि उसमें दया, सहिष्णुता, न्याय, प्रेम आदि गुण अनिवार्य रूप से हों। इस तरह से शिक्षक अपने छात्रों में तथ्य के आदेश को मान कर चलने की वृत्ति विकसित करने में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, देना चाहिए।

त्याग सर्वथा अवाछनीय और अनुचित ही नहीं, असभव भी है। धर्म की अनिवार्य शिक्षा लोकतत्र का एक अनिवार्य कर्तव्य बन जाता है। जहाँ इस प्रकार लोकतत्र में धर्म की शिक्षा सैद्धातिक दृष्टि से अनिवार्य दीखती है वहाँ व्यावहारिक रूप से उस पर कई आपत्तियाँ भी हैं।

धार्मिक-शिक्षण का क्या अर्थ है ?

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक है वह यह कि 'हिंदुत्व' की (यानी ऐसे ही किसी धर्म विशेष की) शिक्षा में और 'धर्म की' शिक्षा में बड़ा भारी अतर है। धर्म हिंदुत्व से बड़ा है व्यापक है। हिंदुत्व ऐतिहासिक तथ्य है, धर्म इतिहासातीत है।

धर्म को जिस हद तक साप्रदायिक दायरे में बाँधने का प्रयत्न होता है तब तक तो वह व्यावर्तक तत्व ही बना रहेगा, सर्व समाहारक नहीं। समाज को टुकड़ों में तोड़ेगा, एक सूत्र में बाँधेगा नहीं। लेकिन धर्म तो समाज का धारक तत्व है, विदारक नहीं। इसका ही अर्थ है कि धर्म सप्रदाय से भिन्न है। अंग्रेजी में जिसे रिलीजन कहते हैं वह 'धर्म' नहीं है। स्व० किशोरलाल भाई ने 'रिलीजन' के लिए 'अनुगम' शब्द प्रयोग किया है। यहाँ हम अनुगम या यानी रिलीजन की शिक्षा का विचार नहीं कर रहे हैं।

समाज का धारकतत्व रूपी यह जो धर्म है इसका उगम कैसे हुआ, समाज की धारणा की दृष्टि से धर्म की अपेक्षाएँ क्या हैं, धारणा की प्रक्रिया क्या है, प्रत्येक सामाजिक प्रवृत्ति में धार्मिकता या धर्मत्व क्या और कैसे, ससार के किस किस भाग में इसका क्या क्या रूप रहा है—आदि सारी बातें धार्मिक शिक्षण के अतर्गत आती हैं।

धर्मों का मूल स्रोत

विचारकों का कहना है धर्म का उगम भय और आश्चर्य में से हुआ। मनुष्य सृष्टि की ओर देखने लगा, एक से एक अद्भुत वस्तु देखकर उसे कहीं भय हुआ तो कहीं आश्चर्य हुआ। शुरू शुरू में प्रकृति उसकी बुद्धि के लिए अगम्य रहा, पर ज्यों ज्यों उसकी बुद्धि खुलती गयी त्यों त्यों वह सृष्टि के एक स्रष्टा की कल्पना करने लगा, खुद को उस स्रष्टा की तुलना में अल्प और तुच्छ मानने लगा। फिर क्रमश. अपने अदर की कुछ सर्जनशक्ति और रहस्यों को जानने की क्षमता अनुभव करने लगा तो उसे सारी सृष्टि सुदर और भव्य दीखने लगी। इसी सौन्दर्य दर्शन से वह प्रकृति के साथ और उसके बाद उस स्रष्टा के साथ एकात्मता अनुभव करने योग्य हुआ। फिर इन अनुभूतियों को सँवारने, सँजोने और बढ़ाने की दृष्टि से एक दूसरे का साहचर्य आवश्यक हुआ, समाज बना, समाज के नियम बने। उन नियमों की अनिवार्यता का भान हुआ। उसमें से एक दूसरे के लिए कुछ करने, कुछ सहने तथा कुछ छोड़ने की बात जँचने लगी। यह सारा क्रम धर्म-विकास का ही क्रम है।

इस दृष्टि से किसी भी धर्म का विश्लेषण करने पर सब में समान रूप से पाँच तत्व मुख्यतया दिखायी देते हैं (१) विस्मय, (२) व्यक्ति की अल्पता, अतएव किसी दूसरे सर्व शक्त तत्व के हाथों व्यक्ति का आत्म समर्पण, (३) सौंदर्यानुभूति, (४) समाज के बधनों का भान और (५) सृजनात्मक प्रवृत्ति या निर्माण (क्रियादान)।

अत धर्म शिक्षा का अर्थ है धर्म-मात्र में विद्यमान इन समानतत्वों की जानकारी देना और साथ ही विभिन्न सतों के जीवन में इन अनुभवों के क्या क्या रूप रहे हैं, हमारे जन जीवन में ये तत्व कैसे समाये हुए हैं, यह समझाना और सबसे बढ़कर व्यक्ति के जीवन में ये सारे तत्व प्रकट हों, विकसित हों और समृद्ध हों, ऐसा प्रयत्न करना।

जीवन का मूल्य

व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चारित्र्य तब विकसित होता है जब वह समझ ले कि जीवन क्या है और उसे जीना कैसे है। सही धार्मिक शिक्षा का तकाजा यह है कि व्यक्ति को कैसे जीना है। यह एक नैतिक आदेश के रूप में नहीं बताया जाय, बल्कि वैसा जीवन जीने के लिए बाह्य परिस्थिति से हम कैसे प्रेरित होते हैं यह समझाया जाय। 'ससार ऐसा है', 'मैं ऐसा हूँ' और 'इसलिए मुझे ऐसे जीना है'—यह होगा निर्णय की प्रक्रिया। विस्मय, समर्पण, सौंदर्यानुभूति, सृजनात्मकता और सामाजिकता आदि जो

धर्म-तत्व हैं, और ऐसे ही और भी कई तत्व हो सकते हैं, उनसे प्रेरणा लेकर जीवन की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना धार्मिक जीवन का, अतएव धार्मिक शिक्षण का लक्षण है।

गणित या भाषा की तरह जोड़-बाकी बताकर या शब्द-व्युत्पत्ति द्वारा धर्म पढ़ाया नहीं जा सकता, बल्कि रोज कुछ पढ़ते-पढ़ाते, कुछ पाठ्यक्रम से बाहर निकल कर दूसरी प्रवृत्तियों में लगाते-लगाते और कुछ स्कूल के तथा समाज के जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरणों की प्रेरणा से धर्म का संस्कार देना और धर्म की ओर प्रेरित करना होता है।

विस्मय स्थान

निसर्ग के अन्दर विद्यमान आश्चर्य-स्रोतों का परिचय कराने के लिए शिक्षा में बहुत बड़ी गुंजाइश है। ज्यों ज्यों वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध होते जा रहे हैं त्यों त्यों विस्मय स्थानों का प्रवाह बढ़ता ही जा रहा है। मनुष्य की अब तक की उपलब्धि और निष्पत्ति कोई कम आश्चर्यजनक नहीं है। शिक्षकों में और छात्रों में इतनी नम्रता हो कि जो अद्भुत है उसे अद्भुत कह सकें तो काफी है। इन सबका सही अवलोकन करने के लिए आवश्यक है शिक्षक और विद्यार्थी एक दूसरे के साथ घुल मिल कर रहें। केवल मशीन की तरह अपना विषय रटाते जायँ, पुस्तक समाप्त करने की ही फिक्र में रहें तो यह नहीं सधेगा। इसके लिए समरस वातावरण चाहिए, सामूहिक जीवन चाहिए, आपसी संबंध नित्य नया और ताजा होते रहना चाहिए, प्रयोग और परीक्षण का सिलसिला जारी रहना चाहिए। विस्मय-तत्व का सही विकास तभी संभव है, जब यह सारा शालेय जीवन से मूर्त हो। अज्ञात का भय और ज्ञात का विस्मय मनुष्य की प्रगति को कुण्ठित करनेवाले नहीं हैं, नये प्रयोग करने को प्रेरित करनेवाले ही हैं। यही धर्म का मूल है।

नम्रता का विवेक

धर्म शिक्षा का दूसरा तत्व है व्यक्ति की अल्पता और परतत्व के आगे समर्पण की तैयारी। दूसरी भाषा में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य को कई दूसरी शक्तियों के अधीन रह कर चलना होगा। प्रत्येक को अक्सर दो शक्तियों के आगे झुकना होता है—एक प्रकृति के आगे और दूसरा मनुष्य के आगे। रूसो ने कहा कि बच्चे को बचपन से ही मान लेना देना चाहिए कि प्रकृति की शक्ति उस पर किस कदर हावी है, और उसका मान कर चलना उसके लिए कितना अनिवार्य है। लेकिन रूसो का निश्चित मत है कि मनुष्य की आज्ञा के सामने नतमस्तक होने की वृत्ति को हरगिज प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। लेकिन मनुष्य के आदेशमात्र का तिरस्कार करने की बात यहाँ तक सही है यह संदेहास्पद है। उसे सिर्फ हमें प्राकृतिक नियमों की तरह ही मनुष्यकृत नियमों को भी मान देना सीखना होगा। क्योंकि अमुक समाज में रहने के लिए अमुक नियमों के अनुसार ही रहना होता है। इसे मनुष्य का आदेश न मान कर, जीवन के लिए आवश्यक सार्वभौम नियम के रूप में आदर देना होता है।

यह सही है कि यह सिद्धान्त हजम कर सकना छोटे बच्चों की सामर्थ्य के बाहर है, फिर भी उस दिशा में बच्चों को बचपन से ही मोड़ा जा सकता है। किसी भी विषय को पढ़ाते समय यह तो समझाया ही जा सकता है कि सफलता पाने के लिए अमुक नियमों का पालन करना होता है, अमुक तथ्यों के आधार पर चलना होता है। चाहे गणित का सवाल हो, भाषा का अभ्यास हो, साहित्य की समालोचना हो या भूगोल का ज्ञान हो, सब में यह लागू होता है। खास विज्ञान की पढ़ाई में यह सत्य विशेष रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि विज्ञान के प्रयोगों में बच्चे भौतिक नियमों के निकट संपर्क में आते हैं और सृष्टि तत्व को परख कर देखने लगते हैं। वास्तव में विज्ञान का पहला पाठ ही यह है कि तथ्य का आदेश अकाट्य है। यही नियम और यही सिद्धान्त मानवीय संबंधों में भी लागू होते हैं। समरस-जीवन का यह तथ्य है कि उसमें दया, सहिष्णुता, न्याय, प्रेम आदि गुण अनिवार्य रूप से हों। इस तरह से शिक्षक अपने छात्रों में तथ्य के आदेश को मान कर चलने की वृत्ति विकसित करने में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, देना चाहिए।

सुन्दरता और पवित्रता

तीसरा तत्व है सौंदर्यानुभूति। सौंदर्य सृष्टि की एक विशेष देन है। सौंदर्य की परख और पहचान भले ही संस्कार-जन्य हो, परन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि सौंदर्यानुभूति पवित्रता और हार्दिकता का एक प्रबल आधार है। धर्म निष्ठ जीवन के सभी पहलू सुंदर ही होने चाहिए-इस बात का नमूना प्राचीन भारतीय संस्कृति में देखा जा सकता है। धर्म और सौंदर्य के इस गहरे संबंध का विश्लेषण स्थूल रूप से नहीं किया जा सकता है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सौंदर्य के अवलोकन से मन सहज ही प्रसन्न होता है, विकृत उत्तेजना शांत होती है और सद्वृत्तियों के विकास में मदद मिलती है।

सौंदर्य की पहचान और परख के अलावा सौंदर्यानुभूति की क्षमता निर्माण करना भी शिक्षा का एक प्रमुख कर्तव्य है। लेकिन सामान्य शिक्षा में यह विषय अब तक उपेक्षित रहा है। शालेय जीवन के हर पहलू में सौंदर्य का दर्शन होना चाहिए। भवन, सामान, पोशाक, व्यवस्था, व्यवहार आदि प्रत्येक चीज सुंदर ही होनी चाहिए, चारों ओर हरियाली और फल फूल हों, सुंदर तसवीरें हों, नदी, पर्वत आदि निकटवर्ती प्रकृति से घनिष्ठ संपर्क साधा जाय, व्यवहार में मृदुता, शालीनता और सभ्यता का पुट हो यों सौंदर्य की अभिव्यक्ति और सौंदर्य की अनुभूति का एक भी प्रसंग हाथ से जाने न दे ऐसा प्रयत्न शाला में सजगता पूर्वक होना चाहिए। धार्मिक शिक्षा की सफलता इस पर निर्भर है कि यह पहलू बचपन से ही बच्चों में समृद्ध किया जाय।

सृजनशीलता

निर्माण मनुष्य की एक सहज-वृत्ति है जो धर्म का एक प्रमुख तत्व है। छोटा बच्चा जब अपने हाथों आड़ी टेढ़ी लकीर खींच लेता है, इधर का कंकड़ उठा कर उधर फेंक देता है तो इतना खुश हो जाता है मानो बहुत बड़ा काम कर दिया हो। बच्चा अब तक जो काम धीरे धीरे करने की कोशिश में था, गलत ढंग से करता रहता था अब वही सहज रूप में कर लेता है, सही ढंग से कर लेता है, अपनी इच्छा के अनुरूप कर लेता है उससे मिलनेवाला आनन्द नव-निर्माण का ही आनन्द है। वह क्रिया उसके लिए निर्माण की ही क्रिया है। इस माने में निर्माण केवल शरीर निर्वाहयोग्य वस्तुओं का उत्पादन ही नहीं है, बल्कि सही पद्धति से किया जाय तो लिखना, पढ़ना, प्रयोगशाला में प्रयोग करना आदि प्रत्येक क्रिया निर्माण ही मानी जायगी। चित्रकला, संगीत, कविता आदि कलाएँ भी इस निर्माण के दायरे से बाहर नहीं हैं। निर्माण केवल (प्रोडक्शन) उत्पादन का नाम नहीं है, (क्रियेशन) सर्जन है। (क्रियेशन) सर्जन में (प्रोडक्शन) उत्पादन भी आता है।

बच्चा जिस वातावरण में पलता है उस वातावरण के कामों में ही वह सहज प्रवृत्त होता है। दूसरी बात बच्चे का बोध जैसे जैसे बढ़ता जाता है और जिन जिन वस्तुओं का उपयोग उसकी समझ में आता जाता है वे उसके निर्माण का विषय बनती जाती हैं। अतः निर्माण किस विषय का और कब यह प्रमुख नहीं है, निर्माण की प्रवृत्ति बनी रहे यह प्रमुख है। इसके लिए शिक्षकों की योजना और समाज की आवश्यकता से पहले बच्चे की सहज प्रेरणा को महत्व देना होता है। शिक्षा यदि उस मूल वृत्ति को प्रोत्साहन दे और उस प्रवृत्ति के अनुकूल साधन जुटा दे तो समझना चाहिए शिक्षा ने अपना काम किया।

इन दिनों शिक्षा को धर्म मूलक बनाने की बात सर्व मान्य हुई है, लेकिन यह विचार सर्वत्र निरपवाद रूप से स्वीकृत नहीं हुआ है कि वह प्रवृत्ति या काम जीवन का कोई भी कार्य हो सकता है। बच्चों की अवस्था और रुचि भेद के अनुसार प्रवृत्तियां भिन्न भिन्न हो सकती हैं, लेकिन जीवन से संबंधित एक भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं जो शिक्षा का माध्यम न बन सके। अनुकूल माध्यम चुनना और उसके द्वारा पूरी शिक्षा देना शिक्षक की कुशलता पर निर्भर है।

बच्चों में प्रवृत्ति का आकर्षण जबरदस्त होता है, लेकिन आज के बने-बनाये पाठ्यक्रमों और परीक्षा की वर्तमान पद्धतियों के कारण सृजनशीलता की वृत्ति समाप्त हो जाती है। हम सही माने में धर्म को समझ

नहीं पा रहे हैं इसीलिए जीवन में सृजनशीलता और कर्मठता की प्रमुखता को भी नहीं समझ पा रहे हैं और इसीलिए शिक्षाक्रम भी कर्महीन और क्रिया शून्य चला रहे हैं। हर तरह से कर्म विमुख रहने में, पुस्तक पाण्डित्य अर्जन करने में प्रतिष्ठा मानते हैं। धर्म समाज की धारणा का तत्व है तो समाजोपयोगी काम में लीन रहना धर्म-रक्षा का मूल आधार है और शिक्षा जगत को यह विचार कार्यरूप में लाने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

सामाजिकता का भान

धर्म का अंतिम तत्व है सामाजिकता का अनुभव। हम समाज में हैं तो हमें यह जानना ही है कि हम क्या हैं, यह समाज क्या है और इस समाज का और मेरा सम्बन्ध क्या है। इसे जाने बिना हम सही ढंग से जीवन जी नहीं सकेंगे और सही जीवन के बिना समाज सुखी नहीं होगा। यहाँ तक तो आज का सामान्य मनुष्य समझ सका है, पर यह भान उसे स्पष्ट तया होना अभी बाकी है कि यह सामाजिकता का अनुभव धार्मिक जीवन का ही एक अंग है। इस तत्व के भान से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए जीना सीखता है, और आज के सभी संघर्षों की जड़ इससे समाप्त हो जाती है। शिक्षकों का ही यह कर्तव्य है कि स्कूल के बच्चों में तथा आसपास के वातावरण में इस सामाजिकता का भान प्रत्येक के अन्दर जगायें।

सहकार से स्नेह

इस सारे विवेचन का सार यह है कि धार्मिक शिक्षा की परिणति व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों को स्नेह-मूलक बनाने में होनी चाहिए। स्नेह क्या है? दूसरे का सुख अपना सुख समझना और दूसरे का दुख अपना दुख समझना ही स्नेह है। द्वेषी हमेशा दूसरे को दोषी कहता है, अन्याय में अपना कुछ भी हिस्सा नहीं मानता। यह वैर का लक्षण है। स्नेह कहता है उसका दोष मेरा ही दोष है. यदि अच्छाई है तो वह उसकी है, मेरी नहीं। लड़के ने कोई अपराध किया तो माँ माफी माँग लेती है मानों अपराध लड़के ने नहीं, खुद उसी ने किया हो। यह स्नेह का लक्षण है।

नागरिकता की शिक्षा ने हमें सहकार तक पहुँचाया था, धार्मिक शिक्षा हमें अगली सीढ़ी पर पहुँचाती है, स्नेह तक। किसी ने मुझे मारा तो मैं उसे दो मुक्के जमा दूँ, यह हैवानियत है, इससे समाज शिथिल होता है। यदि मैं नागरिक धर्म को जानता हूँ तो बदले में मुक्का जमाने के बजाय पुलिस के पास जाऊँगा या बुजुर्गों के सहारे झगड़ा मिटाने का प्रयत्न करूँगा, इससे समाज कमजोर होने से बचता है। समाज और नागरिकों के बीच यह सहकार है, सामाजिक सभ्यता है। नागरिक-शिक्षा से व्यक्ति सभ्य बना। धार्मिक-शिक्षा कुछ और आगे ले जाकर यह सोचने को प्रेरित करता है कि यदि उसने मुझे मारा है तो मुझ से कुछ न कुछ गल्ती अवश्य हुई है। मुझे अपनी गल्ती खोजनी होगी। झगड़ा बढ़ने न देने की दृष्टि से मैं उस व्यक्ति से क्षमा माँगूँगा। यह स्नेह की भूमिका है। इस प्रकार का स्नेह-मूलक संबंध धर्म निष्ठ समाज की कसौटी है।

लोकतंत्र में यदि सही माने में धर्म की शिक्षा अनिवार्य करनी है तो उसकी यही दिशा हो सकती है। इसके अनुपम में पिछले धार्मिक व्यक्तियों का जीवन प्रसंग और घटना विशेषों का उल्लेख वर्ज्य नहीं हैं, लेकिन धर्म का धर्मत्व उस धर्मशरीर में नहीं है, सामाजिक चारित्र्य में है। इसका विकास शिक्षकों के सिवाय और किसी से संभव नहीं है।

●

बिल्ली की कहानी—भाग १, २, ३

लेखक—महात्मा भगवानदीन
प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी।
मूल्य—७५ नये पैसे प्रत्येक
पृष्ठ संख्या—क्रमशः ५२, ४८, ३२
साइज—१७×२७=८

बच्चे जानवरों की कहानियाँ विशेष पसन्द करते हैं। इससे उनका ज्ञान और आनन्द दोनों साथ साथ बढ़ता है। इसी कारण अपने यहाँ 'हितोपदेश' और 'पंचतन्त्र' जैसी विश्व प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनकी धुरी पर प्रसिद्ध यूनानी कहानीकार 'ईसप' ने अपने फैबुलों की रचना की। इस शैली का गहरा असर 'अलिफ लैला' नाम के बड़े कहानी संग्रह में है। 'बृहत् कथा मजरी' और सोमदेव का 'कथा-सरित्-सागर' भी इसके अपवाद नहीं हैं। मगर, इन प्राचीन कहानियों में कुछ घटनाओं के निष्कर्ष रोचक ढंग से दिये गये हैं।

इधर कहानी का स्वरूप बदल गया है। उसमें जिस जीव का पात्र के रूप में प्रयोग किया जा रहा है उसका व्यावहारिक अध्ययन भी आवश्यक होता है। इस कला में जो लेखक जितना ही सावधान होगा वह अपनी कहानी को उतना ही स्वाभाविक बना पायेगा।

जीवन के चक्र में प्रायः जीव किसी-न किसी राह से एक दूसरे के सम्पर्क में आते रहे हैं। उनके आपसी सम्बन्ध तो होते ही हैं, दूसरी जातियों से भी उनके सम्बन्ध अच्छे या बुरे रहते हैं। और, मनुष्य या तो उनका सीधा उपयोग करता है या उनका जीवन में अन्य प्रकार से उपयोग ले लेता है।

एक बिल्ली के माध्यम से इस पुस्तक में मानव-समाज की कहानी बड़ी बारीकी से कही गयी है। इसमें बच्चे, बूढ़े, जवान, मजदूर, किसान, विद्यार्थी अध्यापक सभी तरह के लोग आते हैं। कुत्ते और बिल्ली का सहयोग भी दिखाया गया है, जो घर के पालतू जीवों में कहीं भी देखा जा सकता है। कुत्ते और बिल्ली के शाहदरे से दिल्ली तक की यात्रा का भी रोचक वर्णन किया गया है, जिसमें उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव हुए हैं। इन अनुभवों के निष्कर्ष रूप में जगह जगह व्यावहारिक सीख दी गयी है, जो पढ़ने पर तुरन्त भले ही मन पर न अंकित हो, लेकिन उसकी गूँज कहीं न कहीं शेष रह जायगी।

किताब बच्चों के ही नहीं, बड़ों के भी काम की है।

माता-पिताओं से

लेखक—महात्मा भगवानदीन
प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी।
मूल्य—३७ नये पैसे
पृष्ठ संख्या—६२

महात्मा भगवानदीनजी ने इस पुस्तक में बालकों के अभिभावकों को उचित व्यवहार की शिक्षा दी है। पुस्तक के दो भाग हैं। पहला, बर्ताव कैसे किया जाय, जिसमें कुल २०० अनुच्छेद हैं और प्रत्येक अनुच्छेद में किसी न किसी नयी बात का उद्घाटन किया गया है। और, दूसरा भाग है-पढ़ाया कैसे जाय, जिसमें कुल ७३ अनुच्छेद हैं। इनमें शिक्षा का विधि, प्रकार, पात्रता आदि पर बहुत ही सरल ढंग से विचार किया गया है। यह पुस्तक माता पिता, शिक्षक और भाई किसी भी प्रकार के अभिभावक के लिए उपयोगी है। इस प्रकार की पुस्तकों का उपयोग करते समय परिस्थिति और शिक्षार्थी का पूरा-पूरा ज्ञान आवश्यक है। इसके बिना *प्रयास अनर्थपूर्ण* और निष्फल हो सकता है। इस प्रकार की पुस्तकों में समाज की अनेकता के विचार से ही अनेक सूत्रों को गुम्फित किया जाता है, इसलिए प्रयोक्ता को सामाजिक अनेकता में से एकता दिखाने की शक्ति रखनी चाहिए। बिना इसके न तो समाज का ज्ञान होता है और न व्यक्ति का निर्माण।

विश्वास है कि सुधी पाठक इस पुस्तक का सावधानी से उपयोग करेंगे।

बालक बनाम विज्ञान

लेखक—महात्मा भगवानदीन
प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी।
सजिल्द, मूल्य—७५ नये पैसे
पृष्ठ संख्या—८६

महात्मा भगवानदीन जीवन विज्ञानी थे। वे सदा जीवन के नियामक तत्वों पर ही विचार करते रहते थे और उन विचारों को प्रयोग द्वारा प्रमाणित भी करते रहते थे। जीवन का व्यापक क्षेत्र ही उन्होंने अपने लिए चुन रखा था। विचार कहीं से भी लेने में उन्हें हिचक न होती थी। यदि विचार सचमुच विचार है तो आचार द्वारा उसको प्रमाणित करने की स्वतन्त्रता सब के लिए समान है।

महात्मा भगवान दीन ने जेराल्ड एस क्रेग की पुस्तक साइंस फार एलिमेन्ट्री स्कूल टीचर को आधार बना कर, 'बालक बनाम विज्ञान' की स्वतन्त्र रचना की है। महात्माजी की भाषा बहुत ही सरल है। यह छोटे बड़े सभी पाठकों के लिए उपयोगी है। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक शिक्षकों के लिए व्यावहारिक कोश का काम दे सकती है।

—त्रिलोचन

संस्कृति और परिस्थिति

○

'अज्ञेय'

[१५ अगस्त को हमें स्वतन्त्र हुए १६ वर्ष पूरे हुए। इस बीच हमारे देश में यांत्रिक विकास तो हुआ; किन्तु सांस्कृतिक पक्ष उपेक्षित रह गया। अभीष्ट सांस्कृतिक चेतना के अभाव में यांत्रिक विकास भी खोखला रह गया—सम्पादक]

पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी संस्कृति और परम्परा मिट गयी है—हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गयी हैं और निकलती जा रही हैं, और उनके साथ ही निकलती जा रही है वह चीज, जिसके ये केवल चिह्नमात्र हैं—जीवन की कला, जीने का एक व्यवस्थित ढंग, जिसके अपने रीति व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी—ऐसी ऋतुचर्या, जिसकी बुनियाद जाति के चिर संचित अनुभव पर कायम हो। बात केवल इतनी ही नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रहकर शहरी हो गया है। जीवन का ढंग ही नहीं बदला, जीवन ही बदला है। अब समाज न देहाती रहा है, न शहरी; अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है। उसे ऐक्य में बाँधने वाला कोई सूत्र नहीं है; जो जहाँ सुविधा पाता है वहाँ रहता है, अपने पड़ोसियों से उसका कोई जीवित सम्बन्ध, धमनियों के प्रवाह का सम्बन्ध नहीं रहता; सम्बन्ध रहता है भौगोलिक समीपता का; बिजली, पानी, मोटर ट्राम की मार्फत।

निस्सन्देह पुराने संगठन के अवशेष भारत में अनेक स्थलों पर मिलेंगे, जहाँ अभी मोटर-लारी, सिनेमा और रेडियो नहीं पहुँचे हैं। इन स्थलों में जीवन अब भी एक कला है; लेकिन ये बहुत देर तक नहीं रहेंगे। यन्त्र युग की प्रगति का निर्मम हल पुरानी मिट्टी उघारता हुआ चला जा रहा है।

तब त्राण कहाँ से होगा? हमें समझ लेना चाहिए कि हमारा उद्धार मशीन से नहीं होगा, प्रचार और विचार से नहीं होगा। वह तो संस्कृति की रक्षा और निर्माण की चिर-जागरूक चेष्टा और उस चेष्टा की आवश्यकता में अखण्ड विश्वास से ही सम्भव है। साहित्य का, कला का चमत्कार मर रहा है, मरा अभी नहीं है; मगर उस चमत्कार को पैदा करने वाले पतन और निराशा से बच सकते हैं, और उसके मुकाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं, तो अभी परित्राण सम्भव है। और, इस शक्ति को उत्पन्न करने का एक मात्र मार्ग है शिक्षा। शिक्षा, जो निरी साक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो व्यक्ति की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है। दूसरे शब्दों में जरूरत है रुचि संस्कार की, परख करने की और ट्रेनिंग की। बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के संस्कृति नहीं है, और बिना वैज्ञानिक, आलोचना-मूलक ट्रेनिंग के ऐसी अनुभूति नहीं है। अपने भीतर नीर-क्षीर-विवेचन की प्रतिभा पैदा करने के लिए मानसिक शिक्षण नितान्त आवश्यक ही नहीं; बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए अथक परिश्रम, विचार और एकाग्रता की जरूरत है।

आज यदि हम आधुनिक जगत के प्रति अपना दायित्व पूरा करना चाहते हैं, अपने जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें शिक्षण द्वारा सांस्कृतिक विकास की क्रियाओं, तात्कालिक भौगोलिक, मानसिक परिस्थितियों, हमारी रुचियों, आदतों, विचार-धाराओं और जीवन-प्रणालियों पर उस परिस्थिति के असर के प्रति जागरूकता पैदा करनी होगी। हमें परखने और मुकाबला करने की शक्ति को संगठित करना होगा, हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

सर्वोदय-पर्व

[११ सितम्बर से २ अक्तूबर तक]

साहित्य-प्रसार योजना

पिछले दो वर्षो से सारे देश मे ११ सितम्बर से २ अक्तूबर तक यानी विनोबा जयन्ती से गाधी-जयन्ती तक की अवधि म सर्वोदय-पर्व मनाया जा रहा है। इस अवधि में सर्वोदय-विचार को जनप्रिय बनाने की दृष्टि से स्थानीय लोगो की रुचि, प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुसार कायक्रम हाथ म लिये जाते हैं। यहाँ साहित्य प्रसार के सम्बन्ध में कुछ सुझाव सक्षेप में दिये जा रहे हैं।

पर्व के दिनो मे क्या करे ?

सर्वोदय पव की अवधि मे नीचे लिखे कार्य किये जा सकते हैं।

(१) घर घर पहुचकर सर्वोदय-साहित्य की बिक्री तथा प्रसार करना। (२) सर्वोदय विचार की पत्र-पत्रिकाओ के ग्राहक बनाना। (३) सर्वोदय-साहित्य के स्थायी ग्राहक बनाना।

उद्देश्य पूर्ति की योजना

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए नीचे लिखे अनुसार कार्यक्रमा का आयोजन किया जा सकता है।

(१) गावो में पदयात्राओ का आयोजन। (२) शहरो म टोलियाँ बनाकर घर घर पहुचना। (३) स्कूल, कालेजों मे जाकर विशेष तौर से साहित्य-बिक्री का प्रयत्न। (४) खादी-भण्डारो पर साहित्य-बिक्री का विशष प्रबध। (५) विशेष प्रसगो या उत्सवो के निमित्त साहित्य का या विशष पुस्तक का वितरण। (६) रेल और बस-स्टेशनो पर स्थायी बिक्री का विशेष आयोजन। (७) विभिन्न वर्गो के पाठको को ध्यान में रखकर विषयवार सेट तैयार करके उनकी बिक्री। (८) कारखानो, उद्योग-व्यवसायो, फैक्टरियो, फर्मो आदि में साहित्य-प्रसार का प्रयत्न।

इसी प्रकार के और तरीके भी स्थानीय अनुकूलता को देखकर सोचे जा सकते हैं।

वातावरण निर्माण

उक्त कायक्रमो की सफलता के लिए वातावरण निर्माण करने की दृष्टि से प्रचार की कुछ पद्धतियाँ इस प्रकार हो सकती हैं—

(१) शहरा, कस्बो तथा सार्वजनिक स्थानो पर छोटी-बडी साहित्य प्रदर्शनिया का आयोजन। (२) विचार-गोष्ठियो और व्याख्यानमालाओ का आयोजन। (३) स्थान-स्थान पर सुरुचिपूर्ण और आकर्षक पोस्टर या साइनबोड लगाये जायँ। (४) साहित्य की जानकारी देनेवाले छोटे-छोटे पर्चे, सूचीपत्र जनता में वितरित किये जायँ। (५) स्थानीय समाचार पत्रा में सर्वोदय-पव की और सर्वोदय-साहित्य की जानकारी खासतौर से प्रकाशित करायी जाय। विशेष पुस्तको के विज्ञापन भी समाचार पत्रो के सहयोग से प्रकाशित कराये जायँ। (६) आम-सभाओ का आयोजन भी उपयोगी हो सकता है।

[नोट —अ० भा० सर्व सेवा-सघ प्रकाशन की ओर से पोस्टर, पर्चे आदि प्रचार-सामग्री तैयार हो रही है।]

सिद्धराज ढड्ढा
अध्यक्ष
अ० भा० सर्व सेवा-संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-१

नहीं आयी। वे कहने लगे—इससे तो 'बाल मजदूरी' का पाप हो जायेगा। ऐसा कहने में कम्युनिस्ट भाई अग्रगण्य रहे। उन लोगों के लिए इस प्रकार का सोचना स्वाभाविक था। वस्तुत यौरप के पूँजीवाद का नाश करने के लिए अपने शास्त्र के सूत्रों से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उन दिनों कम्युनिस्ट भाई किताब पढकर ही विचार करते थे। उन्हें भारतीय वस्तुस्थिति का सामना नहीं करना पडा था। आज वे अपने ढंग से भारत की गरीब जनता की प्रत्यक्ष सेवा करने लगे हैं, इसलिए वे देख रहे हैं कि भारतीय परिस्थिति में हरेक परिवार के लिए बाल मजदूरी अनिवार्य है, अन्यथा वह जिन्दा नहीं रह सकता। उसे बाल-मजदूरी और मौत के बीच अपना रास्ता चुनना पड़ता है।

देश के शिक्षित जन और विशेष कर कम्युनिस्ट भाइयों को इस परिस्थिति पर गम्भीर विचार करना होगा। किताबों में से पढकर उन्होंने बाल-मजदूरी के पाप की जो धारणा बना ली है, उसे छोडना होगा। वस्तुस्थिति का यह अलघनीय सत्य कि इस देश की जनता बाल मजदूरी तो टाल नहीं सकती, उन्हें मानना होगा। आप चाहे उनके शिक्षण की व्यवस्था करें या न करें, बच्चों को उत्पादक श्रम करना ही है, अतएव यदि इस श्रम को टालना असम्भव है तो इसे ही केन्द्र मानकर देश की सारी शिक्षा पद्धति का निर्माण करना होगा?

आज कम्युनिस्ट भाई दुनिया में एक वर्ग विहीन समाज कायम करने की बात करते हैं। वे सही कहते हैं कि जबतक ससार म दो वर्ग रहेंगे तबतक दुनिया से शोषण का अन्त नहीं हो सकेगा। अत समाज में श्रमिकों का ही एक वर्ग रहना उचित है, लेकिन इस दिशा में विचार करने में वे एक बहुत बडी भूल करते हैं कि शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम को एक ही कोटि में रखना चाहते हैं। श्रम विभाजन के नाम पर वे फिर से बौद्धिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप में दो वर्ग कायम रखना चाहते हैं। नतीजा यह होगा कि बौद्धिक वर्ग हमेशा व्यवस्थापक के रूप में शरीर श्रमिक पर हावी रहेगा। कम्युनिस्ट कहते हैं कि मनुष्य का हृदय-परिवर्तन नहीं होता है। उनका कहना है कि केवल विवेक के इशारे स्वार्थ आदि प्रवृत्तियों को मनुष्य छोड नहीं सकता। तो क्या बौद्धिक श्रमिक रूपी व्यवस्थापक वर्ग अपने स्वार्थ की प्रवृत्ति को छोडेगा!

अतएव यदि शोषण का अन्त करना है तो यह आवश्यक होगा कि दुनिया के मनुष्य को एक पूर्ण मानव बनाया जाय, अर्थात प्रकृति ने मनुष्य को बुद्धि और शरीर रूपी जो शक्ति दी है उसका समान विकास करके एक ही वर्ग के श्रमिक की प्रतिष्ठा की जाय। जो शरीर-श्रम से उत्पादन करते हैं उन्हीं में बौद्धिक विकास कर व्यवस्था शक्ति को उत्पन्न करना होगा, ताकि वे उत्पादन-कार्य को सभालते हुए सहयोगिता के आधार पर स्वावलम्बी व्यवस्था कायम कर सकें। यह तभी हो सकेगा, जब बौद्धिक विकास का कार्यक्रम उत्पादन कार्य के माध्यम से बनाया जा सके। फिर व्यवस्थापक और उत्पादक के नाम पर विभाजित दो वर्गों का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

उद्योग में ज्ञान-दृष्टि

विनोबा

लड़के राष्ट्र के धन हैं, लेकिन उनके भोजन में न दूध है, न घी ! प्रति लड़के का मासिक भोजन खर्च कितना कम है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्र की अवस्था को भूल नहीं सकते, यह तो माना, फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए।

हमारे शिक्षण में आज सबसे बड़ी जरूरत विज्ञान की है। हमारा उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। हिंदुस्तान कृषि प्रधान देश कहलाता है और योरपीय राष्ट्र उद्योग प्रधान। यहाँ खेती ही मुख्य व्यवसाय होते हुए भी प्रति व्यक्ति सवा एकड़ जमीन है, जब कि फ्रांस में साढ़े तीन एकड़ है फिर भी वह देश उद्योग प्रधान कहलाता है। इससे जाहिर है कि हमारी हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में सिर्फ खेती ही होती है, और कुछ नहीं।

उद्योग-कुशलता और विज्ञान शिक्षण

यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता सभी को उद्योग में कुशल होना चाहिए। इसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला हो। वहाँ काम करनेवाले को किस खाद्य पदार्थ में कितना तापमान कितना ओज, कितना स्नेह है आदि सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए। उसे यह हिसाब लगाने आना चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगा।

यों ये सभी बातें हैं लेकिन स्कूलवालों का काम इतने से नहीं चलेगा। मैले का क्या उपयोग होता है ? सूर्य की किरणों का उस पर क्या प्रभाव होता है ? मैला यदि खुला पड़ा रहे तो उससे क्या हानि है ? उससे कौन कौन सी बीमारियाँ फैलती हैं ? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाय तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है ?—आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान हमें प्राप्त करना चाहिए।

कोई लड़का क्यों बीमार हो जाता है। बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आयी है ? तुमने उसे गिरह से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका ख्याल रखना होगा। वह क्यों आया, कैसे आयी आदि पूछना होगा। उसकी समुचित पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना होगा। जब वह आ ही गयी, तो उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। वह ज्ञानदाता रोग आया और गया हम कोरे के कोरे रह गये। दूसरों की तरह हमारा अज्ञान ऐसा कदापि न हो।

आप सूत कातते हैं, खादी भी बना लेते हैं, लेकिन खादी विद्या के बारे में शास्त्रीय प्रश्नों के उत्तर यदि आप न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति केन्द्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा ? मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की अपेक्षा रखूँगा।

हमें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से सन्तोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्य शास्त्र, रसायन शास्त्र, पदार्थ विज्ञान, यन्त्र शास्त्र आदि विषय सीखने

चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानों की इस तालिका को देखकर आप घबराइए नहीं, उन्हें उद्योग के साथ बड़ी आसानी से सीखा जा सकता है।

विज्ञान और अध्यात्म

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक है। एक अपने आसपास की चीजों को परखने की शक्ति; अर्थात विज्ञान और दूसरी आत्मज्ञान पूर्वक संयम करने की शक्ति, अर्थात अध्यात्म। इसके लिए बीच में निमित्त-मात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसा का काम करती है। अगर मैं चिट्ठी में कुछ भी न लिखूँ, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। यह भी कोई उसकी कम कीमत नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उन्हीं का मैं विचार करूँगा। अगर मेरा चरखा टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूँगा? बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूँगा। इसी तरह अगर बिच्छू ने डंक मारा, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार कर छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्मा की अलिप्तता का ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का पर्चा बनाने के झंझट में नहीं पड़ूँगा। लड़कों की बोलचाल से ही उनका भाषा ज्ञान भाँप जाऊँगा।

शिक्षण की सही दृष्टि

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं, लेकिन दोनों के भोजन करने में फर्क है। विद्यार्थियों का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा तो वह देखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकलता है। मान लीजिए, एक सेर में आठ तोला चोकर निकला यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसी के यहाँ जाकर वहाँ का चोकर तौलेगा। उसे दीख पड़ेगा कि उसके आटे में से ढाई तोला ही चोकर निकला है। दस प्रतिशत चोकर निकलने में क्या हर्ज है? उतना अगर पेट में चला जाय तो क्या नुकसान होगा?—आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए।

जहाँ हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टि से किया जाता है वह पाठशाला है, और जहाँ वही ज्ञान कर्म-दृष्टि से होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोग बुद्धि से, ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च तो पड़ेगा, लेकिन उसमें उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा होगा, वह बढ़िया ही होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिये जायँगे। बिनौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन में इतना फर्क क्यों? बिनौले में तेल होता है, इसलिए वह हल्का होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौन से हैं। इसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदी जायगी, स्कूल में ही बनायी जायगी। जब हम यह सब करने का विचार करेंगे, तभी से विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढंग से किया जाय, तो वह कितना मनोरंजक होगा! फिर भला उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सन् में मरा, यह रटने की क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यों सवार हुआ? मैं इतिहास रटने के लिए नहीं पैदा हुआ हूँ। मैं तो इतिहास बनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।

हमारी पाठशालाओं में प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा। लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकान का मुख्य खम्भा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खड़ा रह पायेगा? नहीं। इसी तरह हमें भी अपने मेरुदण्ड को सदा सीधा रखना चाहिए। पाठशाला में यदि इस प्रकार काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्र की कायापलट हो जायगी। उसका दुख दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञान की प्रभा फैलेगी।

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए। उन्हें शाला की सभी आवश्यक चीजें वहाँ उपलब्ध करा देनी चाहिए; लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। एकआध दानवीर मिल जाता है और कहता

है—"मैंने इस शाला को इतनी सहायता दी।" लेकिन वह अपने लड़कों को सरकारी स्कूल में क्यों भेजता है ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओं को दान के योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरह से सम्पन्न और सुशोभित कर अपने लड़कों को वहीं क्यों नहीं भेजते ?

इसे क्या कहा जाय ?

लड़के राष्ट्र के धन हैं; लेकिन उनके भोजन में न दूध है, न घी ! प्रति लड़के का मासिक भोजन-खर्च कितना कम है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्र की अवस्था को भूल नहीं सकते, यह तो माना, फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनों यह शिकायत थी कि जेल में कैदियों को उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। गांधीजी की सूचना से बाहर के डाक्टरों ने यह सोचा कि निरामिष-भोजी व्यक्ति के लिए कम से कम कितने दूध की जरूरत है। उनके निर्णय के अनुसार हर व्यक्ति को कम-से-कम ३० तोले दूध आवश्यक माना गया। सरकार अगर कैदियों को रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए; लेकिन अगर हम अपने विद्यालयों में ही इस नियम पर अमल नहीं करते, तो सरकार से आशा करना कहाँ तक शोभा देगा ? लड़कों को दूध तो मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए, वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

मैंने कुछ बातें शिक्षकों के लिए, कुछ छात्रों के लिए और कुछ औरों के लिए कही हैं। ये सब मेरे अनुभव की बातें हैं। आशा है, इनका समुचित उपयोग होगा।

भू-जयन्ती

- गांधीजी और दक्षिण अफ्रीका के संयोग से सामूहिक अहिंसक सत्याग्रह का और विनोबाजी तथा तेलंगाना के सम्पर्क से सौम्य सत्याग्रह का आविर्भाव हुआ।
- सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन ने गांधी जी को कर्मवीर महात्मा का व्यक्तित्व प्रदान किया, भूदान आन्दोलन ने विनोबाजी को एक क्रान्ति-दर्शी सर्वोदयी सन्त की प्रतिष्ठा दिलायी
- ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक भिन्नताओं के होते हुए भी भूदान ग्रामदान आन्दोलन की सफलता के बाद आज विनोबाजी भारत के राजनीतिक क्षितिज पर उसी स्थान पर खड़े हैं, जहाँ आज से ४४ वर्ष पहले महात्मा गांधी थे।
- भावी इतिहास के पन्ने विनोबा द्वारा प्रवर्तित नये युग की अगवानी करने के लिए खुले पड़े हैं। काश, विनोबा का सौम्य सत्याग्रह भारत के कोटि-कोटि भूमि-पुत्रों को धरती माँ की मुक्त निर्बन्ध सेवा करने का सहज सौभाग्य प्रदान कर पाता !
- जबतक साम्ययोगी समाज में आम लोगों की आस्था स्थापित करनेवाले उस चिर-प्रतीक्षित दिवस का आगमन नहीं हो पाता—भू-जयन्ती का अनुष्ठान अपूर्ण रहेगा।
- ६९ वीं भू जयन्ती के पुनीत अवसर पर मङ्गलमय से याचना है कि वह पूज्य बाबा की निधायक पद यात्रा को अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने की सार्थकता एवं सामर्थ्य प्रदान करें।

—रुद्रभान

बच्चों की पंचायत

गुरुशरण

[२ अक्तूबर '६३ को देश में पंचायती राज के शुभारम्भ की पाँचवीं वर्षगाँठ है। सन् १९५९ में इसी २ अक्तूबर को सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति के आधार पर सर्वप्रथम राजस्थान में पंचायती राज की संरचना का शुभारम्भ हुआ, जो आज प्रायः सभी प्रदेशों में शुरू हो चुका है। आज देश की आँखें उसकी ओर सफलता की आशा में एकटक निहार रही हैं। उसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि हम पंचायती राज की बुनियाद को मजबूत बनायें। इसके लिए हमें अपने नन्हें-मुन्नों को इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा देनी होगी, जिससे वे भविष्य में पंचायतों का सही ढंग से संचालन कर सकें। इसके लिए इन पाठशालाओं में आरम्भ से ही बाल-पंचायतें चलनी चाहिए, यही है प्रस्तुत लेख का विषय।

—सम्पादक]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की सबसे बड़ी असफलता यदि कोई कही जा सकती है तो निस्सन्देह वह शिक्षा की समस्या ही है। एक ओर निरक्षरता-निवारण का प्रश्न है तो दूसरी ओर पढ़े लिखे बेकारों की नित नूतन बढ़ती संख्या सुरसा राक्षसी जैसा मुँह फैलाये खड़ी है। एक बार प्रतीकात्मक अर्थों में आचार्य विनोबा भावे ने कहा था--"कृषि तो है सीता, ग्रामोद्योग है धनुर्धारी राम और नयी तालीम हनुमान है।"

सचमुच इस सुरसा राक्षसी का मुँह बन्द करने की शक्ति केवल नयी तालीम में ही है; पर नयी तालीम का नयापन दिनोंदिन समाप्त होता जा रहा है। गाँव की प्राथमिक शालाओं को देखकर रोना आता है। शिक्षकों से सुनने को मिलता है—

"रघुपति राघव राजा राम
जितना पैसा, उतना काम।"

माना कि प्राथमिक शिक्षकों का वेतन अपेक्षाकृत अन्य शासकीय सेवकों से कम है, पर शिक्षण केवल व्यवसाय ही नहीं, एक वृत्ति भी है।

पचायतीराज-योजना के अन्तर्गत गाँवों की प्राथमिक शिक्षा अब पचायतों के अन्तर्गत आ रही है। ऐसे अवसर पर आवश्यक है कि बचपन से ही बच्चों-में पचायत की भावना स्पष्ट से स्पष्टतर हो। इसके व्यावहारिक ज्ञान के लिए विद्यालयों में बच्चों की पचायत होनी ही चाहिए।

प्राय प्रत्येक प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में हर शनिवार को बालसभा का आयोजन हुआ करता है। बालसभा के माध्यम से बच्चों के अन्दर की यूथ वृत्ति सही दिशा में विकसित की जा सकती है। बालसभा कहिए या बच्चों की पचायत, इसके द्वारा उन्हें समाज विरोधी प्रवृत्तियों से बचाकर विधायक वृत्तियों में लगाया जा सकता है। बच्चों को प्रजातान्त्रिक नियमों का व्यावहारिक रूप में ज्ञान कराया जा सकता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण अभी हाल ही में उपराष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन से बात करते समय मिला। मैंने एक छोटा सा प्रश्न किया—

बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में हर तरफ एक प्रकार की उदासीनता दृष्टिगोचर होती है।

आखिर हम क्या करें?

"मैंने बच्चों की तालीम का कई साल तक काम किया है। यहाँ दिल्ली की जामिया मिलिया में काफी अर्से तक रहा हूं। हमारे यहाँ मदरसे में जो बच्चे हास्टल में रहते थे वे अपने घर से लाया रुपया नहीं 'बच्चों के बैंक' में रख देते थे। बच्चों की अपनी पचायत थी। उनका सहकारी भण्डार था। यहाँ तक कि बच्चों की अपनी करेंसी थी। वे अपने नोट बनाते थे। वह सिक्का उनके कोआपरेटिव स्टोर में चलता था। उससे उनको जरूरत की सभी चीजें मिल जाती थीं। यह इसलिए था कि कभी कभी मदरसे में गन्दी मिठाई व चाट वगैरह बेचनेवाले आ जाया करते थे। उनसे अस्वास्थ्यकर सामान न खरीदा जाय।

हमारा बच्चों की पचायत से सम्बन्ध था और हम कभी कभी उनके बैंक से रुपया उधार लिया करते थे, फिर लौटा देते थे, क्योंकि हमारे दफ्तर में कभी कभी पूरे रुपये भी न रहते थे। उन्होंने अपना चार-चार, पाँच पाँच रुपया जमा किया था, वह कभी कभी अधिक भी रहता था। हमारे यहाँ जब कोई बाहर का प्रतिष्ठित मेहमान या नेता आता था तो बच्चे ही उसे सारी संस्था दिखाते थे, क्योंकि वे उसकी अच्छाई बुराई से अच्छी तरह वाकिफ रहते थे। अच्छी बातों को बताते समय उन्हें आप पर फख होता था और कभी कोई संस्था की खामी बताता तो उन्हें अफसोस भी होता और वे उस कमी को दूर करने की कोशिश करते थे। हम लोग तो बस पहले बच्चों की पचायत के पंचों और सरपंचों का मेहमानों से परिचय करा देते थे, फिर संस्था देखकर मेहमान हमारे दफ्तर में आते थे तब उनसे हमारी बातें होती थी।

इन सब में खास बात यह थी कि बच्चों को दिल से महसूस होता था कि मदरसा उनका है, वे मदरसे के हैं। ऐसा ही गाँव में जब पंचों को महसूस होगा तो देश का नकशा बदलेगा और जिस पचायती राज की हम कल्पना करते हैं वह आयेगा।"

डा० जाकिर हुसैन साहब के उपर्युक्त उदाहरण से इस बात का स्पष्ट उत्तर मिल जाता है कि गाँव गाँव के स्कूल में बच्चों की पचायत कैसी हो? यह पीढ़ी बड़ी भाग्यशाली है, जो उसे स्वतन्त्रोत्तर भारत के नवनिर्माण का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। १०० साल बाद आनेवाली पीढ़ियाँ आज के प्राथमिक विद्यालयों के बुनियादी शिक्षकों को हृदय से धन्यवाद देंगी। उसी तरह कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करेंगी, जैसेकि अजन्ता, एलोरा, ताजमहल आदि देखकर हम लोग उनके बनानेवालों के कौशल का गुणगान करते हैं। बच्चों को नेक बनाना तो अजन्ता-एलोरा से कहीं बढ़कर है। इन्हीं पर देश का भविष्य निर्भर है। जिस देश के बच्चे परमुखापेक्षी बन केवल नौकरी के लिए ही पढ़नेवाले बने रहे, उसके लिए हर समय खतरा ही खतरा है। इस खतरे से उबारने की शक्ति आज के बुनियादी शिक्षक में ही है। बुनियाद पक्की हुए बिना आज तक न कोई इमारत बनी है और न बन सकती है।

●

शिक्षक-दिवस

●

डा० (श्रीमती) टी० एस० सौन्दरम् रामचन्द्रन्

[शिक्षक-दिवस हमारे राष्ट्रीय पर्वों की शृंखला की एक नयी कड़ी है, जिसे हम देश के अनुकरणीय शिक्षक एवं राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के जन्म दिन ५ सितम्बर को मनाते हैं। इस पर्व से हम में गुरुजनों के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना जागरित होती है, और उनमें अपने कर्तव्यों के प्रति सजगता एवं निष्ठा। —सम्पादक]

प्राचीन काल से भारत में ही नहीं, अपितु विश्व के सभी देशों में गुरुजनों के प्रति आदर सत्कार की भावना रही है। जिस जमाने में न तो छपाई की मशीनें थीं और न आजकल की तरह सस्ती पुस्तकें उपलब्ध थीं, एक प्रकार से तब गुरु से ही हर प्रकार का ज्ञान मिलता था। गुरु शिष्य का सम्बन्ध बड़ा पवित्र और घनिष्ठ होता था। गुरु का स्थान भगवान से भी ऊँचा माना जाता है। शिक्षक अपने विद्यार्थियों को आध्यात्मिक और सांसारिक ही नहीं, बल्कि राजा और उसके मन्त्रियों को उचित सलाह देकर देश का भी नेतृत्व करते थे।

परन्तु, आज गुरु शिष्य के सम्बन्ध बदल गये हैं। इसका मुख्य कारण शिक्षा का व्यापक प्रसार और लोकतन्त्र में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त का माना जाना है। यह हमारे इतिहास की बहुत बड़ी घटना है। इससे शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों की संख्या काफी बढ़ी है। फलस्वरूप शिक्षकों और विद्यार्थियों में व्यक्तिगत सम्पर्क कम होता जा रहा है, इसीलिए शिक्षक का विद्यार्थियों पर प्रभाव और स्नेह तथा विद्यार्थियों का अपने गुरुओं के प्रति आदर भाव घटता जा रहा है, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में शिक्षा के प्रसार या अधिक संख्या में लोगों के पढ़ने पढ़ाने से ही गुरु शिष्य के पवित्र स्नेहमय सम्बन्धों में बाधा उपस्थित होती है। वस्तुत तथ्य यह है कि अगर हम प्राचीन काल की तरह गुरु शिष्य के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकें तो शिक्षा और लोकतन्त्र के प्रसार को प्रोत्साहन मिलेगा।

खुशी की बात है कि अब लोग यह महसूस करने लगे हैं कि जबतक शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच प्राचीन काल की तरह व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित नहीं होते, तबतक न तो शिक्षा का स्तर ही ऊँचा उठ सकता है और न विद्यार्थियों का चरित्र ही उन्नत हो सकता है। यह तभी हो सकता है, जब विद्यार्थियों के माता पिता शिक्षकों को समुचित स्नेह व सम्मान प्रदान करें और समाज में उन्हें ऊँचा स्थान प्राप्त हो। पर, इसके साथ ही शिक्षकों के भी कुछ कर्तव्य हैं। उन्हें चाहिए कि वे अध्ययनशील बनें और अपना जीवन विद्यार्थियों के हित चिन्तन में लगायें।

शिक्षकों को कम से कम इतना वेतन तो जरूर मिलना ही चाहिए, जिससे उनके दैनिक जीवन की जरूरतें पूरी हो सकें। प्राचीन काल में शिक्षक की सारी आवश्यकताएँ पूरी करने का दायित्व समाज पर ही था।

आज भी समाज को उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखना है और उन्हें अच्छा वेतन देना है, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि केवल वेतन बढ़ा देने से ही शिक्षकों का सम्मान नहीं बढ़ जायेगा। विद्यार्थियों और अभिभावकों को उन्हें सम्मान और स्नेह प्रदान करना होगा तथा शिक्षकों को भी अपना कर्तव्य निभाना होगा।

बालवाड़ी में विज्ञान के प्रयोग

जुगतराम दवे

वस्तुत वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए बाजार पर बहुत कम आधार रखना चाहिए। हमें स्वय प्रयोगों के उपकरण अपने आस-पास से ही इकट्ठा कर लेना चाहिए। इसी में सच्चा आनन्द है।

पाठशालाओं के लिए विज्ञान अभी नया विषय है, इसलिए वाचन, लेखन और गणित की तरह उसके प्रति सामान्य लोगों तथा विद्वानों में अत्यन्त आग्रह नहीं है। पाठशाला में यदि कोई यह विषय सिखाता है तो लोगों को वह नवीन होने से अच्छा लगता है। नहीं सिखाने पर उन्हें ऐसा नहीं लगता कि किसी खास विषय की कमी रह गयी है, इसलिए बालवाड़ी में जिस तरह पाठ कठस्थ नहीं कराने, पुस्तक पढ़ना नहीं सिखाने पर लोग उलाहना देने आते हैं उस तरह विज्ञान नहीं सिखाने पर कोई उलाहना देने नहीं आयेगा, लेकिन यदि आप उसे सिखायेंगे तो यह विद्या नवीन और अच्छी होने से लोगों को जरूर अच्छी लगेगी।

विज्ञान अर्थात प्रकृति के गुप्त नियमों की शोध, और विज्ञान शिक्षा अर्थात इन नियमों पर पड़े हुए सूक्ष्म पर्दों को हटाकर उनका दर्शन करना और कराना। इस प्रकार प्रतिदिन नये प्रयोग करना और कुदरत के नये नये भेदों को ढूंढ निकालना ही विज्ञान है।

मनुष्य की बुद्धि का यह विशेष गुण है कि प्रकृति का भेद जानने में उसे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। उसे हम कुतूहल वृत्ति अथवा जिज्ञासा कहते हैं।

रस केवल जानने में नहीं, परन्तु स्वय अन्वेषण करने में है। कोई हम से कहे या किसी पुस्तक में हम पढ़ लें, इससे उस विषय को हम समझ लेते हैं, किन्तु उससे हमें सन्तोष नहीं होता। इसके विपरीत हमारी सरसता अनेक बार नीरसता बन जाती है। हमें ऐसा लगता है कि कोई मुँह के सामने रखे हुए रस के प्याले को हम से छीन लेना चाहता है, इसलिए वैज्ञानिक शिक्षक यह नहीं चाहेगा कि बालकों को प्रकृति के सारे रहस्य बता दे या उन्हें कण्ठस्थ करा दे, परन्तु वह बालकों के सामने स्वय चर्चा करके उन्हें संशोधन करने के रास्ते की ओर ले जायेगा।

शिक्षिका को चाहिए कि वह पहले बालकों में जिज्ञासा उत्पन्न करे, उसे तृप्त करने के लिए किस प्रकार सशोधन करना, किस तरह प्रयोग करना, इसका अपनी ओर से सकेत मात्र करे।

प्रारम्भ में बालकों को इस दिशा में थोड़ी सहायता दी जायेगी तो धीरे धीरे उनका विवेक जाग जायेगा। स्वयं प्रयोग करके सशोधन करने का रस उनकी समझ में आ जायेगा। वे हमारी सहायता के बिना ही नयी नयी जिज्ञासा करते रहेंगे और नये नये प्रयोग कर सशोधन करते रहेंगे।

हमारी प्राथमिक पाठशालाओं में विज्ञान का विषय अभी प्रविष्ट हुआ है, परन्तु बालकों में प्रयोग

करने का रस अभी तक उत्पन्न नहीं किया जाता। शिक्षिका और पुस्तकें सब प्रयोग कर देती हैं। कोई उन्हें अपने आप प्रयोग करके अन्वेषण करना नहीं सिखाता।

इसका एक कारण यह है कि विद्वानों ने वैज्ञानिक प्रयोग निश्चित कर रखे हैं। वे छपी छपाई पुस्तकों में मिल जाते हैं। प्राथमिक पाठशालाओं के पास पैसे खर्च करने की सुविधा न होने से वे प्रयोगों के उपकरण खरीद नहीं सकती। इस प्रकार प्राथमिक पाठशालाओं में पैसे के अभाव के कारण वैज्ञानिक शिक्षण रुका हुआ है। अगर चलता भी है तो प्रयोग विहीन और शुष्क। अधिक हुआ तो कुछ शिक्षक श्यामपाट पर चित्र बनाकर कुछ रस उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं, किन्तु क्या केवल लड्डू का चित्र होने से लड्डू खाने का आनन्द आ सकता है?

वस्तुतः वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए बाजार पर बहुत कम आधार रखना चाहिए। हमें स्वयं प्रयोगों के उपकरण अपने आसपास से ही इकट्ठा कर लेना चाहिए। इसी में सच्चा आनन्द है।

प्राथमिक पाठशालाओं में जहाँ विज्ञान की ऐसी दयनीय स्थिति है वहाँ बालवाड़ी में विज्ञान का प्रवेश कराने का विचार ही कौन करता! परन्तु वैज्ञानिक संशोधन, जिज्ञासा, कुतूहल, गणित की तरह मानव-बुद्धि का एक प्राकृतिक गुण होने से बालवाड़ी के बालकों के लिए विज्ञान शिक्षण रखना ही चाहिए। मार्गदर्शन के रूप में यहाँ कुछ उनकी ऐसी जिज्ञासाएँ रखते हैं, जो उस उम्र के बालकों में स्वाभाविक रूप से होती हैं। उन जिज्ञासाओं की तृप्ति वे कैसे-कैसे प्रयोग करके कर सकते हैं उसे बताने का भी मैं यहाँ प्रयत्न करूँगा।

अग्नि के प्रयोग

बालकों के लिए अग्नि एक अद्भुत वस्तु है। उससे हाथ जल जाता है, यह अनुभव लेने के लिए वे प्रत्येक घर में प्रयोग करते ही रहते हैं। ऐसे प्रसङ्गों पर "अरे यह क्या कर रहा है, जल जायेगा" ऐसा कह कर उन्हें रोकना नहीं चाहिए। यह समझकर सन्तुष्ट होना चाहिए कि वे वैज्ञानिक ज्ञान ले रहे हैं; और जब वे अग्नि पर से अँगुली खींच कर प्रयोग-ज्ञान-प्राप्त करने का आनन्द प्रकट करें तब हमें उनके आनन्द में सहयोग देना चाहिए।

बालवाड़ी में जलती हुई लकड़ी, जलता हुआ कोयला या दीपक रखकर उस पर बालकों को प्रयोग करते हुए देखें।

जैसे जैसे बालकों की बुद्धि बढ़ती जायेगी उनकी इस विषय में जिज्ञासा अधिक सूक्ष्म होती जायेगी।

कोयले या लकड़ी के जलते हुए छोर को छूने से हाथ जलता है, पर दूसरे किनारे को छूने से नहीं जलता, यह प्रयोग वे करेंगे।

दिये के निचले भाग का स्पर्श करने से हाथ नहीं जलता। बीच का स्पर्श करने से कुछ गरम लगता है, पर ऊपर के हिस्से को छूने से जलता है। इसके प्रयोग भी वे करेंगे।

कहीं ईंधन जल रहा हो तो उसके पास जाने पर पहले बहुत कम आँच लगेगी, फिर कुछ अधिक लगेगी, बाद में उससे भी ज्यादा और बहुत पास में जाने पर जलने लगेंगे और भागना पड़ेगा।

कुछ दिनों बाद बालक की जिज्ञासा और भी सूक्ष्म होगी। वह सीखेगा कि लोहे की छड़ आग में रखने पर उसका दूसरा हिस्सा भी जलने लगता है; लेकिन लकड़ी का दूसरा हिस्सा नहीं जलता।

पानी के प्रयोग

पानी नीचे की ओर बहता है। वह ऊपर नहीं चढ़ता। यह दृश्य छोटे बड़े प्रतिदिन देखते हैं। प्रकृति का यह बहुत ही अद्भुत नियम है; पर हममें से किसी को इसमें कुछ आश्चर्य नहीं लगता। बालवाड़ी में एक बरतन समतल जगह पर व्यवस्थित रूप से रखकर उसमें पानी डालें और उसके एक तरफ का हिस्सा बहुत ही कम केवल कागज जितना ही नीचा करें तो पानी तुरन्त दूसरे बाजू गिरने लगता है। दूसरा किनारा उतना ही नीचा करने पर वह उस तरफ निकलने लगता है। इस प्रकार थोड़ा-सा

ही बरतन को उठाने पर पानी के इस प्रकार के परिवर्तन को बालक देखता है तब उसे आश्चर्य होने लगता है और बार-बार उसी प्रकार का प्रयोग करने की उसकी इच्छा होती है।

बरतन में पानी भरकर उसके नीचे नली रखकर पानी के समान सतह पर रहने के नियम का भी बालक प्रयोग कर सकते हैं। पानी की सतह से नली के ऊपर पड़ने पर नली में से पानी नहीं निकलता, पर सतह से कुछ नीचे जाने पर तुरन्त उसमें से पानी निकलने लगेगा और जैसे जैसे नीचे करेंगे वैसे वैसे पानी अधिक जोर से बहेगा। बालकों को चमत्कार जैसा लगता है कि पानी बरतन के अन्दर है। बाहर से दिखाई नहीं देता, फिर भी पानी ने किस तरह देख लिया कि नली का मुँह भरी सतह से नीचे है। नली के छोर को ठीक पानी की सतह की सीध में रखकर बालक हुक्म करेगा—'बाहर निकल', 'बन्द हो जा'। नली को ऊँचे करने से पानी बन्द हो जाता है और नीचे करने से निकलने लगता है। यह देखकर बालक खुश होता है और बार-बार यह प्रयोग करने से उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

बालकों के लिए यह भी एक अद्भुत दृश्य है कि पानी में अमुक वस्तु डूब जाती है और अमुक तैरती रहती है। लकड़ी का बहुत छोटा टुकड़ा तैरता है, उससे बड़ा टुकड़ा तैरता है, उससे बड़ा टुकड़ा डालने पर वह भी तैरता है और उससे भी बहुत बड़ा टुकड़ा डालने पर वह भी तैरता रहता है। दूसरी ओर बड़ा पत्थर डालने पर वह डूब जाता है, उससे छोटा कंकड़ डालते हैं वह भी डूब जाता है, उससे छोटी कंकड़ी डालते हैं वह भी डूब जाती है। इस दृश्य की ओर एक बार बालक का ध्यान खींचा जाय तो उसे इस चमत्कार में रस आता है और वह बार-बार यह प्रयोग करता है।

पानी के बरतन में शक्कर डालने पर वह धीरे धीरे घुल जाती है। नमक डालने पर वह भी घुल जाता है, परन्तु उसी रंग की सफेद रेती या सफेद कंकड़ डालने पर नहीं घुलते। शक्कर या नमक मिले हुए पानी को बालक अपने मित्र को दिखाकर पूछेगा कि बताओ कि इस पानी में क्या है? पानी देखने से पता नहीं चलेगा। उसमें अँगुली डालने से भी कुछ सार नहीं निकलेगा, पर जीभ पर पानी की केवल एक बूँद डालने से तुरन्त मालूम हो जायेगा कि इसमें चीनी है या नमक।

मिट्टी के प्रयोग

ढेले पर धीरे धीरे पानी डालने से मिट्टी कुछ फूलने लगती है और अन्त में वह ढेला फट जाता है। कुछ मिट्टी जल्द फूलती है। किसी के फूलने में देर लगती है। इससे बालक को पता चल जायेगा कि बहुत ही धीरे धीरे पानी डालकर देखते रहने में ही सच्चा मजा है।

बीज बोने के प्रयोग

किसी भी वनस्पति के बीज जमीन में बोकर पानी डालने से दो-चार दिन में उग आते हैं। यह बालकों के लिए एक अद्भुत दृश्य होता है। कुछ कल्पनाशील बालक बीज कैसे उगते हैं, यह देखने के लिए जमीन खोदकर उगे अंकुर को उखाड़ लेते हैं। ऐसा दृश्य कहीं-न-कहीं आपको देखने को मिला होगा।

अगर बोतल में मिट्टी या लकड़ी का बुरादा भरकर उसमें मूँग, उड़द या गेहूँ जैसे बड़े बड़े दाने बो दें और बोतल को जमीन में आधी गाड़ दें तो बच्चे बार-बार वह बोतल निकालकर बीज कितना उगा है, देख सकते हैं। बीज में से जड़ निकलकर नीचे जाने लगती है। अंकुर मिट्टी के पेट को फोड़कर ऊपर आने लगता है और फिर उस अंकुर से दो पत्ते निकलते हैं। बीजों को बोतल के एक बाजू में रखना चाहिए तभी हम देख सकेंगे कि वे कैसे उगते हैं।

बालक एक बार इस प्रयोग को समझ लेंगे तो वे स्वयं बार-बार ऐसे प्रयोग करते रहेंगे।

फतिंगों के प्रयोग

फतिंगों को काँच की शीशी में भरकर रखने से कुछ दिनों बाद उनमें से रंग बिरंगे सुन्दर फतिंगे निकलते दिखाई देंगे। समय समय पर शिक्षिका ऐसे कुछ प्रयोग करके बताती रहेगी तो बालकों को स्वयं ऐसे प्रयोग करने की इच्छा होगी।

अग्नि की ज्वाला के प्रयोग

जलती हुई लकड़ी, मशाल अथवा माचिस से यह

प्रयोग हो सकता है । जलता हुआ निनारा ऊँचा रखने पर ज्वाला ऊँची जायेगी । इसमें आश्चर्य जैसा कुछ नहीं है, परन्तु यह सिरा नीचा या तिरछा करने पर भी लौ ऊपर ही जाती है और उसे नीचे की ओर करेंगे तब भी ज्वाला ऊपर ही रहती है । इस वस्तु की ओर बालक का ध्यान एक बार आकृष्ट करेंगे तो वह यह चमत्कार देखकर खुश होगा और विभिन्न प्रकार की जलती हुई वस्तुएँ लेकर बार बार ऐसे प्रयोग करता रहेगा ।

रंगों के प्रयोग

दीपक या काँच की प्यालियों में रंग के प्रयोग किये जा सकेंगे । तीन प्यालियों में लाल, पीला और आसमानी रङ्ग तैयार किया जाय, फिर एक प्याली में कुछ नीला रङ्ग डालकर उसमें थोड़ा आसमानी रङ्ग मिलाते जायँ । ऐसा करने से तुरन्त रङ्ग बदलकर नीला हो जायेगा । आसमानी रङ्ग में लाल रङ्ग मिलाने पर जामुनी रङ्ग हो जायेगा । प्यालियों में ब्रश डालकर कागज पर इस प्रकार रङ्गों के प्रयोग किये जा सकेंगे । बालकों को रङ्गों के ये प्रयोग बहुत सुन्दर और आकर्षक लगेंगे ।

दीपक के प्रयोग

दिये को जलाकर उसे काँच के प्याले से ढक दो । थोड़ी देर में दिये की ज्योति मन्द होती दिखायी देगी और अन्त में बुझ जायेगी, पर बुझ जाने के पहले प्याला हटा देने पर दिया जल उठेगा । इस प्रकार ढक्कन रखने और हटाने से हम अपनी इच्छानुसार हँसता रोता हुआ दिया देख सकेंगे । बालकों को यह दृश्य बताया जायेगा और उसके लिए स्वाभाविक रूप से उपलब्ध साधन बालवाड़ी में रखे रहेंगे तो वे स्वयं समय समय पर प्रयोग करके वैज्ञानिक आनन्द का उपभोग कर सकेंगे ।

दही जमाने का प्रयोग

छोटे छोटे दीपक या काँच की कटोरियों में थोड़ा थोड़ा दूध भरकर बालकों के हाथ से, उसमें थोड़ी छाछ गिराकर आलमारी में सुरक्षित रख दें । कुछ घंटों बाद जमा हुआ दही बच्चों को बताकर उन्हें खिलाया जाय । ऐसे तो बालक तैयार दही प्रतिदिन खाते ही रहते हैं, लेकिन उन्हें उसमें अद्भुत चमत्कार जैसा नहीं लगता, परन्तु जब वे स्वयं अपने हाथों से दूध में छाछ डालकर दही जमायेंगे और समय-समय पर दही जमने या नहीं जमने का दृश्य देखते रहेंगे तो उन्हें किसी नये वैज्ञानिक-सा अनुभव होगा ।

फल पकाने के प्रयोग—

कच्चे फल घास पुआल, भूसा, और सूखी पत्तियों की उष्मा या डिब्बे तथा कोठी के अनाज की उष्मा में दबाकर रखने से धीरे धीरे पक जाते हैं । बालकों को साथ लेकर किस प्रकार फल पकाने के लिए रखना चाहिए, यह बताना चाहिए । वे बार-बार उन फलों को घुमा फिराकर अवलोकन करें और इसकी परीक्षा करें कि कितने फल पके हैं ।

मिट्टी के खिलौने पकाने के प्रयोग

हम अपने घरों में सुराही, घड़ा, दिया, कुल्हड़ इत्यादि मिट्टी के भिन्न भिन्न बरतनों का प्रयोग करते हैं । हमारे घरों की छतों पर मिट्टी के खपड़े होते हैं । बालकों को इतना ज्ञान होता है कि ये वस्तुएँ मिट्टी से बनायी गयी हैं । कदाचित उनमें से कुछ ने यह भी देखा होगा कि कुम्हार अपने घर कच्ची मिट्टी के बरतन किस प्रकार बनाता है । यह भी सम्भव है कि किसी बालक को ऐसा ज्ञान हो गया हो कि कच्चे बरतनों में पानी नहीं भरा जा सकता है । यह भी सम्भव है कि किसी को इसका भी बहुत अच्छा ज्ञान हो गया हो कि कच्ची मिट्टी की वस्तुओं को पकाने के लिए आग की भट्ठी अथवा आवें में डालना पड़ता है । फिर भी स्वयं मिट्टी के खिलौने बनाकर उन्हें सुखाकर अपने द्वारा घास आदि के ईंधन इकट्ठा कर आवाँ व्यवस्थित करना, उसमें स्वयं व्यवस्थित रूप से खिलौने रखना और अपने द्वारा वह आवाँ जलाकर खिलौना पकाना—यह अनुभव बालकों के लिए आश्चर्यजनक होगा । इस प्रयोग में शिक्षिका को बालकों के साथ रहकर उन्हें पूरी मदद देनी होगी । आवाँ पकाने का शास्त्र जानकर उसकी शास्त्रीय रचना करना बताना होगा, परन्तु कच्ची मिट्टी की वस्तु पकाकर लाल और टिकनेवाली मजबूत वस्तु के रूप देखना बालकों के लिए कितना आनन्ददायक होगा ।

मोती के दाने

●

रामचन्द्र 'राही'

"मेरी लिखावट इतनी खराब है कि परीक्षा के आधे अंक तो वही खा जाती है।"—शमी ने अफसोस जाहिर करते हुए कहा।

"तो खुशखत बनने का प्रयास क्यों नहीं करती? कम से कम एक पृष्ठ सुलेख नियमित लिखा करो, इतमीनान से बैठकर सरकण्डे की कलम से।"

"बस–बस!"—बीच में ही बात काटती हुई वह बोली—"न जाने किस पुराने युग की बातें करने लगे आप, सरकण्डे की कलम! ही ही ही ही!"—वह हंसी और "मुझसे तो लिखने के लिए आप जैसे साधक की तरह बैठना भी न होगा।"—कहती हुई चली गयी। शमी की ही नहीं, यह आज के अधिकांश छात्र और छात्राओं की समस्या है, सुन्दर-सुन्दर मोती के दानों-से अक्षर कैसे लिखे जायें?

सुन्दर, सुडौल और आकर्षक अक्षरों के महत्त्व पर शायद विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि छोटे बड़े प्रायः सभी पढ़े लिखे लोगों के अन्दर अपनी गन्दी हस्तलिपि के कारण जो ग्लानि और अरुचि तथा खुशखत होने की तीव्र लालसा मौजूद है, वह स्पष्टता के लिए पर्याप्त है, लेकिन, यहाँ इतना तो लिख ही देना चाहता हूँ कि खूबसूरत हस्तलिपि का सम्बन्ध सिर्फ परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त करने मात्र से ही नहीं है, बल्कि जीवन की फर्जुलखर्ची, व्यक्तित्व और सांस्कृतिक स्तर से भी इसका गहरा लगाव है। जिस प्रकार जीवन की दैनिक क्रियाओं, रहने-सहने और काम करने के सलीकों से हमारा संस्कार झाँकता है, हमारी लिखावट से भी उसी प्रकार हमारे अन्तर की झलक मिलती है, सुलझे हुए विचारों की स्वस्थता, दृष्टिकोण की स्पष्टता और सुनियोजित जीवन की चटकार रूपरेखा स्फरित होती रहती है।

लेकिन, शिक्षण के इस महत्त्वपूर्ण पहलू के प्रति इस क्षेत्र में आज इतनी लापरवाही क्यों बरती जा रही है, क्यों बढ़ती जा रही है, यह एक विचारणीय विषय है। यद्यपि तालीम का हर पहलू आपस में एक दूसरे से निगडित है, और पूरी तालीम ही जीवन, समाज और प्रकृति से इस प्रकार सम्बद्ध है कि इसके किसी भी अङ्ग पर विचार करते समय उसके विविध पहलू सामने आ ही जाते हैं, किन्तु हम यहाँ हस्तलिपि पर ही अपना-आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं।

काम लिखने का हो, खेत जोतने का हो, सूत कातने का हो या और कोई भी हो, यह बात सर्वविदित है कि दिलचस्पी से किया गया काम अधिक होगा, सुन्दर होगा, सार्थक होगा और शरीर तथा मस्तिष्क, दोनों के लिए कम–से–कम भार होगा, लेकिन ठीक इसके विपरीत किसी के द्वारा लादा गया काम कम होगा, असुन्दर होगा, निरर्थक होगा और होगा शरीर मन के लिए भारी बोझ। बच्चा पर अक्षर

सीखने योग्य होता है उसके पहले से ही अगर उसके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं का ख्याल न करके, उसके ऊपर अपनी आकांक्षा—या अन्य कोई भी गुण ही क्यों न हो—लादने की कोशिश अभिभावकों द्वारा की जाती है तो उसका परिणाम कभी भी अपने लिए सन्तोषप्रद और बच्चों के लिए हितकर नहीं होता, इसीलिए वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति में जिज्ञासा, प्रेरणा और रुचि पैदा करने के लिए कौतूहल, विविधता और उदाहरण युक्त प्रसंगों को बच्चों के जीवन में लाना चाहिए, ताकि उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा को विकास के मौके अधिक से अधिक प्राप्त हों।

अपने विषय से जरा अलग हट कर उपर्युक्त बातों का जिक्र इसलिए आवश्यक हो गया कि लिखावट सुधारने के प्रयास में हम कहीं बच्चों की अनुकरण-वृत्ति को ही प्रोत्साहित न करने लगें, और समानुरूपता (कान्फारमिटि) के चक्कर में न पड़ जायें।

हाँ! तो बच्चा अक्षर लिखना सीखे, इसके पहले ही बाल मन्दिर की कक्षाओं में खड़िया मिट्टी से रेखा, वृत्त, अर्द्धवृत्त, चाप आदि का अभ्यास कराते समय नमूनों का, रोल के साधनों के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए लेकिन रेखा, वृत्त, अर्द्धवृत्त आदि बनाते समय सहारा या आधार के रूप में किस बच्चे को किस हद तक उसके उपयोग के मौके दिये जायँ, यह शिक्षक शिक्षिका के लिए विशेष सावधानी रखने और बच्चों की क्षमता और प्रतिभा का सही अध्ययन करने का विषय है। बच्चों में मुक्त हस्तलेखन (फ्री हैण्डराइटिंग) की प्रतिभा समान नहीं होता, इसलिए किसी किसी को नमूनों के आधार की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं हो सकती है और किसी किसी को काफी दूर तक सहारे की जरूरत पड़ सकती है, लेकिन हर हालत में रेखा, वृत्त आदि के अंकन में स्वच्छता, समानता और सुडौलता का अभ्यास जितना ही अच्छी प्रकार होगा सुन्दर हस्तलिपि की बुनियाद उतनी ही गहरी और ठोस होगी।

इस अवधि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि बच्चा किस काम में कब और कैसे बैठता है। सही ढंग से बैठना सुन्दर लिखावट के लिए अनिवार्य है। लिखने के लिए बैठने का सही ढंग क्या है? पालथी लगा कर, सामने झुककर नहीं, कमर सीधी करके बैठना ही सुन्दर लेखन का सहज ढंग है। प्रायः बच्चे (बच्चियाँ अधिक) बायीं या दायीं जाँघ के आधार पर अपनी बाँह या डेस्क का सहारा लेकर तिरछे बैठते हैं, और जिस प्रकार उनका शरीर धरती से साठ अंश का कोण बनाता है ठीक उसी प्रकार उनके अक्षर भी अधलेटे दिखाई पड़ते हैं, इसलिए बैठने का सही अभ्यास सुन्दर लिखावट की पक्की बुनियाद ही नहीं, पहली सीढ़ी भी है। और जब बच्चा लिखना शुरू करता है तो लकड़ी की पट्टी सरकण्डे की कलम और सफेद मिट्टी का घोल ये प्रारम्भिक और अनिवार्य साधन हैं। अक्षर लिखने के लिए स्लेट और पेंसिल का शुरू में इस्तेमाल हितकर नहीं क्योंकि पेंसिल से अक्षरों की मोटाई, सत और मोड़ सुन्दरता के साथ अंकित नहीं होते। कागज, स्याही और निब वाली कलम एक तो अभ्यास के लिए बहुत खर्चीले होते हैं, और साथ ही स्लेट पेंसिल वाले दोष भी उसमें शामिल हो जाते हैं। लिखाने का प्रारम्भ श्यामपट पर खुद लिख कर कराया जाय या अक्षरों के नमूने (लकड़ी के) सामने रखकर कराया जाय या बच्चा खुद किसी छपी हुई किताब से नकल करे और, अक्षरों के लिखने का क्रम क्या हो, यह दूसरे और तीसरे प्रकार के प्रश्न हैं।

अक्षर-ज्ञान को कला के तौर पर विकसित किया जाना चाहिए। आजकल के नौजवानों के अक्षर इतने खराब होते हैं कि उन्हें देखते घिन आती है और पढ़ते घबराहट होती है। मेरे अक्षर इतने खराब हैं कि किसी को खत लिखते शर्म आती है और मुझे अपने कच्चे और बेतुके अक्षरों के लिए हमेशा अफसोस होता है। जैसे कच्चा अनाज नहीं खाया जाता, वैसे ही कच्चे अक्षर लिखने वाला जंगली माना जाता है। —महात्मा गाँधी

[शेष पृष्ठ ५९ पर]

नयी शिक्षा-दीक्षा के नये पैमाने

काशिनाथ त्रिवेदी

[पिछले अंक में लेखक ने बताया है कि हमारी प्राचीन शिक्षा-दीक्षा की मान्यताएँ क्या थीं, क्यों थीं और तत्कालीन शिक्षण का समष्टि से कहाँ तक और कितना गहरा सम्बन्ध था। जमाने ने किस किस तरह करवटें लीं और हमारी शिक्षा-दीक्षा किस तरह मटियामेट हुई, और की गयी। आज हमें नये मानव का निर्माण करना है और उसके लिए हमें अपनी प्रचलित शिक्षा-दीक्षा के पैमानों का नवीनीकरण दृढ़ता-पूर्वक करना है। वे नये पैमाने आज के सन्दर्भ में क्या हों इसका संक्षिप्त एवं स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत लेख में मिलेगा। -सम्पादक]

शिक्षा में सुधार नहीं, क्रान्ति चाहिए

स्वतन्त्रता के बाद अपने देश में हमने अपनी मूल प्रकृति का ध्यान रखकर शिक्षा का विचार किया ही नहीं। हम पुराने और पराये प्रवाहों के साथ ही बहते रहे। इधर-उधर कुछ छोटे मोटे सुधार हमने जरूर किये कराये, लेकिन उनसे हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। जैसे, पुरानी, फटी अथवा सड़ी गली चादर में लगाये गये पैबन्द चादर को लम्बा जीवन नहीं देते, और उसे नव जीवन देने की क्षमता तो नहीं ही रखते, उसी तरह आज के सन्दर्भ में छोटे मोटे सुधार समूचे शिक्षा-क्षेत्र में कोई क्रान्ति नहीं ला सकते।

आज की हमारी माँग और जरूरत तो आमूल-चूल क्रान्ति की है। यदि शिक्षा के माध्यम से देश के लिए नया नागरिक खड़ा करना है और उसे स्वतन्त्र भारत की रक्षा और समुन्नति का भार सौंपना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि पुराने सन्दर्भों, मूल्यों, संस्कारों, विचारों, जीवन पद्धतियों और कार्य-पद्धतियों के साथ जुड़ी हुई और शिक्षितों में सामन्ती तथा पूँजीवादी वृत्ति का निर्माण करनेवाली और उन्हें दासता तथा परावलम्बन की दिशा में ढकेलने-वाली आज की इस शिक्षा को हम उसके उपयुक्त सम्मान के साथ थोड़ी दृढ़ता पूर्वक विसर्जित कर दें। और, फिर साहस के साथ नयी पुरानी दोनों पीढ़ियों में वास्तविक लोकतन्त्र के नये मूल्यों और नयी जीवन-पद्धतियों तथा संस्कारों का सिंचन करने-वाली शिक्षा को अथ से इति तक के पूरे विश्वास के साथ अपनावें। इससे कम में हमारा काम नहीं चलेगा। विकास की दिशा में और मानवता के नव निर्माण के मार्ग में हमारे कदम आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

शिक्षा को परतन्त्रता से बचायें

चूँकि आदर्शोन्मुख शिक्षा स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र जीवन पद्धतियों के सहारे ही फूल फल सकती है; इसलिए हमें राष्ट्रीय स्तर पर दृढ़ साहस के साथ एक नया निश्चय यह भी करना पड़ेगा कि स्वतन्त्र भारत में प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की सारी शिक्षा शासन के प्रभाव और अंकुश से पूरी तरह मुक्त रहेगी। शासन के शिक्षा विभाग के दकिया-

नयी ढाँचे के अन्दर बन्द और अनेकानेक दमघोंट तथा गतिरोक नियमों-उपनियमों की जंजीरों से बँधी-जकड़ी शिक्षा स्थितियों में आजतक नाना प्रकार की कुंठाएँ और विकृतियाँ ही उत्पन्न करती चली आ रही है। हम सब इसके पुराने अनुभवी और भुक्तभोगी हैं; इसलिए आज की अपनी नयी आकांक्षाओं के सन्दर्भ में हमें अपने प्रति और अपनों के प्रति कठोर होकर एक-बार यह फैसला साहस पूर्वक कर लेना ही होगा कि इस देश की समूची शिक्षा और सारा शिक्षा-जगत शासन की जकड़बन्दी से मुक्त होकर स्वतन्त्र तथा स्वाधीन रूप से अपना मार्ग निश्चित करेगा और उस पर अपने ही बल-भरोसे चलेगा। शासन का पूरा सहयोग और सौहार्द उसे मिलेगा; पर शासन और शासक उस पर किसी भी रूप में हावी नहीं हो सकेंगे।

इस नयी मर्यादा को स्वीकार और अंगीकार करने में जितनी देर लगेगी, शिक्षा के क्षेत्र में हमारी कुंठाएँ, विकृतियाँ और विफलताएँ उतनी ही बढ़ेंगी और मुक्ति तथा अमरता के मंत्र को सिद्ध करने की शक्ति रखनेवाली नयी शिक्षा के सारे मार्ग अवरुद्ध ही रहेंगे। यह दुखद स्थिति न हमारे हित में होगी और न मानवता का ही इससे हित सध सकेगा, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि एक बार पूरा देश हिम्मत के साथ उठ खड़ा हो और निश्चय कर ले कि अब तक जो हुआ, सो हुआ; जो कमी कमजोरी रही, सो रही, इससे आगे देश में शिक्षा दीक्षा के नाम पर जो कुछ भी सोचा, कहा, किया और कराया जायेगा वह इस देश की मूल प्रकृति, परम्परा, आकांक्षा और आदर्श को ध्यान में रखकर ही होगा। उससे इधर उधर होने का या बच कर चलने का अथवा बाहर के अवाञ्छनीय प्रभावों से अभिभूत होकर गलत रास्ते बढ़ने का कोई यत्न किसी भी क्षेत्र से नहीं होगा। जिस प्रकार स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अखण्ड जागृति एक अनिवार्य आवश्यकता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र शिक्षा के लिए भी अहर्निश जाग्रत रहकर काम करना हममें से हर एक के लिए नितान्त आवश्यक है। हमारे लिए यह आवश्यकता तो सदा ही बनी रहेगी।

नये भारत की शिक्षा-दीक्षा के नये पैमाने क्या होने चाहिए, इस सम्बन्ध में हम संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे।

१. शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्यता का समग्र-विकास होना चाहिए। खण्डित अथवा एकांगी विकास की दिशा में ले जानेवाली शिक्षा देश को समग्र शक्ति सम्पन्न समर्थ नागरिक नहीं दे सकेगी।

२. शिक्षा का संचालन स्वतन्त्रचेता मनीषियों के हाथों में होगा। व्यवसाय, नौकरी, धन-सम्पत्ति का संचय और विलासी जीवन शिक्षा का लक्ष्य कभी नहीं रहेगा। मानव-समाज में ऊपर गिनायी गयी सारी प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में बराबर चलेंगी; लेकिन समग्र रूप से शिक्षित और दीक्षित मनुष्य इन प्रवृत्तियों का दास न बने, इसकी फिक्र बराबर रखनी होगी।

३ शिक्षित व्यक्तियों के आपसी व्यवहारों में सहज ही विनम्रता, सरलता, सुलझाहट, निर्मलता और सरलता रहेगी। उसमें कुटिलता और छल प्रपंच नहीं रहेगा। यदि ऐसा है तो मानना होगा कि शिक्षा के लिए निर्धारित लक्ष्य और कार्य-पद्धति में कहीं न कहीं कोई मूलगामी दोष रह गया है।

४. यों शिक्षा के माप दण्ड को बदलने के साथ ही समाज के भी सारे भ्रष्ट माप दण्डों को बदलना होगा अथवा यों कहिए कि वे नये प्रवाह के जोर से स्वयं ही बदल जायेंगे, या बदलने लगेंगे। आज शिक्षा केवल बुद्धिप्रधान है और उसका मूल आधार पुस्तकीय ज्ञान है। नये सन्दर्भ में और नयी रचना में शिक्षा को प्रत्यक्ष क्रिया पर, कर्ममय जीवन पर आधारित करना होगा। मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन-जिन उद्योगों, व्यवसायों और कार्यों की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उन्हीं को आधार बनाकर शिक्षा का सारा व्यवहार चलेगा।

यदि यह विचार और कार्य पद्धति देश में सर्वमान्य हुई और इसकी जड़ें जमीं तो शिक्षा जगत में पाठ्य-पुस्तकों का महत्व बिल्कुल घट जायेगा। विविध विषयों के ज्ञान के लिए कुछ आधारभूत पुस्तकें शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए सदा सुलभ रहेंगी। प्रत्यक्ष उद्योगों द्वारा वे जो कुछ सीखेंगे, समझेंगे और करेंगे उसे पुस्तकीय ज्ञान से पोषण ही मिलेगा। और, यों उनके

ज्ञान में एक प्रकार की परिपूर्णता आयेगी, लेकिन वह पुस्तकीय ज्ञान प्रत्यक्ष कार्य से जुड़ा होगा, इसलिए उसकी कसौटियाँ भी पुस्तकीय विद्या की कसौटियों से भिन्न होंगी। इस प्रकार जिन पाठ्य पुस्तकों और परीक्षाओं ने आज के शिक्षा जगत में अनेकानेक बुराइयाँ फैला रखी हैं, उन सबसे समाज और देश को तथा नयी मानवता को छुटकारा मिल जायेगा। फलतः नये ढंग से पढ़ा लिखा व्यक्ति गिरावट से दूर रहकर उदात्त भावना से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम कर सकेगा।

५ नयी शिक्षा श्रम की और श्रमिक की प्रतिष्ठा को बढ़ानेवाली और आदि से अन्त तक शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में श्रम निष्ठा का सिंचन करनेवाली होगी। जब इस प्रकार शिक्षा संस्थाओं में श्रम की एक हवा जोर पकड़ेगी तो शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच आत्मीयता और सहकारिता का विकास होगा और समाज में भी इन गुणों की वृद्धि निरन्तर होती रहेगी।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपनी शिक्षा दीक्षा के कारण श्रम निष्ठ बनेगा, वह सहज ही स्वावलम्बन प्रिय भी होगा। वह खुद स्वावलम्बन की महिमा को समझेगा और अपने आस-पास के समाज में उत्तरोत्तर स्वावलम्बन की रुचि वृत्ति बढ़ाने के लिए सदा यत्नशील रहेगा। ऐसी हालत में प्राथमिक शिक्षा से विश्वविद्यालय तक की सम्पूर्ण शिक्षा देश में मुख्यतः स्वावलम्बन अथवा परस्परावलम्बन के सहारे चलेगी और बढ़ेगी। फलतः देश में कहीं भी शिक्षा-संस्थाओं को चपरासियों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। आज की शिक्षा संस्थाओं में लगे लाखों भाई-बहनों को अपनी जवानी से लेकर बुढ़ापे तक भृत्य का स्वाभिमान-शून्य जीवन बिताना पड़ता है। उन्हें अपना मानवोचित विकास करने के अवसर कभी मिलते ही नहीं। किसी भी स्वस्थ लोकतन्त्र के लिए यह एक कलंक ही है। जहाँ सालों साल ज्ञान विज्ञान की आराधना और उपासना होती है, वहाँ भृत्यों का एक बड़ा समुदाय अपने जीवन के अन्त तक निरक्षर और संस्कार शून्य बनकर ही जीता है, यह आज के शिक्षा-जगत की एक बड़ी विडम्बना है। नये पैमानों के चलते इस विडम्बना का अन्त होना ही चाहिए।

६. आज की शिक्षा में अमीरी-गरीबी, जात-पाँत, धर्म पंथ, ऊँच-नीच और स्त्री पुरुष के भेदों ने बड़ी हद तक प्रश्रय पाया है। इन भेदों के कारण समाज खण्डित हुआ है और उसकी मूल शक्ति छिन्न भिन्न होकर टूट गयी है। मनुष्य के बीच में नाना प्रकार की दीवारें खड़ी हो गयी हैं। इन दीवारों के रहते देश में कहीं भी विराट मानवता का पालन पोषण और सिंचन हो नहीं पाता। विश्व-बन्धुत्व तो दूर की बात है, देश-बन्धुत्व का भी विकास नहीं होता। मानव-मन में नाना प्रकार की संकीर्णताएँ, कुंठाएँ, हीनताएँ अथवा श्रेष्ठताएँ अपनी जड़ें जमा लेती हैं और वे मानव को मानव से अलग कर देती हैं। जब हम अपने देश में शिक्षा दीक्षा के नये पैमाने चलायेंगे, तो हमें आज की शिक्षा की इन दुर्बलताओं से बचने का पूरा ध्यान रखना होगा। जो मनुष्य भारतभूमि में जन्मा है, उसे नागरिक के नाते सब प्रकार का ज्ञान विज्ञान प्राप्त करने की पूरी अनुकूलता रहनी चाहिए। गरीबी या ऐसे ही अन्य कारणों से उसकी प्रगति का मार्ग कुंठित नहीं होना चाहिए। देश में और समाज में मानवमात्र को पूरी प्रतिष्ठा के साथ जीने का अवसर और अनुकूलता प्राप्त होनी चाहिए। स्त्री पुरुष के कृत्रिम भेद के कारण स्त्री जाति की स्थिति अत्यन्त दयनीय बनी हुई है। नये पैमानों के चलते इस विषम स्थिति का भी अन्त होना ही चाहिए। इसके लिए सामूहिक रूप से जितनी सावधानी रखने की जरूरत हो, रखी जानी चाहिए।

७ आज शिक्षा जगत में सजा, इनाम, स्पर्धा आदि अनेक दूषित तत्वों का बोलबाला है। इनसे विकृतियाँ पैदा होती हैं और अच्छे लोगों को भी समाज द्रोही बना देते हैं। इनके कारण मनुष्य अक्सर आत्मद्रोही भी बन जाता है। गुलामी के दिनों में हमने अपने इस देश में सजा, इनाम और स्पर्धा आदि का बहुत सहारा लिया और शिक्षा जगत में इन तत्वों को जरूरत से ज्यादा इज्जत दे दी।

सजा ने घरों, शिक्षा-संस्थाओं, गाँवों, कचहरियों, समाजों और जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में अपना एक ऐसा अटल स्थान बना लिया कि अब उसे वहाँ से पद भ्रष्ट करना बड़े से बड़े लोगों के लिए भी

आसान नहीं रह गया है। सजा के कारण हमारा औसत आदमी झूठा, मक्कार, डरपोक, खुशामदी, अविश्वसनीय बन गया। उसके जीवन में उत्तम गुणों के विकास की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी।

जहाँ समाज, शासन और शिक्षा जगत का काम सजा से नहीं चला, वहाँ उन्होंने इनाम से काम लेना शुरू किया। मनुष्य को ललचाया, फुसलाया, धन सम्पत्ति, पद वैभव, अधिकार आदि देकर खरीदा और उसे समाज द्रोही और राष्ट्र द्रोही बनाया, अथवा उसे धर्म और मनुष्यता से द्रोह करने के लिए राजी कर लिया। धीरे-धीरे देश में इनाम को भी एक इज्जत मिल गयी और उसने भी विशेष रूप से जोर पकड़ लिया, लेकिन पिछले कई सौ सालों का अपना अनुभव हमसे यह कहता है कि इनाम के इस दूषित तत्व ने इनाम पानेवालों और देनेवालों को ईमानदार नहीं रहने दिया। धीरे धीरे उनका लोभ और स्वार्थ इतना बढ़ा और सद्वृत्तियाँ इतनी घटीं कि समाज का सारा सन्तुलन ही गड़बड़ा गया। फलतः सामाजिक स्वास्थ्य को भारी आघात पहुँचा। न्याय, नीति, धर्म, कर्तव्य सचाई, मानवता, बन्धुता आदि का महत्व घटने लगा। जिस किसी भी रीति से इनाम पाने की हविस ने मनुष्य को नाना प्रकार से पथ भ्रष्ट बना दिया।

इतनी हानियों के बाद भी हमारी आँखें नहीं खुलीं। दुर्दैव ने हमारा साथ नहीं छोड़ा। लोगों को आशा थी कि स्वतन्त्रता के बाद देश के कर्णधार इनाम की कुप्रथा को जरूर दूर करेंगे और उसे लोक जीवन के किसी भी क्षेत्र में, किसी भी निमित्त प्रश्रय और प्रतिष्ठा नहीं देंगे; किन्तु पिछले सोलह वर्षों में स्वतन्त्र भारत की सरकार ने और समाज की अनेकानेक संस्थाओं ने भी अपने नित्य के जीवन में इनाम को अत्यधिक महत्व दे रखा है। यह देखकर दिल रो उठता है और मन भविष्य की चिन्ता से बेचैन हो उठता है।

हमें यह भयकर भ्रम हो गया है कि जीवन के हर क्षेत्र में *इनाम बाँट-बाँट कर हम अच्छी उन्नति* अथवा प्रगति कर सकेंगे, किन्तु व्यक्ति अथवा समाज की वास्तविक उन्नति और उसका वास्तविक विकास इनाम से न कभी हुआ है, न कभी हो सकेगा। इनाम मनुष्य को गिरावट की ओर ले जाता है। इसलिए नये भारत की रचना में और शिक्षा की नयी व्यवस्था में *इनाम का तत्व किसी भी रूप में कोई* प्रतिष्ठा न पाये, इसकी खबरदारी हमें हर हालत में रखनी होगी। नहीं तो हमारा सारा देश ऐसे इनामी टट्टुओं का देश बन जायेगा, *जिनकी मुख्य खुराक* होगी—'इनाम का नशा।' इनाम न मिला, तो काम भी आगे नहीं बढ़ेगा। फलतः व्यापक उत्थान तथा नव *निर्माण की हमारी सारी योजनाएँ* जहाँ की तहाँ धरी रह जायेंगी। जब इस देश के आठ नौ करोड़ परिवार बिना किसी नदी के यानी बिना इनाम इकराम के अपना सारा व्यवहार आसानी से चला लेते हैं तो समझ में नहीं आता कि जीवन के दूसरे क्षेत्रों में इसका सहारा लेकर हम देश की कौन-सी सेवा करेंगे?

जो बात सजा और इनाम की है, वही स्पर्धा, प्रतियोगिता अथवा होड़ की है। हमारे राष्ट्र का संकल्प है कि हमें अपने यहाँ एक सहयोगी *समाज* खड़ा करना है। देश में समाजवाद की स्थापना हमारा एक मुख्य लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में पूँजीवाद के पेट में से निकली स्पर्धा को जीवन के हर एक क्षेत्र में बढ़ावा देकर हम स्वतन्त्र भारत में समाजवाद की अथवा सहकारिता की स्थापना कैसे कर सकेंगे? *आज तो इस देश में पूर्व प्राथमिक शिक्षा से लेकर* विश्वविद्यालय तक की शिक्षा में नाना प्रकार की स्पर्धाओं अथवा प्रतियोगिताओं का ही बोलबाला है। इनके कारण पारस्परिक कलह-क्लेश, ईर्षा द्वेष, लाग-डाँट, उठा पटक, खींच तान और तोड़ फोड़ की कितनी विभीषिकाएँ आये दिन शिक्षा-संस्थाओं में और अन्य क्षेत्रों में खड़ी होती हैं, इसका विचारमात्र हमें तो कँपा देता है। फिर भी आज समाज में और राज्य में स्पर्धा की बड़ी प्रतिष्ठा है और शिक्षा जगत में *भी उसने अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं।* यदि इन बुराइयों से बचना है तो हमें पूरी कठोरता के साथ *अपने लोक-जीवन में से सब प्रकार की स्पर्धाओं को* सदा के लिए समाप्त करना होगा। तभी हम शिक्षा

के क्षेत्र से भी इन दूषित तत्वों को निकाल सकेंगे और स्वस्थ, शान्त तथा सहयोगिता से भरे पूरे वातावरण में शिक्षा का सारा काम चला सकेंगे।

आज शिक्षा क्षेत्र में नाना विध समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। उनके निराकरण के लिए हमें जो दिशा पकड़नी होगी, वह बहुत कुछ उन्हीं तत्वों पर आधारित रहेगी, जिनकी कुछ चर्चा ऊपर की जा चुकी है। शिक्षा के क्षेत्र में अब तक के जो परम्परागत मूल्य और माप प्रचलित हैं और जो लगभग सौ साल के लम्बे अनुभवों के बाद हमें अपने लोक जीवन के लिए अनिष्टकारी प्रतीत हुए हैं, हो रहे हैं उनका परित्याग करने का साहस हमें आज नहीं तो कल दिखाना ही होगा। नहीं तो, शिक्षा के क्षेत्र में हम जो नया पुरुषार्थ करना चाहते हैं, वह हमारे किये सिद्ध नहीं हो सकेगा। जैसे, नये बोझ को उठाने के लिए पुराना बोझ फेंकना ही पड़ता है, उसी तरह नये रास्ते चलने के लिए पुराना रास्ता भी दृढ़ता और कठोरता पूर्वक छोड़ना पड़ता है। आज हम एक चौराहे पर खड़े हैं। अब हमें मिलकर एकबारगी यह तय करना है कि अपने विशाल और पुरातन देश की मानवता के नव निर्माण के लिए और उसके पुनर्जागरण के लिए हम कौन सा रास्ता अपनायें और उस रास्ते पर किस प्रकार की तैयारी से चलना शुरू करें।

●

[पृष्ठ ५४ का शेषांश]

लिखने का अभ्यास शुरू करने के साथ ही वस्तु चित्रांकन भी मुक्त हस्तलेखन के अभ्यासार्थ होना चाहिए, और इसके लिए गोला गोलार्ध आड़ी, तिरछी, सीधी रेखाओं के माडल सामने रखे जायँ और बच्चे उन्हें अपनी पट्टी पर अंकित करें, यह प्रक्रिया चलायी जा सकती है। बच्चों को जबानी अक्षर याद कराने के साथ ही छपी हुई सुन्दर और बड़े अक्षरों वाली पुस्तिकाएँ भी पढ़ने को दी जायँ, और इस ओर पूरी तरह सावधानी रखी जाय कि बच्चों को बराबर सुन्दर लिखावट के नमूने देखने को मिलें और उनके अन्दर वैसे ही अक्षर लिखने का शौक पैदा हो।

लिखावट का तीसरा पहलू है—सबसे सरल अक्षर शुरू में लिखना। जैसे—व, ब, न, ग, म, म आदि और सबसे कठिन घ, ङ, छ, श आदि बाद में। लिखते समय बच्चा कैसे बैठा है, कलम कैसे पकड़ा है, पट्टी किस तरह रखी गयी है, कहाँ क्या भूल या कमी हो रही है, इस ओर शिक्षक को सचेष्ट रहना चाहिए और जहाँ कहीं भी बच्चे की प्रतिभा और क्षमता को सहारे और मदद की आवश्यकता हो, उसे शिक्षक द्वारा प्राप्त होनी चाहिए। लिखने की डेस्क पर या उसके अभाव में पालथी लगाकर बैठे हुए बच्चे की जाँघों को आधार बनाकर पट्टी सीधी रखनी चाहिए। कलम बाहुमूल और लिखने के स्थान से लगभग ६० अंश का कोण बनाने वाली सरल रेखा की सीध में होनी चाहिए। दावात हमेशा दाँयीं ओर रखी जानी चाहिए। पट्टी और आँख के बीच की दूरी लगभग १२ इंच होनी चाहिए। इस अभ्यास में न सिर्फ लिखते समय, बल्कि हर काम को करते समय सफाई, सुघड़ता और सतर्कता बरतने से ही सुसंस्कार बनेगा और जिसका सुपरिणाम होगा—मोती के दानों जैसे चमकते हुए सुन्दर-सुन्दर अक्षर।

लेकिन ये तो हुईं बुनियादी बातें। श्यामी तो अब कई कक्षाएँ पास कर चुकी है, दस दस, पन्द्रह पन्ने नोट्स लिखती है, वह क्या करे?

मेरा विश्वास है कि अगर वह भी अपनी हस्तलिपि की बुनियाद सुधारने के लिए कम-से-कम नित्य १ घंटा उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर लिखने का अभ्यास करे, हो सके तो अभ्यास पुस्तिका की पहली पंक्ति किसी सुलेखक से लिखवा ले और पूरा लिखकर एक बार दिखा ले। फाउंटेनपेन का कम-से कम इस्तेमाल करे और कुछ गलत लिख जाय तो उसे काटने के नाम पर गन्दा न करे। नोट्स लिखते समय हाशिया, अक्षरों, शब्दों और पंक्तियों के बीच आवश्यक दूरी तथा बड़े-बड़े सधे, गोल और समान अक्षर लिखने का प्रयास करे तो उसकी लिखावट में निखार आ सकता है और तब परीक्षा के अंकों के खोने का खतरा भी काफी दूर तक टल सकता है।

पाठशाला से विरक्ति क्यों ?

•

शिरीष

बच्चों के अभिभावकों से अक्सर यह शिकायत सुनने को मिलती है कि मेरा बच्चा घर से पढ़ने के लिए निश्चित समय से जाता तो है, लेकिन स्कूल नहीं पहुँच पाता या पहुँचता भी है तो अनियमित, देर-सबेर। शिक्षक भी बताते हैं कि बच्चे कभी कभी झूठ मूठ के बहाने बना कर पाठशाला से रफूचक्कर हो जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों!

बिना किसी हिचक के हमें मानना होगा कि बच्चों की इस प्रवृत्ति के पीछे पाठशाला के कार्यक्रम के प्रति उनकी अरुचि प्रधान कारण है। पाठशालाओं का पाठ्यक्रम सामान्य बुद्धि के बालकों को केन्द्र मान कर बनाया जाता है, जिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। स्कूलों में बुद्धि के आधार पर आप बच्चों का वर्गीकरण करना चाहें तो तीव्रबुद्धि के बालक कम और मन्द बुद्धि के बालक उससे अधिक पाये जायेंगे। तीव्र बुद्धि वाले बालकों के लिए यह पाठ्यक्रम अत्यन्त सरल और अनाकर्षक होता है, जिससे उनकी रुचि आकृष्ट नहीं हो पाती, और मन्द बुद्धिवाले बालकों के लिए यह कठिन पड़ता है, जिससे उनका जी चुराना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त शुष्क ढंग का शिक्षण, पढ़ाने में शिक्षकों की अनियमितता तथा दूसरे और भी ऐसे अनेक कारण हैं, जिनसे बच्चों के मन में पाठशाला के प्रति आसक्ति होना तो दूर, एक प्रकार की विरक्ति ही बढ़ती जाती है।

वैसे तो भागनेवाले बच्चों की संख्या छोटी बड़ी हर उम्र में पायी है, लेकिन यह प्रवृत्ति १२ वर्ष से १६ वर्ष की अवस्था वाले बच्चों में विशेष रूप से पायी जाती है। किशोरावस्था के बच्चों में इस प्रवृत्ति का विशेष रूप से पाया जाना, इस बात का प्रतीक है कि इसके पीछे कोई और महत्वपूर्ण कारण है और वह है उनके शारीरिक और मानसिक विकास की तीव्रता। उनकी ग्रन्थियों के रासायनिक पदार्थों में होनेवाला गतिशील परिवर्तन उसमें अभिनव स्फूर्ति भर देता है, जिसके आवेग में वे अपने को अपनी स्थिति से अधिक बुद्धिमान समझने लगते हैं और यही होती है उनकी बुनियादी भूल, जो स्कूल से भागने ही नहीं, वरन और भी दूसरे बाल अपराधों का कारण बन जाती है।

छोटी उम्र में स्कूल से भागनेवाले बच्चों में ऐसे बच्चों की भी संख्या कम नहीं होती, जिनका लालन-पालन अनुचित लाड़ प्यार में हुआ रहता है। माँ बाप का सबसे छोटा बच्चा विशेष रूप से स्नेह का पात्र होता है, इसके अतिरिक्त इकलौता बेटा या कई बहनों के बीच सौभाग्यशील एकाकी बच्चा भी इस अनुचित लाड़ प्यार का सहज ही शिकार हो जाता है। स्नेह और लाड़ प्यार बच्चों के विकास के लिए अनिवार्य है, किन्तु जिस प्रकार इच्छा न होने पर आवश्यकता से अधिक 'रसगुल्ले' भी खाने पर लाभ के बजाय हानि

ही होती है उसी तरह सही दिशा में न मिलने वाला स्नेह भी बच्चों को बनाने के बजाय बिगाड़ने में ही सहायक सिद्ध होता है।

परिवारों के आपसी लड़ाई झगड़े, ईर्ष्या, द्वेष और कलह परिवार के जीवन को विषाक्त बना देते हैं, जिसका शिकार होने से बच्चा अछूता नहीं रह पाता। वह रूठकर पिता या चाचा को अन्यत्र जाते देखता है, माँ को झगड़ा करके पीहर जाते देखता है, फिर अगर वह भी अपने जीवन में इसका प्रयोग करता है तो इसमें हमें आश्चर्य क्यों ?

कोमल मन प्राण बालकों को साधारण साधारण सी भूलों के लिए पाठशालाओं में डाँट फटकार पड़ती है, समझाने-बुझाने की आवश्यकता हमारे शिक्षक कम ही महसूस करते हैं और सम्भवतः छात्रों की संख्या अधिक होने, अपने मानसिक उलझाव तथा और दूसरे कारणों से उन्हें इसकी फुर्सत भी कम ही रहती है। बच्चों की सहज इच्छाओं को सुलझाने और सही मार्गदर्शन देने के बजाय अकसर उन्हें कुचला ही जाता है। ऐसी दशा में बच्चों का स्कूल से घृणा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

जाँच से पता चला है कि स्कूल से भागनेवाले बच्चों में सबसे अधिक संख्या मन्द बुद्धि बच्चों की होती है। भगोड़े बच्चों में से करीब ८० प्रतिशत बच्चे इसी कोटि में आते हैं। १७ प्रतिशत बच्चे सामान्य बुद्धि के और २ प्रतिशत बच्चे तीव्र बुद्धि के होते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाठ्यक्रम की असाध्यता, परीक्षा का भय और शिक्षण के प्रति अरुचि इन तीनों महारोगों को हमें अपनी पाठशालाओं की चहारदीवारी से दूर भगाना होगा, नहीं तो हम बच्चों की इस कुटेव को दूर करने में सफल नहीं हो सकेंगे।

खेल, खेती, बागवानी, कताई-बुनाई तथा दूसरे उद्योग सभी बच्चों के लिए रुचिकर होते हैं। इसमें मन्द बुद्धि और क्षिप्र बुद्धि, दोनों प्रकार के बालकों को समान रूप से बुद्धि कौशल दिखाने का अवसर रहता है। एक दूसरे से अपने को किसी माने में हीन नहीं समझता। हस्तकला की सफलता उनके लिए आनन्द का कारण बनती है, इसलिए पाठशालाओं में उद्योगों के प्रति शिक्षकों को विशेष जागरूकता दिखाने की आवश्यकता है।

कोई भी हो, माता पिता या शिक्षक, जो जाने अनजाने बालक के अहं को ठेस पहुँचाता है, उसके व्यक्तित्व को नगण्य समझता है, उसे बच्चा कभी माफ नहीं करता। विवशता के क्षणों में उसकी प्रतिक्रिया और तीव्र हो जाती है, इसलिए बच्चे की किसी भी कमजोरी का मजाक उड़ाना, उसके दिल को गहरी चोट पहुँचाना, हमारी-आपकी महान भूल होगी और एसी हालत में बच्चे में 'भगोड़ापन' सहज ही आ सकता है, इसलिए हमें बच्चों के विकास-क्रम और उनकी प्रवृत्तियों का गहराई से अध्ययन और मनन करने की जरूरत है, फिर उसके अनुरूप आचरण की। तभी, हम आप बच्चों की पाठशालाओं से भागनेवाली कुटेव को भगाने मे सफल हो सकते हैं।

●

हमारा लड़का रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा कवि बने, जगदीश चन्द्र बसु जैसा रसायन शास्त्री बने, भास्कराचार्य जैसा ज्योतिषी बने, चिकित्सा शास्त्र में अपना कोई सानी न रखे, पाक शास्त्र में प्रवीण हो, संगीत शास्त्र में पंडित विष्णु दिगम्बर को हरा दे, वाद विवाद में सभी शास्त्रियों और वकीलों को जीत ले, वक्तृत्व में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को पीछे रख दे, फिर भी सम्भव है कि उसमें मनुष्यत्व न आया हो।–किशोरलाल मश्रूवाला

प्राइमरी पाठशालाओं में भूगोल कैसे पढ़ायें ?

त्रिलोकीनाथ अग्रवाल

निस्सन्देह भूगोल का विषय बड़ा ही रोचक है। हम बच्चों का ध्यान दैनिक जीवन के अनुभवों के आधार पर सरलता से भूगोल की ओर आकृष्ट कर सकते हैं, परन्तु आज स्थिति यह है कि प्रतिदिन के अनुभवों का, जो बालक प्राप्त करता है, शिक्षा में कतई उपयोग नहीं होता है क्योंकि वही प्राचीन शिक्षा विधि, वही परीक्षा, वही घिसा पिटा पाठ्यक्रम और वही घटों के अनुसार चलनेवाली पढ़ाई, ये सभी मिल मिलाकर सही शिक्षण की राह में व्यवधान उपस्थित करते हैं। फिर भी इन सारी असुविधाओं के अगर भूगोल शिक्षण में शिक्षक थोड़ी सावधानी बरतें तो बहुत दूर तक अनेक कठिनाइयाँ स्वत हल हो जायेंगी और विषय की अरोचकता भी जाती रहेगी। रटने रटानेवाली बीमारी से शिक्षक और बच्चे दोनों मुक्ति पा जायेंगे।

निरीक्षण—

भूगोल शिक्षण में निरीक्षण का सर्वाधिक महत्व है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भूगोल शिक्षण की गाड़ी बिना निरीक्षण के सुचारु रूप से आगे बढ़ ही नहीं सकती। निरीक्षण वैसे तो प्रत्येक स्तर पर होना ही चाहिए किन्तु पहली से पाँचवी कक्षा तक तो यह अनिवार्य ही है। बालक अपनी बुद्धि, अवस्था, समय, स्थिति और दृश्य के आधार पर ज्ञान अर्जित करेगा। वह घंटे दो घंटे, आधे दिन और पूरा दिन भी निरीक्षण में लगा सकता है। शिक्षक को चाहिए कि वे निरीक्षण के लिए बच्चों को कक्षागत क्रम से ले जायँ। निरीक्षण के लिए उन्हें ले जाने के पहले उस स्थान के बारे में दिशा निर्देश कर देना चाहिए, जिससे उस स्थान पर पहुँचकर उन्हें समझने में सरलता हो। पूर्व जानकारी के आधार पर वे स्वयं भी नयी नयी बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार प्रकृति के गर्भ में छिपे हुए रहस्य को अधिक जानने की उनकी सहज उत्सुकता और जिज्ञासा प्रस्फुटित हो सकेगी।

निरीक्षण प्रत्येक महीने एक या दो बार अवश्य होना चाहिए, क्योंकि हर महीने प्रकृति में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। नये-नये फूल खिलते रहते हैं, नये-नये फल बक्षरियों में लटका करते हैं। इसके अतिरिक्त गाँव या नगर में जहाँ ईंटें बनती हैं, खाँड़ बनती है, कोल्हू चलते हैं आदि ऐसे स्थानों का निरीक्षण बच्चों को अवश्य कराया जाय। बात चीत के जरिये ज्ञान की पूर्णता के लिए उनमें जिज्ञासा पैदा की जाय। वहाँ की पैदावार क्या है, उसका उपयोग कैसे होता है ! आदि इस प्रकार के तद्विषयक प्रश्नों द्वारा उनकी जिज्ञासा जागरित की जा सकती है।

निरीक्षण कभी कभी रात में भी होना चाहिए। रात्रि निरीक्षण में चाँद के घटने बढ़ने, ग्रह, नक्षत्र और तारों का विशेष ज्ञान दिया जा सकता है। बालक स्वय अनुभव करता है कि अमुक ध्रुवतारा है, इसकी यह विशेषता है कि यह हमेशा एक जगह ही रहता है! आदि बातें वह अपने शिक्षक की सहायता से जान लेता है। इसी सन्दर्भ मे पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति तथा उसका मौसम और वायुमण्डल पर पड़नेवाले प्रभाव की जानकारी भी करायी जा सकती है। वैसे तो आज भी ध्रुवतारे का ज्ञान कराया जाता है, परन्तु वह केवल पुस्तक के द्वारा। अब यह पिटी पिटाई पद्धति नहीं चलनी चाहिए।

ऋतु परिवर्तन का प्रभाव—

ऋतु परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य के खान-पान, पोशाक आदि सभी चीजों पर पड़ता है। जाड़े में हम गरम कपड़े पहनते हैं, गरमियों में सूती कपड़े और वह भी कम से कम पहनना पसन्द करते हैं। जाड़े मे गरम चीजें अधिक खाते हैं और आसानी से पचा लेते हैं। गरमी में ऐसा नहीं हो पाता। इस प्रकार ऋतु परिवर्तन के आधार पर होनेवाले परिवर्तनों के सम्बन्ध म शिक्षक बच्चों से पूछ सकते हैं—

१ गरम कपड़े कब पहनते हो?
२ जाड़े म गरम कपड़े क्यों पहने जाते हैं?
३ सूती या ठढे कपड़े कब पहनते हैं?
४ पानी कब से बरसना शुरू हो जाता है?
५ पानी बरसते समय आसमान में क्या परिवर्तन देखते हो?
६ पानी किधर को बहता है?
७ बिजली बरसात के शुरू म और अन्त में ही क्यों अधिक चमकती और कड़कती है?
८ फूल सबेरे ही क्यों खिलते हैं?
९ कौन-कौन-से फूल शाम को खिलते हैं?
१० ये फूल शाम को ही क्यों खिलते हैं?

इसी प्रकार भोजन के परिवर्तन द्वारा भी मौसम का ज्ञान कराना चाहिए। किस समय कौन से फल विशेष रूप से पाये जाते हैं और क्यों पाये जाते हैं? अगर और गहराई में उतरना चाहें तो यह भी पूछ सकते हैं कि ये फल उसी ऋतु म क्यों होते हैं? इसी तरह तरकारियाँ भी मौसम की आवश्यकता के अनुसार ही होती हैं। मौसम विशेष से उन तरकारियों का क्या सम्बन्ध है, पूछा जा सकता है। इस प्रकार ऋतु परिवर्तन के आधार पर शिक्षक बच्चों को भूगोल की हर प्रकार की जानकारी करा सकता है।

विशेष भौगोलिक चित्र—

स्कूल के प्रत्येक कमरे में देश विदेश के रहनेवालों के भौगोलिक विशेषता रखनेवाले चित्र टँगे रहने चाहिए। जैसे, एस्कीमो का उसकी विशिष्ट पोशाक के साथ चित्र, उसका घर, उसकी गाड़ी, बद्दुओं की यायावरी, उनकी घुड़सवारी के प्रदर्शन, चरागाहों में उनका घोड़े पर खड़ा होकर निरीक्षण करने का विशेष ढग, भूमध्य रेखीय भू भाग में रहनेवालों का विशेष जीवन इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार बच्चे इन चित्रों को देखकर बिना बताये स्वय बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

मानचित्र और माडल—

चित्रों के बाद भूगोल-शिक्षण में मानचित्र और माडल का स्थान आता है। इनका अधिक से अधिक उपयोग करना शिक्षण को सरल और सुगम बनाना है। प्राय देखा जाता है कि छोटी कक्षाओं में शिक्षक नक्शे का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि उन्हें नक्शे मिलते ही नहीं, और अगर मिलते भी हैं तो वे छोटी कक्षाओं में प्रयोग क लिए सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं, इसलिए आवश्यक है कि अध्यापक स्वय बड़े-बड़े नक्शे बनाये और कक्षा में उनका आवश्यकतानुसार उपयोग करे। इसी प्रकार माडल का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए, किन्तु अधिक से अधिक प्रयत्न यह रहना चाहिए कि बच्चों को प्रत्यक्ष दर्शन की प्राय मिकता दी जाय। फिर उसी आधार पर कक्षागत चर्चाएँ चलें, इससे बच्चों में रुचि उत्पन्न होगी, उनकी जिज्ञासा मुखरित हो उठेगा और वे सहज प्रश्नों की झड़ी लगा देंगे। शिक्षक उनके प्रश्नों के आधार पर अपेक्षित जानकारी सुविधापूर्वक दे सकता है।

यह सत्य है कि कुछ अर्थों में भूगोल शिक्षण अत्यन्त सरल है। सरल इसलिए है कि अगर अध्या

एक प्रतिदिन सक्रिय रहे और अपना पाठ सचेत सजगता पूर्वक तैयार रखे, उसकी योजना बनी-बनायी रहे, पाठ्य साधन उपयोगी और सहायक हों तो कक्षा में बच्चों की रुचि बनी रहती है, उनमें अनुशासन रहता है और शिक्षण सही ढंग पर चलता है, लेकिन कुछ अर्थों में भूगोल शिक्षण कठिन भी कम नहीं है। कठिन इसलिए है कि केवल पुस्तक पढ़ा देने से भूगोल शिक्षण का उद्देश्य पूरा नहीं होता। विज्ञान की तरह पहले से ही शिक्षक को अपनी स्वय की तैयारी करनी पड़ती है और साधनों का उचित प्रबन्ध करना पड़ता है। तभी भूगोल का सही शिक्षण चलाया जा सकता है, और यही वह शिक्षण होगा, जिसमें विद्यार्थियों को अनुभव होगा कि भूगोल एक अत्यन्त रोचक और उपयोगी विषय है।

संग्रहालय—

भूगोल शिक्षण में निश्चय ही संग्रहालय का बहुत बड़ा स्थान है। ये संग्रहालय हमारी बहुत बड़ी मदद करते हैं। प्राइमरी पाठशालाओं में ये संग्रहालय दो प्रकार के होने चाहिए। पहला, बच्चे का अपना निजी संग्रहालय और दूसरा शालेय संग्रहालय। बच्चे के अपने संग्रहालय का सुविधानुसार स्कूल में भी समय समय पर प्रदर्शन होते रहना चाहिए। इससे उनका उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जायेगा।

शालेय संग्रहालय का निर्माण भी बालकों द्वारा ही होना चाहिए। वस्तुओं के एकत्रीकरण की सारी प्रक्रिया उन्हीं द्वारा चलनी चाहिए। सजग दृष्टि रखने पर ये वस्तुएँ प्रतिदिन बालकों को कुछ न-कुछ मिल ही जाती हैं। जैसे—पत्तियाँ, फूल, फल अनाज, तरकारी, कीड़े मकोड़े, पत्थरों के रग बिरंगे टुकड़े, घोंघे, सितुहियाँ आदि। तरह तरह की मिट्टी का संग्रह भी रहना चाहिए। काली मिट्टी, चिकनी मिट्टी आदि-आदि। इस प्रकार बालकों को प्रत्यक्ष वस्तुओं द्वारा सरलतापूर्वक ज्ञान दिया जा सकता है। वे स्वय बिना किसी कठिनाई के यह सब समझ लेंगे और स्मरण कर लेंगे। रटने रटाने का महारोग उनके पास फटकने तक नहीं पायेगा।

इस संग्रहालय का सारा प्रबन्ध विद्यार्थियों द्वारा होना चाहिए। वे वस्तुओं के रखने, देखने और सजाने के माध्यम से स्वतः ज्ञान प्राप्त करते जायेंगे। जो विद्यार्थी जो सामान लाये उस पर उसके नाम की चिट लगी रहनी चाहिए, जिससे संग्रहकर्ताओं का उत्साह वर्धन हो।

संग्रहालय में विद्यार्थियों के द्वारा बनाये गये गाँव, जिले और देश के विभिन्न प्रकार के नक्शे होने चाहिए, जिनसे उन्हें सोचने समझने में सहायता मिल सके।

लेखा—

प्रत्येक विद्यार्थी को एक कापी बनानी चाहिए, जिसमें वह प्रतिदिन के मौसम के परिवर्तन का हाल लिखे। सूर्य कब उदय हुआ, कब छिपा। तापक्रम क्या रहा। वर्षा हुई या नहीं, हुई तो क्या विशेषता रही। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि बच्चों से नियमित दैनिकी लिखायी जाय और कक्षा में उनकी दैनिकी के आधार पर ऋतु-परिवर्तन तथा दूसरी सम्भावनाओं पर चर्चा की जाय। इस तरह बच्चों के अन्वेषण में सूक्ष्मता आयेगी और वे उपेक्षा नहीं कर सकेंगे।

नक्शे और भौगोलिक चित्र चार्ट के लिए एक दूसरी कापी होनी चाहिए, जिसमें वे विस्तृत रूप से केवल भौगोलिक चर्चाओं का उल्लेख करें।

आवश्यक साधन—

प्रत्येक विद्यालय में वर्षा मापक यन्त्र आवश्यक है। अगर इसके साथ साथ थर्मामीटर भी हो तो अति उत्तम। इससे विद्यार्थी स्वय प्रतिदिन का तापक्रम, वर्षा और वायु की आर्द्रता का लेखा तैयार कर सकते हैं। इस आलेख का उपयोग कक्षा स्तर के अनुसार किया जाना चाहिए। स्कूल की छत पर वायु गति-मापक यन्त्र भी होना चाहिए। इससे विद्यार्थी अपने आप पता लगा सकेंगे कि हवा किस ओर से किस ओर चल रही है। यह यन्त्र स्थानीय साधनों से भी बनाया जा सकता है।

प्रमुख व्यक्तियों के भाषण—

विद्यालय में दूसरे देश वालों के भाषण, अगर सम्भव हो तो कराने चाहिए। अगर नगरीय शिक्षक

सजगता से काम लें तो वे यह काम सरलतापूर्वक कर सकते हैं; क्योंकि प्रायः दूसरे देश के निवासी प्रत्येक नगर में आते-जाते रहते हैं। उनके भाषण के विषय विद्यार्थियों के विकास के अनुरूप होने चाहिए।

उन लोगों को बता दिया जाय कि वे सारी जानकारी अपने यहाँ के बच्चों के माध्यम से दें। कहानी के माध्यम से उनका खान पान, उठना-बैठना, खेलना-कूदना आदि सारी बातें आसानी से बतायी जा सकती हैं। नगरों में एंग्लो इंडियन, ईसाई, पारसी और दूसरे सज्जन मिलते रहते हैं, जो भाषण दे सकते हैं। सेना के अफसर जो देश-विदेश घूमते रहते हैं वे अपनी यात्रा का वर्णन बच्चों को बता सकते हैं। उन देशों का जलवायु, वहाँ की पैदावार, खान-पान और आवश्यक जानकारी दे सकते हैं। देहात के स्कूलों के लिए यह कठिन होगा, फिर भी उन्हें आने जाने वाले अनेक ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे, जो देश-विदेश की रोचक और लाभ-प्रद भौगोलिक जानकारी बच्चों को करा सकें।

चलचित्र—

बालकों को समय-समय पर चलचित्र दिखाने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। ये चलचित्र योजना विभाग से सम्बन्ध स्थापित करके मँगाये जा सकते हैं। इन चित्रों द्वारा बालक दूसरे देशों से परिचित होते हैं। वे वहाँ वालों की वेशभूषा, चालढाल, रहन-सहन के सम्बन्ध में जानकारी सरलता से प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के चित्र दिखाने से पहले अध्यापक को उस देश के बारे में बता देना चाहिए, जिससे बालक जब चित्र देखें तो उन्हें सारी बातें समझने में सुविधा हो। चित्र के प्रदर्शन के बाद कक्षा में बालकों से उस विषय पर प्रश्न किये जाने चाहिए। इस प्रकार खेल-खेल में पर्याप्त ज्ञान बालकों को प्राप्त हो जायेगा। तीसरी, चौथी और पाँचवीं कक्षाओं के बच्चों से दिखाये गये चित्रों का वर्णन लेख के रूप में लिखाया जा सकता है।

इस तरह अगर ऊपर लिखी बातों पर हमारी पाठशालाओं में अमल किया जाय तो हमें विश्वास है कि भूगोल की पढ़ाई अत्यन्त रोचक एवं सहज बन जायगी।

★

जब हम कहते हैं कि इतिहास-भूगोल पढ़ाया जाय, तो उसका यही अर्थ है कि प्राचीन काल और दूर देश के लोगों की जानकारी करायी जाय। यह जानकारी अगर निकट के ही लोगों की हो, पर पुराने जमाने की हो, तो 'इतिहास' बन जाती है और आज के ही जमाने के, पर दूर देश के लोगों के बारे में हो, तो भूगोल बन जाती है। —विनोबा

बच्चे को समझिए

•

कृष्ण कुमार

बच्चा कभी शैतान नहीं होता, वह भगवान होता है। उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, उसके कुछ अपने संस्कार होते हैं, उसके स्वभाव की कुछ विशेषताएँ होती हैं। उसे अगर शैतान कहकर टालना चाहेंगे तो उसका ही नहीं, वरन सम्पूर्ण मानवता का अपमान करेंगे।

अमुक बच्चा बड़ा शैतान हो गया है, या अमुक बच्चा किसी का कहना नहीं मानता है ऐसी बातें हम कहते हैं, पर तु हम ऐसा क्यों कहते हैं? इसके कारणों पर न हमारा ध्यान ही जाता है और न उधर ध्यान देने की आवश्यकता ही समझते हैं। बस कह देते हैं कि वह समस्या मूलक बालक (प्राब्लम चाइल्ड) है। बच्चे ने अमुक चीज तोड़ दी, अमुक को पीट दिया, अमुक चीज गिरा दी, इससे माँ बाप ऊब जाते हैं और उसे पीट दिया करते हैं, उसकी उपेक्षा करने लगते हैं लेकिन बच्चे की इस ऊधमी प्रवृत्ति की जड़ में क्या है, वह क्यों ऐसा करता है, इसकी छानबीन की जाय तो पता चलेगा कि बच्चा किसी चीज से अतृप्त है या तो उसे उसके मन के मुताबिक साथी नहीं मिलते या माँ का प्यार नहीं मिलता या माँ-बाप की उपेक्षा मिलती है या इसी प्रकार की अन्य मानसिक उलझनों के कारण बच्चा तरह तरह की हरकतें करता रहता है। अपनी विभिन्न हरकतों द्वारा वह बताना चाहता है कि उसे किसी चीज का अभाव है वह कुछ चाहता है लेकिन हम उसकी हरकतों को समझने बूझने के बजाय यह घोषित कर देते हैं कि वह बच्चा शैतान है।

बच्चा कभी शैतान नहीं होता वह भगवान होता है। उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, उसके कुछ अपने संस्कार होते हैं, उसके स्वभाव की कुछ विशेषताएँ होती हैं। उसे अगर शैतान कहकर टालना चाहेंगे तो उसका ही नहीं वरन सम्पूर्ण मानवता का अपमान करेंगे।

बच्चे ने अमुक को पीट दिया, क्यों? बच्चे ने अमुक को गाली दी, क्यों? बच्चे ने अमुक की बात नहीं मानी, क्यों? अगर इसी तरह की छोटी छोटी उसकी तमाम क्रियाओं प्रतिक्रियाओं पर ध्यान दिया जाय और समझने की कोशिश की जाय तो हम उसे शैतान कहने का हर्गिज़ साहस नहीं कर सकते।

होता यह है कि बच्चे को हम शैतान मानकर उसकी तरफ से उदासीन बन जाते हैं। वह कुछ भी करे, हम कह देते हैं—उसका यह स्वभाव बन गया है क्या किया जाय वह मानता नहीं। उसकी आदत छुड़ाने की कितनी कोशिश की, कितना पीटा। मान लिया है कि अब वह नहीं सुधरेगा। और, इस तरह से बच्चा धीरे धीरे अनुशासनहीन होता चला जाता है, उसकी हरकतें बढ़ती चली जाती हैं और हम अपनी निष्क्रियता का ढिंढोरा पीटते रहते हैं।

जिस तरह खाने-पाने के असंयम से बच्चा शारीरिक रोग से पीड़ित हो जाता है उसी तरह उसका सही लालन-पालन न होने से उसके मानसिक विकास का ख्याल न रखने से धीरे धीरे वह मानसिक रोग का शिकार हो जाता है।

अपने देश में मानसिक रोगियों की चिकित्सा के लिए कोई चिकित्सालय नहीं है और न कोई व्यक्तिगत प्रयत्न ही किया जाता है। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरे देशों में इस सन्दर्भ में सराहनीय प्रयास हो रहे हैं। उनमें अमेरिका का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। वहाँ के डाक्टरों का कहना है कि अमेरिका में उपेक्षा के कारण चार से पन्द्रह वर्ष की उम्र के उपद्रवी बच्चों की संख्या ५ लाख के करीब है।

एक बार वहाँ के एक बाल मनोरोग चिकित्सालय में सात साल की लड़की आयी। वह चीनी के बरतन तोड़ती थी, बेतहाशा चीखकर रोती थी, सोती कम थी और बच्चों के साथ खूब मारपीट करती थी। चिकित्सकों ने उस बच्ची को खिलौने से भरे एक कमरे में अकेले छोड़ दिया और उसकी हरकतें देखने लगे। उसने एक गुड़िया को ठोकर लगाते हुए कहा–'यह मेरी माँ है' और पास ही एक गुड्डा रखा हुआ था उसको ठोकर लगाते हुए उसने कहा—'यह मेरा भाई है।' और दोनों को उठाकर उसने कचरे की टोकरी में फेंक दिया।

चिकित्सक इन हरकतों के कारणों की छान बीन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि उसके माँ बाप ने उसके छोटे भाई के जन्म के बाद से उसकी उपेक्षा की है और इसी उपेक्षा के कारण यह उदण्ड हो गयी है।

इसी तरह कुछ माताएँ साज-संवार और बनाव-शृंगार में अधिक समय देती हैं। वे इस कोशिश में रहती हैं कि उनकी जो चीज जहाँ रखी गयी है वहीं ही रहे। जब उसे बच्चा उठाकर इधर से उधर कर देता है तो व रुष्ट हो जाती हैं और बच्चे को डाँटने या पीटने लगती हैं। बच्चे का कोमल मन समझ नहीं पाता कि माँ पीटती क्यों है? माँ का ध्यान बच्चे से ज्यादा बनाव शृंगार पर रहता है, इसलिए वह उस पर उचित ध्यान नहीं दे पाती। बच्चे के मन में उन सारी चीजों से दुश्मनी हो जाती है, जो उस कमरे में रखी रहती हैं। अवसर पाने पर वह उन चीजों को तोड़ने फोड़ने लगता है और इसी तरह अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है।

इसी तरह का तोड़ फोड़ मचानेवाला एक दूसरा बच्चा जब उसी चिकित्सालय में आया तो डाक्टरों ने पूरी छानबीन के बाद बताया कि बच्चे के उदण्ड होने का कारण यह है कि उसकी माँ फर्नीचर पर जितना ध्यान देती है उतना बच्चे पर नहीं।

अपने देश में अमेरिका जैसा कोई खास प्रयत्न नहीं है। मैं समझता हूँ कि बाल-मनोविज्ञान को समझने के लिए, कुछ विशेष प्रयोग करने के लिए अपने देश में भी उस तरह के केन्द्र खोले जाने चाहिए। जब तक हम अपने इस प्रयास में सफल नहीं होते हैं, हमें निष्क्रिय बैठे रहने की जरूरत नहीं है। हमारा प्रत्येक प्राइमरी स्कूल और माध्यमिक स्कूल हमारे लिए प्रयोग शाला का काम कर सकता है। हर स्कूल में इस तरह के बच्चे होते ही हैं। शिक्षक इस मनोवैज्ञानिक पहलू पर ध्यान दें तो बहुत हद तक बाल मनोरोग का निदान सम्भव हो जाय। शिक्षकों और पढ़े लिखे माता पिताओं की यह मुख्य जिम्मेदारी है। अगर शिक्षक बच्चों की हरकतों का सूक्ष्म अध्ययन करे और उनका हल शान्तिपूर्वक ढूँढे तो मुश्किल नहीं कि उसे कोई उपाय न सूझे। इसके लिए उसे परिश्रम करना पड़ेगा। उसे बाल-मनोविज्ञान का विशेष अध्ययन करना होगा।

दण्ड देकर या भय दिखाकर बच्चों से काम करा लेना, पाठ याद करा लेना, उन्हें चुप करा देना, सही शिक्षण नहीं है। अगर बाल स्वभाव को, बच्चे की मानसिक स्थिति को समझा जाय तो मारने-पीटने की आवश्यकता ही न पड़े और शिक्षक बच्चे को विकास की सही दिशा की ओर मोड़ सकता है।

बस, चाहिए धीरज, परखने और समझने की क्षमता। हर शिक्षक यह काम अपने जिम्मे ले सकता है और, कोई कारण नहीं कि यह सफल न हो।

●

जिसकी याद हमेशा ताजी रहेगी

•

करुणा कुमारी

पिछली १८ मई का दिन। दोपहर की तीखी धूप। ऐसे समय में पहुँची बरनपुर। आधे साथियों ने भोजन कर लिया था। बचे हुओं का भोजन खेत पर जाने लिए तैयार रखा था। कहावत है कि—'दाने दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।' मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। पहुँचते ही मैंने बाबा को प्रणाम किया तो उन्होंने आशीर्वाद स्वरूप कहा कि चलो, कुछ दिन अरुणा (मेरी बहन) किसान बनी, अब तुम बनने आयी। देखें टिकती हो या नहीं।

मैं अपने मन की पूरी तैयारी करके आयी थी। जो भी मुसीबत सामने आयेगी, बिना किसी से कहे झेलने की बात मैंने मन में तय कर ली थी। पहले काम में लगी हुई वहाँ एक दो बहनें थीं, वह भी २४ दिनों में चली गयीं। बच गयी मैं अकेली। गाँव का वातावरण। अकेले रहने का पहला मौका। कभी कभी जी घबराता और आन्तरिक भय दबाने लगता तो सोचती क्यों न छोड़ चलूँ फिर विवेक आगे बढ़कर कहता—'क्या तुम्हारे विचार इतने अस्थिर हैं। फिर तो दुनिया में तुम कुछ नहीं कर सकती।' विवेक के आगे हलके मन का अस्पष्ट निर्णय टिक नहीं पाता था।

गृहस्थी का सारा भार मैंने सँभाल लिया था। सारा काम करके जब कड़कड़ाती धूप में भाइयों का भोजन लेकर खेत पर जाती तो रास्ते में नहर की कल-कल ध्वनि दूर तक कानों में गूँजती रहती। मेड़ के एक तरफ सौम्य सरिता-सी नहर, दूसरी तरफ बबूल की झाड़ियाँ, हरी चुनरी ओढ़े धरती का मनमोहक रूप, झुण्ड के झुण्ड पशुओं का स्वच्छन्द भाव से मुक्त चरागाहों में विचरण। इस प्रकार के अनेक प्राकृतिक दृश्य देखकर ग्राम्य जीवन का सहज आकर्षण मूर्तिमान हो जाता और लगता-शहर के इक्के ताँगे और मोटर से तो गाँव की पैदल यात्रा में अधिक आनन्द है। इस प्रकार की मूक रसानुभूति के बीच मीलों की यात्रा कब पूरी हो जाती, पता न चलता।

एक दिन की बात है कि जोर की आँधी आयी, पानी आया। घर में एक इंच सूखी जगह नहीं रह गयी। रहने वाला घर घास फूस का कामचलाऊ बना था। ऊपर से गीली मिट्टी गिरने लगी। किताब-कापियाँ, बिस्तर, पहनने के कपड़े तक गीले हो गये। फिर भी किसी के चेहरे पर सिकुड़न नहीं आयी। मुझे तो आनन्द मिल रहा था। रात को गाँव में जाकर सोने की बात थी। संयोगवश कुछ समय बाद ही मतवाले बादल अपना बसेरा ढूँढने कहीं दूर देश चले गये। हमलोगों को मौका मिला। खाट बाहर निकाल कर खुले आसमान के नीचे दिन भर की थकान मिटाने के लिए निकल आये और विश्राम करने लगे। मन में भय था कि गीले बिस्तर पर सो रहे हैं, ठण्ढ लगेगी और बीमार तो जरूर पड़ेंगे, लेकिन दूसरे दिन किसी को जुकाम तक नहीं हुआ। अपनी परिस्थिति देखकर अनेक बार मन में विचार आया कि हमारे देश में इसी प्रकार असंख्य भूखे, नंगे प्रति दिन गरमी, सरदी और बरसात की परवाह किये बिना खेतों पर श्रम-देवता का पूजन-अर्चन करते रहते हैं किन्तु आज के समाज में उनको कितना

[शेष पृष्ठ ७० पर]

विना श्रेणियों का हाईस्कूल

•

क्रिस नटलर

अमेरिका के मैल्बोर्न—फ्लोरिडा—में शिक्षा के क्षेत्र में एक नये विचार को मूर्त रूप दिया जा रहा है। वहाँ एक अनूठा हाईस्कूल है, जिसकी विशेषता है कि उसमें छात्र हा निश्चित करते हैं कि वे कौन सा पाठ्यक्रम अपनायेंगे। उन्हें पूरी छूट रहती है कि वे जिस गति से चाहें, विषयों को सीख पढ़ सकते हैं।

यह अमेरिका का पहला हाईस्कूल है, जहाँ श्रेणियाँ नहीं हैं। इसका नया सत्र सितम्बर '६१ से आरम्भ हुआ है। इस प्रयोग का सम्पूर्ण श्रेय डा बी फ्रैंक को है, जो इस स्कूल के प्रिंसिपल हैं। इस स्कूल का प्रमुख उद्देश्य है—वर्ष भर एक ही श्रेणी में पढ़ने की पद्धति को समाप्त कर देना। यहाँ विद्यार्थी अपनी योग्यता के अनुसार जितनी तेजी से चाहे, आगे बढ़ सकता है।

इस शाला का लक्ष्य ऐसे विद्यार्थी तैयार करना है, जो अपनी सूझ बूझ से काम ले सकें और किसी विषय की जानकारी प्राप्त होने की इच्छा उत्पन्न होने पर स्वयं जानने का प्रयत्न कर सकें।

इस कार्य के लिए स्कूल में श्रेणियाँ समाप्त कर दी गयी हैं और शिक्षक अब छात्रों को पढ़ाने के बजाय उनका मार्ग निर्देशन मात्र करते हैं।

ऐसा विश्वास है कि जब छात्रों को श्रेणियों के चक्कर से नहीं गुजरना होगा तो वे अधिक अच्छा कार्य कर सकेंगे। जब छात्रों को स्वयं यह चुनाव करना हो कि वे क्या-क्या पढ़ना चाहते हैं तो इस बात की गुंजाइश नहीं रहती कि उनके तीन वर्ष बेकार चले जायेंगे।

यहाँ से पढ़ाई पूरी करके निकलने के लिए आवश्यक है कि छात्र तीन वर्ष तक तो समाजशास्त्र का अध्ययन करें और दो वर्ष तक विज्ञान तथा गणित का अध्ययन करने के साथ-साथ व्यवसाय की शिक्षा लें। छात्राओं को घरेलू अर्थशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है।

जब कोई छात्र स्कूल में पहले पहल आता है तो उसे अपनी योग्यता के मूल्यांकन के लिए परीक्षा देनी पड़ती है।

वर्ष भर की अवधिवाली श्रेणियों या कक्षाओं के स्थान पर 'चरणों' का प्रयोग होना है, जिससे नये चरण के सफलता-स्तरों को प्राप्त करने में समर्थ होते ही छात्र एक चरण से दूसरे चरण में जा सकते हैं। सफलता स्तरों में पहला चरण निम्नतम और पाँचवाँ चरण उच्चतम स्तर होता है।

स्कूल के १९०० छात्रों का बहुत ही न्यून प्रतिशत पहले चरण में है और उनमें अधिकांश पढ़ने सम्बन्धी दोषों के निवारणार्थ बनी कक्षाओं में भरती हैं।

जबतक कोई छात्र अच्छी तरह पढ़ना नहीं सीख लेता, तबतक के लिए उसकी वही कक्षा रहती है। जैसे-जैसे वह प्रगति करता जाता है, उसे चरणगत प्रगति के मूल्यांकन के फलस्वरूप ऊँचे अंक मिलते जाते हैं। ऐसा भी हुआ है कि अनेक छात्र शिक्षक के निर्धारित स्तर से बढ़कर प्रगति करने में समर्थ हुए हैं।

स्कूल के पाठ्यक्रम में न केवल प्रामाणिक माध्यमिक स्कूल के विषय सम्मिलित हैं बल्कि कालेज-स्तर का उच्चतर रसायन और भौतिक विज्ञान, सृजनात्मक कलाएँ तथा भाषाएँ, जिनमें चीनी रूसी, स्पेनिश, जर्मन,

फ्रेंच और लैटिन शामिल हैं, पठन-पाठन का विषय हैं। छात्रों को प्रश्नों का उत्तर नहीं बताया जाता, बल्कि उन्हें समस्याएँ दी जाती हैं और उनका उत्तर ढूँढ़ निकालने के लिए कहा जाता है।

एक के बाद दूसरी खोज करने के फलस्वरूप बहुत से छात्र एक 'खोज कार्यक्रम' के लिए तैयार हो जाते हैं, जो ज्ञानार्जन के स्तरों में 'पाँचवाँ चरण' है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छात्र जटिल समस्याओं की बड़ी-बड़ी खोजें करते हैं अथवा कलाओं के क्षेत्र में गहरी पैठ हासिल करते हैं। इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आवश्यक है कि छात्र हाईस्कूल के स्तर से ऊपर की आधारभूत शिक्षा पहले प्राप्त करें, फिर ज्ञान की खोज करें।

विश्वास है कि भविष्य के स्कूल ऐसे होंगे, जो इस प्रकार के अनुसन्धान कार्यों के लिए व्यक्तिगत अध्ययन की विशेष सुविधा प्रदान कर सकेंगे।

इस कार्यक्रम का महत्त्व उस समय प्रदर्शित हुआ, जब खोज सम्बन्धी चरण के छात्र 'जिम चेर्निyक' ने यह खोज की कि किसी जीवधारी के शरीर से स्नायु तन्तुओं को बाहर निकाल कर किस प्रकार जीवित रखा जा सकता है और किस प्रकार स्नायविक विद्युत संकेतों को सम्प्रेषित करने सम्बन्धी क्षमता का माप किया जा सकता है।

चिकित्सा और विज्ञान के क्षेत्र में उसकी खोज की सराहना की गयी और हाईस्कूल के उस छात्र को वेस्टिंग हाउस इलेक्ट्रिक कार्पोरेशन की 'राष्ट्रीय विज्ञान-प्रतिभा खोज' नामक वार्षिक प्रतियोगिता में सर्वोच्च पुरस्कार प्रदान किया गया।

पिछले तीन वर्षों में, छात्रों ने विज्ञान और गणित की प्रतियोगिताओं में बड़े-बड़े सम्मान प्राप्त किये हैं, इसलिए अमेरिका के सभी भागों के शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान इस स्कूल की ओर आकृष्ट हुआ है। अनुमान है कि इस वर्ष देश के सर्व प्रमुख २५ स्कूल कक्षा विहीन श्रेणियों की ओर उन्मुख होंगे। अगले पाँच वर्षों के भीतर यह शिक्षा-पद्धति अधिकांश स्कूलों में, सभी स्तरों पर अपना ली जायेगी, ऐसा कहा जा सकता है।

●

[पृष्ठ ६८ का शेषांश]

सम्मान प्राप्त है। मन खीझ उठता और सफेदपोशों के प्रति घृणा के भाव उभर आते। इसी प्रकार अनेक प्रश्नचिह्न बनते-मिटते। सोचती और सोचते सोचते जाने कब सो जाती।

कुछ दिनों बाद असम से बाबा लौटे। मकान के ऊपर बड़ी मेहनत से छप्पर डाला गया। परिस्थिति बहुत कुछ बदल चुकी थी, लेकिन फिर भी दिन रात तूफान के आगे छप्पर उजड़ न जाय, इसकी तरकीब हमेशा लोग सोचते रहते। कई बार तो रात को जोर की आँधी भी आयी और हम लोग अँधेरे में ही अन्दर कमरे में भाग जाते। सबके दिमाग में एक ही बात रहती—छप्पर उजड़ न जाय, उड़ न जाय। बिना कुछ बाँधे, किसी को इस तूफानी रात में नींद न आती। कोई लकड़ी लाता तो कोई रस्सी। कोई टार्च दिखाता तो कोई छप्पर बाँधने बैठता। दो-तीन घंटे पूज्य बाबा का यह रात्रि नाटक चलता ही।

जब तक बाबा रहते, रात हो या दिन, जो बात उनके दिमाग में आती, हममें से जो कोई भी उनके पास होता, अपनी योजना बता देते। बाबा की हरएक बात में जवानी झलकती।

बरनपुर में जो कुछ मैंने पाया, वह जीवन की बहुमूल्य वस्तुओं में से है। सवा महीने देखते-देखते बीत गये। आखिर एक दिन ऐसा आया जब मुझे वहाँ से विदाई लेनी पड़ी। ऊषा की स्निग्ध छाया में मैंने जब वहाँ से प्रस्थान किया तो पीछे मुड़कर देखती जाती। ऐसा लगता कि वह कुटिया मेरे पीछे पीछे आ रही है। वह मुझे छोड़ना नहीं चाहती, मैं भी उसे छोड़ना नहीं चाहती थी, लेकिन काल चक्र को हमारा मिलन पसन्द नहीं था। मैं दूर हूँ, फिर भी बरनपुर के निकट हूँ।

★

साम्यवादी पूर्वी जर्मनी में शिक्षण

★

सतीश कुमार

शिक्षक के हाथ में सारे देश के भविष्य का निर्माण रहता है, इस तथ्य को वस्तुतः यहाँ समझा गया है और उसके कन्धों पर जैसा बड़ा उत्तरदायित्व है, वैसा ही ऊँचा उसका आदर भी है । शिक्षक पर विद्यालय में वर्ग लेने मात्र की जिम्मेदारी नहीं; बल्कि वह विद्यार्थियों के माता-पिताओं से सलाह-मशविरा करता है, बालक के जीवन पर किसी तरह का मनोवैज्ञानिक दबाव न हो, उसके स्वाभाविक विकास में किसी तरह की बाधा न हो, इस पर विशेष रूप से ध्यान देता है ।

पूर्वी जर्मनी में उद्योग, कृषि आदि सभी व्यवस्थाएँ समाजवादी प्रणाली पर आधारित हैं। शिक्षण का आधार भी समाजवाद ही है। बालक को ऐसा शिक्षण मिले, ताकि वह व्यक्तिवादी या पूँजीवादी न बनकर समाजवादी दृष्टि सीखे, यह शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है, और इसीलिए शिक्षण में विज्ञान का आधार प्रमुख है।

पूर्वी जर्मनी में हमने १८ दिन बिताये और इस बीच शिशु-शाला से लेकर उच्च विद्यालयों तक का अवलोकन किया। जब कभी भी रास्ते में चलते समय हमें कोई विद्यालय मिलता, हम उसमें अवश्य पहुँचते। विद्यालयों में अकसर हमारी सभाएँ होतीं। अध्यापकों के साथ वाद-विवाद होता। हमने सोवियत-रूस, पोलैंड और पूर्वी जर्मनी, इन तीन साम्यवादी देशों की छः महीने यात्रा की और हमने पाया कि इन देशों में बालक के समुचित विकास और वैज्ञानिक शिक्षण की तरफ समाज विशेष रूप से ध्यान देता है। इन देशों के बालकों जैसा सौभाग्यशाली दूसरा शायद ही कोई हो। बालक समाज की और राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति बनकर यहाँ रहता है और उसी स्तर पर उस की सार सँभाल भी होती है; क्योंकि बालक के विकास की सम्पूर्ण जिम्मेदारी समाज पर है; इसलिए उसके प्रारम्भिक शिक्षण से लेकर विश्वविद्यालय तक के शिक्षण की अनिवार्य और निःशुल्क व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व है।

हमने जितने विद्यालय देखे, उनमें शिक्षण के साथ उद्योग का विशिष्ट स्थान हमने पाया। श्रम ही जीवन का सच्चा मूल्य है और बिना श्रम किये, समाज पर भार बनकर बिताया जाने वाला जीवन एक तरह का सामाजिक अपराध है, इस तरह की भावना का विकास प्रारम्भ से होने लगता है। इसीलिए विद्यालयों में केवल किताबों का बोझ दिमाग पर लादते रहने की शिक्षण विधि का उन्मूलन करके प्रत्येक विद्यालय में उद्योगशाला, प्रयोगशाला और कार्य के माध्यम से शिक्षण को विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्पादन का ढंग, मशीनों का सञ्चालन और विज्ञान का उद्योगों के साथ समन्वय आदि प्रक्रियाओं का शिक्षण प्रत्येक विद्यालय का आवश्यक अंग है।

हमने अनेक विद्यालयों में देखा कि किस तरह पाँचवीं-सातवीं कक्षा के छोटे विद्यार्थी भी छोटी-छोटी

मशीनों का संचालन बड़ी चतुराई के साथ करते थे। सातवीं कक्षा से बारहवीं कक्षा तक के विद्यार्थी सप्ताह में एक दिन विद्यालय में जाकर पढ़ने के बजाय किसी कारखाने में या खेत पर जाकर व्यावहारिक और सक्रिय शिक्षण प्राप्त करते हैं। विद्यार्थीगण कारखानों में इस दृष्टि से भी देखते हैं कि आगे चलकर उन्हें किस तरह के काम में जाना है और जब वे अपनी रुचि के अनुसार काम का चुनाव कर लेते हैं, तब उन्हें उसी काम का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। उद्योग सम्पन्न पूर्वी जर्मनी में ६८ प्रतिशत लोग उद्योग, व्यापार और यातायात के काम में लगे हैं और केवल १८ प्रतिशत लोग कृषि और वन विभाग में लगे हैं।

बालक के विकास की तरफ समाज और राज्य जिस तरह विशेष ध्यान देता है, उसी तरह शिक्षक को भी उसका विशिष्ट स्थान और सम्मान प्राप्त होता है। भारत में शिक्षक के प्रति जो उपेक्षा है, उसका तनिक भी दर्शन यहाँ नहीं होता। शिक्षक के हाथ में सारे देश के भविष्य का निर्माण रहता है इस तथ्य को वस्तुतः यहाँ समझा गया है और उसके कन्धों पर जैसा बड़ा उत्तरदायित्व है, वैसा ही ऊँचा उसका आदर भी है। शिक्षक पर विद्यालय में वर्ग लेने मात्र की जिम्मेदारी नहीं, बल्कि वह विद्यार्थियों के घरों में जाता है, माता पिताओं से विशेष सलाह मशविरा करता है, बालक के जीवन पर किसी तरह का मनोवैज्ञानिक दबाव न हो, उसके स्वाभाविक विकास में किसी तरह की बाधा न हो, इस पर विशेष रूप से ध्यान देता है।

लगभग सभी विद्यार्थी बाल संगठन (पायोनियर) या युवक संगठन के सदस्य होते हैं। ये संगठन विविध खेल कूद, मनोरंजन, प्रतियोगिताएँ आदि का आयोजन करते हैं। उच्च शिक्षण प्राप्त करने वालों के लिए न केवल शिक्षण ही मुफ्त है, बल्कि ९० प्रतिशत छात्रों को छात्रवृत्ति मिलती है। माता पिता बच्चे के समुचित शिक्षण के लिए पूरी तरह निश्चिन्त होते हैं। १८ साल से कम उम्र का बच्चा किसी भी घरेलू या सार्वजनिक, खेती या कारखाने के काम में वेतन देकर मजदूर या नौकर नहीं रखा जा सकता।

बालक का एक ही काम है—अपने शरीर और *मस्तिष्क का समुचित विकास करना। इतना संगठित,* संयोजित, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बाल विकास का प्रबन्ध सचमुच गांधाजी की नयी तालीम की शिक्षण पद्धति का ही एक नमूना है।

पहले बच्चे के जन्म पर राज्य की तरफ से माता *को ५०० जर्मन मार्क प्राप्त होते हैं और पाँचवे बच्चे* तक यह रकम बढ़ते-बढ़ते १००० जर्मन मार्क तक पहुँच जाती है, ताकि जन्म से ही बच्चे की तरफ पूरा पूरा ध्यान दिया जा सके। किंडरगार्टनों में, जो कि प्राय हर छोटे-छोटे गाँव में फैले हुए हैं, बच्चों के खाने, सोने, खेलने आदि की *पर्याप्त व्यवस्था उपलब्ध* होती है। हमने अनेक किंडरगार्टन देखे। वहाँ के बच्चों में पहुँचकर चित्त प्रसन्नता से खिल उठता था।

☆

हमें यदि अहिंसा के रास्ते जाना हो तो उससे उल्टा रास्ता हमारे लिए बिलकुल बन्द होना चाहिए। यदि हम अधूरी श्रद्धा से चलेंगे तो कुछ भी लाभ नहीं होगा। अहिंसा के मार्ग में जरा भी असफल हुए कि हिंसा की ओर चले, यह ठीक नहीं।

—किशोरलाल मश्रूवाला

हमारी चाह, उनकी राह

•

राममूर्ति

कांग्रेस ने तय किया है कि उसके कुछ चोटी के नेता शासन का काम छोड़कर संगठन का काम करेंगे। जब वे शासन में थे तो उनके सामने पूरा देश था, अब केवल अपनी पार्टी रहेगी। उनके कार्य का लक्ष्य यह होगा कि सत्ता कांग्रेस के हाथ से निकलने न पाये, उसका शासन अखण्ड चलता रहे।

इसमें शक नहीं कि पार्लियामेंटरी लोकतन्त्र के इतिहास में यह कदम अनोखा है। कांग्रेस के बाहर के भी कई लोगों ने 'त्याग' का नाम देकर इस कदम का स्वागत किया है, और यह कहा है कि इससे देश की निगाह सत्ता से हटकर सेवा की ओर जायेगी और देश के गैरसरकारी सार्वजनिक जीवन को बल मिलेगा। स्वराज्य के पन्द्रह वर्षों में जिस तरह एक के बाद दूसरी पार्टियों के भीतर गुट बनते गये तथा सत्ता जिस तरह देश के जीवन के हर पहलू पर हावी हो गयी उससे स्वयं पार्टियां कमजोर हुईं और जन जीवन तो पंगु ही हो गया।

स्वभावतः कांग्रेस की हालत देखकर उसके नेताओं को चिन्ता हुई और उन्होंने तय किया कि संगठन को चुस्त करना चाहिए, ताकि सरकार को संगठन की तथा संगठन को सरकार की शक्ति का पूरा लाभ मिल सके। उन्होंने महसूस किया कि बाहर की शक्ति के बिना केवल शासन की शक्ति काफी नहीं है। सरकार को पार्टी का बल चाहिए, और पार्टी को सरकार की प्रतिष्ठा, दोनों को जनता का समर्थन और सहयोग चाहिए, जिसे प्राप्त करना संगठन का काम है।

अगर इस देश में कांग्रेस ही कांग्रेस होती तो नेताओं के इस कदम से बिजली का असर होता, क्योंकि लोग समझते कि गांधीजी ने १९४८ में कांग्रेस को जो सलाह दी थी उसका १९६३ में कुछ असर तो हुआ। लेकिन, स्वराज्य की लड़ाई के दिनों की तरह अब देश और कांग्रेस एक नहीं हैं, विभिन्न मत हैं, विभिन्न दल हैं। शासन भले ही कांग्रेस के हाथ में हो, लेकिन कांग्रेस पूरे देश का प्रतिनिधित्व नहीं करती। देश कांग्रेस से बड़ा है, कांग्रेस ही नहीं, सब पार्टियों को मिलाकर भी बड़ा है। क्या कांग्रेस के इस कदम से जनता के सामने पार्टी से ऊपर देश का चित्र प्रस्तुत हो सकेगा? या, पार्टियों के बीच पहिले से भी अधिक कटु और तीव्र प्रतिद्वन्द्विता की भूमिका बनेगी?

अगर, सचमुच इस 'त्याग' के पीछे देश की भूमिका होती तो चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति में समान कार्यक्रम के आधार पर अधिक से अधिक व्यापक राष्ट्रीय सरकार बनती, और गाँव गाँव 'म पार्टियों की सेल' और सरकार का 'तन्त्र' फैलाने के बजाय सबकी ओर से सामूहिक, आत्मनिर्भर, स्वतन्त्र लोकशक्ति संगठित करने का प्रयत्न होता। इस कदम में इस तरह का कोई संकेत नहीं है। संकट में भी कांग्रेस अपनी सीमित परिधि के बाहर नहीं निकल सकी, नेहरू भी नहीं निकल सके। उन्होंने तो शासन से भी निकलना जरूरी नहीं समझा।

निश्चित ही जब १९४८ में गांधीजी ने कांग्रेस

को 'लोक सेवक संघ' में परिणत हो जाने की सलाह दी थी तो उनके मन में कांग्रेस का दूसरा रूप था; देश के विकास का दूसरा चित्र था। वह 'लोक सेवक संघ' को निष्पक्ष, निर्भय, सत्य का प्रतिनिधि बनाना चाहते थे। उनकी योजना सत्ता पर सेवा के अंकुश की थी। उन्होंने जनता की अधिक से अधिक शासन-मुक्ति की कल्पना की थी; लेकिन इन सारे विचारों के विपरीत कांग्रेस आज भी इसी विचार पर दृढ़ है कि सेवा सत्ता का साधन है, इसलिए स्पष्ट है कि उसका यह 'त्याग' देश के लिए नहीं, पार्टी के लिए है, सेवा के लिए नहीं, स्वार्थ के लिए है। इस त्याग में भोग की गन्ध है।

इस तर्क के उत्तर में यह कहा जायेगा कि लोकतन्त्र में संगठित पार्टी लोकशक्ति का माध्यम है; इसलिए उसका संगठन आवश्यक है। अवश्य, अगर यह निर्विवाद हो कि लोकतन्त्र में पार्टी का कोई विकल्प है ही नहीं, तो निस्सन्देह सारी बुराइयों के होते हुए भी पार्टी ठीक है और उसका संगठन होना चाहिए; लेकिन गांधीजी का समस्त राजनीतिक और आर्थिक दर्शन और शान्ति शास्त्र इसी आधार पर बना है कि शोषण और दमन से अधिक से अधिक जनता की मुक्ति हो। वह पूँजी को शोषण का और दंड शक्ति (राज्य) को दमन का स्रोत मानते थे, इसलिए जनता की श्रमशक्ति और सहकार शक्ति को संगठन का आधार बनाना चाहते थे। उनकी योजना में पार्टियों में बँटी हुई, प्रतिद्वन्द्विता में लिप्त, खंडित जन शक्ति और सर्व शक्ति सम्पन्न राज्य सत्ता का चित्र नहीं था।

अगर एक बार हम शासन-निरपेक्ष, सहकारी ग्राम और नगर इकाइयों की बात मान लें तो लोकतन्त्र प्रतिनिधि-तन्त्र (रेप्रेजेन्टेशन) मात्र न रहकर बुनियाद में भाईचारा (पार्टिसिपेशन) बन जायेगा। इस रचना में बुनियाद की इकाई में सरकार बिल्कुल नहीं होगी और ऊपर की इकाइयों में भी उसका अस्तित्व पूरक शक्ति के रूप में लेकिन 'कम-से-कम' होगा। इसके विरुद्ध कांग्रेस ने पिछले पन्द्रह वर्षों में ऐसे कल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) का विकास किया है, जिसमें सरकार ही 'सबकुछ' है, और जिसमें सहकार का इतना ही अर्थ है कि जनता वोट और टैक्स दे दे तथा अपने कामों में सरकार द्वारा नियोजित और सचालित होती रहे। अपने इसी समाज दर्शन की घोषणा कांग्रेस ने की है, और इसी को आगे बढ़ाने के लिए वह कटिबद्ध भी है।

लेकिन, लोकतन्त्र का इतिहास पुकार पुकार कर कह रहा है कि बहुमत अल्पमत के आधार पर संगठित लोकतन्त्र में जनता की समता और स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। ऐसा लोकतन्त्र कल्याणवाद से मिलकर बहुत शीघ्र दमन-तन्त्र बन जाता है; इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से अब पार्टी का लोकतन्त्र राजनीतिक सामाजिक संगठन के विकास में अगला कदम नहीं है। अब तो लोकतन्त्र का विकास शासन मुक्ति की दिशा में ही होना चाहिए। पार्टी मुक्ति उस ओर ले जानेवाला आवश्यक कदम है। कांग्रेस ने इतिहास का यह संकेत नहीं समझा। सत्ता और सम्पत्ति पर चलनेवाली मध्यमवर्गीय राजनीति और अर्थनीति का चश्मा लगा रहने पर इसी तरह बड़े से बड़े लोगों की भी दृष्टि धूमिल हो जाती है।

दुर्भाग्य यह है कि लोकतन्त्र के नाम में जनता को असहाय होकर पार्टीबन्दी के हाथों होनेवाले अपने सर्वनाश का नाटक देखना पड़ रहा है। वह निराश है, निरुपाय है; लेकिन देश के पिछले पन्द्रह वर्षों का इतिहास जनता के इस मूक निर्णय का साक्षी है कि वह अब दलपतियों की ललकार पर करवट नहीं बदलनेवाली है, उसे न उनके द्वारा होने वाले निर्माण मे रुचि है, और न उनके 'गृहयुद्ध' में। वह प्रतीक्षा कर रही है उस वाणी की, जो, उसकी, छिपी, हुई, नैतिक शक्ति, को, चमका, दे, जो उसकी स्वतन्त्रता को पार्टी के नेता और सरकार के नौकर के हाथों से निकालकर वापस उसके हाथों में सौंप दे। कांग्रेस यह काम कर सकती थी; लेकिन वह अपने में इतिहास का संकेत समझने की शक्ति नहीं विकसित कर सकी।

इस अणु युग में अगर कांग्रेस ने अपनी सत्ता

से ऊपर उठकर विश्व-परिस्थिति पर ध्यान दिया होता तो स्पष्ट हो जाता कि पार्टी सरकार और 'वेल्फेयर स्टेट' का न विश्व शान्ति के विचार से मेल बैठता है, न देश के भीतर सहकारी समाज के विकास के आदर्श से। विश्व-शान्ति और विश्व मैत्री तभी सम्भव है जब जन जीवन सत्ता के 'कल्याणवाद' से मुक्त हो जाय, जब किसी देश की आवाज वहाँ की जनता की आवाज मानी जाय, न कि वहाँ की सरकार की। अलग अलग राष्ट्रों की सरकारों को मिलाकर विश्व परिवार की रचना की कल्पना नहीं का जा सकती। जो सरकार अपने घर में संघर्ष पर पलती है, वह बाहर युद्ध की बात सोचेगी, शान्ति की नहीं। कांग्रेस के लिए अवसर था कि वह भारत में समस्त जनता की आवाज बन जाती, लेकिन उसने रास्ता हा दूसरा चुना।

छोड़ें देश को और दुनिया को, छोड़ें गांधी को और इतिहास को, फिर भी क्या केवल कुछ मंत्रियों के बाहर निकल जाने से कांग्रेस का संगठन और कांग्रेस की सरकार शुद्ध और पुष्ट हो जायेगी? अगर इतना भी हो जाय तो हम मान लेंगे कि आज की परिस्थिति में कुछ कम नहीं हुआ, लेकिन हमें भय है कि कहीं ऐसा न हो कि कांग्रेस में भी सेना की भावना न बढ़कर नेताशाही ही बढ़ सामूहिक निर्णय खत्म हो और कुछ चुने हुए नेताओं के हाथों में शक्ति केन्द्रित होती जाय और कांग्रेस नीचे से ऊपर तक एक फौलादी तन्त्र बन जाय। इसके अलावा यह भी हो सकता है कि संगठन में प्रगतिशील तत्व कम जोर पड़ें और प्रतिक्रियावादी तत्व संगठित हों। उस वक्त अपने ही संगठन की इस परिस्थिति का नेतृत्व पर क्या असर होगा? इस नयी व्यूहरचना से देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल में किस तरह का नेतृत्व विकसित होता है, इसका देश के विकास में बड़ा महत्व होगा।

'लीडरशिप' की विफलता का हमारे पड़ोसी देशों में क्या परिणाम हुआ है, इसे देख रहे हैं। सामान्य जनता अच्छी सरकार चाहती है उसे मजबूत पार्टी से संतोष नहीं है। अब नेताओं की सरकार से उसकी समस्याएँ हल नहीं होतीं तो वह सेना की सरकार की ओर मुड़ती है। मानना पड़ेगा कि इतने वर्षों में जनता की मूल समस्याओं को जिस तरह हल करने की कोशिश की गयी है उससे उसके मन को समाधान नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, नेतृत्व में जिस तेजी से पैसावाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि का विष फैला है और शासन में जिस तजी से नौकरशाही का बोलबाला बढ़ता जा रहा है उससे इस देश में प्रचलित लोकतन्त्र के लिए भी आशंकाएँ बढ़ती जा रही हैं, इसलिए अगर यह नया कदम, पार्टी के द्वारा ही सही, लोगों की आवाज सरकार में पहुँचा सके और उसे अपने मतदाता और करदाता के प्रति जिम्मेदार बना सके तो नेताओं के 'त्याग' का कुछ फल जनता को भी मिल जायेगा।

हम लोकहित की दृष्टि से किये जानेवाले हर काम की सफलता की कामना करते हैं। हम चाहते तो यह थे कि लोकहित के रास्ते में पार्टी हित को न आने दिया जाय लेकिन नेताओं ने हमारी चाह की परवाह न करके अपनी ही राह ठीक समझी। हम *प्रसन्नता होगी—अगर हमारी आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध* हों और आकांक्षाएँ पूरी हों।

●

जबतक दार्शनिक लोग शासक नहीं बन जाते या जबतक शासक लोग दर्शन-शास्त्र नहीं पढ़ लेते तबतक आदमी की मुसीबतों का अंत नहीं हो सकता।

—अफलातून

श्रम-जयन्ती

•

रामचन्द्र 'राही'

"अरे! खेत से सारा पानी बह रहा है, और तुमलोग अभी तक सोये हुए हो? इस तरह भला कहीं किसानी होती है?" —बरसात की भीगी हुई कुछ सर्द हवाओं का स्पर्श पाकर सचमुच हम नींद की गहराई में थे और उठने की घड़ी शायद बहुत पहले ही बज चुकी थी तभी यह आवाज सुनाई पड़ी, आँखें खुलीं और खिड़की से झाँक कर देखा तो पूज्य धीरेन भाई (जिन्हें श्रद्धा से श्रमभारती परिवार के हम बच्चे बाबा कहते हैं) अपनी बरसाती पहने हाथ में कुदाल लिये सम्भवत खेत से लौटकर बाहर खड़े पुकार रहे हैं। लगा कि हमारी अलसाई हुई नौजवानी को एक चुस्त जवानी बुढ़ापे की देहलीज से ललकार रही है।

जी हाँ! कर्ममय साधना की तिरसठ कठिन मंजिलें पार कर आज भी चिर युवा पूज्य धीरेन भाई विशिष्टता के आवरणों से मुक्त सामान्य मनुष्य के रूप में धन, अधिकार और सम्मान की चहारदीवारियों में घिरे धर्म, सम्प्रदाय तथा इसी प्रकार के अनेक टुकड़ों में विभक्त वर्तमान समाज के लिए खेत की एक मेड़ पर चुनौती बनकर खड़े हैं। उनकी जीवन-यात्रा एक साहसी अन्वेषक के नाते अपने आप में अहिंसक क्रान्ति की एक प्रक्रिया है।

विज्ञान की केंद्रित शक्ति और विशेषज्ञता के परिणाम स्वरूप मानव विकास का इतिहास अबतक की सबसे ऊँची मंजिल पर पहुँच कर व्यक्ति, समाज और सृष्टि की जिन्दगी के संक्रमणकाल से गुजर रहा है। इस नाजुक परिस्थिति में 'अहिंसक क्रान्ति का वाहन समग्र नयी तालीम' नये युग के निर्माण के लिए एक नया छोर है। पूज्य धीरेन भाई में जीवन के लिए संघर्ष द्वारा प्राप्त विद्युत शक्ति का स्रोत तो है ही, हिंसक क्रान्ति में आस्था रखने वालों के अन्दर प्रतिपक्षी को कत्ल कर देने तक की, जो तीव्रता होती है, अहिंसक क्रान्ति में वर्ग निराकरण की दिशा में बढ़ने की उसी कोटि की तीव्रता उनमें सहज ही दीख पड़ती है।

विज्ञान और आत्मज्ञान का समन्वय हमारी आकांक्षा ही नहीं, इस युग की आवश्यकता है। पूज्य धीरेन भाई का व्यक्तित्व क्रान्ति की साधना और वैज्ञानिकता का मिश्रण है, और इसलिए आज वे एक क्रान्तिकारी शिक्षक के रूप में सुदूर देहात में रहते हुए भी उस नये क्षितिज की ओर बढ़ने में हमारे लिए प्रेरणा के केन्द्र हैं।

जिनके जीवन को टुकड़ों में विभक्त कर नहीं देखा जा सकता, जिनकी अनुभूति, आकांक्षा, चिन्तन और क्रियात्मकता में विरोधाभास ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता, मानवता की नयी मंजिल के अन्वेषक, अहिंसक क्रान्ति के साधक, फिर भी सामान्य समाज के साधारण नागरिक पूज्य धीरेन भाई को उनकी ६४वीं श्रमजयन्ती के अवसर पर शत शत वन्दन!

•

आचार्य धीरेनभाई

•

त्रिलोचन

बुनियादी शिक्षा पद्धति के विचारकों में श्री धीरेन्द्र मजूमदार का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उन्होंने इस शिक्षा पद्धति में व्यावहारिक सुझावों के साथ अनेक नये सूत्र जोड़े हैं। बुनियादी शिक्षा पद्धति की क्रमबद्ध कल्पना महात्मा गांधी के मन में उदित हुई थी। महात्मा गांधी मूलतः जीवन दार्शनिक थे। इसी कारण उन्होंने जीवन को सभी दिशाओं और सम्भावनाओं में देखने और परखने का अपने ढंग से प्रयत्न किया। उन्होंने सत्य का प्रयोग अपने जीवन में तो किया ही, अपने सहकारियों को भी उससे संयुक्त रखा। उनके द्वारा चलाये हुए अनेक महत्वपूर्ण कार्यों में शिक्षा सम्बन्धी उनकी कल्पनाओं का अन्यतम महत्त्व है। निश्चय, वे बुनियादी शिक्षा पद्धति के अग्रदूत थे, पर उस पद्धति की रूपरेखा और व्यवस्था अनेक विचारकों द्वारा उत्तरोत्तर विकसित हुई है। उनमें स्व० किशोरलाल मशरूवाला, आचार्य विनोबा और धीरेन्द्र मजूमदार प्रमुख तत्त्वचिन्तकों में हैं।

शिक्षा उतनी ही पुरानी है, जितनी मानव जाति। बुद्धि का विकास भी उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है, जिसका आधार शिक्षार्थी का जीवन और वातावरण होता है। क्योंकि विकास के साथ शिक्षार्थी अपनी विशेष प्रवृत्ति से वातावरण का अतिक्रमण करके अतिरिक्त भी हो सकता है। इसके प्रमाण सभी जगहों में मिलते रहे हैं, लेकिन वे पर्याप्त विरल हैं।

आरम्भ में शिक्षा के लिए दण्ड का महत्त्व माना जाता था। अभी कुछ दिनों पहले इसकी निरर्थकता समझ में आयी है। फिर भी इसका प्रयोग अभी पूर्णतः बन्द नहीं हुआ है। यह सत्य है कि वातावरण से सहज रूप में प्राप्त ज्ञान पक्का और स्थायी होता है मगर वातावरण बदलने के साथ ही उसका पक्कापन और स्थायित्व डगमगा चलता है।

आदिम मानव समाज में, जो धन्धों की शिक्षा प्रचलित हुई वह आज भी है। हम देखते हैं कि नाई, लुहार, कुम्हार, बढ़ई, राजगीर आदि के बच्चे अपनी अपनी कलाओं में दूसरे बालकों से कहीं उत्तम होते हैं। पर, ये अपने धन्धों के कारण समाज में व्यावसायिक आधार ही पाते हैं। पूर्ण आधार इनको तब मिलता है, जब इनका बोलना चालना, उठना बैठना, कहना सुनना आदर्श जनों की कोटि का होने लगे। इसी को सभी कार्यों में शिक्षा का सामान्य स्तर माना गया है। इसके बिना इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, भौतिकी, रसायन आदि का ज्ञान अधूरा है।

अब यह प्रश्न आता है कि हम जीवन से शिक्षा किस प्रकार विकसित करेंगे? इस पर आचार्य धीरेन्द्र मजूमदार ने अपने ढंग से विचार किया है, और उन्होंने व्यवहार के सामने पुस्तकों के महत्त्व को नहीं माना है। अभ्यास के बिना उपलब्धि असम्भव है। अभ्यास की निरन्तरता से स्मृति पुष्ट होती है और

यही स्मृति अर्जित ज्ञान के बाद नये ज्ञान को अलग करके सचित करती चलती है। यह पृथक्करण, सचयन और नवग्रहण क्षण प्रति क्षण चलता है। शिक्षाविदों को इस प्रक्रिया पर ध्यान देना ही होगा।

और, आज वातावरण का अर्थ भी आमूलचूल परिवर्तित हो गया है। रेडियो, टेलिविजन, यातायात के साधन और चन्द रोज पहले का आविष्कृत उपग्रहअभियान ये सब हमारे शिक्षाविदों के सामने भी वातावरण का अर्थ बदलने की माँग लेकर उपस्थित हुए हैं। यह उन पर है कि वे इसके पृथक भूत ज्ञान की जगह जीवन का अविच्छेद्य अंग समझें और समझायें। निश्चय, मानव की सामाजिक प्रतिष्ठा स्थानीय आदर्शों के अनुसार होती है। इसी कारण उसकी शिक्षा का अधिकांश स्थानीय तत्वों से ही सघटित होता है। इसका शिक्षा मे वही महत्व है जो पृथ्वी पर घर का। इसके बिना रक्षण और पोषण असम्भव है।

आचार्य धीरेन भाई ने साधारण और असाधारण जैसी कोटियाँ स्वीकार की और साधारण को उन्होंने असाधारण से पृथक करने का प्रयत्न किया है, जबकि शिक्षा असाधारणता को साधारण की पहुँच में लाने का ही अध्यवसाय है। हमारे समाज में ज्ञान की अनेक कोटियाँ हैं। चरम कोटि की ओर सभी की आँखें इस कारण लगी रहती हैं कि वह सबका गतव्य स्थान है। सामाजिक मर्यादा सावधान बालक बिना सिखाये भी सीखता है। शेष अपने घर और समाज के अनुशासन द्वारा सीखते हैं।

यह शिक्षा सामाजिक मर्यादा के लिए आवश्यक है और जीवन की ज्ञान-यात्रा यहीं से शुरू होती है। आहार विहारादि क्रियाओं द्वारा मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों को और अधिक जीवन्त बनाता है। कभी कभी इस प्रक्रिया में विकार भी दिखाई देते हैं। इन विकारों का शमन समाज द्वारा पोषित विवेक आरम्भ में करने की चेष्टा करता है। उसके असफल होने पर समाज का दण्ड विधान काम करता है, लेकिन दण्ड विधान एक ओर दण्डित को कातर बनाता है और दूसरी ओर दर्शक को दुर्दण्ड होने की ओर प्रेरित करता है। समाज के नानामुख चिन्तकों के साथ इन समस्याओं का विचार शिक्षा शास्त्रियों को भी करना है। अर्थात ज्ञान और जीवन का जो पार्थक्य देखा और दिखाया जाता रहा है उसे अभिन्न देखना और दिखाना है।

धीरेन भाई की पुस्तकें उन सबके काम की हैं, जो शिक्षा पद्धति पर रचना समझना चाहते हैं। शिक्षक, शिक्षित, शिक्षा शास्त्री सब इनसे अपने अपने अनुसार लाभ उठा सकते हैं क्योंकि ये एक व्यावहारिक दार्शनिक की मनोरचना हैं।

o

नयी तालीम से धातुओं का ह्रास होकर उत्पादकों की वृद्धि होती है, क्योंकि यह शिक्षा-पद्धति हल, कुदाल, चरखा तथा निहाई और हथौड़ी के साथ जुड़ी होने के कारण प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति सहज ही उत्पादक बन जाता है और प्रत्येक उत्पादक को अपना उत्पादन कार्य करते हुए ही शिक्षित बन जाने का मौका मिलता है।

—धीरेन्द्र मजूमदार

कार्य की झलक

"इधर सम्पर्क का माध्यम खेती ही रही है। चारों पचायतों में सम्मिलित रूप से काम करने की कोशिश की गयी। एक एक करके अपने अपने क्षेत्र में जाने का तरीका तो चला ही आ रहा था। दो दो, तीन तीन, चार चार सम्मिलित भी गये। कुछ अच्छे नतीजे निकले, कुछ काम में शरीक होने में कठिनाई महसूस होती है। दो के साथ जाने से रास्ते में ही आगे पीछे की योजना बन जाती है, सम्पर्क भी समाधानकारक होता है। तीन चार की संख्या होते ही पदयात्रा का स्वरूप बन जाता है। धान खेती के दिनों में जिस दिन इकट्ठे गये, रोपाई सांस्कृतिक कार्यक्रम बन गयी। सब लोग मिलकर मालिक मजदूर के साथ काम में लग गये। रोपाई खत्म हुई। अगली रोपाई का निमन्त्रण वहीं मिल गया। सब की 'सह-यात्रा' अच्छी साबित हुई है।"

चकाई का सफाई-अभियान काफी सफल रहा है। अनायास ही अधिक लोगों से अच्छा परिचय हो गया। हमलोगों की अनुपस्थिति में भी सामूहिक सफाई का काम नागरिकों की ओर से अभी तक चलता आ रहा है। सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों में भी जागृति आयी है। चेचक का प्रकोप पूरी तरह समाप्त हो गया है। दो-चार दिनों के अन्दर ही वह सफाई का सामूहिक जोश समाप्त हो जायेगा, ऐसा लग रहा है।"

"काम की, संगठन की तथा अन्य अच्छाई महसूस होते हुए भी इस अपनी सामूहिक प्रक्रिया को तोड़ना पड़ा है। मासिक रिपोर्ट जब अपनी अपनी पचायतों की अलग अलग लिखनी पड़ी तो किसी की समझ में नहीं आता था कि क्या लिखा जाय। जिसकी पचायत में मिल जुलकर काम किया जाता था, उसकी रिपोर्ट के लिए काफी मसाला मिल जाता था। उसके चेहरे पर प्रसन्नता भी दिखाई पड़ती थी। अन्य साथियों को किसी तरह अपनी रिपोर्ट भरनी पड़ती थी।"

"फिर से सभी अपने अपने क्षेत्र में अकेले घूमने लगे हैं। उर्वा पचायत में मैं भी पहले चार दिन ही गया था। इस समय उर्वा के गांवों में घना सम्पर्क कायम करना ही अपना मुख्य कार्यक्रम बनाया है। कभी कभी अन्य पचायतों में भी चला जाता हूँ। परिचय तो करीब करीब कुल गाँवों से हो गया है। अपनी पचायत का जब से भान हुआ है। तब से विचार तथा काम में सकुचितता आयी है। इस समय पहले से सभी को शिथिलता महसूस हो रही है।"

"मिशन में चरखे की शुरुआत हो गयी है। खेती के कारण सीखने वालों की संख्या कम थी। अम्बर चरखा का पूरा सामान नहीं था। भण्डार में रुई भी नहीं थी। लगभग दस बारह दिन हुए, काम करने लायक सामान हो गया है। पाँच चरखे चालू हैं, जिनमें सीखने की दृष्टि से कुल तकुए नहीं चलाये जाते। अभी सन्तोष जनक स्थिति नहीं है। कुछ दिनों के बाद सही स्थिति का पता लगेगा। आदिवासियों में अम्बर चरखे के प्रयोग के लिए मिशन उपयुक्त जगह है। अधिकारी-वर्ग में धीरज हो और शिक्षक में आदिवासियों के लिए पीड़ा हो तो कुछ सही नतीजा निकाला जा सकता है। सन्थाली बोलने वाला शिक्षक हो तो अधिक आसानी हो सकती है। अभी जो शिक्षक आये हैं, उन्हें जानकारी अच्छी है, नम्र स्वभाव के तथा मेहनती भी हैं।"

"जागृति के ख्याल से ग्रामदह पचायत के अधिक गाँवों में पहुँच हुई है तथा अधिक लोग आकृष्ट हुए हैं। प्रचार तथा सगठन चकाई बाजार में अधिक हुआ है। चरखे में रामचन्दरडीह पचायत का रामचन्दरडीह गाँव प्रगति पर है। उर्वा पचायत में प्रवेश हुआ है तथा वहाँ के मुखिया ने सप्ताह का रविवार हमारे लिए दिया है।"

"थोड़ी सी अपनी जमीन में जिसमें हम लोगों ने खेती की है, उससे आसपास के लोग बड़े प्रभावित हैं। पपीता, सब्जी, मिर्चा, मूंगफली तथा फूल अभी-तक इसी की थोड़ी थोड़ी खेती हुई है। केवल आधा घण्टा श्रम हम सभी इसमें देते हैं। पपीता, मिर्चा और फूल काफी गाँवों में पहुँचा है। सब्जी खरीदनी नहीं पड़ती।"

"वालीबॉल बरसात रहते हुए भी चालू है। तीन-तीन मील तक के लड़के आ जाते हैं। आस पास के सभी वर्ग के लड़कों को शामिल कर लिया जाता है। और भी छोटे बड़े लड़के काफी संख्या में पहुँच जाते हैं। इसके कारण अनायास ही बच्चों के रहन सहन में परिवर्तन दीखता है। निर्भीक होकर साथ साथ बैठने और बात करने लगे हैं। हमलोग भी इसमें बढ़ावा दे देते हैं। पास पड़ोस के गाँवों का सम्बन्ध काफी अच्छा है।"

"गरीबी तो इस क्षेत्र में अधिक है ही लेकिन अधिक से अधिक आवश्यकताएँ आसानी से पूरी की जा सकती हैं। कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जो पूरे क्षेत्र में एक ही तरह के हैं। करीब करीब खेत सभी के पास है। मिट्टी में उर्वरा शक्ति भी है, लेकिन पशुओं के चरी की समस्या इतनी कठिन है कि इसी कारण कोई ऐसी फसल नहीं बोता जो धान काटने के बाद हो। धान काटने के बाद सभी पशु बिना चरवाहा के खुले रहते हैं। यह आम रिवाज है। दूसरी समस्या चोरी की है। फसल की, पशुओं की तथा छोटे छोटे सामानों की चोरी खूब होती है।"

"चरखे काफी चल सकते हैं। लोगों के पास काफी समय बचता है। पर उसके लिए कार्यकर्ताओं में अत्यन्त लगन होनी चाहिए। साधन, सामान आसानी से प्राप्त हो जाय, बुनाई की समस्या हल कर दी जाय, सूत की लेन देन में अच्छा व्यावहार हो तो इसकी सम्भावना है।'

शिवकुमार शास्त्री
ग्रामदकाई क्षेत्र घोरमो,
चकाई, मुंगेर

•

[ग्राम सुधार आन्दोलन में केवल ग्रामवासियों के ही शिक्षण की बात नहीं है; शहरवासियों को भी उससे उतना ही शिक्षण लेना है। इस काम को उठाने के लिए शहरों से जो कार्यकर्ता आयें उन्हें ग्राममानस का विकास करना है और ग्रामवासियों की तरह रहने की कला सीखनी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें ग्रामवासियों की तरह भूखे मरना है; लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि जीवन की उनकी पुरानी पद्धति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। इसका एक ही उपाय है — हम जाकर उनके बीच बैठ जायें, उनके आश्रय दाताओं की तरह नहीं, बल्कि उनके सेवकों की तरह दृढ़ निष्ठा से उनकी सेवा करें]

—गाँधीजी

स्थायी ग्राहक योजना

संशोधित नियम

सितम्बर १९६३

सर्व-सेवा-संघ पिछले कई वर्षों से सर्वोदय-साहित्य सुलभ मूल्य में प्रकाशित कर रहा है। जनता ने संघ द्वारा प्रकाशित साहित्य का हार्दिक स्वागत किया है और उसकी माँग उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

सर्वोदय-साहित्य में दिलचस्पी रखनेवाले मित्रों को संघ के नवीन प्रकाशन समय पर मिलते रहें—इस दृष्टि से संघ ने एक 'स्थायी ग्राहक योजना' १ मई १९६१ से चालू की है। संघ द्वारा प्रकाशित साहित्य का मूल्य कम होने से फुटकर पुस्तकें मँगाने पर डाक-खर्च प्राय मूल्य के अनुपात में अधिक पड़ता है। फिर भी पाठकों की माँग का ख्याल करके योजना शुरू की गयी है।

योजना के नियम

१—स्थायी सदस्यता का प्रवेश-शुल्क रु० १ ०० होगा।

२—अपेक्षा यह है कि संघ द्वारा प्रकाशित हर नयी किताब स्थायी ग्राहकों के पास पहुँचे। फिर ग्राहक अपनी रुचि के अनुसार चयन करके साल में कम-से-कम रु० १५ ०० की किताबें ले सकते हैं।

३—सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, वाराणसी कार्यालय से पुस्तकें लेने पर स्थायी ग्राहकों को १० प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा। पुस्तकें भेजने का व्यय, पैकिंग आदि खर्च संघ वहन करेगा और पुस्तकें अण्डर पोस्टल सार्टफिकेट द्वारा भेजी जायेंगी।

४—स्थायी ग्राहकों को रु० १५ ०० पेशगी जमा कराने होंगे। साल भर में इससे कम मूल्य की पुस्तकें लेने पर दिया हुआ कमीशन इस धन में से जमा कर लिया जायगा। रु० १५ ०० से अधिक साहित्य की माँग रहने पर शेष रकम की वी० पी० की जायेगी।

५—जो स्थायी ग्राहक पुस्तकें रजिस्टरी से मँगाना चाहेंगे उनको रजिस्टरी का खर्च खुद उठाना होगा।

६—नव प्रकाशित साहित्य की सूची भूदान-यज्ञ पत्रिका में निकलती रहती है इसके अलावा स्थायी ग्राहकों को नये प्रकाशनों की सूचना कार्यालय से भी यथासम्भव हर महीने दी जाती रहेगी।

७—साहित्य हर महीने २५ तारीख को भेजा जायेगा। ग्राहक आवश्यक पुस्तकों की माँग १५ तारीख तक भिजवा दिया करें।

८—उक्त नियमों में अगर फेर-बदल आवश्यक हुए, तो सूचना दी जायेगी। ग्राहकों से निवेदन है कि इस योजना का लाभ उठायेंगे और मित्रों को भी इसके लिए प्रेरित करेंगे।

दैनन्दिनी १९६४

प्रकाशित हो गयी है। इस बार हर महीने के अंत में एक कोरा पृष्ठ तथा अंत में ६ कोरे पृष्ठ दिये गये हैं। नीति वाक्य भी नये दिये गये हैं। कागज चिकना, आकर्षक छपाई। दो आकारों में।

७½"×५" साइज में	२·००
८¾"×५¾" साइज में	२·५०

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
सितम्बर १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

'मेरा बाप हरजोत्ता नहीं है'

लडका १०-११ साल से अधिक का नही है। गाव के स्कूल में पढता है। उसका बाप, बाप के बाप, और उसके भी पहिले के लोगो ने खेती और खेतिहर मजदूरी से ही पेट पाला है। लडके का पिता असाधारण चरित्र का आदमी है—कर्मठ, वफादार और बेहद इमानदार। इधर लगभग तेरह-चौदह वर्षो मे सस्था म काम करता है। इसकी सेवा देखकर अभी हाल मे सस्था ने उस निरक्षर को कार्यकर्ता बनाया और वेतन मे कार्यकर्ता का ग्रेड दिया। ग्रेड नही मिला था तब भी और अब मिल गया तब भी उसके काम और बात व्यवहार मे कोई अन्तर नही। किसी अज्ञात, अदृश्य भगवान को साक्षी मानकर वह अपना कर्तव्य पूरा करता रहता है। लेकिन उसका बेटा!

एक दिन आपस में खेलते खेलते उस लडके की दूसर लडके से लडाई हो गयी। दोनो मे हुज्जत वढी। इस पर उसने अकडकर कहा—यह मत समझना कि हम कम हैं। अब हमारा बाप हरजोत्ता नही है। वह भी कार्यकर्ता हो गया।

पद बढते ही प्रतिष्ठा बदल गयी, बच्चे मे भी कितना आत्म-सम्मान आ गया! लेकिन प्रश्न यह है कि जिस समाज में हल के साथ गरीबी और अप्रतिष्ठा जुडी हुई है उसका भविष्य क्या है! और क्या बाबू-वर्ग सोचता है कि आज जो 'हरजोत्ते' हैं उनके बेटो का मन हल के साथ नही हैं, केवल पेट है?

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा-संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ १९०० इस मास छपी प्रतियाँ १९००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सम्पादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष १२ अंक : ३

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-६०

अक्तूबर १९६३

नयी तालीम

●

अनुक्रम

●

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता :—

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

●

नयी तालीम

वर्ष : १२] [अंक : ३

बुनियादी शिक्षा और शिक्षक

जिस युग में जिस चीज की आवश्यकता होती है, उसका उद्घोष हर कोने से होता है। आज सरकारी तथा गैरसरकारी सभी पक्ष कहते हैं–क्रान्ति चाहिए, समाज-परिवर्तन की आवश्यकता है। अगर मतभेद है तो उसका मार्ग लेकर। गांधीजी ने समाज के हर हिस्से के लिए मार्ग बताया, राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षणिक। जिसमें शैक्षणिक मार्ग समाज-परिवर्तन के लिए सबसे महत्व का होता है; क्योंकि समाज के लोगों की दृष्टि तथा वृत्ति बदले बिना समाज परिवर्तन सम्भव नहीं है।

देश के लोगों ने गांधीजी के आर्थिक तथा राजनीतिक मार्ग को स्वीकार नहीं किया; लेकिन शैक्षणिक मार्ग यानी बुनियादी शिक्षा को काफी व्यापक रूप से माना और यद्यपि आज सरकारी क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा की असफलता की बात कही जा रही है, फिर भी मुल्क के निर्माण में इसकी अनिवार्यता इतनी स्पष्ट है कि इस विचार को छोड़ने की तैयारी भी नहीं है। ऐसी हालत में करना क्या है, यह मुख्य प्रश्न है।

शिक्षा की रीढ़ शिक्षक होता है। अतः इस प्रश्न का उत्तर उसी को देना होगा। सरकारी विभाग या ऊपर के शिक्षा-शास्त्री नहीं दे सकते। विभाग व्यवस्था बतायेगा और शास्त्री शास्त्र कहेगा; लेकिन व्यवहार तो शिक्षक को ही करना होगा। अतः देश में जो लाखों शिक्षक हैं, उन्हें ही सोचना होगा कि अगर असफलता है, तो वह क्यों है, और सफलता की कुंजी क्या है?

शिक्षण-व्यवहार की पहली शर्त यह है कि शिक्षण का प्रारंभ वहीं से हो, बच्चा जहाँ पर है। अतः सर्वप्रथम शिक्षक को जाँचना होगा कि बच्चे की आर्थिक स्थिति कैसी है? उसकी आकांक्षा क्या है? उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर कहाँ है? और सबसे बुनियादी प्रश्न यह है कि उसके तथा उसके परिवार की नित्य-जीवन की कार्य-सूची क्या है? बुनियादी शिक्षा-पद्धति कार्य के मार्फत शिक्षण-पद्धति है। अतः कौन-सा कार्य शिक्षण के माध्यम के रूप में चुनना है, इसका निर्णय हरेक शिक्षक को करना होगा। यह न शिक्षा विभाग कर सकता है, और न शिक्षा शास्त्री; क्योंकि उन्हें मालूम नहीं है कि किस बच्चे का पारिवारिक तथा सामाजिक कार्यक्रम क्या है? क्योंकि यह काम प्रत्येक गाँव और क्षेत्र का अलग-अलग है।

शिक्षा शास्त्री कहेगा—तकली और चरखे में शिक्षण की सम्भावना अनन्त है; लेकिन शिक्षार्थी को जिस काम की चाह नहीं है, वह चाहे जितना शास्त्र-शुद्ध हो, शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकता। बिना चाह के जिज्ञासा का उद्‌बोधन नहीं होगा, और जिज्ञासा के बिना ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

अतएव आज जब मुल्क में बुनियादी शिक्षा के प्रश्न पर पुनर्विचार की प्रवृत्ति बढ़ रही है, तब यह बात स्पष्ट समझना चाहिए कि इसके लिए किसी उद्योग का 'पैटर्न' नहीं बन सकता है। हर गाँव तथा हर शिक्षक को पहल करना होगा और अपने-अपने क्षेत्र की स्थिति के अनुसार विभाग का मार्गदर्शन करना होगा। शिक्षा विभाग को भी शिक्षकों के हाथ में इस नेतृत्व को छोड़ना होगा। शिक्षक अपने अभिक्रम से सोचें, आपस में चर्चा करें और निर्णय करें। बिना गुरुत्व के गुरु नहीं होता है। नेतृत्व का पहल करने पर ही, गुरुत्व का विकास हो सकता है, यह बात शिक्षा-जगत को समझ लेनी चाहिए।

देश के तमाम शिक्षकों को गम्भीरता के साथ उपर्युक्त बात पर विचार करना चाहिए। तत्काल पाठ्यक्रम तथा अभ्यासक्रम में बदल करने की कोई जरूरत नहीं है। उसे ईमानदारी के साथ यथावत चलाते रहें; लेकिन जिस समाज में उनका विद्यालय है, उससे सचेतन सम्पर्क करें, उसकी चाह और परिस्थिति का अध्ययन करें, वह जिस काम में लगे हुए हैं, उसमें शिक्षण की सम्भावनाओं की खोज करें और अपनी दृष्टि तथा योग्यता के अनुसार जहाँतक सम्भव हो, उन कामों के साथ विज्ञान का पुट डालने की कोशिश करें।

इस प्रकार देश के लाखों शिक्षक जब समाज के नित्य कर्म में विज्ञान का प्रवेश कराने की कोशिश में लगेंगे तो उसके फलस्वरूप पूरे समाज में अपने काम के साथ ज्ञान मिले, इसकी चाह पैदा होगी; और शिक्षक के सामने बुनियादी शिक्षा के मूल तत्व अर्थात समवाय पद्धति के स्वरूप तथा कला का मार्ग खुल जावेगा।

आज जब देश की सरकार बुनियादी शिक्षा को व्यापक बनाना चाहती है तब शिक्षक उत्साह के साथ इस दिशा में आगे बढ़कर समाज का नेतृत्व अपने हाथ में लेंगे, ऐसी आशा है।

—धीरेन्द्र मजूमदार

●

स्वावलम्बी शिक्षा

•

गांधीजी

समूचे राष्ट्र की दृष्टि से हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि अगर शिक्षा प्रचार के लिए केवल धन पर ही निर्भर रहेंगे, तो एक निश्चित समय के अन्दर राष्ट्र के प्रति अपने फर्ज को अदा करने की आशा हम कभी कर ही नहीं सकते। इसलिए मैंने यह सुझाने का साहस किया है कि शिक्षा को हमें स्वावलम्बी बना देना चाहिए, फिर लोग भले ही मुझे यह कहें कि मेरे अन्दर किसी रचनात्मक कार्य की योग्यता नहीं है।

शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास। अक्षर ज्ञान न तो शिक्षा का आरम्भ है और न अन्तिम लक्ष्य। यह तो उन अनेक उपायों में से एक है, जिनके द्वारा स्त्री पुरुषों को शिक्षित किया जा सकता है। फिर सिर्फ अक्षरज्ञान को शिक्षा कहना गलत है। इसलिए बच्चे की शिक्षा का प्रारम्भ मैं किसी दस्तकारी का तालीम से ही करूँगा, और उसी क्षण से उसे कुछ निर्माण करना सिखा दूँगा। इस प्रकार हरेक पाठशाला स्वावलम्बी हो सकती है। शर्त सिर्फ यह है कि इन पाठशालाओं की बनी चीजें राज्य खरीद लिया करे।

पाठशाला की जमीन, इमारतों और दूसरे जरूरी सामान का खर्च विद्यार्थियों के परिश्रम से निकालने की कल्पना नहीं की गयी है।

मेरा मत है कि इस तरह की शिक्षा प्रणाली द्वारा ऊँची से ऊँची मानसिक और आत्मिक उन्नति प्राप्त की जा सकती है। सिर्फ एक बात की जरूरत है। वह यह कि आज की तरह प्रत्येक दस्तकारी की केवल यान्त्रिक क्रियाएँ सिखा कर ही हम न रह जायँ, बल्कि बच्चे को प्रत्येक क्रिया का कारण और पूर्ण विधि भी सिखा दिया करें। यह मैं आत्मविश्वास के साथ कह रहा हूँ क्योंकि उसके मूल में मेरा अपना अनुभव है।

जहाँ जहाँ कार्यकर्ताओं को कताई सिखायी जाती है, वहाँ न्यूनाधिक पूर्णता के साथ इसी पद्धति का अवलम्बन किया जाता है। मैंने खुद इसी पद्धति से चप्पल बनाने की तथा कताई की शिक्षा दी है और उसके परिणाम अच्छे आये हैं। इस पद्धति में इतिहास और भूगोल का बहिष्कार भी नहीं है। मैंने तो देखा है कि इस तरह की साधारण और व्यावहारिक जानकारी की बातें जबानी कहने से ही अधिक लाभ होता है। लिखने और पढ़ने से बच्चा जितना नहीं सीखता, उससे दस गुनी अधिक जानकारी उसे इस पद्धति द्वारा दी जा सकती है।

वर्णमाला के चिह्नों का ज्ञान बच्चे को बाद में भी दिया जा सकता है। जब बच्चा गेहूँ और चोकर को पहचानने लग जाय और जब उसकी बुद्धि और रुचि कुछ विकसित हो जाय। यह प्रस्ताव क्रान्तिकारी जरूर है पर इसमें परिश्रम की खूब बचत होती है और विद्यार्थी एक साल में इतना सीख जाता है कि जिसके लिए साधारणतया उसे बहुत अधिक समय लग सकता है। फिर इस पद्धति में सब तरह से किफायत ही किफायत है।

•

शिक्षक और शिक्षा

•

डा० सम्पूर्णानन्द

जिस दिन जनता शिक्षा के वास्तविक महत्व को समझेगी उस दिन उसका पहला काम शिक्षकों की अवस्था का सुधार होगा। आज के अध्यापक की गिरी दशा शिक्षा के पतित आदर्शों का प्रतीक है। जहाँ बहुत से कारखाने हैं वहाँ पाठशाला भी है। किसी में कीलें ढलती हैं, किसी में जूते बनते हैं। सब माल एक सा एक-दूसरे में कोई पहचान नहीं।

हाथ की बनी वस्तुओं में विशेषता होती है कारखाना विशेषता को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार स्कूल से एक प्रकार की नपा तुली बुद्धि के लड़के निकलते हैं एक-सा सार्टिफिकेट सबके पास है। स्कूल मौलिकता को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। अध्यापक चाहे वह कालेज के प्रोफेसर हों या देहाती पाठशाला के गुरु जी-इस बड़े कारखाने के मजदूर हैं। उनको ऊपरवालों की आज्ञा के अनुसार माल तैयार करना है, अथात पढ़ाना है। बेकारी के दिनों में भी वेतन मिलता है और क्या चाहिए!

जब तक यह भाव बना रहेगा तब तक अध्यापक भी बेगार ही करते रहेंगे। शिक्षा के आदर्शों का निश्चय करना पूरा पूरा अध्यापकों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता परन्तु उनका भी इसमें बड़ा हाथ होना चाहिए। जिस कारीगर को काम करना है उसको यह भी कहने का अधिकार होना चाहिए कि इस मसाले से क्या तैयार हो सकता है और क्या होना चाहिए। यह तो अजीब अन्धेर है कि शिक्षा के सम्बन्ध में अनाड़ी निर्णायक सम्मति दे और अध्यापक को बोलने का अधिकार न हो।

समाज शिक्षक वर्ग के साथ बराबर अन्याय करता आया है। वेतन और पुरस्कार के समय उसका स्थान सबसे पीछे आता है। मैं यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भाग्यशाली अध्यापक भी हैं, जो पर्याप्त वतन पा रहे हैं पर इनकी सख्या बहुत थोड़ी है। अधिकतर ऐसे ही हैं जिनको दूसरे पेशों के बाजार भाव के अनुसार भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। जिनके सुपुर्द यह कार्य है कि वे भविष्यत के नागरिकों और नेताओं को तैयार करें उनसे भूखे रह कर काम करने की आशा की जाती है। यह नहीं सोचा जाता कि इनके भी बाल-बच्चे हैं, इन्हें भी लड़कियों का ब्याह करना है और लड़कों को पढ़ाना है, इनको भी अच्छा खाने पहनने की इच्छा होती है, इनका भी तो मनोरंजन चाहता होगा।

कुछ लोग अध्यापकों को सादगी का उपदेश देते हैं और उनको प्राचीनकाल के विद्यापीठों में पढ़ाने वाले साधु ब्राह्मणों की याद दिलाते हैं। वे स्वयं यह भूल जाते हैं कि आज वह युग नहीं है। आज के अध्यापक को भिन्न प्रकार की सभ्यता के बीच रहना है, आज उसके शिष्य उसके चरणों पर गुरु दक्षिणा नहीं रखते, सारा काम बँधे वतन से ही चलाना है। एक और बात लोग भूल जाते हैं। योगियों और तपस्वियों की बात न्यारी है, ऐसे लोग तो बहुत थोड़े होते हैं परन्तु जो मनुष्य घोर तामसिक नहीं होता उसमें कुछ न कुछ महत्वाकांक्षा निस्सन्देह होती है। या तो वह धन चाहता है या ऊँचा पद, जिसमें दूसरों पर अधिकार हो या सम्मान मिले। अपनी इस इच्छा के अनुसार उसे प्रधानत वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण स्वभाव का कह सकते हैं। साधारणत सभी चीजों की चाह होती है, पर इनमें से कोई एक दूसरों से प्रबल पड़ती है।

अब बेचारे अध्यापक को लीजिए। उसका वेतन बहुत कम है और अधिकार भी कुछ नहीं है, समाज उसे सम्मान तक भी देने को तैयार नहीं। क्या गाँव और क्या जनपद, अध्यापक का स्थान सबसे नीचा है, क्या राज दरबार और क्या सभा समिति अध्यापक की जगह पीछे ही होगी। एक तहसीलदार या थानेदार का सम्मान किसी बड़े कालेज के प्रधानाध्यापक से ऊँचा होगा। एक नौसिखुआ वकील जो दीवानी फौजदारी कानून के सिवाय कुछ नहीं जानता, राजनीति और अर्थनीति, शासन और शिक्षण पर बोलने का अधिकारी है, और अनेक शास्त्रों में निष्णात अध्यापक के लिए चुप रहना ही उचित समझा जाता है।

इस आक्षेप के उत्तर में यह कहना व्यर्थ है कि जो व्यक्ति योग्य होगा वह अपने व्यक्तित्व के बल पर सम्मान प्राप्त कर ही लेगा। यह बात ठीक है, पर सबके लिए ठीक नहीं है। यहाँ विशेष व्यक्तियों की क्षमता का विचार नहीं है प्रश्न तो समाज के सामान्य दृष्टिकोण का है। इसलिए यह विचार भी अप्रासङ्गिक है कि अध्यापकों को कहाँ तक और किस प्रकार राजनीतिक वादविवाद में भाग लेना चाहिए।

समाज को अपनी इस नीति का फल मिल रहा है। थोड़े से व्यक्ति तो इस क्षेत्र में प्रेम से आते हैं परन्तु बहुधा ऐसा ही होता है कि जब लोग अपने लिए कोई और पेशा नहीं देखते तब अध्यापक बनने की सोचते हैं। जिस व्यवसाय में किसी भी महात्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अवसर नहीं, उसकी ओर पहला ध्यान कम ही लोगों का जाता है। समाज को यह आशा न करनी चाहिए कि जो मनुष्य विवश हो कर इस काम में आया है वह पूरा उत्साह दिखला सकेगा। वह तो अपनी अतृप्त इच्छाओं की आग में जलता रहेगा। उसे बराबर यही ख्याल होता रहेगा कि मैं यहाँ दुर्भाग्यवश आ फँसा हूँ। मुझ से कम योग्यता वाले अधिकार, धन और सम्मान का उपभोग कर रहे हैं और मैं एक कोने में पड़ गया हूँ।

यदि समाज चाहता है कि उसके बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा मिले और उसके अध्यापक अपने काम में अपना पूरा मनोयोग दें तो उसे इस पेशे को अन्य पेशों के बराबर आकर्षक बनाना होगा। अध्यापकों को पर्याप्त भृति देनी होगी और सम्मान बढ़ाना होगा। ब्राह्मण चातुर्वर्ण्य में चिर स्थानीय था। अध्यापक का भी समाज में वही स्थान होना चाहिए। जिसके साथ शूद्र जैसा व्यवहार किया जाय, उससे ब्राह्मण जैसे आचरण की आशा नहीं की जा सकती।

पर, जहाँ समाज दोषी है वहाँ हम अध्यापक भी कम अपराधी नहीं हैं। जो इस पेशे में आये उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यास और वशिष्ठ की गद्दी पर बैठने जा रहा है। वेतन लेना पाप नहीं है। पुरोहित भी दक्षिणा लेता है, परन्तु अध्यापन को केवल जीविका का साधन समझना अधर्म है। कोमल बुद्धि-बालक बालिकाओं को मनुष्य बनाने का अवसर सबको नहीं मिलता। हमारे छात्रों में से ही भविष्यत के नेता, योद्धा, राजपुरुष, विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक निकलेंगे, यह गौरव का बात है।

हम अपने वतन से सन्तुष्ट हों या न हों, परन्तु हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि अपने असन्तोष का बदला छात्रों से लें। उनको तो हमारी पूर्ण शक्ति, पूरा बुद्धि-योग, पूरा नैतिक सहारा मिलना ही चाहिए। विद्यादान करते समय तो हमारा वह भाव होना चाहिए, जो पूजा करते समय होना है।

समाज को यह अधिकार नहीं है कि हमको पुरस्कार, अधिकार और सत्कार की दृष्टि से शूद्र समझे और फिर भी हमसे ब्राह्मणवत् आचरण की आशा रखे। यह ठीक है, परन्तु समाज के कुकृत्य को समझते हुए भी हमको तो अपना कर्त्तव्य पालन करना ही है। ब्राह्मण का ही आचरण करना है, तपस्वी जीवन बिताना है और विद्यादान को अपना धर्म समझना है। जो ऐसा नहीं कर सकता वह सरस्वती के मन्दिर का पुजारी नहीं हो सकता। यदि हम अपने को पहचानें तो अपने त्याग और तप से फिर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह नेतृत्व हमारे स्वार्थ का साधन नहीं होगा, वरन हमको सेवा करने का उपयुक्त अवसर देगा। इसके साथ ही अपने ब्राह्मण-वर्ग के नेतृत्व में चलने से समाज का भी कल्याण होगा।

त्योहार और शिक्षण

●

रुद्रभान

हमारी आज की शिक्षा पद्धति सामाजिक जीवन से अलग थलग रहते हुए एक नीरस और उत्साहहीन दिनचर्या की लीक पर चल रही है—एक ऐसी दिनचर्या की लीक पर, जिसमें प्राय पठित और लिखित ज्ञान की प्रधानता है। पाठशाला की दिनचर्या अथवा कार्यक्रम का सामाजिक जीवन से दूर दराज का सम्बन्ध भी नहीं दीख पड़ता। स्कूल की स्थिति वस्तुत सामाजिक परिवेश से विच्छिन्न एक टापू जैसी है। जिस समय समुदाय का सामाजिक जीवन अपने रोचक कार्यक्रम अथवा सांस्कृतिक आयोजन द्वारा आन्दोलित होता रहता है, हमारी पाठशालाओं में अवकाश की शून्यता व्याप्त रहती है। शिक्षकगण अपने घरों में रहते हैं और विद्यार्थी अपने परिवार में। ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर, जब विद्यालय और समाज में अनायास ही आह्लादजनक अनुबन्ध स्थापित हो सकता है, हमारी शिक्षण संस्थाएँ निष्क्रिय हो जाती हैं। इसके एवज में दूसरे अवसर पर जब हम ऊपरी आयोजनों द्वारा सामाजिक जीवन से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, उस समय समाज से हमें कोई उत्साहजनक सहकार नहीं मिल पाता।

त्योहार हमारे देश की एक विशेषता हैं। जितने विभिन्न प्रकार के त्योहार हमारे देश में प्रचलित हैं उतने दुनिया में शायद ही और कहीं मिलें।

उत्सव और त्योहार के आने की खुशी का अनुभव और लोगों के मुकाबले बच्चों को कहीं अधिक होता है। हफ्तों पहले से ही वे त्योहार के ध्यान में मग्न होने लगते हैं। कई बच्चों की तो खुशी में नींद तक गायब हो जाती है।

नयी तालीम में सामाजिक वातावरण शिक्षण का एक प्रमुख माध्यम और त्योहार उस सामाजिक वातावरण का एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। ऐसे अवसर का लाभ यदि शिक्षक को लेना है तो उसे अवकाश की खाईं को पाटकर अपने लक्ष्य की पूर्णता तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

प्रत्येक त्योहार व्यक्ति और समूह के मन की किसी आन्तरिक प्रवृत्ति और आकांक्षा की उल्लासजनक पूर्ति करता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति में अपने भीतर की विशेषताओं को प्रकट करने कुछ नव सृजन करने, और अपने समुदाय में अच्छा दीखने की उत्कट लालसा होती है। त्योहारों के आयोजन में हमें अपने मन की इस भूख को मनचाही खुराकें मिल पाती हैं। चूँकि त्योहारों की तैयारी और आयोजन में ऐसे अनेक कार्यक्रम सामने आते हैं, जिनको पूरा करने में आपसी सहयोग और मेलजोल की जरूरत पड़ती है इसलिए इनके जरिये औरों का सहयोग प्राप्त करने, हुनरमन्द की इज्जत करने और लोगों के साथ मृदु व्यवहार करने का अवसर प्राप्त होता है।

किसी देश या समुदाय में प्रचलित उत्सव और त्योहार उसकी सांस्कृतिक चेतना के व्यक्त रूप होते हैं। युग की संस्कृति और परम्परा का जितना सहज परिचय विद्यार्थियों को उत्सव और त्योहारों से प्राप्त होता है वह अन्य किसी माध्यम से दुर्लभ है।

कोई भी ऐसी प्रवृत्ति या कार्यक्रम, जिसमें समूह की सहज-स्वनिर्य रुचि जाग्रत हो सके, शिक्षण के लिए अनायास ही एक अनन्य अवसर बन जाता है। इस दृष्टि से उत्सव और त्योहारों का शैक्षणिक महत्त्व अनुमान से कहीं अधिक है।

शिक्षा के नये आदर्श आज विद्यार्थी की सिर्फ पढ़ाई लिखाई की योग्यता तक सीमित नहीं। शिक्षा का अर्थ है—हरेक व्यक्ति की अन्दरूनी विशेषताओं के अनुसार उसका समग्र और सम्पूर्ण विकास। इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक विद्यार्थी की विभिन्न रुचियों और क्षमताओं को पनपने और विकसित होने का सुअवसर मिले, ताकि उसकी प्रच्छन्न भीतरी शक्ति बाहर प्रकट होकर उसे मानसिक तृप्ति और आत्म विश्वास की अनुभूति प्रदान करे। यदि प्रत्येक विद्यार्थी को इसके लिए प्रोत्साहित करना हो, तो उसके समक्ष ऐसे अनेक अवसर उपस्थित होने चाहिए, जिसमें उसके व्यक्तित्व की छिपी हुई शक्तियाँ उभर कर सामने आयें, उन्हें विकसित होने की प्रेरणा मिले और अभ्यास करने की सुविधाएँ भी। उत्सव और त्योहार व्यक्तित्व के विविध गुणों के प्रकटीकरण और बढ़ाव का नैमित्तिक मौका देते हैं।

मनचाहे त्योहार का बच्चों पर कैसे जादुई असर हो जाता है। बिना दिलचस्पी वाले और सुस्त बच्चे त्योहारों के अवसर पर चुस्त और सक्रिय होते दीख पड़ते हैं, बात न मानने वाले उदण्ड बच्चे एकाएक आज्ञाकारी बन जाते हैं। बच्चों में दिखाई देनेवाला यह सामयिक परिवर्तन त्योहारों के जोरदार असर का सबूत है।

उत्सव तथा त्योहारों के अनेक प्रकार हैं। मोटे तौर पर इनकी ७ किस्में मानी जा सकती हैं—

१ धार्मिक त्योहार—महा शिवरात्रि, नागपंचमी, ईद, मुहर्रम, बड़ा दिन,

२ ऋतुपरिवर्तन से सम्बन्धित त्योहार—वसन्त पंचमी, शरदपूर्णिमा मकर संक्रान्ति

३ आमोद प्रमोद प्रधान त्योहार-सरस्वती पूजा, दीपाली, होली,

४ राष्ट्रीय त्योहार—गणतन्त्र दिवस, स्वाधीनता दिवस, गांधी जयन्ती,

५ महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित त्योहार—रामनवमी, जन्माष्टमी, बुद्ध जयन्ती, तिलक जयन्ती, चरखा जयन्ती, भू जयन्ती, बाल दिवस,

६ साहित्यिक त्योहार—तुलसी जयन्ती, प्रेमचन्द जयन्ती, रवीन्द्र जयन्ती,

७ अन्तर्राष्ट्रीय त्योहार—संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस, विश्व-स्वास्थ्य संघटन दिवस, रेडक्रास दिवस।

प्रत्येक त्योहार की अपनी एक मौलिकता है, और विशिष्ट महत्त्व। विविधताओं के होते हुए भी सबमें कुछ सर्व सामान्य तत्त्व भी हैं—जैसे, विशेष सजावट, अन्य कलात्मक प्रदर्शन, खुशियाली, नृत्य, नाटक, गाना बजाना, आमोद प्रमोद और विशेष भोजन आदि।

त्योहारों के शैक्षणिक उद्देश्य—

१ विद्यार्थियों के भीतर कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि विकसित करना,

२ विशेष अवसरों पर होनेवाले आयोजन तथा कार्यक्रमों में छात्र कला के विभिन्न अंगों का यथानुकूल उपयोग कर सकें, इसकी उन्हें प्रेरणा प्रदान करना

३ प्रेम और सहयोग पूर्वक एक जुट होकर काम करने की आदत का विकास,

४ छात्रों की नेतृत्व और संगठन शक्ति के प्रकट और विकसित होने के अवसर उपस्थित करना,

५ सांस्कृतिक अवसरों पर छात्र अपनी साहित्यिक क्षमता का उपयोग कर सकें, इसकी उनके भीतर लालसा जागरित करना।

वे वृत्तियाँ, जिनका विकास त्योहारों के सन्दर्भ मे आसानी से हो सकता है—

१ शक्ति भर काम करने की इच्छा

२ समाज के सब लोगों की भलाई और कल्याण के कामों में शरीक होने की आकांक्षा,

३ अपने पास की चीजों तथा कलात्मक प्रतिभा का सामुदायिक अवसरों पर उपयोग करने की भावना,

४ जिम्मेदारी लेकर उसे निभाने की आदत,

५ अपने आपको तथा पास-पड़ोस को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा।

वे क्षमताएँ, जिनका विकास आसानी से हो सकता है—

१ सजावट की दृष्टि से उपयुक्त सामग्री तथा वस्तुओं को चुनना,
२ सजावट की चीजों को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना
३ अपने घर तथा पास पड़ोस को सजाने सँवारने की योग्यता
४ उत्सव का आयोजन करने की क्षमता
५ उत्सव के अनुसार विशेष खाद्य पदार्थ बनाने की जानकारी
६ आमन्त्रितों का मनोरंजन करने का योग्यता
७ विभिन्न लोगों के साथ मिलजुलकर काम करने की क्षमता
८ दूसरों के यहाँ से साधन सामान आदि उधार लेने का शिष्ट ढग
९ आवश्यकता होने पर किसी स्थान की झटपट सफाई और सजावट करने की क्षमता।

त्योहारों के मनाने के प्रसग में छात्रों की मानसिक सक्रियता निम्नलिखित मुद्दों की ओर सहज रूप में आकृष्ट हो सकती है—

१ कोई कार्यक्रम अच्छी तरह सफल हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी पहले से पूरी योजना बनी हो और उसकी पूर्ण तैयारी भी हो
२ पुराने रीति रिवाज और अनुष्ठान के पीछे, जो विचार हैं उन्हें समझने की वृत्ति हो
३ हर प्रकार के श्रमकार्य के प्रति आदरभाव और अपने हाथ से अपना काम कर लेने के प्रति आन्तरिक झुकाव हो
४ ललित कलाओं के कार्यक्रम और आयोजनों में शरीक होने और अपनी क्षमतानुसार उसमें सक्रिय भाग लेने की मानसिक वृत्ति हो
५ दूसरों से माँग कर लायी हुई चीजों का सावधानी से उपयोग करना फिर उन्हे यथास्थान अच्छी तरह पहुँचा देना।

उत्सव तथा त्योहारों का निम्नलिखित विषयों से सहज समवाय स्थापित हो सकता है—

१ समाज सेवा
२ सफाई विशेष रूप से घर और पास पड़ोस की सजावट की दृष्टि से,
३ मिलजुल कर काम करने की नागरिकता,
४ साहित्य,
५ सगीत
६ नाट्यकला
७ गणित, (त्योहार के खर्च का आनुमानिक व्यय पत्र तैयार करना और उसके अनुसार खर्च करना)
८ मन निर्माण तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषय,
९ इतिहास और समाज शास्त्र, (त्योहार मनाने की परम्परा तथा उसके मनाने की प्रचलित पद्धति के सन्दर्भ में)।

त्योहार, दिन प्रति दिन की बँधी हुई दिनचर्या से अलग करके हमारे मन के अनेक अभावों की सुखद पूर्ति करते हैं। इनसे हमारे सामाजिक जीवन में एक उल्लासपूर्ण विविधता का समावेश होता है। यह विविधता उसमें शरीक होने वाले छात्रों को अपनी किसी विशेष या बहुमुखी रुचियों के विकास का अनोखा अवसर प्रदान करती है। ये त्योहार शिक्षा और समाज को एक दूसरे के बहुत करीब ले आते हैं।

हमारे चरित्र और मनोभावों के विकास में शिक्षक के उपदेश या पुस्तकीय ज्ञान का उतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ता, जितना त्योहारों के अवसर के सामाजिक जीवन का। इस अवसर पर प्रकट होने वाले लोगों के आपसी व्यवहार, आमोद प्रमोद और हास्य का बच्चों पर बड़ा गहरा असर होता है। त्योहार के अवसर पर गाये जाने वाले लोकगीत, कथाएँ और नाटकों का भी बच्चों पर भारी प्रभाव पड़ता है। वे अनायास ही उसकी नकल करना सीख लेते हैं।

उत्सव और त्योहारों से सम्बन्धित कोई व्यवस्थित शिक्षण न मिलने पर भी परिवार और समाज में इनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यदि शिक्षक और विद्यार्थी इसके साथ शैक्षणिक अनुबन्ध कर सकें तो इससे दोनों को पर्याप्त लाभ होगा। शाला की परीक्षा पास कराने की दृष्टि से शिक्षक जो कुछ पढ़ाता है और शिक्षार्थी जो कुछ पढ़ता है, उसका शिक्षार्थी के चरित्र पर कोई गहरा छाप नहीं पड़ती। उसके चरित्र निर्माण में शाला और समाज के कार्यक्रमों का परोक्ष प्रभाव ही अधिक पड़ता है। इस सन्दर्भ में त्योहारों के शैक्षणिक महत्त्व पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

विज्ञान-शिक्षा के लिए घरेलू उपकरण

अब्दुल रज्जाक

हमारी हजारों-हजार देहाती पाठशालाओं के लिए शिक्षाविभाग की ओर से कामचलाऊ वैज्ञानिक उपकरण मिलने में अभी एक जमाना लगेगा। तब तक क्या देहात के उत्साही और लगनशील शिक्षक यूँ ही राह देखते रह जायें ?

देहात में आसानी से मिलने वाली कई चीजों को होशियारी और सूझ बूझ से इस्तेमाल करके, हम विज्ञान शिक्षण के लिए उपयोगी कितनी ही चीजें बड़ी सहूलियत से खुद ही तैयार कर सकते हैं।

नीचे कुछ ऐसे ही उपकरणों को घरेलू ढग से बनाने का तरीका बतलाया जा रहा है।

स्प्रिंग बैलैंस—१

इसके लिए लकड़ी का एक स्टैण्ड बनाना होगा। एक छोटा पीढ़ा और उसके ऊपर जड़ी हुई सीधी, ऊँची, लम्बवत दूसरी लकड़ी। इस खड़ी लकड़ी के ऊपरी सिरे से १ इंच नीचे एक लोहे की सीधी कील जड़ दी जायेगी। इस कील के सहारे ही स्प्रिंग बैलैंस झूलता रहेगा।

टीन की एक छोटी खाली डिबिया का ऊपरी ढक्कन ले लें। उसके चारों तरफ किनारे में बराबर बराबर दूरी पर चार छेद कीलों से बना लें। यही है हमारा पलड़ा।

अब इसे झुलाने के लिए पतली रस्सियों के एक सिरे इन्हीं छेदों में से निकालकर बाँध लिया। चारों के ऊपरी मुँह साइकिल के ट्यूब की पतली दोहरी कटी गोली चीर में बाँध कर पल्ड़े सहित ट्यूब स्टैण्ड का खूँटी से लटका दिया। अब जब भी पलड़े पर वजन पड़ेगा, रबड़ बढ़ेगा, पलड़ा नीचे की तरफ आयेगा। वजन हटा लेने पर पलड़ा ऊपर की तरफ खिंच जायेगा।

इस प्रकार रबड़ के खिचाव ने हमारा अच्छा कार्य कर दिया। अब हम विभिन्न वजन की तुली वस्तुएँ पल्ड़े पर एक के बाद एक रखते जायेंगे। पलड़े के झुकाव वाले स्थान पर खड़ी लकड़ी में निशान बना कर सूची तैयार कर लेंगे। यह होगा हमारा हल्का वजन नापने वाला स्प्रिंग बैलैंस।

स्प्रिंग बैलैंस—२

अब भारी वजन लेने का स्प्रिंग बैलैंस बना लें। इसकी बहुत जरूरत पड़ता है। गुदड़ी बाजार से पुराने पलग या कुरसी की सेकेण्ड हैण्ड स्प्रिंग मँगवा लेनी होगी। एक पाढे की लम्बाई में दोनों तरफ दो खड़ी समानान्तर लम्बाकार लकड़ी के पतले लम्बे टुकडे जड़ लेने होंगे। स्प्रिंग आ जाने के बाद उसे इन्हीं समानान्तर लकड़ियों के बीच में सीधी

खड़ी करके पीढ़े से जड़ देना होगा। इस खड़ी स्प्रिंग के ऊपरी हिस्से पर एक टिन का ढक्कन रख दिया जायेगा। बस, तैयार हो गयी भारी वजन नापने वाली स्प्रिंग बैलेंस। इस पर भी विभिन्न वजन के बाट रख कर दबाव वाले स्थानों को चिह्नों द्वारा अंकित कर लिया जायेगा।

क्लाक स्प्रिंग बैलेंस

लकड़ी के एक चौड़े चौखटे के एक तरफ दियासलाई की खाली डिब्बी (जिसमें तीली रखने वाला परात (पैन) नहीं हो) गोंद के सहारे खड़ी चिपका देंगे। इस डिब्बी के बीच से ही घड़ी की पतली स्प्रिंग, जिसकी लम्बाई इस डिब्बी से थोड़ी छोटी ही होगी, पटरे पर जड़ी क्लिप द्वारा बाँधकर खड़ी कर दी जायेगी।

स्प्रिंग के ऊपरी सिरे को एक पतली, लेकिन न लपकने वाली तीली के एक सिरे पर इस प्रकार बाँधेंगे कि स्प्रिंग का खिंचाव तथा डिब्बी के ऊपरी सिरे के रोक के बीच जमीन के समानान्तर पड़ी रहे। अब इस तीली के दूसरे सिरे के पास एक कागज की कुप्पी बाँध देंगे। तीली के जरिये छेद करके भी कुप्पी रखी जा सकती है। इसी तीली की नोक के सामने पीढ़े पर एक लम्बाकार पोस्ट कार्ड चिपका देंगे।

अब कुप्पी में हलके वजन रख रख कर कमानी के झुकाव वाली जगह की सीध में पोस्टकार्ड पर निशान बना देंगे। इस तराजू के जरिये १ ग्राम से कम वजन की चीजें तौली जा सकेंगी।

मोटी स्प्रिंग लेकर हम १ ग्राम से १० ग्राम तक कम चीजें वजन करने का एक दूसरा तराजू बना लेंगे। इस तरह हमारा क्लाक स्प्रिंग बैलेंस बन गया।

स्टीलयार्ड (क)

अब एक स्टीलयार्ड भी बना लेना चाहिए। इसके लिए कुछ विशेष चीजों की आवश्यकता नहीं होगी। एक लकड़ी का लम्बा सीधा छड़, जिसके एक सिरे पर पलड़ा बाँध देंगे। पलड़े के पास ही एक हलका वजन बाँधा जायेगा। उसके पास ही होगी हुक, जिसके सहारे तराजू लटकाया जायेगा। हुक की दूसरी तरफ छड़ बहुत बड़ी रखी जायेगी, जिसमें थोड़ी दूर पर निशान बनायें जायेंगे।

अब वजन नापने वाली अपनी हुक लगी बाट को इन्हीं चिन्हों पर आगे पीछे खिसका कर डाँड़ी का जमीन के समानान्तर होना समझेंगे। जितने वजन पर बाट जिस चिन्ह पर आयेगा, एक बार उस पर वजन अंकित कर लेंगे, ताकि आगे वजन नापने के लिए इन्हीं चिन्हों का इस्तेमाल किया जा सके।

स्टीलयार्ड (ख)

इसमें पलड़ा एक तरफ रहेगा, दूसरी तरफ एक वजन बँधा होगा। जिस हुक के सहारे तराजू लटकायी जायेगी वह हुक ही दाहिने-बाँयें खिसकायी जायेगी। उन्हीं चिह्नों की तरह इस पर भी चिह्न होंगे। इसमें भी वजन की सूची बनी होगी। हुक आगे पीछे करके वजन नोट कर लेंगे।

लेबोरेटरी-स्टीलयार्ड

यह 'क' किस्म के ही स्टीलयार्ड की तरह का होगा। केवल हुक की जगह स्टैण्ड का इस्तेमाल किया जायेगा। स्टैण्ड ऐसा होगा कि उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रखा जा सके। साथ ही हुक की झंझट से बचने के लिए स्टैण्ड में ही कील जड़ देते हैं और इसी कील को तराजू की छड़ में बने छेद में डाल देते हैं। यह स्टीलयार्ड हमारे नित्य प्रति के प्रयोगों में तुला के काम में काफी उपयोगी साबित होता है।

●

विज्ञान अर्थात प्रकृति के गुप्त नियमों की शोध और विज्ञान शिक्षा अर्थात इन नियमों पर पड़े सूक्ष्म परदों को हटाकर उनका दर्शन करना और कराना। इस प्रकार प्रतिदिन नये प्रयोग करना और कुदरत के नये-नये भेदों को ढूँढ निकालना ही विज्ञान है। —जुगतराम दवे

बाल-मैत्री की दिशाएँ

●

'राही'

जाने अनजाने शिक्षण में हम एकरूपता लाने की कोशिश करने लगते हैं। परिणाम स्वरूप हमारी प्रक्रिया मे बच्चों के व्यक्तित्व को उभार मिले इसकी जगह उनके अन्दर किसी खास मान्यता, ढाँचा या पद्धति के अनुकूल ढलने का यान्त्रिक क्रम शुरू हो जाता है, बच्चे की मौलिक प्रतिभा दबने लगती है और उसकी जगह कुण्ठा अपना स्थान बनाने लगती है।

क्यों होता है ऐसा ?

शिक्षक भरपूर चेष्टा करते हैं कि बच्चे पढने में मन लगायें, आपस में झगड़ा न करें, सरक्षक पूरी सतर्कता बरतता है कि बच्चों का चारित्रिक विकास हो, बुद्धि कुशाग्र हो, वे मेधावी छात्र और सफल व्यक्ति बनें, किन्तु बच्चे हैं कि जिम्मेदारी नहीं समझते, अध्ययन शील नहीं बनते, आलसी, बुद्धू शैतान, अनुशासनहीन उच्छृखल और जाने किन किन दुर्गुणों का शिकार बचपन से ही होने लगते है !

क्या कारण है इसका ?

बच्चा खेलना चाहता है, तोड़ना और जोड़ना चाहता है, किन्तु सरक्षकों की आकाक्षाएँ शिक्षकों की शुभ चिन्ताएँ उसके मार्ग में बाधक होती हैं, उसके अन्दर ही कुछ परिवर्तन होता है, जिसे विकृति की सज्ञा दी जाती हैं।

और हम उसके अन्तर द्वन्द्व को समझने की जगह कोसते ही रह जाते है !

तब क्या किया जाय ?

बच्चों के अधिकाश सरक्षक उनकी मूल वृत्तियों को समझने, उन्हें उचित प्रोत्साहन देने में समर्थ नहीं हैं। बस शिक्षक से अपेक्षा की जाती है कि वह बच्चों को अधिक से अधिक समझे और उनकी प्रतिभाओं के निखार की अनुकूल भूमिका प्रस्तुत करे।

मैंने एक शिक्षक के नाते अपने वर्ग के कुल आठ बच्चे और बच्चियों को सहज रूप में समझने की कोशिश की। स्पष्ट है कि बच्चों को गुरुत्व के वजन से तौलने की जगह स्नेह से उनकी सहज आत्मीयता प्राप्त की जाय तभी वे मुक्त होकर अपने (शिक्षक) मित्र के सामने खुल सकते हैं।

आगे के चार्ट से, जो बच्चों की अभिव्यक्ति और उनके व्यक्तिगत परिचय के आधार पर बनाया गया है, हम समझ सकते हैं कि उनकी मूल प्रवृत्ति क्या है, उनको सहजता में कहाँ क्या व्यवधान है, और उनके सर्वांगीण विकास के लिए हम क्या कर सकते हैं। उक्त अध्ययन के आधार पर हमें एक मनोवैज्ञानिक तथ्य प्राप्त होता है कि बच्चों की मैत्री अपनी अनुरूपता के आधार पर न होकर आकाक्षाओं के आधार पर होती है, और उनकी आकाक्षाओं को समझना उनके शिक्षण की दृष्टि से एक अनिवार्य पहलू है।

कौन	किसे	क्यों पसन्द है ?	उनके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन
१ पद्मा	सन्तोष	खूब खेलता है, दौड़ता है।	पद्मा लगन से पढ़ने वाली लड़की, गणित में सबसे अच्छी, किन्तु कुछ स्वभाव से लापरवाह, खेल में रुचि नहीं, माँ बाप की पढ़ाई और अनुशासन के ऊपर विशेष ध्यान।
२ ललित	सब को	खूब हँसती है।	अपनी उम्र से अधिक सम्बन्धों के मामले में संवेदनशील, माँ से दूर, चाचा के परिवार में रहता है। पढ़ने में अधिक देर मन नहीं लगा पाती, जल्दी हँसती और जल्दी रोती है।
३ अरुणा	किरण	पढ़ने नाचने और गाने में तेज है।	माँ पागल, पिता की आर्थिक स्थिति खराब, अभी से अपने को दुखिया मानता है पढ़ने में सबसे खराब, काम करता है, याददाश्त कमजोर है।
४ किरण	सुधार	नृत्य अच्छा करता है।	सम्पन्न परिवार, पढ़ने नाचने गाने में तेज, स्वाभिमानी, कुछ हद तक उदार, स्वाद, बागवानी के काम में रुचि कम।
५ सुधार	अरुणा	बहुत साथी है।	नेता वृत्ति का, खेलकूद में सबसे आगे, तेज दिमाग का शैतानी भी करता है, कई प्रकार की विशिष्ट आदतें—अपने आप से अकेले में बात करना, किसी को अनायास पीट देना, कुछ सामान भी इधर उधर करना, चिकित्सक का लड़का।
मदन	कोई नहीं	सब झगड़ते हैं।	वर्ग में उम्र के लिहाज से सबसे बड़ा, खेती और उद्योग के काम जिम्मेदारी से करता है, गणित में तेज, भाषा में कमजोर, व्यवस्थापक वृत्ति का, सबको अपने नियन्त्रण में रखने की आकांक्षा।
सुरेश	ललिता	बाल बहुत अच्छे करते हैं।	मध्यमगति से काम, बुद्धि भी कुछ मद्धिम, थोड़ा कंजूस और परम्परा प्रिय परिवार का, जल्दी खुलता नहीं, कुछ गन्दा रहता है, स्नेह की भूख है।
सन्तोष	किरण	पढ़ने में बहुत तेज है।	सम्पन्न परिवार का, तेज दिमाग का, किन्तु पढ़ने में नहीं, खेलने में रुचि अधिक, जो नहीं है वह दिखाने की कोशिश बनावटीपन, बच्चों में जल्दी मिल नहीं पाता।

बुनियादी तालीम की समस्याएँ

१

गणेश ल. चन्दावरकर

महात्मा गांधी देश की मौजूदा शिक्षा प्रणाली को मूलतः नीचे से ऊपर तक गलत समझते थे और उसके स्थान पर अपनी जो योजना लागू करने के लिए वे आतुर रहते थे, उस सम्बन्ध में उनका सम्बोध दो प्रस्थापनाओं पर आधारित था—

"आज प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च विद्यालयों की शिक्षा के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उसके स्थान पर प्राथमिक शिक्षा काल में—जिसकी अवधि सात साल या अधिक भी हो—अँग्रेजी के अतिरिक्त प्रवेशिका स्तर के समस्त विषयों का ज्ञान करा दिया जाय और उसके साथ साथ कोई एक वृत्तिक शिक्षा भी दी जाय, ताकि बालक-बालिकाओं का सर्वतोमुखी विकास हो सके।

"इस तरह की शिक्षा से, कुल मिलाकर आत्म निर्भरता आयेगी और दरअसल, आत्मनिर्भरता ही इसकी सचाई की कसौटी होगी।"

इन दो प्रस्थापनाओं से स्पष्ट है कि जिस शिक्षा प्रणाली को गांधीजी आवश्यक समझते थे, वह सिर्फ प्राथमिक शिक्षा के लिए ही नहीं, वरन माध्यमिक शिक्षा के लिए भी लागू होती है।

प्राथमिक वर्गों तक ही नहीं

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि गांधीजी द्वारा प्रतिपादित यह शिक्षा-योजना, आगे चलकर जिसकी व्याख्या जाकिर हुसैन समिति ने अपने प्रतिवेदन तथा योजना में की, 'बुनियादी तालीम' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसे लागू किये २४ वर्ष हो गये, किन्तु अब तक यह प्राथमिक शिक्षा और प्राथमिक विद्यालयों तक ही सीमित रह गयी, जबकि गांधीजी माध्यमिक विद्यालयों तक इसके दायरे को बढ़ाना चाहते थे।

दरअसल, जब हम इस पूर्ण सिद्धान्त पर गौर करेंगे कि मौजूदा पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर खण्डों में शिक्षा का विभाजन न कर, शुरू से आखिर तक यानी पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर प्राथमिक और माध्यमिक सोपानों से होते हुए विश्व विद्यालय स्तर तक की पूरी शिक्षा को एकरूप और लगातार प्रक्रिया मान ली जाय और उसी तरह अमल किया जाय, तो यह बात आसानी से समझ में आ जायेगी कि बुनियादी तालीम का विस्तार माध्यमिक विद्यालयों तक करना क्यों आवश्यक है।

गांधीजी ने अपनी इस राष्ट्रीय शिक्षा योजना में विश्वविद्यालय या उच्च शिक्षा को शामिल क्यों नहीं किया, यह समझना और उसे परखना कठिन नहीं है। निश्चय ही उनका यह विचार कदापि नहीं रहा होगा कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा अनावश्यक है—हो सकता है, २० वर्ष पहले वे इसे विलासिता समझते रहे हों, जैसा कि बहुत से शिक्षाशास्त्री आज भी इसे विलासिता ही मानते हैं; पर आज हमारे देश में शिक्षा का विकास उस स्तर तक पहुँच गया है, जहाँ बच्चे प्राथमिक शिक्षा की चौथी या सातवीं कक्षा तक पहुँच कर अपना मुँह नहीं मोड़ लेते, बल्कि उनमें से अधिकांश माध्यमिक स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट—अर्थात पुराना मैट्रि

कुलेशन-तक की पढ़ाई पूरी करना चाहते हैं। इन्हीं कारणों से गाधीजी की इस राष्ट्रीय योजना पर विचार और परीक्षण करते समय उचित है कि सिर्फ प्रारम्भिक विद्यालय ही नहीं बल्कि माध्यमिक विद्यालयों को भी ध्यान में रखा जाय।

आर्थिक पहलू

यह कह कर कि आत्मनिर्भरता बुनियादी तालीम योजना की सचाई की कसौटी है, गाधीजी ने स्पष्ट शब्दों में उसके आर्थिक पहलू की व्याख्या की है। उन्होंने लिखा था—" किंतु एक राष्ट्र की हैसियत से शिक्षा के मामले में हम इतने पिछड़े हैं कि अगर यह कार्यक्रम धन पर ही निर्भर रहा तो इस सम्बन्ध मे एक निश्चित अवधि के भीतर इस पद्धी में, राष्ट्र के प्रति हम अपना कर्तव्य पूरा कर सकने की आशा नहीं कर सकते।'

इसी वजह से उन्होंने शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने की सलाह देते समय इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि ऐसा करने से उनकी रचनात्मक क्षमता की प्रसिद्धि को खतरा होगा। उनके ये सुझाव बड़े ही ठोस और ग्रहण करने योग्य हैं, शिक्षा के आदर्श के रूप में भी। भारत एक गरीब देश है, जहाँ आजादी के १६ वर्षों के बाद आज भी शिक्षण संस्थाओं को इतना आर्थिक सहयोग नहीं मिल पाता कि वे सन्तोषजनक प्रगति कर सकें।

सहज आर्थिक दृष्टिकोण से शिक्षा का विभाग कोई आयकारी विभाग नहीं है। इस वजह से अगर हमारी केन्द्रीय और राज्य-सरकारें औद्योगिक विकास और आर्थिक प्रगति के लिए अधिकाधिक साधनों की प्राप्ति के प्रयास में विभिन्न खर्चों में यथासम्भव कटौती करने के लिए व्यग्र रहती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

प्रायः अपने नेताओं और राजनीतिज्ञों को कहते सुनते हैं कि शिक्षा जैसे राष्ट्र निर्माणकारी विभागों पर प्रशासन को तुरत ध्यान देना चाहिए लेकिन उनकी वाणी को जब कार्यरूप मे परिणत करने की बात आती है, तो कहानी का रूप ही उलट जाता है—शिक्षा के लिए तथा उसके विस्तार के लिए उन्हें पर्याप्त धन ही नहीं मिलता। इन्हीं कारणों से गांधीजी शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। उस सन्दर्भ में वे जब भी कुछ कहते थे, उनके मस्तिष्क में नगरों की पाठशालाओं की नहीं, बल्कि गावों के विद्यालयों की आवश्यकताएँ रहती थीं, जिन्हें आत्मनिर्भर बनाना वे लाजिमी समझते थे।

गाधीजी का खयाल था कि कोई बालक या बालिका ७ वीं कक्षा की पढ़ाई पूरी करते करते (१४ साल या अधिक उम्र में) परिवार या समुदाय के लिए एक कमाऊ सदस्य बनकर निकले। आज की शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करते हुए उन्होंने एक बार हरिजन में लिखा था—'शिक्षा दो और साथ साथ बेकारी की जड़ें भी काटते जाओ।" ज्ञान प्राप्ति शिक्षा का मात्र एक उद्देश्य है, उसका विस्तृत उद्देश्य तो जीवन संघर्ष के लिए सुसज्जित करना है।

बड़े होकर जीवन को सुखी और उपयोगी बनाने के लिए बच्चों को जिन चीजों की आवश्यकता है, वे शिक्षा के जरिये ही सीख सकते हैं इसीलिए गाधीजी जब इस बात का आग्रह करते थे कि ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में बालक-बालिकाओं का ध्यान लगाने के लिए तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए शिक्षा में किसी शिल्प का होना आवश्यक है, तो उनका मतलब था—१—शरीर श्रम, जो छात्रों को शारीरिक शक्ति और हस्त कौशल प्रदान करे, २—उत्पादक शिल्प, और ३-उत्पादित वस्तुओं के विक्रय की क्षमता और इतनी पर्याप्त कमाई कर लेना कि विद्यालय विद्यार्थियों के खर्च वहन करने की स्थिति मे आ जायँ तथा यह सब कार्य शिक्षा के अभिन्न अग हों। इस अन्तिम तथ्य के लिए गाधीजी ने निश्चित रूप से सलाह दी थी कि सरकार इस बात की गारंटी दे कि छात्रों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ वह खरीद लेगी।

जाकिर हुसैन समिति ने इस विचार का पूर्णत समर्थन किया किन्तु उसने वित्तीय और उत्पादन के पहलुओं की सीमाएँ तथा खतरों को भी नजरन्दाज नहीं किया। स्पष्ट शब्दों में उसने चेतावनी दी कि छात्रों की पढ़ाई और उनके काम की पूर्णता और सुघरता सुनिश्चित रखने के लिए पर्याप्त निषेध होना चाहिए। सांस्कृतिक और शैक्षणिक उद्देश्यों की कुर्बानी

देकर अगर आर्थिक पहलू पर ही जोर दिया गया तो योजना क सचालन में जो खतरा होगा उस ओर भी जाकिर हुसैन समिति ने स्पष्ट सकेत किया था।

योजना के लागू होने से अब तक के २४ वर्षों के दरमयान उसके आर्थिक पहलू से सम्बद्ध शिल्प शिक्षा सर्वाधिक विवाद का विषय रही है और विभिन्न कारणों से उसकी आलोचनाएँ की गयी हैं। सन् १९६१ में महाराष्ट्र सरकार द्वारा आचार्य एस आर भीसे की अध्यक्षता में नियुक्त बुनियादी तालीम अवलोकन समिति ने शिल्प शिक्षा के खिलाफ अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा था---

"आलोचनाएँ तो अनेक तरह का हैं किन्तु मुख्यत कुछ ऐसी धारणाएँ बन गयी है कि बुनियादी तालीम कताई बुनाइ शिल्प की शिक्षा के समान ही है। छात्रों को काम का कोटा दिये जाने के खिलाफ अलग आवाज आती है। कोटा पूरा करने के लिए छात्रों को विद्यालय में और घर पर बैठकर काम करना पड़ता है और इस प्रकार उन्हे अपनी पढ़ाइ के विषयों को पूरा कर सकने का समय ही नहीं मिलता। ऐसा देखा गया है कि इन शिल्पों का लोगों के दैनिक जीवन से कोई तात्लुक नहीं रहता और माध्यमिक शिक्षा काल में उसका सिलसिला टूट जाता है। शिक्षा शास्त्रियों का ख्याल है कि शिल्प शिक्षा से विभिन्न विषयों के बीच समन्वय स्थापित करने मे कोई लाभ नहीं होता इसलिए इन शिल्प कार्यों पर जो भी समय लगता है, वह व्यर्थ समझा जाता है।'

योजना का स्वरूप

बुनियादी तालीम योजना के खिलाफ इन आलोचनाओं से महाराष्ट्र-सरकार अपरचित नहीं है। यह योजना पुराने बम्बई राज्य के कुछ चुने हुए विद्यालयों में १९३८ मे प्रयोगात्मक रूप मे चालू को गयी थी और धीरे धीरे समस्त प्राथमिक विद्यालयों तक उसका विस्तार कर देने का उद्देश्य था। राज्य के तीन भाषा वर प्रखण्डों में इस प्रयोग के लिए चार सुगठित क्षेत्र चुने गये—एक सूरत जिले में, दो सतारा और पूर्व खानदेश जिलों में तथा एक धारवाड़ जिले में। इन चुने हुए सुगठित क्षेत्रों में ५५ विद्यालय लिये गये—१३ गुजराती, २० मराठी, १६ कन्नड़ तथा ६ उर्दू के। कुछ स्थानीय अधिकारीगण तथा निजी सस्थाएँ भी इस प्रयोग को आजमाने के लिए आगे आयीं।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि सरकार ने उस समय आलोचनाओं का मुकाबला किया और समय समय पर कमजोरियों को दूर कर व्यवस्था में सुधार लाने की कोशिश की। सन् १९४६ में जब लोकप्रिय मन्त्रि मण्डल ने सत्ता ग्रहण किया, सरकार ने निर्णय किया कि शिक्षा के पुनर्गठन कार्यों में वह बुनियादी तालीम क विस्तार व सुधार को प्राथमिकता देगी और उसने यह भी घोषित किया कि प्राथमिक शिक्षा का भावी विकास बुनियादी तालीम के ढाँचे पर ही होगा। इस प्रकार समस्त प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों के रूप में बदल देना उसकी नीति बन गयी। बुनियादी तालीम-योजना को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए १० से १५ वर्ष की अवधि का एक विस्तृत सकर्मणकालीन कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें मुख्यत ये बातें थीं--

१—शिल्प विद्यालयों का सगठन, जो साधारण प्राथमिक विद्यालय और पूर्ण बुनियादी विद्यालय के बीच की कड़ी जोड़नेवाला होगा

२—प्राथमिक अध्यापकों की समस्त प्रशिक्षण सस्थाओं का बुनियादी ढग पर पुनर्गठन, ताकि कम से कम समय के अन्दर बुनियादी विद्यालयों के लिए आवश्यक प्रशिक्षित अध्यापक उपलब्ध हो सकें,

३—साधारण प्राथमिक विद्यालयों तथा बुनियादी विद्यालयों के स्तर विभेद को दूर करने के लिए धीरे धीरे प्राथमिक विद्यालयों क पाठ्यक्रमों को ऊँचा उठाना तथा उनकी पढ़ाइ के तरीकों में सुधार लाना और

४—बुनियादी विद्यालयों के खर्च को इतना कम करना कि साधारण प्राथमिक विद्यालयों से कम खर्च बैठे या कम से कम उससे अधिक न हो।

कार्यक्रम का परिणाम

१—राज्य के प्रथम श्रेणी के प्राथमिक विद्यालय, यानी एम प्राथमिक विद्यालय, जो पहली से सातवीं तक समस्त कक्षाओं की पढ़ाई करते थ, प्रयोगात्मक तौर पर शिल्प विद्यालय के रूप में परिणत कर दिये गये,

२–इसके लिए निम्नलिखित शिल्प मन्जूर किये गये—१–बागवानी, २–सूत कताई (रुई और ऊन दोनों) और आगे की कक्षाओं में बुनाई, ३–कागज और कूट का काम और आगे की कक्षाओं में लकड़ी का काम। इनमें से कोई एक शिल्प जारी करना था।

इस कार्यक्रम के फलस्वरूप शिल्प विद्यालयों की संख्या, जो सन् १९४७-४८ में ५४४ थी १९५४-५५में २,८१६ तक पहुँच गयी। सन् १९६१-६२ में महाराष्ट्र राज्य में बुनियादी विद्यालयों की कुल संख्या इस प्रकार थी—

१–बुनियादी विद्यालय, जिनमें कताई की शिक्षा दी जाती थी–	२,९८६
२–बुनियादी विद्यालय, जिनमें कृषि की शिक्षा दी जाती थी–	९०१
३–बुनियादी विद्यालय, जिनमें लकड़ी की शिक्षा दी जाती थी–	३४०
कुल संख्या	४,२२७

समस्त प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी ढाँचे पर ढालने के अगले कदम स्वरूप निर्णय किया गया कि प्राथमिक विद्यालयों तथा बुनियादी विद्यालयों के पाठ्यक्रमों का विभेद यथा सम्भव कम किया जाय। शुरू में दोनों के बीच बहुत बड़ा फर्क था। इस सिलसिले में एक महत्वपूर्ण नियम बनाकर विषयों की सादृश्यता पर जो जोर दिया जा रहा था उसे कम किया गया और यह निश्चित कर दिया गया कि सादृश्य अध्यापन के सिद्धान्त के आधार पर वे ही विषय पढ़ाये जायँ, जो शिल्प या सामाजिक और भौतिक वातावरण के अनुकूल स्वाभाविक रूप से सदृश बनाये जा सकें।

इस प्रयोग के प्रारम्भिक वर्षों में गाँवों में जाना तथा ग्राम सफाई का व्यावहारिक प्रशिक्षण देना, सामाजिक कार्यों का मुख्य अंग था, किन्तु इन कार्यों में समस्त बातों को सिखाने का अवसर नहीं मिल पाता था, इसलिए साल भर के लिए सामाजिक कार्यों के कार्यक्रम तैयार किये जाने लगे। त्यौहारों का समारोह, मेलों में जाना, मलेरिया दिवस, पुस्तकालय दिवस, स्वास्थ्य दिवस, माता पिता दिवस आदि विशेष दिवसों का मनाना इत्यादि कार्यक्रम में शामिल था। अध्यापकों के मार्गदर्शन के लिए राज्य के शिक्षा-विभाग ने बुनियादी विद्यालयों के कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक पुस्तिका भी निकाली।

आखिर हुसैन समिति ने शिल्प के लिए प्रतिदिन ३ घंटे २० मिनट का समय निर्धारित किया था, किन्तु राज्य सरकार के शिक्षा विभाग ने अपने नये पाठ्यक्रम में उसे घटा कर सप्ताह में कुल १० घंटा कर दिया और दावा किया कि शिल्प की शिक्षा अगर सिलसिलेवार ढंग से दी गयी तो इस कम किये गये समय में भी उत्पादन का स्तर आसानी से इतना अच्छा हो जायेगा कि उसकी प्रगति होती जायेगी। इस सन्दर्भ में 'बम्बई राज्य में शिक्षा का अवलोकन' पुस्तक में बुनियादी तालीम वाले अध्याय में लिखा है—

"नये पाठ्यक्रम में पूर्व पाठ्यक्रम के प्रमुख स्वरूपों को कायम रखा गया। जैसे, पुस्तकों को पढ़ाने के बजाय कार्य पर अधिक जोर देना, बिखरे हुए विषयों की शिक्षा के बजाय परस्पर सदृश विषयों की पढ़ाई शुरू करना, स्थानीय अवस्थाओं के अनुकूल कार्यक्रम एवं कार्यों का उलट फेर करना आदि। किन्तु, इसमें दो बातें और जोड़ दी गयीं। १—तन्दुरुस्ती-स्वास्थ्य और सफाई तथा २–समाज अध्ययन एवं सामान्य विज्ञान की शिक्षा का नया तरीका। तन्दुरुस्ती, स्वास्थ्य और सफाई विषय के अन्तर्गत, जिन कार्यों को निर्धारित किया गया उनका उद्देश्य था—स्वच्छ और स्वास्थ्यकर जीवन के लिए आवश्यक अनुचित रुचि का विकास और स्कूल तथा घर पर बच्चों की जिन्दगी तथा सामाजिक वातावरण के साथ कार्यों की सादृश्यता। इस बात की भरसक कोशिश की जाती थी कि बच्चे दैनिक जीवन में स्वावलम्बन और अनुशासनपूर्ण कार्य एवं उसके आनन्द तथा खुशी के महत्व को समझें। इस प्रकार स्वास्थ्य की पढ़ाई पुराने प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम से बिल्कुल भिन्न थी, जहाँ सिर्फ पुस्तकों में ही इसकी पढ़ाई पूरी कर दी जाती थी। नये पाठ्यक्रम में इस बात की विशेष सावधानी बरती जाने लगी कि बच्चे विभिन्न निर्धारित कार्यों को करें और उसके साथ साथ उन्हें आवश्यक वैज्ञानिक जानकारी भी कराई जाने लगी, ताकि वे उनको समझदारी और सहानुभूति से करें।

[शेष पृष्ठ १०० पर]

पाठ-संकेत कैसे तैयार करें ?

●

त्रिलोकी नाथ

आजकल यह धारणा बन गयी है कि प्रत्येक शिक्षक जन्मजात है, वह प्रशिक्षण द्वारा बनाया नहीं जाता है। 'पढ़ाना' एक ऐसी कला है, जिसके लिए किसी प्रकार की ट्रेनिंग की जरूरत नहीं है, किन्तु यह भ्रम, मिथ्या है।

स्व० गिजुभाई ने लिखा है—"जिस प्रकार एक वकील, डाक्टर या कारीगर अपना धन्धा जाने बिना वकालत, डाक्टरी या कारीगरी नहीं कर सकता, उसी प्रकार शिक्षक का धन्धा जाने बिना कोई आदमी यह धन्धा भी नहीं कर सकता। किसी पेशे को बिना सीखे अखतियार करने वाला जैसे उस पेशे में नाकामयाब होता है, वैसे ही शिक्षक के धन्धे को न जाननेवाला आदमी भी उस धन्धे के ज्ञान के अभाव में असफल ही होगा।

"हमने यह समझ लिया है कि जिन विषयों को वे पढ़ चुके हैं, आसानी के साथ वे उन्हें दूसरों को पढ़ा भी सकते हैं, इसलिए न तो पढ़ाई के विषयों में कोई परिवर्तन हो सका और न पढ़ाने के ढंग में।"

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए शिक्षण की आवश्यकता है। उस शिक्षण के आधार पर ही मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है, इसलिए अध्यापन के लिए आवश्यक है कि शिक्षक को प्रशिक्षित किया जाय।

पाठ-संकेत क्यों ?

प्रशिक्षण विद्यालयों में अध्यापक भिन्न भिन्न पद्धतियों, सिद्धान्तों, मनोविज्ञानशाला व्यवस्था के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है और वह इसी ज्ञान के आधार पर प्रशिक्षण देने में सफल होता है। अध्यापक को यह अनुभव होता है कि पाठ-संकेत से क्या लाभ होते हैं। वह अपने निश्चित पाठ को अध्ययन करके आता है। वह विचार करके आता है कि ज्ञान को बालकों के सामने इस प्रकार रखूँगा, जिससे वे अध्ययन में रुचि लें।

यह विचार कर लेना कि शिक्षक कक्षा में बिना तैयारी के पढ़ा सकता है, दोष पूर्ण है। शिक्षक को पाठ पढ़ाने से पूर्व विचार करना चाहिए कि कक्षा में कल क्या पढ़ाया जायेगा। पाठ-योजना अध्यापक अपने पथ प्रदर्शन के लिए बनाता है। पाठ योजना बनाते समय अध्यापक स्वतन्त्र है। वह परिस्थिति के अनुसार पाठ संकेत बना सकता है।

बुनियादी शालाओं में तो पाठ संकेतों की विशेष आवश्यकता है क्योंकि वहाँ प्रतिदिन के कार्य की एक पूर्व नियोजित योजना होती है और उस योजना के आधार पर ही उन्हें ज्ञान देना रहता है, इसलिए अध्यापक को पूर्व स्वाध्याय आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पाठशालाओं में अभी पुस्तकों का अभाव है और जो पुस्तकें बालकों को पाठ्यक्रमानुसार पढ़ाई जाती हैं उनमें वह ज्ञान नहीं है, जिसकी उन्हें आवश्यकता है।

अध्यापक को स्वयं ही उसका अध्ययन करके उसमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। हमारे शिक्षक बन्धुओं में यह भ्रान्त धारणा घुसी हुई है कि हमें उद्योग शिक्षण के लिए उस उद्योग सम्बन्धी मोटी-मोटी

बातें जानना ही काफी हैं लेकिन इस स्पर्शज्ञान के आधार पर शिक्षण की गाड़ी चलायी नहीं जा सकती। उस उद्योग में शिक्षक को निष्णात होना ही होगा। जब तक ऐसा नहीं होता है, सही शिक्षण हम नहीं दे पायेंगे।

पाठ सकेत कैसे बनायें ?

गाधाजी की कल्पना के अनुसार बच्चों को जो भी दस्तकारी सिखायी जाय उसके द्वारा उन्हें पूरी तरह से शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा दी जाय। उद्योग की तमाम क्रियाओं द्वारा आपको बच्चों की सहज वृत्तियों को विकसित करना है। आप सामाजिक विषय, गणित और विज्ञान जो भी सिखायेंगे, वे सब उस उद्योग में सम्बन्धित ही नहीं उस पर आधारित होंगे।

पाठ सकेत तैयार करते समय निम्न लिखित तथ्यों पर विचार होना चाहिए—

१ स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उद्योग का चुनाव करना चाहिए।

२ विद्यार्थी को दी जाने वाली जानकारी समाज, प्रकृति और उद्योग में से किसी एक पर आधारित होनी चाहिए। पाठ सकेत कभी लक्ष्मण रेखा नहीं होंगे, जिनका उल्लघन न किया जा सके। आवश्यकतानुसार उसमें तात्कालिक परिवर्तन सदैव होते रहेंगे।

३ प्रक्रिया का चुनाव छात्रों के सहयोग से विचार विमर्श के बाद तय किया जाना चाहिए।

४ क्रिया का उद्देश्य सुनिश्चित होगा, जिससे विद्यार्थी अच्छी प्रकार परिचित होंगे।

५ सामग्री एकत्र करने में विद्यार्थियों का पूरा पूरा सहयोग होना चाहिए।

६ क्रियाशीलन के लिए टोलियाँ बनायी जानी चाहिए।

७ प्रत्येक टोली के लिए कार्य भली भाँति वितरित कर दिया जाना चाहिए।

८ समन्वित विषय की प्रक्रियाओं की चर्चा अपने क्रमिक रूप में ली जानी चाहिए।

९ गृह कार्य में ऐसे प्रश्न दिये जायें जिनमें विद्यार्थी को अधिक समय न लगे क्योंकि शाला में तो वह सुबह से शाम तक जुटे ही रहते हैं। गृहकार्य का एक सकेत—

(अ) गाँव में मुख्य फसलों का सर्वेक्षण,

(ब) गाँव में चलने वाले उद्योगों का सर्वेक्षण,

(स) गाँव में समय-समय पर फैलनेवाली बीमारियों का सर्वेक्षण।

१० अध्यापक को प्रतिदिन पाठ सकेत बनाने के लिए स्वाध्याय करना चाहिए और विशेषज्ञों से परामर्श लेना चाहिए।

●

आज शिक्षक बच्चों के शिक्षक नहीं होते। वे गणित, भूगोल आदि विषयों के शिक्षक होते हैं। सामने जो बच्चा खड़ा है, उसकी ओर ध्यान नहीं जाता है। रोज हाजिरी लेते हैं। फलाँ लड़का गैरहाजिर है तो बीमार लिख दिया। इससे ज्यादा अपना कोई कर्त्तव्य है, ऐसा वे नहीं मानते हैं। हम ऐसा समझते हैं कि शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों से क्लास में बीमारी के बारे में चर्चा करें। इससे वह बीमारी ज्ञान का साधन बन जायगी। अगर यह हुआ तो हम समझेंगे कि बेसिक एजुकेशन है।

—विनोबा

सोवियत-शिक्षा का स्वरूप

•

निकोलाई गोंचारोव

सोवियत संघ में सामान्य शिक्षा के स्कूल समस्त पढ़ने वाली पीढ़ी की शिक्षा दीक्षा में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। शिक्षा और उत्पादक श्रम इनके काम की बुनियाद होते हैं। बहुशिल्प शिक्षण झुकाव वाले अनिवार्य आठ वर्षीय अपूर्ण माध्यमिक स्कूल, माध्यमिक शिक्षा में पहली मंजिल होते हैं।

स्कूली बच्चों को आम शैक्षणिक तथा बहुशिल्प शिक्षण ज्ञान के बुनियादी सिद्धान्तों से परिचित कराकर और उन्हें व्यावसायिक, नैतिक, शारीरिक तथा सौन्दर्यपरक शिक्षा दीक्षा प्रदान करके,—ये स्कूल अपने विद्यार्थियों को काम के लिए और अपनी शिक्षा को आगे जारी रखने के लिए अनेक अवसर प्रदान करते हैं।

स्कूल के समय का विभाजन इस प्रकार किया जाता है—४३ प्रतिशत समय साहित्य तथा उससे सम्बद्ध विषयों के लिए, ३५ प्रतिशत प्राकृतिक विज्ञानों तथा गणितीय विषयों के लिए, १५ प्रतिशत तमाम व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए और ७ प्रतिशत व्यायामादि के लिए।

विद्यार्थियों की बहुशिल्प शिक्षणालय प्रशिक्षण आठ वर्षीय स्कूल में व्यावसायिक शिक्षा दीक्षा की प्रणाली में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यहाँ बच्चे उद्योग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शाखाओं, जैसे—धातु तथा काठ के मशीनी निरूपण कृषि, संचार, परिवहन तथा निर्माण के साधनों के बारे में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

बच्चों को निचली कक्षाओं से ही काम करना सिखाया जाता है। धीरे धीरे उन्हें प्रयोगशालाओं, स्कूल के मैदानों और स्कूल के कारखानों में स्वाधीनता पूर्वक काम करने के लिए कहीं अधिक समय मिलने लगता है।

स्कूल की ८ वर्षीय अनिवार्य शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी ११ वर्षीय आम शैक्षणिक पोलिटेकनिकल स्कूल की ९ वीं कक्षा या माविधिक स्कूलों या अन्य विशेष माध्यमिक स्कूलों में दाखिल हो सकते हैं।

माध्यमिक स्कूल के पाठ्यक्रम में लगभग ९० प्रतिशत समय साहित्य, प्राकृतिक विज्ञान, गणित और व्यावसायिक प्रशिक्षण को दिया जाता है, बाकी समय व्यायाम को दिया जाता है। सप्ताह में दो घंटे वैकल्पिक अध्ययन के लिए रखे जाते हैं। इन घंटों में छात्र मनचाहे विषयों का अध्ययन कर सकते हैं। वे चाहें तो अपनी पसन्द के खेलकूद में हिस्सा ले सकते हैं।

माध्यमिक स्कूल के छात्रों का व्यावसायिक शिक्षण प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक संस्थानों, निर्माण-स्थलों, सामूहिक फार्मों तथा राजकीय फार्मों में आयोजित किया जाता है।

स्कूली बच्चों की शिक्षा और काम को जोड़ देने से एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या हल हो जाती है। हम बच्चों को उनकी भावी विशेषज्ञता के स्वतन्त्र चयन के लिए तैयार करते हैं। उत्पादनशील काम में भाग लेते हुए छात्रगण, व्यवहार रूप में मानव कार्यकलाप के विभिन्न रूपों से परिचित हो जाते हैं। इससे उन्हें अपनी समस्त सम्भावनाओं को तौलने, अपनी दिलचस्पियों को समझने, एक निश्चित विशेषज्ञता चुनने, और बाद में किसी उच्चतर शिक्षा संस्था के चुनाव करने में मदद मिलती है।

अनेक नौजवान जिन्हें पूरी माध्यमिक शिक्षा नहीं प्राप्त है, उद्योग तथा कृषि में काम करते हैं। खेती तथा कल कारखानों में लगे हुए युवकों की शिक्षा के लिए विशेष स्कूलों, सायकालीन तथा पाली स्कूलों का एक जाल बिछा हुआ है। जो छात्र ८ वर्षीय स्कूल की शिक्षा पूरी कर चुके हैं व उद्योग में काम करते हुए भी माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, और साथ ही अपनी व्यावसायिक योग्यता भी बढ़ा सकते हैं। जो लोग काम जारी रखते हुए भी सफलतापूर्वक अध्ययन करते हैं उनके लिए सरकार ने काम का समय कम कर दिया है।

गणित संगीत नृत्य तथा ललित कलाओं में प्रतिभा सम्पन्न बच्चों के लिए विशेष सामान्य शिक्षा देने वाले स्कूलों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। दुर्बल स्वास्थ्य वाले बच्चों के लिए वनों में स्थित स्कूल, सैनेटोरियम तथा विशेष स्वास्थ्य स्कूल हैं। इन स्कूलों में मौसम अनुकूल रहने पर कक्षाएं मुक्त आकाश के नीचे लगती हैं।

शिक्षा पूर्णतया निःशुल्क है। इसके अतिरिक्त, राज्य द्वारा छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। स्कूलों में दोपहर के भोजन और जरूरतमंद बच्चों के साधन सामग्री की व्यवस्था के लिए भारी रकमें अनुदान में दी जाती हैं।

सामान्य शिक्षा स्कूलों के अलावा, सोवियत संघ में व्यवसायगत तकनीकी स्कूल भी हैं। उनका काम राष्ट्रीय अर्थतंत्र की समस्त शाखाओं के लिए योग्य कर्मियों को प्रशिक्षित करना है। ये स्कूल उन छात्रों को भरती करते हैं, जो ८ वर्षीय शिक्षा पूरी कर चुके होते हैं और उद्योग में काम करना चाहते हैं। इनका पाठ्यक्रम एक से तीन वर्ष तक होता है।

सोवियत संघ के ३४१६ तकनीकी तथा अन्य विशेष माध्यमिक स्कूलों में २० लाख से अधिक छात्र पढ़ते हैं। ये स्कूल उद्योग, कृषि और सांस्कृतिक क्रियाकलाप की समस्त शाखाओं के लिए विशेषज्ञ तैयार करते हैं। इन स्कूलों में पाठ्यक्रम विषय के अनुसार ३ या ४ वर्ष का होता है।

यहाँ उच्चतर शिक्षा के तीन रूप हैं—नियमित दिवसकालीन अध्ययन जिसमें छात्रों को अपना पूरा ध्यान पढ़ाई में लगाने का मौका मिलता है संध्याकालीन उच्चतर स्कूल जिसमें छात्रों को काम करते हुए पढ़ने का मौका मिलता है और पत्र-व्यवहार द्वारा भी। सोवियत संघ के समस्त उच्चतर शिक्षा संस्थानों में कुल मिलाकर कोई २६ लाख छात्र पढ़ते हैं। इन सबकी शिक्षा निःशुल्क है, और इनमें लगभग दो तिहाई छात्रों को वजीफे मिलते हैं।

•

[पृष्ठ ९६ का शेषांश]

समाज अध्ययन तथा सामान्य विज्ञान के लिए भी व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक रास्ते अपनाये गये। समाज अध्ययन का पूरा पाठ्यक्रम बच्चों की स्वाभाविक दिलचस्पी पर आधारित किया गया और उसी के इर्द गिर्द शिक्षा दी जाने लगी। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इतिहास भूगोल के नियमित पाठ नहीं पढ़ाये गये। शुरू में आदि मानव की, पुराणों की तथा लोक कथाओं की दिलचस्प कहानियों के जरिये इतिहास पढ़ाया जाने लगा और फिर धीरे धीरे सिलसिलेवार ऐतिहासिक ज्ञान की पृष्ठभूमि से वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का ज्ञान कराया जाने लगा। उसी तरह सामान्य विज्ञान की पढ़ाई भी बच्चों के इर्द गिर्द के वातावरण से सम्बन्धित रखी गयी।

[साभार खादी ग्रामोद्योग से] (अपूर्ण)

गड़रिये की कहानी

गुरुबचन सिंह

तीन दिनों की निरन्तर वर्षा के बाद, आज दोपहर के समय पानी कुछ थम गया था! गली महल्ले में कई लोग घरों से बाहर निकल आये थे, और काले बादलों से घिरे हुए आकाश की ओर देखते हुए ठंडी खुशगवार हवा का आनन्द ले रहे थे। कुछ लोगों की एक टोली नदी की बाढ़ देखने के लिए जा रही थी। मैं भी घर की उमस से परेशान होकर बाहर हवा में निकल आया था, और सामने बाड़ी की घास पर हल्की हल्की चहल्कदमी कर रहा था। जब आकाश पर काली घटाएँ उमड़ रही हों, और आँखों के सामने एक झुटपुटी-सी छाया हो, पानी लदे पेड़ों के पत्तों से टपटप करती हुई बूँदें, वर्षा का एहसास दिला रही हों, तो प्रायः मेरा बचपन जाग उठता है, और मुझ पर एक नशे की-सी कैफियत छा जाती है।

जब कुछ बूँदाबाँदी आरम्भ हुई तो मैं घर के बरामदे में आरामकुरसी पर आ बैठा। मेरे मस्तिष्क में अपने जीवन की कुछ स्मृतियाँ उभरने लगीं। जब कभी जोर की वर्षा होती, मजा ही आ जाता। प्रायः स्कूल बन्द हो जाता और मैं अन्य लड़कों के साथ नदी की ओर निकल जाता। काफी समय वहाँ खेलते कूदते, और फिर कहीं घर लौटते।

नदी की ओर जाने का यों भी मुझे बहुत शौक था। मैं और मेरा दोस्त जमाली अकसर उस ओर घूमने निकल जाया करते थे। पेड़ की झुकी झुकी शाखाओं-तले रेत पर बैठे गप लड़ाते। और, जब लौटते तो, उस मैदान से होकर आते, जहाँ बजारों का कुआँ था। उस मैदान में कुछ मिटे हुए घरों के निशान, खपड़ों की ठीकरियाँ और ईंटों के टुकड़े बिखरे दिखाई देते। माँ ने बताया था—जब मैं बहुत छोटा था, नदी में एक बार भयानक बाढ़ आयी थी और मैदान की एक बस्ती पानी में गर्क हो गयी थी। अनेक लोग बेघर हो गये थे। कई बह गये थे, कइयों को साँपों ने डस लिया था। तब से फिर उस मैदान में किसी ने घर नहीं बनाया था। मिटे हुए दिनों की निशानी बस वह बजारों का कुआँ था, जो बस्तीवालों से पहले बजारों ने बनाया था।

बजारों के कुएँ के बारे में मशहूर था कि उसमें एक जिन रहता है। मैं और जमीले भूत से नहीं डरते थे, जब भी वहाँ जाते, कुएँ की मेड़ के पास खड़े होकर अन्दर झाँकते। नीचे गदला सा पानी दिखाई देता, और थोड़ी थोड़ी देर बाद कुछ मेंढक उभरते और छप से पानी में विलीन हो जाते। कभी हम एक छोटा सा पत्थर उठाते और कुएँ में फेंक देते, डम सा एक स्वर पैदा होता, जो हमारे मन में खुशी की एक लहर दौड़ जाती। ऐसा हम अनेक बार करते और कहते—कहाँ है जिन, कहीं भी तो दिखाई नहीं देता।

जमाली मुझसे अधिक निडर था। वह स्वभाव का भी बड़ा सीधासादा था। मुझसे बहुत स्नेह रखता

था। कभी झगड़ा नहीं करता था। उसके माँ-बाप जाने कब मर चुके थे। बूढ़ी दादी ही उसे पाल रही थी। जमाली की बूढ़ी दादी कोयले की टिकियाँ बेचकर घर का खर्च जुटाती थी। जमाली मेरी तरह एक बड़े स्कूल में पढ़ने नहीं जाता था। मसजिद के मकतब में जाकर पढ़ा करता था। हमारा स्कूल इतवार के दिन बन्द रहता था, और जमाली का जुम्मा के दिन। इतवार के दिन जब हम गली मुहल्ले के लड़के खेल-कूद में व्यस्त रहते, वह बस्ता दबाये स्कूल जाता और हसरत भरी नजरों से हमें देखता। और, जुम्मा के दिन जब हम चहकते हुए स्कूल जा रहे होते तो, वह अपने घर के सामने खड़ा उदास नजरों से हमें जाता देखता रहता। वह अपनी दादी से कहता–'दादी मुझे भी बड़े स्कूल में भरती करवा दो।' दादी कहती—'बड़े स्कूल में फीस लगती है, और मकतब में फीस नहीं लगती।'

जमाली मुझसे पूछता–'तुम्हारे स्कूल में फीस लगती है अमर!'

मैं कहता–'नहीं तो।'

'दादी माँ कहती है फीस लगती है।'

जिन लड़कों के बाप कारखाने में काम करते हैं, उनकी फीस नहीं लगती...।

उसका बाप तो कम्पनी के कारखाने में काम नहीं करता। उसको तो जरूर फीस लगती। वह मन मसोस कर रह जाता।

कभी जमाली छुट्टी के दिन हमारे स्कूल की तरफ आ जाता और मेरे साथ ही घर लौटता।

हमारे स्कूल में प्रत्येक वर्ष शिक्षा सप्ताह मनाया जाता था। बहुत सारे स्कूलों के लड़के इकट्ठे होते। स्पोर्टस होती। स्काउट रैली होती। छोटे मोटे नाटक, और गानों का कार्यक्रम! उन दिनों हमारी दिलचस्पियाँ बढ़ जातीं। जमाली इन सब से वंचित रह जाता। उस समय भी वह अपनी दादी माँ से हमारे स्कूल में भरती होने की जिद्द करता और मकतब न जाता। उसे दादी माँ मारती। वह घर से भाग जाता, और सारे दिन जंगल तथा बजारों के कुएँ की ओर घूमता रहता।

दिसम्बर के महीने, हमारे इम्तिहान खत्म हो गये थे। स्कूल में बड़े दिनों की छुट्टियाँ हो गयी थीं। जमाली मकतब में जाता ही था, लेकिन मकतब पहुँचने की अपेक्षा वह मुहल्ले के लड़कों के साथ नदी किनारे चला जाता, और पहरों वहाँ रेत पर खेलता। फिर हमारे साथ जंगल में जंगली बेर चुनने निकल जाता। चाँदनी रात में हम 'धूप-छाँव' खेलते, और जब थक जाते तो जमाली की दादी के पास कहानियाँ सुनने बैठ जाते।

एक रात दादी माँ ने एक 'गड़रिये की कहानी' सुनायी, जो मैदान में बकरियाँ चराया करता था। एक दिन उसे रास्ते में एक कौड़ी पड़ी हुई मिली। वह कौड़ी उसने एक कुएँ में डाल दी। दूसरे दिन सबेरे जब वह कुएँ के पास गया तो उसे मेड़ के करीब ढेर सारी अशर्फियाँ पड़ी हुई मिलीं, और वह एक ही दिन में मालामाल हो गया।

जमाली उस कहानी को बड़े गौर से सुन रहा था। वह दादी माँ से पूछ बैठा–'दादी माँ, अशर्फियाँ कहाँ से आयीं।'

दादी बोली—'उस कुएँ में एक जिन रहता है। उसी ने वह अशर्फियाँ गड़रिये को दी थीं।'

दूसरे दिन जमाली ने मुझे बताया–'उसके पास एक कौड़ी है, जो उसे एक मरतबा स्कूल जाते हुए रास्ते में मिली थी। वह कहने लगा, यदि मैं इसे बजारों के कुएँ में डाल आऊँ तो क्या वहाँ रहनेवाला जिन मुझे रुपया देगा!'

मैंने कहा–'जरूर'।

"तब मैं अच्छी अच्छी पुस्तकें खरीदूँगा, अच्छा-सा बस्ता और तुम्हारे साथ स्कूल पढ़ने जाया करूँगा।'—वह बहुत खुश दिखाई दिया।

मैंने कहा—'वह कौड़ी दिखाओ तो मुझे, कैसी है!'

"नहीं, कौड़ी नहीं दिखाऊँगा।"—उसने कौड़ी जेब में छिपा रखी थी।

दूसरे ही दिन जमाली की दादी सबेरे हमारे यहाँ आयी और कहने लगी–'जमाली भोर से ही जाने कहाँ गया है—अभी तक लौटा नहीं।' दादी मुझसे पूछने

लगी—'तू भी तो उसके साथ गया होगा। कहाँ है वह बता न ?'

माँ बोली—'नहीं, यह तो अभी सोकर उठा है।'

तब जमाली कहाँ चला गया ! बदमाश मुँह धोये और बिना खाये-पिये ही जाने कहाँ निकल गया। आने दो उसे, मैं घर में बाँध कर रखूँगी।'—दादी बड़बड़ाती हुई निराश सी लौट गयी।

दोपहर तक जब जमाली घर नहीं आया तो दादी की परेशानी और बढ़ी। गली के और लोग भी चिन्तित हो सोचने लगे—आखिर लड़का गया कहाँ। दादी रो-रोकर बेहाल हो रही थी।

महल्ले के कुछ लोग जमाली को ढूँढने निकल गये।

शाम हो गयी। जब ढूँढनेवाले वापस घरों को लौट रहे थे, उनमें से एक ने यों ही बजारों वाले कुएँ में झाँका और चीख उठा। कुएँ के अन्दर जमाली की लाश तैर रही थी।

सभी ने मिल कर उसकी लाश बाहर निकाली और उसे बूढ़ी दादी के सामने ला रखा।

मुझे वह समाँ भुलाये नहीं भूलता, जब बूढ़ी दादी जमाली की लाश को छाती से लगा-लगा कर रो रही थी··· और मैं सहमा हुआ सा भीगी-भीगी आँखों से जमाली को देख रहा था। उसकी आँखें बन्द थीं। मुँह खुला हुआ था और उसके हाथ की मुट्ठी भिंची हुई थी। उस मुट्ठी में अशर्फियाँ नहीं थीं, थी सिर्फ एक कौड़ी !

आसमान में काले मेघ उमड़ आये थे, बिजली कौंद रही थीं और टपटप वर्षा आरम्भ हो चुकी थी।

मेरी माँ को अच्छी माँ बना दो

क्रान्ति

"कितनी देर हो गयी, उठता क्यों नहीं ? खाना खा, स्कूल जा।"

बच्चा बैठा औजार के साथ, पुल बनाने में व्यस्त। आँख उठाकर देखने की भी फुरसत नहीं। चेहरे की तन्मयता देखने लायक थी। माँ जरा तेजी के साथ फिर बोली—"उठता क्यों नहीं ? यह उठाकर रख, नहीं तो मैं आ रही हूँ। चल, आज तेरे मास्टर से शिकायत करूँगी कि प्रेम बड़ों की बात नहीं मानता।" बच्चे के कान में इतनी चीजें एकसाथ पड़ीं।

'मास्टर' शब्द कान में पड़ा तो बच्चे ने सिर जरा ऊपर किया, एक निगाह माँ पर डाली, और हाथ में पेचकस पकड़े हुए, बिना कुछ कहे फिर अपने काम में जुट गया। वह तुरन्त पुल बनाकर देखना चाहता था। चेहरे पर तन्मयता के साथ साथ उतावली, भय, साहस, आत्मविश्वास आदि सारे भाव बारी-बारी झलक रहे थे। वे व्यक्त कर रहे थे उसके अन्दर चलनेवाले ऊहापोह को।

उसी वक्त माँ आ गयी और उसने कान पकड़कर प्रेम का सिर ऊपर उठाया। माँ एक चपत लगाना चाहती थी कि प्रेम झटके से माँ की पकड़ से अलग होकर मेरी गोद में आ छिपा। बोला—"मौसीजी सब कहते हैं कि बच्चों को प्रेम से समझाओ; पर माँ और पिताजी समझते ही नहीं। आप ही बताइए, मैं दंगा तो नहीं करता था, फिर माँ मुझे क्यों मारती है ?"

मुझे उसकी बातों पर हँसी आने को थी; लेकिन उसका अपमान होता; इसलिए गम्भीर 'मूड' में उसकी बात का आदर करते हुए मैंने उसे सान्त्वना दी। सहानुभूति पाकर उसके मन की बात निकल आयी। कहने लगा—"मौसीजी, मेरी माँ को अच्छी माँ बना दो। मेरे कहने से तो सुनती नहीं।"

यह संवाद कुछ और चलता; लेकिन फिर माँ की आवाज आयी। प्रेम मेरी गोद से उछलता कूदता बाहर चला गया। मैं सोचती रही—"बच्चों की आवाज माँ-बाप तक कैसे पहुँचायी जाय, और अगर पहुँचायी भी जाय तो सुनेगा कौन ?"

सामुदायिक विकास-कार्य के लिए कार्यकर्ता की आवश्यकता क्यों ?

रामभूषण

आज हम विज्ञान और डिमोक्रेसी के युग में रह रहे हैं। विज्ञान ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है और डिमोक्रेसी ने भी—ये दोनों तथ्य हमारी वर्तमान शती के उत्तरार्ध के आधारभूत सत्य हैं। विज्ञान की आज जो सम्भावनाएँ हैं, उन पर विचार करने पर हमें तुरन्त मालूम हो जायेगा कि विज्ञान ने आज वह शक्ति उद्भूत कर दी है, जो जीवन के लिए शान्ति और विनाश दोनों का कारण बन सकती है और वह भी उस मात्रा में जैसी कि मानवता ने आज के पहिले कभी देखा नहीं था। विज्ञान की अत्यन्त महत्वपूर्ण देनें काल और दूरी को क्षीण करने और उन उपादानों के निर्माण की दिशा में हैं, जो मनुष्य को दीर्घजीवी बनाने में सहायक हो सकते हैं।

सही रास्ता कौन ?

अणु शक्ति को मनुष्य के अधीन बनाने में भी विज्ञान को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अणु-शक्ति से चालित अस्त्र-शस्त्र इतने विनाशकारी हो गये हैं कि संसार के प्रमुख देशों के नायकों के समक्ष पूर्ण शस्त्र-निरोध के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता ही नहीं रह गया है। आज तो यह दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि इस भयंकर अणु-शक्ति का यदि भूल से दुरुपयोग हो जाय तोभी संसार के सामने विनाश की ताण्डव-लीला शुरू हो जायेगी। इसलिए, आज मनुष्य के सामने शान्ति केवल एकमात्र विकल्प ही नहीं, वही आशा भी रह गयी है। धीरे-धीरे मनुष्य ने अपने को उस स्थिति के बिलकुल आमने-सामने ला खड़ा किया है, जहाँ विज्ञान का दुरुपयोग स्वयं विज्ञान को समाप्त कर देगा। प्रश्न यह है कि मनुष्य फिर कौन-सा रास्ता अपनाने जा रहा है ?

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की है और इस उन्नति का उपयोग मनुष्य के भौतिक जीवन को सुखी बनाने के लिए हुआ है; लेकिन जीवन के सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में आज के मनुष्य को जो अनमोल वस्तु मिल गयी है वह है डिमोक्रेसी की कल्पना। शताब्दियों के श्रम और कष्ट सहने के बाद आज मनुष्य 'सहकार द्वारा शासन' की स्थिति में पहुँच सका है और इसीलिए वह बराबर इस कोशिश में है कि डिमोक्रेसी से दबाव-तत्त्व जितना कम हो सके उतना ही अच्छा, ताकि सहयोग और सहकार पर आधारित समाज का निर्माण हो सके।

एक प्रमुख समस्या

तो, दबाव के बदले सहकार कैसे हो, डिमोक्रेसी के सामने आज यही प्रमुख समस्या है। इस समस्या का समाधान डिमोक्रेसी के आदर्श की सबसे बड़ी शर्त है। डिमोक्रेसी के प्रेमियों का आज यह तात्कालिक कर्तव्य है कि शस्त्र-बल के दबाव के आधार पर टिके समाज का वह विकल्प ढूँढें। लड़ाई के सभी अस्त्र-शस्त्र आज निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं तो इस सैन्य-सज्जा का कौन-सा महत्त्व है ? इसलिए सैन्य-शक्ति के निराकरण के बाद सांस्कृतिक शक्ति ही एकमात्र विकल्प है, जो मनुष्य को एक दूसरे से अलग होकर बिखर जाने से बचा सकता है।

विज्ञान और डिमोक्रेसी यदि आज के सत्य हैं तो उनका उपयोग भी सबके लिए होना ही चाहिए, लेकिन यह होगा कैसे ? स्पष्ट है, समाज को ऐसे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है, जो ये दोनों चीजें घर घर पहुंचाने में समाज की सहायता कर सकें।

मनुष्य के उत्तरोत्तर विकासक्रम से कार्यकर्ता हमेशा हमेशा के लिए समाज का अंग बन कर नहीं रह सकते। स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि क्या हम कार्यकर्ता इसलिए चाहते हैं कि वे समाज का स्वयं अपनी देख भाल करने के लिए परिचालित कर सकें ? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही दिया जा सकता है और इसीलिए सामुदायिक विकास कार्यकर्ताओं की भी आवश्यकता है।

आज तक हमने जो भी सामुदायिक प्रगति की है, उसमें समाज के किसी छिटपुट भले के लिए रखे हुए कार्यकर्ता या केवल करुणा की भावना से कुछ काम में लगे रहने वाले कार्यकर्ताओं से समाज का कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता है। समाज का वास्तविक विकास कुछ यहाँ, कुछ वहाँ, ऐसे कामों से हो भी कैसे सकता है ! इसलिए समाज परिवर्तन की दिशा में काम करने के लिए आज आवश्यकता है पूरा समय देनेवाले कार्यकर्ताओं की।

कार्यकर्ता सरकारी हो या गैरसरकारी ?

सामुदायिक विकास के लिए प्रशिक्षण देने की आवश्यकता पर विचार करने पर यह दूसरा प्रश्न है, जो दिमाग को कुरेदता है, लेकिन इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना कोई कठिन नहीं है। यदि हम केवल विकास के लिए नहीं, बल्कि परिवर्तन के लिए कार्यकर्ता चाहते हैं, *यदि हम विज्ञान और डिमोक्रेसी को घर घर* पहुँचना चाहते हैं, यदि हम समाज को इस योग्य बना देना चाहते हैं कि वह स्वयं अपनी देख भाल कर ले और यदि समाज परिवर्तन के लिए पूरा समय देनेवाले कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है तो यह स्पष्ट ही है कि सरकारी कार्यकर्ता इन सभी उत्तरदायित्वों को वहन नहीं कर सकेगा। कार्यकर्ता बड़ी संस्था का हो या छोटी संस्था का, सरकारी हो या गैरसरकारी, वह उस समाज का अंग नहीं रहता, जिसकी वह सेवा करना चाहता है वह तो बाहर से गया हुआ एक व्यक्ति-मात्र रहता है जिसका उस समाज से कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं है। दूसरे, कोई भी सरकार स्वयं अपनी समाप्ति के लिए कार्यकर्ता कदापि नहीं रखेगी। और, जब हम समाज परिवर्तन के लिए कार्यकर्ता चाहते हैं, केवल विकास के लिए नहीं तो इस बात पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि कार्यकर्ता गैरसरकारी ही होना चाहिए।

विकास कार्यकर्ता

विकास कार्यकर्ता वह है, जो मौजूदा समुदाय के विकास के लिए किसी-न किसी रूप में प्रयास करता है। वह मात्र एक एजेंट है, जो लोगों को राहत के काम में सहायता देता है। दुनिया के किसी देश ने ऐसे कार्यकर्ताओं को नौकर नहीं रखा है, जो समुदाय में आमूल परिवर्तन लाने के लिए या उसकी वर्तमान स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के उद्देश्य से काम करें।

विकास कार्यकर्ता को प्रशिक्षित करने के लिए सभी देशों की अपनी एक निश्चित योजना, एक कार्यक्रम होता है और बाहर समुदाय में काम करने जाने के पहिले उसे लिखित और मौखिक कई प्रकार की जाँचों और परीक्षाओं को पार करना पड़ता है, लेकिन इन सबके बावजूद ऐसा कार्यकर्ता समाज के परिवर्तन के लिए उपयोगी नहीं होता वह निश्चित ढर्रे पर काम करनेवाला एक अच्छा आदमी मात्र होता है। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विज्ञान और डिमोक्रेसी के इस युग में ऐसे कार्यकर्ताओं का कोई अधिक उपयोग नहीं है, हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप भी नहीं है।

क्रान्तिकारी कार्यकर्ता

सामुदायिक विकास के कार्यकर्ता को आज क्रान्तिकारी होने की आवश्यकता है और क्रांतिकारी सामुदायिक विकास का कार्यकर्ता, जो व्यक्ति अपने दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी होगा वह केवल विकास से सन्तुष्ट नहीं होगा, वह तो समाज के परिवर्तन के लिए कार्य करेगा। जब गांधीजी ने समाज सेवा का मार्ग अपनाया तो उन्होंने ऐसी योजनाएँ, ऐसे कार्यक्रम

[शेषपृष्ठ १११ पर]

मारता नहीं, प्यार करता हूँ

रामगोपाल दीक्षित

सीमावर्ती जिला पिथौरागढ़ का टावरी नामक गाँव। रात में बच्चों की सभा में निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार प्रात ही 'झाड़ू पार्टी जिन्दाबाद' 'करे गन्दगी वह नीचा है', 'करे सफाई वह ऊँचा है', 'टट्टी ऊपर मिट्टी डालो, खेत में सोना खाद बना लो' नारे लगाते और गीत गाते हुए बच्चों ने सारे गाँव की सफाई कर डाली और समय पर पढ़ने स्कूल चले गये।

मैं भी स्नान करने के लिए धारा की ओर चला। देखा—एक छोटा बच्चा, जिसकी अवस्था लगभग ५ ६ वर्ष की होगी, पीछे पीछे आ रहा है। मैंने पूछा—

"कैलाश, तुम कहाँ आ रहे हो?"

"तुम्हारे साथ नहाऊँगा।"—बड़े अपनत्व से उसने कहा और वह इस कारण कि मैं जब से उस गाँव में पहुँचा था तब से वह अधिकाश मेरे साथ रहा, बैठा और खेला था।

मैं उसकी इच्छा को न टाल सका और उसे आगे करके चला। तीर पर एक स्त्री कपड़े धो रही थी और उसका सद्य स्नात, छोटा बच्चा, जिसकी देह से पानी की बूँदें टपक रही थीं, सिकुड़ा हुआ बैठा था।

'कैलाश, उतारो कपड़े। तुम्हें पहले नहला दूँ।"—यह कहकर मैं साबुन निकालने लगा। इतने में छोटे बच्चे के कुछ कुछ रोने की आवाज सुनायी दी। मुड़कर देखा। कैलाश छोटे बच्चे से सटा बैठा है और धीरे से उसके गाल पर हल्की चपत मार रहा है, जिससे वह चिढ़ कर रो देता है।

मैंने कहा—"कैलाश! शरारत करते हो! क्यों मार रहे हो उसे?"

"मेरा भाई है"—वह बोला। यद्यपि वह उसका भाई नहीं था। और, फिर से उस बच्चे के गाल पर उसने चपत लगा दी, वह फिर रो पड़ा। इस बार उस बच्चे की माँ ने भी कैलाश को रोका।

"भाई है तो क्या भाई को मारना चाहिए?"—मैंने कैलाश की ओर ध्यान से देखते हुए कहा।

बच्चे की माँ के रोकने पर कैलाश ने अब अपना खिलवाड़ बन्द कर दिया था।

"मारता नहीं, प्यार करता हूँ"—उसने कहा और वह हँसने लगा।

बच्चों के ऐसे ही ऊपर से बुरे दिखने वाले अधिकाश व्यवहारों के पीछे उनका हृदय बोलता रहता है। काश, हम जान पाते!

"आपके लड़के की पढ़ाई कैसी चल रही है?"

"सन्तोषजनक, खूब मन लगाकर पढ़ रहा है, एक-एक कक्षा के दो दो साल।"

ग्राम-निर्माण के तत्व

•

श्याम सुन्दर प्रसाद

गाँव का निर्माण गाँव के लोगों को करना है। बाहर के लोग इनकी मदद कर सकते हैं। गाँव के सभी लोग जब गाँव को बनाने के लिए कमर कसकर तैयार होंगे तब गाँव बनेगा। गोवर्धन पहाड को उठाने के लिए कृष्ण भगवान के रहते हुए भी हर आदमी को लाठी लगानी पडी थी। इसका मतलब यही है—सबलोग लगते हैं तब काम होता है।

ग्रामइकाई का कार्यक्रम ग्राम निर्माण का कार्यक्रम है। आज गाँव जैसा है उससे बदल कर उसको उन्नत और विकसित बनाना है। यह एक बड पुरुषार्थ का काम है और यह काम ग्राम सहायक को करना है, किन्तु ग्राम-सहायक को करना है—इसका मतलब इतना ही है कि इस काम को पूरा करने म वह गाँव के लोगों की मदद करे, गाँव के लोगों को प्रेरणा दे। उनमें इसके लिए भावना और चाह पैदा करे और उनको सगठित करे। अर्थात, वह अपनी सेवा गाँव को अर्पित कर दे। वास्तव में यह निर्माण का कार्य करेंगे तो गाँव के लोग ही।

ग्राम-सहायक की कसौटी

ग्राम सहायक सच्ची लगन और सेवा भावना से अपना काम कर रहा है इसकी कसौटी यही होगी कि उसके प्रयत्न से गाँव के लोग कितने सगठित हुए हैं, गाँव के विकास और उन्नति के लिए उनमें कितनी चाह और मुस्तैदी आयी है। ग्राम सहायक सेवा का काम सफलतापूर्वक कर सके, इसके लिए यह जरूरी है कि उसको जो कुछ करना है उसका चित्र उसके सामने हो तथा उसकी कल्पना उसको हो। अत इस विषय की कुछ बुनियादी बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

मुख्य बात यह है कि आज गाँव असल में गाँव हैं ही नहीं। आज तो गाँव आदमियों की एक जमात है, व्यक्तियों का एक समूह मात्र है। एक स्थान पर कुछ लोगों के एकत्र हो जाने से असली माने में गाँव नहीं बन जाता है—जैसे लोहे की कुछ कड़ियों को एक जगह जमा कर देने से जजीर नहीं बन जाती है। ये कड़ियाँ जब एक दूसरे से जुड़ती हैं, तो जजीर बनती है। उसी तरह एक स्थान पर एकत्र हुए अनेक लोग जब एक दूसरे से जुड़ते हैं, तब वास्तविक अर्थ में गाँव बनता है। कड़ियों को जोड़नेवाली चीजें हैं—आग की गरमी, कुछ रासायनिक पदार्थ या मसाले और कारीगर के हाथ। आदमियों को जोड़ने वाले कौन से तत्व होंगे? ये तत्व हैं प्रेम, करुणा और सद्भावना। फिर उनमें से त्याग सेवा और सहयोग की वृत्तियाँ पैदा होंगी, तब इनके सहारे गाँव वास्तविक गाँव बनेगा और उसका निर्माण होगा।

बात महत्व की है, इसलिए अधिक सफाई के लिए एक दूसरा उदाहरण लें। सेना में कुछ लोग एक जगह पर एकत्र होते हैं, परन्तु कुछ लोगों के एक जगह पर केवल एकत्र हो जाने से ही सेना नहीं बन जाती है। सेना के सामने एक उद्देश्य होता है, एक अनुशासन होता है और एक सकल्प होता है। उसका उद्देश्य है देश की रक्षा करना। उसका अनुशासन है मिल कर रहना, मिलकर खाना और मिलकर चलना। उसका सकल्प है अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए

अपने का बलिदान कर देना। जब ये तीनों बातें पूरी होती हैं तब ऐसा बनता है। इसी तरह जब गाँव के लोगों के सामने गाँव को विकसित और उन्नत बनाने का उद्देश्य होता है, जब उनके बीच मिल कर रहने और बाँट कर खाने का अनुशासन होता है और जब गाँव के हित को अपना हित समझने तथा गाँव के हित-साधन के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करने का उनका संकल्प होता है तब गाँव, वास्तव में गाँव बनता है।

ग्राम निर्माण के आधार

ये बुनियादी बातें हैं गाँव के निर्माण की। इनके आधार पर ही गाँव के जीवन में वे सारे गुण आ सकते हैं जिससे गाँव सुन्दर सुखी सम्पन्न और सुसंस्कृत दिखेगा। इस नींव पर गाँव का जो भव्य भवन बनेगा इसके खम्भे क्या होंगे? उसके तीन खम्भे होंगे। (१) गाँव के अभिक्रम और शक्ति का विकास (२) गाँव का सांस्कृतिक विकास और (३) गाँव का आर्थिक एवं राजनीतिक विकास।

पहले बताया गया है कि गाँव का निर्माण गाँव के लोगों को करना है। बाहर के लोग इनकी मदद कर सकते हैं। गाँव के सभी लोग जब गाँव को बनाने के लिए कमर कसकर तैयार होंगे तब गाँव बनेगा। गोवर्धन पहाड़ को उठाने के लिए कृष्ण भगवान के रहते हुए भी हर आदमी को लाठी लगानी पड़ी थी। इसका मतलब यही है—सबलोग लगते हैं तब काम होता है। अतः गाँव के अभिक्रम और शक्ति का पहले विकास होना चाहिए। अभिक्रम का अर्थ यह होता है कि गाँव के लोग स्वयं सोच समझकर आगे बढ़ें। ऐसा नहीं कि किसी के धक्का देने से या किसी के दबाव से वे काम करें। किसी के कहने का इन्तजार करने की जरूरत नहीं। जब अभिक्रम जगेगा तो गाँव में जो शक्ति छिपी हुई है वह प्रकट होगी और बढ़ेगी।

गाँव के सांस्कृतिक विकास का अर्थ यह है कि गाँव में आपस में मेल रहे लड़ाई झगड़े न हों गाँव के लड़कों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय गाँव में भजन कीर्तन का सिलसिला चले जिसमें सब लोग शामिल हों। मुसलमान या किसी धर्म के लोग जहाँ हों वहाँ धर्म के अनुसार वे ऐसा ही आचरण करें। गाँव में आज अस्पृश्यता का जो कलंक है और जो गाँव को घुन की तरह खा रहा है, वह मिट जाय। गाँव में अगर कोई भूखा, नंगा हो तो सब मिलकर प्रेम और करुणा से उसके लिए अन्न, वस्त्र का प्रबन्ध करें। यह काम एक बार भीख या दान देने से नहीं होगा।

काम करने वाले हर आदमी के पास जमीन या कोई दूसरा धन्धा होना चाहिए। अतः जिसके पास जमीन नहीं है, उसको सब मिलकर जमीन दें तब कोई भूखा, नंगा न रहेगा। इसी तरह गाँव की सेवा के लिए ग्राम कोष बनाना चाहिए। फिर गाँव में वस्त्र स्वावलम्बन होना चाहिए यानी गाँव के लिए जो कपड़ा चाहिए वह गाँव में बन जाये। गाँव में आज पंचायत का चुनाव होना है, इसमें यह कोशिश हो कि चुनाव निर्विरोध हो जाय या अगर चुनाव में कई व्यक्ति खड़े हों तो झगड़े न हों। चुनाव के बाद सब लोग मिलकर काम करें। ऐसा न हो कि जो लोग चुनाव में खड़े हुए हों वे चुनाव के बाद आपस में झगड़ते रहें। चुनाव की हार जीत को चुनाव के बाद भूल जाना चाहिए। ये सब सांस्कृतिक विकास के चिह्न हैं।

आर्थिक विकास का मतलब यह है कि पूरे गाँव की आमदनी भी बढ़े। सब लोग सुखी और खुशहाल हों। इसके लिए कुछ कार्यक्रम बताया गया है किन्तु वह पहिले कदम के रूप में है। इतना काम पूरा हो जाने पर फिर आगे का कार्यक्रम बनाना होगा।

राजनीतिक विकास का अर्थ यह है कि देश के संविधान के अनुसार जो अधिकार मिले हुए हैं उनको समझें और समझ बूझ कर उनका उपयोग करें किन्तु इसके पहले सबलोग अपना कर्त्तव्य पूरा करें। महात्मा गांधी का कहना है कि जब आदमी अपना कर्त्तव्य पूरा करता है तब वह अपना अधिकार पाता है। इसी तरह से पंचायत के कानून से जो अधिकार मिले हुए हैं और जो कर्त्तव्य करने को कहा गया है उनके अनुसार आचरण करें।

ऊपर बतायी गयी बातों पर जब गाँव के लोग अमल करेंगे तब ग्राम निर्माण होगा और तब ग्राम स्वराज्य होगा। गांधीजी कहते थे कि स्वराज्य को गाँव में ले जाना है। इसका यही अर्थ है। ग्राम सहायक के सामने यह चित्र होना चाहिए। इस चित्र के अनुसार काम हो, इसकी चिन्ता उसको होनी चाहिए, इसका लगन उसके दिल में रहनी चाहिए, इसके लिए अपनी सेवा और शक्ति गाँव को उसे अर्पण कर देनी चाहिए।

अहिंसा की शक्ति कैसे जगे ?

आज चीनी सीमातिक्रमण से देश पर एक सकट आया है। इस सकट का मुकाबिला करने के लिए सरकार तो प्रयत्न कर रही है लेकिन केवल सरकार के प्रयत्न से यह काम पूरा नहीं होगा। हर गाँव और शहर को, हर परिवार को, हर आदमी को इसके लिए प्रयत्न करना होगा। हर आदमी किस तरह प्रयत्न करेगा, उसका क्या कार्यक्रम होगा? आम जनता देश को बचाने के लिए जो प्रयत्न कर सकती है, और जो कार्यक्रम पूरा कर सकती है उसका स्वरूप वही है, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। तब देश इतना मजबूत हो जायगा कि कोई उसको दबा नहीं सकता, कोई इसको जीत नहीं सकता, तब देश में अहिंसा की शक्ति बनेगी और दुनिया में फैलेगी।

आज ख़ुश्चेव और केनेडी भी अहिंसा की खोज में हैं परन्तु अहिंसा का रास्ता दीख नहीं रहा है। हम ग्राम स्वराजका अपना कर्त्तव्य पूरा करके अहिंसा का रास्ता दिखला सकते हैं। वर्तमान चीनी सीमातिक्रमण के सन्दर्भ में देश की सुरक्षा का यह एक कारगर कार्यक्रम है। इन सब बातों को सूत्र में इस तरह कहा जा सकता है—

१-ग्राम निर्माण के काम के लिए ही ग्राम सहायक है। इसके लिए वह अपनी पूरी सेवा गाँव को दे और सारी शक्ति लगा दे।

२-ग्राम निर्माण का काम गाँव के लोगों के करने से ही पूरा होगा। अतः इसके लिए उनको तैयार करना चाहिए।

३ गाँव के लोगों में एक दूसरे के लिए प्रेम, करुणा और सद्भावना होनी चाहिए। उनमें त्याग और सहयोग की वृत्तियाँ होनी चाहिए। ये गुण निरन्तर चिन्तन और अभ्यास करने से आते हैं।

४-ग्राम निर्माण के तीन खम्भे हैं। पहिला, गाँव के लोगों में अभिक्रम और शक्ति का विकास होना, दूसरा, सांस्कृतिक विकास होना और तीसरा, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास होना। इन तीनों खम्भों का खड़ा करना है।

५-गाँव की शक्ति और अभिक्रम से जब ग्राम निर्माण होगा तो ग्राम स्वराज्य की स्थापना होगी। इससे हमारा लोकतान्त्रिक स्वराज्य सुदृढ़ और मजबूत बनेगा।

६-वर्तमान चीनी सीमातिक्रमण के सन्दर्भ में देश की सुरक्षा का यह कारगर कार्यक्रम है। आम लोग इसी तरह से देश को बचाने के लिए अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकते हैं। इससे अहिंसा की शक्ति बनेगी और बढ़ेगी तथा संसार में शान्ति कायम करने में भारत का भरपूर योगदान हो सकेगा।

देश के इतिहास में जो महान व्यक्ति हुए हैं वे कौन 'डिगरी' वाले थे? पराक्रमी लोग क्या डिगरी वाले होते हैं? इसीलिए डिगरी का महत्त्व एक भ्रम ही है। आज वास्तव में सबसे ज्यादा प्रतिष्ठा होगी समाज सेवा में, शरीर श्रम से उत्पादन बढ़ाने में। और देश की रक्षा की चिन्ता में इन कामों के लिए ज्ञान की आवश्यकता है।

—विनोबा

गांधीजी और लोकतन्त्र

●

धीरेन्द्र मजूमदार

देश और दुनिया में माह अक्तूबर हमेशा गांधीजी की याद कराता रहेगा। गांधीजी ने कहा था—'मेरा जन्म चरखा का जन्म है, और उस दिन चरखा जयन्ती मनानी चाहिए।' लेकिन, अबतक न देश ने उसे माना, न दुनिया ने। चरखे को नहीं माना लेकिन जिसके लिए चरखा उसे दुनिया खूब मान रही है। गांधीजी ने चरखे को लोकतन्त्र की बुनियाद बनाना चाहा था। दुनिया बुनियाद को भले ही न माने लेकिन उसने लोकतन्त्र को तो पहले ही से मान रखा था। आज जब उस लोकतन्त्र पर प्रहार हो रहा है तो इष्ट है कि गांधी के जन्म के इस माह में हम उस पर गम्भीर विचार करें।

देश के राष्ट्रीय नेता लोकतन्त्र के कायल हैं। गांधीजी ने भी अहिंसक विचार रचना की बात कह कर लोकतन्त्र को आगे ही बढ़ाने की बात की थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि भारत के आजाद होते ही देश के नेता मुल्क को लोकतान्त्रिक स्वराज्य के विचार पर संगठित करें। उन्होंने देश का संविधान भी उसी पद्धति से बनाया।

लेकिन यद्यपि गांधीजी और देश के दूसरे नेता गण दोनों ही लोकतन्त्र के विचार के कायल थे, तथापि दोनों के चिन्तन में मूलभूत अन्तर था। गांधीजी का चिन्तन लोकमूलक था और दूसरे नेताओं की दृष्टि तन्त्र मूलक थी। केवल आजाद भारत के निर्माण के सन्दर्भ में ही नहीं, परन्तु आजादी प्राप्ति के प्रयास में भी दोनों की दृष्टि में यही अन्तर था।

गांधीजी के पहले भारत के राष्ट्रीय नेता वैधानिक आन्दोलन को ही मानते थे। गांधीजी के साथी दूसरे नेता भी रह-रह कर पद्धति पर शंका प्रकट करते थे, और समय-समय पर उन्हें छोड़कर वैधानिक-पद्धति की ओर दौड़ते रहते थे। अगर देश के बहुत से नेताओं ने गांधी के जनाधारित आन्दोलन को स्वीकार किया था तो वह इसलिए कि उन्होंने देख लिया था कि दूसरे तरीकों से भारत की परिस्थिति में कामयाब होना सम्भव नहीं है। अतएव आजादी प्राप्ति के साथ साथ अगर वे गांधीजी को छोड़कर अपने तन्त्रमूलक वैधानिक पद्धति से देश निर्माण के काम में लग गये तो वह स्वाभाविक था। वैसे गांधीजी जैसे उत्कट आशावादी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे नेताओं को जनाभिमुख बनाने के प्रयास को छोड़ देते।

मुल्क के विभाजन के फलस्वरूप जो विष का ज्वालामुखी फूटा था, उसे शान्त करने का काम समाप्त होते ही उन्होंने इस दिशा में प्रयास करना शुरू कर दिया। उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी कि वह तन्त्र में न जाकर लोक के बीच जाकर बैठे और लोक सेवक संघ के रूप में लोकतन्त्र के लोक को जाग्रत करे, सुसंगठित करे और व्यापक शिक्षण प्रक्रिया से तन्त्र सँभालने की योग्यता का विकास करे। यह सही है कि स्वतन्त्र भारत के लिए राष्ट्र के तन्त्र को सँभालना भी आवश्यक था लेकिन गांधीजी मानते थे कि लोक निर्माण के काम में अगर देश की मुख्य शक्ति लगे और दोयम शक्ति तन्त्र सँभालने का काम करे, तो थोड़े समय में

परिपुष्ट 'लोक' सहज रूप से 'तन्त्र' को अपने हाथ में लेकर खुद ही सँभाल लेगा।

लेकिन, दुर्भाग्य से ऐसा हुआ नहीं। नेतागण वैसे ही गांधीजी के विचार के कायल न थे, फिर गांधीजी भी उनके बीच नहीं रहे। गांधीजी होते तब भी शायद उनकी सलाह मान्य न होती; लेकिन गांधीजी के चले जाने से नेताओं के लिए ऐसा सोचने की भी हिम्मत नहीं रही। फलस्वरूप हजारों वर्षों की गुलामी तथा अँग्रेजी साम्राज्यवाद की भेदनीति से जर्जरित भारतीय लोक अपने निम्नतम दीनता तथा हीनता के स्तर पर ही पड़ा रहा; और उसका नेतृत्व उसे उसी दशा में छोड़कर तन्त्र में प्रवेश कर उसे ही परिपुष्ट तथा सुसंगठित करने के प्रयास में लग गया।

पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त नेता पश्चिम के माडल पर ही अपने लोकतन्त्र को खड़ा करने की कोशिश में लग गये। वे भूल गये कि पश्चिम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस देश से भिन्न है। हर मुल्क का एक इतिहास होता है, और उसकी पृष्ठभूमि में उस देश की विशिष्ट परिस्थिति होती है। अगर किसी भी मुल्क को बनना होगा तो उसे उसी परिस्थिति के सन्दर्भ में सोचना होगा और उसी के अनुसार अपने विकास का संयोजन करना होगा। भारत के नेता अपनी शिक्षा तथा दीक्षा के कारण ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने यह नहीं देखा कि पाश्चात्य देशों में, जो राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं, उनके पीछे जो लोक-चेतना थी उसने सामन्तवाद को समाप्त कर लोकतन्त्र की स्थापना की।

अतः वहाँ का 'लोक' लोकतान्त्रिक मूल्य के लिए सोचता था। वहाँ के लोकतन्त्र का विकास क्रमशः हुआ। वैधानिक प्रगति और लोकतान्त्रिक शिक्षण की प्रगति दोनों समानान्तर रूप से आगे बढ़ीं। भारत में जो राजनीतिक विप्लव हुआ, उसके पीछे की लोक-चेतना लोकतान्त्रिक मूल्य के लिए नहीं थी; बल्कि विदेशी राज्य को समाप्त कर स्वदेशी शासन के स्थापन की थी। वह चेतना मुल्क की राजनीतिक पद्धति के प्रश्न पर अचेतन रही। वह अँग्रेजी राज्य की जगह गांधी-राज्य कायम करना चाहती थी। उनकी आकांक्षा किसी विशिष्ट मूल्य की स्थापना की नहीं थी। अतः आजादी के बाद जब गुलामी-जनित, हीनताग्रस्त जनता के सामने अधिकार और सम्पत्ति का लोभ उपस्थित हुआ तब सम्भवतः उसमें से सहकारिता का विकास न होकर, प्रतिस्पर्धा का ही विकास हुआ, जो चोटी के नेता से लेकर निम्नतम जनता तक फैल गयी।

यही कारण है कि आज जनता की आस्था न नेता पर रही और न लोकतन्त्र पर। दुनिया में लोकतन्त्र पर गम्भीर चुनौती उपस्थित हो गयी है; अतएव दुनिया को अगर लोकतन्त्र की रक्षा करनी है तो गांधी के कथनानुसार दुनिया के मुख्य नेता और शक्ति को, तन्त्र को छोड़कर लोक के साथ लगाना होगा।

●

[पृष्ठ १०५ का शेषांश]

निकाले, जो स्वयं अपने में बिलकुल क्रान्तिकारी रहें। जन-जन की सेवा के लिए उनका अठारह-सूत्रीय कार्यक्रम जगत को दिया हुआ पहला क्रान्तिकारी कार्यक्रम है और उनकी नयी तालीम की कल्पना समाज के आमूल परिवर्तन के लिए पहली विशद योजना। इसलिए, हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि सामाजिक कार्य के लिए हमें क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं की आवश्यता है। ऐसे कार्यकर्ताओं के योग-क्षेम की क्या व्यवस्था हो, यह एक अलग प्रश्न है।

●

हमारे ये नये सैनिक !

•

राममूर्ति

देश की रक्षा के लिए आवश्यकता है देश में नये समाज की, श्रम की, शान्ति की, सहकार और संगठन की। देश में सेना है तो उसके शिविर जहाँ होते हैं, हों; लेकिन विद्यार्थियों और नागरिकों के तो गाँव-गाँव और नगर-नगर में 'शान्ति शिविर' ही होने चाहिए, जिसमें जीवन क्रान्ति की दीक्षा मिले।

दशहरे की छुट्टी है। हजार बारह सौ नवयुवक और नवयुवतियाँ एकत्र हैं। सब विद्यार्थी हैं, और दूर दूर से आये हैं। एन० सी० सी० का बड़ा कैम्प है। सुबह से रात तक पी० टी०, परेड, टेक्निकल ट्रेनिंग, रजन आदि का कार्यक्रम चल रहा है।

सुबह सुबह भारत की शान का गीत होता है। राष्ट्रीय झंडे को सलामी दी जाती है, और दिन भर की दिनचर्या शुरू होती है। राष्ट्र संकट में है, उसकी रक्षा करनी है, उसी के लिए समर्पण सिखाया जा रहा है, रक्षक बनने की कला का अभ्यास हो रहा है।

युवक इस तरह संकल्प के सूत्र में बँधकर किसी ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक अभ्यास की कठोरता को स्वीकार करें, इससे बढ़कर उनके लिए गौरव की दूसरी क्या बात हो सकती है ? वास्तव में, यह दृश्य देश के नये आत्मविश्वास का सूचक है।

सरकार की अनिवार्य सैनिक शिक्षा-योजना के अन्तर्गत इस समय देश में विद्यार्थियों के अनेक सैनिक शिविर चल रहे होंगे। कहा जाता है, इन अभ्यासक्रमों द्वारा युवकों को चरित्र और अनुशासन का अभ्यास कराया जा रहा है, उन्हें देश के लिए मरने की दीक्षा दी जा रही है। राइफल उस शिक्षा दीक्षा का केन्द्र बिन्दु है।

लेकिन, एक बात है। जब हम 'देश के लिए मरने' की बात के साथ 'देश के लिए जीने' की बात सोचते हैं तो मन में कुछ दूसरे ही विचार उठते हैं। देश के लिए मरने का काम किसी एक अवसर पर होता है, लेकिन जीने का प्रतिदिन, जीवन भर। और, अगर जीने की कला आ जाय तो क्या मरने का अभ्यास बाकी रह जायेगा ? क्या सैनिक शिक्षा की इस योजना से हमारे युवकों युवतियों को वह शिक्षा-दीक्षा मिलेगी, जिससे, चीन का आक्रमण हो या न हो, वे हितों की संकुचित परिधियों से ऊपर उठकर जीवन का प्रत्येक क्षण देश और समाज के ही लिए जियें ? यह निश्चित है कि जो देश के लिए जीना सीख जायेगा वह वक्त पड़ने पर देश के लिए मरने से भागेगा नहीं, लेकिन आक्रमण की उत्तेजना में मरने-मारने के लिए तैयार हो जाना देश के लिए जीने की गारंटी नहीं है। कहने की जरूरत नहीं कि जब उग्र राष्ट्रवाद के साथ, सुसंगठित सैनिकवाद जुड़ता है तो राष्ट्र के नाम में जनता अपने 'रक्षकों' द्वारा ही कुचली जाती है। फासिस्टवाद का पूरा इतिहास इसका साक्षी है। सैनिकवाद और सामाजिक क्रान्ति का मेल बैठते देखा नहीं गया है।

भारत जैसे देश में जो आज भी सामन्तवादी संस्कारों और परम्पराओं में जकड़ा हुआ है, देश के लिए जीने का अर्थ है सामाजिक क्रान्ति का सिपाही होना। अगर इस देश के युवकों और युवतियों की शक्ति सामाजिक क्रान्ति में लग जाय तो ४५ करोड़ के विशाल भूखंड में लोक शक्ति का वह अक्षय स्रोत फूट पड़ेगा, जिसके मुकाबिले कोई आक्रामक टिक नहीं सकता। लेकिन, होता यह है कि सरकार की राइफल हाथ में लेते ही युवक प्रतिक्रान्ति का प्रतिनिधि बन जाता है, क्रान्ति का सिपाही नहीं बन पाता। बूट की

ठोकर और राइफल के कुन्दे से आदमी का दिमाग ठीक करने के जीवन-दर्शन में उसका विश्वास हो जाता है। सामाजिक मूल्य उसके हाथ से निकल जाते हैं। उसने आदेश लेना सीखा है, वह आदेश देना चाहता है, धीरे धीरे वह फासिस्ट बन जाता है। लेकिन, भारत ने तो हमेशा के लिए तय कर लिया है कि हमें न स्वदेशी फासिस्टवाद चाहिए, न विदेशी। स्वदेशी फासिस्टवाद की एक ही रोक है—सामाजिक क्रान्ति। तो, क्या इन सैनिक शिविरों में हमारे इन 'सैनिकों' को बन्दूक के नशे से बचाने की सावधानी बरती जा रही है? लगता है, हवा दूसरी ही दिशा में बह रही है। दिशा सैनिकीकरण का है, संस्कारों के परिष्कार और भावनाओं के समाजीकरण की नहीं।

शिविर हों, दर्जनों नहीं, सैकड़ों, हजारों, लाखों हों। बच्चों, किशोरों, युवकों, प्रौढ़ों, विद्यार्थियों, शिक्षकों, नागरिकों सबके लिए हों। उन शिविरों में क्रान्ति का गीत हो, सुबह वैज्ञानिक शरीर शिक्षण हो हल्के नाश्ते के बाद कोई प्रोजेक्ट लेकर दो तीन घंटे उत्पादक श्रम हो, शिविरार्थी मिट्टी खोदें, रास्ता बनायें, कटाव रोकें, बाँध बनायें, कुओं खोदें, पेड़ लगायें, पत्थर तोड़ें, फसल बोयें, खलिहान लगायें, हल चलायें, मकान बनायें, सफाई करें, दुखी के आँसू पोछें, दुर्बल को सहारा दें। इस तरह सब अपनी शक्ति भर, बड़े छोटे का भेद भाव भूलकर मिट्टी से हाथ रँगें और अपनी भावनाओं को देश के करोड़ों के साथ जोड़ें। सारा काम सैनिक ढंग और गति से हो, सुनियोजित और अनुशासित हो। भोजन, विश्राम के बाद तीसरे पहर राष्ट्रीय स्तर पर उचित नागरिकता और सामाजिक क्रान्ति के विविध पहलुओं पर चर्चाएँ हों उसके बाद सामूहिक ड्रिल हो और उपद्रव या संकट के समय सेना की विविध तकनीकें सिखाया जायें। रात को रंजन हो। शिविरार्थी समय से सोयें, समय से उठें। बाहरी कर्मठता की आड़ में भीतरी भोग और प्रमाद को प्रश्रय न दिया जाय।

सोचिए। आज एन० सी० सी० के शिविरों में जो दिनचर्या चल रही है और जो वातावरण है उसकी इस दिनचर्या से तुलना कीजिए। गुणों का विकास किसमें अधिक होगा? चरित्र किसमें ऊँचा उठेगा? देश के लिए जीने की भावना किसमें बनेगी? उमंग भरी जवानी समाज के जीवन के साथ किसमें अधिक जुड़ेगी? राष्ट्र में संगठित निर्माण और आक्रमणकारी के मुकाबिले संगठित प्रतिकार की शक्ति इस कार्यक्रम से अधिक आयेगी या उस कार्यक्रम से?

हमारा यह भ्रम दूर होना चाहिए कि राइफल चरित्र, अनुशासन और पुरुषार्थ का प्रतीक है। जिस तरह के हाथ, दिल और दिमाग की जरूरत लोकतन्त्र को है, निर्भय, स्वतन्त्र, सहकारी समाज को है, उसका निर्माण अब राइफल से नहीं होगा। जिनके हाथों में हम राइफल देकर गौरव का अनुभव कर रहे हैं, उन्हीं हाथों में हल और कुदाल देकर वही गौरव अनुभव करके हम जरा देखें तो! और, अणुयुग के जमाने में एशिया और अफ्रीका के शस्त्र और पूँजी में गरीब देशों की रक्षा राइफल से कहाँ तक हो सकती है यह भी गम्भीरता पूर्वक सोचने और नागरिकों को बताने की बात है। श्रम, गरीबी और शान्ति आत्म समर्पण के विचार नहीं हैं। नये जमाने में सोचने के नये ढंग होने चाहिए। हमें निश्चित सन्देह है कि इन सैनिक शिविरों में हम देश के लिए तड़पनेवाले दिल और देश के लिए उठनेवाले हाथ तैयार कर रहे हैं।

सीखें जो बन्दूक चलाना सीखना चाहते हैं, लेकिन हर युवक और युवती मजबूर क्यों की जाय? हम जानते हैं कि जिन विद्यार्थियों को 'अनुशासन' के भय से इन शिविरों में शरीक होना पड़ रहा है, उनमें से हर एक का हार्दिक उत्साह नहीं है। क्यों न उन्हें विकल्प का अवसर दिया जाय? देश की रक्षा के लिए आवश्यकता है देश में नये समाज की, समता की, श्रम की, शांति की, सहकार और संगठन की। देश में सेना है तो उसके शिविर जहाँ होते हैं, हों लेकिन विद्यार्थियों और नागरिकों के तो गाँव-गाँव और नगर-नगर में 'शांति शिविर' ही होने चाहिए, जिनमें जीवन-क्रान्ति की दीक्षा मिले।

बोलते आँकड़े

हमारी जनसंख्या

आनुमानिक जनसंख्या (१९६२)	पुरुष	स्त्रियाँ	योग
(हजार में)	२,३,६०६	२१,१८,१४८	४,४९,७५४
६ वर्ष से ११ वर्ष की अवस्था वाले	**लड़के**	**लड़कियाँ**	**योग**
(हजार में)	२९,७२६	२७,९१९	५७,६४५
११ वर्ष से १४ वर्ष ,, ,,	१४,५१९	१३,८६३	२८,३८२
१४ वर्ष से १७ वर्ष ,, ,,	१३,३०८	१२,६५४	२५,९६२

शिक्षकों की संख्या

	ट्रेंड	अनट्रेंड	योग
हाई स्कूल	२,१५,६५४	१,११,०५८	३,२६,७१२
मिडिल स्कूल	२,५२,४४५	१,१२,९२९	३,६५,३७४
प्राइमरी स्कूल	५,४६,५३१	२,७५,२९१	८,२१,८२२
बालवाड़ी	२२, ५३१	१,९४८	४,४८४

छात्रों की संख्या

	लड़के	लड़कियाँ	योग
विश्वविद्यालय	५,८६,५७९	१,३७,१०९	७,२३,६८८
प्रौढ़ छात्र*	१८,९६,२०५	९,००,३८४	२७,९६,५८९
हाईस्कूल (केवल ९-१०)	२४,६९,१६५	५,८१,७७३	३०,५०,९३८
मिडिल स्कूल	५६,८०,७११	१८,७८,६८१	७५,५९,३९२
प्राइमरी स्कूल	२,५७,४८,५५६	१,२६,८३,३४१	३,८४,३१,९७
बालवाड़ी	१,३३,३५९	९८,४३२	२,३१,७९१

*प्री युनिवर्सिटी, आर्ट्स, साइंस, कामर्स, टीचर्स ट्रेनिंग, प्रौढ़ शिक्षण, शरीर शिक्षण आदि

शिक्षाशास्त्री महात्मा गांधी

●

महेन्द्रकुमार शास्त्री

गांधीजी-जैसे राष्ट्रपुरुष को किसी वर्तुल या घेरे में रखना उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होगा। विनोबा के शब्दों में वे 'काल पुरुष' थे। अखिल विश्व को जिस वस्तु की आवश्यकता थी, वह उनकी कृति और वाणी द्वारा प्रकट होती थी। भारतवर्ष की दृष्टि से देखा जाय तो वे सभी भारत वासियों के हृदयासीन वास्तविक प्रतिनिधि थे। समग्र भारतीय जनता के अंतःकरण उनकी संतुलित, निर्भीक सत्यपूत वाणी में प्रकट होते थे।

गांधीजी ने अपने जीवन में चाहे जितनी प्रवृत्तियाँ की हों, पर उन सबके मूल में शैक्षणिक दृष्टि थी। शिक्षा के प्रयोग उन्होंने प्रथम अपने विद्यार्थी जीवन में और बाद में दक्षिण अफ्रीका के निवास काल में ही शुरू कर दिये थे। जब उन्होंने फानिक्स आश्रम की स्थापना की, तभी उनके मन में यह विचार आया कि यहाँ रहनेवाले सभी व्यक्तियों का सम्मिलित एक परिवार है मैं इस परिवार में पिता के स्थान पर हूँ, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि यहाँ रहनेवाले बालक, बालिकाओं और वयस्कों की शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा पर ध्यान दूँ।

शारीरिक शिक्षा

शारीरिक शिक्षा की दृष्टि से गांधीजी ने अपने आश्रम में शरीरश्रम को मुख्य स्थान दिया। पाखाना सफाई से लेकर रसोई बनाने तक के सब काम आश्रम वासी ही करते थे। वहाँ प्रतिदिन सबको अमुक समय के लिए बगीचे में काम करना पड़ता था। उसमें बालकों की ही अधिक संख्या रहती थी। बड़े बड़े गड्ढे खोदना, पेड़ काटना, बोझ उठाकर ले जाना आदि कामों में उनकी अच्छी कसरत हो जाती थी। काम करने में उन्हें आनन्द आता था।

अपने फीनिक्स और टाल्स्टाय आश्रम में गांधीजी ने प्रारम्भ से ही यह प्रथा रखी थी कि जिस कार्य को शिक्षक नहीं करते, वह बालकों से नहीं कराया जाता और बालक जिस कार्य को करते, वहाँ उनके साथ उसी कार्य को करनेवाला कोई न कोई शिक्षक अवश्य रहता था इसलिए बालक प्रत्येक काम बड़ी उमंग और प्रसन्नतापूर्वक करते थे।

अक्षर ज्ञान

गांधीजी ने बालक बालिकाओं को अक्षर ज्ञान की शिक्षा देने के लिए अधिक से अधिक तीन घंटे रखे थे। कक्षा में हिन्दी, तमिल, गुजराती और उर्दू भाषाएँ सिखायी जाती थीं। बापू ने वहाँ प्रारम्भ से प्रत्येक बालक को उसकी मातृभाषा में ही शिक्षा देने का आग्रह रखा था। साथ साथ अँग्रेजी सबको सिखायी जाती थी। इसके अतिरिक्त बालकों को संस्कृत और हिन्दी का भी थोड़ा ज्ञान कराया जाता था। इतिहास, भूगोल और गणित सबको सिखायी जाती थी।

अक्षर ज्ञान देते समय गांधीजी को कभी पाठ्य पुस्तकों की कमी का अनुभव नहीं हुआ। उनकी दृष्टि से शिक्षक ही विद्यार्थियों का पाठ्य पुस्तक है क्योंकि बालक आँखों से जितना ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा वे कानों से सुनी हुई बात कम परिश्रम से अधिक मात्रा में ग्रहण करते हैं। बापू ने कभी

तक सैकड़ों पुस्तकें पढ़कर जो कुछ ज्ञान मननपूर्वक आत्मसात किया था, उसे वे अपनी भाषा में बालकों के सामने रखते थे। इसका एक यह अच्छा परिणाम आया कि बालक कही हुई बात को उसी समय फिर सुना देते थे। बालक बापू द्वारा कही बातों को रस-पूर्वक सुनते थे, पर पढ़ने में उनका मन अधिक नहीं लगता था और पढ़ाया हुआ याद रखने में उन्हें कष्ट होता था, इसलिए बापू ने अक्षर ज्ञान की शिक्षा देते समय प्राचीन आरण्यक और उपनिषद कालीन श्रवण पद्धति को शिक्षा में मुख्य स्थान दिया था।

आत्मिक शिक्षा

आत्म ज्ञान की शिक्षा के सम्बन्ध में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रम में प्राप्त होता है लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तु को चौथे आश्रम तक मुलतवी रखते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरा परन्तु दयाजनक बचपन पाकर पृथ्वी पर भार रूप बनकर जीते हैं। इस प्रकार सार्वत्रिक अनुभव पाया जाता है।"

आत्मज्ञान की शिक्षा के लिए गांधीजी पहले बालकों से भजन गवाते और उन्हें नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाते थे, पर उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में वे जैसे जैसे गहरा विचार करते गये, उन्हें लगा कि पुस्तकों से यह शिक्षा नहीं दी जा सकती। जिस प्रकार शारीरिक शिक्षा के लिए शरीर श्रम की आवश्यकता होती है, अक्षर ज्ञान के लिए पुस्तकों की अपेक्षा होती है, उसी तरह आत्मिक शिक्षा के लिए स्वयं आत्मशिक्षा प्राप्त करनी होती है। यह शिक्षा देते समय स्वयं शिक्षक को पदार्थ पाठ बनना पड़ता है। झूठ बोलनेवाला शिक्षक अपने बालकों को सत्यवादी नहीं बना सकता, डरपोक शिक्षक विद्यार्थियों को निर्भीक नहीं बना सकता, व्यभिचारी शिक्षक अपने विद्यार्थियों में संयम की रुचि पैदा नहीं कर सकता। उसके लिए स्वयं शिक्षक को चरित्र-सम्पन्न बनना पड़ता है। वह स्वयं शिष्य बनकर विद्यार्थियों को अपना गुरु बनाता है और कारुण्य भावना से प्रेरित हो अपने विशुद्ध जीवन द्वारा सहज भाव से विद्यार्थियों को आत्मिक शिक्षा देता रहता है।

आत्मदर्शन करनेवाले चरित्रशील शिक्षक के लिए सदैव विद्यार्थियों के सम्पर्क में रहने की आवश्यकता नहीं होती। दूर रहने पर भी उसके चारित्र्य सौरभ से छात्रों के हृदय स्पन्दित होते रहते हैं।

आत्मिक शिक्षा देने के लिए स्वयं गांधीजी ने अन्तर्निरीक्षण कर अपने सब दोषों का मूलोच्छेद किया, वे पूर्ण रूप से निष्कलुष बने और फिर पास में रहकर अपने निकट सम्पर्क से और दूर रहकर अपनी निर्मल भावनाओं से आत्मिक शिक्षा देने लगे।

गांधीजी की शिक्षा पद्धति की यह एक झाँकी है। दक्षिण अफ्रीका का अपना कार्य समाप्त कर जब वे अपनी जन्मभूमि भारत आये तब भारतीय शिक्षा प्रणाली का निरीक्षण करने की दृष्टि से पहले कुछ दिन स्वामी श्रद्धानन्दजी और गुरुदेव के आग्रह से गुरुकुल कांगड़ी और शान्ति निकेतन में रहे। अपने थोड़े समय के निवास काल में गांधीजी ने शान्ति निकेतन के शिक्षकों और छात्रों में अक्षर ज्ञान के साथ शारीरिक और आत्मिक शिक्षा के प्रति असीम रुचि पैदा की।

भारतवर्ष में आने के बाद गांधीजी ने पहले 'कोचरब' और बाद में 'साबरमती' में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। यहाँ भी गांधीजी के गुणों से प्रभावित हो देश के सब प्रान्तों के विशिष्ट व्यक्ति आकर रहने लगे। उनके साथ उनके अपने परिवार थे ही। यहाँ पर भी आश्रम के बालक-बालिकाओं को शिक्षा देने के लिए गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका की तरह शिक्षा के कई प्रयोग किये। गांधीजी को देश के कार्य के लिए प्रायः बाहर रहना पड़ता था, इसलिए उन्होंने काका कालेलकर पर यह जिम्मेदारी डाली। काका साहब ने स्व० किशोरलाल मशरूवाला, नरहरि परीख आदि शिक्षा शास्त्रियों के सहयोग से शिक्षाक्रम की एक अच्छी परिपाटी डाली। इसमें गांधीजी का मार्गदर्शन तो रहता ही था।

प्रौढ़ तथा स्त्री शिक्षा

गाधीजी का यह शिक्षा प्रयोग केवल किसी स्थान विशेष तक मर्यादित नहीं रहा। उनके सामने देश की असंख्य अपढ़ जनता का सवाल था। उनमें बच्चे, प्रौढ़, वृद्ध और स्त्रियाँ भी थीं। इन सब में फैली हुई अज्ञानता दूर करने के लिए उन्होंने प्रौढ और स्त्री शिक्षा का प्रश्न भी अपने हाथ में लिया। राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यस्त रहने के कारण चाहे वे इस कार्य के लिए अधिक समय नहीं दे सके हों पर उन्होंने अपने विराट व्यक्तित्व से ऐसे अनेक लोगों को तैयार किया, जो इस कार्य को अपना जीवन-व्रत बनाकर इसके पीछे लग गये।

राष्ट्रीय शिक्षा

गाधीजी जिस प्रकार विदेशियों द्वारा इस देश पर अधिकार जमाकर राज्य करनेवाले अँग्रेजी राज्य से क्षुब्ध थे, उसी प्रकार वे उनके द्वारा प्रचलित शिक्षा को भी देश के लिए कटक समझते थे। इस शिक्षा से केवल आफिसों में काम करनेवाले क्लर्क पैदा होते हैं। देश का गौरव रखनेवाले राष्ट्राभिमानी स्वतन्त्रचेता वीरों का निर्माण इससे कदापि नहीं हो सकता था इसलिए उन्होंने अपने भारतव्यापी दौरे के समय जगह जगह स्कूल और कालेजों के छात्रों को विद्यालयों से बाहर निकलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए आह्वान किया। इसका कुछ ठीक परिणाम आया। अनेक छात्र स्कूल कालेज छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने लगे पर आन्दोलन का तूफान कम होने के बाद पुन उनकी शिक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ। उनके लिए जगह जगह राष्ट्रीय शालाओं और विद्यापीठों की स्थापना हुई। इनमें प्रारम्भ से कालेज तक की शिक्षा दी जाती थी। गाधीजी की प्रेरणा से स्थापित होनेवाले विद्यापीठों मे गुजरात विद्यापीठ काशी विद्यापीठ, पूना विद्यापीठ और बिहार विद्यापीठ आदि हैं।

हिन्दी प्रचार

इस देश में पदार्पण करते ही गाधीजी ने अपनी आर्ष दृष्टि से यह जान लिया था कि देश के स्वतन्त्र होने के बाद अँग्रेजी भाषा से देश का कारोबार चलाना लज्जा की बात होगी। देश की चौदह भाषाओं में हिन्दी को ही यह गौरव दिया जा सकता था इसलिए उन्होंने अपने चौदह रचनात्मक कार्यों में हिन्दी को भी स्थान दिया और महा अशोक ने जिस प्रकार सिलोन में बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए अपने पुत्र महेन्द्र और अपनी पुत्री सघमित्रा को भेजा, उसी तरह उन्होंने दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए अपने पुत्र देवदास को भेजा।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

आगे जाकर सन् १९१८ में जब गाधीजी इन्दौर में होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने तब उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए ही अधिक जोर दिया। उनकी प्रेरणा से मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई। गाधीजी इस संस्था के अध्यक्ष बने।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा

दक्षिण की तरह वे सारे भारत में हिन्दी का प्रचार करना चाहते थे पर उसका योग आया सन् १९३ में। सन् १९३५ में पुन इन्दौर में होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बाद उन्होंने पश्चिम और पूर्व के प्रान्तों में हिन्दी प्रचार करने के लिए एक योजना रखी। उनकी प्रेरणा से वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना हुई। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की शाखाएँ भी पश्चिम और पूर्व के सब प्रान्तों में हैं। उनके द्वारा दक्षिण की तरह राष्ट्र के पश्चिमीय और पूर्वीय प्रान्तों में हिन्दी का बहुत जोरों से प्रचार हो रहा है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षाओं में भी दक्षिण की तरह प्रति वर्ष एक लाख से अधिक परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं।

सांस्कृतिक कार्य

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। मानवी जीवन के उषाकाल का कल्पना करने पर पता चलेगा कि उसका सांस्कृतिक आकाश मानवीय शिल्पों से भरा गया है। इसके प्रयत्न में मानव को सहस्रों वर्ष लगे। यही संस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जीवन का जितना भी ठाट है उसकी सृष्टि मनुष्य के मन और शरीर के

दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई। मनुष्य जीवन रुकता नहीं। पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता है। संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अंग हैं।

इस दृष्टि से गांधीजी भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान रूप थे। संस्कृति के सभी अच्छे तत्त्व उनके द्वारा प्रतिबिम्बित होते थे। पुरातन काल से विरासत में प्राप्त धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि सांस्कृतिक कार्यों की शोध करने के लिए उन्होंने गुजरात विद्यापीठ में एक पुरातत्त्व विभाग की स्थापना की। उसके आचार्य मुनि जिनविजयजी थे। गांधीजी की प्रेरणा से यहाँ काम करने के लिए आचार्य कृपालानी, आचार्य गिडवानी, पं० सुखलालजी, धर्मानन्द कोसम्बी, बेचरदास दोशी, रसिकलाल परीख, नरहरि परीख, किशोरलाल मशरूवाला, नानाभाई भट्ट आदि देश की अनेक विभूतियाँ एकत्र हुईं। इनमें से प्रत्येक विद्वान स्वयं संस्था रूप था। इनके पास काम करनेवाले व्यक्ति को आज भी कोई डिग्री या पदवी के लिए नहीं पूछता। उनके पास रहना ही किसी भी विश्वविद्यालय की बड़ी से बड़ी डिग्री समझी जाती है।

इन सब विद्वानों के सहयोग से गुजरात विद्यापीठ द्वारा धर्म, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों का उच्चतम साहित्य तैयार होने लगा। उस समय गुजरात विद्यापीठ ने वैदिक, पालि और प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिए वैदिक पाठावली, पालि पाठावली और प्राकृत पाठावली भी तैयार की। भारतवर्ष से बौद्ध धर्म के बाहर चले जाने के बाद बौद्ध साहित्य भी यहाँ से चला गया था।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि गांधीजी ने ही धर्मानन्द कोसम्बी से गुजराती और मराठी में सर्व प्रथम बुद्धलीला सार संग्रह, भगवान बुद्ध, समाधि मार्ग, बुद्ध, धर्म और संघ आदि अनेक बौद्धधर्म सम्बन्धी पुस्तकें लिखवायीं। इसी तरह पं० सुखलालजी और बेचरदासजी ने जैनदर्शन सम्बन्धी पुस्तकें तैयार कीं। शैव, वैष्णव तथा सन्त साहित्य का भी यहाँ बहुत निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने सारी भाषा को एक रूप देने के लिए 'जोडणी कोश' तैयार करवाया। इसकी गुजराती भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों में गणना होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ से 'पुरातत्त्व' और 'साहित्य संशोधक' नामक दो त्रैमासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं, जिनमें अधिकतर शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे।

नयी तालीम

गांधीजी के कार्यक्रमों में सबसे बड़ा और व्यापक कार्यक्रम नयी तालीम है। वे देश की शत प्रतिशत जनता को साक्षर बनाना चाहते थे। सारे देश को साक्षर बनाने के लिए नयी तालीम के सिवाय और कोई पद्धति कारगर नहीं हो सकती।

इसमें बौद्धिक शिक्षा के साथ व्यास का पाणिवाद का मन्त्र है। दस अँगुलियोंवाले हाथ में मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। हाथों से काम करने का अर्थ है सब प्रकार के शारीरिक काम या शरीर से होनेवाली मेहनत-मजदूरी के लिए मनुष्य की सहर्ष अभिलाषा और शारीरिक श्रम के लिए पूज्य बुद्धि। शारीरिक श्रम के प्रति यह सुलझा हुआ भाव गांधीजी की नयी तालीम और जीवन के दृष्टिकोण की देन समझा जाता है, परन्तु जीवन में कर्म की प्रधानता भारतवर्ष की पुरानी विचार पद्धति है। कर्म के अन्दर सब प्रकार का शारीरिक श्रम आ जाता है।

व्यास के शब्दों में दस अँगुलियोंवाले हाथ भगवान के दिये हुए हैं। दैव के दिये हुए हाथों को जिसने पाया, उसे क्या नहीं प्राप्त हुआ? पाणिलाभ से बढ़कर संसार में और दूसरा कोई लाभ नहीं है।

न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।

दैव और पुरुषार्थ इन दोनों का झगड़ा बहुत पुराना है। दैव अपने स्थान पर है, किन्तु जिस समय वह मनुष्य को हाथ दे देता है, उसका काम पूरा हो जाता है। आगे मनुष्य का काम है कि वह दैव के दिये हुए हाथों से सब अर्थों की सिद्धि करे। व्यास के इस अनोखे पाणिवाद को गांधीजी ने नयी तालीम के साथ ओतप्रोत कर दिया है।

नयी तालीम में कर्म की प्रशंसा है और कर्म की प्रशंसा मनुष्य जीवन के सच्चे गौरव को पहचान लेना

है। बुद्धि पूर्वक किया हुआ कर्म ही सच्चा कर्म है। बुद्धि और कर्म जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं। दोनों की सहायता से जीवन रथ आगे बढ़ता है।

अपने सारे जीवन के अनुभवों के परिणाम स्वरूप गांधीजी ने सन् १९३७ में डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में देश के शिक्षा शास्त्रियों का एक सम्मेलन सेवाग्राम में बुलाया। उसमें उन्होंने शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति के लिए इसी नयी तालीम की चर्चा की और उसके बाद उन्होंने सेवाग्राम में 'तालीमी संघ' की स्थापना की। श्री आर्यनायकम् उसके आचार्य नियुक्त किये गये। तब से यह संस्था बुद्धि और कर्म दोनों की समान रूप से शिक्षा देने की दृष्टि से अच्छा कार्य कर रही है।

गांधीजी की दृष्टि में दुनिया के सब सुखोपभोग बुद्धि पूर्वक काम करनेवाले पाणिमन्तों के लिए हैं। जो परिश्रम पूर्वक हाथ से काम करता है, उसे ही खाने का अधिकार है। जब तक व्यक्ति कर्म कर अपने को थका नहीं डालता तब तक उसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, कर्मशून्य होकर जो केवल अपने बुद्धि-बल से सुखोपयोग की सामग्री जुटाता रहता है, उसे उस कल्पित आनन्द में दुःख का अनुभव होता है। इसके विपरित उसमें उसके काम का योग नहीं होने से वह दूसरों का शोषण (हिंसा) करता है।

नयी तालीम हमें यही सिखाती है कि भारतीय संस्कृति की रीढ़ ज्ञानयुक्त कर्म के कारण एक दम सीधी थी। जब तक यहाँ के लोगों में अध्ययन के साथ काम के प्रति आस्था रही तब तक उसकी रीढ़ सीधी रही, पर जिस क्षण से कर्म के प्रति अरुचि हुई तब से उसकी रीढ़ झुकी हुई है। सारे राष्ट्र को समर्थ एवं निरलस बनाने के लिए आज बुनियादी शिक्षा में छिपे हुए इसी सत्य तत्त्व के प्रसार की आवश्यकता है। इस तत्त्व को ठीक तरह से अपना लेने पर राष्ट्र में न तो कोई भिक्षुक रह सकता है और न कोई बेकार। सच में यही भावना होगी कि हम जो कुछ प्राप्त करेंगे, स्वाभिमान-पूर्वक प्राप्त करेंगे, अपने श्रम से प्राप्त करेंगे और उसमें अपनी बुद्धि का योग होगा।

'सर्वे लाभा साभिमाना इति सत्यवती श्रुति।'

(महा शान्ति पर्व)

●

शिक्षा का उद्देश्य

आचार्य विश्वश्रुति के तीन शिष्यों ने जब अपनी शिक्षा पूरी कर ली, तो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए अनुमति माँगी। आचार्य की आँखों म अश्रुबिन्दु उभर आये और उन्होंने अनुमति दे दी। उस समय सन्ध्या हो चली थी। तीनों शिष्य अपनी अपनी तैयारी में जुटे थे। एकाएक आचार्य जी को एक विचार सूझा और उन्होंने मार्ग के काँच में कुछ टुकड़े रखकर वहीं पास के एक वृक्ष की ओट में हो गये, ताकि तीनों शिष्यों को जाते हुए देख सकें।

पहला शिष्य काँच के टुकड़ों को लाघता हुआ आगे बढ़ गया। दूसरा शिष्य कुछ क्षण के लिए वहाँ रुका और टुकड़ों को बचाकर बगल से निकल गया। तीसरा शिष्य अपने सामान को एक ओर रख काँच के टुकड़ों को बटोरने में जुट गया।

आचार्य ने तीसरे शिष्य को तो जाने दिया, किंतु प्रथम दो शिष्यों को रोकते हुए बोले–"वत्स! अभी तुम्हारी शिक्षा पूरी नहीं हुई। शिक्षा का उद्देश्य अभी तुम लोगों ने समझा ही नहीं।"

●

गांधी-विद्यापीठ

पाण्डेयपुर, वाराणसी

सन् १९४६ में काशी में दो संस्थाओं—सर्वोदय साहित्य संघ और सेवा-आश्रम का सूत्रपात हुआ था। सर्वोदय साहित्य संघ गांधी विचार धारा के प्रचार प्रसार के लिए और सेवा आश्रम उन विचारों की प्रयोगशाला के लिए स्थापित हुआ था। सन् ४६ से ५३ तक सर्वोदय साहित्य का प्रकाशन तथा प्रचार करने के बाद सन् १९५३ में सर्वोदय साहित्य-संघ ने अपना स्थान सर्व सेवा संघ प्रकाशन को सौंप दिया। सेवा आश्रम अपना सहज विकास करता रहा। उस सेवा आश्रम ने ही गांधी विचार धारा के प्रयोगिक कार्य के लिए गांधी विद्यापीठ का श्रीगणेश किया है।

पाठ्यक्रम—

गांधी विद्यापीठ का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खण्डों में विभक्त होगा।

पूर्वार्ध में निम्नलिखित ८ विषय अनिवार्य होंगे—

१ गांधीजी का जीवन और कार्य (ऐतिहासिक)
२ गांधी दर्शन-(नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक)
३ „ „ -(सामाजिक)
४ „ „ -(आर्थिक),
५ „ „ -(राजनीतिक),
६ „ „ -(शैक्षणिक)
७ सर्वोदय चिन्तन और आन्दोलन,
८ गांधी का यंत्र तंत्र विज्ञान-(टेक्नॉलॉजी)

उत्तरार्ध-पूर्वार्ध के बाद छात्रों को निम्नलिखित में से किसी एक विषय में विशिष्टता प्राप्त करनी होगी।

१ समाज सेवा तथा समाज रचना
२ श्रम तथा औद्योगिक व्यवस्था,
३ ग्राम निर्माण,
४ गांधी की शिक्षानीति तथा कार्य विधियाँ,

वर्ष के अन्त में ६ महीने किसी सरकारी या गैर-सरकारी संस्था में अध्यापक मण्डल के निर्देशानुसार व्यावहारिक प्रशिक्षण लेना होगा। उत्तरार्ध के अन्त में छात्र को अध्यापक मण्डल द्वारा निर्धारित किसी विषय पर एक विशेष खोजपूर्ण निबन्ध लिखना होगा। इसकी सफल परिसमाप्ति के बाद छात्र को 'आचार्य' की उपाधि की जायेगी।

छात्रों का चुनाव और मूल्यांकन—

गांधी विद्यापीठ में २१ से ४० वर्ष के बीच के योग्य और सेवानिष्ठ व्यक्ति लिये जायेंगे। विद्यापीठ में कम से कम स्नातक श्रेणी तक की शिक्षा प्राप्त, रचनात्मक वृत्ति के स्वस्थ और श्रमशील व्यक्ति प्रवेश पा सकेंगे।

शिक्षा शुल्क—

गांधी विद्यापीठ का कोई शिक्षा शुल्क नहीं होगा। यह भी योजना है कि कुछ चुने हुए योग्य और निष्ठावान छात्रों को, यदि वे आर्थिक कठिनाइयोंके कारण, चाहते हुए भी इस प्रशिक्षण में शरीक न हो पा रहे हों, आवश्यक आर्थिक सहायता दी जाये।

समय सारिणी—

पठन पाठन और व्यावहारिक कार्यों की योजना इस प्रकार की होगी कि छात्रों का अधिकांश समय शिक्षण प्रशिक्षण तथा सम्बन्धित योजनाओं में ही लगे। वर्ष के कुछ महत्वपूर्ण पर्वों के अतिरिक्त छात्रों का अधिकांश समय विद्यापीठ या कार्यक्षेत्र में ही व्यतीत होगा इसलिए विद्यापीठ में केवल वे ही छात्र लिए जायेंगे, जो समय सारिणी के अनुसार पूर्ण समर्पण भावना से इसमें लग सकें।

गांधी विद्यापीठ का शिक्षण काल २ वर्ष का होगा। इसके प्रथम सत्र की घोषणा शीघ्र ही होने वाली है। सत्र में प्रवेश पाने के इच्छुक लोग निर्धारित फार्म पर शीघ्र आवेदन करें।

१५ वाँ अ० भा० सर्वोदय-सम्मेलन

रायपुर, (म० प्र०)

सन् १९६३ का १५ वाँ सर्वोदय-सम्मेलन इस बार रायपुर (म०प्र०) में २७ से २९ दिसम्बर तक होने जा रहा है, यह पाठकों को विदित ही होगा।

इस सम्मेलन में विनोबाजी की उपस्थिति और प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन का लाभ प्राप्त हो रहा है, यह खुशी की बात है।

इस सम्मेलन के पूर्व २३ से २६ दिसम्बर तक अखिल भारत-सर्व-सेवा-संघ का वार्षिक अधिवेशन भी हो रहा है, जिसमें प्रमुख विचारार्थ विषय निम्न प्रकार रहेंगे—

(१) ग्रामस्वराज्य की दिशा में खादी-कार्य का मोड,

(२) शान्ति-सेना का व्यापक संगठन और सीमा-क्षेत्र का कार्य,

(३) जिला-स्तर पर सर्वोदय आन्दोलन का सघन कार्य,

(४) सुरक्षा के सन्दर्भ में देश की आर्थिक संयोजना की नीति।

सूचनाः—

संघ-अधिवेशन और सर्वोदय-सम्मेलन के समय देश की सभी खादी-संस्थाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन भी आयोजित करने का सोचा जा रहा है।

सर्वोदय-सम्मेलन का निवास-शुल्क ३ रुपये के बदले इस वर्ष ५ रुपये किया गया है। इसलिए सम्मेलन में आनेवालों से प्रार्थना है कि वे शुल्क के ५ रुपये, अपना नाम और पूरा पता लिखकर इस पते पर भेजें।

व्यवस्थापक
१५ वाँ सर्वोदय सम्मेलन,
सर्व-सेवा-संघ (राजघाट)
वाराणसी—१

—दत्तोबा दास्ताने

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अक्तूबर १९६२ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

कलेजे का घाव कब भरेगा ?

उम्र १५-१६ साल, पेशा मजदूरी, घर में माँ और भाई। वह लडका एक दिन सुबह बाँस के डडे के सहारे लँगडाता हुआ मेरे दरवाजे पर आया। मेरा उससे परिचय नही था; लेकिन दुखी देखकर मैंने उससे कहा—'बैठो कैसे चले ?'

'घाव भ...ब, दवाई चाहे।'

मैंने घाव देखा। बडा गहरा घाव था, घुटने के नीचे पैर में सूजन थी, दर्द था। मैंने होमियोपैथी दवा दी और कहा—'गुड मत खाना।'

इस पर लडके ने धीमी आवाज मे कहा–'बाबू गुड कहा मिले ?'

खुद मजदूरी करता है, भाई मजदूरी करता है; लेकिन गुड मयस्सर नही ? रोज काम भी कहाँ मिलता है ? और अब, जब कि यह लडका घाव के कारण बैठ जायगा तब तो अकेले बडे भाई की कमाई का सहारा रह जायेगा और तब गुड की कौन कहे, किसी दिन सूखी रोटी भी मुहाल हो जायेगी। पैर का घाव तो शायद अच्छा भी हो जाय; लेकिन ऐसे करोडो के कलेजे का घाव कब भरेगा !

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ १९०० इस मास छपी प्रतियाँ १९००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सम्पादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : १२ अंक : ४

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-६०

नवम्बर १९६३

नयी तालीम

सलाहकार मण्डल

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता :—

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष १२] [अंक ४

शिक्षा की समस्या

इधर कई महीनों से उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों तथा कुछ देहाती क्षेत्रों से छात्र असंतोष की सूचना दैनिक अखबारों में करीब-करीब प्रति दिन आती रहती है। यह सही है कि इस समय असंतोष के उभार ने कुछ उग्र रूप धारण किया है, क्योंकि पूरे छात्र-समाज के अंतर्निहित असंतोष के उभरने के लिए इस समय कुछ निमित्त मिल गये हैं। वास्तविक प्रश्न सामयिक उभार के दबाने का नहीं है, बल्कि छात्र समाज के अन्तर्निहित असंताप के कारणों के ढूँढन का है। देश के नेता, शिक्षा-शास्त्री तथा दूसरे समाजसेवी चिंतित हैं कि समाज-जीवन के इस अत्यंत भयावह रोग का निराकरण कैसे हो? वे शिक्षण-संस्थाओं की नियमावली में परिवर्तन करते हैं, छात्रों पर शासन का अंकुश बढ़ाने की परिकल्पना बनाते हैं, शिक्षकों की वेतन-वृद्धि करते हैं और इसी प्रकार अनेक राजनीतिक और आर्थिक संयोजन से रोग के इलाज के प्रयत्न में लगे हुए हैं।

लेकिन एक स्पष्ट तथ्य पर प्रायः ध्यान नहीं जाता है। वह यह कि शिक्षार्थी की समस्या का हल राजनीतिक तथा आर्थिक प्रक्रिया से नहीं हो सकता, शिक्षण प्रक्रिया में ही उसका हल ढूँढना पड़ेगा।

जब हम शिक्षण प्रक्रिया पर विचार करते हैं तो प्रथम प्रश्न शिक्षा के लक्ष्य का होता है। वस्तुतः आज देश में शिक्षा का जो कार्यक्रम चल रहा है उसका लक्ष्य सांस्कृतिक नहीं है, आर्थिक है, उसका लक्ष्य विद्याभ्यास नहीं है, नौकरी है। मनोविज्ञान का प्रथम पाठ यह है कि लक्ष्य की असफलता

नैराश्य की जननी होती है। आज देश के धंधे धंधे में मुख्य समस्या यह है कि पढ़े लिखे नवयुवकों को नौकरी नहीं मिलती है, वे बेकार हैं।'

विद्यार्थी-जगत की आज की समस्या यह है कि जीवन में उसका भविष्य अनिश्चित है। नौकरी के उद्देश्य से पढ़ानेवाले अभिभावक तथा पढ़नेवाले विद्यार्थी का भविष्य अन्धकारमय है। यह शिक्षा जगत का मूल तथ्य है। मानस शास्त्र के अनिवार्य नियम के अनुसार निराशा-ग्रस्त छात्र की अभिव्यक्ति क्या होगी, यह स्पष्ट है। स्वभावत यह अभिव्यक्ति सामान्य प्रसंग पर उद्दण्डता, उच्छृंखलता तथा अनुशासनहीनता ही हो सकती है; और वही हो रहा है।

देश के राजनायक, सामाजिक नेता तथा दूसरे विचारक रोग के सहज निदान के रूप में जिम्मेदारी राजनीतिक दलों के ऊपर थोपने के आदी हो गये हैं; लेकिन समझना चाहिए कि रोग इतना हल्का नहीं है, वह ज्यादा गहरा है, जिसका निदान हमने ऊपर किया है।

तो, आज अगर छात्र समस्या को हल करना है तो उसका भविष्यत निश्चित करना होगा, शिक्षा का लक्ष्य बदलना होगा, उसका लक्ष्य नौकरी के बिना ही सुसंस्कृत तथा समृद्ध जीवन के प्रति की आकांक्षा का बनाना होगा।

यह शुभ लक्षण है कि देश के नेता इस दिशा में भी सोच रहे हैं। वे शिक्षा में तकनीकी शिक्षा का स्थान महत्त्व का बनाने की कोशिश कर रहे हैं। यह प्रयास भी सफल नहीं हो रहा है, क्योंकि इस शिक्षा का लक्ष्य औद्योगिक जीवन में आकांक्षा-पूर्ति की पूंजी न खोजकर कम भीडवाले क्षेत्र में सुलभ नौकरी पाने की इच्छा ही प्रधान है। किसी भी तकनीकी स्कूल के छात्रों से हम पूछते हैं कि अगर आपको नौकरी नहीं मिले तो यहाँ से निकलने के बाद किस काम में लगने की कल्पना है? तो वे निरुत्तर रहते हैं, उनकी शक्ल पर शून्यता की कालिमा दिखाई देती है और हताशपूर्ण शब्दों का उच्चारण होता है। अत इस बात का भी कारण ढूँढ़ना होगा।

कारण स्पष्ट है। देश में श्रम अप्रतिष्ठित है, घृणित है। कृषि में हो, चाहे उद्योग में हो, श्रम करके खाना नीचा काम है, पराजित जीवन का इजहार है. अतएव छात्र-समस्या का हल छात्रों में न ढूँढकर समाज में ढूँढ़ना होगा। देश में शिक्षण-समस्या क्रान्ति की समस्या है। उसके लिए बुनियादी तौर से श्रम प्रतिष्ठा का क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाना होगा। यह काम राजनीतिक दबाव से नहीं होगा, आर्थिक लालच से नहीं होगा, यह काम शैक्षणिक प्रक्रिया से ही सिद्ध हो सकेगा।

अतएव समस्या का समाधान राज्यकर्ता के हाथ में नहीं है, उद्योगपति के हाथ में नहीं है और न व्यवस्थापक के हाथ में है। समाधान एकमात्र शिक्षक समुदाय ही के हाथ में है। राज्यकर्ता, उद्योगपति, समाजशास्त्री, व्यवस्थापक आदि बाकी लोगों का एक मात्र काम यह है कि वे शिक्षक की प्रतिष्ठा बढ़ावें, उन्हें नेतृत्व के आवश्यक अवसर दें और साधनों की समृद्धि करें।

क्या देश के नेता, राज्यकर्ता और सामाजिक विचारक समय रहते इस ओर ध्यान दे सकेंगे?

धीरेन्द्र मजूमदार

•

बाल-उद्योग

जुगतराम दवे

नयी तालीम में उद्योग का स्थान प्रमुख होना चाहिए। बुनियादी और उत्तर बुनियादी कक्षाओं मे उद्योग होना स्वाभाविक ही नही, न हो तो अस्वाभाविक मानना चाहिए। कोई पूछ सकता है कि क्या पूर्व-बुनियादी कक्षा मे भी उद्योग का स्थान हो सकता है ? इस विषय पर विचार करना विशेष उत्साहप्रद नही, क्योंकि यह बात ऐसी ही है कि नवजात बछडे को गाडी मे जोतना है या नही। अस्तु, बालक के जीवन में खेल-कूद का स्थान हो सकता है, उद्योग का कभी नही।

बाल-उद्योग : एक मूल्यांकन

यह सत्य है, और स्वाभाविक भी कि बालक के जीवन मे खेल-कूद का स्थान होना चाहिए, परन्तु जैसे-जैसे वह बडा होता जाता है वैसे-वैसे उसमे काम करने की भूख जगती जाती है। बालवाडी में आनेवाले बालको की अवस्था पर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि उन्हें विविध प्रकार के छोटे-छोटे काम करना अच्छा लगता है। माँ झाडू लगाती हो तो उसके साथ झाडू लगाने लगते है। माँ कपडे धोती हो तो वे भी कपडे धोने लगते है। माँ पानी भरने जाती हो तो वे भी सिर पर छोटा लोटा रख कर पानी भरने के लिए जाते हैं। पिता गाडी हाँकते हो तो बालक उनके पास बैठ कर रास पकड कर बैलो को हाँकने मे रस लेते है। बडा भाई गाय को पानी पिलाने जाता हो तो बालक भी हाथ में लकडी लेकर साथ मे जाने की इच्छा करता है। पिता मिट्टी की तगाडी (बडी कडाही जैसा पात्र) उठाते हो तो बालक भी उनके साथ-साथ मिट्टी के ढेले लेकर काम करना चाहता है।

इस प्रकार आपको प्रतीत होगा कि जब बडे लोग उनसे होने वाले कुछ काम बतलाते है तो वे बहुत प्रसन्न होते है, दौड कर बताया हुआ काम करते है। भोजन बनाते समय जब माँ थाली, कटोरी, कलछुल, मँडसी या अन्य सामान लाने के लिए कहती है तो बालक कितनी उमग से दौड-दौड कर वे काम करते है। पिता बाहर गाँव जाने की तैयारी करते है तो कितने उत्साह से वे सब काम करते है। टोपी और छतरी लाने के लिए ऊपर चढना हो तो वे कितनी उमग से चढते है। अगर पिता कहीं प्रस्थान करते हो तो वे कितने आनन्द के साथ उनकी थैली और छतरी उठाकर पहुँचाने जाते है।

बालवाडी में आनेवाले बालको को इस प्रकार के छोटे-छोटे काम करना उन्हें खेल जैसा प्रिय लगता है। हम बडे लोग अपने कामो में जब उनकी मदद माँगते है तो वे अत्यन्त प्रसन्न हो जाते है। इतना ही नही, उन्हें ऐसा लगता है कि हम उन्हें बडा स्थान दे रहे हो। हमने उन पर विश्वास किया, उन्हें काम करने के योग्य माना, इसके लिए उनकी आत्मा हमारा उपकार मानती है। यह बात कोई भी समझदार व्यक्ति उनके चेहरे के भाव से जान सकता है। इसे आप उद्योग, काम या खेल कहेंगे ? आनन्द और क्रीडा की दृष्टि से बालक के लिए यह सब खेल-रूप ही है। बडे कामो मे बालक का छोटा, किन्तु अत्यन्त उपयोगी योगदान मात्र है, इसलिए शिक्षा की परिभाषा मे इस प्रवृत्ति को उद्योग कहना जरा भी उपयुक्त नही है।

इस सन्दर्भ में बालवाडी के कार्यक्रमो पर विचार करते समय बाल-उद्योगो के सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है।

बाल-उद्योगों की मर्यादा

बालवाडी के बच्चो की अवस्था २-३ से ६-७ वर्ष तक की होती है। उस समय वे जैसा बर्ताव करते हैं,

उसका अध्ययन करके हम बाल-उद्योगों को स्वीकारें, और उन्हीं सूक्ष्म वर्तावों के आधार पर हमें बाल उद्योग की मर्यादाएँ भी ढूँढनी होंगी।

हम कोई भी उद्योग करते हैं तो उसमें लम्बे समय तक लगे रहते हैं। ऐसा नहीं करने पर काम पूरा नहीं होता। बड़े और बालक सबके लिए आवश्यक है कि किसी भी उद्योग में वे सतत लग कर काम करना सीखें, पर उनका सातत्य कितने समय तक चालू रह सकता है इसका विवेक अवस्थानुसार करना होगा। शिक्षक या बड़े लोग यह विवेक करेंगे तो भूल होने का डर है इसलिए स्वयं बालक को ही यह विवेक करने देना चाहिए, अर्थात् यह स्थिति रखनी चाहिए कि बालक अपनी इच्छा से काम में सम्मिलित हों और स्वेच्छा से काम छोड़ दें।

चुप्पी साधे अच्छा काम

उद्योग को अच्छा बनाने के लिए दूसरे इस तत्त्व की आवश्यकता है कि वह गम्भीरता-पूर्वक और बहुत कुछ मौन-पूर्वक चलते रहना चाहिए। तभी निश्चित काम होता है और उसमें किसी तरह की खराबी नहीं होती।

वे स्वयं खेलते हैं तो उनका व्यवहार किस प्रकार का होता है? वे कभी घर घर रमते हैं और खटिया सन्दूक आदि बड़ी वस्तुएँ उठाकर व्यवस्थित रखते हैं कभी चबूतरे की रेती या मिट्टी एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं कभी बरसात में पानी का बाँध बना कर नहरें और तालाब बनाते हैं। इस प्रकार वे अपनी इन प्रवृत्तियों में अतिशय तन्मय और गम्भीर होते हैं उनकी आँखें एकाग्र होती हैं, ओंठ बन्द रहते हैं विचार से ललाट में रेखाएँ उभरी रहती हैं इसलिए गम्भीरता पूर्वक और मौन रहकर काम करना बालक की प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं है।

इसमें इतनी ही सावधानी रखनी चाहिए कि कोई शिक्षक या दूसरा व्यक्ति बालक पर जोर-जबरदस्ती काम न लादे। वे जब चाहें, अपनी इच्छा से काम अपनायें और छोड़ दें।

प्रत्येक उद्योग में कुछ-न-कुछ औजार होते हैं। अगर बच्चों को उनका उपयोग आता हो तो उद्योग अच्छी तरह हो सकता है। बालवाड़ी के लिए उद्योग का चुनाव करते समय यह देखना होगा कि ये औजार चलाना सरलता-पूर्वक सीख सकते हैं या नहीं। वे औजार ऐसे तो नहीं हैं कि उपयोग करते समय बच्चों के हाथ-पैर में लग जायें, बहुत वजनी हों या इतने छोटे या बड़े हों कि उनके इस्तेमाल में उन्हें कठिनाई महसूस हो।

इस दृष्टि से बालवाड़ी के बालकों के लिए तकली या चरखा चलाना कठिन होता है, चूल्हे के समरे में जलने का भय रहता है, कड़ी जमीन को खोदना उनकी शक्ति के बाहर का काम है जबकि छोटी चक्की में पीसना, छोटी मटकी से पानी भरना, छोटी झाड़ू से सफाई करना, छोटे बरतन माँजना, छोटी मुँगरी से छोटे-छोटे कपड़े धोना भोजन की चीजें परोसना आदि उद्योग बालक आनन्द से कर सकते हैं। इन कामों में प्रयुक्त होने वाले औजारों के उपयोग करने की कला वे सरलता से सीख सकते हैं। ऊपर जो कुछ उद्योग कठिन और भय-युक्त बताये गये हैं उनमें भी काम करने की आदत होने पर और उम्र बढ़ने पर बालक हमारी अपेक्षा से भी पहले प्रवीण हो जाते हैं।

स्वाभाविक कार्य-पद्धति

बालकों के उद्योग में स्वभाविक स्थिति तो यही हो सकती है कि बड़े लोग उद्योग करें और बालक उनकी सहायता में रहकर छोटे-छोटे काम करते रहें। हमारे घरों, खेतों और उद्योगशालाओं में इसी तरह चलता रहता है।

बालवाड़ी में शिक्षिकाएँ इसी स्वाभाविक कार्य-पद्धति को अपनायेंगी तो अच्छा रहेगा।

साधारण रूप से हमें इस प्रकार काम करना नहीं सूझता। हम तो बालकों को काम पर लगा देते हैं और बाद में स्वयं निरीक्षण करते रहते हैं और भूल-चूक सुधारते रहते हैं।

बाल प्रेमी और अपने मन पर नियन्त्रण रखने वाली शिक्षिकाएँ निरीक्षण के समय गरम होकर बालकों को उलाहना नहीं देंगी और उन्हें मारेंगी भी नहीं। हमें ऐसा मान लेना चाहिए कि वे धीरज से ही काम लेंगी, पर सामान्य शिक्षिकाओं के लिए इस प्रकार का धीरज रखना सरल नहीं।

"इसे तो कुछ नहीं आता, कितने बार बताया, पर ध्यान ही नहीं रखा।" इस प्रकार की टीका किये बिना वह रह नहीं सकती। कभी बहुत क्रोध आने पर सिर पर चपत भी जमा देती है। प्राय माँ-बहनों को हम इस प्रकार का अनियन्त्रित व्यवहार करते पाते हैं। तो, फिर शिक्षिका को क्या दोष देना ?

जो केवल दूसरों का पहरा ही देते रहते हैं, और स्वय अपने हाथ नहीं हिलाते, उनका ऐसा ही मिजाज हो जाता है, फिर चाहे वह शिक्षक हो, निरीक्षक हो या कारखाने का चौकीदार। चौकीदारपना सामनेवाले व्यक्ति के लिए हास्यजनक है और साथ में वह अपने को भी हीन बनाता है। बालवाडी में जहाँ कोमल बालको से काम लेना होता है वहाँ ऐसी चौकीदारी का वातावरण नहीं आने देना चाहिए। वहाँ ऐसा ही होना चाहिए कि शिक्षिकाएँ अच्छे-अच्छे उद्योग करनेवाली हो और बालक उत्साह से उनके काम में छोटी-मोटी सहायताएँ करनेवाले हो।

आत्मविश्वास बढ़ायें

इस पर बालवाडी चलानेवाले सचालको को शका होगी कि इस प्रकार व्यवस्थित बालवाडी कैसे चलायी जा सकती है ? प्रारम्भ में बाल-शिक्षिकाओ को भी ऐसी शकाएँ होगी, पर यदि वे उत्साह और बाल प्रेम से परिपूर्ण हृदय से काम करने लगेंगी तो उनकी शकाएँ उडने लगेंगी और जैसे-जैसे अनुभव बढता जायेगा वैसे-वैसे उनका आत्मविश्वास भी बढता जायेगा।

ग्राम-बालवाडी की किसी भी शिक्षिका को स्वय यह विचार आये बिना नहीं रहेगा कि समय-समय पर बालको के कपडे एकत्र कर उन्हें धोने का उद्योग चलाना चाहिए। वे चूल्हा जलायेंगी, उस पर बरतन रखकर कपडे गरम करने के लिए पानी गरम करेंगी। इन कामो में छोटे बालक लकडी लाने, पानी भरने, कपडे इकट्ठे करने, सफेद और रगीन कपडो की अलग-अलग ढेरियाँ लगाने, साबुन काटने आदि विविध प्रकार की सहायता कर सकेंगे। कपडे गरम होने के बाद सब थोडे-थोडे अपने सिर पर उठाकर पानी के घाट पर चलेंगे। वहाँ शिक्षिका कपडे धोने लगेगी, बालक उसके लिए पानी ला देंगे, धोये हुए कपडे सुखाने लगेंगे। कोई अधिक उत्साही बालक कपडे पर मुँगरी भी मारने लगेगा, और कोई बाल्टी में पानी भरकर कपडे झपलाने लगेगा। कपडे सूख जाने पर उन्हें इकट्ठा करना, चपतना, जिसके कपडे हों उन्हें अलग करके दे देना, इस प्रकार के अनेक छोटे-मोटे काम बालको को करने के लिए मिलेंगे। बडे बालक छोटे बालको को कपडे पहनाने में सहायता पहुँचायेंगे।

ज्ञानवर्धक काम

धोबी-उद्योग का यह कितना सुन्दर और समृद्ध अनुभव है। उसके द्वारा बच्चो को कैसे आनन्द-दायक और ज्ञानवर्धक काम मिल सकते है और शिक्षिका निश्चय करे तो यह सब काम करते-करते बातचीत और खेल-खेल में बालको को कितना समृद्ध ज्ञान-विज्ञान दे सकती है, और अगर वह अपने हृदय को बालको में तन्मय कर सकती हो तो कैसा पावनकारी और भक्तिमय नयी तालीम का अनुभव प्राप्त कर सकती है।

इसी प्रकार शिक्षिकाएँ सीने पिरोने का उद्योग चलाकर बालको के कपडे सीने का काम कर सकती है। किसी समय भोजन बनाने का कार्यक्रम भी निकाल सकती है, किसी समय घर-आँगन लीपने का कार्यक्रम भी निकाल सकती है, किसी समय खेती-बाडी का कार्यक्रम भी बना सकती है। इस प्रकार कल्पनाशील शिक्षिकाएँ इस सूची में दूसरे अनेक उपयोगी उद्योग बढा सकेंगी।

और, ये उद्योग ऐसे है कि उनके पाँच-पाँच, सात-सात के दिन सत्र रखे जायेंगे तब भी उनका रस बना रहेगा। बालको के लिए उनसे विविधता और नवीनता के झरने बहते ही रहेंगे।

●

सरकारी निर्माण-विभाग की स्कूलों के बारे में जो धारणा है, उसे हमें छोड देना पडेगा; तभी शिक्षा का व्यापक प्रचार हो सकेगा। हमें समझ लेना चाहिए कि ग्रामीण स्कूल का मतलब है–मास्टर और शिष्य; मकान की कोई जरूरत नहीं। स्कूल की शानदार इमारतें बना डालने और अध्यापक को कम तनख्वाहें देने से तो बेहतर यह है कि स्कूल पेड के नीचे लगें और अच्छी तनख्वाहें देकर अच्छे मास्टर रखे जायें। —जवाहरलाल नेहरू

पालक-शिक्षक-सहयोग

•

गुरुशरण

कहावत है कि अँधेरे को कोसने के बजाय छोटा सा दीपक जलाने पर अँधेरा अपने-आप भाग जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस दिये में पालक अपनी जागरूकता की बाती और शिक्षकगण अपने अन्तर का स्नेह डालें तो निश्चित ही प्रकाश होगा।

पितृ देवो भव।

मातृ देवो भव।

आचार्य देवो भव।

'माता-पिता और गुरु तीन,

देते हमको सीख नवीन'—यह भारतीय शास्त्रकारों से लेकर नन्हें मुन्नो तक की वाणी है। शिक्षक को इस देश मे आचार्य कहा जाता है। आचार्य अर्थात आचारवान। ऐसा व्यक्ति, जो अपने विचारो के अनुसार स्वय आचरण करने और कराने दोनो प्रकार की शक्ति व सामर्थ्य रखता हो, जिसमें अपने ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता हो। ऐसे आचार्यों के पास शिष्यगण चौबीस घटे रहा करते थे। द्रोणाचार्य से पहले यही परम्परा थी कि बड़े-से-बड़े राजा-महाराजा के लड़को को अपने घर पर रखकर गुरु से पढने के बजाय गुरुगृह जाना पडता था।

गुरुगृह की परम्परा धीरे धीरे घटकर कम होती गयी और उसके स्थान पर कुछ निश्चित घटों के टाइमटेबिल वाले स्कूल, मदरसे, पाठशाला, मकतब आदि खुल गये। छोटी कक्षाओ से बडी कक्षाओ तक, विद्यालय से विश्व-विद्यालय की ओर जाने तक पढाई के घटे क्रमश कम होते चले गये, अर्थात शिक्षक का शिक्षार्थी के साथ सम्बन्ध कम होता चला गया। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ पहले शिक्षक और शिक्षार्थियो का माता पिता से सम्बन्ध अवश्य था, वहाँ अब वह अनिवार्य हो गया, क्योकि अब विद्यार्थी शिक्षक की अपेक्षा माता पिता की देखभाल में अधिक समय रहता है। अत वर्तमान परिस्थिति मे उसके सर्वांगीण विकास के लिए पालक और शिक्षक दोनो को परस्पर मिलकर सोचना विचारना अपेक्षित है।

गोविन्द कहिए या जीवन का परम आनन्द, उसकी प्राप्ति के लिए कबीर का एक दोहा बहुत प्रचलित है—

गुरु-गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी इन गुरन की, गोविन्द दियो बताय॥

आज अकेले गुरु की ही नही, वरन माता पिता की भी बच्चे के प्रति जागरूकता जरूरी है कि उसके पैर किधर जा रहे हैं। बच्चे के चरित्र की सबसे बडी पहचान यह कि वह अपने अवकाश के समय का कैसा उपयोग करता है? अवकाश के समय की बाबत शिक्षक तो अज्ञान में ही रहता है। इस समय तो माता पिता ही ध्यान दे सकते है। बालक को जिस प्रकार का अनुशासन घर म प्राप्त होता है वही अधिक पूर्ण रूप में उच्च साधनो द्वारा वैज्ञानिक ढग से विद्यालय में सुलभ रहना चाहिए। इस प्रकार से विद्यालय में बच्चे के लिए परिवार का विस्तृत रूप होना चाहिए। आधुनिक शिक्षा-शास्त्री तो यहाँ तक कहते है कि प्राथमिक शिक्षा के लिए पूरा गाँव और उसका क्रिया-कलाप ही विद्यालय होना चाहिए।

जबतक चहारदीवारी मे विद्यालय है, उसके निश्चित घटे तथा निर्धारित पाठ्यक्रम है, तबतक इतना ही सम्भव है कि पालकगण अपने दायित्व को समझें और शिक्षक के साथ अधिक-से-अधिक योग स्थापित करें। ज्ञानार्जन की कुजी के रूप म घर के भीतर बालको के

साथ विविध बौद्धिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श करें। उनमें जिज्ञासा जागृत करें। उन्हें अपनी बात कहने का अवसर दें। घर की योजनाओं में उन्हें भी शामिल करें। वे जो कुछ करते हैं उसे तटस्थ भाव से देखें, परखें। बच्चों को चौबीस घंटे समझाने के बजाय उन्हें तथा उनकी सर्जनात्मक क्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति अपने में उत्पन्न करें। हर समय बात मनवाने के बजाय उनकी बात भी मानें, उनकी उपेक्षा न करें।

पालक और शिक्षक दोनों मिलकर प्रयत्न करें तो आज शिक्षा के क्षेत्र में जो अन्धकार दिखाई पड़ता है उसमें से उजाले की किरण फूट सकती है। कहावत है कि अँधेरे को कोसने के बजाय छोटा-सा दीपक जलाने पर अँधेरा अपने आप भाग जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस दिशे में पालक अपनी जागरूकता की बाती और शिक्षकगण अपने अन्तर का स्नेह डालें तो निश्चित ही प्रकाश होगा।

आज साधारण व्यक्ति से लेकर इस देश के प्रधानमन्त्री तक का मानना है—"आजकल ज्ञान तथा विद्या की आवाज दब गयी है और पूँजी का बोलबाला है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे आदर्शों में इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है, फिर भी भारत में प्राचीन मूल्यों का कुछ अस्तित्व अभी शेष है, जिस पर जोर दिया जाना चाहिए।" आज देश का राष्ट्रपति भी मनीषी, विद्वान, दार्शनिक और महान शिक्षक है। आज जन-जन में सच्ची शिक्षा का उदय होना चाहिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की सन्धिवेला भी अब समाप्त हो रही है। जैसे, प्रात छोटे-बड़े सभी जीवों के चहचहाने के बाद फिर सृष्टि में एक प्रकार की व्यवस्था और क्रम आ जाता है, वही अब आना चाहिए।

शिक्षकों के जीवन में चाहे जितने संघर्ष भरे हों, पर उन संघर्षों में प्राण होना चाहिए, तभी उन प्राणों में नवजीवन का नवनिर्माण सम्भव हो सकेगा। भले ही मास्टरी आज पेशा बन गयी हो, शिक्षण धन्धा हो गया हो, पढ़ाना जीविका का साधन हो, पर वह एक वृत्ति भी है, यह नहीं भूलना चाहिए। हर व्यवसाय का धर्म होता है। स्वेच्छा से, परिस्थिति के दबाव से या विवशता से कैसे भी शिक्षा का काम अपनाया है तो उसका दायित्व निभाना ही होगा। शिक्षक राष्ट्र की संस्कृति के चतुर माली हैं। उन्हें बच्चों के संस्कारों की जड़ों को अपने श्रम से सींचना ही होगा। और, पालकों को बच्चे पर बच्चे पैदा करते जाने के बजाय उनके पालन-पोषण और समुचित शिक्षण की ओर ध्यान देना पड़ेगा, तभी बात बनेगी।

फोड़कर पत्थर उगें,
आकाश छूलें कोंपलें,
आज धरती पर हमें वह बीज बोना चाहिए।

•

जैसे-जैसे मैं विचार करता हूँ, मुझे लग रहा है कि जबतक हम अपने काम को तालीम की दिशा में नहीं मोड़ेंगे, गाँव की शाला ही सारे गाँव के निर्माण का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनेगी, शिक्षक, छात्र तथा पालक सब मिलकर ग्राम निर्माण का काम करने की योजना नहीं बनायेंगे और सामुदायिक परिश्रम से उस योजना को अमल में लाने की गाँव-गाँव में चेष्टा नहीं की जायेगी-तबतक हमारा ग्राम इकाई-कार्यक्रम भले स्थूल दृष्टि से आगे बढ़े, लेकिन बुनियादी ताकत और गाँव का नेतृत्व उसमें से खड़ा हो नहीं सकेगा। *अण्णा सहस्रबुद्धे*

लड़का पास, मैं फेल

•

सहदेवसिंह

सन् १९३२ की बात है। मैं उन दिनों प्राइमरी पाठशाला का सहायक अध्यापक था। मेरा बड़ा बेटा भी साथ था और मेरी ही कक्षा में पढ़ता था। हर शिक्षक चाहता है कि मेरा बेटा पढ़ने लिखने में अन्य सभी छात्रों से तेज निकले। ऐसा ही मैं भी सोचता था।

फलतः मैं अपने बेटे के साथ दूसरे बच्चों की अपेक्षा अधिक सख्ती बरतता था। मैं चाहता था कि वह हमेशा कुछ-न-कुछ पढ़ा लिखा करे। अगर वह ऐसा नहीं करता तो मैं खीझ उठता। कभी-कभी तो आपे से बाहर हो जाता। उसे खेलते या ऊधम मचाते देख कर तो मेरा पारा चढ़ जाता और अकसर मार भी बैठता। इस तरह मेरा ही बेटा मुझसे थर-थर कांपता रहता। अपनी बातें मुझसे कहने में झिझकता।

वह जब मुझे कहीं आसपास देखता तो किताब लेकर बैठ जाता। मुझे लगता बड़ी मेहनत से पढ़ रहा है लेकिन उसके इस कठोर परिश्रम का रहस्य तो भली प्रकार उस समय खुला जब वह कक्षा चार की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। उन दिनों मिडिल स्कूलों की पढ़ाई पाँचवीं कक्षा से आरम्भ होती थी।

मेरे सामने अहम सवाल यह था कि मैं कच्चे छात्रों को अगली कक्षाओं में ले जाने का सख्त विरोधी था। फिर अपने बच्चे को तरक्की मिले, वह मिडिल स्कूल में मुझसे दूर जाकर पढ़े, मैं कैसे बर्दाश्त कर सकता था। मेरा अटूट विश्वास था कि बेटे की पढ़ाई मेरे साथ रहने पर ही सम्भव है।

लेकिन, मेरे प्रधानाध्यापक मेरी इस राय के खिलाफ थे। उन्होंने मेरे विरोध के बावजूद मेरे बेटे को पास कर दिया। हालांकि इस प्रश्न को लेकर हम दोनों के बीच एक तनाव की-सी स्थिति पैदा हो गयी जो लगातार कई वर्षों तक चलती रही। बाद को पूछने पर पता चला कि उन्होंने उसे इस आधार पर उत्तीर्ण किया कि वे जब अलग मेरे लड़के से बातें करें तो वह अपनी बुद्धि की क्षिप्रता का उन्हें भरपूर परिचय देता। लेकिन, वही मेरे सामने आने पर भय के मारे कांप उठता और उसकी आती हुई बातें भी भूल जाती। इसीलिए प्रधानाध्यापक महोदय को लगा था कि मुझसे अलग ही मेरे बेटे का सही विकास हो सकता है और सही शिक्षण भी।

फिर क्या था! वह मुझसे दस मील दूर एक मिडिल स्कूल में पढ़ने चला गया। एक साल में ही उसने मेरी मान्यताओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। हुआ यह कि पाँचवीं कक्षा की त्रैमासिक परीक्षा में तो अनुत्तीर्ण रहा, लेकिन षटमासिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया और वार्षिक परीक्षा में तो उसका प्रभावपूर्ण स्थान रहा और आगे चलकर पढ़ाई के प्रति उसकी लगन और आस्था उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

•

'बालक तो फूल ही हैं।' क्योंकि हर बालक की भावना, ज्ञान और बुद्धि समान ही रहती है। वातावरण के असर से ही विषमता स्पष्ट होती है। गरीब की झोंपड़ियों में तुरत प्रभाव डालने वाले भाव साफ दिखाई देते हैं, फिर भी वातावरण कुछ अलग होने से आँखों से ओझल होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। जंगल में मंगल करने वाले फूल खिलते हैं, सुगन्ध फैलाते हैं और धीरे-धीरे मुरझा जाते हैं, परन्तु दुनिया को इसकी खबर तक नहीं होती। जब इनके सम्पर्क में आने का मौका आता है तो मन भर आता है, कभी दुख से तो कभी आनन्द से।

—शान्ताबाई नारुलकर

परिवार-स्वावलम्बन-विद्यालय

•

नरेन्द्र

अंग्रेजी भाषा में दो शब्द हैं 'ट्रेनिंग' और 'एजूकेशन' इनका हिन्दी भाषा में क्रमश 'अभ्यास' और 'शिक्षण' अनुवाद किया जा सकता है। इन दो शब्दों को लेकर शिक्षा-जगत में काफी विचार-मन्थन होता रहता है। बहुत बार शिक्षण और अभ्यास में अन्तर करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस भ्रमात्मक स्थिति के कारण शिक्षण की दृष्टि या तालीम का नजरिया काफी धपले में पड जाता है। नतीजा यह होता है कि जिस उद्देश्य से हम तालीम का काम करना चाहते हैं वह नहीं सध पाता।

तालीम के इस नजरिये का प्रयोग आजकल हम एक परिवार-स्वावलम्बन-विद्यालय में कर रहे हैं। विद्यालय को चलते एक वर्ष पूरा हो गया। माँ अपने सभी बच्चों के साथ विद्यालय में भरती हुई हैं। डेढ महीने के बच्चे से बारह साल तक के बच्चे माँ के साथ शिक्षण-काल में रहे हैं। विद्यालय में सामूहिकता, स्वावलम्बन और अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ अन्य वैचारिक शिक्षण भी हो, ऐसी अपेक्षा रखी गयी थी। जिन विषयों का शिक्षण यहाँ हो, अगर उनमें से सामूहिकता को ही लें तो अबतक की चालू पद्धति में सामूहिक भोजन, सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक सूत्रयज्ञ, सामूहिक परिवार-सेवा आदि का नियम बना कर उसी का अभ्यास कराना शुरू किया जा सकता था, लेकिन हमारे सामने सवाल आया कि इनका अभ्यास कराने से इनका शिक्षण होगा क्या? इसी सिलसिले में अंग्रेजी के दो शब्द 'ट्रेनिंग' और 'एजूकेशन' हमारे सामने आये थे।

शिक्षण का सही दृष्टिकोण

शिक्षण गुण-विकास की सूक्ष्म प्रक्रिया है। जब कि अभ्यास किसी काम को बार-बार करके उसकी दक्षता प्राप्त करने की स्थूल प्रक्रिया है। सामूहिकता के लिए सामूहिक भोजन, सामूहिक प्रार्थना एक स्थूल कर्मकाड है; परन्तु मिलजुल कर रहने के गुण का विकास एक बहुत ही सूक्ष्म प्रक्रिया है। अब सवाल यह आता है कि स्थूल कर्मकाड से गुण विकास होगा क्या? कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि स्थूल काम बारबार दुहराने की क्रिया को करने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का दबाव आवश्यक है। इस दबाव को बनाये रखकर इतना अधिक अभ्यास करा दिया जाये, ताकि वह क्रिया सहज ढग से होने लगे। इतना अभ्यास कर लेना सम्भव है। यह भी सम्भव है कि इस प्रकार से अभ्यास कराते-कराते कुछ अच्छी आदतें भी बन जायें, अभ्यास से दक्षता भी प्राप्त होती है, लेकिन जब यह अभ्यास दबाव, लालच या सजा-मूलक होता है तो गुण-विकास की प्रक्रिया रुक जाती है, साथ ही उसमें तालीम का नजरिया न रह कर पुलिस का नजरिया घुस जाता है।

तालीम के नजरिये की पहली शर्त यह है कि न तो वह भय-मूलक होगा और न ही लालच-मूलक। इसीलिए जब हमारे सामने यह सवाल आया कि मिलजुलकर समूह में रहने का शिक्षण देना है तो क्या सामूहिक भोजन, सामूहिक-प्रार्थना आदि कार्यक्रम रखने चाहिए? काफी सोच-विचार के बाद यह बात हम लोगों को कुछ जँची नहीं। सामूहिक रूप से कार्य करने के विभिन्न कार्यक्रम तो शिक्षण की निष्पत्ति होनी चाहिए। अगर ये कार्यक्रम विद्यालय की चहारदीवारी में विद्यालय के नियम के तौर पर लागू किये जायेंगे तो निश्चित रूप से विद्यार्थियों में यह गुण नहीं पनपेगा, क्योंकि विद्यार्थियों या शिक्षकों को सिर्फ इतना ही लगेगा कि यह विद्यालय या आश्रम का कार्यक्रम है, जब तक यहाँ

रहना है, इसे निभाना है। इस नतीजे पर हम कोई अन्दाज लगाकर आ गये हों सो बात नहीं है बल्कि देश भर में गुरुकुलों, आश्रमों, बुनियादी तालीम और नयी तालीम की संस्थाओं में सीखते विद्यार्थी तथा सिखाने वाले शिक्षक को देखते हैं तो उपर्युक्त अनुभव एक-दम ठीक उतरता है। तालीम की संस्थाओं में आज एक ट्रेनिंग प्रोग्राम-मात्र ही चलाते हैं। जो किसी-न किसी प्रकार से दबाव और लालच-मूलक ही होता है।

गुण-विकास के आधार

अब अगर हम शिक्षण-प्रक्रिया को गुण-विकास तथा समाज परिवर्तन के माध्यम के रूप में देखना चाहते हैं तो आज की चालू पद्धति में विशेष परिवर्तन करना होगा। ऐसा कुछ सोचना पड़ेगा जिसमें विद्यार्थियों की जानकारी और समझदारी बढ़ायी जा सके। विभिन्न गुणों के लिए विभिन्न कार्यक्रम सुझाये जायँ। विद्यालय की तरफ से गुण विकास की दृष्टि से कोई खास अभ्यास-क्रम न बनाया जाय। लिखने-पढ़ने के लिए एक पाठ्यक्रम-जैसा कुछ बनाया जा सकता है और वह भी शिक्षक की सहूलियत की दृष्टि से। उद्योग में दक्षता प्राप्त करने के लिए एक अभ्यास-क्रम भी बनाना बड़ा जरूरी है लेकिन गुण विकास का कोई भी अभ्यासक्रम चलाने से गुणों का विकास होने के बदले ह्रास होने लगता है।

मानवीय गुणों में सबसे पहला और आवश्यक गुण सद्भावना और सहानुभूति का है। सबके प्रति प्रेम तथा करुणा का भाव रखने पर यह गुण तेजी से बढ़ता है। फिर सत्कार एक सहज प्रक्रिया हो जाती है। उसके लिए कोई बाहरी कर्मकांड की जरूरत नहीं होती। अत गुण विकास की प्रक्रिया में पहला काम हमारे सामने यह था कि विद्यालय का वातावरण सबके प्रति प्रेम और करुणा से लबालब भरा रहे। जो विद्यार्थी हमको मिले थे उनको तो यह विचार ही समझाना बड़ा मुश्किल था क्योंकि उनका बौद्धिक विकास निम्नस्तरीय था, लेकिन फिर भी दुहरी प्रक्रिया से यह काम शुरू किया गया। एक तरफ तो बौद्धिक स्तर उठाने का काम और दूसरी तरफ गुण-विकास की यह गम्भीर चर्चा। शुरू के कुछ दिनों में तो एक-एक छात्रा को अलग-अलग एक सप्ताह में एक या दो बार बुलाकर एक घंटा चर्चा करते थे। इस चर्चा में मुख्य तौर से उनके घर, परिवार आदि के बारे में ही चर्चा करते थे। ऐसा करने से उनके मानस का, रुझान का और स्वभाव का पता चलता था। पाँच महीने तक यह क्रम चला। इस प्रक्रिया में से एक पकड़ मिली। मनुष्य-स्वभाव में अपनों के लिए मोह और दूसरों के लिए भूतदया का भाव भरपूर रहता है। जो परिवार विद्यालय में शिक्षण के लिए आये उनके स्वभाव में भी ये दोनों चीजें पहले से ही मौजूद थीं। प्रेम और करुणा के शिक्षण का आधार हमने इन दोनों चीजों को माना।

मोह का भाव अपने नजदीकी सम्बन्धियों के लिए अधिक होता है। जो मेरा है उसके प्रति मोह का भाव सहज रूप से पैदा हो जाता है, जो दीन-हीन है, मुझसे तुच्छ है, मेरी मदद से मेरे सामने नतमस्तक हो जायेगा, मेरा एहसान मानेगा, मेरे गुण गायेगा, उसके प्रति भूत-दया का भाव दिखाने की एक सहज इच्छा होती है। हमको मोह से प्रेम और भूतदया से करुणा की ओर जाना है, ऐसा हमने साफ-साफ समझ लिया था। विद्यालय में इसके जो प्रयोग हुए हैं उसकी नोंद (नोट) अलग से रखी है, उन प्रयोगों के आधार पर यह तो पूरी तरह नहीं कहा जा सकता कि जो परिवार शिक्षण के लिए आये हैं उसमें प्राकृत रूप से पाये जाने वाले अपनों के लिए मोह और दूसरों के लिए भूतदया के भाव को पूरी तरह से सबके लिए प्रेम और करुणा में बदल दिया हो, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि सभी परिवारों का अपनेपन का दायरा बढ़ा है, और उनको यह प्रतीति हुई है कि यह दायरा और अधिक बढ़ेगा तो सुख-समृद्धि भी बढ़ेगी। भूतदया से करुणा की तरफ जाने का मोर्चा काफी कठिन है, इस दिशा में साल भर में इतना ही हो सका है कि दीन-हीन के प्रति जो भाव हमारे मन में आते हैं वह केवल भावावेश है, क्योंकि उसको दीन बनाने में हम भी कारण हैं। हमारी थोड़ी-सी दया से वह कारण दूर नहीं होंगे, उसके लिए तो दया के साथ-साथ अपना जीवन बदलने की भी जरूरत है, यानी दूसरे की असमर्थता को अपनी समृद्धि का साधन बनाने की वृत्ति छोड़नी होगी, इस समझदारी में से कुछ कारुण्य भाव-पैदा होने की सम्भावना की झलक दिखती है, इसके लिए वातावरण बनाने तथा चर्चा करने का जो क्रम हमने रखा है वह

नचे लिखे अनुसार हैं--

(१) सबके प्रति अपनापन के भाव का विकास,

(२) अपने सम्बन्धियों के अलावा दूसरों की जरूरत समझ कर बिना बदला और अहसान की भावना रखे अपनी समृद्धि में हिस्सा बँटाने का अभ्यास,

(३) भूतदया से होनेवाले आत्मसन्तोष का विवेचन,

(४) दूसरों को दीन-हीन बनाने मे हम भी हिस्सेदार है, इसकी प्रतीति,

(५) इस प्रतीति से पैदा हुई आत्मग्लानि को करुणा में बदल कर समाज-क्रान्ति की अनिवार्यता को समझने की चेतना।

विद्यालय में जो परिवार शिक्षण के लिए आये हैं वे भारत के साधारण स्तर के परिवारों की महिलाएँ और बच्चे हैं, उनमें न उपर्युक्त क्रम को समझने लायक बौद्धिक विकास हुआ है और न उसके लिए कोई उत्कंठा ही है। पति समाज-क्रान्ति के विचार को समझकर बाहर निकले हैं तो पत्नी और बच्चों को भी उनके साथ आना पड़ा है, लेकिन समाज-क्रान्ति के विचार का अधिष्ठान तो इन्हीं परिवारों को आधार मानकर होगा, अत हमारी कठिन परीक्षा हो है, ऐसा हम मानते है। सरल भाषा में इन चीजों को समझाने का प्रयत्न बराबर चल रहा है।

स्वावलम्बन का पहला कदम

प्रेम और करुणा के भावों से पैदा हुई सहानुभूति और सद्भावना के गुणों से सहकार की एक सहज क्रिया प्रकट होती है। सहकार की इस सहज क्रिया में से स्वावलम्बन की प्रेरणा का उदय होता है, स्वावलम्बन में पहला कदम हमने आर्थिक स्वावलम्बन का माना है, इसके लिए किसी-न-किसी उद्योग में दक्षता प्राप्त करना अनिवार्य होता है। वस्त्रोद्योग में अम्बर चरखे पर सूत कातने मे दक्षता प्राप्त हो, अभी ऐसा सोचा है। सूत-कताई के अभ्यास से स्वावलम्बन की प्रेरणा मिलेगी, यह कोई जरूरी बात नहीं है। इसे हम मानते भी नहीं है, वह तो उपर्युक्त क्रम से ही होगा, हम यहाँ तक मानते है कि कताई में दक्षता प्राप्त करने के लिए भी मानसिक सन्तुलन आवश्यक है। वह न होने से चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है। एकाग्रता न रहने पर उद्योग में दक्षता प्राप्त हो ही नहीं सकती, अतएव विद्यार्थी-परिवारों में किसी प्रकार का मानसिक तनाव न रहे, इसके लिए विद्यालय की व्यवस्था को संस्था के तन्त्र की तरह न रखकर परिवार के स्वाभाविक वातावरण की तरह रखने की कोशिश हम बराबर करते रहे है।

विद्यालय का जो भी कार्यक्रम बनता है, वह सबकी सुविधा, सबकी राय और सबके शिक्षण को ध्यान में रखकर बनता है। उस पर अमल करने की आजादी भी हरेक को रहती है। आदत की ढील के कारण जो व्यतिक्रम होता है उसे सुझाव देकर व्यवस्थित होने की परिस्थिति बनाते है। ऐसा करने पर विद्यालय में किसी प्रकार का अनुशासन जैसा-किसी देखनेवाले को नहीं लगता है। उसकी हमको बहुत अधिक अपेक्षा भी नहीं है। विद्यालय मे कोई अनुशासनहीनता हो, यह बात भी नही है। सामान्यतया विद्यालयों मे जिस अनुशासन की अपेक्षा की जाती है वह तो है ही नही। ऐसा हम नही कहते है कि यह बहुत अच्छी स्थिति है, लेकिन यही स्थिति हो सकती है, अगर हम शिक्षण-पद्धति से संस्कृति और सभ्यता का शिक्षण देना चाहते है। कुछ ढीली व्यवस्था रखने के कारण विद्यालय का कार्यक्रम चलाने में काफी सहजता रही है। कई छात्राओं को श्रम से कमाई करने की यह बात ही बड़ी अटपटी लगती थी, लेकिन अब धीरे-धीरे यह सब सहज हो रहा है। अम्बर चरखे से आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा मे काफी सन्तोष रहा है। साधारणतया महीने में पाँच घंटे काम करके पन्द्रह रुपये से पच्चीस रुपये माहवारी तक कमाई होने लगी है।

आर्थिक या वैचारिक किसी भी क्षेत्र में आत्म निर्भर रहने की प्रेरणा सतत बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी-परिवारों (स्त्री व बच्चे दोनों) में किसी प्रकार का मानसिक तनाव न रहे। विद्यालय में आये परिवारों में आमतौर पर छ प्रकार के मानसिक तनाव देखे गये। कोशिश यह की गयी कि किसी भी प्रकार के मानसिक तनाव की स्थिति में विद्यालय का कार्यक्रम भले ही रुक जाये, लेकिन तनाव बढ़ने न पाये। इसके लिए विभिन्न प्रयोग करके देखे गये, जिनका नतीजा अच्छा ही आया है।

मानसिक तनावों के प्रकार

(१) चालू मान्यताओं के हिसाब से अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर पति के प्रति शिकायत-भरा भाव रखने के कारण पैदा हुआ तनाव,

(२) अपने रिश्तेदारों के प्रति मोह का भाव, कभी कुछ तकलीफ होने पर समाधानकारक व्यवस्था न हुई तो उनकी याद आने के कारण तथा अपने पिछले दिनों की याद आने के कारण पैदा हुआ तनाव।

(३) भविष्य की अनिश्चितता की चिंता में पैदा हुआ तनाव,

(४) पति के द्वारा आग्रह पूर्वक लादे गये आदर्श और आज्ञाओं का अनिच्छा पूर्वक पालन करने पर पैदा हुआ तनाव,

(५) साथी बहनों की प्रगति को देख कर कुढ़न और अपनी प्रगति न होने के कारण पैदा हुआ तनाव।

(६) जाति, बुद्धि, समृद्धि या पति की योग्यता का गर्व होने से उच्च भावना या हीन भावना से ग्रसित होने के कारण पैदा हुआ तनाव।

सभी व्यक्तियों के मानस पर कभी किसी तनाव का प्राधान्य रहा कभी किसी का। इन तनावों को ढीला करने के लिए शिक्षण प्रक्रिया क्या होगी, इस पर काफी शोध इस एक साल म हुआ है। हमने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि ये तनाव जितने ढीले रहेंगे, आत्म-निर्भरता का विचार समझने की मानसिक तैयारी विद्यार्थी-बहनों की उतनी अधिक रहेगी। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का संयोजन भी उतनी ही कुशलता से कर सकेंगी।

यह तनाव की स्थिति स्वाभाविक है। उसका सम्बन्ध अधिकतर विद्यार्थियों के पुराने घरेलू वातावरण से होता है लेकिन इन तनावों को घटाने-बढ़ाने की बड़ी जिम्मेदारी शिक्षक-समुदाय पर भी है, क्योंकि विद्यार्थी के मन में जब किसी प्रकार का तनाव पैदा हो चुका होता है तो उसे झुंझलाहट आती है, यह झुंझलाहट आमतौर पर बच्चों पर उतरती है। माँ बच्चे को पीटने लगती है या विद्यालय के काम में अनियमितता और गैरजिम्मेदारी बरतती है। शिक्षक या व्यवस्था करनेवालों के लिए ये दोनों बातें ऐसी होती है कि उनका पारा चढ़ जाता है, क्योंकि एक तरफ शिक्षण सिद्धान्त का हनन होता है और दूसरी ओर विद्यालय में अनियमितता आती है। शिक्षक अगर इन दोनों को पी गया तो मार लिया मोर्चा लेकिन यह बहुत ही कठिन काम है। इतने दिनों के अनुभव से हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि अनियमितता और गैरजिम्मेदारी को बर्दाश्त करने में कम नुकसान होता है, बनिस्पत उसको नियमितता और जिम्मेदारी बनाये रखने के फेर में और अधिक झुंझलाहट पैदा करने के। परन्तु इसमें एक यह विवेक रखना होगा, जब अनियमितता और गैरजिम्मेदारी का असर सामाजिक नुकसान में हो तो उसका परिणाम या तो शिक्षक-समुदाय को भुगतना चाहिए या जिसके कारण वह हुआ है उसको भरना चाहिए।

तनाव की स्थिति म अनुशासनहीनता की घटनाएँ काफी हुई हैं। इन अवसरों पर झुंझलाहट को सहन भी किया है और कभी-कभी चूक भी हुई है। सहन करने पर परिणाम अच्छे आये हैं और जब चूक हुई है तो तनाव और भी अधिक बढ़ा है।

माँ के साथ शिक्षण में आये बच्चों में तो उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। उनमें आत्मनिर्भरता काफी बढ़ी है—तीन साल से छोटे बच्चों को छोड़कर बाकी किसी भी बच्चे की सार-सँभाल के लिए माँ को समय नहीं देना पड़ता है। आमतौर से तो बड़े बच्चे ही छोटों को सँभालने लगे हैं। बड़े बच्चों की उम्र आमतौर पर पाँच और बारह साल के बीच की है। इनका कार्यक्रम इस प्रकार रहता है—

तीन घंटा—गणित, भाषा, विज्ञान, आदि।

दो घंटा—कताई।

एक घंटा—सफाई व बागवानी।

चार घंटा—गृह-सेवा की जानकारी।

गृह-सेवा के घंटों म आमतौर पर माँ को घर के कामों में सहयोग देते हैं। पिछले तीन महीनों से तो खाना बनाने का पूरा काम बड़ी जिम्मेदारी के साथ ये बच्चे कर लेते हैं।

भाषा ज्ञान के लिए रामायण की पुस्तक को माध्यम मान कर चल रहे हैं। जो बच्चे बिल्कुल निरक्षर आये थे, उनको इस एक साल में रामायण पढ़ने का बड़ा अच्छा अभ्यास हो गया है। लिखना भी सीख रहे हैं। अभी इतना अभ्यास नहीं हुआ कि साधारण घटनाओं का वर्णन लिख सकें। इतना कर लेने की कोशिश जरूर हमारी रही है—भाषा, गणित, विज्ञान आदि

विषयों का अभ्यास कराने के बाद परीक्षा दिलाने की व्यवस्था भी रखी है। जिनका शिक्षण विषयवार हुआ है उनको अगले साल परीक्षा दिलाने की योजना बनायी है। बच्चों में जहाँतक आपस के झगड़े का सवाल है वह होता जरूर है परन्तु अब गाली-गलौज नहीं होता है। आपस के झगड़े की शिकायत भी माँ के पास अब नहीं जाती है। माताएँ भी बच्चों के झगड़े को आपस की लड़ाई का साधन अब नहीं बनाती हैं।

सालभर के सूत उत्पादन के आंकड़े नीचे लिखे अनुसार हैं—

	पुष्पा		चन्द्रावती		सुजनी		सुशीला		लक्ष्मी					
	दिन	गु०	दिन	गु०	दिन	गु०	दिन	गु०	दिन	गु०				
मई		४०		१०		२२		४०		४०				
											धनपति ३			
जून				१३		२३		४२		४२	फुलवारी			
जुलाई			२२	३१	२४	४२	२६	८०	२६	७८	१३	३		
												विन्ध्यवासिनी		
अगस्त			१४	१२	१४	२६	१४	४२	१२	२३	१२	८	१४	१४
सितम्बर			२६	४२	२१	४८	२४	८४	२५	५४	४	५	४	१२
अक्तूबर	६	१५	२४	६२	२३	७८	१६	४५	१३	२८ /	१६	४६		
नवम्बर	२६	११८	२६	६२	२६	८३	२६	१०८	२०	६०				
दिसम्बर	२३	१३९	२४	६६	२४	९१	२५	१४०						
									सरोज					
जनवरी	२७	२००	२६	७६	२७	११४	२७	१९१	२३	११				
फरवरी	२२	१९०	२२	७४	२२	८५	२२	१६९	३	३				
मार्च	२३	२१५	२३	७९	२३	९९	२३	१९६	७	५				
अप्रैल	१६	१३०	१६	५७	१६	५७	१६	१२१	१०	१६				
योग	१६८	१०४७	२७३	५८४	२६९	७६८	२६८	१२५८						

उपर्युक्त आंकड़ों से पता चलता है कि जिन चार बहनों ने पूरे साल शिक्षण लिया है उनको एक साल में कितने दिन काम करने पर कितना उत्पादन हुआ। नीचे की तालिका से पता चलेगा कि उन्होंने कुल कितना उत्पादन किया और कितनी स्वावलम्बन-मदद उनको दी गयी। स्वावलम्बन-मदद का क्रम इस प्रकार था। पहले दो महीने १० रुपया प्रति छात्र तीसरे महीने २५ रुपया चौथे महीने २० रुपया, पाँचवें महीने १५ रुपया, इसके बाद हर माह १५ रुपया दिया जाता रहा है। बच्चों को १० रुपया प्रति माह अलग से दिया गया।

नाम छात्र	हाजिरी के दिन	गुंडी-संख्या	मूल्य	स्वावलम्बन-मदद
१ श्रीमती पुष्पा बहन	१६८	१०४७	१८८ ४६	१२५
२ ,, चन्द्रावती बहन	२७३	५८४	१०५ १२	२२५
३ ,, सुजनी बहन	२६९	७६८	१३८ २४	२२५
४ ,, सुशीला बहन	२६८	१२५८	२२६ ४४	२२५

कीमत प्रति गुंडी २५ नये पैसे के हिसाब से दी गयी है, रुई काट कर प्रति गुंडी १८ नये पैसे।

बाल दिवस

वासुदेव सिंह

बाल दिवस प्रतिवर्ष १४ नवम्बर को हम मनाते है, जो स्वाधीन भारत के बेजोड़ नेता श्री जवाहरलाल नेहरू का जन्म दिवस है। इस प्रकार इस दिन के साथ स्वाधीन भारत और जवाहरलाल नेहरू का सम्बन्ध भाव है। हम अपने बालकों को स्वाधीनता की समझ के साथ उसके रक्षण और पोषण का संस्कार देना चाहते है मगर संस्कार देने का हमारा काम सहज होगा। उसमें हम ऐसी पद्धति का प्रयोग करेंगे, जिससे बालक अपने आप ऐसा कुछ करने और सोचने लगें, जो हमारा लक्ष्य है।

बालकों को अपने सम्बन्ध मे उठना, बैठना, खेलना और कुछ करना बहुत पसन्द होता है। हम उनके सामूहिक समारोहण की योजना करेंगे। इन समारोहों में हम उनको अनुशासन के साथ-साथ सहयोग के मूलभूत सिद्धान्त से परिचित करेंगे। ऐसे खेलो की योजना की जायेगी, जिनमें बालक खेल के साथ-साथ राष्ट्र और उसकी परम्परा के साथ-साथ स्वाधीनता के गौरव को भी समझने लगें। कोशिश की जायगी कि इन सब का सञ्चालन और निर्वाह भी बालक ही करें। इसके लिए आवश्यक है कि बड़े लोग, जो इन समारोहों में रहें वे अपनी योजनाओं को बालकों द्वारा ही अमल में आने दें और बार-बार रोक-टोक और निर्देश से बचें।

पारस्परिक सहयोग में खान-पान आदि हों। अधिक अच्छा हो कि इन सबकी व्यवस्था बालक करें। बड़े लोग जहाँ काम करना न दिखे, वहाँ हाथ बटायें जैसे, कुएँ से पानी खींचना, आग माड़ना आदि। सावधानी यही होनी चाहिए कि इस प्रकार के कार्य बहुत भारी और सँभाल के बाहर न हो जायँ। अच्छा होगा कि छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर यह कार्य कराया जाय और हर टुकड़ी का एक बालक ही मुखिया हो।

राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा का भाव तभी मन में अंकुरित हो सकता है, जब स्वाधीनता का महत्व समझ में आ जाय। इसके लिए आवश्यक है कि स्वाधीनता के लिए अपना जीवन होम देनेवाले वीरो की कहानियाँ उन्हें सुनायी जायँ। इसके बाद भारत के विभिन्न प्रदेशों के बच्चों की विविध जानकारी कहानियों द्वारा दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त देश विदेश के बच्चों का रहन-सहन, स्वभाव, खान पान, वेश भूषा और देश प्रेम की कहानियाँ सुनानी चाहिए। इससे सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता का महत्व अच्छी तरह समझ में आ जाता है। फिर विशिष्ट व्यक्तियों के विषय में बताना चाहिए और भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई और महात्मा गांधी का महत्व उन्हें बताना चाहिए। इस समय के और इसके कुछ पहले के भारत के महान व्यक्तियों का परिचय भी उपस्थित करना चाहिए।

स्वाधीनता के बाद देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए है। नयी-नयी समस्याएँ आयी है और उनका समाधान किया गया है। शासन की रूपरेखा, केन्द्र से लेकर गाँव तक फैली हुई है, इसको उचित और क्रियात्मक ढंग से समझाना चाहिए। इसी सन्दर्भ में नेहरूजी के बचपन से आज तक के कार्यों का विवरण भी उनके ध्यान में बैठाना अच्छा होगा।

लिखने पढ़ने और गणित के अलावे हमें बच्चों को सामाजिक कर्त्तव्यों, राष्ट्रीयता, सदाचार, लोक-नीति और स्वास्थ्य सम्बन्धी बुनियादी सिद्धान्तों से विशेष रूप से अवगत कराना चाहिए।

—श्रीमन्नारायण

आस्ट्रेलिया में शिक्षण-व्यवस्था

•

डा० तारकेश्वर प्रसाद सिंह

आस्ट्रेलिया एक ऐसा संघ राज्य (फेडरल स्टेट) है, जिसका भौगोलिक विस्तार भारत तथा पाकिस्तान के मिले-जुले क्षेत्रफल से लगभग दूना है, किन्तु उसकी कुल आबादी एक करोड पाँच लाख (एक वर्ग किलो-मीटर में १ ३ व्यक्ति) के लगभग है।

आस्ट्रेलिया में मान्य संविधान के अनुसार शिक्षण का अधिकार राज्य-सरकारों को प्राप्त है। कुछ विशेष स्थानों का शिक्षा-सम्बन्धी उत्तरदायित्व संघीय सरकार भी सँभालती है।

आस्ट्रेलिया के प्राय सभी राज्यों में ६ से १४ वर्ष की अवस्था के बच्चों को विद्यालय जाना आवश्यक है। कुछ गिने-चुने ऐसे भी राज्य हैं, जिनमें अवस्था का बन्धन एक दो वर्ष अधिक भी है।

प्रत्येक राज्य में तीन प्रकार के स्कूलों का प्रचलन है—१—राज्य या सरकारी स्कूल २—रोमन कैथलिक स्कूल, ३—स्वतंत्र स्कूल। आस्ट्रेलिया के २५ प्रतिशत छात्र किसी-न-किसी गैरसरकारी स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते हैं।

पूर्व प्राथमिक शालाएँ—

पूर्व प्राथमिक शालाओं में २ वर्ष से ५ वर्ष तक की अवस्था के बच्चे जाते हैं। इनके संगठन में किंडरगारटन, यूनियन राज्य-शिक्षा-विभाग, चर्च तथा शिक्षा में दिलचस्पी रखनेवाले कुछ अन्य व्यक्ति प्रयत्नशील हैं। इन पूर्व-प्राथमिक शालाओं को सरकारी सहायता भी मिलती है। जो बच्चे पूर्व-प्राथमिक शालाओं में जाने से असमर्थ होते हैं उनके लिए आस्ट्रेलिया-आकाशवाणी की ओर से विशेष कार्यक्रम प्रसारित करने का प्रबन्ध है।

यद्यपि स्कूली शिक्षा ६ वर्ष की अवस्था से अनिवार्य है, पर प्राय सभी बच्चे ५ वर्ष की अवस्था में प्राथमिक स्कूल में जाना प्रारम्भ करते हैं। प्रत्येक प्राथमिक स्कूल में ऐसे वर्गों का प्रबन्ध है।

प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूल—

प्राथमिक स्कूलों में १२ या १३ वर्षों तक के बच्चों की शुरू की शिक्षा का प्रबन्ध है। हर राज्य अपना अलग-अलग पाठ्यक्रम बनाता है तथा लिखना, पढना, गणित, सामाजिक अध्ययन तथा वक्तृत्व-कला पर विशेष ध्यान देता है। शिक्षकों को इसकी स्वतन्त्रता है कि वे स्थानीय परिस्थिति के अनुसार पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं। लगभग सभी स्कूलों में बच्चों को प्राथमिक स्कूलों से माध्यमिक स्कूलों में प्रवेश स्वत उपलब्ध हो जाता है। माध्यमिक स्कूलों का चयन कई बातों पर निर्भर करता है। वे बातें हैं—बच्चों की रुचि, क्षमता, शिक्षकों तथा प्रधान अध्यापक की सन्तुष्टि तथा अभिभावकों की इच्छा।

सरकार माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध उच्च विद्यालयों, तकनीकी विद्यालयों तथा कृषि विद्यालयों द्वारा करती है। वहाँ का पाठ्यक्रम ६ वर्षों का होता है इन स्कूलों में शैक्षणिक, व्यावसायिक, तकनीकी तथा कृषि सम्बन्धी शिक्षा के साथ-साथ उन विषयों की शिक्षा दी जाती है, जो प्राथमिक स्कूलों में पढाये जाते हैं।

सरकारी माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा प्राय नि शुल्क है, पर अभिभावकों को पुस्तकों, विशेष प्रकार की वर्दी, खेलकूद के सामान तथा इसी प्रकार के अन्य व्यय का भार वहन करना पडता है। खर्चों के लिए कई प्रकार की छात्रवृत्तियाँ तथा अनुदान हैं, जो असमर्थ अभिभावकों की सहायता प्रदान करते हैं। गाँवों में, माध्यमिक विद्या-विद्यालयों में, लडके-लडकियों की सह-शिक्षा का प्रबन्ध

है। शहरों में लडकों तथा लडकियों के लिए पृथक-पृथक विद्यालय हैं।

जूनियर तकनीकी स्कूलों में प्राथमिक स्कूलों की साधारण शिक्षा विकसित रूप में पढाई जाती है। इसके साथ-साथ वाणिज्य, तकनीकी, तथा व्यापार की प्रारम्भिक व्यावसायिक शिक्षा दी जाती है। लडकियों के लिए गृह-विज्ञान के भी विद्यालय हैं। इनमें छात्राओं के लिए गृह-विज्ञान तथा व्यापारिक विषयों में दो तथा पाँच वर्षों के शिक्षण का प्रबन्ध है। कुछ राज्यों में उच्च शिक्षालयों तथा तकनीकी स्कूलों में कृषि का प्रशिक्षण होता है। कुछ क्षेत्रीय तथा ग्रामीण स्कूलों में गणित की विशेष शिक्षा दी जाती है। कुछ ऐसे कृषि-विद्यालय हैं, जिनमें रहने की अनिवार्य व्यवस्था है। इनमें व्यावहारिक कृषि की भी शिक्षा दी जाती है। प्रत्येक राज्य में दो महत्वपूर्ण परीक्षाएँ होती हैं—एक इंटरमीडियट या जूनियर परीक्षा तथा दूसरी स्कूल लीविंग परीक्षा। प्रथम परीक्षा माध्यमिक शिक्षा के मध्य में होती है। इसमें सफलता के आधार पर विद्यार्थी को उच्च तकनीकी तथा कृषि-शिक्षण एवं कई प्रकार की जन-सेवाओं के लिए प्रवेश प्राप्त होता है। प्रमाणपत्र माध्यमिक शिक्षा के अन्त में प्राप्त होता है। इसके आधार पर विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय प्रशिक्षण, शिक्षकों के कालेज या जन-सेवा में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है।

शिक्षण-केन्द्रों से दूर तथा पिछडे क्षेत्रों में बसी हुई आबादी के बच्चों के लिए डाक-द्वारा शिक्षा का प्रबंध किया गया है। विशेष प्रकार से लिखित पाठ डाक द्वारा बच्चों को भेज दिये जाते हैं। यह बच्चे पारिवारिक संरक्षण में पढते हैं। उनके किये हुए पाठ स्कूलों में शुद्धि के लिए भेज दिये जाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा बहुत से आस्ट्रेलियन निवासियों को उनके विदेश के प्रवास में भी उपलब्ध है। १९५० के बाद कुछ इस प्रकार के ट्रांसमीटर बनाये गये हैं, जिनके माध्यम से बच्चे शिक्षकों से दूर रहकर भी सामूहिक रूप से कक्षा में शिक्षक के सामने उपस्थित रहने के वातावरण का लाभ उठाते हैं। इन ट्रांसमीटरों की सहायता से बच्चे शिक्षक की बातें सुन सकते हैं तथा शिक्षक से प्रश्न भी कर सकते हैं।

सभी राज्यों में बच्चों के यातायात के साधन के लिए शिक्षा-विभाग से अनुदान मिलता है। यदि बच्चों के घर स्कूल से अधिक दूर हैं और नित्य आना-जाना कठिन है तो उनके लिए छात्रावास का प्रबन्ध है या उन परिवारों को, जो स्कूल के कारण छात्रों को आश्रय देते हैं, राज्य सरकार से सहायता प्राप्त होती है।

विकलांग बच्चे—

सभी राज्यों में विकलांग बच्चों के लिए शिक्षा का समुचित प्रबंध है। इनमें राज्य तथा अन्य संस्थाओं का भी सहयोग रहता है। जहाँ पर आवास विषयक विद्यालयों की अपेक्षा है वहाँ सरकार शिक्षा की अन्य सुविधाओं के साथ शिक्षकों का भी प्रबन्ध करती है। जो बहुत लाचार बच्चे हैं उनके लिए अस्पताल में ही स्कूल का प्रबंध है। ऐसे बच्चों के लिए विशेष अस्पताल हैं।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

यह कार्य राज्य के शिक्षा विभाग के अन्तर्गत है। बच्चों को प्राथमिक तथा जूनियर माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाने के लिए शिक्षकों को दो वर्षों का पाठ्यक्रम पूरा करना पडता है तब उनकी नियुक्ति सरकारी स्कूलों में होती है। जो माध्यमिक स्कूलों में शिक्षक बनना चाहते हैं, उन्हें तीन वर्ष का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय में पूरा करना होता है। इन तीन वर्षों के बाद एक वर्ष का व्यावसायिक प्रशिक्षण होता है। शिक्षकों का चयन माध्यमिक स्कूल में सफलता के उपरान्त होता है तथा प्रशिक्षण के समय उन्हें आर्थिक सहायता दी जाती है। इस सहायता के बदले उन्हें एक कानूनी बंधन में बँधना होता है कि वे कुछ निर्दिष्ट समय तक शिक्षण का कार्य करेंगे। इसकी अवधि प्रशिक्षण की अवधि तथा सहायता पर निर्भर करती है।

●

शिक्षक—औरंगजेब कब पैदा हुआ था ?

बालक—कैसे बताऊँ गुरुजी, मैं उस समय था ही नहीं।

घर-घर दीप जले

•

रुद्रभान

सजावट, ठाटबाट, और धूमधाम की दृष्टि से दीपावली अपने ढग का एक ही त्योहार है। अमावस्या की अँधेरी रात मे ढेर-के-ढेर टिमटिमाते दीपकों की झिलमिल दीपमाला आँखो के सामने सुनियाली और आनन्द का सपना साकार कर देती है। स्त्री-पुरुष, युवक या प्रौढ सभी को इसमे अपनी-अपनी अवस्था के अनुसार उल्लास और सुखानुभूति प्राप्त होती है। बच्चो का तो यह सबसे प्यारा त्योहार है। बाजार में तरह-तरह के खिलौने, मिठाइयो, खील-बताशों और गुब्बारो की बहार आ जाती है। बच्चे मोमबत्ती, कण्डील और तरह-तरह की सजावट की चीजें खरीदते है। पटाखों और फुलझडियो की भी माँग बढ जाती है।

दीपावली का आरम्भ कैसे हुआ

दीपावली के आरम्भ होने के सम्बन्ध म अनेक मान्यताएँ प्रचलित है। कुछ लोगो का विचार है कि वर्षा-ऋतु के आरम्भ के उपलक्ष में यह त्योहार आर्य लोग मनाते आये है। कुछ लोग कहते है कि रावण पर विजय प्राप्त करने के बाद भगवान रामचन्द्र इसी दिन अयोध्या में वापस आये थे। उनके स्वागत मे अयोध्या के निवासियो ने दीप जलाये थे। तभी से प्रति वर्ष यह त्योहार मनाया जाने लगा। जैनियो का मानना है कि इस दिन ही महावीर स्वामी का देहावसान हुआ था। उनकी पावन स्मृति और सम्मान में नगर-वासियो ने दीपावली मनायी थी। तब से ही पर्व के रूप मे दीपावली का प्रचलन हुआ।

दीपावली का आरम्भ चाहे जब और जिस प्रकार हुआ हो, पर इतना निश्चित है कि यह भारत का एक प्राचीन त्योहार है। दीपावली प्रतिवर्ष कार्तिक मास की अमावस्या को मनायी जाती है। इसमें तथा विजयादशमी मे २० दिन का अन्तर होता है। दीपावली मनाने का जो ढग आज प्रचलित है, वह वही नही है जो प्राचीन काल में रहा होगा। इसके आयोजन में इतिहास के विभिन्न युगो में नये-नये अग जुडते गये, कुछ छूटते भी गये। समाज और संस्कृति की प्रगति के साथ-साथ निश्चय ही इसमें कुछ नयी बातें जुडती जायेंगी और अप्रगतिशील अग सहज ही छूटते जायेंगे।

दीपावली की लम्बी तैयारी और इसके मनाने की आकर्षक परम्परा शिक्षण के लिए बहुत मौजूँ और फैला हुआ क्षेत्र सुलभ करती है। कविता, गीत, लोक-कथा, नाटक, उपयोगी कला, तथा सामाजिकता की अभिव्यक्ति और अभ्यास का यह त्योहार बेजोड सुअवसर उपस्थित करता है। इस अवसर का पूरा-पूरा शैक्षणिक लाभ लेने के लिए इसके आयोजन को निम्नलिखित तीन खडों मे बाँट लेना चाहिए :

(१) पूर्व तैयारी, (२) समारोह (३) सिंहावलोकन

पूर्व तैयारी

भारत के अधिकाश लोग कच्चे घरो में ही रहते है। वर्षा-ऋतु से कच्चे मकानो को काफी क्षति पहुँचती है। कच्चे मकानो की मरम्मत और लिपाई-पुताई में बहुत समय लगता है, किन्तु एक आसानी भी है कि उसमें थोडा-थोडा समय लगाकर भी काम किया जा सकता है। स्थिति देखते हुए यह आवश्यक है कि दीपावली की पूर्व तैयारी विजयादशमी के बाद से ही शुरू कर दी जाय। घर, स्कूल, पास-पडोस और गाँव या महल्ले की सफाई और सजावट की पूरी योजना

बनाकर फिर उसे छोटे-छोटे हिस्से में बाँटकर रोज थोड़ा थोड़ा पूरा करने का कार्यक्रम बना लेना चाहिए। कुछ काम अलग-अलग, कुछ टोलियों में बँटकर और कुछ को सामूहिक रूप में करना होगा। शिक्षक या अभिभावक के लिए यह उचित है कि वे बच्चों के साथ बैठकर उनकी राय से एक कार्य-योजना बनवाने में अपना मार्ग-दर्शन दें। नगर के बच्चों के लिए दीया जलाने के बाद आस-पड़ोस की सजावट देखने का अवसर रहता है। देहात के बच्चों के लिए ऐसी सुविधा नहीं होती। देहाती क्षेत्र के बच्चे यदि किसी प्रहसन या नाटक की तैयारी करके उसे दीवाली के दिन प्रस्तुत करें तो उनके तथा गाँव के लोगों के लिए यह बड़ा आकर्षक कार्यक्रम हो सकेगा।

नगर के बच्चों को यह बताने की जरूरत होगी कि वे दीवाली के लिए आवश्यक सामान को खरीद दो-एक दिन पहले ही कर लें। ठीक दीवाली के दिन कभी-कभी कोई-कोई सामान बाजार में समाप्त हो जाता है या उसकी कीमत बढ़ जाती है।

समारोह

समारोह के सम्बन्ध में निम्नलिखित पहलुओं की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए—

(१) यदि सम्भव हो तो दीवाली के ही दिन या नहीं तो उसके एक दिन पहले हो बुनियादीशाला में दीपावली का समारोह होना चाहिए। कोई नाटक तैयार हो तो उस उसी दिन खेला जा सकता है।

(२) दीवाली के अवसर पर दुकानदार लोग तरह तरह के पटाखे और फुलझड़ियाँ मँहगे दामों पर बेचते हैं। इससे धन का भारी दुरुपयोग तो होता ही है प्राय आग लगने या अन्य प्रकार से जलने का भीषण खतरा भी रहता है। अवसर जरा-सी असावधानी होने पर बच्चों की जान खतरे में पड़ जाती है। इसके सम्बन्ध में शाला के बच्चों को पहले से चेतावनी और सलाह दे देनी चाहिए।

(३) दीवाली की रात में गाँव के पुराने लोग जुआ खेलते हैं। वे इस त्योहार का एक अंग ही मानते हैं। हमें बच्चों को इस कुप्रथा की बुराइयाँ जोरदार शब्दों में बतानी चाहिए। जुआ खेलने की एक बार आदत पड़ जाने पर उससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन होता है। युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा इस कुटेव से नहीं उबर सके, यह कथा बच्चों को बतायी जानी चाहिए।

सिंहावलोकन

दीवाली से सम्बन्धित निम्नलिखित प्रसंग और प्रश्न बच्चों के सामने अनायास ही उपस्थित होंगे। शिक्षक को बालक की जिज्ञासा अथवा चर्चा के अनुसार इनका उल्लेख करना अच्छा होगा।

(१) अपने देश की मुख्य ऋतुएँ कौन सी हैं? वर्षाऋतु के कौन-कौन से महीने होते हैं? शीतऋतु किस महीने से आरम्भ होती है?

(२ दीपावली किस तिथि को मनायी जाती है? विजयादशमी इससे कितने दिन पहले मनायी जाती है? इसको मनाने के लिए क्या-क्या तैयारियाँ करनी पड़ती हैं?

(३) दीपावली का आरम्भ कैसे हुआ? यह त्योहार इतने ठाटबाट से क्यों मनाया जाता है?

(४) दीपावली किस राष्ट्रीय गुण का प्रतीक है? इसे कौन-कौन लोग नहीं मनाते?

(५) दीपावली पर किन किन चीजों की आवश्यकता पड़ती है? दीपावली के दो दिन पहले कौन-सा त्योहार और पड़ता है? उस दिन क्या चीज खरीदने की परम्परा है?

(६) दीपावली के दिन खाने-पीने के लिए क्या क्या वस्तुएँ बनती हैं? बच्चे दिन भर क्या करते हैं?

(७) दीवाली की रात को लोग अपने-अपने घरों की सजावट किन किन वस्तुओं से करते हैं? बच्चे क्या क्या करके अपनी खुशियाली और उल्लास प्रकट करते हैं? यह कहाँ तक ठीक है?

(८) दीवाली को घर के बड़े लोग किस प्रकार मनाते हैं? व्यापारी लोग इस दिन क्या-क्या करते हैं?

(९) इस त्योहार के मनाने के ढंग में क्या खराबियाँ और त्रुटियाँ आ गयी हैं? पटाखे तथा फुलझड़ियाँ क्या हानि करती हैं?

आलू की बोआई

प्रेमभाई

आलू सब्जी नहीं है, फिर भी सब्जी के साथ इसका इतना अधिक उपयोग होता है कि यह सब्जी-परिवार का एक अनिवार्य सदस्य बन बैठा है ।

बच्चे आलू खूब पसन्द करते हैं । देहात के अधिकांश किसान-परिवार अपने उपयोग के लिए कुछ-न-कुछ आलू की खेती करते ही हैं ।

जिस बुनियादी शाला में खेती लायक जमीन हो वहाँ कुछ-न-कुछ आलू की खेती होनी ही चाहिए । आलू की खेती की सुधरी हुई पद्धति का प्रयोग यदि किया जाय तो आसानी से प्रति एकड़ दूनी-तिगुनी पैदावार प्राप्त की जा सकती है ।

जमीन की तैयारी

आलू के लिए हलकी भुरभुरी मिट्टी चाहिए । आलू के चारों ओर जितनी मुलायम मिट्टी रहेगी उसकी पैदावार उतनी ही अच्छी होगी, आलू भी बड़ा-बड़ा होगा । इसलिए आलू के खेत की पहले एक गहरी जुताई करनी चाहिए । इसके लिए मिट्टी पलटने वाला १०० नम्बरी हल या विक्ट्री हल या पंजाब हल अच्छा होता है । एक मजबूत बैल-जोड़ी या दो जोड़ी बैल लगाकर यह काम अच्छा होगा । उसके ऊपर एक या दो बार पाटा (हेंगा) चलाना चाहिए, जिससे ढेले फूट जांय । प्रति एकड़ में अब २० से ३० गाड़ी गोबर की खाद खेत में समान रूप से फैला देनी चाहिए । इसके बाद देशी हल से अथवा कल्टीवेटर से दो या तीन बार खूब घनी जुताई करनी चाहिए । आलू का खेत तबतक जोतना चाहिए जबतक मिट्टी बिल्कुल मुलायम व बारीक न हो जाय ।

खाद

आलू के पौधे की एक खास विशेषता यह है कि वह बहुत अधिक खाद ले सकता है । दूसरे कई पौधे अधिक खाद नहीं सह पाते, लेकिन आलू के बारे में ऐसी बात नहीं है, इसलिए आलू के खेत में जितनी कम्पोस्ट डाली जा सके उतना ही अच्छा । कम्पोस्ट डालने से दो फायदे हैं । इससे खेत की उर्वरा शक्ति तो बढ़ती ही है, इसके अलावा यह मिट्टी को मुलायम रखता है, मिट्टी के कणों में मिल कर उसको सख्त बनने से रोकता है ।

यदि हम काफी गोबर की खाद प्राप्त कर सकते हैं तब रासायनिक खाद डालने की जरूरत नहीं पड़ेगी । फिर भी फासफोरस वाली खाद देने से आलू का आकार अच्छा होगा, उत्पादन भी बढ़ेगा । फासफोरस देने के लिए या तो एक वर्ष पहले ४०० किलो हड्डी की खाद प्रति एकड़ दें, नहीं तो २५०, ३०० किलो प्रति एकड़ सुपर-फासफेट आलू बोने के पहले डालें । १०० से २५० किलो अमोनियम सल्फेट भी डालना उपयुक्त होगा ।

बीज की तैयारी

आलू बोने के १५ दिन पहले ही बीज कोल्डस्टोर से मँगा लेना चाहिए । छोटे-बड़े बीज को अलग-अलग करके उसमें से सड़ा-गला आलू छाँटकर बाहर निकाल देना चाहिए । अब बीज को किसी खुले हवादार कमरे में एक पतली सतह में फैला देना चाहिए । बीच-बीच में आलू को देखते रहना चाहिए । उसमें से सड़ा-गला आलू निकालते रहना चाहिए । करीब १५ दिन में बीज में से आलू का एक नुकीला तल्वार की तरह का अँखुआ निकल आवेगा । यह बीज खेत में बोने के लिए तैयार हो गया ।

बोआई

आलू की बोआई वर्षाऋतु की समाप्ति से लेकर जाड़े के मध्य तक होती रहती है । सितम्बर में जो आलू

बोया जाता है वह कभी-कभी तेज वर्षा होने से सड जाता है, इसलिए उसको मेड़ के ऊपर बोते है। वर्षा समाप्ति पर अक्तूबर या नवम्बर मे आलू खेत में देसी हल से छिछला (बहुत कम गहरा) कूड बनाकर उसमें बोते है। बोकर ऊपर से हलकी मिट्टी चढ़ा देते हैं। मिट्टी चढाने का काम मिट्टी पलटने वाले हल (मेअर प्लो, शावाम हल या लोहे का हल) से बहुत जल्दी किया जा सकता है।

आलू बोने के लिए खेत मे पाटा (हेंगा) चलाकर खेत को समतल बनाना चाहिए। उसके बाद २ फीट से २॥ फीट की दूरी पर लाइन बनानी चाहिए। यह काम नारियल की पौन इच मोटी रस्सी से किया जा सकता है। दो आदमी रस्सी के दो किनारे पकडकर खेत के आमने-सामने की मेंड के पास खेत के अन्दर बैठें।

अब रस्सी को जमीन पर रगडते हुए आगे-पीछे की ओर खींचे। मुलायम-चिकनी मिट्टी पर रस्सी का निशान उभर आयेगा। रस्सी २ या २॥ फीट की लकडी से नाप कर आगे बढ़ाते जायें और रगड कर निशान बनाते जायें। अब इन लाइनो पर देशी हल से छिछला 'कूड' निकालें और उसमें आलू का बीज ९"–१०" की दूरी पर गिराते जायें। बीज सावधानी से कूड में रखें। उसका अँखुआ ऊपर की ओर रहना चाहिए।

वर्षाऋतु में बीज बोना हो तो २॥ फीट की दूरी पर लाइन बनाने के बाद उस लाइन पर बीज रखते चले जायें। अब लाइनो के बीच में हल चलायें। बीच में नाली बन जायगी तथा आलू पर मेड बन जायगी। वर्षा होने पर सारा पानी नालियों में निथर कर बाहर निकल जायगा तथा बीज नही सडेगा।

गुड़ाई तथा मिट्टी चढ़ाना

आलू का बीज जमने के बाद जब पौधा करीब ४ से ६ इच ऊँचा हो जाय तब उसमें गुड़ाई करना आवश्यक है। इससे पहले भी यदि घास जम गयी हो तो खुरपी से उसे निकालते समय हलकी गुड़ाई कर देनी चाहिए। पौधा ४–६" का हो जाने पर अच्छी तरह गुड़ाई करके पौधो पर मिट्टी चढ़ानी चाहिए। यह काम अक्सर कुदाल से किया जाता है।

आलू पर मिट्टी चढ़ाने का काम कम-से-कम दो बार किया जाना चाहिए। यह काम हाथ से ही किया जाना चाहिए।

सिंचाई

आलू के पौधे २–३" इच होने तक सिंचाई करना अच्छा नही, इसलिए आलू बोते समय यदि बीज जमने लायक नमी न हो तो पहले खेत को सीचकर, फिर उसको जोत कर बोआई करना अच्छा होता है।

पौधे ३–४" के हो जाने पर लाइनो के बीच में नालियाँ बनाकर हलकी सिंचाई करनी चाहिए। आलू के पौधे पानी में डुबाने नही चाहिए। सिंचाई हलकी करनी चाहिए। आलू को पानी चटाना चाहिए, पिलाना नही। इसके लिए नालियो में थोड़ा-थोड़ा पानी हर तीसरे चौथे दिन बहा देना चाहिए। ऐसा करने से आलू के आस-पास की मेड सख्त नही बनेगी तथा आलू को बढने के लिए मुलायम मिट्टी खूब मिलेगी। आलू ज्यादा पडेगा तथा बडा-बडा होगा।

वर्षा के बाद ३ दिन से लेकर ५ दिन के अन्तर पर आलू की हलकी सिंचाई करनी चाहिए।

फसल की तैयारी

सितम्बर मे जो आलू बोया जाता है उसे ५४-५५ दिन बाद खोदा जाता है। यह आलू छोटा ही रहता है तभी खोद लेते है। अक्तूबर के अन्त मे या नवम्बर के शुरू में यह आलू बाजार में बिकने लगता है। उस समय इसका दाम ३०–३५ रु० मन होता है। एक एकड में ७५ से १०० मन आलू निकलता है।

जो आलू वर्षा के बाद बोते है, उसको यदि तीन माह खेत में रखें तो एकड में करीब ३००-४०० मन होता है। यह आलू दिसम्बर के अन्त में या जनवरी मे खोदते हैं। उस समय बाजार मे ८-१० रु० मन इसका भाव होता है।

बीज के लिए आलू नवम्बर मे बोना अच्छा होता है। इसको अच्छी तरह पकने के बाद ही खेत से निकालना चाहिए। बीज के लिए १–१॥ इच व्यास का आलू चुनकर अलग निकालना चाहिए तथा बाकी खाने के लिए काम में ले सकते हैं।

बुनियादी तालीम की समस्याएँ–२

गणेश ल० चन्दावरकर

भारत सरकार द्वारा १९५२ में नियुक्त माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है–

"हमें अपने विद्यार्थियों की औद्योगिक, प्रायोगिक व उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने पर जोर देना चाहिए। काम के प्रति, हर तरह के छोटे-से-छोटे काम के प्रति, सम्मान की भावना महज अभिप्रेरित करने से ही सब कुछ नहीं हो जायेगा। आत्म-सन्तोष और राष्ट्रीय समृद्धि की भावनाएँ भरनी पड़ेंगी, जो सिर्फ काम के जरिये ही सम्भव है और उसमें प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित हाथ बँटाना है। फिर ऐसा सम्बोध पैदा करना होगा कि निश्चित व्यक्ति जो काम अपने हाथ में लें उसे यथा-शक्ति पूरी दक्षता और कलात्मक ढंग से पूरा करने की कोशिश करें। इस तरह की भावनाएँ उत्प्रेरित करना प्रत्येक अध्यापक का कर्तव्य हो और विद्यालय के प्रत्येक कार्य में इसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'

नयी रुझानें

अब वह समय आ गया है, जबकि माध्यमिक शिक्षा की प्रगति में दिलचस्पी लेनेवाले तथा उसमें निपुणता लाने के लिए जिम्मेवार लोगों को महसूस करना चाहिए कि छात्रों को महज स्कूली और किताबी शिक्षा देना ही सन्तोषजनक स्थिति नहीं है। यहाँ हमलोगों को इस बात का भी ख्याल रखना पड़ेगा कि समस्त विद्यालयों के लिए यह सम्भव न होगा और न है कि वे स्वीकृत शिल्प के प्रशिक्षण का एकबारगी बन्दोबस्त कर लें, क्योंकि स्थान की कमी आदि जैसी अनेक कठिनाइयाँ हैं, लेकिन जैसा कि माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने कहा है, बिना निश्चित शिल्प के भी वे उस तरह की भावनाएँ पैदा कर सकते हैं। विद्यालयों के जीवन में तथा उनके इर्द-गिर्द बहुत से ऐसे दैनिक कार्य हैं, जो छात्रों के लिए पर्याप्त काम दे सकते हैं और विद्यालय से बाहर के जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित करने के अवसर प्रदान कर सकते हैं।

इन अवसरों के अतिरिक्त, माध्यमिक शिक्षा-आयोग की सिफारिशों के मुताबिक, माध्यमिक स्कूल-सर्टिफिकेट-परीक्षा में बैठनेवाले छात्रों के लिए तरह-तरह के पाठ्य-क्रम स्वीकृत हैं, जिनके अनुसार वे कृषि, उद्योग, वाणिज्य या इसी प्रकार के अन्य विषय ले सकते हैं। शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य, भौतिक और रसायन-शास्त्र, वनस्पति और प्राणी-विज्ञान जैसे विषय भी अगर जीवन्त-दिलचस्पी और प्रत्यक्ष तरीके से पढ़ाये और अध्ययन कराये जायें तो जीवन के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। दूसरी तरफ कताई तथा बुनाई जैसे शिल्प व कृषि भी यांत्रिक तरीके से पढ़ायी जा सकती है, जिसमें छात्रों को कुछ सिद्धान्त और प्रक्रियाएँ बिना किसी दिलचस्पी के पढ़ा दी जा सकती हैं।

असल मकसद तो बच्चों के अन्दर जिज्ञासा उत्पन्न करने में है–विभिन्न प्रक्रियाएँ, जैसे—सहकारी गतिविधि, योजना, व्यक्ति की दक्षता और सुघड़ता आदि क्या हैं और उसकी क्या आवश्यकता है, यह जानने की रुचि पैदा करना और उन्हें समझाना। किसी भी विषय में चाहे वह गणित, भाषा, इतिहास, भूगोल जो भी हो इस तरह की ज्ञान-पिपासा और आकांक्षा बच्चों के अन्दर पैदा कर दी जाय और वास्तविक जीवन के हालात से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाय तो विद्यालयों में बुनियादी तालीम-कार्यक्रम जारी करना और सफलता-पूर्वक उसे आगे बढ़ाना सम्भव हो सकेगा।

अब यहाँ चार प्रश्न उठते हैं जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

बुनियादी तालीम क्या प्राथमिक कक्षाओं (पहली से चौथी या सातवीं कक्षा) तक सीमित रहेगी या माध्यमिक विद्यालयों की प्रथम तीन कक्षाओं (पाचवीं से सातवीं कक्षा) तक और उच्चतर कक्षाओं तक लागू होगी ?

शुरू में ही बताया गया है कि गांधीजी की राष्ट्रीय शिक्षा योजना यानी बुनियादी तालीम आज प्राथमिक माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के नाम पर जो कुछ हो रहा है उसके स्थान पर लागू करने को थी इसलिए फिर से इस बात को समझाने की आवश्यकता नहीं है कि बुनियादी तालीम गांधीजी के अनुसार माध्यमिक विद्यालयों तक जारी की जानेवाली थी। इस निर्विवाद सैद्धान्तिक तथ्य के अतिरिक्त हमारे पास शिक्षा विभाग (पुराने बम्बई राज्य) के उस पाठ्यक्रम का प्रमाण है जो उसने सन् १९४७-४८ में प्राथमिक विद्यालयों (कक्षा १ से ४ तक) के लिए तैयार किया था और संशोधित पाठ्यक्रम में बुनियादी तालीम-बोर्ड द्वारा तैयार पाठ्यक्रम के मसविदे को शामिल किया था।

इस पाठ्यक्रम में सफाई नागरिक शास्त्र शरीर विज्ञान स्वास्थ्य एवं सामाजिक जीवन आदि पर विशेष जोर दिया गया था और कक्षा १ से ४ तक के पाठ्यक्रम में परिवर्तनों ने कक्षा ५ से ७ तक के पाठ्यक्रमों में भी तब्दीली लाना लाजिमी कर दिया। इन कक्षाओं के लिए संशोधित पाठ्यक्रम के अनिवार्य पहलू थे—विद्यार्थियों में सोचने-समझने की ताकत तथा आजाद ख्याल को बनाये रखना और अपने इर्द गिर्द के वातावरण के प्रति उन्हें जिज्ञासु बनाना। इसके लिए शिल्प अनिवार्य विषय किया गया। इसके लिए शिक्षा विभाग ने जिन निम्नलिखित लक्ष्यों तक पहुंचने का अन्दाज पेश किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी तालीम के सिद्धान्त और तत्त्वों ने माध्यमिक विद्यालयों में भी अपना स्थान बना लिया है।

१—विद्यालय ज्ञान-यापन प्रत्येक बच्चा शिल्प की आवश्यक निपुणता पाये ताकि मनुष्य मात्र की तीनों बुनियादी आवश्यकताओं—भोजन वस्त्र और आवास के मामले में वह आत्मनिर्भर बन सके।

२—बच्चों को इतने अवसर देना कि वे जीवन शिल्प की समस्याओं के जरिये सुगमतापूर्वक पाठ्यक्रम के विषय सीखते जायें।

३—बच्चों के अन्दर ऐसी भावनाएँ भरना कि वे सामाजिकता और यथार्थ को जीवन में आवश्यक समझें।

४—बच्चों के अन्दर अपना काम स्वयं करने सेवा और सहकारी तथा कोई भी काम शुरू करने के पहले योजना बनाने की आदतें पैदा हो सकें।

पांचवीं छठी और सातवीं कक्षाओं के लिए निम्नलिखित शिल्प निर्धारित किये गये १—हाथ कताई और बुनाई २—कृषि ३—दर्जीगिरी ४—सिलाई और कसीदाकारी ५—बढ़ईगिरी ६—संगीत और ७—गृह विज्ञान।

नया पाठ्यक्रम १९५१ में १०वीं कक्षा तक समस्त कक्षाओं में लागू किया गया था। उसके तथा माध्यमिक स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट-परीक्षा १९५८ के संशोधित पाठ्यक्रम के सावधानी-पूर्वक अध्ययन से पता चलेगा कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर तथा खासकर प्रत्येक पहलू पर बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों का क्या प्रभाव पड़ा। आठवीं से दसवीं कक्षाओं तक के पाठ्यक्रम तैयार करते समय सरकार को इस आवश्यकता पर विचार करना पड़ा कि प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम को एक सम्पूर्ण रूप में तैयार किया जाय। नये पाठ्यक्रम के अनुसार शार्टहैंड और टाइपराइटिंग संगीत गृह शिल्प दर्जीगिरी हाथ-कताई और बुनाई रेडियो मरम्मत छपाई कला बढ़ईगिरी उपस्कर का नक्शा (अल्पना) आदि विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की गयी। इन विषयों तथा इसी तरह के अन्य विषयों का माध्यमिक स्कूल-सर्टिफिकेट-परीक्षा में समावेश एवं बहुद्देशीय विद्यालयों की योजना की स्वीकृति इस बात का द्योतक है कि शिल्प तथा वृत्तिक विषयों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है।

इन नये तत्त्वों के पीछे भी वही सिद्धान्त है जो बुनियादी तालीम की बुनियाद में है। दरअसल माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने उसे इन शब्दों में रखा था— प्राथमिक अपर या मिडिल तथा माध्यमिक कक्षाओं के क्रमिक स्तरों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करने की योजना में एक पूरा

सिलसिला होना चाहिए, ताकि छात्र सीढ़ियों पर पैर रखते बढ़ते चले जायें और कहीं कोई रुकावट न आये।"

आयोग ने इस बात की भी आवश्यकता महसूस की कि ११ से १४ वर्ष की अवस्था वाले बच्चों की पढ़ाई में बुनियादी तालीम के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को लागू किया जाय। आयोग के परामर्शों के अनुसार विद्यालयों में शिक्षा के प्रत्येक क्रम (कदम) में एक सिलसिला होना ही चाहिए। चौदह वर्ष की उम्र तक के बच्चों की पढ़ाई में बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को लागू करके उसके बाद उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता।

इसलिए यह आवश्यक है कि हम समस्त माध्यमिक शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों को मान लें, पर किसी खास शिल्प को समूची पढ़ाई का केन्द्र बनाने पर अधिक जोर न दें।

क्या बुनियादी तालीम का अर्थ सिर्फ शिल्प-केन्द्रित शिक्षा है या इसका अर्थ कुछ और है या शिल्प की शिक्षा के अतिरिक्त भी कुछ और है?

पिछले २४ वर्षों में बुनियादी तालीम के क्षेत्र में काम करने से शिक्षाशास्त्री और अध्यापक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि वह महज शिल्प-केन्द्रित शिक्षा के अतिरिक्त कुछ और भी है। दरअसल, शिल्प होना तो निहायत जरूरी है, क्योंकि शिल्प ही वह वस्तु है, जो बच्चों के अन्दर शारीरिक मेहनत के प्रति वह सद्भावना और प्रेम जागृत कर सकती है, जो एक अच्छी और ठोस शिक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा के विचारक इस ख्याल पर एकमत हैं कि किसी उपयुक्त उत्पादन-कार्य के जरिये बच्चों को शिक्षा दी जाय। सर्वतोमुखी शिक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए यह रास्ता सर्वाधिक प्रभावशाली समझा जाता है।

शिल्प-केन्द्रित शिक्षा

फिर भी, सब प्रकार की शिक्षा के लिए शिल्प को आरम्भ का आधार और केन्द्र बनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई है—विभिन्न वर्गों के लिए शिल्प और विषयों के बीच प्रभावशाली सम्बन्ध स्थापित करने की। शिल्प को समस्त पढ़ाई का केन्द्र बनाने का आग्रह करने के बजाय उसे विद्यालय के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देना ही पर्याप्त है। यह भी सम्भव है कि शिल्प को शिक्षा का केन्द्र न बनाकर छात्रों के दिलों में विभिन्न तरीकों से शारीरिक मेहनत के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जाय। उदाहरणार्थ, विद्यार्थियों से बारी-बारी विद्यालय के भवन और हाते साफ कराये जायें, आवश्यक वस्तुओं का एक भंडार खोलकर उन्हीं से उसका संचालन कराया जाय और जहाँ-कहीं भी सम्भव हो, थोड़ी-सी जमीन में बागवानी भी करायी जा सकती है। विद्यालयों में समाज-सेवा-केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं और छात्रों से स्वयंसेवक का काम लिया जा सकता है।

बहुत-से शिक्षाशास्त्री बुनियादी तालीम को अब ऐसी योजना मानने लगे हैं कि वह शिक्षा को मानवीय पहलू प्रदान कर सकती है। समस्त शिक्षाशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि विद्यालयों का संगठन समुदाय के रूप में किया जाय तो विद्यालयों में और बाहर के सामुदायिक जीवन से सब बातों पर उसके गहरे और प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हों। विद्यालय की शिक्षा के मानवीकरण और समाजीकरण के इस सिद्धान्त को राष्ट्रीय शिक्षा का आधार बनाया जा सकता है। इसी का दूसरा नाम बुनियादी तालीम है। इस शिक्षा में शिल्प एक अनिवार्य तत्त्व है, और रहेगा। इस सन्दर्भ में जाकिर हुसैन-समिति ने शिक्षा में शिल्प के स्थान के बारे में जो स्पष्ट लिखा है उस पर हमें ध्यान देना चाहिए —

"सबसे पहले शिल्प और उत्पादन-कार्य का चुनाव ऐसा होना चाहिए कि उसमें शिक्षाएं की सम्भावनाएँ काफी हों। प्रमुख मानवीय कार्य तथा मानव की दिलचस्पियों के सम्पर्क में आने के स्वाभाविक तत्त्व उनमें मौजूद हों। बाद में अपने प्रतिवेदन में बुनियादी शिल्प की पसन्दगी के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें देते समय हमने इस विषय पर विशेष ध्यान दिया है और उन समस्त लोगों से, जो किसी भी रूप में इस योजना से सम्बन्धित हैं, हम आग्रह करेंगे कि वे इस महत्वपूर्ण बात को गाँठ बाँध लें। नयी शिक्षा-योजना का उद्देश्य मुख्यतः शिल्पकार पैदा करना नहीं है, जो 'यंत्रवत' शिल्प का कुछ काम करता रहे; बल्कि शिल्प-कार्य में मौजूद सामर्थ्य को शिक्षा-कार्य के लिए उपयोग में लाना है।"

'पिछले २४ वर्षों के दरमियान बुनियादी तालीम कहाँतक महात्मा गांधी द्वारा आत्मनिर्भरता की कसौटी पर खरी उतरी है ?

बुनियादी तालीम का आत्मनिर्भरतावाला पहलू उसका अन्तिम लक्ष्य माना जा सकता है। यहाँ हम फिर याद दिलाना चाहते हैं कि महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में सलाह दी थी कि राज्य को इस बात की गारंटी देनी चाहिए कि विद्यालयों में छात्र जिन वस्तुओं का उत्पादन करेंगे वह उन्हें खरीद लेगा। उनके अनुसार ऐसा करने से प्रत्येक विद्यालय आत्मनिर्भर हो सकता है। इस सम्बन्ध में आकर हुसैन-समिति के विचार बिलकुल स्पष्ट हैं। जो लोग आत्मनिर्भरतावाले पहलू को शब्दों में और हू-बहू स्वीकार करना चाहते हैं उनके लिए वह मार्गदर्शक का काम करेगा। समिति ने लिखा है—"अगर यह किसी रूप में 'आत्मनिर्भर' न भी हो तो भी बुनियादी तालीम को शिक्षण-नीति और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के अत्यावश्यक उपाय के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह सौभाग्य की बात है कि यह बेहतरीन शिक्षा स्वाभाविक रूप से चालू खर्च का अधिकांश भाग पूरा करेगी।'

अन्तिम वाक्य योजना के आत्मनिर्भरतावाले पहलू पर समिति के अटूट विश्वास को प्रकट करता है। जो लोग इस योजना को स्वीकार करेंगे उन्हें समिति के इस विश्वास को भी स्वीकार करना चाहिए, जिसका तात्पर्य है कि अगर निकट भविष्य में नहीं तो आगे चलकर योजना आत्मनिर्भर अवश्य हो जायेगी।

अगर बुनियादी तालीम महात्मा गांधी या जाकिर हुसैन-समिति के बताये हुए रास्ते से प्रयोग में नहीं लायी जा सकती तो क्या संशोधित कर उसे लागू किया जा सकता है ?

बुनियादी तालीम की उपयोगिता व एकमात्र प्रभावशाली शिक्षा-योजना के रूप में उसके महत्व में पूर्ण विश्वास रखनेवाले भी इससे इनकार नहीं कर सकते कि पिछले २४ वर्षों के दरमियान इसके प्रयोगकाल में अनेक संशोधन किये गये हैं। आगे इसके स्थायी और अच्छे परिणाम देखने हैं तो बहुत से और भी प्रयोग करने पड़ेंगे। नवम्बर १९६१ में महाराष्ट्र सरकार द्वारा नियुक्त भीसे-समिति ने लिखा था—"महाराष्ट्र सरकार बुनियादी तालीम की नीति को जारी रखने के लिए उत्सुक है, लेकिन सरकार इस बात से भी वाकिफ है कि योजना के कुछ पहलुओं के सम्बन्ध में जनता और शिक्षाशास्त्रियों में असन्तोष है। योजना की कुछ खामियों तथा उसके संचालन और प्रशासन की दिक्कतों से भी सरकार परिचित है।"

भीसे-समिति ने अपने निरीक्षण के सिलसिले में देखा कि प्राथमिक स्तर पर भी समन्वित पढ़ाई का सिलसिला सन्तोषजनक नहीं है, लेकिन उसी दरमियान समिति ने अपवाद स्वरूप श्री कन्नूमल नानावटी-कन्या-विनय मंदिर, विले पार्ले को भी देखा, जहाँ समन्वित पढ़ाई का तरीका बेजोड़ और पूर्ण सन्तोषजनक पाया। भीसे-समिति की इस सिफारिश का कि जो उच्चतर विद्यालय के स्तर तक समन्वित शिक्षा-प्रणाली लागू करना चाहते हैं, वे उक्त कन्या-विनय-मन्दिर से प्रेरणा लें, पूर्ण समर्थन करते हुए हम यह भी समझते हैं कि समस्त विद्यालयों के लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वे नानावटी-कन्या-विनय मन्दिर-जैसे चन्द विद्यालयों की तरह ही योजना को क्रियान्वित कर सकें। इसीलिए आवश्यक है कि समन्वित सिद्धान्त वहीं तक लागू किया जाय, जहाँ तक स्वाभाविक रूप से प्रगति हो सके।

कार्य और जीवन से सीधा सम्पर्क, सिद्धान्त को सब प्रकार की शिक्षा का अनिवार्य तत्व मान लिया गया है, और यह कायम रहेगा। इसीलिए हम आग्रह करेंगे कि समन्वय और आत्मनिर्भरता के पहलुओं पर ढोल न पीटकर—क्योंकि दोनों शिक्षा के ठोस पहलू स्वीकार कर लिये गये हैं—उन्हें यथासम्भव स्वाभाविक और प्रभावशाली ढंग से लागू करने के प्रयास किये जायें। माध्यमिक विद्यालयों में कार्य के रूप में काम और जीवन के साथ सीधे सम्पर्क के सिद्धान्त को तत्काल जारी किया जाय, और यहाँ यह ख्याल रहे कि ऐसा करने से अवश्य ही बच्चों की स्वयं सेवा-वृत्ति, स्वास्थ्य तथा मानसिक धरातल ऊपर उठेगा। नगरों के माध्यमिक विद्यालयों के प्रधान तथा शिक्षक भी अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर एक वर्ग में बैठाकर बच्चों को पढ़ाने के दकियानूसी तरीकों को छोड़ने की प्रवृत्ति अपनाकर उपर्युक्त बुनियादी तालीम के पहलुओं को लागू कर सकते हैं। यही शिक्षा की गांधीवादी पृष्ठभूमि है।

धनुष किसने तोड़ा ?

•

रांगेय राघव

दिल्ली के एक अंग्रेजी स्कूल में एक मास्टर की नियुक्ति हुई। उसने क्लास में आकर कहा—'बच्चो, बताओ, जनक का धनुष किसने तोड़ा था ?'

लड़कों में से किसी ने जवाब नहीं दिया। मास्टर को गुस्सा आ गया। उसने एक लड़के से कहा—'तुम बताओ जी।'

लड़का सहमा हुआ-सा खड़ा हो गया।

मास्टर ने फिर पूछा—'बताते क्या नहीं तुम ?'

लड़के ने डरते हुए कहा—'सर' मैंने नहीं तोड़ा।'

मास्टरजी को बड़ा क्रोध आया। उस क्लास को, जो मास्टर साहब पहले पढ़ाते थे, उनके पास जाकर कहा—'आपने इस क्लास को पढ़ाया क्या है ? मैं तो इस स्कूल से बाज आया। मैं तो इस्तीफा दे दूँगा।'

पुराने मास्टरजी बड़े चौंके। बोले—'आखिर हुआ क्या ? किसी ने कुछ कह दिया ?'

नये मास्टरजी बोले—'कहेगा क्या ? मैंने क्लास में पूछा—'जनक का धनुष किसने तोड़ा, तो मालूम है आपको, उस लड़के ने क्या कहा ?'

'किस लड़के ने ?'—पुराने मास्टरजी ने पूछा।

'वही लाल जर्सीवाला मदनमोहन।'

'क्या कहा ?'

बोला—'सर, मैंने नहीं तोड़ा।'—यह कहते हुए नये मास्टर के नथुने फूल गये, लेकिन पुराने मास्टरजी ने बहुत ही गम्भीरता से सिर हिलाते हुए कहा—'तो यह बात है मास्टरजी। वह लड़का, मैं जानता हूँ, झूठ नहीं बोल सकता।'

नये मास्टरजी का तो पारा ही गर्म हो गया। फौरन हेडमास्टर के पास चले गये और उन्हें भी इस्तीफे की धमकी दी। हेडमास्टर साहब सीधे आदमी थे। फौरन बोले—'ऐसी क्या बात हो गयी, मामला तो आगे आये।'

नये मास्टरजी ने किस्सा सुनाकर कहा—'अब आप बताइए। पुराने मास्टर कहते हैं कि वह लड़का झूठ नहीं बोल सकता।'

हेडमास्टर थोड़ी देर तक जैसे किसी गहरी सोच में पड़ गये। फिर उन्होंने कहा—'पुराने मास्टरजी कभी तरफदारी करते देखे तो नहीं गये। फिर भी आप क्यों फिक्र करते हैं ? आप क्लास में जाइए। हो सकता है, लड़का झूठ बोलता हो। आप चलिये, मैं दूसरा भिजवाता हूँ। और देखिये, जनक से कहिये कि उसे स्कूल में ऐसी चीजों को लाने की जरूरत नहीं है।

•

पिता—मुन्ने, तू आज स्कूल क्यों नहीं गया ?

मुन्ना—क्यों जाता पिताजी, गुरुजी को कुछ नहीं आता।

पिता—कुछ नहीं आता ! क्या मतलब ?

मुन्ना—कल मुझसे पूछ रहे थे – २ और २ कितने होते हैं।

आन्दोलन या आरोहण

•

एक कार्यकर्ता

आन्दोलन विरोध ढूँढता है, आरोहण समानता। आरोहण उन्हीं स्थलों को ढूँढता और सामने लाता है, जो भिन्न और विरोधी दिखायी देनेवाले सामाजिक तत्त्वों में भी समान हों; इसलिए सर्वोदय समाज को सम्पन्न और विपन्न में नहीं बाँटता। उसके सामने पूँजीपति पूँजी का मालिक है, और श्रमिक श्रम का। वह दोनों की मालिकी मिटाने की बात करता है।

१९५७ में हम लोग जिस दिन अखंड पदयात्रा में निकले वह आम चुनाव के वोट का दिन था। एक-एक आदमी का दिल और दिमाग वोट से भरा हुआ था। किसको फुरसत थी कि भूदान और सर्वोदय की बात सुने! भूदान और सर्वोदय की क्या बात कहनी है कैसे कहनी है, किससे कहनी है, इसकी मेरे मन में कोई योजना भी नहीं थी। गाँव में हमलोगों की बात सुनने कोई आयेगा, इसकी आशा भी नहीं थी। मुझे गाँव के जीवन का अनुभव नहीं के बराबर था। मई, '५४ से मैं श्रमभारती, खादीग्राम में था लेकिन खादीग्राम सामान्य गाँव नहीं था, हर दृष्टि से वह विशेष था—नया बनाया हुआ, नया बसाया हुआ। उसके पहले मैं बचपन में कभी छुट्टी बिताने भले ही चार-छः बार अपने गाँव गया हूँगा, लेकिन उस जाने में गाँव का होकर गाँव में रहने की बात नहीं थी। खादीग्राम में जरूर गाँव का कुछ अनुभव हुआ, लेकिन वह भी दूर से।

हमलोगों को देखकर गाँववालों को कुतूहल होता था कि ये लोग चुनाव खत्म हो जाने के बाद क्या घूम रहे हैं? कोई कहता—'चुनाव में खड़ा होना चाहते रहे होंगे, लेकिन टिकट नहीं मिला तो निराश घूम रहे हैं।" दूसरा कहता—'टिकट मिला होगा, लेकिन लड़ने का खर्च नहीं जुटा होगा, इसलिए मुँह लटका हुआ है।" तीसरा कहता—'भले घर के मालूम होते हैं, लगता है जमाना खराब हो गया तो बाल-बच्चों के साथ निकल पड़े हैं।" शुरू में इस तरह की मजेदार बातें सुनने को मिलती थीं। जल्दी कोई यह मानने को तैयार नहीं होता था कि कोई ऐसा भी होगा, जो निस्वार्थ हो, जिसका किसी पार्टी से सम्बन्ध न हो और जो विशुद्ध लोक-कल्याण की भावना से घूम रहा हो। १९५७ में मुझे पहली बार मालूम हुआ कि सार्वजनिक जीवन और सार्वजनिक कार्यकर्ता, दोनों स्वराज के बाद जनता की नजर में इतने नीचे गिर चुके हैं। केवल दस वर्षों में यह हाल!

एक तो यों ही समझ में नहीं आता था कि भूदान के विचार को, सर्वोदय के जीवन-दर्शन को किस भाषा में, किस अनुबन्ध से, गाँव के लोगों के सामने प्रस्तुत करूँ, और दूसरे जब यह हाल देखता था तो परेशानी और अधिक बढ़ जाती थी। अगर परिचित अर्थ में, परिचित ढंग से किसी आन्दोलन की ललकार सुनानी होती तो मेरा काम आसान होता, लेकिन मुझे तो आरोहण की बात करनी थी। आन्दोलन और आरोहण का भेद इसके पहले इतना स्पष्ट नहीं हुआ था। आन्दोलन की बुनियाद में *हिंसा* का विरोध रहता है। आन्दोलन का वातावरण संघर्ष का होता है और उसके दो परस्पर-विरोधी पक्षों में एक की हार और दूसरे की जीत की बाजी होती है। इस अर्थ में आन्दोलन एक-पक्षीय, एकांगी होता है, उसकी मुख्य चेष्टा अपनी पूरी शक्ति लगाकर दूसरे पक्ष, दूसरी

शक्ति को परास्त करने की होती है। अपने देश के स्वदेशी-आन्दोलन, स्वराज-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, मजदूर-आन्दोलन, हरिजन-आन्दोलन आदि सबकी यही रचना रही है। कहने को हम भूदान, सर्वोदय को भी आन्दोलन कह देते है, लेकिन मूलत इसकी रचना भिन्न है। इसमे हम जनता को दो पक्षों में नही बांटते, एक के हित को दूसरे के हित के विरुद्ध नही रखते।

यह ठीक है कि प्रचलित समाज-व्यवस्था मे हितो का विरोध है; लेकिन उस हित-विरोध को सर्वोदय-विचार सामाजिक शक्ति (सोशल फोर्स) के रूप में नही इस्तेमाल करता, क्योकि उसके सामने एक साम्य-निष्ठ, भयमुक्त समाज बनाने का लक्ष्य है, न कि दल या वर्ग विशेष की सत्ता कायम करने का। आन्दोलन विरोध ढूंढता है, आरोहण समानता। आरोहण उन्ही स्थलो को ढूंढता और सामने लाता है, जो भिन्न और विरोधी दिखायी देनेवाले सामाजिक तत्वो में भी समान हो, इसलिए सर्वोदय समाज को सम्पन्न और विपन्न में नही बांटता। उसके सामने पूँजीपति पूँजी का मालिक है, और श्रमिक श्रम का। वह दोनों की मालिकी मिटाने की बात करता है। भूदान, ग्रामदान में ग्राम-समाज को भूमिवान अपनी भूमि समर्पित करे, श्रमिक अपने श्रम को समर्पित करे और बुद्धिवाला अपनी बुद्धि को। पूँजी, श्रम और बुद्धि की सुखद साझेदारी से, जो समाज बनेगा वह साम्ययोगी होगा। इनके परस्पर सघर्ष से, जो समाज बनेगा वह साम्य-वादी होगा, यानी राज्य के माध्यम से एक के द्वारा दूसरे का दमन होगा और 'वाद' में से कोई नया 'विवाद' निकलता ही रहेगा, इसलिए सर्वोदय का प्रयत्न है कि मनुष्य में परिस्थिति की परख और प्रतीति जगे तथा उसके शुभ सस्कार सामने आवें, ताकि आज वह जहाँ है उसमे ऊपर उठे और सबकी भलाई में अपना भला देखना शुरू करे। सर्वोदय मानता है कि विज्ञान और लोकतन्त्र की भूमिका में समस्याओ के समाधान के लिए सामूहिक स्तर पर यह मानवीय प्रक्रिया शुभ तो है ही, सम्भव भी है, इसलिए उसने समाज-परिवर्तन के लिए सविभाग और समर्पण की प्रक्रिया (हृदय-परिवर्तन) बतायी है।

१९५७ की यात्रा में सर्वोदय हमारा दर्शन था, ग्रामदान हमारा कार्यक्रम। हमने यह नहीं सोचा था कि केवल पदयात्रा में निकल जाने से हम कुछ बहुत ज्यादा जमीन इकट्ठा कर लेंगे या ग्रामदान प्राप्त कर लेंगे। हमने केवल इतना माना था कि पदयात्रा मे हमारा अपना यह लाभ होगा कि हमें आरोहण की दीक्षा मिलेगी, और मुंगेर जिले की जनता में हम एक नयी प्रतीति, एक नयी चेतना, एक नयी भावना जगा सकेंगे, जिससे आगे चल-कर एक नये पुरुषार्थ की नींव पड़ेगी। लोगो की वृत्ति बदले और लोग अपने निर्णय से अपने जीवन की रीति और गाँव की व्यवस्था बदलने की ओर प्रवृत्त हो, यह हमारे मन मे था।

चुनाव का अवसर बहुत अनुकूल सिद्ध हुआ। सत्ता की लोलुपता का नगा नाच लोग अपनी आँखो से देख रहे थे। हमने सोच लिया कि नयी तालीम की दृष्टि से सही यही होगा कि परिचित सामाजिक परिस्थिति को लोक-शिक्षण के माध्यम के रूप मे अपनाया जाय। इस पद्धति ने बराबर साथ दिया। जो विचार परिस्थिति से अनुबन्धित नही होता वह गाँववालो की समझ में बहुत कम आता है, उसमे उन्हें बहुत रुचि नही होती।

सत्ता किस तरह जन-जीवन को खडित और दूषित करती है, यह समझाना चुनाव के कारण आसान हो गया। साथ ही यह भी पता चला कि किस तरह सत्ता की भूख एक-एक आदमी में घुस गयी है, और गाँव का शायद ही कोई चेतन व्यक्ति हो—किसी जाति या किसी स्थिति का—जो सत्ता के कुचक्र से अलग हो। हर जगह यही दिखायी देता था कि समाज सत्ता और सम्पत्ति के नागफाँस में बुरी तरह जकड़ता जा रहा है। गावो में घूमते-घूमते अक्सर मन मे यह सवाल पैदा हो जाता था कि क्रान्ति की पहली 'चेक' सत्ता पर करनी चाहिए या सम्पत्ति पर, क्योकि कोई भी क्रान्ति हो उसे परिस्थिति के अनुसार सत्ता और सम्पत्ति का सही हल समाज के सामने प्रस्तुत करना ही पडता है। साल भर घूमने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि ग्रामस्वराज्य (सबका निर्णय) और ग्रामदान (सबकी सम्पत्ति) एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते। वास्तव मे ग्रामस्वराज्य के सन्दर्भ से अलग हटकर ग्रामदान अपनी शक्ति और आकर्षण खो देता है।

शान्ति, क्रान्ति और शिक्षा

•

रामभूर्ति

नये जमाने की माँग सहचिन्तन और सहमति की है; इसलिए युद्ध की जिस नीति-रीति पर अबतक जिस सभ्यता का विकास हुआ है, उसके स्थान पर अब हमें शान्ति की नयी सभ्यता और जीवन-नीति चाहिए। बिलकुल एक नया जीवन-दर्शन, समाज-दर्शन और क्रान्ति-दर्शन। शान्ति मनुष्य की केवल पुकार नहीं है; बल्कि इतिहास के नये मोड़ की दिशा है।

अशान्ति की रचना और शान्ति की आकांक्षा यह इस युग का विलक्षण विरोधाभास है। इस विरोधाभास में आज का भय और कल की आशा, दोनों हैं। अणु-अस्त्रों के कारण विश्व-संहार के व्यापक भय से त्रस्त मानव समझ रहा है कि शान्ति अब आदर्शवादियों का कोरा आदर्श नहीं रह गयी है, बल्कि उसके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त बन गयी है। शान्ति समाज के अस्तित्व की और सहकार उसके विकास की शर्त है, इसलिए अब जीवन की इस शर्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सैनिक या शासक और व्यापारी या सुधारक कुछ भी कहें, और कुछ भी चाहें, लेकिन नागरिक तो शान्ति चाहता है। उसकी यह चाह दुनिया के नेताओं के लिए एक महान चुनौती बन गयी है।

शान्ति एक नयी शक्ति

चीन के नेता आज युद्ध की चाहे जितनी बातें करें, लेकिन वे कितने दिनों तक शान्ति की इस चाह को छोड़कर युद्ध की राह चल सकते हैं, यह देखने की बात है। केनेडी का ख्रुश्चेव से यह कहना कि रूस और अमेरिका मिलकर चन्द्रलोक की यात्रा करें, इतिहास के नये मोड़ का संकेत सिद्ध हो सकता है। इस तरह के संकेत जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी मिलने लगे हैं। शान्ति की भूमिका में आग्रह या अहंकार की नीति, जिसमें विग्रह का जन्म हो, अब पुरानी पड़ गयी है। नये जमाने की माँग सहचिन्तन और सहमति की है, इसलिए युद्ध की जिस नीति-रीति पर अबतक जिस सभ्यता का विकास हुआ है, उसके स्थान पर अब हमें शान्ति की नयी सभ्यता और जीवन-नीति चाहिए—बिलकुल एक नया जीवन-दर्शन, समाज-दर्शन और क्रान्ति-दर्शन। शान्ति मनुष्य की केवल पुकार नहीं है, बल्कि इतिहास के नये मोड़ की दिशा है।

जिन देशों ने युद्ध का मजा एक बार नहीं, कई बार चखा है वे जानते हैं कि आज के जमाने की लड़ाई का क्या अर्थ है। रूस ने लड़ाई की पूरी कीमत चुकाई है, इसलिए वर्ग-संघर्ष के हिंसामूलक सिद्धान्त में विश्वास करते हुए भी वह युद्ध से बचना चाहता है, क्योंकि जिस विज्ञान से उसने अपने देश को बनाया है उस विज्ञान की देन को वह यों ही विनाश की आग में नहीं झोंकना चाहता। अमेरिका पर कभी किसी बड़ी लड़ाई की सीधी चोट तो नहीं पड़ी है, लेकिन जब एक ओर वह अपने वैभव को देखता है और दूसरी ओर अणु-युद्ध के परिणामों की कल्पना करता है तो उसके लिए निर्णय कठिन नहीं रह जाता।

भारत ने भी कभी बड़े युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है। उसके लिए चीन ने संकट की स्थिति जरूर पैदा कर रखी है, लेकिन वह सीमित है, इसलिए उसकी चोट का पूरा दर्द अभी नहीं महसूस हो रहा है। चीन का आक्रमण हार-जीत से कहीं अधिक भारतीय जीवन को अन्दर से खोखला बनानेवाला एक रोग-कीटाणु है। अपने पूरे इतिहास में सामान्य भारतीय जनता ने न कभी व्यापक विद्रोह का अनुभव किया है,

न व्यापक युद्ध या अशान्ति का, बल्कि भारत के मन में अभी यह कलक है कि अँग्रेजो ने जबरदस्ती उसे निहत्था बना रखा था।

शायद यही कारण है कि जब हमारे देश में कुछ लोग आज शान्ति की बात करते हैं तो उसकी पूरी तसवीर लोगो के दिमाग के सामने साफ-साफ नही आती। हम समझते हैं कि शान्ति पलायन का परामर्श है। सचमुच हमारे सामने न युद्ध की तसवीर साफ आती है, न शान्ति की। हम एक ही सांस में फौज के सिपाही और 'मैत्री-यात्री' दोनो की जय-जयकार बोल सकते हैं। हो सकता है, योद्धा से हमारी युद्ध-वृत्ति को पोषण मिलता हो और मैत्री-यात्री से शान्ति की आकांक्षा को। वास्तव में युद्ध और शान्ति को लेकर भारत में ही नही, तमाम दुनिया में मनुष्य का मन एक विचित्र दुष्चक्र में फँस गया है।

कुछ भी हो, शान्ति की आकाक्षा व्यापक है, इसमें शक नही, लेकिन शान्ति के तरीको पर भरोसा व्यापक नही है, इसके विपरीत शान्ति से भय है। युद्ध के बिना आक्रमणकारी का मुकाबिला कैसे होगा, सघर्ष के बिना अधिकारो की रक्षा कैसे होगी, डडे के बिना पडोसी कैसे मानेगा, ये जीवन के अनेक भय हैं, जिनके प्रभाव में हर व्यक्ति हर वक्त शका और तनाव की स्थिति में रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि शान्ति और सद्भावना की चाह रखते हुए भी वह प्रतिद्वन्दिता, सघर्ष और युद्ध को जीवन की अनिवार्य स्थिति मान लेता है। वह करे भी क्या ?

परिवार और समाज, दल और सस्था, सरकार और बाजार, हर जगह उसे एक अजीब कशमकश देखने को मिलती है। कही भी वह नही देखता कि सुख, सुविधा, साधन और अवसर का बँटवारा, सदभावना, सहकार और समानता की दृष्टि से होता हो। और, अपने देश में तो स्वराज्य के पिछले सोलह वर्षों में जीवन के ऊँचे मूल्यों को जिस बेरहमी के साथ कुचला गया है, उसे देखकर मन में शान्ति और न्याय के लिए निराशा न हो तो और क्या हो ?

इतना होने पर भी भले ही मनुष्य जीवन की प्रत्यक्ष परिस्थिति से हारकर युद्ध और सघर्ष की राह पर चलने के लिए अपने को विवश पाता हो, लेकिन शान्ति उसके मन की सच्ची चाह है, जिसकी सही राह उसे मिल नही रही है। युद्ध में विनाश का भय और शान्ति में पराजय का भय इस दुहरे भय से अलग ले जाकर उसे कौन बताये कि इस युग में स्वत्व की रक्षा शान्ति से ही सम्भव है, क्योंकि आजतक जो शक्ति युद्ध में थी उससे कही अधिक शक्ति शान्ति मे पैदा हो गयी है।

शान्ति=क्रान्ति

इसलिए प्रश्न यह है कि अगर शान्ति को अपनी शक्ति प्रकट करनी है तो उसे वह सारा काम करना पडेगा, जो इतिहास में युद्ध ने अब तक किया है, और उस काम को भी करना है, जिसे युद्ध नही कर सका है। ये दोनो चीजें हैं सुरक्षा और सामाजिक विकास। एक का महत्व दूसरे से कम नही है। शान्ति को दोनो पार्ट अदा करने हैं—सुरक्षा में युद्ध का और सामाजिक विकास में सघर्ष का। तब शान्ति केवल युद्धो और सघर्षों के बीच की, समझौते की स्थिति न रहकर एक जबरदस्त सामाजिक शक्ति (सोशल फोर्स) बन जायेगी, जिसमें समाज को धारण करने, उसका नियमन और सचालन करने की सामर्थ्य होगी। शायद यूरोप के शान्तिवादियों के सामने जिस अश में शान्ति का एक युद्धविरोधी नारे के रूप में महत्व है, उस अश में समाज-परिवर्तन की शक्ति के रूप में नही। समाज-परिवर्तन के लिए वे राजनीतिक स्तर पर अपनी लोकतत्रीय प्रक्रियाओ को पर्याप्त मानते हैं।

लेकिन, भारत की स्थिति इससे बहुत भिन्न है। सामन्तवादी समाज (फ्यूडल सोसाइटी) और खुले लोकतान्त्रिक समाज (ओपेन डेमोक्रेटिक सोसाइटी) में एक मुख्य अन्तर यह होता है कि खुले समाज में विभिन्न हित का, जो अकसर परस्पर विरोधी होते हैं, मेल मिलाकर समाज में सन्तुलन कायम रखने की सवैधानिक प्रक्रियाएँ मौजूद होती हैं, जिनके कारण आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में न्यूनतम सुविधाएँ प्राप्त करने का अवसर हर नागरिक को उपलब्ध रहता है। पाश्चात्य जगत में विज्ञान, शिक्षा, आर्थिक सयोजन और विकसित सामाजिक चेतना के कारण जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम सुविधाएँ हर नागरिक के लिए सम्भव हुई हैं। इतना ही नहीं, सम्य समाज म दिनोदिन सामाजिक विकास की शान्तिपूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रियाएँ विकसित होती जा रही हैं।

भारतीय समाज अपनी रचना की दृष्टि से आज भी सामन्तवादी है। करोड़ो-करोड की संख्या में जो जनता असह्य गरीबी, शोषण और दमन के दुष्चक्र में फँसी हुई है, उसकी मुक्ति का सही तरीका मौजूदा चुनाव और चुनाव से बनी पचायत, असेम्बली और पार्लियामेंट की, सर्वधानिक पद्धति वाली राजनीति के द्वारा दिखायी नही देता। लगभग यही स्थिति एशिया और अफ्रीका के अनेक दूसरे देशो की भी है। वे शस्त्र-बल और धन-बल दोनों में कमजोर है, इसलिए सुरक्षा और समाज-निर्माण के प्रश्नो को लेकर चिन्तित है, और इसीलिए किसी-न-किसी रूप में ये देश, जिन्हे शस्त्र-द्वारा सुरक्षा और पूँजी-द्वारा निर्माण का विकल्प नहीं सूझ रहा है, सच्ची सामाजिक क्रान्ति से दूर हटते जा रहे है, और उनकी जनता को पुराने सामन्तवाद की जगह नया सैनिकवाद, जो शस्त्र और पूँजी की शक्ति से सामाजिक क्रान्ति की छाती पर खड़ा होता है, स्वीकार करना पड रहा है, इसलिए हमारे लिए शान्ति और क्रान्ति दोनो का अर्थ कई दृष्टियो से हमारी परम्परा भिन्न है, हमारी परिस्थिति भिन्न है, प्रचलित अर्थो से बहुत भिन्न है। हमारी समस्या भिन्न है, इसलिए हमारी पद्धति भिन्न है। हमारे लिए शान्ति और क्रान्ति वस्तुत एक है।

यह देखने की बात है कि पिछले १६ वर्षों में भारत के नेताओ ने देश के विकास के जो तरीके अपनाये है उनके शान्ति और क्रान्ति की दृष्टि से क्या परिणाम हुए है। स्वराज्य के बाद निर्माण के काम नहीं हुए है, यह हम नही कहते, देश कई दृष्टियो से आगे नही बढा है, हम यह भी नही कहते है; लेकिन अवश्य हमे जनता में वह शक्ति नहीं दिखायी दे रही है, जो अपने आप मे क्रियाशील (सेल्फ जेनरेटिंग) होती है और जो सकटो और समस्याओ को पार करती हुई समाज को विकास के रास्ते पर आगे बढाती हुई अनीति के मुकाबले में दृढता पूर्वक खड़ा होने का आत्मबल देती है। हम नहीं देख रहे है कि हमने सगठन का ऐसा राजनीतिक, आर्थिक ढाँचा तैयार किया है, जिसके अन्तर्गत विविध, प्राय. विरोधी हितों का मेल शान्तिपूर्ण ढग से निभता चले और लोकतन्त्र में व्यापक जन-हित का रास्ता साफ होता जाय। अन्त में हम यह भी नही देख रहे है कि जीवन-दृष्टि और सामाजिक नीति के तौर पर 'साम्य' के नये मूल्य स्वीकार किये जा रहे हो।

इसके विपरीत हम देखते यह है कि राज्य द्वारा लोक-कल्याण के नाम में लोकशक्ति का सुनियोजित ह्रास हुआ है। लोक-जीवन आज पहले से कहीं अधिक अपनी सहकार-शक्ति पर नहीं; बल्कि सरकार की शस्त्र-शक्ति पर निर्भर है। अभी तक विभिन्न हितों के सहज अभियोजन (एडजस्टमेंट) के लिए उस सांविधानिक व्यवस्था का प्रारम्भ भी नही हुआ है, जिसके अन्तर्गत समाज के अन्तिम व्यक्ति को यह आश्वासन मिले कि उसके अधिकार सुरक्षित और सुनिश्चित है। प्रश्न है, ऐसा क्यों हुआ? शायद इसलिए कि स्वराज्य और योजना के पिछले सोलह वर्षो मे सत्ता की राजनीति (पावर पालिटिक्स) और मुनाफे की अर्थनीति (प्राफिट इकनामी) की वृत्ति और शक्ति का व्यापक पैमाने पर प्रचार और संगठन हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप उच्च मध्यमवर्गीय जीवन-पद्धति—सत्ता की राजनीति, मुनाफे की अर्थनीति, पुरोहित की धर्मनीति, जाति की समाज-नीति, नौकरी की शिक्षा-नीति—इस देश में नये रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

सत्ता और सम्पत्ति दोनो कुछ चुने हुए ऊपर के लोगो के हाथो मे बुरी तरह केन्द्रित हुई है, जिसका एक परिणाम यह हुआ है कि विषमता बढी है और दिनोदिन बढती ही जा रही है। जिस राष्ट्रीय 'योजना' के अन्तर्गत यह सब हो रहा है, उसमे 'विकास' की ऐसी राजनीतिक तथा आर्थिक प्रक्रियाएँ चलायी है कि एक ओर राष्ट्र की दौलत बढ रही है और दूसरी ओर भूखो और बेकारों की संख्या बढ रही है। राष्ट्र का विकास हो, और राष्ट्र में बसनेवाली नीचे की श्रमिक जनता का ह्रास होता जाय, यानी राष्ट्र और जनता एक दूसरे से अलग होते जायें, और समाज नये-नये तनावों और संघर्षों से जर्जर होता जाय, तो क्या हमे इस लोकतन्त्र से सन्तोष होगा? जिस लोकतन्त्र में राष्ट्र और जनता के हितो मे मेल न हो, जिसमें सरकार माई-बाप बन जाय तथा जिसमें 'लोक' का लोप हो जाय और तन्त्र ही तन्त्र दिखाई दे, उस लोकतन्त्र में कितनी शक्ति होगी और वह कबतक साम्यवादी और सैनिक फासिस्टवाद के मुकाबिले में अपना सिर ऊँचा रख सकेगा? यह सोचने की बात है कि कहीं अन्दर-अन्दर नेताशाही और नौकरशाही हमारी नयी लोकशाही को खतम तो नही कर रही है।

जो समाज पहले से ही सामन्तवादी था, उसमें आधुनिक योजना के अन्तर्गत विज्ञान तथा लोकतंत्र के ऊँचे नारों के नाम में नये साम्यवादी तत्व जुड़ने और बढ़ते जायें, यह क्रान्ति और शान्ति के लिए कहाँ तक शुभ होगा, सोचने की बात है। हमें साफ़ दिखाई दे रहा है कि भारत में एक नहीं, दो राष्ट्र बन गये है—एक ओर जाति, धन, अधिकार और शिक्षा की अरेस्ट्रोक्रेसी, जिसके हाथ में सत्ता, सम्पत्ति और संस्कृति के सारे तंत्र है तथा दूसरी ओर बहुत व्यापक 'लोक' है, जिसके श्रम, वोट और टैक्स से ये तंत्र चल रहे हैं, लेकिन जिनका स्वयं उन तंत्रो में कोई स्थान नहीं है।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि जन-जीवन में कोई उदात्त मूल्य न रह जाये, हर जगह छीना-झपटी की नीति बरती जाये और अपने ही वोट से बनी सरकार के प्रति व्यापक क्षोभ हो। अपनी सरकार के प्रति इतना गहरा क्षोभ शान्ति की दृष्टि से राष्ट्रीय जीवन में एक अत्यन्त अशुभ और विस्फोटक तत्व है तो क्या आश्चर्य है कि एक ओर देश में वर्ग-संघर्ष दिनोदिन तीव्र होता जाय, भले ही वह तुरन्त ऊपर न दिखाई दे और दूसरी ओर जीवन की बढ़ती हुई समस्याओं के कारण और संघर्ष के भावी परिणामों से भयभीत होकर स्वयं मध्यमवर्ग मन-ही-मन सैनिक-शासन की कामना करे, ताकि जन-आन्दोलन से उसके हितों की रक्षा होती रहे। शस्त्र स्वार्थ का अन्तिम साधन है, इसलिए निहित स्वार्थ द्वारा शस्त्रधारियों का सहारा लेना सर्वथा स्वाभाविक होगा। शोषण और दमन के ताने-बाने से जिस समाज की रचना हुई हो, उसमें से इससे भिन्न क्या निष्पत्ति हो सकती है? भारत में स्वराज्य का अर्थ था शान्तिपूर्ण क्रान्ति और क्रान्ति का अर्थ था न्याय, अभय और सहकार की स्थापना, लेकिन हमारा नेतृत्व इतिहास और गांधी की विरासत के इस संकेत को नहीं समझ सका।

●

भिखारी की भूख

●

शिरीष

"दो रोटी बाबूजी, जोरों की भूख लगी है।"—उसने कहा।

"अभी रोटी नहीं पकी है, आगे बढ़ जा।"—काकाजी ने कहा।

"हो सकता है पड़ोस में भी न बनी हो, थोड़ा आटा ही दे दीजिए।"

"आटा कहाँ से दे दूँ, अभी तो नौकर पिसाने गया है।"

"तब कुछ पैसे ही दे दीजिए।"

"भाई तंग न करो, फुटकर नहीं है।"

"अगर होता तो क्या आप दे ही देते?"

"क्यों नहीं देता?"—काकाजी ने टालने के स्वर में कहा।

भिखारी मुसकरा उठा—"हाँ बाबूजी, तो कितने का नोट है?"

"सौ रुपये का, दोगे फुटकर?"

भिखारी ने एक बार अपने दायें-बायें देखा और उसने कथरी की सीयन तोड़ दी।

गिन-गिन कर सौ रुपये मेज पर रख दिये।

काकाजी ठगे-से कभी मेज पर पड़े रुपयों को और कभी भिखारी को देखते रहे। उन्होंने जेब से एक रुपया निकाला और उसके रुपयों में मिलाकर उसकी ओर बढ़ा दिया।

भिखारी ने काकाजी का एक रुपया निकालकर रखते हुए कहा—"इसे रख लीजिए बाबूजी, मैं अपनी भीख पा गया।"

और, वह अगले दरवाजे पर बिना रुके आगे बढ़ गया।

●

परीक्षार्थी—गुरुजी, आपने परीक्षा में मुझे शून्य अंक क्यों दिये?

गुरु—तूने कुछ लिखा ही नहीं।

परीक्षार्थी—कम-से-कम सफाई के ५ अंक तो दिये ही होते?

बोलते आँकड़े

प्राथमिक शिक्षा (१९५०–१९६०)

वर्ष	मान्य विद्यालय	छात्र-संख्या	शिक्षक-संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रुपये में)
१९५०–५१	२,०९,६७१	१,८२,९३,९६७	५,३७,९१८	३६ ४९
१९५५–५६	२,७८,१३५	२,२९,१९,७३४	६,९१,२४९	५३ ७३
१९५६–५७	२ ८७,२९८	२,३९,२२,५६७	७,१०,१३९	५८ ४८
१९५७–५८	२,९८,२४७	२,४७,८८,२९९	७,२९,२३९	६६ ७४
१९५८–५९	३,०१,५६४	२,४३,७२,१८१	६,९५,२८०	६३ ६४
१९५९–६०	३,२०,५८६	२,५९,१८,८६४	७,३३,३८२	६९ ६३

माध्यमिक शिक्षा (१९५०–१९६०)

वर्ष	विद्यालय	छात्र संख्या	शिक्षक-संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रु में)
१९५०–५१	२०,८८४	५२,३२,००९	२,१२,०००	३० ७४
१९५५–५६	३२,५६८	८५ २६,५०९	३,३८,१८८	५३ ०२
१९५६–५७	३६,२९१	५९,७९,१६४	३,७२,१८०	५८ ७३
१९५७–५८	३९,६५४	१,०६ २१,४९९	४,०६,७६८	६७ २१
१९५८–५९	५३,९२३	१,४३,४१,०४३	५,१०,३८८	८४ ३४
१९५९–६०	५७,८६३	१,५७,०६,२००	५,६१,९५९	९५ ६५

उच्चतर शिक्षा (१९५०–१९६०)

वर्ष	विश्व विद्यालय	शिक्षा मंडल	अन्वेषण-संस्थाएँ	विशिष्ट शिक्षा कालेज	प्राविधिक कालेजों के वृत्तिक	कला व विज्ञान कालेज	छात्र संख्या	शिक्षक संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रुपये में)
१९५०–५१	२७	७	१८	९२	२०८	४९८	४,०३,५१९	२४,४५३	१७ ६८
१९५५–५६	३२	११	३४	११२	३४६	७१२	६,८१,१७९	३७,८६५	२९ ७१
१९५६–५७	३३	१२	४१	१२८	३९९	७७३	७,५०,१९५	४२,१३५	३३ ५४
१९५७–५८	३८	१४	४३	१४८	४८९	८१७	८,०३,९४२	४५,२३२	३८ १०
१९५८–५९	४०	१३	४२	१६८	५४२	८७८	८,७६,३१२	५२,१८०	४३ ९२
१९५९–६०	४०	१३	४२	१७७	७२८	९४६	९,४०,४८४	५५,४९३	४७ ७१

●

नानाभाई भट्ट और उनकी शिक्षण साधना

राधा भट्ट

[आचार्य नानाभाई ने स्नान सन्ध्या करनेवाले छात्रों के एक छात्रालय को 'लोकभारती ग्राम विद्यापीठ' तक पहुँचाया। प्राचीन शिक्षा प्रणाली को सँवार कर शिक्षा शास्त्र का अद्यतन प्रयोग करनेवाली 'दक्षिणामूर्ति' जैसी संस्था स्थापित की। आगे चलकर गांधीजी का सत्याग्रही तत्वज्ञान हाथ लगा, तब उन्होंने उस संस्था में क्रान्ति की और ग्राम-संस्कृति से शिक्षा का स्रोत प्रवाहित करनेवाली 'ग्राम-दक्षिणामूर्ति' संस्था स्थापित की। अन्त में, प्राप्त स्वराज्य में नव निर्माण की उमंग पैदा होने पर, उसे सच्ची दिशा प्रदान करने तथा उसके लिए सेवकों की पूर्ति करने की दृष्टि से 'लोकभारती' संस्था स्थापित की। प्रखर शिक्षाशास्त्री तथा गुजरात के इस गुरु द्वारा स्थापित ग्राम-दक्षिणामूर्ति और लोकभारती संस्थाएँ अमर हैं। —सम्पादक]

अगस्त की आखिरी तारीख थी। सणोसरा नाम के उस छोटे-से एकान्त स्टेशन पर मैं उतरी। सणोसरा गाँव वहाँ से दो मील की दूरी पर स्थित है। कीचड और पानी से भरी सडक इस योग्य नहीं थी कि उसमें कोई सवारी चल सके। पैदल चल पडी। चलते चलते ख्याल आया कि पूज्य नानाभाई अवश्य ठेठ गाँव के बच्चों को उपयुक्त शिक्षण देना चाहते होंगे, तभी तो उनके बीच, यानी उनके जीवन के बीच पहुँचने के लिए उन्होंने यह स्थान चुना।

नानाभाई की आकांक्षा

सचमुच यही बात थी। भावनगर में दक्षिणामूर्ति संस्था में काम करते हुए उन्हें यही लगा कि शहरा में शिक्षण-कार्य करनेवाले अनेक लोग हैं, परन्तु भारत में लोकतन्त्र लाकर उसे जीवित रखना है तो अभी से गाँव में जाकर वहाँ के बच्चों को वह शिक्षण देना होगा, जिस योग्यता और क्षमता की अपेक्षा लोकतन्त्र के लिए भावी नागरिक से की जाती है। बापू की कल्पना के अनुरूप भारत का निर्माण करने के लिए गाँव में ही कृषिकों के बच्चों को ज्ञान और संस्कार दोनों देने होंगे। उनका लक्ष्य था—कृषकों के बच्चे शिक्षित होकर ग्रामाभिमुख तो रहें ही, अपने संस्कारों और ज्ञान से गाँव को प्राणवान बनायें और गाँव में रहते हुए देश का नेतृत्व भी करें।

ग्राम-नेतृत्व के द्वारा देश के नेतृत्व की यह क्षमता जबतक गाँव के नागरिक में नहीं आयेगी तब तक गाँव अपनी शक्ति के क्षय को नहीं रोक सकते, न अपने स्वतन्त्र आधार पर खडा होने की क्षमता हासिल कर सकते हैं। शुरू से ही उनका कहना था—हमारा काम

जमीन में जमी हुई घास और कुश आदि जंगली घासों को जड़मूल से उखाड़ना सिखाने का तो है ही, हमें विद्यार्थियों के मन के गहरे तलों में, जो भाड़ा जातिवाद, गुलामीजनित अनेक प्रकार के वहम, नारी जाति के प्रति दकियानूसी मान्यताएँ, बड़ों की खुशामद और छोटों पर अन्याय की जो आदतें मौजूद हैं उन सबको निकाल फेंकने की विद्या भी सिखानी है।

साधनास्थल का चुनाव

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए नानाभाई ने भावनगर शहर के अपने प्रयोग को छोड़ा तथा आँबला नाम के एक गाँव में संस्था शुरू की, जो गाँव के बीच थी ही नहीं, बल्कि जो गाँव ही थी। बच्चों को दी जानेवाली इस नयी शिक्षा की जानकारी से बच्चों के अभिभावक भी इतना सीखते थे कि उनका शिक्षण भी हुआ, ऐसा स्वीकारना होगा।

नानाभाई ने शिक्षण के इस कार्य को कभी संस्था में बाँधने की कोशिश नहीं की। उन्होंने सदा कहा–यह हमारा रक्त-सम्बन्ध-निरपेक्षपरिवार है। शिक्षक और उनके परिवार तथा विद्यार्थी सभी सहज रूप से एक बड़े समूह-परिवार की तरह रहें। वर्ग निराकरण एवं सामूहिकता के आत्यन्तिक आग्रह से प्रायः हम जीवन की सहजता खो देते हैं। यह बात उनमें कतई नहीं थी। सब साथ ही खायें, अलग खाने वालों पर हमारा विश्वास नहीं, ऐसी असहिष्णुता उनमें नहीं थी। वैज्ञानिक सुसंस्कृत तथा विचारपूर्ण जीवन (शोषण-रहित, भेद रहित) के निर्माण की जितनी कोशिश उन्होंने की, उतना ही, बल्कि उससे अधिक ध्यान रखा कि यह सब सहज रूप से हो। इसीलिए मैंने देखा कि नानाभाई की मुख्य कर्मभूमि आँबला की संस्था में एक अपूर्व प्रगतिशील परिवार का वातावरण था।

साधना का स्वरूप

वहाँ के सभी युवक शिक्षक एक टीम की भावना से काम करते हैं। मिलकर योजनाएँ बनाते हैं और उन पर अमल करते हैं। लोकशाला तथा प्राथमिक शाला के कार्य अत्यन्त वैज्ञानिक और सुचारु रूप से चलते हैं। साथ ही उनका जीवन सहज आनन्द से भरा होता है। हँसी-खुशी, खेल, नृत्य और गीत गाने में विद्यार्थियों तथा शिक्षकों, बहनों तथा भाइयों के हाथ-पाँव और स्वर एक साथ चलते हैं। खेती में काम करते हुए विद्यार्थी और शिक्षक को पहचानना कठिन होता है। खेत की मिट्टी से सने पैरों को लेकर पानी पीने या आराम करने बैठे तो हँसते हुए विद्यार्थियों ने शिक्षक को कन्धे पर उठा लिया या शिक्षक ने विद्यार्थियों पर पानी छिड़क-छिड़क कर उन्हें हैरान कर दिया। तादात्म्य के ऐसे मनमोहक दृश्य हमें देखने को मिलते हैं। बौद्धिक शिक्षा के समय वही शिक्षक उनका अनुभवी साथी बनकर मार्गदर्शन करता और समाज-जीवन के विविध क्षेत्रों में सही मूल्यों की प्रेरणा देनेवालों में वही उनका क्रान्तिकारी साथी बनकर उद्बोधित भी करता है। मैं मानती हूँ, सहजता में जीवन के मूल्य गहराई से बोये जाते हैं। उनकी जड़ गहरी जाती है। अंकुर सुदृढ़ होता है, क्योंकि वह बुद्धि से सीखा ही नहीं जाता, दिल से अपनाया जाता है, परन्तु विचारों और तर्क वितर्कों से युक्त एक विशिष्ट जीवन के आग्रह और अहंकार पर आधारित समाज के व्यक्तियों के जीवन में कभी-न-कभी प्रतिक्रिया आती ही है।

यह विद्यार्थियों और शिक्षकों की बात मैंने लिखी, पर हम कैसे मानें कि शिक्षकों के विचार उनके जीवन में अमर कर रहे हैं। यह अच्छे-से-अच्छे कार्यकर्ता या विचारक की कसौटी हो जाती है। इस दृष्टि से मैंने कई संस्थाएँ देखीं और हर जगह पाया कि अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार तो हैं, पर वे जीवन के लिए ग्राह्य नहीं बन पाये हैं अर्थात पारिवारिक जीवन में उन विचारों का कोई स्थान नहीं है परन्तु आँबला के शिक्षकों के परिवार जो कुछ सहज रूप से कर रहे हैं वे सच्चे नमूने हैं। वहाँ की सभी बहनें आपस में इतने प्रेम से रहती हैं मानो सगी बहनें हैं। इतना ही नहीं, लोकशाला के जीवन और शिक्षण के सम्बन्ध में वे हमारे प्रश्नों के समुचित उत्तर देती थीं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वे अपने विशिष्ट शिक्षण पद्धति को समझती हैं और उस पर अपना विचार रखती हैं।

मैंने देखा, जो पढ़ी लिखी बहनें हैं वे तीन-चार बच्चों की माँ होने के बाद भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की परीक्षाएँ देने का उत्साह रखती हैं, परन्तु जो पढ़ी-लिखी नहीं हैं वह भी कम उत्साही नहीं हैं। उनके घर में अम्बर चरखा चलता है। एक शिक्षक की अनपढ़ पत्नी ने

मुझसे सगर्व कहा था–'मैंने संकल्प किया है कि घर में खरीद कर खादी का एक टुकड़ा भी नहीं लाऊँगी। पूरे परिवार के लिए स्वयं कात कर कपड़ा तैयार करूँगी।' प्रेम भरा वातावरण, विचार के प्रति निष्ठा व तदनुरूप आचरण तथा जीवन की दृष्टि इन सबका मेल-जोल मुझे वहाँ दिखा। मुझे लगा कि यह सहजता का ही परिणाम है। आज समाज के कई दोषों के निराकरण के जोश में हम उसी सहजता को भूल जाते हैं, इसलिए जितनी जोर से गेंद को दीवाल पर मारते हैं, उतने ही जोर से वह पीछे, याने जहाँ हम खड़े हैं उससे भी पीछे चला जाता है।

लोकशालाओं का लक्ष्य-स्रोत

शिक्षा क्रमिक क्रान्ति की प्रक्रिया है। इसके द्वारा सही और स्थायी क्रान्ति होगी, परन्तु उसके लिए धैर्य रखना होगा, उतावली नहीं करनी होगी, इसलिए अपेक्षाओं, आग्रहों तथा विचारों के बन्धनों से मुक्त होकर हमें जीवन की निष्ठा एवं दृष्टि बनानी होगी। इस ख्याल से नानाभाई की इन लोकशालाओं में कई प्रयोग हुए हैं। बच्चों की शक्ति को केन्द्र में रखकर उन्होंने कई परिणाम निकाले हैं, तथा उसके आधार पर पद्धति निश्चित की है।

इन लोकशालाओं की पद्धति और लक्ष्य के मूल में दो प्रेरणाएँ रही हैं। पहला बापू की नयी तालीम का विचार और दूसरा डेनमार्क की लोकशालाओं की सफलता। डेनमार्क और उसके आस-पास के देशों ने अपने लोकतन्त्र को जीवित रखने के लिए जिस प्रकार अपने सारे समाज को शिक्षण देने के लिए फोकस्कूल की स्थापना की और उसमें सफलता पायी, वह नानाभाई और उनके साथियों के मन में सदा रहा।

प्रयोग और निष्कर्ष

शिक्षण में स्वावलम्बन, समवाय तथा श्रम आदि पहलुओं पर उन्होंने स्वयं प्रयोग किये और अनुभव किया कि यह कहाँ तक सम्भव है, बच्चे के जीवन शिक्षण के लिए कहाँ तक साधक है और उसके जीवन में किस मात्रा तक टिकने वाले हैं? श्रम विद्यार्थी के जीवन का एक नैतिक मूल्य बने, इसका वे प्रयत्न करते रहे। केवल आग्रह पूर्वक श्रम के कुछ घंटे सबके लिए अनिवार्य कर देने से श्रम और स्वावलम्बन जीवन का स्थायी मूल्य नहीं बन सकता। उसके लिए श्रम को ही इतना आनन्द-दायी बनाया जाय कि वह हमें थकाने और उबानेवाला नहीं रहे।

किसी भी विषय के शिक्षण की एक प्रक्रिया होती है और वह अपना पूरा समय लेती है। उस दृष्टि से उत्तर बुनियादी-स्तर के विद्यार्थियों के लिए शिक्षाप्रद पद्धति से खेती या उद्योग के श्रम द्वारा स्वावलम्बन सम्भव नहीं है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और शिक्षकों के प्राणवान साथ से श्रम में ढीलापन नहीं आता है। औसत विद्यार्थी एक घंटे में १५ नये पैसे कमा लेता है। इस तरह प्रतिदिन के ढाई घंटा श्रम करने से माह में १२ रुपया प्रति विद्यार्थी सहज रूप से कमा लेता है। उससे अधिक कमाने का यदि वह प्रयत्न करे तो शिक्षण की प्रक्रिया में बाधा पड़ती है। अतः स्वावलम्बन का कोरा आग्रह रखना ठीक नहीं।

इसी तरह अनुबन्ध के बारे में उनका अपना निष्कर्ष सही लगता है। छोटा बच्चा प्रत्यक्ष क्रियाओं से ही अधिक सीखता है। जबतक उसकी कल्पना विकसित नहीं होती तबतक उसका शिक्षण प्रत्यक्ष समवाय द्वारा किया जाय, परन्तु धीरे-धीरे जब उसकी बुद्धि का दायरा विस्तृत होता जाता है तो वह प्रत्यक्ष क्रिया नहीं, प्रवृत्ति द्वारा शिक्षण पाने लगता है। तीसरे स्तर में वह तत्व को समझने की पूरी शक्ति रखता है तब समस्याओं द्वारा शिक्षण दिया जा सकता है। समस्या को समझने और विश्लेषण करने तथा उसमें सहयोग देने के लिए वह कार्य, पुस्तकों के अध्ययन तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष समस्या तीनों की बराबर मदद लेगा। शिक्षा जीवन की प्रवृत्तियों तथा समस्याओं से जुड़ी हुई है। यही अनुबन्ध का सही मकसद है। हमारे ज्ञान का सार इस विश्व में किस प्रकार गुँथा हुआ है, यह जानने की शक्ति हममें आनी चाहिए।

इस प्रकार के अनुबन्ध का अवसर विद्यार्थी के जीवन में जब भी आये, शिक्षक सुनियोजित ढंग से उसे प्रस्तुत करे, परन्तु उसे कृत्रिम होने से बचाये। ऐसा अवसर उसे खोजना नहीं चाहिए। वह सहज आये तब उसके लिए सही नियोजन करना चाहिए। इसीलिए नियोजित अनुबन्ध उन्होंने अपनाया है।

महत्वपूर्ण छात्रालय-जीवन

नानाभाई ने हर लोकशाला यानी उत्तर बुनियादी शाला में छात्रालय-जीवन को शिक्षण का एक अविभाज्य अंग बताया और हर शिक्षक को क्रम से गृहपति बनने की अनिवार्यता बनायी, क्योंकि हम जो विचार देते हैं, जो पढ़ाते हैं या नित्य क्रम के अनुसार काम करते हैं वे स्थायी असर नहीं रखते। हम जो मुक्त समय में गप करते हैं या हँसते-खेलते हैं वह अनजाने ही असर करता है, इसलिए छात्रालय का जीवन बिलकुल ही वैसा न हो, उसमें कुछ मुक्त समय हो, जब गृहपति और विद्यार्थी अपने सही रूप में मिलें, बातें करें, गप लगायें। उस समय वे अनजाने ही जीवन के कई मूल्यों की स्थापना करेंगे। फलतः आज हर लोकशाला में छात्रालय है, एक प्रयोगशाला है, खेती है और निकट के गाँव में अनुबन्धित शिक्षण-परिस्थिति है।

प्रमुखतः भावनगर जिले में ही स्थित इन १४-१५ लोकशालाओं का लगभग एक ही नमूना है किन्तु साथ ही सबकी अपनी विशेषता है। मणार की लोकशाला अपनी खेती और गोशाला के लिए अनोखी है, उसके शिक्षण-कार्य से अधिक प्रभाव आसपास के गाँवों में उसकी कृषि-पद्धति का है। गाँव के लोग उनके प्रयोगों से सीखते हैं और उसके आधार पर खेती करते हैं। मालपारा की लोकशाला गाँव के अन्दर ही स्थित है इसलिए ग्राम्य-जीवन में इस तरह घुली है कि वहाँ के विद्यार्थी को सहज रूप से समाज का अनुबन्ध मिलता है। इधर खडसली की लोकशाला के चारों ओर सघन-क्षेत्र का कार्य होता है, इसलिए उसका गोबर-गैस प्लान्ट तथा अन्य ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यार्थियों के लिए रोज समझने तथा प्रति दिन उनका स्वभाव जानने की वस्तु हो गयी है।

लोकभारती के प्रयोग

इन १४-१५ लोकशालाओं के लिए एक लोकभारती यानी ग्राम विश्वविद्यालय है, जहाँ उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी आते हैं। यहाँ कृषि के विशेष शोध तथा प्रयोग का समुचित प्रबन्ध है। दुनिया भर से विभिन्न प्रकार की घासों के नमूने मँगाकर गायों को खिलाना, उसके परिणाम देखना, विविध किस्म की वनस्पतियों के बीज, पौध, फसल बोने के तरीकों को अपनी परिस्थिति में आजमाना, खाद और सिंचाई की अनेक पद्धतियाँ आदि विविध प्रकार के प्रयोगात्मक कार्य करना उनका प्रमुख लक्ष्य है। इनकी कोशिश आज की प्रमुख समस्या, भूमि की कमी के कारण सघन खेती का उत्तम प्रयोग करना होगा, विद्यार्थी को उसका शिक्षण देना होगा, खेती को आनन्ददायी बनाना होगा, अन्यथा आज की खेती के लिए कोई गाँव में टिकनेवाला नहीं है।

इसके साथ ही ग्राम-निर्माण भी इनका एक मुख्य विषय है। ग्राम का नेतृत्व करने के लिए आज शहरी मध्यम-वर्ग गाँव में पहुँच रहा है और गाँव का रूप, जो पहले से ही बिखरा हुआ है, और अधिक विशृंखल हो रहा है, क्योंकि शहर से जानेवाला ग्रामसेवक वहाँ अपनी शहरीवृत्ति यानी फैशन, शोषण और बैठन (श्रम न करना) पहुँचाता है। ग्राम का नेतृत्व इस प्रकार गलत दिशा न पकड़े, ग्रामीणों की मूल वृत्ति को ज्ञान पूर्वक सुसंस्कृति रूप में संशोधित और विकसित करने की दृष्टि हमारे विद्यार्थी में हो, यह प्रयत्न लोकभारती में चलते हैं। इस दिशा में एक बड़ी अनुकूलता गुजरात सरकार की ओर से यह रही है कि लोकभारती के स्नातकों को उन्होंने ग्रामीण सेवाओं के लिए प्रमुखता दी है। इस तरह ग्राम-नेतृत्व के लक्ष्य की ओर बढ़ने में सुविधाजनक परिस्थिति प्राप्त हुई है। इस वर्ष से उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में शिक्षाविभाग ने लोकशाला के पाठ्यक्रम के कई महत्वपूर्ण अंशों को लेकर उनके उत्तर बुनियादी के उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं की बराबरी दी है। मैं मानती हूँ, इसमें जहाँ सरकार की अनुकूलता थी, उतनी ही नानाभाई तथा उनके साथियों की साधना, सातत्य और लगन भी थी, जिसने शिक्षण का एक आदर्श स्वरूप खड़ा करके दिखाया।

आज ये १४ लोकशालाएँ एक लोकभारती तथा एक सघन क्षेत्र का आपस में मिला-जुला एक ठोस क्षेत्र बन गयी हैं। लोकभारती के स्नातक या तो अपने घर की खेती करते हैं या ग्राम निर्माण की दृष्टि से सघनक्षेत्रों और अन्य नौकरियों में जाते हैं अथवा लोकशालाओं में शिक्षण-कार्य करते हैं। ग्राम्य-शिक्षण के प्रति उनकी दृष्टि बन रही है, ऐसा लगता है, क्योंकि लोकभारती के स्नातकों ने कुछ स्थानों में लोकशालाएँ शुरू की हैं तथा

अपनी स्वतन्त्र रीति से उनको चलाते हैं। आज गाँव को ही विश्वविद्यालय बनाने का, जो नया क्रान्तिकारी विचार है उस दृष्टि से भी मुझे लगता है कि लोकभारती जैसी संस्था को आवश्यकता है, क्योंकि उसमें निकलनेवाले विद्यार्थियों में इस तरह के शिक्षण को समझने की अधिक अनुकूलता होती है। ग्राम से निकले हुए विद्यार्थी को जब ज्ञान, सस्कार और विचार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है तो वह सहज ही इस प्रकार के शिक्षण की खूबी को समझता है।

संस्थागत शिक्षण को हम आज लक्ष्य नहीं समझते हैं, परन्तु समाज-परिवर्तन में उसका बीच की कड़ी का जो स्थान है वह महत्त्व का है। इस दृष्टि से लोकशालाओं तथा लोकभारती के कार्य काफी हदतक सफल है। यद्यपि एक समस्या रह गयी है। शायद यह संस्थागत शिक्षण का ही दोष है कि *विद्यार्थी सरकारी* मान्यता पाकर नौकरी पाने की अभिलाषा रखते है। वे खेती करने की क्षमता न रखते हों, ऐसी बात नहीं, परन्तु समाज का प्रवाह उन्हें नौकरी की आराम भरी जिन्दगी की ओर बहा ले जाता है। अभी तक का ग्राम्य-जीवन रुचिकर नहीं बन पाया है। इस समस्या से यह लोग नावाकिफ हो, यह बात नहीं। ग्राम्य जीवन और आज की आर्थिक स्थिति, उसमें खेती का स्थान और उसकी आय इन सब पहलुओं पर सोचकर ये अपने शिक्षण-कार्य में प्रयत्नशील हैं।

आदर्श की ओर बढते कदम

कोई भी आदर्श एकदम नहीं सिद्ध होता। उसके लिए एक क्रम बनाना पड़ता है। अभी तक का इनका कार्यक्रम ग्रामाभिमुख बुनियादी तालीम का रहा। यह अहिंसक समाज-रचना के लिए अनिवार्य था। ग्राम्य समृद्धि और संस्कृति के लिए खेती, गोपालन, ग्रामोद्योग तथा वन-विद्या का ज्ञान आवश्यक है। इनके आसपास समाज का सहज सस्कार एवं गुणवर्द्धन होता है और मानवीय सहज सम्बन्धों का विकास भी। अभी तक खेती और गोपालन के काफी काम वे कर पाये हैं। वन-विद्या व ग्रामोद्योगों का महत्वपूर्ण कार्य अभी तक पड़ा है, जिस ओर उन्हें बढ़ना है। खेती में कम जमीन से अधिक उत्पादन करना, तभी शक्य होगा, जब कृषकों के बच्चे शालाओं में प्रशिक्षित होकर खेती करते हुए गाँव में रहेंगे। उनके साथ ग्रामोद्योग भी चलेंगे। इस प्रकार की छोटी-छोटी इकाइयाँ बनें और उनका हर परिवार सुसंस्कृत हो तथा उनके उत्पादन से उपयुक्त आय मिल सके, इसकी ओर बड़ी तेजी से उनलोगों के विचार तथा प्रयोग चल रहे हैं।

गाँव का ही विद्यालय बना देने की हमारी ऊँची कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए उपयुक्त युवक और युवतियाँ इन लोकशालाओं से निकलें, वे आज भारत के गावों को समझें, उसकी शक्ति के स्रोतों को उनके पुन-निर्माण की ओर मोड़ दें तथा अपने वैज्ञानिक प्रत्यक्ष कार्यों द्वारा गाँव में पहले 'ग्राम-समाज' बनाने और बाद में ग्राम-स्वराज्य लाने की क्षमता पैदा करें। अपेक्षा इस प्रकार की संस्था से होती हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की हवा बदली है, समय बदला है, समाज की अपेक्षाएँ स्व देश की आशाएँ बदली हैं। कई बड़े-बड़े पुनर्निर्माण कार्यों में लोग जुटे हैं, परन्तु समय के अनुकूल मनुष्य का मन भी बदले, इसके लिए शिक्षा भी बदलनी होगी, और समय के अनुसार नित्य बदलनी ही रहनी होगी। देश के मानस और जमाने की माँग को देखते हुए आज जिस शिक्षण की आवश्यकता देख रहे हैं, उसकी झाँकी सौराष्ट्र की इन लोकशालाओं में दिखती है।

●

शिक्षक—मान लो, तुम्हारे पिताजी के पास ५० रुपये है। तुम्हारी माताजी ने २३ रुपये माँग लिये। बताओ, तुम्हारे पिताजी के पास कितने रुपये बचे ?

बालक—कैसे मान लूँ गुरुजी ? आज पिताजी के पास इतने पैसे भी नहीं थे कि वे मुझे फीस दे सकें।

नया मन्दिर, नयी मसजिद, नया गिरजाघर भाखरा

•

रामभूर्ति

विज्ञान की कितनी ही अनमोल देनें सत्ता और सम्पत्तिवालों के हाथों में पड़कर शोषण और दमन का माध्यम बनी हुई हैं। विज्ञान वरदान तो तब सिद्ध होगा जब वह संहार के बदले सहकार, शोषण के बदले साम्य और मशीन के बदले मनुष्य को प्रतिष्ठित करेगा। हम कैसे मानें कि भाखरा समय और सहकार के नये मूल्यों का प्रतीक है ?

पिछले महीने नहरूजी ने भाखरा का उद्घाटन करते समय कहा– यह नये जमाने का मंदिर मसजिद और गिरजाघर है।' बेशक है। अबतक केवल मंदिर मसजिद और गिरजाघर मनुष्य की भक्ति के प्रतीक थ भाखरा नयी शक्ति का प्रतीक है। नेहरूजी भाखरा के साढ़े सात सौ फीट ऊँचे बाँध में राष्ट्र के मय आत्म विश्वास और पुरुषार्थ की झलक देखते हैं। जो जगह लाखों एकड भूमि सींचने के लिए पानी और उद्योगों को लाखों किलोवाट बिजली दे उसे भगवान का आवास नही तो और क्या माना जाय ? मंदिर मसजिद और गिरजा घर में काल्पनिक भगवान रहता है भाखरा में पानी और बिजली के रूप में मनुष्य न उसकी वास्तविक शक्ति को बाँधा है। पुरुषार्थ के ऐसे कौतुक पर अगर उसे गर्व हो तो अनुचित नही कहा जा सकता।

लेकिन, एक बात है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मंदिर मसजिद और गिरजाघर ने मनुष्य को जितना आस्तिक और सात्विक बनाया, उतना ही पुरोहित के हाथों उसकी श्रद्धा को शोषण का विषय भी बनाया। तो क्या गारंटी है कि यह नया देवस्थान नये पुरोहितो और मालिकों द्वारा श्रद्धालु जनता के शोषण का माध्यम नही बनगा ? प्रश्न केवल भाखरा का नहीं, देश में उपलब्ध सभी प्राकृतिक और मनुष्यकृत साधनो का है।

स्वराज्य के बाद जो पचवर्षीय योजनाएँ बनी, उनमें एक नही अनेक स्थानो में भाखरा-जैसे छोटे-बड़े निर्माण के काय हुए और राष्ट्र की दौलत भी बढी लेकिन यह प्रश्न अभी तक हल नहीं हुआ कि यह दौलत कहाँ गयी ! करोडो-करोड जनता को कितनी मिली, और मालिको, मुनाफाखोरो अधिकारियो और ठीकेदारो को कितनी मिली ?

बाँधो, नहरो, सडको और स्कूलो का निर्माण अँग्रेजो के जमाने म भी हुआ था लेकिन केवल स्कूल-निर्माण से हमारी गुलामी कम नही हुई। उसी तरह अगर आज के निर्माण से हमारी रोटी और आजादी नही बढती तो जनता को प्रतिष्ठा के प्रतीको से कबतक समाधान होगा ? किसी राष्ट्र म, विशेषरूप से ऐसे राष्ट्र में, जो लोकतन्त्र के रास्ते पर बढने की कोशिश कर रहा हो, विकास की कसौटी समाज का अंतिम व्यक्ति है, पहला व्यक्ति नही। जिस देश म पचास लाख व्यक्ति तीस रुपये रोज से अधिक कमाते हो और सौ पीछे साठ व्यक्ति आठ आने रोज से कम–अंतिम दस प्रतिशत तो शायद दो-तीन आने ही रोज पाते होंगे–उसमें बार-बार यही प्रश्न उठेगा कि भाखरा अंतिम व्यक्ति तक कब पहुँचेगा और कभी पहुँचेगा भी या नहीं ? सत्ता की राजनीति और मुनाफे की अर्थनीति में शक्ति और दौलत नेताओ और मालिको के हाथ में केंद्रित हो जाती है। अपने देश में भी यही

शिक्षकों के उपयुक्त सर्वोदय-साहित्य

जीवन-दृष्टि

प्रकाशक : सर्व-सेवा-संघ • मूल्य : सवा रुपये

'जीवन-दृष्टि' विनोबाजी के मर्यादित विचारों का संकलन या सुचिन्तित लेखों का संग्रह है। सबसे पहले मैं 'जीवन की तीन प्रधान बातें' शीर्षक लेख की ओर संकेत करना चाहता हूँ। इसमें विनोबाजी ने पहले उद्योग, दूसरे भक्तिमार्ग और तीसरे खूब सीखना और खूब सिखाना पर बल दिया है। जब कोई विचारक या तत्त्ववेत्ता निस्पृह विचार देने लगता है तो उसमें एक अनुक्रम रखता है, लेकिन इस अनुक्रम को हिन्दू-व्यवस्था के समान छोटाई-बड़ाई का सूचक नहीं मान लेना चाहिए। इसी कारण उक्त लेख में जो तीसरी बात है वही मुझे मुख्य लगती है। इसी में उद्योग और भक्ति दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। सवाल उठता है— सीखना और सिखाना' क्या और क्यों? तो उत्तर यही मिलता है कि जीने और जिलाने के लिए। अब इस उत्तर में प्राणी जगत के साथ-साथ पूरा विश्व-सम्भार आ जाता है। उद्योग या कर्म-प्रवृत्ति मूढ़ता और अपचिन्तन से मुक्ति देती है। इसी कारण शारीरिक श्रम सबको करना चाहिए यह शरीर की क्षमता के अनुसार होगा और इस श्रम को अच्छी तरह करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। श्रम और ज्ञान दोनों ही भक्ति या राग-तत्त्व के अभाव में सम्भव नहीं। फलत वह मेरी दृष्टि में मुख्य है जिसके लिए विनोबाजी लिखते हैं—

"एक और तीसरी बात की मुझे धुन है। वह है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है वह उसे दूसरे को सिखायें और जो भी सीख सके, सीखें, कोई बूढ़ा हो तो वह भी सीखे।"

आग्रह सबका होता है और कोई आग्रह न हो, आदमियों में विचारक कैसा। विनोबाजी का एक लेख है– 'साहित्य उलटी दिशा में।' यह जितना सरल है उतना ही कठिन। इसके लिए भाष्य की आवश्यकता थी। मराठी भाषा और साहित्य की परिस्थितियों पर विचार करते-करते इस लेख की सृष्टि हुई और इसमें 'ज्ञानदेव' द्वारा प्रतिपादित वाणी के ग्यारह दोषों का निदर्शन है। इन दोषों को यहाँ उपस्थित करना पाठकों के लिए अच्छा होगा–"विरोधी विचार का खण्डन, दूसरों का जी जलाना, अनी-रही या सीनी बातें करना, मखौल, छल, मर्म-भेद, आड़ी-टेढ़ी सुनाना, कठोरता, बेधड़की, शंकितता और प्रतारणा (कपट)।"

ये दोष सार्वभौम हैं। इनमें वक्ता, समाज, भाषा, देश और अनन्त विश्व का समाहार है। भाषा-विचारक इन दोषों से अनजान नहीं है। ज्ञानदेव जीवन-दार्शनिक थे। उन्होंने अपने युग के पशु-पक्षियों की पहचान जन-साधारण को दी है। वस्तुत इन दोषों में से अधिकांश ज्ञान और भाषा के अहंकार या भी उच्च विशिष्टता-बोध से होता है। इसका एक शुभ परिणाम भी होता है। वह है ज्ञान का विशेषीकरण और उस विशेषीकरण में दक्षता की मान्यता। अपनी इस यात्रा में ज्ञान बहु-जीवन से अलग होता जाता है, लेकिन इस यात्री का नाम नहीं बदलता, उसका नाम ज्ञान ही रहता है। विनोबाजी को "कई बार ऐसा ही जान पड़ता है कि— ढोंगी-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग किया है।'

शैली का विरोध करने वाले विनोबाजी पुराने सन्तों की पंगत से अलग नहीं दिखाई देते।

विनोबाजी दूसरों की बात नहीं दुहराते, अपनी बार-बार कहते हैं। इसके कारण हैं—उनके निश्चित विचार, जिनका जन्म भारत और परिणामत पूरे विश्व के जीवन-मन्थन का परिणाम मात्र है। विनोबाजी का महत्त्व इस बात में है कि उनके विचारों की सर्वथा उपेक्षा करके भारत में कोई भी विचारक की संज्ञा का अधिकारी नहीं हो सकता। विरोध, समर्थन या नवीन मार्ग का अनुसन्धान करने वाले को विनोबा के अनेकस्तरीय विचारों की पड़ताल करनी ही होगा। उनका यह संकलन उनके देखे भारतीय जीवन को पुन देखने और अपनी देखन और समझ को खड़ा करने के लिए प्रत्येक भारतीय को पढ़ना चाहिए। •

-त्रिलोचन-

शिक्षकों के उपयुक्त सर्वोदय-साहित्य

शिक्षण-विचार : *विनोबा*

विनोबाजी स्वाभाविक शिक्षक हैं। उनके दीर्घकालीन प्रयोगों और अनुभवों का निचोड़ इस ग्रन्थ में है। बालकों के साथ बर्ताव, उनको क्या-क्या, कब और कैसे सिखाया जाय, अध्यापक के गुण, भारत में शिक्षा कैसी हो सकती है, शिक्षा का समय, ज्ञान का महत्त्व आदि सैकड़ों विषयों पर अनुभूतिपूर्ण विचारों का संकलन।

पृष्ठ ३३६, मूल्य २·५०

हमारा राष्ट्रीय शिक्षण : *चारुचन्द्र भंडारी*

गांधीजी ने भारत की जनता को स्वावलम्बी और पुरुषार्थी, चरित्रवान और संयमी बनाने की दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के स्थान पर 'नयी तालीम' शुरू की। नयी तालीम सम्बन्धी अनेक प्रयोग रचनात्मक क्षेत्र में हुए, पर आजादी के बाद भी नयी तालीम का क्षेत्र धुँधला ही रहा। अब हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए, इसका शास्त्रीय विवेचन इस ग्रन्थ में है। पृष्ठ ३३६, मूल्य २·५०

समग्र नयी तालीम : *धीरेन्द्र मजूमदार*

धीरेन दा शिक्षण जगत् के क्रान्तिकारी और मौलिक द्रष्टा हैं। देश की आत्मा का जाँचने और नब्ज टटोलने का उनकी अपनी दृष्टि है। नयी तालीम के विकास क्रम में उन्होंने अब यह कहा है कि तालीम टुकड़ों में, हिस्सों में देना खतरनाक है। शिक्षण अबतक टुकड़ों में बँट गया है, जैसे बच्चों को, बच्चियों को, प्रौढ़ों को, फिर भाषा का, साइंस का, इतिहास का, फिर देहात का, शहर का। असल में शिक्षण परम्परावलम्बी और समग्र होता है, पूरे परिवार का होता है। घर स्कूल हो, स्कूल घर हो। इस नयी दृष्टि को देखने के लिए यह पुस्तक हर अध्यापक के लिए बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ १८०, मूल्य १·२५

बुनियादी शिक्षा : क्या और क्यों ? : *दयाल चन्द सोनी*

इस पुस्तक में बुनियादी शिक्षा के एक अनुभवी अध्यापक ने शिक्षा सम्बन्धी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक प्रश्नों को सरलतापूर्वक सुलझाने का प्रयत्न किया है। पृष्ठ १८०, मूल्य १·२५

बालक बनाम विज्ञान : *म० भगवान दीन*

महात्माजी बाल मनोविज्ञान के आचार्य थे। इस पुस्तिका में उन्होंने बताया है कि बालक वैज्ञानिक होता है, उसकी हर हरकत विज्ञान की होती है। अध्यापक को चाहिए कि बालक को पढ़ाते समय अत्यन्त सावधानी से पढ़ाये और उसकी हर क्रिया को बारीकी से देखे। पृष्ठ ८८, मूल्य ०·७५

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
नवम्बर १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

भारतीय ज्ञान की कल्पना

एक जमाने में अपने देश में बहुत विद्या थी। अब विद्या पूर्व से उडकर पश्चिम में चली गयी है और वहाँ से उडकर यहाँ आना चाहती है, लेकिन पुराने जमाने में विद्या का स्थान भारत माना जाता था। इसका संकेत करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है —

"प्रथम प्रभात उदित तव गगने
प्रथम सामरव तव तपोवने।"

उसी जमाने की यह कहानी है। एक था राजा। उसने एक ब्राह्मण का नाम सुन रखा था। वह ब्राह्मण बहुत बडा ज्ञानी था। राजा ने अपने मन्त्री से कहा कि उस ज्ञानी ब्राह्मण को ढूंढ लाओ। उसके चरण में बैठकर मैं ज्ञान-चर्चा करूँगा। इससे मेरी ज्ञान-वृद्धि होगी। मन्त्री सारा शहर घूम आया, उसे ज्ञानी न मिला।

राजा ने पूछा—'तुमने उसे कहाँ ढूंढा?

मन्त्री ने कहा—'सारे शहर में।

राजा ने डाँटकर कहा—'भला ज्ञानी कहीं शहर में रहता है? जा किसी जंगल में खोज।'

फिर वह मन्त्री जंगल में चला गया। उजाड जंगल में एक गाँव था। गाँव के बाहर एक घनी छायावाला पेड था। पेड के नीचे एक बैलगाडी खडी थी। बैलगाडी के छाँव में एक आदमी बैठा था।

मन्त्री ने पूछा—'राजा ने जिस ज्ञानी ब्राह्मण की खोज के लिए भेजा है, क्या तुम वही ज्ञानी ब्राह्मण हो?'

वह बोला—'हाँ।

फिर मन्त्री ने राजा के पास आकर कहा—'ज्ञानी मिल गया महाराज।'

राजा ने पूछा—'कहाँ मिला?

मन्त्री ने जंगल का वह स्थान बताया।

यह थी हमारी भारतीय ज्ञान की कल्पना।

—विनोबा

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ १९०० इस मास छपी प्रतियाँ २०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १२ अंक : ५

दिसम्बर १९६३

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक सख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता —

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी १

वार्षिक चन्दा ६—००
एक प्रति ०—६०

नयी तालीम

वर्ष : १२] [अंक : ५

दिल्ली में युवक-युवतियाँ

कौन कहता है कि जवान खायें न, खेलें न; गायें न, नाचें न ? जवानी में वह शक्ति होती है, जो मृत्यु में जीवन, हार में जीत, और संकट में सुअवसर देख सकती है। जवानी की दुनिया ही दूसरी होती है। इसलिए हमें यह जानकर खुशी हुई कि दिल्ली में पिछले महीने देश के तीन दर्जन विश्वविद्यालयों के लगभग ६ सौ युवक और युवतियाँ इकट्ठा हुई और उन्होंने खुलकर अपने मन की दुनिया बसायी। एक हफ्ते तक नाटक, नृत्य, संगीत, चर्चा आदि के अखंड कार्यक्रम चले। सारा खर्च सरकार ने किया। उद्देश्य यह था कि इस तरह के कार्यक्रमों से राष्ट्र की भावनात्मक एकता बढ़ती है।

यह सही है कि स्वराज्य के बाद देश में अखिल भारतीयता का ह्रास हुआ है, और राष्ट्र की एकता को खंडित करनेवाली शक्तियाँ बड़े पैमाने पर संगठित हुई हैं; इसलिए एकता को बढ़ावा देने के लिए, जो कुछ भी किया जा सके, किया जाना चाहिए। जवानी की रचना ही कुछ ऐसी होती है कि जवान आसानी से प्रगति का वाहन और प्रतिक्रिया का शिकार दोनों हो जाता है। उसकी भावनाएँ संकुचितता में फँसने से बचें और व्यापकता को पहचानें, यह विकास की दृष्टि से जरूरी है; इसलिए ऐसे अवसरों का स्वागत है, जिन पर युवक और युवतियाँ जाति, धर्म, भाषा, राज्य, लिंग आदि के भेदभाव भुलाकर मिल सकें और एक समान जीवन में साझीदार बन सकें। युवक एक होंगे तो देश एक होगा।

जो युवक आये थे वे दिल्ली से क्या लेकर लौटे ? उन्होंने राजधानी में क्या देखा और नेताओं से क्या सीखा ? उन्होंने एकता का लक्ष्य सिद्ध करने की क्या योजना बनायी ? उनके सामने एकता की क्या 'इमेज' प्रस्तुत की गयी ?

नेताओ और अधिकारियो ! आपने हमारे इन युवकों और युवतियों को क्या सिखाया ? क्या आपने बताया कि हमारे देश के करोड़ों-करोड लोगों के जीवन में दिनरात जिन्दगी के नाम से मौत का तांडव-नृत्य होता रहता है ? क्या आपने कहा कि किस तरह सामन्तवादी संस्कारों से मिलकर सम्प्रदायवाद और पूँजीवाद की शक्तियाँ तेजी से लोकतंत्र को दबाती चली जा रही हैं ? क्या आपने सुझाया कि आज के भारत को अनेक प्रह्लादों की आवश्यकता है, जो सामन्तवाद, सम्प्रदायवाद, पूँजीवाद, क्षेत्रवाद, और भाषावाद के हिरण्यकशिपु के मुकाबिले दृढतापूर्वक खडे होने का साहस दिखा सकें ?

युवको ! आप बताइए, आप दिल्ली से क्या लेकर लौटे ? क्या दिल्ली में आपने वास्तविक भारत का दर्शन किया या व्यापारियों की माया, अधिकारियों का वैभव और नेताओं की प्रभुता ही देखकर सन्तुष्ट हो गये ? क्या आपने जाना कि भारत की एकता का आधार और प्रतीक भारत का दरिद्रनारायण ही है, दूसरा नहीं—न नेता, न विद्वान, न धर्मगुरु, न शासक, न सैनिक न सुधारक। क्या आपने इस दरिद्रनारायण के साथ एकता का थोडा भी अनुभव किया ? नहीं तो कौन सा सूत्र कश्मीर को केरल, और गुजरात को असम के साथ बाँधेगा ? अगर आपने यही तय किया कि जवानी वैभव और विलास में बीतेगी तो दो ही बातें होंगी—या तो आप भी व्यापारी और अधिकारी के रूप में शोषक बनेंगे या शोषण का मौका न मिलने पर जीवन के प्रति घोर अनास्था और निराशा के केन्द्र बनेंगे। देश की दृष्टि से इन दोनों ही में जवानी बरबाद होगी। आज देश की माँग है कि आप दरिद्रनारायण की सेवा में प्रह्लाद बनें। आपने स्वयं क्या विचार किया है ? केनेडी ने दूसरे देशों में भेजने के लिए 'शान्ति दल' (पीस-कोर) बनाया था; आप 'क्रान्ति दल' बनाने की बात कब सोचेंगे ? निश्चित ही इस प्रेरणा की भूमि दिल्ली नहीं है—नयी दिल्ली तो बिलकुल नहीं।

संगीत और कला के बिना मनुष्य का जीवन पशु के जीवन के बराबर है; लेकिन जब उनके पीछे जीवन की भूमिका विलास की होती है तो वे आसानी से विनाश का कारण बन जाती हैं। इस युग में भूमिका सामन्तवाद की नहीं, समाजवाद की बननी चाहिए। समाजवाद का अर्थ यह है कि उँगलियाँ सितार के साथ-साथ जरा कुदाल को भी पकडना सीखें; जो पैर नृत्य के मच पर थिरकते हैं वे जरा खेत में भी चलते दिखाई दें। जिस दिन विश्वविद्यालय के युवक और युवती का पसीना श्रमिक के साथ मिलेगा उस दिन भारत की भारतीयता कोने-कोने से निखर उठेगी। उस दिन 'जय पंजाब', 'जय बंगाल', 'जय बिहार', और 'जय गुजरात' या 'जय राजपूत', 'जय ब्राह्मण', 'जय भूमिहार' और 'जय हरिजन' अथवा 'जय उत्तर और 'जय दक्षिण' की आवाज न गूँजकर फिर एक बार चारों दिशाओं में 'भारतमाता की जय' गूँज उठेगी; और जो भारत दरिद्रनारायण के चारों ओर भावनात्मक एकता के सूत्र में बँधेगा उसके 'जय हिन्द' में 'जय जगत' का घोष प्रतिध्वनित होगा।

—राममूर्ति

शिक्षक की जिम्मेदारी

•

धीरेन्द्र मजूमदार

हरेक स्त्री पुरुष के प्रधान मंत्री बनने की सम्भावना के कारण मुल्क का प्रत्येक बच्ची और बच्चा जन्मजात युवराज है। राजतन्त्र में जिस प्रकार युवराज की उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी, उसी प्रकार लोकतंत्र में प्रत्येक शिशु के लिए जन्म से ही उच्चतम शिक्षा का आयोजन जरूरी है।

आज के इस युग मे किसी भी स्वतत्र देश के नागरिक को देश और दुनिया की परिस्थितियो तथा समस्याओ के प्रति नित्य जागरूक रहने की आवश्यकता है; लेकिन हमारे शिक्षकों में तो उससे भी कही अधिक जागरूकता चाहिए। प्राचीन काल में जब विज्ञान की तरक्की नहीं हुई थी, तब एक ही प्रकार की सामाजिक परिस्थिति कई युगो तक समान रूप से चलती थी, और शिक्षक के लिए इतना काफी था कि वह केवल वर्तमान को ही जानें, लेकिन इस विज्ञान की अति प्रगति के युग मे तो उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप से भविष्य द्रष्टा बनना पडेगा, क्योंकि उसके हाथ का छोटा-सा बच्चा जबतक शिक्षित युवक बनकर समाज में प्रवेश करेगा, तबतक समाज में इस हद तक आमूल परिवर्तन हो गया रहेगा कि अगर उसका शिक्षण केवल वर्तमान परिस्थिति और मान्यता के अनुसार होगा तो वह अपने को बिल्कुल खोया हुआ पायेगा। अत शिक्षक को वतमान के अध्ययन के साथ-साथ काल-प्रवाह की दिशा और रफ्तार का भी अध्ययन कर अगली पीढी की परिस्थिति तथा समस्याओ का अनुमान सही-सही लगाना होगा, ताकि उसके हाथ से निकले हुए युवक तथा युवतियाँ सफल नागरिक बन सके, तथा अपने युग के समाज की समस्याओ के समाधान में समर्थ हो सकें। अतएव आज के शिक्षक को अपने सम्प्रदाय का महत्व तथा जिम्मेदारी इस परिस्थिति क सन्दर्भ में ही सोचनी होगी।

शिक्षक का नेतृत्व आवश्यक

इस युग की दो महान देन हैं—लोकतत्र और विज्ञान। लोकतत्र दवाव की नही, मनाव की पद्धति है, लोक-सम्मति की पद्धति है। स्पष्ट है कि सम्मति का प्रेरणा-स्रोत दवाव-मूलक भय नही हो सकता, वह तो निश्चित रूप से विचार ही हो सकता है। अत लोक-तत्र की गति-शक्ति (डायनेमिक्स) राजनीति नही हो सकती, और न अर्थनीति हो सकती है, वह तो लोक-शिक्षा नीति ही हो सकती है, क्योंकि विचार-परिवर्तन शिक्षण की प्रक्रिया है। अतएव सबसे पहले शिक्षक को यह समझ लेना चाहिए कि इस युग का नेतृत्व जबतक उसके हाथ में नही आयेगा, तबतक न लोकतत्र हो पनप सकेगा और न समाज की प्रगति ही हो सकेगी।

प्राचीन काल में जब राजतत्र था, तब आज की बनिस्वत समाज अधिक लोकतात्रिक मूल्यो पर चलता था, प्राय ऐसा कहा जाता है। इसका कारण यह है कि उन दिनो का लोक 'तत्र'-आधारित नही था, 'मत्र'-आधारित था। मत्रदाता गुरु, शिक्षक-समुदाय ही होता है। इस प्रकार उन दिनो लोकनायक राजपुरुष नही होते थे, शिक्षक होते थे, जो समाज के स्वतत्र चिन्तन का मार्ग दर्शन करते थे।

सच्चा नायक कौन?

आज धीरे धीरे एक मुल्क के बाद दूसरे मुल्क में लोकतत्र की पराजय तथा अधिनायक तत्र की विजय होती जा रही है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रचलित 'राजनीतिक लोकतत्र' की जो पद्धति चल रही है, उसमें मूलभूत विसगति है। लोकतत्र में जनमत मुख्य तत्व है। जन प्रतिनिधि का स्वधर्म है कि वह लोकमत के पीछे चले। लोकमत सामान्य रूप से रूढिवादी होता है।

कालप्रवाह के साथ कदम मिलाकर लोकमत चले, इसके मार्ग दर्शन के लिए जन नायक की आवश्यकता होती है। स्वभावत जननायक जनमत से आगे चलनेवाला होगा।

आज की विसगति यह है कि जनमत के पीछे चलनेवाला प्रतिनिधि ही जनमत को आगे ले जानेवाले नायक के रूप मे मान्य है। एक ही व्यक्ति को आप लोकमत के आगे और पीछे दोनो स्थानो पर अधिष्ठित नही कर सकते। इसी विसगति के कारण आज लोकतत्र पराजित है। राजनीतिक लोकतत्र तभी सफल हो सकता है, जब समाज म पीछे चलनेवाले लोक प्रतिनिधि से भिन्न आगे चलनेवाले लोकनायक का अधिष्ठान होगा। जन नायक का यह स्थान स्वाभाविक रूप से शिक्षक का है। आज के शिक्षको पर लोकतत्र की यह प्रथम चुनौती है।

प्रत्येक शिशु की उच्चतम शिक्षा जरूरी

दूसरा प्रश्न शिक्षा-पद्धति तथा व्यवस्था का है। लोकतत्र ने मनुष्य की आकाक्षा म आमूल परिवतन कर दिया है। राजतत्र म राजा का प्रथम पुत्र ही राजा हो सकता था दूसरे किसी के लिए राजा होने की सम्भावना नही थी। लोकतत्र म हरेक आदमी राजा यानी राजदड धारी हो सकता है। इस सम्भावना के कारण प्रत्येक आदमी के मन में उस योग्यता को हासिल करने की आकाक्षा पैदा होती है। इस प्रकार लोकतत्र में प्रत्येक मनुष्य की आकाक्षा उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की हो जाती है। लोकराज्य की आवश्यकता भी ऐसी ही है।

बालिग मताधिकार के कारण हरेक बालिग स्त्री पुरुष के लिए अनिवार्य है कि वह चुनाव के प्रत्येक घोषणा पत्र का अध्ययन तथा विश्लेषण कर यह निणय कर सके कि कौन सी नीति मुल्क के लिए श्रेष्ठ है। इस तरह लोकतत्र की आवश्यकता भी प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए काफी दूर तक उच्च शिक्षा की है। इतना ही नही, बल्कि हरक स्त्री पुरुष के प्रधान मत्री बनने की सम्भावना के कारण मुल्क का प्रत्येक बच्ची और बच्चा जन्मजात युवराज है। राजतंत्र में जिस प्रकार युवराज की उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी, उसी प्रकार लोकतंत्र में प्रत्येक शिशु के लिए जन्म से ही उच्चतम शिक्षा का आयोजन करना जरूरी है। यही कारण है कि गाधीजी ने पूरे समाज को ही शिक्षा का क्षेत्र माना था, और 'शिक्षा की अवधि गर्भ से मृत्यु तक है।' ऐसा कहा था। शिक्षा और शिक्षक पर जनतत्र की यह दूसरी चुनौती है। अतएव शिक्षको को यह निर्णय करना होगा कि समाज का नेतृत्व हमें ही अपने हाथ में लेना होगा और उपर्युक्त दोहरी चुनौती का सामना करना होगा।

दंड शक्ति का विकल्प

जमाने की दूसरी देन विज्ञान है। विज्ञान के अति-विकास ने मानव को यह एहसास करा दिया है कि आज दुनिया में जितने हथियार है, सभी को समुद्र में फेंक देना है, यानी उन्हें नष्ट कर देना है। नि शस्त्रीकरण का उद्घोष दिन व दिन अधिक बुलन्द होता जा रहा है। उसके मार्ग ढूँढने की दिशा मे अधिक तीव्रता आती जा रही है। चूँकि सृष्टि की मूलवृत्ति आत्मरक्षा है, वह सर्व-नाश से बचने का उपाय तो ढूँढ ही लेगी, अर्थात वह दिन दूर नही है, जब मनुष्य नि शस्त्रीकरण को साकार कर ही लेगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है, यह बात हरेक जानता है।

शस्त्रो के निराकरण का मतलब है—सैनिक शक्ति का विघटन। सैनिक शक्ति के अभाव मे दडशक्ति भी समाप्त हो जाती है फिर अत्यन्त गम्भीर प्रश्न यह उठता है कि हजारो वर्ष से मानव प्रकृति के विकारो का नियत्रण कर दडशक्ति, जो समाज के सन्तुलन की रक्षा करती थी, जिसके कारण ससार मे शाति और शृ खला के अधिष्ठान से सभ्यता का विकास होता रहा है वह काम कौन करेगा? वस्तुत दुनिया मे आज जो यह विसगति दिखाई देती है कि यद्यपि पूरे विश्व के राष्ट्रनायक ईमानदारी से नि शस्त्रीकरण की आकाक्षा रखते हैं, फिर भी सयोजन शस्त्र-वृद्धि के ही हो रहे हैं। इसका कारण भी उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर का अभाव ही है, अतएव मानव की आत्मरक्षा के लिए दडशक्ति के विकल्प मे तत्काल किसी दूसरी शक्ति की नितान्त आवश्यकता है, अर्थात मानव को नि शस्त्रीकरण का मार्ग खोजने से पहले दडशक्ति के विकल्प की तलाश करनी ही होगी।

अति प्राचीन काल में मनुष्य के सामने इसी प्रकार के सकट की परिस्थिति उपस्थित हुई थी। मनुष्य ने जब देखा कि मानव जीवन की अन्तर्निहित विकृति के

कारण उसके अस्तित्व पर घोर सकट उपस्थित हुआ है, तब वह आत्मरक्षा के लिए प्रजापति के पास पहुँचा, जिन्होंने मनु को भेजकर सृष्टि-रक्षा की व्यवस्था की, अर्थात मानव ने दडशक्ति का आविष्कार कर विकृति के नियत्रण का शस्त्र खोज निकाला। फलस्वरूप निश्चिन्त होकर शिक्षा और साधना द्वारा ज्ञान विज्ञान तथा सस्कृति का विकास आज तक करता रहा। विकसित विज्ञान ने ही मनुष्य के सामने सर्वनाश की चुनौती पेश कर आज फिर से एक बार वही समस्या खडी कर दी है, जिसके कारण उसे प्रजापति के यहाँ जाना पडा था।

मनुष्य का आत्मविकास कैसे हो ?

सस्कृति और विकृति प्रकृति के दो अभिन्न अग है। दडशक्ति सगठित विकृति ही है, क्योंकि उसका मूल आधार हिंसा है। इस तरह मनुष्य ने विकृति के नियत्रण के लिए विकृति मूलक शक्ति का ही सगठन किया और अबतक उसी से अपनी समस्या का समाधान करता रहा, लेकिन आप गहराई से सोचें कि उसका मतलब क्या है? मनुष्य को इस बात का गर्व है कि उसने दडशक्ति के सहारे सभ्यता का प्रचुर विकास कर लिया है, लेकिन सवाल यह है कि यह विकास कहाँ तक पहुँचा है। दंडशक्ति के आविष्कार से पहले मनुष्य जगल का पशु रहा है। आज तक के प्रयास से इतना ही हुआ है कि वह सर्कस के जानवर की स्थिति तक ही पहुँचा है। सर्कस का जानवर निर्धारित मर्यादा के अन्दर रहकर शान्ति से इसलिए अपना खेल दिखा सकता है कि उसके सामने 'रिंग मास्टर' का चाबुक निरन्तर मौजूद रहता है। शस्त्रास्त्र की भयकरता की समस्या अगर न भी होती तब भी सभ्यता के विकास के लिए मनुष्य को अगला कदम तो सोचना ही पडता। उसे अगर आत्म-विकास करना है, तो सर्कस के जानवर की स्थिति से आगे बढकर अपने को मनुष्य के रूप में अधिष्ठित करना ही होगा।

युग-परिवर्तन शिक्षा नीति से ही सम्भव

वस्तुत लोकतत्र की कल्पना ही इस दिशा के चिन्तन का परिणाम है। लोकतत्र के उपासक का कहना है कि हमारी साधना दबाव-पद्धति से सम्मति-पद्धति पर पहुँचने की है। निस्सन्देह दबाकर किसी को मजबूर किया जा सकता है, लेकिन किसी की सम्मति नही ली जा सकती। सम्मति लेने की प्रक्रिया तो शिक्षण-प्रक्रिया यानी सास्कृतिक प्रक्रिया ही हो सकती है, अर्थात वर्तमान महासकट से मुक्ति के लिए तथा सभ्यता के विकास के अगले कदम के लिए युग की अनिवार्य आवश्यकता यह है कि हम जल्दी से जल्दी दडशक्ति के विकल्प मे सास्कृतिक शक्ति को समाज की गतिशक्ति (डायनेमिक्स) के रूप में अधिष्ठित कर सकें। वस्तुत इस युग में परिवर्तन विकास और सरक्षण की सामाजिक शक्ति राजनीति नही, अर्थनीति नही, एक मात्र शिक्षानीति है, जिसके वाहन शिक्षक ही हो सकते है।

शिक्षण व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो?

अतएव शिक्षक समुदाय को युग की उपर्युक्त आवश्यकता तथा चुनौती के सन्दर्भ में विचार करना होगा। सोचना होगा कि आज की शिक्षण व्यवस्था तथा पद्धति की रूपरेखा क्या हो? प्राचीन काल में जब शिक्षा का क्षेत्र अति मर्यादित रहा, तब जगह-जगह के गुरुकुल मे बच्चों को भेज दिया जाता था और वे युवावस्था तक वहीं रहकर शिक्षा पाते थे। लोकतत्र की कल्पना तथा प्रगति के साथ-साथ जब शिक्षा की माँग अधिक व्यापक होने लगी, तब गुरुकुल का दायरा इसके लिए पर्याप्त नही सिद्ध हुआ, तब व्यापक पैमाने पर सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली गयी, और आज गाँव गाँव में ऐसी पाठशालाएँ चल रही है, लेकिन आज जब जमाने की आकाक्षा तथा आवश्यकता प्रत्येक स्त्री पुरुष की गर्भ से मृत्यु तक की शिक्षा की हो गयी है, तब क्या यह सम्भव है कि हरेक व्यक्ति को विद्यालय की चहारदीवारी के घेरे में रखा जा सके? इससे आप समझ सकते है कि गाधीजी पूरे समाज को ही शिक्षालय क्यों मानते थे।

आज ग्राम विश्वविद्यालय की बात बहुत चलती है। कल्पना सही है, लेकिन उसके स्वरूप की धारणा यह है कि गाँव में विश्वविद्यालय खोला जाय, लेकिन जमाने की माँग गाँव मे विद्यालय खोलने की नही है, गाँव को ही विश्वविद्यालय बनाने की है। अगर हरेक व्यक्ति को जीवन सघर्ष के दैनिक कार्यक्रमों से मुक्तकर शिक्षण-सस्था मे लाया नही जा सकता है, तो शिक्षण को ही हर कार्यक्रम के ब्योरे में प्रवेश कराने की पद्धति खोजनी होगी। मैं, विनोद में, अक्सर कहा करता हूँ कि भैस

[शेष पृष्ठ १७१ पर]

समवाय की व्याख्या और उसके उदाहरण

विनोबा

प्रचलित शिक्षण-पद्धतियो मे मानव के विविध अगो में से केवल एक अग बुद्धि की ओर ध्यान गया है। चूँकि इस पद्धति में केवल बुद्धि-विलास की ओर या उसके प्रोत्साहकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया, इसलिए मैं उसे केवल 'पद्धति' कहता हूँ। इस पद्धति के अनेक दोष छोड दिये जायें, तो भी शिक्षण-शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे उस ज्ञान को ठूँस-ठूँसकर भरना पडता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नही रहता, जीवन के साथ समरस नही हो पाता। इसके अलावा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढती है।

दूसरी पद्धति है 'परिशेष-पद्धति'। जिस तरह किसी ग्रन्थ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्ट-रूप मे, इसमें उद्योग को स्थान दिया जाता है। इस पद्धति में उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्व पूँछ-सरीखा ही माना जाता है। इसके अलावा उद्योग एक मनोरजन, खेल या अलकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने के लिए या प्रदर्शन-भर के ही लिए उसका उपयोग किया जाता है।

तीसरी पद्धति है 'समुच्चय-पद्धति'। इस पद्धति मे उद्योग और शिक्षण दोनो को समान महत्व देने का प्रयत्न किया जाता है, यानी ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। इस पद्धति मे शिक्षण पानेवाले को सन्तोष नहीं होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरे शिक्षण का समय व्यर्थ ही उद्योग में बीता जा रहा है। वह कभी लाचार होकर उद्योग करता है, कभी स्वार्थवशात्, और कभी शिक्षण कहकर। चूँकि इस पद्धति मे उद्योग शिक्षा के अंग के रूप में समाविष्ट नही किया जाता, इसलिए उसके प्रति उपजीविका के साधन-मात्र की दृष्टि रहती है। इस दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा शिक्षण की अपेक्षा कम ही है; इसलिए उद्योग करते हुए भी उसे उसमें उतनी रुचि नहीं मालूम होती। इसके अलावा शिक्षा और उद्योग, इन दोनो का परस्पर मेल नही बैठता। शिक्षा में चल रहा होगा 'शाकुन्तल' या अफ्रीका का भूगोल और उद्योग में उसे आवश्यकता होगी बढईगिरी की, लकडी के भूगोल की। इसलिए दोनों के विषय एक-दूसरे के पूरक नही हो पाते।

उपर्युक्त तीनो पद्धतियों से भिन्न 'संयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षणशास्त्री जानते हैं। 'कर्म' द्वारा 'ज्ञान', समवाय-पद्धति का यह सूत्र इसमें मान लिया गया है, लेकिन इस पद्धति मे कर्म को गौण स्थान दिया गया है। कुछ ज्ञान देना है, तो उसके अनुकूल एक संयोजन लेकर पढाया जाता है, लेकिन वह कृत्रिम-सा होता है।

समवाय पद्धति

इन प्रचलित सारी शिक्षण-पद्धतियो से भिन्न और अबतक के अनुभवो की निष्कर्षरूप अन्तिम परिणति है समवाय-पद्धति। उद्योग से शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाय, यही है इस पद्धति की विशेषता।

समवाय-पद्धति में कोई एक जीवन-व्यापी और विविध अगयुक्त मूल-उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग शिक्षण का सिर्फ एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अग होता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति की जाती है—१. बच्चे

की सब तरह की शक्तियों का विकास करना, २ बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना, और ३ उसको आजीविका का एक समर्थ साधन प्राप्त करा देना। इस तीसरे उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा, लेकिन महत्व का सबूत यह है कि बच्चों के काम में से पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अंश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

भूगोल, इतिहास, गणित, रेखागणित इस तरह विषयों की गिनती ही करनी हो तो और भी अनेक विषयों की गिनती की जा सकती हैं, लेकिन यह गिनती किसलिए? क्या वाणी का विकास, मन का विकास, देह का विकास, बुद्धि का विकास, इन्द्रियों का विकास ऐसे विभाग नहीं हो सकते?

प्राचीन काल में हमारे विचारक 'पंचभूत' मानते थे। आज जिन मूलतत्वों का पता लगा है, वे उन पंचभूतों को काट नहीं सकते। वे पंचभूत दृश्य के पृथक्करण से निकले हुए नहीं हैं, वे निकले हैं दर्शन के पृथक्करण से। जबतक हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं, तबतक हमारा दर्शन पंचविध रहेगा, सृष्टि में पंचभूत ही कायम रहेंगे। तात्पर्य यह कि हमें नाना विषयों को या नाना ग्रन्थों को सजाना नहीं है, बच्चों को सजाना है, अर्थात् उनके मन-बुद्धि आदि को सजाना है।

बच्चे खाते-पीते हैं, बीमार होते हैं, इसलिए खाने-पीने का शास्त्र, रोग-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र स्पष्ट ही उनके लिए आवश्यक है। वे गोशाला में काम करते हैं। दूध पीते हैं तो उन्हें उस विद्या को जान लेने की इच्छा और आवश्यकता दोनों है। भाषा उत्तम आनी ही चाहिए, व्यावहारिक गणित की आवश्यकता को टाला नहीं जा सकता, एक-दूसरे के साथ कैसा वर्ताव करें, इसका ज्ञान न रखनेवालों की गिनती पशु में ही होगी, इसलिए नीति-विचार, धर्म-विचार छोड़ नहीं सकते।

समवाय कैसे करें?

बच्चों को 'शूले' (जीवन के अथ) से लेकर 'श्मशान' (इति) तक का सभी ज्ञान नहीं देते रहना है। आज का आवश्यक ज्ञान दें और समय-समय पर जिस ज्ञान की आवश्यकता हो, उसके सम्पादन की शक्ति उन्हें हासिल करायें और अन्दर छिपा हुआ स्वयंभू ज्ञान बाहर निकालें। मान लीजिए, बारिश का दिन है, तो कक्षा में बच्चों से पहले यही पूछिए कि क्या आप लोग आज शौच, मुख-मार्जन आदि से निबट आये हैं? यह प्रश्न आज ही क्यों? इसलिए कि वर्षा के कारण बच्चे शौच जाने से असकतियाते हैं?

बच्चों को खिड़की-दरवाजों के बारे में जानकारी करानी है, तो मैं उनसे पूछूँगा—'खिड़कियों का क्या उपयोग है?' बच्चे कहेंगे—'उनसे उजाला और हवा भीतर आयेगी।' फिर मैं पूछूँगा—'छप्पर में खिड़कियाँ बना देने से हवा और रोशनी मिलेगी ही, तो क्या उन्हीं से काम चल सकेगा?' वे कहेंगे—'नहीं, बाहरी चीजें भी दिखायी पड़नी चाहिएँ।' फिर मैं पूछूँगा—'मान लो, वैसी खिड़कियाँ भी बना दीं, पर उनसे बाहर-भीतर जाना-आना नहीं हो सकेगा, तो क्या उनसे काम चलेगा?' वे कहेंगे—'नहीं, बाहर-भीतर आने-जाने की व्यवस्था भी चाहिए, इसके लिए दरवाजा चाहिए।' इस तरह खिड़कियों और दरवाजों का उपयोग जब उनके ध्यान में आ जायेगा, तो मैं उनसे पूछूँगा—'बताओ तो, अपने शरीर में ऐसे खिड़की-दरवाजे कौन-कौन हैं?' आँख, कान, मुँह, नाक आदि को संस्कृत में 'द्वार' कहा गया है।

गीता में कहा है—**सर्वद्वाराणि संयम्य** सभी दरवाजों का नियमन कर उन पर पहरा रखना चाहिए। **'नवद्वारे पुरे देही'** नौ दरवाजों के नगर में यह आत्मा निवास करती हैं। मानव को अपनी आँखों पर से खिड़की रखने की कल्पना सूझी होगी, पर मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं, गाय की आँखें बड़ी होती हैं, इसीलिए मनुष्य गाय की आँखों की तरह खिड़कियाँ बनाने लगा। संस्कृत में खिड़कियों का नाम है—'गवाक्ष'। गवाक्ष माने गाय की आँख। उसी तरह की खिड़की अंकित करो, ऐसा मैं लड़कों से कहूँगा। ऐसी आँख बनायी तो वह चित्रकला हो गयी। उसके बाद मैं बताऊँगा कि लोगों ने समय-समय पर उसमें किस-किस तरह हेर-फेर किये। यह हो गया इतिहास। अब इस तरह की खिड़कियाँ क्या आज कहीं मिलेंगी? यह बतलाने के लिए मैं उन्हें 'लॅपलॅण्ड' की ओर ले जाऊँगा और उस प्रसंग में वहाँ के निवासियों के जीवन की तथा अन्य जानकारी कराऊँगा। सारांश, इस तरह प्रासंगिक रूप से दूर देश के लोगों के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।

अगर किसी दिन जोर की वर्षा हो रही हो, तो बच्चों को छुट्टी दे देनी चाहिए। उस वर्षा में बच्चे खेलें-कूदेंगे

और मौज उडायेंगे। उनके साथ ही शिक्षक भी कपडे उतार कर उन्हें खलायें और उन्हें बतायें कि वर्षा परमात्मा की कृपा है। हमारे यहाँ बारिश होने पर छुट्टी होती है पर इंग्लैंड में धूप होने पर। ऐसा क्या? इसलिए कि वहाँ सदा ही दुर्दिन—बादलों से घिरा दिन होता है। इसीलिए सूरज निकलने पर वहाँ छुट्टियाँ दे दी जाती हैं। बच्चे मौज से खेलते-कूदते हैं। इस तरह मैं बच्चों को इंग्लैण्ड के जलवायु की पूरी जानकारी दे दूँगा।

इतिहास भूगोल की एकता

सामाजिक शिक्षा में इतिहास भूगोल नागरिक-शास्त्र आदि पढ़ाते हैं। इतिहास और भूगोल सिखाने का अर्थ है—बच्चों को काल और देश का परिचय देना। जब हम कहते हैं कि इतिहास भूगोल पढ़ाया जाय तो उसका यही अर्थ है कि प्राचीन काल और दूर देश के लोगों की जानकारी करायी जाय। यह जानकारी अगर निकट के ही लोगों की हो पर पुराने जमाने की हो तो इतिहास बन जाती है और आज के ही जमाने के पर दूर देश के लोगों के बारे में हो तो भूगोल बन जाती है।

इस संदर्भ में एक पक्ष यह कहता है कि छोटे बच्चों को पहले दूर देश और प्राचीन काल के लोगों की जानकारी करायी जाय। दूसरा पक्ष कहता है कि आज के जमाने से शुरू कर क्रमशः बच्चों को पुराने जमाने की ओर ले जायँ।

उपर्युक्त दोनों मत परस्पर विरुद्ध-से मालूम पड़ते हैं पर वास्तव में वैसे हैं नहीं। एक कहता है—अति प्राचीन बतायें तो दूसरा कहता है—अति अर्वाचीन पर कोई यह नहीं कहता कि बीच का बतायें और वह ठीक भी है। ज्ञान के लिए तुलना अत्यावश्यक वस्तु है और तुलना के लिए या तो आस-पास ठीक पड़ता है या बिल्कुल दूर। दूर का और पास का दोनों को समझना ही साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान कहा जाता है।

किन्तु यह साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान कभी अप्रासंगिक न दिया जाय। शिक्षक उठे और इंग्लैंड की जानकारी कराने लगे तो यह चल नहीं सकता। प्रसंग उपस्थित कर और उसे पहचान करके ही वह कोई जानकारी दे। ऐसे प्रसंग लाना कोई कठिन बात नहीं है।

शिक्षण का सही स्वरूप

"कहिए, आप कौन काम अच्छी तरह कर सकते हैं?'—एक सेवाभिलाषी से किसी ने पूछा।

'मेरा ख्याल है, मैं शिक्षण का काम अच्छी तरह कर सकता हूँ।'

"क्या आप कोई दूसरा काम भी कर सकेंगे?"

"जी नहीं, सिर्फ सिखाने का ही काम।"

"तो क्या कातना-बुनना सिखा सकते हैं?"

"नहीं।"

'सिलाई, रँगाई, बढ़ईगिरी?"

"नहीं, यह सब कुछ नहीं।"

"रसोई, पीसना वगैरह घरेलू काम?"

'नहीं, मैं काम करना नहीं जानता, केवल शिक्षा साहित्य पढ़ा सकता हूँ।'

"तो क्या आप रामचरित मानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं?"—प्रश्नकर्त्ता ने व्यंग्य पूर्वक कहा। सेवाभिलाषी बिगड़कर कुछ उत्तर देना ही चाहते थे कि प्रश्नकर्ता पुनः बोल उठा—"शान्ति, क्षमा, तितिक्षा (सहनशीलता) रखना सिखा सकेंगे?"

सेवाभिलाषी समझना ही चाहते थे कि प्रश्नकर्त्ता ने पानी डालकर बुझाते हुए कहा—"खैर, ये काम सीखने को तैयार हैं?'

'नहीं साहब, अब नयी चीजों के सीखने का हौसला नहीं रहा। हाथ से काम करने की कभी आदत रही नहीं। देर तक बैठने का झंझट भी होने से रहा।"

यह बातचीत यहीं समाप्त हो गयी। नतीजा क्या हुआ, जानने की हमें जरूर नहीं। शिक्षकों की मनोवृत्ति समझने के लिए इतना ही काफी है।

लेकिन, अब शिक्षकों को किसानों जैसी स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी के माध्यम से दायित्व पूर्ण शिक्षण की रचना करनी चाहिए, तब शिक्षण का सही स्वरूप सामने आयेगा। -विनोबा

बाल-उद्योग-२

जुगतराम दवे

बालवाडी मे ऐसे उद्योगों की योजना बनानी चाहिए, जिन्हें बालक स्वतंत्र रूप से कर सकें, क्योंकि आप जब छोटे बालकों के जीवन का अध्ययन करेंगे तो दिखायी देगा कि वे अपने आप अकेले भी विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करते रहते हैं। घर में पाट, पटिया, खटिया, टेबुल, कुरसी आदि सामान हो तो वे उनकी प्रवृत्तियों के साधन बन जाते हैं। वे उन्हें इधर-उधर ले जाते, ले आते हैं। उन्हें औंधा करके उनमें घुसने का प्रयत्न करते हैं और पानी खींचने तथा दूसरे तरह-तरह के अभिनय भी करते हैं।

बाल-रुचि और उद्योग के साधन

कटोरी, लोटा और घड़े जैसे धातु के बरतनों को बड़े लोग ऐसे सुरक्षित स्थान पर रखने की चिन्ता रखते हैं, जहाँ तक बालकों के हाथ न पहुँच सकें फिर वे मिट्टी या काँच के बरतन उनके हाथ में कैसे जाने देंगे। परन्तु यदि दैवयोग से ऐसे बरतन बालकों के हाथ में आ जाते हैं तो व उनका बहुत उत्साह से उपयोग करते हैं। उन्हें बजाकर आवाज निकालते हैं। एक के ऊपर दूसरे बरतन का व्यवस्थित रखते हैं। आस-पास पानी हो तो अपने बरतनों मे भरते हैं और गिराते हैं।

हम बड़े लोग चाकू, छुरी, हँसिया-जैसे धारवाले औजारों से तरह-तरह के काम करते रहते हैं। वे बालकों के आकर्षण के बहुत बड़े विषय हैं। उन औजारों को बालकों के हाथ में न जाने देने की हम चाहे जितनी सावधानी रखें, फिर भी कभी-कभी व उन अद्भुत वस्तुओं को ढूंढ निकालते हैं और उपयोगी तथा अनुपयोगी वस्तुओं को काटने का प्रयोग शुरू कर देते हैं। ये प्रयोग करते समय वे कभी-कभी अपनी उँगलियाँ भी काट लेते हैं।

बालक की इस तरह की विभिन्न प्रवृत्तियों में हम क्या देखते हैं ?

एक तो हम यह देखते हैं कि बालकों को अकेले-अकेले किसी की दस्तन्दाजी के बिना कुछ-न-कुछ काम करने की भूख होती है।

दूसरा यह कि वे ऐसी प्रवृत्तियों में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि दीर्घकाल तक अपनी एकाग्रता स्थिर रखते हैं। ऐसे समय यदि हम बीच में पड़कर उन्हें रोकें तो वे स्पष्ट रूप से उदासीन होते दिखायी देते हैं।

बालवाडी में प्रयोग करने पर यह देखने में आता है कि यदि बालकों के पास कुछ उपयोगी काम के साधन रखे जायँ तो वे उनमें भी उतने ही तल्लीन और एकाग्र होते हैं।

इतना ही नहीं, इसके सिवाय यह भी देखा गया है कि बालक तुरन्त समझ जाते हैं कि अपने छोटे औजारों से वे जो काम करते हैं वे उनके बाल-समाज के उपयोग में आनेवाले हैं, और ऐसी समझ होते ही उनकी काम करने की रुचि और अधिक बढ़ जाती है।

बालक स्वतंत्र रूप से अकेले अथवा दो-दो, तीन-तीन की छोटी टोलियों में बैठकर काम कर सकें, जिसमें शिक्षिका के साथ की सतत आवश्यकता न हो, ऐसे उद्योग बाल शिक्षिकाएँ अपने प्रतिदिन के जीवन में सरलता-पूर्वक ढूंढ सकती हैं।

आटा पीसने की छोटी चक्की स्वतंत्र बाल उद्योग का सर्वोपरि साधन सिद्ध हुई है। ऐसे ही छोटा 'इमामदस्ता' भी बालवाडी में लोकप्रिय साधन हो चुका है।

छोटे-छोटे सिलबट्टे और धान साफ करने की छोटी-छोटी सुपलियाँ भी बाल-समाज के लिए बहुत आकर्षक

साधन हो सकती है। आवश्यकता है कि शिक्षिकाएँ इन साधनों को काम में लाने की कला बालकों को धीरज से सिखायें।

सफाई के काम के लिए यदि बालकों को उनकी कद की छोटी झाड़ू, छोटी टोकरियाँ तथा सुपेलियाँ देंगे और स्वाभाविक रूप से काम की शुरुआत कर देंगे तो बालक स्वतंत्र रूप से सफाई का काम भी आनन्दपूर्वक करेंगे।

बालकों को यदि खेती के औजारों में छोटी कुदाल और छोटे फावड़े मिल जायँ तो वे खेती के काम भी आनन्दपूर्वक करते हैं। केवल शिक्षिकाओं को यह बताना होता है कि क्या काम करना है, उस काम को क्या आवश्यकता है। कठिन जमीन हो तो पहले से उसे तैयार करके रखना होगा। उसी तरह से छोटी छोटी बाल्टियाँ और हजारे भी लायेंगी तो बालक बड़े प्रेम से बगीचे के पौधों को पानी देंगे। इसमें भी किस पौधे को पानी की आवश्यकता है, यह बताकर बालक की सहानुभूति और स्नेह जागृत करना होगा। उसी तरह पानी की सुविधा भी कहीं नजदीक में ऐसी होनी चाहिए जहाँ से बालक स्वाभाविक रूप से अपने आप पानी भरकर ला सकें।

कताई-उद्योग

खादी के राष्ट्रीय उद्योग में भी कुछ ऐसे काम हैं, जिन्हें बालकों से अच्छी तरह कराया जा सकता है। आप बिनौला निकालने की छोटी ओटनी बना देंगे तो बालक को उस पर काम करने में बहुत मजा आयेगा। ओटनी का यह यंत्र पूर्ण रूप से शुद्ध होना चाहिए, ताकि बच्चों को काम करने में किसी तरह की कठिनाई न हो। एक एक दाना अलग करके चक्की में डालने की कला भी उन्हें सिखा देनी चाहिए। ओटाई भी बालक को अच्छी लग सकती है। उसमें भी कपास का एक एक दाना अलग कर ओटने की कला सिखानी होगी। इसी तरह बालक कुछ बड़ा होकर पाँच छः वर्ष के आसपास पहुँचता है तो चरखा चलाना भी सीख जाता है।

चरखा भी बालक के अनुसार ही बनाना चाहिए। इसके लिए बारडोली चरखे के नमूने का बाल चरखा बालकों के लिए अच्छा होगा। गतिचक्र विहीन पेटीचरखा भी काम दे सकेगा।

बाल-औजार कैसे हों ?

बालकों के काम के औजार बनाने और पसन्द करने में कुछ बातों को ध्यान में रखने की बहुत आवश्यकता है। सामान्य रूप से खिलौनों के सम्बन्ध में भी ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

जगत विख्यात बाल शिक्षा शास्त्री मैडम मान्टेसरी ने बालकों के लिए इन्द्रिय विकास के साधन ढूँढ़े हैं। उनमें ये बातें बहुत ही सावधानी और वैज्ञानिक पद्धति से ध्यान में रखी गयी हैं।

बाल-उद्योग के औजार मान्टेसरी के 'दट्टापेटी' जैसे मजबूत होने चाहिए, थोड़ी-थोड़ी देर में टूटने-फूटने वाले नहीं। जिस तरह दट्टापेटियाँ लगाने या निकालने में कठिनाई होने की सम्भावना नहीं रहती, उसी तरह बाल-उद्योग के साधनों में भी वैसी सम्भावना न रहे, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

दट्टापेटियों की तरह ही बाल-उद्योग के औजार भी वजन में इतने हल्के होने चाहिए, जिससे बालक उन्हें सरलता से उठा सकें और इधर-उधर कर सकें।

दट्टापेटियों की रचना में गेंद और छेद ठीक तरह से व्यवस्थित हों, इस तरह के माप की बहुत सावधानी रखनी होती है। पक्की और मुलायम लकड़ी का उपयोग होना चाहिए जिससे वह ठंडी-गरमी के प्रभाव से न तो संकुचित हो सके और न फूल सके। अगर उचित लकड़ी का प्रयोग नहीं हुआ, और गेंद छेदों में ठीक तरह से नहीं पैठ सके, या छेदों में ही उलझे रहे तो दट्टापेटी का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा।

पहले चर्चा में आये हुए साधनों—चक्की, इमामदस्ता, मूसल, बाल्टी, ओटनी आदि में भी ये सभी गुण अच्छी तरह सुरक्षित रहने चाहिएँ। वे मजबूत हों, और जल्द बिगड़नेवाले न हों। बालक उन्हें स्वयं उठाकर, घुमा-फिराकर इधर-उधर रख सकें। इस दृष्टि से छोटी चक्की ही उपयोग में लानी चाहिए। फिर भी अकेले बालक के लिए उसे उठाकर इधर-उधर ले जाना कठिन होगा, परन्तु दो-तीन बालक मिलकर उसे खिसका सकेंगे। सहयोग पूर्वक खिसकाने की यह प्रवृत्ति भी बालकों में एक नवीन रस की पूर्ति करेगी।

दट्टापेटियों की तरह इन औजारों में भी वैज्ञानिक सावधानी रखनी चाहिए। खासकर मूसल, कुदाली, फावड़ा

इत्यादि औजारो के वजन बालको की शक्ति का विचार करके निश्चित करना चाहिए। बाल्टी और हजारा भी वैसे ही माप के होने चाहिएँ, जिसे बालक उठा सकें। बाल-शिक्षिका स्वय सावधानी से अनुभव प्राप्त कर इन मापो का निश्चय कर सकती है।

पहले इस बात पर जोर दिया गया है कि औजार ऐसे हो, जिनसे बालको को ठोकर या चोट न लगे, परन्तु बालवाडी मे बालको की अवस्था की वृद्धि होने पर उनमे धारदार वस्तुएँ सँभालकर उपयोग करने की चतुराई आती जाती है और उसे विकसित करने की भी आवश्यकता है; क्योंकि उनके हाथ में छोटी कुदाली, फावडा या हँसिया देने की तैयारी भी रखनी होगी। प्रारम्भ मे उन्हें सँभालकर काम में लाने की सूचनाएँ देनी होंगी, और उन्हें उपयोग में लाने की कला बताने की तालीम भी देनी होगी।

औजार मजबूत होने चाहिएँ, परन्तु उनके साथ नाजुक वस्तुओ को नाजुक हाथो से काम में लाने की कला भी विकसित करनी चाहिए। बालको के फोड डालने के डर से उनके हाथ में मिट्टी या शीशे की वस्तुएँ न देकर धातुओ के बरतन ही काम मे लाना, सच्ची नीति नही है। मिट्टी की छोटी मटकी और काँच के छोटे बरतन बालक सावधानी से काम में लाना सीख जाते है, और उनमें तोडने-फोडने की आदत नही देखकर आश्चर्य होता है।

क्या सुतार, लोहार, दर्जी, कुम्हार आदि कारीगरो के औजार बालको के हाथ में दिये जा सकते है, किसी बाल-शिक्षिका के मन में ऐसा प्रश्न उठ सकता है। वजन और नाप में छोटे बनाने मात्र से वे औजार बालको के लिए उपयुक्त हो जाते है, ऐसा मानना भूल होगी। इन उद्योगो मे अनेक क्रियाएँ सूक्ष्म गणित-शक्ति की अपेक्षा रखती है। उनमे स्नायुओ पर नियत्रण अपेक्षित है, कला-युक्त बल आवश्यक है। इन सबकी बालवाडी के बालको से अपेक्षा नही रखी जा सकती। इस प्रकार सुतार का बसुला, कुम्हार का चाक, लोहार का घन और उन औजारो द्वारा किये जाने वाले काम बाल-उद्योग के क्षेत्र में नहीं आयेंगे। कारीगरों के औजारो में कील ठोकने की हथौडी, कागज या कपडा काटने की कैंची, कपडा सीने की सुई, सँडसी, चिमटा-जैसे औजार योग्य अवस्था होने पर विवेक और सावधानी के साथ बालकों के हाथ में देकर उद्योग के विस्तृत क्षेत्र में उनका प्रवेश कराया जा सकता है।

●

[पृष्ठ १६५ का शेषांश]

की पीठ पर बैठा हुआ लडका या छोटे भाई-बहन को गोद में लिये हुए लडकी को जब उसका काम छुडाकर स्कूल भेजना सम्भव नहीं है, तब स्कूल को ही भैंस की पीठ पर और लडकी की गोद में पहुँचाना होगा। इसी को महात्मा गाधी ने 'समग्र नयी तालीम' की सज्ञा दी थी।

इन परिस्थितियो तथा इन सब समस्याओं पर शिक्षकों को गम्भीरता से विचार करना है। वे समझें कि उनका स्थान कितना महान है और जिम्मेदारी कितनी गहरी है। अगर देश और दुनिया को सर्वनाश से बचाना है तो शिक्षकों को ही यह जिम्मेदारी उठानी होगी। समाज के नेतृत्व को अपने हाथ में लेकर युग की चुनौती का समुचित उत्तर देना होगा। मुझे आशा है कि हमारे शिक्षक इसके लिए तैयार होंगे और अपने पुरुषार्थ से अपने में आवश्यक शक्ति सगठित कर सकेंगे।

●

मधुमक्खी
तथा
उसकी पालन-विधि

•

शिवदास

प्राय बडी-बडी इमारतों व गुम्बदो की नुकीली छता और वृक्षों को शाखाओं से लगे मधुमक्खी के छत्ते मनुष्य की दृष्टि आकृष्ट करते है और जब उन छत्तो के आकार प्रकार, रचना और उनमें रहनेवालो की सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान होता है, तो सामान्य मनुष्य चकित रह जाता है। प्रत्येक छत्ते मे हजारो कोष्ठक या कोठरियाँ होती हैं, जिनमें भोजन-सामग्री का विशाल भंडार होता है। यह भोजन-सामग्री कई सप्ताह तक उनकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है।

मध्य में राजकीय विभाग रहता है। इसमें रानी-मक्खी और सेविकाओं के लिए करीब दस हजार कमरे, जिनमें अंडे दिये जाते हैं, पन्द्रह हजार ढोलाओं के लिए होते है, और लगभग चालीस हजार कमरो में अविकसित मक्खियाँ रहती है।

तीन-चार बड़े-बड़े बंद कमरो में सज्ञाहीन, पीली रग की राजकुमारियाँ रहती हैं, जिनको अँधेरे में ही भोजन दिया जाता है। नर तथा कमेरी मधुमक्खियो को मिलाकर उनका समाज बनता है। ये आपस में सारे कार्यों को बाँट कर करती हैं। उनकी यह विधि ही श्रम-विभाजन का एक उत्तम उदाहरण है।

बहुत पुराने समय से ही मनुष्य को मधु का ज्ञान था। उस समय तो शक्कर पाने का एक मात्र साधन 'मधु' ही था। आज तो मधु को पौष्टिक भोजन, तथा दवा के रूप में लेते है। छत्तों से मोम मिलती है और उससे श्रृंगार के सामान, पालिश, दवाइयाँ इत्यादि बनायी जाती हैं।

मनुष्य इन्हीं लाभो से प्रोत्साहित होकर, जंगली मधुमक्खियो को पालना प्रारम्भ किया तथा जैसे-जैसे उससे होनेवाले आर्थिक लाभ का ज्ञान होता गया, उसने उन्हें पालने की अच्छी-से-अच्छी विधि भी खोज निकाली। आजकल तो इसका बहुत ही प्रचार होता जा रहा है। विभिन्न स्थानो मे इन्हें पालने के केन्द्र भी खुलते जा रहे है।

मधुमक्खी-पालन अत्यन्त सरल एव सुगम है। इसे पाठशालाओं में भी चालू किया जा सकता है। मेरा विश्वास है कि यह पूरक उद्योग के रूप में अच्छी तरह चल सकता है। इससे स्वावलम्बन की दिशा में आर्थिक योग-दान तो मिल ही सकता है।

आर्थिक दृष्टि से मधुमक्खी बहुत ही उपयोगी कीडा है। कारण, इससे मधु और मोम दोनो अनमोल वस्तुएँ प्राप्त होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है क्योकि ये एक समूह या समाज बनाकर छत्तो मे रहती है। प्रत्येक विकसित छत्ते में साठ हजार तक मधुमक्खियाँ रहती हैं।

प्रत्येक छत्ते मे तीन प्रकार की मधुमक्खियाँ रहती है। रानी, नर और मजदूरिन या कमेरी। इनमें कमेरी की सख्या सबसे अधिक होती है। छत्ते में केवल एक ही रानी मक्खी रहती है। इनमें रानी का उदर लम्बा तथा नुकीला होता है और सिमटे हुए पखो के पीछे भी कुछ दूर तक निकला रहता है। इसकी जननेंद्रिय पूर्ण रूप से विकसित होती है और इसीलिए इसका आकार बडा होता है। मजदूरिनें या कमेरी मे जननेंद्रिय अविकसित होती है। नर का उदर नुकीला नही होता।

रानी

रानी छत्ते की मधुमक्खियों में सबसे बडी होती है और इसकी पहचान उसके लम्बे-पतले शरीर, बडी टाँगें और छोटे पख है। उदर में मादा जननेन्द्रिय स्थित होती है। मधुमक्खियों में सिर्फ रानी ही अंडे दे सकती है।
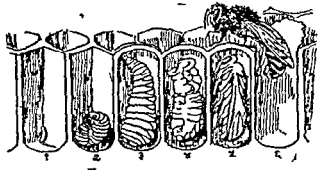
रानी के अंडे देने के मौसम में कमेरी मक्खियाँ उसकी मदद करती हैं। वे रानी को चारों ओर से घेर रहती हैं और लगातार भोजन पहुँचाती रहती हैं। अपने स्पर्शक के द्वारा रानी के उदर पर लगातार चोट मारती हैं, जिससे रानी अडे देने के लिए प्रेरित होती है, पर अडे देने की क्रिया लगातार नही होती। कुछ अडे देने के पश्चात, वह कुछ देर तक विश्राम करती है। फिर भोजन के बाद वह अपना काम शुरू कर देती है। अडे देने के लिए करीब-करीब ३० से ६० सेकेंड का विराम अपेक्षित होता है।

धारणा के विपरीत रानी छत्ता की मलिका नही होती। वह पूर्ण रूप से मादा भी नहीं है, क्योंकि वह अडे तो देती है, लेकिन उनकी देखभल बिल्कुल नही करती। छत्ता में विचरती है और अडे देती है। यह कार्य दो या तीन सप्ताह तक चलता रहता है।

रानी का काम अडे देना है। वह अपने जीवन में केवल एक बार वैवाहिक उडान पर जाती है और एक ही बार जनन-सम्भोग होता है। बहुत से नर इसके पीछे उडते है। जनन-सम्भोग हवा में ही होता है। नरो में से केवल एक ही नर सम्भोग में सफल होता है और उसके बाद ही वह पृथ्वी पर गिरकर मर जाता है।

सम्भोग के बाद रानी मक्खी छत्तों में वापस आ जाती है और अडे देना प्रारम्भ कर देती है। औसतन ९०० अडे प्रति दिन देती है, अधिक से अधिक १३०० अडे तक दे सकती है। यदि अडा को रखने के बाद नर से प्राप्त शुक्राणु द्वारा उन्हें फलप्रद या निषेचित कर देती है तो अडा से 'रानी या कमेरी' पैदा होती है। यदि निषेचन नही हो पाता तो उनसे नर पैदा होते है।

अडा, लारवा, लारवा, प्यूपा, प्यूपा, प्रौढ

प्रत्येक छत्ते में केवल एक ही रानी होती है और वह एक स्थायी सदस्य भी होती है। उसके जीवन की अवधि चार या पाँच वर्ष है। अगर लगातार दो साल अधिक अडे देती है तो तीसरे वर्ष वह कार्य नही कर सकती और उसका स्थान 'कमेरी' ले लेती है।

कमेरी

कमेरी मक्खियाँ ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। कारण, वही छत्ता का प्रत्येक कार्य करती हैं। ये फूलों से रस, पराग तथा मकरन्द लाया करती है और साथ ही फूलों को परागित भी करती रहती है। पुराने कोष्ठका की मरम्मत करना, नये कोष्ठक बनाना, जाडे के दिनो में शहद, पराग आदि भोजन द्रव्यों से भडार को भरना, इनका प्रमुख काम है। छत्ता की रक्षा का भार भी इन्ही पर रहता है, इसलिए इनमें डक मारने की शक्ति रहती है।

बच्ची कमेरी छत्ता को छोडकर बाहर नही जाती, दाई का काम करती है, अर्थात वे ढोलाओ की रक्षा तथा देखभाल करती है। नर, जोकि ग्रीष्म-ऋतु में दिखाई पडते है, सहगमन ऋतु के समाप्त होने पर इन नरो को 'कमेरी' या तो बाहर निकाल देती है अथवा मार डालती है। इसी ऋतु में मक्खियाँ झुड बनाकर, रानी को साथ लेकर पुराने छत्ता को छोडकर नये छत्ते बनाने चली जाती है।

ये रानी से बहुत छोटी होती है। इन सब कार्यों को करने के लिए उनके शरीर के कुछ भागों में परिवर्तन हो जाता है। उनका शरीर तो एक विशाल रासायनिक

प्रयोगशाला है। ये फूलो से प्राप्त रसो को बदलकर मधु उत्पन्न करती है।

बडे छत्तो मे कमेरी मक्खियो की सख्या साठ हजार से अस्सी हजार तक होती है। वे अपने कार्य सारी शक्ति लगाकर और निस्वार्थ भाव से करती है। रानी को खिलाने में वह भूखी रह जाती हैं, शत्रु से निर्भय होकर विकट रूप से लडती है और भोजन उस समय तक इकट्ठा करती रहती हैं, जबतक उनके पख थककर संज्ञाहीन नहीं हो जाते। अपने छोटे से कार्यनिष्ठ सघर्षशील जीवन के उपरान्त वे पृथ्वी पर गिरकर मर जाती हैं। वे यह सिद्ध करती है कि व्यक्ति का विशेष मूल्य नही होता, समाज ही सर्वोपरि है।

ये मकरन्द को भोजन प्रणाली में स्थित थैली में इकट्ठा कर छत्तो में ले आती हैं और परागकणो

रानी

को पिछले पैरो की 'टोकरियो' में लाती है। इनके जीवन की अवधि ६ सप्ताह की होती है, पर जो मक्खियाँ अगस्त या सितम्बर में पैदा होती हैं वे जाडे भर जीवित रहती हैं और अगले वर्ष मई या जून मे अवश्य मर जाती है।

जीवन की इस छोटी अवधि का मतलब है कि छत्तों में रहनेवाले निवासियों में परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि रानी इतनी अधिक सख्या में अडे देती है। अगर वह इतने अधिक अडे नही देती तो मृत्यु-सख्या शीघ्र होने से उनकी सख्या घटती जाती और छत्ते नष्ट हो जाते।

कमेरी मक्खियाँ अडे नही दे सकती, किन्तु उनमें अविकसित अडाशय तो रहता ही है। वे कुछ अडे दे भी सकती है। इसकी आवश्यकता उस समय पडती है, जब छत्तो की रानी मर जाती है या भाग जाती है और कमेरी दूसरी 'रानी' मक्खी जल्दी तैयार नहीं कर

नर

सकती। ऐसी परिस्थिति में कमेरी अडे देती है, जिनकी सख्या ६ से ९ होती है। ऐसी कमेरी 'उर्वर' कही जाती है, पर वे नर से जनन-सम्भोग नही कर सकती और इसीलिए वे केवल नर ही उत्पन्न करती हैं।

नर

ये कमेरी मक्खियो से बडे होते हैं और इनके पंख मजबूत होते हैं। ये नर हैं और इनका काम केवल 'रानी' के साथ गरमी के दिनो में जनन-सम्भोग करना है। ये मौसमी जन्तु है और करीब चार या पाँच महीने तक जीवित रहते है। इसके बाद कमेरी इनको मारकर छत्तो के बाहर भगा देती है। छत्तो में इस समय (शरद ऋतु मे) नर एक भी नही मिलेगा। इनकी अधिकतम सख्या २०० से ३०० तक होती है।

रूपान्तरण

मधु अपने जीवन में कई परिवर्तित अवस्थाओ से गुजरती है–अडे, ढोला, प्यूपा और प्रौढ। रानी दो प्रकार

कमेरी

के अडे देती है। निषेचित अडो से रानी और कमेरी तथा अनिषेचित अडो से नर पैदा होते है।

[शेषांश पृष्ठ १७७ पर]

गणित-शिक्षण

का

पहला पाठ

•

नरेन्द्र

जीवन में आकार और व्यवस्था का प्रवेश होते ही पूर्णता के दर्शन स्पष्ट होने लगते हैं। इसके अभाव में जीवन का फूहड़पन ही प्रकट होता है। इसे समाप्त करने तथा जीवन को सुनियोजित करने की चेष्टा से गणित-शास्त्र का उदय हुआ। नियोजन और व्यवस्था की भाषा गणित है। इसीलिए आँकड़े और गणना के युग में गणित शास्त्र का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना बहुत जरूरी हो गया है।

समाज को सुघड़, स्वावलम्बी, व्यवस्थित और मितव्ययी बनाना है तो प्रत्येक व्यक्ति को गणित के बुनियादी तत्वों को अच्छी तरह समझना जरूरी है। गणित का इतना महत्व होने पर भी कम ही विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जिनकी दिलचस्पी गणित में हो। इसीलिए गणित को कठिन और शुष्क विषय समझा जाता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। गणित-जैसा सरल और सरस विषय कोई दूसरा है, ऐसा मुझे नहीं लगता। साथ ही बिना इसकी जानकारी के सभी विषय अधूरे रह जाते हैं, क्योंकि मनुष्य जैसे ही जन्म लेता है उसे तुरत गणित के एक प्रश्न का हल्का बोध हो जाता है। वह प्रश्न है—एक और अनेक का बोध। हाँ, एक और अनेक को प्रकट करने की भाषा उस समय उसके पास नहीं होती, आगे चलकर सीखनी पड़ती है।

शायद इसीलिए गणित-शिक्षण में पहले गिनती याद करायी जाती है। एक से सौ तक गिनती रट लेना गणित का पाठ समझा जाता है। बच्चा सौ तक गिनना तो जान जाता है, लेकिन बाल-मस्तिष्क पर इस रटाई का कितना जोर पड़ता है, बहुत कम लोग विचार कर पाते हैं। इतनी रटाई पर भी वह एक और अनेक के बोध और गिनती की भाषा का मेल नहीं बिठा पाता।

हमारे स्वावलम्बन विद्यालय की घटना है। एक दिन एक बच्चे ने बड़ों को मिट्टी की गोलियाँ गिनते देखा। दूसरे ही क्षण मैंने देखा कि उस बच्चे ने भी कुछ गोलियाँ उठा ली और मुट्ठी में बेहिसाब गोलियाँ लेकर गिनने लगा। एक, तीन, सात, चार, दस, आठ आदि। उसके मन में जो गिनती आयी, बोलता रहा और मनमाना गोलियाँ उठाता रहा। गिनती रटाने का यही परिणाम होता है। वास्तव में शिक्षक की दृष्टि इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। वह सोच नहीं पाता या बहुत दूर तक वह सोचने का प्रयास नहीं करता कि मैं बच्चे को गिनती क्या सिखा रहा हूँ? इसका प्रयोजन क्या है। किस तरह बाल मन पर बिना बोझ डाले सिखाया जा सकता है। अगर शिक्षक थोड़ी सजगता से काम लें तो यह बहुत कठिन नहीं है।

वास्तव में बात ऐसी है कि बच्चे के पास एक और अनेक का बोध उसको प्राकृतिक रूप से होता ही है। जब कभी मिठाई का एक टुकड़ा हम बच्चे को देते हैं तो वह दूसरे और तीसरे के लिए झपटता है, लेकिन उस समय उसके पास उसे प्रकट करने की भाषा नहीं होती। गिनती-शिक्षण से उसके पास अंकों की वह भाषा आ जाती है, जिससे वह एक और अनेक के प्रकृति प्रदत्त ज्ञान को प्रकट कर सके।

गणित-शास्त्र के अनेक विभाग है-जैसे, अकगणित, बीजगणित, रेखागणित आदि-आदि। अकगणित, गणित शास्त्र का वह विभाग है, जिसकी जानकारी होने पर हम ज्ञान विज्ञान, भावना और विचारो को अको में प्रकट करते हैं। अको की इस भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तीन विभाग किये जा सकते हैं-१ अको का क्रम, २ अको का लिखना ३. अको का वस्तुओ से सम्बध। आज पाठ शालाओ म आमतौर पर अको के क्रम का अभ्यास पहले कराया जाता है। जैसे-गिनती रटना पहाड याद करना आदि, फिर अको के लिखने का अभ्यास कराया जाता है।

अको और वस्तुओ का सम्बन्ध स्थापित होने पर अको की भाषा बनती है। इस भाषा का ज्ञान तथा इसका नित्य जीवन में व्यवहार तो हायर मैथमटिक्स का विषय है जो ऊँचे दरजो म पढाया जाता है। इसीलिए गणित एक शुष्क और कठिन विषय लगता है। विषय को सरल, सरस तथा उपयोगी बनाने के लिए गणित का शिक्षण शुरू से ही करना चाहिए यानी बच्च की योजना और विकास के सदभ म ही गणित शिक्षण देना चाहिए।

शिक्षण की दृष्टि और उसकी बुनियाद

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बच्चे को पैदा होते ही एक और अनेक की प्रतीति होती है। एक और अनेक का बोध व्यक्ति और समाज के बोध की शुरुआत है। दूसरी चीज जो हर जीव में देखने को मिलती है वह है जिंदा रहने की चेष्टा। इस चेष्टा की पूर्ति के लिए वह चार काम करता है—सग्रह, उपभोग, उत्पादन और वितरण।

इस क्रम में उत्पादन, तीसरे नम्बर पर विचार-पूर्वक रखा गया है क्योकि जैसे ही जीव इस जगत मे जन्म लेता है प्रकृति में सहज प्राप्त सामग्री का सग्रह करके उसका उपभोग करता है फिर कुछ उत्पादन की बात सोचता है, और फिर उत्पादित वस्तुओं में से कुछ वितरण करना पडता है। सग्रह उपभोग, उत्पादन और वितरण की इस प्रक्रिया को व्यवस्थित और नियोजित करने का काम गणित-शास्त्र ने किया या यो कहें कि जीने की चेष्टा में से गणित का वह शास्त्र निकला जिसने समाज में जीवन को व्यवस्थित और नियोजित बनाया। अब इस व्यवस्था और नियोजन का आधार क्या हो? अथवा यो कहें कि समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध कैसे हो? गणित शिक्षण की पद्धति का इससे मेल बैठना चाहिए।

आज हम समाजवादी समाज की कल्पना करते हैं, जिसमे सग्रहीत या उत्पादित सामग्री के वितरण के शास्त्र का प्रमुख स्थान है। इसीलिए जीने की चेष्टा में किये गये चार कामो के क्रम में कुछ हेर-फेर करना आवश्यक हो जाता है। सग्रह के बाद वितरण, फिर उपभोग, उसके बाद उत्पादन, यानी उत्पादन, सग्रह, वितरण और उपभोग।

इस क्रम को बुनियाद मान कर गणित शिक्षण की शुरुआत वितरण से करनी चाहिए, क्योंकि सग्रह के लिए कोई चेष्टा बच्चे को नहीं करनी पडती है।

माँ बाप बच्चों को गणित कैसे सिखायें!

बच्चो का आकर्षण खाने पीने और खेल की सामग्री पर ही अधिक केंद्रित रहता है। अत माता पिता तथा अभिभावको को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि व खाने-पीने या खेल की सामग्री को हमेशा बच्चो में वितरित कर दें।

एक एक या दो दो या तीन-तीन करके वस्तुएँ वितरित करने से बच्चो के मानस पर एक और अनेक की भाषा अंकित होती जायगी। कभी-कभी वस्तुओं का वितरण बच्चो से कराना चाहिए।

अनिल मेरा एक विद्यार्थी रहा है। जब वह दो वर्ष का था तो मैं उससे अमरूद बेर सिंघाडे, आम आदि जो फल जब मिलता गिन गिनकर वितरण कराता था।

अनिल बेटा एक-एक बेर सबको दे दो।"

लडका एक-एक बेर सबको दे देता। फिर मैं कहता—"अच्छा अब एक बेर तुम भी ले लो।' इसी तरह प्रसगो के माध्यम से तीन माह मे लडके को ५० तक की सख्या का ज्ञान हो गया। उन दिनो हमारा मकान बन रहा था। मैं अनिल से कहता—"जाओ बेटा, पच्चीस इंटें इस ढेर मे उठाकर रेल बना लो।' यह खेल उसे अच्छा लगता। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार प्रसग निकालकर अको की भाषा बच्चो को सिखानी चाहिए।

इस पद्धति से दो बातें हुई। अनिल को खाने या खेलने की जो चीजें दी जाती उनको दूसरे बच्चो में वितरित करके खुद खाता तथा खेलता। इस प्रकार तीन ही महीनें में उसे वस्तुओं के साथ अंकों का अच्छा ज्ञान हो गया। १ से लेकर ६०-७० तक का उसे क्रमिक ज्ञान तो हो ही गया, उतनी सख्या की वस्तुओ का बोध भी हो चुका था।

इसी बीच योजना-नियोजन का शिक्षण भी बच्चे को मिलता रहा। कभी-कभी मूँगफली या अन्य कोई खाने की चीज बच्चो को दे देता और उनसे कहता—"तुम लोग गिनकर, बराबर-बराबर बाँटकर खा लो।"

मैने एक दिन एक सेर बेर बच्चो को दिये। उन्होंने ऐसे ही मुट्ठी भर-भरकर बांटना शुरू किया। मैंने कहा—"ऐसे नही, गिन-गिनकर बाँटो।" एक बच्चे ने बाँटना शुरू किया। कुल आठ बच्चे थे। उसने पहले एक-एक बेर दिया, फिर एक-एक और दिया। इसी तरह एक-एक बांटता रहा। सब बच्चे बेर अपनी-अपनी जेब में रखते जाते थे। सब बेर बँट गये तो मैंने कहा—"अच्छा अब अपने-अपने बेर गिनो।" बच्चो ने बेर गिने। तीन बच्चों के पास सात सात थे और बाकी के पास छ-छ।

मैने कहा—"जिनके पास अधिक हैं वे मुझे एक-एक दे दें।" तीनो बच्चे एक एक बेर मुझे दे गये। एक बच्चे से मैंने कहा—"अरविन्द, सबके पास कुल कितने बेर हुए, गिनकर बताओ तो।" बच्चा गिनने लगा। काफी देर हो गयी। न गिन सका। इतनी देर में अनिल ने सबके बेरो का जोड लगा लिया था। उसने पास ही पडे मिट्टी के ढेर से छ-छ गिट्टियो के आठ ढेर लगाकर तीन गिट्टियाँ और ले लीं। उन सबको गिन लिया। उसकी यह क्रिया मै देख रहा था।

इस प्रकार तीन साल की उम्र होते-होते बच्चों को गणित के अकों की भाषा का उचित ज्ञान हो सकता है। अक लिखना तबतक नही सिखाना चाहिए, जबतक बच्चों को वस्तुओ का बांटना और गिनना अच्छी तरह न आ जाये।

माँ-बाप थोडी भी दिलचस्पी लें तो अपने बच्चो को तीन साल की उम्र होते-होते अकगणित का प्रारम्भिक ज्ञान सरलता-पूर्वक करा सकते है। साथ ही बच्चे में बाँटकर खाने यानी बाँटकर उपभोग करने के गुण का भी विकास हो जायेगा, तथा बाँटने की पद्धति में कुछ योजना-नियोजन का भी प्रारम्भिक पाठ मिल जायेगा।

●

[शेषांश पृष्ठ १७४ का]

अँधेरे पक्ष में अडे कोष्ठक के फर्श पर लम्ब में खडे रहते है। धीरे-धीरे वे अपनी स्थिति बदलते है और अंडे से निकलने के पहले वे फर्श के समानान्तर हो जाते हैं और चारो ओर मे मधु-दुग्ध की एक बूंद द्वारा ढक जाते है। दो-तीन दिन तक उन्हें उसी मधु-दुग्ध का भोजन मिलता है, किन्तु तीसरे दिन से मधु के साथ पराग मिलाकर दिया जाता है। इस पराग पर ही उनकी किस्म निर्भर करती है।

रानी बननेवाले ढोले को केवल राजसी मधु का भोजन मिलता है। ढोले की वृद्धि तेजी से होती है और पांच बार वह अपनी त्वचा छोडता है। आठ दिन बाद वह पूर्ण वृद्धि प्राप्त ढोला बन जाता है और कमेरी मोम के द्वारा उसे कोष्ठक में बन्द कर देता है।

इसके बाद वह प्यूपा में बदल जाता है। इसकी अवधि विभिन्न किस्मों में अलग अलग होती है। इसके बाद प्रौढ मक्खी बन जाती है।

रूपान्तरण की तालिका

जाति	अण्डे की अवस्था	ढोले की अवस्था	प्यूपा की अवस्था	प्रौढ होने की अवस्था
रानी	३	५	७	१६ वें दिन
कमेरी	३	५	१२	२१ वें दिन
नर	३	५	१५	२४ वें दिन

कमेरी और नर के कमरे षट्कोणाकार होते है, पर रानी के लिए बडे तथा थैलो की तरह के कमरे होते हैं। ●

शैक्षणिक साम्ययोगी परिवार के बढ़ते चरण

● सरला देवी

भूत काल प्राय आकर्षक होता है। जब युवक-युवतियाँ बचपन की याद करती हैं तो उन्हें बीते हुए दिनों के प्रति बडा मोह होता है। इसी प्रकार विचार करने पर कभी-कभी हमें लगता है कि आश्रम के शुरू के वर्षों में जो आनन्द आता था वह अब नहीं रहा इसीलिए उसमें फिर से लौटने की इच्छा होती है। खासकर टोलियों में जो सहज प्रेम और पारिवारिक भावना झलकती थी आजकल हम उसमें कमी लगती है इसलिए हमने निश्चय किया है कि अगले वर्ष हम नये प्रयोग के तौर पर पुराना तरीका फिर अपनायें। लड़कियाँ कक्षावार रहन के बजाय कमरों के टोलीवार ही रहेंगी—पूरी टोली मानो टोली की दीदी भी। एक साथ रहकर एक छोटे परिवार की तरह एक दूसरे के सुख-दुख और पारस्परिक विकास का ख्याल करती हुई रहेंगी ऐसी हमारी आशा है।

यद्यपि पिछले दिनों हमारे सम्पर्क और जिम्मेदारियों में काफी वृद्धि हुई किन्तु एक बात की कमी खटकती है। वह यह कि सामाजिक शिक्षा के माध्यम की वृद्धि के कारण गाँवों से लड़कियों का सम्पर्क कई वर्षों से घटता गया है, और अब बिलकुल नहीं रहा। इससे उन्हें ग्रामीण जीवन और आश्रम जीवन की तुलना तथा आश्रम के मूल्य और लक्ष्य समझने का अवसर कम मिलता है। अत हमने निश्चय किया है कि अगले साल से हम देहात में एक दो महिला शिविर फिर चलाने का प्रयास करेंगे। हर दूसरे शुक्रवार को (छुट्टी के दिन) एक एक टोली बारी बारी गाँव में जाकर सर्वेक्षण करेगी। सफाई, आरोग्य सेवा और खेल आदि के द्वारा बच्चों के साथ सम्पर्क स्थापित करेगी।

इस वर्ष हमारा उत्पादन अवश्य कुछ बढ़ गया है, लेकिन इच्छा होती है कि उत्पादन की रफ्तार और बढ़ायी जाय। उसमें शैक्षणिक दृष्टि भी आयें, ताकि कम समय में अधिक उत्पादन हो और पुस्तकीय अध्ययन के लिए भी अधिक समय बच सके। हम मान सकते हैं कि इस वर्ष औसतन कमाई एक आने प्रति घंटा से कम हुई है। यदि हम अपनी रफ्तार और दक्षता बढ़ा सकें, ताकि एक घंटे में लगभग दो आने की कमाई हो सके, तो आर्थिक दृष्टि से इसका भारत की वर्तमान परिस्थिति और आवश्यकता से मेल खायेगा और तब शायद दो घंटे के बदले हम बौद्धिक वर्ग के लिए तीन घंटे का समय दे पायेंगे।

इस वर्ष के अन्त में हम एक और नया प्रयोग कर रहे हैं। हर साल हम शिक्षक ही लड़कियों के प्रगति-विवरण भरते थे पर इस साल हम नहीं भर रहे हैं। हम प्रगति विवरण के कोरे फार्म भेजकर माता पिताओं से विनती कर रहे हैं कि वे ही उनको भरकर हमारे पास भेज दें, ताकि हम मालूम हो कि घर में लड़कियाँ कैसे रहती हैं। इस प्रकार हमारी भी समीक्षा हो।

मैं लड़कियों का ध्यान एक और बात की ओर खींचना चाहती हूँ। कभी कभी मुझे ऐसा लगता है कि साम्ययोग तथा समानता का सच्चा अर्थ क्या है, यह उन्हें पूरी तरह समझ में नहीं आया है। यों तो बड़ी लड़कियों के एक सम्मिलित वर्ग में उस पर काफी गहरी चर्चा और विचार विमर्श हुआ था लेकिन फिर भी कुछ बातों को सबके लिए दुहराने की आवश्यकता महसूस होती है।

समानता गणित से नहीं आंकी जा सकती। जैसे, मैं साम्ययोगी भोजनालय में हर महीने ५० रुपये तीन सदस्यों के खाने का खर्च जमा करती हूँ। मैं दिन भर दफ्तर तथा शैक्षणिक सैमासिों में लगी रहती हूँ, जिसमे कृषि के काम मे मेरी सबसे अधिक रुचि होते हुए भी, कभी-कभी ही एक दो घंटे बगीचे में काम कर पाती हूँ। दमयन्ती रोज चार चार घंटे श्रम करती है। वह अपने बाल-सुलभ स्वभाव और मधुर संगीत से हम सबको मुग्ध किये रहती है, जबकि मेरे कंठ की कौवे-जैसी आवाज सुनकर लोगों को भागने की इच्छा होती है, फिर भी यदि हम दोनों ने अपनी पूरी शक्ति से अपना अपना काम किया हो, तो साम्ययोगी परिवार मे हम दोनों ने बराबर हिस्सा दिया है, ऐसा मानना चाहिए।

इसी प्रकार इस परिवार में हरेक की भिन्न-भिन्न शक्ति, भिन्न भिन्न सम्भावना तथा कर्तव्य होते है। हमें यह आदत होनी चाहिए कि हम अपने को परखें कि क्या आज हमने अपने काम में अपना पूरा हिस्सा दिया है। साम्ययोगी परिवार मे कार्यकर्ता ७५ प्रतिशत नकद खर्च देते है, पढ़ाई और व्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी उठाते हैं। सारा समाज मिलकर २५ प्रतिशत खाने का खर्च उत्पन्न करता है। अत स्वभावत जब अर्थ और व्यवस्था का भार कार्यकर्ताओं पर है, तो श्रम की अधिक जिम्मेदारी लड़कियों पर आयेगी ही। जैसे जैसे ये आगे बढ़कर हमें दैनिक व्यवस्था से मुक्त करेंगी, वैसे-वैसे कार्यकर्ता भी अधिक श्रम करने का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। इसी में सही पारिवारिकता और समानता है।

मैं समानता के विचार में कभी कभी एक और दोष पाती हूँ। यो तो सबके साथ सभ्यता से बोलने की आदत पैदा होनी ही चाहिए, लेकिन पहाड के देहाती समाज में इस बात का काफी अभाव है। अत इस कमी को निकालना हमारी शिक्षा का एक आवश्यक अंग बन जाता है। अपने साथियों के साथ बोलने में कुछ निकटता का होना स्वाभाविक है, फिर भी अपने से बड़ो के साथ आदर और श्रद्धा से बोलना अत्यन्त आवश्यक है। बाह्य आदर और सभ्यता से श्रद्धा और अनुसरण शक्ति बढ़ जाती है। अपने से छोटे, अपनी बराबरी के और अपने से बड़ो से बोलने और बर्तने की पद्धति में अन्तर होता है। इसमें समानता का कोई आधार नहीं है, यह प्राकृतिक नियम है। उनका उल्लंघन करने में जीवन रुक्ष और क्षुद्र बन जाता है।

हम इन बातों को तथा इसी प्रकार की अन्य बातों को जब समझेंगी, तब धीरे-धीरे हम असली समानता और साम्ययोगी यानी भावनात्मक दिशा की ओर बढ़ सकेंगी।

वास्तव में यह हमारे सामने एक बहुत बड़ी चेतावनी है। शायद सारे भारत में और सारी दुनिया में एक शैक्षणिक साम्ययोगी परिवार बनाने का यह एक मात्र प्रथम प्रयोग है। विनोबाजी तथा अन्य मार्गदर्शक इसे काफी महत्व देते है। इसे सफल बनाना प्रत्येक सदस्या की जिम्मेदारी है। हमारा प्रयोग आर्थिक सन्दर्भ में तो कामयाब होना ही चाहिए, लेकिन मुख्य सवाल भावनात्मक है। वास्तव मे आध्यात्मिक दृष्टि से क्या हम एक दूसरी के निकट पहुँच रही है? एकरूपता अनुभव कर रही है? दरिद्रनारायण के साथ बढ़ती हुई सच्ची समानता का भान कर रही है?

भले ही हम 'ज्ञानदेव' की स्थिति में न पहुँच सकती हों, जिसमें किसी की भैंस को मारने पर उसके निशान उनकी पीठ पर दिखाई दिये, लेकिन साम्यवाद की अपेक्षा साम्ययोग की ओर बढ़ना चाहती है तो हमें सही एकता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना पड़ेगा।

यो तो, जैसाकि ऊपर उल्लेख हुआ है इन ६ महीनो में हमने खुराक में लगभग २५ प्रतिशत तथा वस्त्रों में लगभग ८० प्रतिशत स्वावलम्बन साधा, लेकिन आंकड़ो के अनुसार वर्ष के अन्त में, यानी आर्थिक वर्ष के इन छः महीनो में दैनिक उत्पादन प्रति व्यक्ति लगभग २५ नये पैसे रहा।

प्रतिभा के माने हैं—बुद्धि में नयी-नयी कोंपलें फूटते रहना। नयी कल्पना, नया उत्साह, नयी खोज, नयी स्फूर्ति, ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लम्बी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह दबकर मर जाती है। —*विनोबा*

अमेरिका में कमाई करके पढ़ाई

कृष्ण गुजराल

संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नगर है कार्लिनविल। वहाँ के ब्लैकबर्न नामक कालेज में कमाई करके पढ़ाई करने की योजना अपनायी गयी है। उसमें शिक्षा पानेवाले प्रत्येक छात्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सस्ती पढ़ाई हासिल करने के लिए प्रति सप्ताह १५ घंटे काम करेगा। वहाँ की पढ़ाई का खर्च इस प्रकार सामान्य शिक्षा की अपेक्षा आधे से भी कम पड़ता है।

छात्र अपने हाथों इमारतें बनाते हैं, दीवारों पर रंग पोतते हैं, नल और बिजली के तार लगाते हैं, खेती करते हैं, खाना बनाते हैं, भोजन परोसते हैं। वे जलपान गृह, पुस्तकों की बिक्री और कपड़ों की धुलाई की दुकानें चलाते हैं, क्लर्कों, पुस्तकालय-कर्मचारियों और सहायक शिक्षकों का काम भी करते हैं।

अपने कालेज का अधिकांश निर्माण-कार्य विद्यार्थियों ने स्वयं किया है। उन्होंने ही अपने हाथों ईंटें उठा-उठाकर उसकी चुनाई की है। उत्तरोत्तर विकासशील इस शिक्षा-संस्था की सुंदर इमारतें उन छात्रों के उत्साह और कार्यनिष्ठा का गौरवपूर्ण प्रतीक हैं।

ब्लैकबर्न की योजना अमेरिका में चिर काल से अपनायी जा रही उस प्रणाली का ही परिवर्द्धित रूप है, जिसके अधीन लाखों अमेरिकी छात्र और छात्राएँ अपनी शिक्षा-संस्था में अथवा निकटवर्ती किसी बस्ती में कोई अंशकालिक काम धन्धा करके कृषि विद्यालय की उपाधि प्राप्त करती हैं। दोनों में बुनियादी अन्तर इतना ही है कि रोजगार तलाश करने का श्रम विद्यार्थियों की भाग-दौड़ और सूझ-बूझ के भरोसे छोड़ने के बजाय, इस कालेज द्वारा छात्रों के लिए यह प्रबंध स्वयं किया जाता है।

और, ऐसा करके कालेज-द्वारा यह अमूल्य शिक्षा दी जाती है कि जो वस्तु उपादेय है, उसके लिए प्रयत्न और श्रम करना भी वांछनीय है। यहाँ हाथ से काम करने में कोई लज्जा नहीं अनुभव की जाती, क्योंकि हरेक एक न एक ऐसा काम करता है। इससे रहन-सहन की एक नयी पद्धति सामने आती है। इस पद्धति में हरेक छात्र का आर्थिक स्तर समान होता है और किसी को अपनी हैसियत ऊँची दिखलाने की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ किसी प्रकार की सामाजिक विषमता नहीं है।

कालेज ऐसे सम्मिलित कुटुम्ब या परिवार की तरह है, जिसमें हर व्यक्ति अपना घर बनाने और चलाने के लिए दूसरों से मिलकर काम करता है। इस गतिशील एवं प्राणवान सामुदायिक प्रयत्न के फलस्वरूप उच्च शिक्षा का आदर्श एक नये ही रूप में सामने आता है।

छात्रों को इस कालेज में ऐसा वातावरण उपलब्ध होता है, जो अन्यत्र किसी शिक्षा-संस्था में दिखायी नहीं देता। वे दूसरों के साथ मिलकर काम करना और दूसरों का ध्यान रखना सीखते हैं। वे अनुभव करते हैं कि इस शिक्षा-योजना में उनके अपने योगदान का कितना महत्व है। वे समझते हैं कि काम करने और एक विधि से काम करने का क्या अन्तर होता है।

इस कालेज में छात्रों का प्रवेश विशुद्ध शैक्षिक योग्यता के आधार पर होता है इसलिए अधिकांश छात्र व्यावसायिक दृष्टि से निपट अनभिज्ञ होते हैं, तथापि वे शीघ्र ही पुराने छात्रों से बहुत कुछ सीख जाते हैं। वे पुराने छात्र भी आने के समय ऐसे ही अनपढ़ थे और एक साल में दक्ष हो गये। धीरे धीरे नये छात्र व्याव-

[शेष पृष्ठ १९० पर]

समस्या कौन–

पालक

या बालक ?

•

शिरीष

बालक पाठशाला में पढ़ने आता है, तो अपने साथ सच्चाई, झूठ, फरेब, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, चोरी, सादगी, बनावट आदि अनेक प्रकार के गुणों और दोषों को लेकर आता है। ये मानसिक विकार बालक को अपने वातावरण से मिले रहते हैं। कोई बालक जन्मजात न सच्चा है, न झूठा, न चोर है, न ईमानदार।

प्राय देखा जाता है कि लाड-प्यार के कारण माँ-बाप बालक की इच्छाओं के आगे अपने को इतना झुका लेते हैं कि उसे मनमानी करने की छूट मिल जाती है और वह अपनी गलतियों का अनुभव नहीं कर पाता। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि माँ-बाप बालक के साथ इतनी कड़ाई बरतते हैं कि बच्चे का उन पर से विश्वास ही उठ जाता है। वह उद्धत और उच्छृंखल हो जाता है।

कुछ माताएँ व्यवस्था-पसन्द होती हैं। उनकी सफाई और साज-सँवार में बच्चे अपनी सहज जिज्ञासा के कारण उलट-पलट किया करते हैं। परिणामत बच्चों को माताओं की झिड़की सुननी पड़ती है और कभी-कभी मार भी पड़ जाती है। बच्चे रोकी गयी प्रक्रियाओं को लुक छिपकर करते ही हैं और डाँट-फटकार सुनते रहते हैं। फलत उनमें मनमानापन की भावना बढ़ती जाती है।

यह सच है कि अभिभावकों की इस कठोरता के पीछे कोई अशुभ विचार नहीं होता, बालक के कल्याण की भावना ही होती है, जैसी चीर फाड के समय डाक्टर के मन में होती है, किन्तु बालकों का मन ऐसा नहीं होता कि इसका उन्हें स्पष्ट बोध हो सके। किसी की प्रेरणा और अन्तर्निहित मनोभावों की उन्हें अनुभूति नहीं हो पाती। उनका ध्यान तो क्रिया और उसके परिणाम से ही प्रभावित रहता है। यही कारण है कि शुभकामना से किया गया कड़ा व्यवहार भी बालक के लिए सह्य नहीं होता, उसके कोमल मन-प्राण पर अच्छा असर नहीं डालता।

प्राय पालक बालक की जिज्ञासा-वृत्ति की उपेक्षा करते हैं और नकरात्मक आदेश देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। वे आशा रखते हैं कि बालक हमारी बातों और आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करे, लेकिन ऐसा कैसे सम्भव है? प्राय पालकों को ऐसी निषेधाज्ञा देते पाया गया है कि आज सूर्यग्रहण नहीं देखना। पालक की इस निषेध सूचक आज्ञा से बच्चे की प्रसुप्त जिज्ञासा स्फुरित हो उठती है और वह प्रतिक्षण सूर्यग्रहण की लुक-छिप कर आकुल प्रतीक्षा करता रहता है। अगर पालक ने बच्चे को ऐसा करते देख लिया तो फिर क्या कहना! पारा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है।

विचार करने पर मालूम होगा कि पालक की निषेधाज्ञा ही बच्चे को सूर्यग्रहण न देखने के लिए पर्याप्त नहीं है। होना यह चाहिए कि पालक पहले बच्चे को, सूर्यग्रहण देखने से आँख पर क्या कुप्रभाव पड़ता है, कभी-कभी आदमी सारे जीवन के लिए अन्धा तक बन जाता है, ऐसा समझायें और बतायें कि इसे देखने का एक ऐसा उपाय है, जिससे सूर्यग्रहण देखा भी जा सकता है और आँखों की सम्भावित हानि से भी बचाया जा सकता है। बच्चे की जिज्ञासा इस बात में सजग हो जायेगी और वह सूर्यग्रहण देखने का सहज ढंग सीखना चाहेगा। अगर पालक उसे बतायें कि पानी में काले शीशे से देखने पर आँखों को नुकसान होने का भय नहीं रहता तो बालक खुशी-खुशी पालक की बात मान जायेगा। वह पालक के आदेश की अवहेलना नहीं करेगा, किन्तु ऐसे कितने पालक हैं, जो अपने बच्चों की जिज्ञासा का ध्यान रखते हैं!

आज आदमी की आशाएँ, अपेक्षाएँ और आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। यह है आज के विज्ञान प्रधान युग की विशेष देन। इसके विरुद्ध सामान्य मनुष्य की आर्थिक उपलब्धियों को यह विज्ञान उसी क्रम से छीनता जा रहा है। परिणामत आज का मनुष्य अन्तर्द्वन्द्व का शिकार बन रहा है। उसकी कुंठाएँ उसे चैन की साँस नहीं लेने देती, परिवारों की सुख शान्ति छिनती जा रही है। माँ-बाप, भाई-बहन, चाचा-भतीजे का झगड़ा चलता रहता है। ऐसे कलह भरे विषाक्त वातावरण मे पलनेवाला बालक निश्चय ही मानसिक विकारो का शिकार होगा। ऐसी परिस्थिति में पालित बच्चे अपने माँ-बाप के आचरण को अपना आदर्श नही बना पाते लेकिन अनजाने उनके व्यवहार का अशत अनुकरण तो करते ही हैं।

ऐसे बच्चे भय के कारण माँ-बाप के सामने अत्यन्त शिष्ट व्यवहार करते देखे जाते है, किन्तु उनके मन में विद्रोह की भयानक ज्वाला सदैव सुलगती रहती है। होता यह है कि ये बच्चे जब बड़े हो जाते हैं, तो भय से पैदा की गयी उनकी शिष्टता की खोल उतर जाती है, और वे अशिष्ट बन जाते हैं। माँ-बाप अपने भाग्य को कोसते है, लेकिन उन्हें पता नही होता कि यह सारी अशिष्टताएँ उन्ही की सिखाई हुई है, उन्ही की अज्ञानता भरी देन है।

कुछ ऐसे माँ-बाप भी देखे गये हैं, जो अस्थिर चित्त होते हैं, जिससे वे उचित-अनुचित का शीघ्र निर्णय नही ले पाते। ऐसी दशा में होता यह है कि ऐसे पालक अपने बच्चे से किसी काम या व्यवहार के प्रति एक दिन बड़ी सख्ती और कठोरता से व्यवहार करते हैं, लेकिन दूसरे ही दिन उसी काम की ओर आँख उठाकर देखते भी नही। बालक के लिए माँ बाप का ऐसा दुविधा जनक व्यवहार बड़ा ही खतरनाक साबित होता है, बच्चा शकालु हो जाता है।

आगे चलकर, ऐसा ही बच्चा बात-बात पर रोनेवाला, खीझने वाला या अपनापन का भाव दिखाने वाला हो जाता है। कुछ और बड़ा होने पर जब बच्चे को माँ-बाप की इस मानसिक कमजोरी का ज्ञान हो जाता है तो वह रोकर, रूठकर अपनी बात मनवाने के लिए उन्हें विवश करने लगता है और होता यह है कि ऐसे बच्चे आगे चलकर जिद्दी ही नहीं, कठोर स्वभाव के हो जाते है। उनकी हृदय-हीनता विकसित हो जाती है और सहानुभूति के अंकुर सूख जाते हैं, और वे समाज के लिए समस्या बन जाते हैं।

बच्चा स्वभावत डरपोक नही होता, लेकिन माँ-बाप उसे अपनी नाजानकारी-वश डरपोक बनाते हैं। जब बच्चा पुलिसमैन की विशिष्ट पोशाक देखकर उसके बारे मे जानने की इच्छा प्रकट करता है तो उसे बताया जाता है—यह आदमी को पकड़ता है, थाने में ले जाकर बन्द कर देता है, जो लड़का रोता है, उसे भी पकड़ ले जाता है। फिर तो लड़का माँ-बाप की गोद में जाकर शरण लेता है और उन्हें रोते हुए बच्चे को चुप करारने के लिए 'पुलिसमैन' का महामत्र मिल जाता है। होता यह है कि ऐसे बच्चे बड़े होने पर भी 'पुलिसमैन' को हौवा समझते रहते हैं। उनके मन से भय का भूत कदापि निकल नही पाता। उनके जीवन की यह कमजोरी बन जाता है, जो उनके विकास में कदम कदम पर बाधक बनता है।

प्राय बच्चो की आवश्यकताओ का सही ढग से ध्यान नही रखा जाता, बल्कि उन पर अनावश्यक प्रतिबन्ध लादे जाते है, जिससे वे जेब से पैसे निकालना सीख लेते हैं और ऐसे ही बच्चे आगे चलकर 'चोरी' जैसी कुवृत्ति के चगुल में फँस जाते हैं, जिससे छुटकारा मिलना उनके लिए कठिन बन जाता है। इसी प्रकार की और बुराइयाँ भी माँ-बाप की उपेक्षा, अनवधानता और कुछ हद तक उनकी मजबूरियो के कारण बच्चो में पैदा हो जाती हैं।

शिक्षक का कठिन कार्य

ऐसे विभिन्न वातावरण से विभिन्न रुचियो, आदतो और स्वभावोवाले बच्चो का शिक्षक से साबका पड़ता है और वह भी एक साथ ही ३०–३०, ४०–४० और ५०–५० से। कितना कठिन कार्य है शिक्षक का! क्या एक ही सा व्यवहार करके कोई शिक्षक शिक्षण-कार्य में सफल हो सकता है या एक साथ अनेक समस्याओवाले बच्चो के साथ न्याय कर सकता है? ऐसा करना आज की स्थिति में सम्भव नही है। फिर शिक्षक क्या करे? यह आज का जीवित प्रश्न है।

[शेषाश पृष्ठ १८५ पर]

प्यार की चोट

•

विजयबहादुर

सन् '५६ की जुलाई समाप्त हो चुकी थी। मैं लखनऊ में था। इसके पहले मिशन एल० टी० कालेज गोरखपुर की ट्रेनिंग को निस्सार पाकर बीच में ही छोड़ चुका था, क्योंकि जिस जीवन की ओर मैं उन्मुख होना चाहता था वह वहाँ नहीं मिल रहा था। सोचा कि बेसिक एल० टी० करना चाहिए। फलस्वरूप मैं अब गवर्नमेंट बेसिक एल० टी० ट्रेनिंग कालेज का विद्यार्थी था।

१० अगस्त। हमलोग कालेज के हास्टल में ऐसे बेतरह ठूँस दिये गये थे—जैसे, छोटे-से बक्स में बेशुमार कपड़े। मजाल क्या कि कोई चूँ-चपड़ कर सके, क्योंकि यहाँ तो 'जी हुजूर' 'यस सर' की ही ट्रेनिंग होनेवाली थी, पर हास्टेल के उसी कबूतरखाने में एक कमरा था, बिल्कुल साफ-सुथरा, कुछ बड़ा भी। उसमें रहनेवाले छात्राध्यापक भी साफ-सुथरे भले आदमी-से, बड़ी मीठी बोली बोलते, और थे भी बड़े शिष्ट व्यवहार के। मुझे उन्हें देखकर थोड़ी ईर्ष्या हुई कि यह भला आदमी इस सुन्दर कमरे में इतने सुन्दर ढंग से क्या और कैसे रहता है।

धीरे धीरे हम दोनों का स्नेह बढ़ता गया और हमने तय किया कि दोनों एक ही कमरे में साथ रहें। उसी साफ-सुथरे बड़े-से कमरे में और वही भला आदमी होगा मेरा पार्टनर। मेरा मन खुशी से नाच उठा।

मैंने अपना विचार दो-चार साथियों से व्यक्त किया। सब, जो उस कालेज-जीवन का मुझसे ज्यादा अनुभव पा चुके थे उन्होंने साग्रह कहा—'उस कमरे में मत जाओ, वह आदमी तो चोर है।' कितना सामान, कितने रुपये कैसे उड़ा चुका है, इसकी कहानियाँ भी गढ़-छोलकर मेरे सामने रखी गयीं। मैं स्तब्ध हो गया। मन गहरी टीस से भर गया। आकर्षक व्यक्तित्व और साफ-सुथरे कमरे में व्यवस्थित ढंग से रहनेवाला आदमी और चोरी! मानस-पटल पर यही सवाल बार-बार उमड़ आता था बार-बार, और दिल को कुरेदता था समाधान पाने के लिए।

उस रात मुझे नींद न आयी, विचारों के तन्तुओं को सुलझाता रहा। टन्-टन-टन्। अरे, यह तो बारह बज गया और तभी उस रात के गहन अंधकार में हृदय के कोने में झाँक कर देखा तो करुणा सिसक रही थी—क्या यों ही एकाकी छोड़ दोगे इस आकर्षक व्यक्तित्ववाले भले आदमी को! चोर का घृणित जीवन बिताने के लिए!!

अन्तर-मन से एक निश्चय प्रकट हुआ—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैं तो उसके साथ रहूँगा ही। तर्क ने सहमति प्रकट की। आखिर है तो आदमी और यदि जरूरत नागहानी १००, ५० उड़ा ही लिया तो तुम्हारा क्या बिगड़नेवाला है! क्या तुम्हें पैसे का रोग है!

बस, दूसरे दिन वर्ग की घंटी बजने के पहले हम दोनों 'रूम-पार्टनर' बन चुके थे।

एक दिन कालेज की हरी भरी लान पर हम-लोग लेजर' का आनन्द ले रहे थे। 'क्या रंग हैं तुम्हारे पार्टनर के ?''—ठाकुर ने पूछा।

"सब ठीक है।"—छोटा-सा उत्तर देकर मैंने चर्चा का प्रसग ही बदल दिया।

इस प्रकार इक्के-दुक्के साथी पूछते रहे और उन्हें उनकी आशा के विपरीत सदा उत्तर मिलता रहा।

हम दोनो का स्नेह बढता ही गया। एक दूसरे की सुख-सुविधा के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने को हम तैयार रहते थे। इस बीच मैंने एक बात नोट कर ली थी। वह यह कि मेरे 'पार्टनर' का खर्च बहुत ज्यादा है, जबकि पैसे मिलने के साधन बहुत कम। मैं मेज की दराज में एक रुपये तक की रेजगी अन्यमनस्क भाव से रख देता था। उसमें से धीरे धीरे दो आना, चार आना गायब होना शुरू हो गया। मुझे बडी प्रसन्नता हुई। ऐसी प्रसन्नता जैसे डाक्टर को रोगी का 'सिमटम' मिल जाने से होता है या शिकारी को शिकार की आहट से।

अब मैं अपने अधिक रुपये तो अपने मित्र डाक्टर के यहाँ रखने लगा, पर एक-दो रुपये अपने बक्स में छोडकर उसे खुला ही छोडने लगा। उनमें से कुछ-न-कुछ नित्य गायब हो जाता था। अगल-बगल के कमरो से भी पैसे और सामान गायब हो जाते थे और सबका सन्देह मेरे पार्टनर पर ही था। मैं रात दिन सोचा करता था कि इस भले आदमी के इस मानसिक रोग का उपचार कैसे किया जाय!

मैंने अपने प्रेम-व्यवहार को और भी मीठा बनाया। पार्टनर के कपडे तह करना बिस्तर ठीक करना, जल पान की सुविधा रखना आदि मेरा प्रतिदिन का नियमित कार्यक्रम हो गया, जिसका बदला मेरा साथी दूना करके लौटाता था। इसी बीच वह बीमार पडा। मैंने जान की बाजी लगा दी उसकी सेवा-शुश्रूषा में।

महीने पर महीने बीतते गये और अबतक मैं अपने मरीज की 'चिकित्सा' में ५० रु० फेंक चुका था। कितना मजा आता था उस मदारी और साँप के खेल में!

'कहो क्या हाल है?'—एक साथी ने पूछा—'तुम तो उससे ऐसे घुलमिल गये हो जैसे दूध में पानी पर वह तो हम लोगो के साथ अपनी हरकत से बाज नही आता।'

'अभी तो पचास ही रुपये फीस दी है। इतनी कम फीस देकर इतना बडा रोग कैसे अच्छा होगा?"

"अच्छा नही साफ होगा। तुम भी सनकी ही हो।"—साथी बोल उठा।

एक दिन ठाकुर लपकता हुआ आया। उसने कहा—' विजय तुम्हें मालूम है, प्रमोद के ५३ रुपये गायब हो गये।"

मैं सन्न रह गया और एक अज्ञात भय से मन काँप उठा कि कही मेरा पार्टनर मुसीबत में न फँसे, तो भी धैर्य रखकर पूछा—"कब, कैसे?"

"अरे आज ही तो उसके घर से १५० रुपये आये थे। बक्स से निकालकर मेज पर रखा, घडी लेने जा रहा था। इतने में दूध लेने की घटी बजी, जरा-सी देर के लिए वह दरवाजा भीड कर बाहर गया और आकर देखता है कि उनमें से ५३ रुपये गायब है। पूरे दस-दस के पाँच और तीन एक एक के।"

दिन भर इन्ही रुपयो की चर्चा साथियो के बीच होती रही। सभी का सन्देह पार्टनर पर ही था।

उसी रात, हम दोनों कमरा बन्द किये सोये थे कि एक बजे दरवाजा खटखटाने की आवाज आयी। उठकर किवाड खोला। देखता हूँ कि पाँच साथी खडे हैं।

"आज तुम्हारी एक भी न सुनूँगा।"—ठाकुर ने दृढता के स्वर में कहा, और उसने मेरे पार्टनर को उठाया। उसे पकडकर व एकान्त कमरे में ले गये। मैं भी पीछे-पीछे गया। हम साता बैठ गये। कमरा अन्दर से बन्द कर लिया गया।

अब पार्टनर पर गालियों की बौछार पडने लगी। किसी के हाथ में रोल तो किसी के हाथ में चाकू।

"यदि नही कबूलते हो तो समझ लो तुम्हारी जान खतरे में है। यही गोमती तुम्हारा आश्रय बनेगी।"—छुरा निकालते हुए प्रमोद बोला। दूसरे ने रोल उठाया। पार्टनर थर-थर काँप रहा था। मैं स्तब्ध था, पर सोच रहा था कि मेरे जीते-जी ये लोग इसका कुछ भी नहीं बिगाड सकते।

पार्टनर ने ५३ रुपये कबूल कर लिये। उसमें से २० खर्च हो चुके थे, और बाकी लाकर उसने लौटा दिये।

'विजय का कितना रुपया अभी तक लिया होगा?"

'यही चालीस-पैंतालीस।"

इस प्रकार पूरी रकम की वसूलियत हुई और कुल मिलाकर ७३ रुपये वह मार चुका था। उसने वादा किया कि सब रुपये घर से मँगा कर या अपने वजीफे से धीरे-धीरे लौटा दूँगा। मैं जामिन पड़ा तब उसकी जान छूटी।

अपना वही साफ-सुथरा कमरा। हम दोनों के सिवाय तीसरा कोई नहीं। दरवाजा बन्द था। वह फफक-फफककर रोने लगा। मेरी आँखें भी भर आयी थीं। घंटों गुजर गये। मैंने उसे गले लगाकर कहा—"मेरे रुपये तुम्हें नहीं लौटाने हैं, और बाकी का प्रबन्ध हम दोनों करेंगे। तुम्हें अकेले चिन्ता करने की जरूरत नहीं।"

अब तो पार्टनर हमारी गोद में लुढ़ककर और भी जोर-जोर से सिसकियाँ भरने लगा। मैं उसका सिर सहलाता रहा और आँसू पोंछता रहा।

एकाएक मेरे मुँह से निकला—"आखिर तुम ऐसा करते क्यों हो? अभी तीन वर्ष तक मास्टरी करके पैसा कमाया है, घर के भी मजे के हो, आगे भी नौकरी रखी हुई है ही, अभी यदि जरूरत है तो मुझसे कर्ज ले सकते हो। मनुष्य का आचारण तो मुख्य है न।" यह पहला अवसर था इन पाँच महीनों में जब मैंने उसके आचरण के विषय में कुछ कहा।

वह थोड़ी देर शान्त रहा, फिर मेरी ओर स्थिर भाव से देखकर बोला—"अब अधिक मत मारो, आदत से मजबूर था, पर अब पूरा सचेत हो चुका हूँ, अब ऐसा नहीं हो सकता। रह गयी रुपयों की बात, वह तो ट्यूशन से पटा दूँगा। यह सब तुम्हारे प्यार की चोट का परिणाम है, अन्यथा लाठी-बल्लम तो मैंने बहुत देखे थे।"

मैंने उसके हाथ चूम लिये।●

[पृष्ठ १८२ का शेषांश]

यद्यपि शिक्षक प्रत्येक बालक पर उचित ध्यान नहीं दे सकता, फिर भी अगर वह सजगता से काम ले तो आज की बालकों सम्बन्धी असंख्य समस्याएँ वह आसानी से सुलझा सकता है। शिक्षक के लिए जरूरी होता है कि वह सबसे पहले प्रत्येक बालक के वातावरण का सही ज्ञान हासिल करे। वातारण की पूरी जानकारी हो जाने पर उसे बालक की हर क्रिया का सही मूल्यांकन करने में सहूलियत हो जायेगी। इसके लिए आवश्यक होगा कि शिक्षक के व्यक्तित्व में यह विशेषता हो कि लोगों का उसके प्रति विश्वास हो, ताकि उसे सही बातों की जानकारी देने में किसी को संकोच न हो।

बालकों के दोषों के कारणों की खोज और उनके परिहार के लिए शिक्षक के पास सबसे बड़ा अस्त्र है उसका माँ-जैसा सहज स्नेह, जिसके आगे बच्चा हर-सच्चाई बिना किसी हिचक के कबूल कर लेता है। सतर्क शिक्षक की पैनी आँखें बालक के एक-एक व्यवहार का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर सकती हैं और उसके निराकरण के लिए अनुरूप व्यवहार। सहानुभूति और *सहनशीलता से समझा-बुझाकर कुशल शिक्षक बच्चों के* मनोविकारों को दूर कर सकता है।

इसके लिए जरूरी है कि शिक्षक अपनी शिक्षण-विधि को सरल सहज और रुचिकर बनाये, जिससे बच्चों का मन रम सके। उद्योगों के जरिये यह काम सहज हो जाता है, लेकिन शिक्षक को सतर्क रहने की आवश्यकता है। ये उद्योग बच्चों के मन पर भार बनने-वाले नहीं होने चाहिएँ, बल्कि सहज रूप में, खेल समझ कर किये जानेवाले होने चाहिएँ और चतुर शिक्षक के लिए यह कठिन नहीं है।●

विद्यार्थियों के लिए गुरु देवता है और गुरु के लिए शिष्य देवता है। विद्यार्थियों को गुरु से जो ज्ञान मिलेगा, वह सर्वस्व होगा और गुरुसेवा ही उनके लिए सर्वस्व होगी। शिक्षकों के लिए विद्यार्थियों को ज्ञान देना और उनकी चिन्ता करना, यही सर्वस्व होगा। —विनोबा

बुनियादी शिक्षा की प्रगति

•

शम्सुद्दीन

मध्यप्रदेश के शैक्षणिक क्षेत्र की उर्वरा भूमि में बुनियादी शिक्षा के मूल तत्वों से निहित शिक्षण-प्रवृत्ति का प्रथम बीजारोपण सन् १९३९ में, पुराने मध्यप्रान्त में हुआ। उस समय 'विद्या मन्दिर' संस्थाओं के रूप में बुनियादी शिक्षा के नवीन प्रयोग का प्रारम्भ हुआ, जिसका श्रीगणेश करने का श्रेय भूतपूर्व मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल को है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सन् १९५१ से मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश तथा भोपाल में भी इस दिशा में कार्य प्रारम्भ हुआ। आज महाकौशल, मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश व भोपाल की चार इकाइयों से युक्त नवीन व्यापक मध्यप्रदेश में, जिस बुनियादी शिक्षा का प्रयोग व विस्तार किया जा रहा है, उसे सन् १९३९ के बीजारोपण का ही पल्लवित रूप कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

विकास के चरण

मध्यप्रदेश शासन ने शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन करने का बीड़ा उठाया है और वह इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील है। आरम्भ में बुनियादी शिक्षा-प्रणाली प्राथमिक शालाओं में ही प्रारम्भ की गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस प्रदेश में ८० बुनियादी प्राथमिक शालाएँ प्रारम्भ हुईं तथा करीब १२४५ प्राथमिक शालाओं को बुनियादी शालाओं में परिवर्तित किया गया। वर्तमान समय में सब मिलाकर १९२९ बुनियादी प्राथमिक शालाएँ इस प्रदेश में है, किन्तु साधारण प्राथमिक शालाओं को देखते हुए इनकी संख्या कम ही है। इनमें साज-सज्जा तथा दूसरे उपकरणों के लिए धन की विशेष आवश्यकता होती है, जिसे सरकार धीरे-धीरे अनुदान देकर पूरा कर रही है।

बुनियादी शिक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों के ज्ञान का समावेश किया जाता है—१—मूलोद्योग, जैसे-कृषि, कताई-बुनाई, बागवानी, लकड़ी-चमड़े व बेत का काम, हस्तकला इत्यादि, २—मातृभाषा का ज्ञान, ३—समवाय-प्रणाली द्वारा अन्य विषयों का ज्ञान, ४—नागरिक व सांस्कृतिक जीवन की शिक्षा, ५—शारीरिक व नैतिक शिक्षा।

इन सब के पीछे निहित भावना व उद्देश्य यही है कि बालक क्रियामूलक शिक्षा के साथ-साथ अपना शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सांस्कृतिक विकास करते हुए समाज और राष्ट्र का योग्य व उपयोगी नागरिक बन सके। ऐसा व्यक्ति ही प्रजातंत्रीय राज्य का उचित व योग्य घटक बन सकता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए मध्यप्रदेश की पूर्व-माध्यमिक व माध्यमिक शालाओं के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन किया गया है। इसमें भी मातृभाषा के साथ-साथ भाषाओं का ज्ञान, मूलोद्योग, छात्रों की रुचि व योग्यतानुसार अनेक कला व विज्ञान के विषयों का समावेश, शारीरिक व नैतिक शिक्षण तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर जोर दिया गया है।

प्रशिक्षण विद्यालय

बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में सफलता-प्राप्ति के लिए पहली आवश्यकता यह है कि इसके शिक्षकों के प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था हो। अभी तक प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए साधारण प्रशिक्षण-शालाएँ या नार्मल स्कूल तथा माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के लिए साधारण प्रशिक्षण-विद्यालय ही थे। मध्यप्रदेश-सरकार बुनियादी शिक्षा के आधार पर प्रशिक्षण

देने के ध्येय से इनमें परिवर्तन कर रही है तथा कई नयी बुनियादी प्रशिक्षण-शालाएँ व विद्यालय खोलने जा रही है।

वर्तमान समय में नये मध्यप्रदेश में कुल १०९ बुनियादी प्रशिक्षण-शालाएँ है, जिनमें प्रति वर्ष १५२४० प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं। चूँकि ये शिक्षक अधिकांशत ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर काम करते हैं, इसलिए इनका प्रशिक्षण इनके कार्यक्षेत्र व वातावरण के अनुरूप ही रखा गया है। इस प्रकार इनके शिक्षाक्रम मे कृषि, ग्रामीण समस्याएँ व उनका समाधान, प्रचलित ग्रामोद्योग इत्यादि रखे गये हैं।

प्रशिक्षण शालाओ मे अध्यापन-पद्धति के ज्ञान के साथ-साथ शिक्षकों के स्वस्थ सामाजिक व नागरिक जीवन पर अधिक जोर दिया जाता हैं। यहाँ जाति-वर्ग-भेद छुआछूत, अन्धविश्वास आदि सकुचित भावनाओ से दूर एक उदार, सभ्य व व्यापक जीवन का अभ्यास कराया जाता है। उनका दैनिक कार्यक्रम उन्हें प्रात ५ बजे से रात्रि के ९॥ बजे तक व्यस्त रखता है तथा इसके अन्तर्गत वे प्रार्थना, व्यायाम, सामूहिक कताई, कृषि, सफाई, भोजनालय का कार्य, समाचार-पत्र-वाचन, स्वाध्याय इत्यादि कार्य करते है। इसके सिवाय अवकाश के दिनो में शिक्षक श्रमदान, भूदान-यात्रा, गन्दी बस्तियो की सफाई, शैक्षणिक पर्यटन आदि कार्यक्रमो का आयोजन करते है। स्त्रियो के प्रशिक्षण के लिए अलग प्रशिक्षण-शालाएँ होती है, जिनमें गृह-उद्योगो पर अधिक जोर दिया जाता है।

प्रशिक्षण-शालाओ मे काम करने वाले स्नातक शिक्षकों तथा प्राथमिक शालाओ के निरीक्षकों के प्रशिक्षण के लिए 'स्नातकोत्तर-बुनियादी प्रशिक्षण—महाविद्यालयो' की आवश्यकता होती है। यहाँ ऐसे ११ महाविद्यालय है। इनमे पुरुषो और स्त्रियो को एक साथ प्रशिक्षण दिया जाता है। इनसे निकलनेवाले स्नातक-प्रशिक्षितो की सख्या अभी करीब १२५० ही है। महाविद्यालयो में भी मूलोद्योग व स्वावलम्बन, अध्यापन-प्रशिक्षण, समाज-सेवा, स्वच्छ जीवन का अभ्यास तथा सास्कृतिक एव कलात्मक जीवन पर जोर दिया जाता है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बुनियादी शिक्षा के प्रसार व प्रगति का विशेष लक्ष्य रखा गया था। इसके लिए ३८४०७६ लाख रुपयो का प्रावधान था तथा योजना के अन्तर्गत शिक्षको के प्रशिक्षण, प्राथमिक शालाओ को बुनियादी शालाओं में परिवर्तन, नयी बुनियादी शालाओं की स्थापना, शिक्षको के वेतन-स्तर में वृद्धि तथा बुनियादी शालाओ के लिए भवन-निर्माण व उनकी साज-सज्जा के उपकरणो की व्यवस्था थी। इस प्रकार हम देखते है कि बुनियादी शिक्षा की मध्यप्रदेश में दिनोदिन प्रगति हो रही है तथा शासन इसमें विशेष उत्साह व रुचि ले रहा है।

प्रगति में बाधा क्यों?

इतना सब होते हुए भी यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि अभी सर्व साधारण में बुनियादी शिक्षा के प्रति उतना लगाव व अपनापन नही आया है, जितना चाहिए। बुनियादी-गैरबुनियादी शालाओं के बीच एक खाई-सी निर्माण हो गयी है, जिसके कारण बुनियादी शिक्षा की प्रगति मे बाधा आ जाती है। सम्भवत इसका एक कारण यह है कि लोग अभी इसकी मूल विचार धारा व उपयोगी परिणामो से पूर्ण परिचित नही हुए है। वे अब भी वर्षो से चली आती पुरानी विषय प्रधान शिक्षा के आकर्षण मे फँसे है। इसके लिए आवश्यक है कि सर्व साधारण को साहित्य-प्रकाशन, प्रदर्शन व सम्मेलनो आदि के माध्यम द्वारा इससे परिचित कराया जाय। इसी प्रकार बुनियादी व गैरबुनियादी शालाओ के बीच सामजस्य व सहयोग स्थापित कराने के लिए प्रान्तीय व अन्तर प्रान्तीय स्तर पर बुनियादी शिक्षा के 'सेमिनारो' का आयोजन किया जाय, जिनमें शिक्षा के स्वरूप का दिग्दर्शन व विचार-विमर्श हो सके।

मैंने शिक्षा के प्रयोग करके देखे हैं। मैं शिक्षक हूँ। यह काम करते-करते मुझे ऐसा लगा कि जिस जाति के शिक्षक पुरुषत्व खो बैठे हैं, वह जाति कभी उठ नहीं सकती। —म० गांधी

पूर्ण भिक्षु

तीसरा पहर बीत चुका था। संघ के सभी भिक्षु भिक्षान्न से भरी अपनी-अपनी झोलियाँ लेकर लौट चुके थे। केवल एक तरुण भिक्षु अजितकाम अभी तक नहीं लौटा था।

नियमित प्रतीक्षा की अवधि पूरी करके संघ नायक उपगुरु के आदेश से सभी भिक्षु भोजनशाला में आ बैठे। वे भोजन कर उठ ही रहे थे कि अजितकाम ने प्रवेश किया।

उसकी झोली रीती थी।

उपगुरु की प्रश्नभरी दृष्टि का अजितकाम ने उत्तर दिया—"भिक्षा मैंने ली थी, थोड़ी, केवल अपनी उदर पूर्ति भर के लिए। तदनन्तर कुछ नगरजनों के साथ धर्म चर्चा में लग गया। बीच में समय हो जाने पर मैंने वह भोजन प्रसाद पा लिया। वार्ता से निवृत्त होने पर अब यहाँ आया हूँ।"

सभी भिक्षुओं की कुतूहल तिरस्कार भरी आँखें अजितकाम के मुख पर जा अड़ीं। अजित का यह कार्य नियम विरुद्ध ही नहीं, उसकी संकुचित स्वार्थवृत्ति का सूचक भी था।

"तुमने संघ की मर्यादा का उल्लंघन किया है अजित, हम तुम्हें अब अपने बीच नहीं रख सकेंगे।"—उपगुरु के स्वर में तीव्रता का पुट था।

उपगुरु के आदेश पर सभी भिक्षु प्रवचन शाला में एकत्र हुए।

"अजितकाम को विदा देने के लिए ही हम इस समय यहाँ एकत्र हुए हैं।"—उपगुरु का स्वर अत्यन्त कोमल और विनीत था—"बहिष्कार की भावना के साथ नहीं, प्रत्युत अपनी नवोदित आन्तरिक श्रद्धा एवं सम्मान भावना की अंजलि लेकर। अजित बन्धु ने आज हमारे 'धम्मसंघ' की अनुगति श्रेणी से उत्तीर्ण होकर अग्रगति श्रेणी में प्रवेश किया है। जो वर्ग के लिए-दूसरों के लिए माँगता है वह अनुग, अपूर्ण भिक्षु है, जो केवल अपने ही लिए माँगता है वही परम लोक-साधक पूर्ण भिक्षु है। अजित बन्धु का भिक्षु पद का कार्य आज से प्रारम्भ हुआ है और वह अब इस संघ का अंग नहीं यह संघ ही उसका अंग है।"

रावी

सेवा के माध्यम

•

केश्वर प्रसाद

अभी-अभी कताई करने बैठा ही था कि एक सज्जन धीरे-धीरे आवाज देते हुए मेरे कमरे के अन्दर आ गये। हमारी निगाह उन पर पड़ी। वे गांव के एक कर्मठ व्यक्ति हैं। मैंने उन्हें उठकर अपने पास बैठाया। मैंने अपनी कताई जारी रखी। चरखा चलाते-चलाते उनसे बातचीत होने लगी। उन्होंने धीरे से कहा कि मैं आज आपको बुलाने आया हूँ। आपको गांववालों ने धान रोपने के लिए बुलाया है। आज ही १२ बजे चल सकें तो अच्छा होगा। मैंने जाना स्वीकार कर लिया। वे चले गये।

एक समय था, जब उनके गांव में मैं ग्राम इकाई-निर्माण हेतु प्राथमिक आमसभा करने गया था तो उन्होंने सभा नहीं होने दी थी, तब सभी युवक एवं गांव के अन्य लोगों ने एक स्वर से ग्रामइकाई-योजना का विरोध किया था और कहा था कि इस गांव में सर्वोदय का कुछ काम नहीं होगा। आप लोगों का काम हमलोगों को पसन्द नहीं है। इस गांव में परिश्रम करना बेकार है। निराश होकर मैं गांव से लौट आया था।

१२ बजे मैं उस गांव के लिए चला। मैं बराबर गांव में जाया करता हूँ इसलिए गांव का बच्चा-बच्चा मुझे पहचान गया है। नदी पार करने पर गांव के लोग मिलने लगे। गांव के लोगों से इतना परिचय हो गया है कि दिल खोलकर मुझसे बातें करते हैं। मैं सीधे रास्ता पकड़े चला जा रहा था, परन्तु कुछ लोगों ने मुझे बुलाया और गांव के आपसी झगड़, खेती, शिक्षा आदि की चर्चा शुरू कर दी। कइयों ने बताया कि अब जापानी ढंग से धान रोपना सीख जायेंगे। कहने लगे कि आप कई दिनों के बाद आये हैं। मैंने प्रेमपूर्वक कहा कि भाई, आपकी पंचायत में ६ गांव पड़ते हैं तो आपके गांव में छठे दिन आना चाहिए। जब आपलोग कोई ठोस काम शुरू करेंगे तो मैं जल्दी-जल्दी आया करूंगा। लोगों ने कहा कि हमलोग कौन काम करें, पता नहीं चलता। गांव के सब लोग मिलकर काम करें तभी तो कोई ठोस काम हो सकेगा। मैंने कहा कि सब मिलकर सर्वसम्मति से कोई काम करेंगे तभी कोई अच्छा काम होगा।

चर्चा में घंटों लग गये। अगर वहां बैठना नहीं तो लोगों के मन में दुख होता कि कहने के बाद भी बैठते नहीं। वे तो प्रेमवश ही हमें बैठाते हैं।

मैं वहां से फुरसत पाकर पुस्तकालय आया। वह अच्छे ढंग से चल रहा है। युवकों का अच्छा संगठन हो गया है। बैठकें बराबर होती रहती हैं। युवकों के बीच ताश खेलने की प्रथा है। इसे बूढ़े लोग बुरा मानते हैं। मैं पुस्तकालय-जैसे सार्वजनिक काम में बझाकर इस ताश की आदत से छुटकारा दिलाने की चेष्टा में लगा हूँ। गांव में युवकों के जबर्दस्त संगठन के कारण गांव में हर उत्सव और राष्ट्रीय त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। १५ अगस्त ४ बजे सुबह गांव में प्रभात-फेरी हुई। ५ बजे से ७ बजे तक गांव में सामूहिक सफाई, ८ बजे झंडा फहराने का कार्यक्रम चला, २ बजे आम सभा, ४ बजे खेल कूद का कार्यक्रम चला।

६ कट्ठे धान की रोपाई हुई। धान रोपने के बाद स्कूल में गया। स्कूल के शिक्षकों से बातचीत हुई, लेकिन दिल खोलकर नहीं। ऐसा पता चला कि गांववालों के मन में हमारे लिए शंका है। विशेष बातें नहीं हुई। मैं वापस चला आया।

दूसरे दिन उसी गाँव में गया । गाँववालों ने बताया कि हमलोगों ने आपके निवास के लिए एक स्थान ठीक किया है । मैंने दोनों स्थानों को देखा । बाद में तय करने की बात कहकर चला आया ।

.. गाँव गया । गाँव में प्रवेश करते ही घर घर से बुलाहट आने लगी । सभी से मुलाकात करते एवं जिनके यहाँ चरखा चलता है उनके यहाँ चरखा, अगर खराब हो गया है तो, ठीक करते आगे बढ़ता गया । सामने बायीं ओर एक बैठका था । वहाँ कुछ लोग बैठे थे । मैं भी वहाँ गया । उनसे खेती के बारे में चर्चा शुरू हो गयी । मैं पहले से जानता था कि इनके घर में चरखा नहीं चलता है । इनके परिवार के लोग नौकरी करते हैं । सुखी परिवार है, यहाँ की परिस्थिति के अनुसार ।

घर के मालिक ने कहा–' हमारी गाय न दूध दूहने नहीं दिया है । बछिया दूध नहीं पीती है । वह बीमार पड़ गयी है ।" मैंने बछिया को देखा । उसे बुखार नहीं था । मैंने उसकी रस्सी खोल दी । वह गाय के पास जाकर दूध पीने लगी । किसान चौंक गया । गाय दूहने के लिए घर से बरतन लाया, पर दूहता कौन ? मैंने किसान के हाथ से रस्सी बरतन लिया और दूध दूहने लगा । वह दूध लेकर घर में गया । मालकिन को बताया कि सरकारी आदमी (डाक्टर) आये हैं उन्होंने ही दूध दूहा है । मालकिन देखने आयीं कहने लगीं–ये तो अभी का चरखा ठीक कर रहे थे । वह सामने आकर कहने लगीं–हमको चरखा चलाना नहीं सिखा दीजिएगा ? मैंने कहा—जरूर सिखा दूँगा । भंडार में हर प्रकार के चरखे मिलते हैं जब चाहे मँगा लें । घर के मालिक को उनकी पत्नी से बात करना पसन्द नहीं आया । मैंने उन्हें समझाया । उन्होंने कहा कि आप बराबर आते हैं तो यहीं ही रहकर सब काम क्यों नहीं करते ? मैंने पूछा कि क्या यहाँ रहने के लिए जगह मिल सकती है ? सामने का कमरा दिखाया । मुझे पसन्द आया । मैंने कहा कि बाद में बताऊँगा ।

कुछ दूर आने के बाद कई घर के लोग एक जगह मिल गये । का चरखा ठीक किया । चरखा ठीक करने के बाद खेती के बारे में चर्चा शुरू हो गयी । ने बताया कि हमें १० बीघे में जापानी ढंग से धान रोपना है । मैं जापानी ढंग से धान रोपने के लिए बतानेवाले को खोजने में कई दिन से परेशान हूँ । मैंने कहा कि मैं आपको धान रोपकर बता दूँगा । किसान खुश हो गया । उसने कहा कि आप हमारे यहाँ ही ठहरिए । घर की मालकिन ने भी कहा कि यह कोठरी खाली है, आप यहाँ रहें तो अच्छा है । मैंने कहा कि तीन-चार दिन में देखा जायेगा ।

चार दिन बाद मुझे खोजते हुए मेरे यहाँ आये और कहने लगे–आप हमारे यहाँ क्यों नहीं रहिएगा ? आज ही चलिए हमारे यहाँ रहने के लिए । मैं सोच में पड़ गया । कहने लगे लाइए बिस्तर मैं लिए चलूँ । आप नित्य आज और कल कर रहे हैं ।

मैं वृद्ध व्यक्ति का आग्रह नहीं टाल सका और उनके साथ चला गया । अब मैं वहीं ही रह रहा हूँ । यह गरीब गाँव है । गाँव के लोगों को दोनों वक्त भोजन तक नहीं मिलता है । इस गाँव में ५ बीघा जापानी ढंग से धान रोपा जा चुका है । फसल अच्छी है ।

[पृष्ठ १८० का शेषांश]

सायिक दक्षता प्राप्त कर चुके हैं । ब्लैकबर्न कालेज रोजगार, कमाई एवं खेल-कूद में सन्तुलन रखने का विशेष यत्न करता है । मनोरंजनात्मक क्रियाकलाप तथा पुस्तकीय शिक्षा से भिन्न गतिविधियों का प्रबन्ध किया जाता है किन्तु पढ़ाई को सदैव महत्त्व दिया जाता है इसलिए देश भर की कालेज-परीक्षाओं में ब्लैकबर्न के छात्रों का स्थान ऊँचा रहता है ।

ब्लैकबर्न की योजना डा० विलियम एम० हडसन, जो १९१२ से ४५ तक कालेज के प्रेसिडेंट रह चुके हैं, के दिमाग की उपज है । उन्होंने १९१३ में यह योजना दुहरी आर्थिक दृष्टि से प्रस्तुत की थी—एक तो अपने ३५ छात्रों में से कुछ गरीब और मेधावी छात्रों की मदद करना अभीष्ट था और दूसरा, ५६ वर्ष पुरानी इस संस्था को दिवालिया होने से बचाना था । ●

शान्ति, क्रान्ति और शिक्षा–२

•

रामभूर्ति

विज्ञान के इस युग में अगर लोकतंत्र अहिंसा का संगठन नहीं बनेगा तो वह किसी-न किसी रूप में फौजी शासन होकर ही रहेगा, नाम और बाहरी रंग चाहे जो हो। अब यह काफी नहीं है कि वृत्ति में अहिंसा हो (बुद्ध), यह भी काफी नहीं है कि पद्धति में अहिंसा हो (गांधी), बल्कि अब यह आवश्यक है कि परिणाम में अहिंसा हो (विनोबा)। अणुयुग में लोकतंत्र की भूमिका में हर विचार और संगठित कार्रवाई की कसौटी यह होगी कि उसकी अन्तिम निष्पत्ति शक्ति और सद्भावना की होती है या नहीं–नीयत और काम के तरीके में शान्ति हो, यही काफी नहीं है। लोकतंत्र और विज्ञान दोनों की यह माँग है।

सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप बहुत कुछ सत्ता और सम्पत्ति (पावर और प्रापर्टी) के स्वरूप से प्रभावित होता है। सामाजिक परम्पराएँ भी बहुत कुछ इनसे ही बनती हैं, यद्यपि इनके विकास में दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी होते हैं।

पिछले सोलह वर्षों में अपने देश में सत्ता और सम्पत्ति के परम्परागत सामन्तवादी स्वरूप में अपेक्षित परिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सामन्तवाद के नये स्वरूप ही निखरे हैं। दलपति (नेता), पूँजीपति (सेठ) और सत्तापति (अफसर) का नया गठबन्धन विज्ञान और लोकतंत्र के नारे की आड़ लेकर प्रकट हुआ है, इसलिए आकर्षक भी है और खतरनाक भी।

लोकतंत्र में शान्ति और न्याय की बुनियाद नये सामाजिक सम्बन्धों से ही बनती है, लेकिन उन नये सम्बन्धों की नींव अभी तक नहीं पड सकी है। हमारा समाज जातिगत दमन और वर्गगत शोषण के कारण एक प्रकार से आन्तरिक शीतयुद्ध की स्थिति में है। समय-समय पर यह शीतयुद्ध तरह-तरह के स्थानीय संघर्षों के रूप में प्रकट होता रहता है, जिसका मनोवैज्ञानिक परिणाम यह होता है कि दिनोदिन लोगों की शान्तिपूर्ण जीवन-पद्धति में आस्था घटती जाती है।

लोकतंत्र की माँग

ऐसी परिस्थिति में जनता के लिए शान्ति का क्या अर्थ है? क्या यही कि शान्ति के नाम में समाज के कुछ विशिष्ट समुदायों के हितों और विशेषाधिकारों की रक्षा होती रहे? क्या भारत के प्रचलित लोकतंत्र की यही माँग है कि यहाँ की बहुसंख्यक जनता को—चाहे वह तीन आने रोज कमानेवाली हो या साढ़े सात आने—न्याय की बलि देकर शान्ति का प्रसाद स्वीकार करना है? क्या अन्यायपूर्ण समाज कभी शान्तिपूर्ण हो सकता है?

होना तो यह चाहिए था कि हमारे लोकतंत्र में एक ऐसी शान्तिपूर्ण प्रक्रिया और पद्धति विकसित होती, जिससे देश 'साम्य' को शान्तिपूर्वक प्राप्त करता चला जाता तथा साम्य के 'वाद' और उसके कारण पैदा होने वाले 'विवाद' और संघर्ष से बच जाता, लेकिन दिखाई यह दे रहा है कि हमारे लोकतंत्र के तंत्र ने अपना

रख साम्य की ओर से हटा लिया है और यह तय-मा कर लिया है कि वह विशेषाधिकारों पर ही खड़ा होगा और आगे चलकर अपने ऊपर अनिवार्य रूप से जमाने की ओर से होनेवाले प्रहारों को अपनी शस्त्र शक्ति से रोकेगा। साफ-साफ यह लोकतंत्र की नहीं, फासिस्टवाद की मनोभूमिका है। कहीं ऐसा न हो कि यह गांधीजी की १९४८ में दी हुई चेतावनी के अनुसार, भारत के लोकतांत्रिक विकासक्रम में नागरिक-शक्ति और सैनिक-शक्ति के बीच होनेवाले विकट और व्यापक संघर्ष का पूर्व-संकेत सिद्ध हो?

अब अगर हम इस दृष्टि से विचार करें तो शांति युद्ध विरोध का नारा मात्र न रहकर सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता शक्ति और पद्धति बन जाती है। इसकी आवश्यकता सभी महसूस करते हैं। विशेष रूप से भारत की भूमिका में (और देशों की बात छोड़ भी दें) शान्ति का अर्थ संघर्षमुक्त क्रान्ति है लेकिन देश में यह प्रतीति अभी बहुत सीमित है और जब प्रतीति ही नहीं है तो पद्धति विकसित करने की चिन्ता क्यों होगी?

क्रान्ति के शास्त्र में हिंसात्मक संघर्ष के स्थान पर गांधीजी ने अहिंसक प्रतिकार की पद्धति विकसित की। गांधी का युग विश्व-युद्ध का तो था लेकिन अणुबम से होनेवाले विश्वसंहार का युग नहीं था और न तो देश में स्वतंत्र वोट का ही युग था। सत्ता विदेशी थी। जनता में लोकतांत्रिक चेतना आज जितनी नहीं थी।

अब परिस्थिति भिन्न है। नागरिक को स्वतंत्र वोट प्राप्त है इसलिए लोकतंत्र के विकास में हम प्रतिकार के विचार से आगे जाना चाहिए क्योंकि आज हितों का संघर्ष अगर सक्रिय प्रतिकार का रूप लेता है—भले ही वह शान्तिपूर्ण हो—तो तुरन्त बड़े पैमाने पर संघर्ष का वातावरण फैल जाता है और ऐसे घरेलू संघर्षों के गर्भ से सैनिक शासन का किसी भी समय जन्म हो सकता है। लेकिन, यह भी निश्चित है कि अगर सामाजिक न्याय की स्थापना के प्रतिकार का विकल्प न निकला तो संघर्ष के भय से जनता प्रतिकार से विमुख नहीं होगी।

विनोबा का प्रयत्न शान्ति और क्रान्ति को जोड़ने का है, 'वाद' से बचकर लोक-सम्मति और लोक-शक्ति द्वारा 'साम्य' को प्राप्त करने का है। लोक-सम्मति शान्ति और लोकतंत्र का मान्य तरीका है, लेकिन अन्तर यह है कि विनोबा की पद्धति में परिवर्तन जनता की सामूहिक प्रत्यक्ष कार्रवाई (कलेक्टिव डाइरेक्ट ऐक्शन) से होता है, सरकारी तंत्र के निर्णय और शक्ति से नहीं। जनता के निर्णय को सरकार से केवल मान्यता प्राप्त होती है। इस पद्धति में क्रान्ति लोकसम्मति-आधारित है, वह विप्लववादियों के षड्यंत्र या सरकार के कानून की मुहताज नहीं है। इसमें प्रतिकार की आवश्यकता या गुंजाइश ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है। बात सचमुच यह है कि प्रतिकार का प्रयोग उन्हीं अधिकारों की प्राप्ति के लिए सुरक्षित है, जो समाज में सामान्यतः मान्य हो चुके हैं। नयी मान्यताओं तथा अधिकारों की स्थापना के लिए निर्वैर सेवा और लोक शिक्षण तथा अधिकारों के मान्य हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य स्थिति में प्रेमपूर्ण आग्रह और प्रतिकार यह लोकतंत्र के सन्दर्भ में लोकसम्मति-आधारित क्रान्ति का नया फार्मूला है। प्रतिकार नयी संघर्ष मुक्त क्रान्ति में अपवाद के रूप में है, सामान्य नियम के रूप में नहीं।

लोकतंत्र में प्रतिकार अन्तिम अस्त्र के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, नहीं तो लोकतंत्र विभिन्न समुदायों, वर्गों या जातियों के हितों के संघर्ष और विचारों या संस्कारों के आग्रह के भँवर में पड़कर समाप्त हो जायेगा। लोकजीवन लोकसम्मति से बदले और परस्पर सहकार से चले—यह शस्त्र-शक्ति से नहीं, शान्ति की शक्ति से चलनेवाले नये लोकतंत्र का स्वरूप है, और यही नयी लोकतांत्रिक शान्तिपूर्ण क्रान्ति पद्धति भी है। स्पष्ट है कि अगर शान्ति इस तरह क्रान्ति के साथ नहीं जुड़ती तो वह मनुष्य के लिए सदा मीठा सपना ही रहेगी, और जब शान्ति सक्रिय होकर क्रांति की शक्ति बनेगी तब वह मानवीय व्यवहारों और मानवीय सम्बन्धों (ह्यूमन ऐक्शन ऐंड रिलेशन) की प्रेरणा (मोटिवेशन) बन जायेगी, जो नयी समाज रचना की बुनियाद है।

साम्य का समाज विषमता और विशिष्टता की पुरानी प्रेरणाओं से नहीं चल सकता, उसके लिए तो बिलकुल *नयी प्रेरणाओं की जरूरत है। जिस तरह भौतिक जगत* में नयी शक्तियों की तलाश है उसी तरह सामाजिक

क्षेत्र में भी नयी शक्ति की तलाश होनी चाहिए। इतिहास के इस सन्दर्भ मे हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शस्त्रमुक्ति की बात तो करें, लेकिन अपने भीतरी जीवन में दडशक्ति, जो शस्त्रशक्ति से ही चलती है, का विकल्प ढूँढने की तत्परता न दिखायें, यह कैसे हो सकता है ? अगर अणुयुग का समाज प्रतिद्वन्द्विता, आग्रह और सघर्ष के रास्ते चलेगा तो बहुत जल्द सहार के दरवाजे पर पहुँच जायगा। अणु और हिंसा के मेल का अर्थ है सर्वनाश, इसलिए अणु का मेल हिंसा की विरोधी शक्ति यानी अहिंसा से ही हो सकता है। शान्ति के बिना अणु का विधायक उपयोग नही हो सकता। शान्ति के लिए अनुकूल सन्दर्भ किसी भी प्रकार की तानाशाही में सम्भव नही है, उसके लिए तो लोकतत्र की खुली हवा ही चाहिए। यहि क्रान्ति-शास्त्र के विकास की दिशा है।

मार्क्स ने साम्य और शोषण-मुक्ति की सुव्यवस्थित 'आइडियालोजी' दी और उसके आधार पर समाज की रचना मे छिपी हुई क्राति की शक्ति को सघर्ष के रूप में सगठित करने की कोशिश की। गाधी ने अपने क्रान्ति शास्त्र में 'आइडियालोजी' को क्रान्ति का आधार नही बनाया आधार बनाया जीवन के मूल्यो को तात्कालिक नही, शाश्वत मूल्यो को। 'आइडियालोजी' की पद्धति में सघर्ष होता है, सिर टूटते है, विजेता की डिक्टेटरशिप कायम होती है व्यक्तियो में हृदय-परिवतन होता है हार-जीत नही इसलिए तानाशाही की नौबत नहीं आती क्योंकि जनता म प्रतिकार-शक्ति होती है। लोकतत्र वास्तव में हृदय-परिवतन की ही प्रक्रिया है सघर्ष की नही इसलिए लोकतत्र का 'आइडियालोजी' के नाम म विचार के आग्रह से मेल नही बैठता, पक्ष निरपेक्ष वस्तुनिष्ठ सत्य से मेल बैठता है।

विज्ञान के इस युग में अगर लोकतत्र अहिंसा का सगठन नही बनेगा तो वह किसी-न किसी रूप मे फौजी शासन होकर ही रहेगा, नाम और बाहरी रग चाहे जो हो। अब यह काफी नही है कि वृत्ति म अहिंसा हो (बुद्ध), यह भी काफी नही है कि पद्धति म अहिंसा हो (गाधी) बल्कि अब यह आवश्यक है कि परिणाम में अहिंसा हो (विनोबा)। अणुयुग में लोकतत्र की भूमिका में हर विचार और सगठित कारवाई की कसौटी यह होगी कि उसकी अन्तिम निष्पत्ति शान्ति और सद्भावना की होती है या नहीं—नीयत और काम के तरीके में शान्ति हो, यही काफी नही है, लोकतत्र और विज्ञान दोनो की यह माँग है। हमने स्वराज्य के पिछले वर्षों म 'आइडियालोजी' भी छोडी और जीवन के मूल्य भी छोडे। और, इनका स्थान सरकारी दफ्तरो में तैयार की हुई पचवर्षीय योजना को दिया। नतीजा यह हुआ कि प्रेरक शक्ति के अभाव म देश का पुरुषार्थ नही जगा।

हमारी परम्परा

हमारे देश में शान्ति अपनी शक्ति नही प्रकट कर पा रही है, इसके कई कारण है। स्वराज्य के सोलह वर्षों में हमारा नेतृत्व हमें जीवन का एक नया चित्र (इमेज) दे सकता था लेकिन नहीं दे सका, शिक्षा और आर्थिक रचना म नया मोड लाकर हमारे जीवन की बुनियादें बदल सकता था लेकिन नहीं बदल सका। इतिहास निमम होकर उसके मत्थे विफलता का यह दोष मढेगा लेकिन यह जानना चाहिए कि हमारे नये लोकतत्र की विफलता की जड कई दृष्टियो से हमारी परम्परा में है और निश्चय रूप से आज की विफलता हमारे भविष्य को भी प्रभावित करेगी।

भारतीय जीवन की परम्परा सामन्तवादी रही है। यो तो सभी देशो को इतिहास के विकास-क्रम में सामन्त-वाद से गुजरना पडा है लेकिन उद्योगवाद, विज्ञान और शिक्षा आदि के नये प्रभावो न और देशो में सामन्तवाद पर जो प्रहार किये उनसे हमारा सामन्तवाद बच गया क्योकि हमारे देश में सामन्तवाद के क्रम में विदेशी साम्राज्यवाद आ गया, जिसने पुराने सामन्तवाद का इस्तेमाल बहुत खूबी के साथ अपने हितो की रक्षा के लिए किया और साम्राज्यवाद के तत्वावधान में उद्योग, विज्ञान, शिक्षा साहित्य और संस्कृति का जो भी काम हुआ उस पर साम्राज्यवाद ने अपना गहरा रग चढाया। अंग्रेजी शिक्षा और सरकारी नौकरी के माध्यम से विदेशी साम्राज्यवाद ने नये शिक्षित वर्ग और नौकरशाही के रूप म पहले के सामन्तवाद में, जो नया तत्व जोडा उसने नयी परिस्थिति को पुरानी परम्परा के साथ जोड दिया।

पुरानी परम्परा का विचार करते हुए हम प्राय इस भ्रम म पड जाते है कि जिस देश ने ऋषियो, ब्राह्मणों और सन्तो की एक अखड शृखला पैदा की, उसमें विकास

के लिए और क्या करना रह गया था ? हम अक्सर भूल जाते हैं कि अगर हमारे यहाँ एक ओर ऋषि, ब्राह्मण और सन्त आध्यात्मिक और धार्मिक विकास की चोटी पर पहुँचे तो दूसरी ओर श्रमिक, शूद्र और स्त्री को पतन की अन्तिम सीमा पर भी पहुँचाया गया। आखिर, ऐसा क्यों हुआ ? क्या कारण था कि वर्णाश्रम धर्म-आधारित भारतीय जीवन में प्रगतिशील सामाजिक चेतना का इतना अभाव रहा ? कारण अनेक हो सकते हैं लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जड़ में कोई बुनियादी कमी जरूर थी। परिणाम यह हुआ कि हमने सत्ता, जाति धर्म धन और विद्या के आधार पर समाज में विशेषाधिकारों का एक व्यापक जाल बुन डाला और हमारा पूरा समाज फुरसत और अधिकार का उपासक बन गया।

इस तरह जो तत्व आगे चलकर विकास के लिए विष साबित हुए उन्हें समर्थन मिल गया और एक विशेष प्रकार की समाज रचना में मनुष्य की विद्रोह-शक्ति जैसे हमेशा के लिए समाप्त हो गयी। हाँ, हमने ऐसा समाज जरूर बनाया, जिसमें शुरू से शान्ति ही शान्ति रही, असन्तोष कभी फैलने ही नहीं पाया। हमारी समाज रचना ने शोषित में शोषण की चेतना नहीं पैदा होने दी। क्या उसी तरह की शान्ति की कामना हम आज भी करते हैं ? अगर नहीं, तो शान्ति को क्रान्ति के साथ जोड़े बिना काम कैसे चलेगा ? क्या हम क्रान्ति को छोड़कर शान्ति चाहते हैं ? क्या यह सम्भव भी है ? देश की प्राचीन परम्परा तथा उसकी और दुनिया की वर्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रश्न उठता है कि क्या शान्ति और क्रान्ति की कोई ऐसी सम्मिलित प्रक्रिया निकल सकती है, जो प्राचीन परम्परा और वर्तमान परिस्थिति के मेल से उत्पन्न दलदल से निकाल कर हम क्रान्ति की सिद्धि के लिए शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ा सके ?

●

निवेदन

शिक्षकों से–

- इस पत्रिका के पाठकों में सबसे अधिक संख्या शिक्षकों की है।
- इस पत्रिका में प्रकाशित लेखों में से अधिकतर लेख शिक्षकों अथवा शिक्षा-शास्त्रियों के द्वारा लिखित होते हैं।
- अनुभवी और कुशल अध्यापक अपने शिक्षण-सम्बन्धी अनुभव प्रकाशनार्थ भेजने की कृपा करें।
- नये शिक्षक अपनी समस्याएँ और प्रश्न लिखेंगे ताकि हम उनका प्रश्न और उस विषय के किसी अधिकारी विद्वान का उत्तर प्रकाशित कर सकें।
- पत्रिका के लेखों के सम्बन्ध में समालोचना और नये सुझाव का भरपूर लाभ उठाया जायेगा।

लेखकों से–

- लेख महीने के प्रथम सप्ताह तक कार्यालय में प्राप्त हो जाना चाहिए।
- लेख सामान्यत १००० से १५०० शब्दों (नयी तालीम के २ से ४ पृष्ठों) की सीमा में रहें।
- लेखों के विषय तथा दृष्टिकोण शैक्षणिक रहें।
- लेख में व्यक्त किये गये मन्तव्य का उत्तर-दायित्व लेखक का होगा। —सम्पादक

●

बोलते आँकड़े

शिक्षा पर व्यय और राष्ट्रीय आय १९५०–६६

मद	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६ (आनुमानिक)
१. १९६०-६१ के मूल्यों पर राष्ट्रीय आय (लाख रुपये में)	१०,२४,०००	१२,१३,०००	१४,५०,०००	१९,००,०००
२ आबादी (लाख में) —	३,६१०	३,९७०	४,३८०	४,९००
३ १९६०-६१ के मूल्यों पर प्रतिव्यक्ति आय (रुपये में)	२८४	३०६	३३०	३८५
४ शिक्षा पर प्रति व्यक्ति कुल खर्च (रुपये में)	३ २	४ ९	७ ३	९ ४
५ शिक्षा पर प्रति व्यक्ति सरकारी खर्च (रुपये में)	१ ८	३ ०	५ ०	६ ७
६ (३) के प्रातिशत्य स्वरूप (४)	१ १	१ ६	२ २	२ ४

शिक्षण और प्रशिक्षण के लिए आर्थिक प्रावधान १९५१–६६

(करोड़ रुपये में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१ सामान्य शिक्षा (सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित)	१३३	२०८	४१८
२ तकनीकी शिक्षा	२०	४८	१४२
३ वृत्तिक प्रशिक्षण (रोजगारी और प्रशिक्षण-महानिर्देशन)	—	१३	४९
४ चिकित्सा शिक्षा	२२	३६	५७
५ कृषि-शिक्षा (पशु-पालन सहित)	५	११	२०
६ अन्य (सामुदायिक विकास और सहकार आदि)	२२	४२	७९
अ कुल शिक्षण और प्रशिक्षण	२०२	३५८	७६५
ब कुल योजना प्रावधान	१,९६०	४६००	७,५००
स (२) के प्रातिशत्य स्वरूप (१)	१० ३	७ ८	१० २

पिछड़े राज्यों में प्राथमिक शिक्षा

(छात्रों की संख्या लाख में)

वर्ग १ से ५ तक

राज्य	१९५५-५६	(लक्ष्यांक) १९६५-६६
बिहार	१७ ८१	४८ ००
जम्मू-कश्मीर	१ २६	३ ०२
मध्यप्रदेश	१४ ००	३० ००
उड़ीसा	६ ५१	१६ ००
राजस्थान	५ ३६	२१ ००
उत्तरप्रदेश	२८ ०५	६६ ५०
सब राज्यों के लिए	२४७ ७६	४८७ ८६

मानवता की हत्या

•

विनोबा

अमेरिका के प्रेसिडेंट श्री केनेडी की हत्या की खबर से मुझे अत्यन्त वेदना हुई। इन दिनों उनकी ताकत विश्व-शान्ति के पक्ष में काम कर रही थी। उन्होंने अपना कारोबार अत्यन्त कुशलता से चलाया और मौके पर बहुत हिम्मत दिखायी। उनकी शान्ति की कोशिश का विशेष प्रभाव सारी दुनिया पर पड़ेगा। हम आशा करेंगे कि आज शान्ति की जो ताकतें काम कर रही हैं वे आगे भी जारी रहें, लेकिन कहना पड़ता है कि जो घटना हुई है, वह विश्व शान्ति पर प्रहार है।

अभी ख्रुश्चेव और केनेडी के बीच कुछ अच्छे ताल्लुक बन रहे थे। उसका श्रेय दोनों को है, और आशा थी कि दिन-ब-दिन दोनों नजदीक आयेंगे। केनेडी ने तो चीन से भी कहा था कि उन के बारे में अमेरिका अपना विचार बदल सकता है, नया विचार कर सकता है, अगर चीनी दूसरे देशों के साथ शान्ति के बर्ताव करना कबूल करें। इसका अर्थ यह है कि उनका सारा चिंतन शान्ति की दिशा में चल रहा था। ऐसे मनुष्य की एक जवान हत्या कर देता है तो उसमें मानवता की ही हत्या होती है।

हम क्षुद्र शस्त्र से डरते हैं

यह हत्या किन शस्त्रों से हुई? बन्दूक से। कहते हैं, उसमें दूरबीन लगी हुई थी। यह काम अणु-शस्त्रों ने नहीं किया, यह क्षुद्र शस्त्रों का भयंकर परिणाम है, इसीलिए मैंने बहुत दफा कहा है, कई वर्षों से दुहरा रहा हूँ कि अहिंसा को अणु-शस्त्रों का भय नहीं, क्योंकि ये संहारक हैं, हिंसक नहीं। बहुत बड़े प्रमाण में वे संहार कर सकते हैं। मानव के सामने एक समस्या खड़ी कर देते हैं और उसे सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। वह अहिंसा की दिशा में फिर सोचना शुरू करता है, इसलिए डरने की चीज छोटे-छोटे शस्त्र ही हैं। लाठी चलती है, पत्थर चलते हैं, तलवार चलती है, छुरी चलती है, बन्दूक चलती है, यही भयानक शस्त्र है। ये बिल्कुल अहिंसा के खिलाफ खड़े होते हैं। अणुशस्त्र तो संहारक होते हैं। वे रुद्र हैं, लेकिन क्षुद्र नहीं। रुद्र में से शुभ भी पैदा होता है, क्योंकि मनुष्य का दिमाग सोचने लगता है। फिर उसको एकदम दूसरी दिशा सूझती है, तो वह अहिंसा की दिशा में सोचने लगता है। इस तरह से ख्रुश्चेव, केनेडी और दुनिया भर के दूसरे महान लोग सोचने लगे थे। उनको शान्ति की ओर सोचने की इतनी जो प्रेरणा मिली थी, वह इस रुद्र शस्त्र के कारण मिली थी।

हम रुद्र शस्त्र से नहीं डरते, क्षुद्र शस्त्र से डरते हैं। यह चीज हमने बहुत दफा कही और हमें कहने का मौका भी मिला। हमारे देश में इन दस-बारह वर्षों में जगह-जगह दंगे हुए। कहीं भाषा के नाम से, कहीं धर्म के नाम से, कभी मालिक मजदूर के भेद के नाम से, कभी विद्यार्थियों के हित के नाम से, ऐसे अनेक निमित्तों से बहुत खराब काम भारत में हुए और उनसे भारत की मनोवृत्ति दूषित हुई। इसलिए हमको यह कहने का मौका मिला कि हम क्षुद्र शस्त्र से डरते हैं रुद्र शस्त्र से नहीं। उसमें से बहुत बोध लेने की बात है। जब ऐसी भयानक घटना होती है तब दिमाग ठिकाने नहीं रहता। यही सावधान रहने का मौका है। ऐसे मौके पर दिमाग का बिगड़ना स्वाभाविक है, लेकिन लाभदायक नहीं, इसलिए चित्त का क्षोभ कम करना होगा।

समस्याओं का हल : सहयोग और शिक्षा

कैनेडी विश्व-स्तर पर कोशिश कर रहे थे कि दारिद्र्य मिटे और विषमता घटे। उस स्तर पर काम करनेवाला एक बहुत बड़ा आदमी न रहा, उससे बहुत नुकसान हुआ। इधर नीचे के स्तर पर भी उससे नुकसान हुआ। हम उसका क्या उपाय कर सकते हैं? उसके लिए अब नीचे से शक्ति ऊपर ले जानी चाहिए और नीचे की शक्ति का असर ऊपर डालना चाहिए। इस काम में सब लगेंगे, तो ऐसी दुर्घटना नहीं होगी, मानव शस्त्र छोड़ देगा। शस्त्र की क्या जरूरत है? भगवान ने काम करने के लिए दो हाथ दिये हैं। इससे बढ़कर कौन-सा शस्त्र हो सकता है? उसका उपयोग उत्पादन बढ़ाने में, एक दूसरे के साथ सहयोग में करेंगे तो मानव की समस्या मिटेगी। जो छोटी-छोटी समस्याएँ हैं, वे रहेंगी, वे शिक्षा के द्वारा जायेंगी। वे खास चिन्तन का विषय नहीं। विषमता और दारिद्र्य की जो बड़ी समस्या है उसके विषय में सोचना चाहिए और वह तुरन्त मिट जाती है तो बाकी समस्याएँ धीरे धीरे हल होंगी। जबतक मानव समाज रहेगा तबतक छोटी छोटी समस्याएँ पैदा होंगी लेकिन बड़ी समस्या इस तरह सुलझ जानी चाहिए कि दुबारा वह सिर न उठाये।

छोटी छोटी समस्याएँ रहेंगी। यह तो मानव के विकार में चलना रहेगा। ऐसी समस्याएँ नहीं रहें तो मानव का जीवन खतम हो जायेगा इसलिए वे रहेंगी लेकिन यह भयानक समस्या, जिसे मैं कलियुग नाम देता हूँ मिटनी चाहिए और उसके मिटने का समय नजदीक आया है। युग परिवर्तन होता है। अब कलियुग के बाद सतयुग आयेगा। कलियुग जितनी जल्दी खतम होगा, सतयुग उतनी ही जल्दी आयेगा और इस प्रकार की दुर्घटनाएँ जो आज हमको सुनने को मिली, भूतकाल में चली जायें, वे कभी हुई ही नहीं थी, ऐसा सोचना चाहिए। यह भारत के लोगों के लिए आसान है। भारत की बहुत बड़ी परम्परा है और भारत में बहुत सावधानता है कि इन विविधताओं के बावजूद वह एक रहा इसलिए भारत के अन्तर जीवन में यह चीज है उसे बाहर के जीवन में भी प्रकट करना है। हम यह कर सकते हैं, ऐसी मुझे उम्मीद है।

●

लोकतंत्र की बुनियाद शिक्षा

●

धीरेन्द्र मजूमदार

राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या ने समस्त विश्व को स्तम्भित किया है। भिन्न भिन्न राष्ट्र तथा पक्ष अपने-अपने ढंग से राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में उसकी प्रतिक्रिया की चर्चा कर रहे हैं। भिन्न भिन्न क्षेत्र में हत्या के उद्देश्य के बारे में तरह-तरह के अन्दाज लगाये जा रहे हैं लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार की हत्याएँ होती क्या है?

अमेरिका जैसे अत्यन्त उदार लोकतांत्रिक मुल्क में भी ऐसी हत्याएँ होती हैं और वहाँ के राष्ट्रपति की यह प्रथम हत्या नहीं है। यह हत्या कुछ सम्पत्ति प्राप्ति के लिए नहीं है, सत्ता हथियाने के लिए नहीं है और न व्यक्तिगत आक्रोश का फल है, इतना तो स्पष्ट है। तो यह हत्या क्या?

रूस के अखबारों ने कहा कि यह हत्या विश्व के फासिस्टवादी षडयन्त्र का फल है। कुछ दूसरों ने कहा कि वर्ण विद्वेषवादी प्रतिक्रिया का परिणाम है। कारण कुछ हो, जिन्होंने हत्या की उनमें यह विश्वास है कि राष्ट्र के अमुक प्रमुख व्यक्ति को हटा देने मात्र से राष्ट्रीय नीति में बदल हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति राज्य यानी सैनिक-शक्ति का संचालन करता है, उसी के हाथ में राष्ट्र है यह मान्यता आज समाज में रूढ़ है। यह रूढ़ि केवल अधिनायक तांत्रिक मुल्कों की नहीं, बल्कि अमेरिका जैसे अति प्रगतिशील लोकतांत्रिक मुल्क की भी है।

इसका अर्थ स्पष्ट है। लोकतंत्र में लोक पर आज तक सामाजिक आस्था नहीं बन पा रही है, जितना तंत्र पर। अगर ऐसा है तो निस्सन्देह आज सारे संसार का तथ्य यह है कि तंत्र लोक-आधारित न होकर, लोक ही तंत्र-आधारित है और यही कारण है कि तंत्र के अधिकारी की हत्या से लोकनीति में परिवर्तन हो सकता है, इसका भरोसा सम्भव हो रहा है।

यह तथ्य समाज शास्त्र पर एक विराट चुनौती है। समाज-शास्त्री को सोचना होगा कि क्या लोकतंत्र की स्थापना तंत्र यानी विधान आधारित हो सकती है? राजनीतिक प्रक्रिया से ही लोकतंत्र का अधिष्ठान सम्भव है? निस्सदेह ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि तंत्र का विधान चाहे जो हो, वह हमेशा केन्द्र-शक्ति के ही सहारे चलेगा। लोकतंत्र केन्द्रित शक्ति पर से विकेन्द्रित शक्ति पर पहुँचने की पद्धति है। उसके लिए तंत्र-सुधार की प्रक्रिया न अपनाकर लोक-संस्कार की प्रक्रिया ही अपनानी पड़गी।

स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया की बुनियादी शक्ति शिक्षा ही है। आज भिन्न भिन्न मुल्को में लोकतंत्र की पराजय की, जो घटनाएँ घट रही हैं उन्हें देखकर जब संसार के राष्ट्रनायक लोकतंत्र पर गम्भीरता से पुनर्विचार करने लगे हैं तो उन्हें राष्ट्रपति केनेडी के मृत्यु-काड से एक अत्यत स्पष्ट तथा सामयिक चेतावनी लेनी होगी। उन्हें समझना होगा कि लोकतंत्र की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए चिंतन साधना, पुरुषार्थ तथा संगठन को बुनियादी तौर से लोक-मूलक बनाना होगा, तंत्र मूलक नहीं। समाज के नेतृत्व को समझना होगा कि उसका स्थान राजनीति में नहीं, शिक्षानीति में है। समाज की मुख्य प्रतिभा तथा शक्ति को शिक्षक के नाते लोक में फैलना होगा और सामान्य व्यवस्थापक बुद्धि को तंत्र चलाने म लगाना होगा।

अगर लोकतंत्र का लोक मुख्य तत्व है और तंत्र गौण है तो निस्सदेह समाज की मुख्य शक्ति लोकनिर्माण में लगनी चाहिए और गौण शक्ति तंत्र-सचालन के काम म आनी चाहिए। वस्तुत इस पद्धति में तंत्र का स्वरूप भी गौण होगा क्योंकि शिक्षण प्रक्रिया सचालन प्रक्रिया नहीं है सम्मति प्रक्रिया है, जो लोकतंत्र का मूल तत्व है। जबतक ऐसी सयोजना नहीं बनती, तबतक चाहे जिस नाम से हो, तंत्र ही लोक पर हावी रहेगा और उसके मुख्य अधिकारी पर ही समाज-नीति निर्भर रहगी। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने समाज की बुनियादी गति शक्ति नयी तालीम को माना था और कहा था कि यह उनके जीवन की सबसे प्रमुख देन है। आशा है लोकमानस म लोकतंत्र की इस दयनीय स्थिति पर विश्व के राष्ट्रनायक ध्यान देंगे और गम्भीरता के साथ विचार करेंगे।

●

क्या सचमुच....?

●

राममूर्ति

क्या सचमुच कोई ऐसा दिन होगा जब इस देश में भी हरेक को इज्जत की रोटी मिलने लगेगी और छोटे-से छोटे और गरीब-से-गरीब के लिए जिन्दगी घुल-घुलकर जीने का नाम न रहकर ऊपर उठने और आगे बढने का अवसर बन जायेगी? ऐसा कब होगा, मालूम नहीं लेकिन आज तो इस मोह लेनेवाली कल्पना से ही मन मुग्ध और सतोष से भर जाता है। पिछले महीने जयपुर में काग्रेस की बैठक में समाजवाद की कल्पना को फिर जगाया गया और पन्द्रह वर्षों की बात कहकर यह आशा पैदा की गयी कि भूख और बेकारी से मुक्ति अब हमारी और आपकी पहुँच से बहुत दूर नहीं रह गयी है। इस तरह जयपुर ने 'आशा की क्रान्ति' का नया दौर शुरू किया।

'समाजवाद' छलिया है। यह उन शब्दों में से है, जो युग-युग से मनुष्य को भरमाते ही चले आ रहे हैं, लेकिन तारीफ यह है कि इसके जादू के असर म आकर स्वय मनुष्य को छला जाना अच्छा लगता है। इसके

जादू को जानकर ही शायद इसका इस्तेमाल इतिहास में नृशंस फासिस्टो ने, सम्पत्ति-उपासक पूंजीपतियो ने, सत्तालोलुप राजनीतिको ने, भोले सुधारको ने और नये समाज का स्वप्न देखनेवाले क्रान्तिकारियो ने—सबने—किया है, और आज भी करते चले जा रहे है। श्रद्धा और विश्वास पर जीनेवाली जनता नही जान पाती कि यह बहुरुपिया समाजवाद कब कौन रूप बनाकर सामने आयेगा।

हम मान लेते है कि नेताओ के सकल्प मे नेकनीयती है, ईमानदारी है। हम यह भी मान लेते है कि वे वही समाजवाद लाना चाहते है जो हमें रोटी देगा, लेकिन हमारी इज्जत और आजादी नही छीनेगा। हम सब कुछ मान सकते है, लेकिन जानना यह चाहते है कि समाजवाद लाने के लिए नेताओ के पास शक्ति कौन-सी है। आज नेताओ के हाथ में पूरे देश का शासन है। शासन का अर्थ है नेताशाही-नौकरशाही। तो क्या नेता यह सोचते है कि केवल मत्रियो और सरकारी अधिकारियो की शक्ति से समाजवाद आयेगा?

देश को सामन्तवाद और पूँजीवाद के फौलादी पजा से छुडाकर सामाजिक न्याय की स्थापना—समता भले ही तुरन्त न-हो—क्या मत्रियो और अधिकारियो के बश की बात है? क्या इतना बडा काम करने की वृत्ति और शक्ति भी उनमें रह गयी है? क्या पिछले सोलह वर्ष का इतिहास यह भरोसा दिलाता है कि इस देश का सरकारी तत्र शासन से ऊपर उठने के लिए तैयार है? क्या वह सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियो के मुकाबिले कमजोर नही साबित होता जा रहा है? जो तत्र जमीन की सीलिंग के अत्यन्त सामान्य कानून को बनाने और बनाकर सही अर्थ म लागू करन की सामर्थ्य नही दिखा सका, जो इतने वर्षो में शिक्षा मे मामूली सुधार नही कर सका और जिस तक आज भी हर मौके पर गरीब की आवाज पहुँचने मे असमर्थ हो जाती है उसकी नीयत और सामर्थ्य में कैसे भरोसा हो?

सच बात तो यह है कि समाजवाद समाज की शक्ति के बिना नही आ सकता। सरकार की शक्ति अधिक से अधिक पूरक ही हो सकती है। सरकार नये कानून बना सकती है, लेकिन नया समाज नही बना सकती और आज तो स्थिति यह है कि सत्ता और सम्पत्ति की सगठित शक्तियो के मुकाबिले में क्रान्तिकारी कानून को कौन कहे, सुधारवादी कानून बनाना और लागू करना भी कठिन दिखाई देता है। कारण यह है कि स्वराज्य के पिछले सोलह वर्षो में वोट की राजनीति और मुनाफे की अर्थनीति ने लोकशक्ति के स्रोतो को सुखा दिया है। जनता ने जिस तरह आदर्शो को स्वार्थ का साधन बनते देखा है उसके कारण वह आशा और विश्वास दोनो खो बैठी है और सत्ता, शासन और व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा की धुन में मस्त नेता जनता से दूर, बहुत दूर जा पडे है। तो फिर कौन अब समाजवाद के लिए जनता का नये सिरे से शिक्षण करेगा, कौन समाज के प्रगतिशील तत्वो का सगठन करेगा, कौन लोकशक्ति का नया मोर्चा तैयार करेगा? कोई बताए, यह सब कौन करेगा? क्या यह किये बिना भी समाजवाद आ सकता है?

लक्षण तो ऐसे है कि समाजवाद के पक्ष में लोकशक्ति के सगठित होने के कही पहले समाजवाद की विरोधी शक्तियाँ, जो पहले से ही काफी सगठित है, अब तेजी से और अधिक सगठित हो जायेंगी। हमेशा यही होता है कि सत्ता और सम्पत्ति लोकशक्ति के मुकाबिले अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए अन्तिम सहारा शस्त्र शक्ति का लेती है। इतिहास के उसी तर्क के अनुसार एशिया के एक देश के बाद दूसरे देश में सैनिक-शासन होता जा रहा है। इस स्थिति की कल्पना गाधीजी ने की थी, इसलिए उन्होने १९४८ में ही सलाह दी थी कि चोटी के नेता सरकार में न जाकर समाज में जायें और समाज को सगठित करके उसे पैसे और शस्त्र की सम्मिलित सत्ता यानी फासिस्टवाद से बचा लें। लेकिन, गाधी की चेतावनी उनके साथ चली गयी। अब समाजवाद की बात कही जा रही है, लेकिन जनता की चेतना और शक्ति जगाने की कोशिश नहीं दिखाई दे रही है, जो भी कोशिश है वह सरकार की ही शक्ति बढाने की। यह रास्ता न समाजवाद का है, न लोकतत्र का। यह सकेत उल्टी दिशा म ले जानेवाला है और देश के जीवन मे उल्टी दिशा म जाने के लक्षण भी प्रकट होने लगे है। यह देखकर बार-बार मन म प्रश्न उठता है—क्या सचमुच केवल सरकार की शक्ति से समाजवाद हो सकेगा और जो सरकार की शक्ति से होगा वह समाजवाद होगा ?

नये अंकुर

लेखक श्री राम चिंचलीकर
पृष्ठ संख्या ३६
मूल्य २५ नये पैसे
प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन

इसके 'पुरस्कार' शीर्षक में आचार्य दादा धर्माधिकारी ने लिखा है कि "इस नन्ही-सी पुस्तिका में छोटी छोटी घटनाओं का हृदयस्पर्शी वर्णन है। हममें से बहुतों को अपने दैनिक जीवन में ऐसे अनुभव आते रहते हैं पर उनकी प्रतिध्वनि शायद ही हमारे अन्तर् में गूँज पाती है। हमारा मन कितना सूखा और नीरस हो गया है। हृदयगम घटनाओं का थोड़े में हृदयग्राही वर्णन आसान नहीं। सूचक, चित्रात्मक और ठाटदार भाषा में भावनाएँ व्यक्त करने की कला सधने पर ही यह सम्भव है।"

आत्मनिवेदन में चिंचलीकरजी ने लिखा है—"साने गुरुजी की याद बार-बार आती रही।" उनकी इन रचनाओं पर भी साने गुरुजी का रंग है। लेकिन, हिन्दी में अभी कोई साने गुरुजी नहीं हुआ।

अपनी ओर से मैं इतना ही कह सकता हूँ कि भाषा और निखर सकती है कहानी और सचोट की जा सकती है। लेखक इस दिशा में जितना ही काम करेंगे, उतना ही अच्छा।

कंतक थैयाँ धुनूँ मनइयाँ

लेखक राष्ट्रबन्धु
पृष्ठ संख्या ४०
मूल्य . ६२ नये पैसे
प्रकाशक सर्व सेवा-संघ प्रकाशन

भूमिका-लेखक श्री दिनकर पेंडारकर ने लिखा है—"राष्ट्रबन्धुजी मुझसे प्राय कहते रहते हैं कि "मेरे अनुसार बालक को हम अपनी सुशिक्षा से आदर्श बालक बना सकते हैं, परन्तु यदि हम उसका भार लाद देंगे, तो बालक सुशिक्षा से आकर्षित न होकर उससे विचलित हो उठेगा।"

बच्चों के लिए अपनी विचार-धारा से प्रेरित होकर राष्ट्रबन्धुजी ने इन कविताओं की रचना की है। ये विचार बड़ों को जरूर अच्छे लगेंगे—

तम्बाकू जो खाते हैं।
हरदम पान चबाते हैं॥
उनके होते पीले दाँत।
उनके होते काले दाँत॥

इसके अलावा खेल, उत्सव और कुछ इसी तरह से तकली वगैरह पर कविताएँ हैं, जो काफी अच्छी हैं।

यह तन कभी नहीं सहलाता,
यह मन कभी नहीं सहलाता।
थक जाने पर काम बदल दो,
सुस्ती के दानव को दल दो।

इस प्रकार के विचार गद्य में अधिक अच्छी तरह कहे जा सकते हैं, माध्यम चुनने में चूक नहीं करनी चाहिए।

पहली रोटी

लेखक आशाराम वर्मा
पृष्ठ संख्या ३२
मूल्य २५ नये पैसे
प्रकाशक सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन

कोष्टक में इस किताब को 'संगीतिका-संग्रह' कहा गया है, जिसका मतलब है कि ये गीति-नाटिकाएँ हैं। प्रकाशकीय से मालूम होता है कि ये संगीतिकाएँ अभिनीत हो चुकी हैं और लेखक पुरस्कृत हो चुका है। एकाध गीत इसमें काफी अच्छे हैं। यद्यपि भाव-संयोजन की दृष्टि से अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे, जहाँ ऐसा कुछ कहा जा सकता है, जो लेखक को प्रिय न लगेगा। छन्दोभंग और गतिभंग तो है ही, भाषा का भी बोलचाल का रूप बहुत नहीं सँभला है।

—त्रिलोचन—

१५ वाँ अ० भा० सर्वोदय-सम्मेलन

२२ दिसम्बर '६३ से २६ दिसम्बर तक तथा २७ दिसम्बर से २९ दिसम्बर तक क्रमशः सर्व-सेवा संघ का अधिवेशन और सर्वोदय सम्मेलन होगा। सम्मेलन तथा अधिवेशन में पहुँचनेवालों के लिए रेलवे बोर्ड ने एकतरफा किराया लेकर वापसी टिकट देने की सुविधा भी प्रदान की है। निवास शुल्क के ५) रुपये भेजकर वापसी टिकट की सुविधा के लिए 'कन्सेशन सर्टिफिकेट प्राप्त करने की व्यवस्था वाराणसी में की गयी है।'

समय की कमी के कारण, यह सोचा गया है कि इस साल प्रतिनिधि दर्ज करने और रेलवे कन्सेशन के वितरण का काम एक जगह केन्द्रित न करके नीचे लिखित १५ स्थानों से भी किया जाय। सर्टिफिकेट यहाँ से भी मिल सकेंगे:—

१—श्री सी० ए० मेनन, दिल्ली सर्वोदय मण्डल, राजघाट, नयी दिल्ली। फोन : २७३५१६

२—श्री ओमप्रकाश त्रिखा, पंजाब सर्वोदय मंडल, पट्टीकल्याणा (करनाल)।

३—श्री व्यवस्थापक, श्रीगांधीआश्रम, लखनऊ। फोन : २६३८

४—श्री क्षितीशराय चौधरी, अभय आश्रम, बलरामपुर, जि० मिदनापुर (प० बंगाल)।

५—श्री रामानन्द दुबे, स्वागत समिति, १५ वाँ सर्वोदय-सम्मेलन, रायपुर, (म० प्र०)। फोन : १६१

६—श्री मनमोहन चौधरी, उत्कल सर्वोदय मंडल, योरियाशाही, कटक। फोन : ३२७

७—श्री मंत्री, ग्राम-सेवा-मंडल, गोपुरी, वर्धा (महाराष्ट्र)। फोन : ४६

८—श्री पूर्णचन्द्र जैन, टुकलिया भवन, कुन्दीगरों का भैरू, जयपुर (राजस्थान)। फोन : १६८३

९—श्री राम देशपाण्डे, बंबई सर्वोदय मंडल, मणिभुवन, १९, लबरनम रोड, बंबई ७। फोन : ७२३३२

१०—श्री आचार्य दीपचन्द जैन, विसर्जन आश्रम, नौलखा, इन्दौर (म० प्र०)। फोन : ६८०८

११ श्री के० अरुणाचलम्, गांधी म्यूजियम, मदुराई १३। फोन : ३१००

१२—श्री डब्ल्यू० गंगाधरन्, मद्रास सर्वोदय संघ, खादी वस्त्रालय, ६५ ६६, रतनबाजार रोड, मद्रास ३ फोन : ३२६७४

१३—श्री अमृत मोदी, गुजरात सर्वोदय मण्डल, हुजरातपागा, बड़ौदा (गुजरात)। फोन : ३५५४

१४—श्री शकुन्तला चौधरी, शरणिया आश्रम गुवाहाटी (असम)। फोन : ८३४

१५—मंत्री, सर्व सेवा-संघ, राजघाट, वाराणसी। फोन : ४१६१

विनीत,

राधाकृष्णन्

मंत्री

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
दिसम्बर १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

अहिंसा का सर्टिफिकेट

एक बार कालेज के एक छात्र ने मुझसे पूछा, 'हमे यह तो बताइए कि हमारी बहन रास्ते से जा रही है और कोई गुंडा उसे छेड़ रहा है, तो क्या हम अहिंसक रह जायँ।"

मैंने कहा, "चुप क्यो रहो ? पर यह तो बताओ कि आज तक ऐसे मौके कितने आये ?"

उसने कहा, "मौके नहीं आये, लेकिन आ सकते हैं।"

मैंने कहा, "ठीक है, अगर कभी मौका आये, तो तुम क्या चाहते हो ?"

बोला, "हम चुप कैसे बैठ सकते है ?"

मैंने कहा, "हाँ चुप मत बैठो।"

बापूजी उस समय जीवित थे। बापू के आधार पर मैंने उसे कुछ समझाया और कहा, "पहले से ऐसा विचार मत करो। लेकिन अगर देखो भी कि ऐसा हो रहा है, तो उसकी गर्दन उतार लो। मै गाधी से तुम्हारे लिए 'अहिंसा का सर्टिफिकेट' ला दूंगा।"

वह बहुत खुश हुआ कि यह 'गाधीवाला' कहता है कि गाधी से भी अहिंसा का सर्टिफिकेट ला दूँगा।

मैंने उससे कहा, 'पर एक शर्त है।'

बोला, 'वह क्या ?'

यही कि जिन लड़कियों के साथ तुम स्कूल में उठते-बैठते हो, खेलते-कूदते हो, पढ़ते-लिखते हो, उनकी तरफ देखने की तुम्हारी अपनी दृष्टि कैसी है ? यह देख लो और उस दृष्टि में यदि फर्क है, तो गर्दन उतारने के कार्यक्रम का आरम्भ अपने मे कर दो।

—दादा धर्माधिकारी

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २,०००, इस मास छपी प्रतियाँ २,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक

धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १२ अंक ६

जनवरी, १९६४

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम
सर्व सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी १

वार्षिक चन्दा	६-००
एक प्रति	०-६०

नयी तालीम

नया साल

वर्ष : १२

●

अंक : ६

'६३ बीता, '६४ आया, '६५ आयेगा। जो बीता वह क्या छोड़ गया, जो आया है वह क्या लाया है, और जो आयेगा वह क्या लानेवाला है? समय समस्याएँ लाता है; मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उन्हें हल करता है। समय और मनुष्य के इस सम्बन्ध में विकास का रहस्य है।

बदलते काल के क्रम में १९६३ में जो समस्याएँ पैदा हुईं उनमें से हमने कितनी हल कीं? और बातों को जाने दीजिए, क्या हममें से हर-एक अपना पेट भी भर सका, तन ढक सका? क्या हमने एक दूसरे के साथ रहना सीखा? क्या हमारे आपस के नाहक भेद-भाव टूटे?

खाली पेट, नंगी पीठ, सूखे चेहरे तरसती आँखें, तनी भौंहें, टूटे सिर और पड़ी लाशें—एक ओर जीवन की ये कुरूपताएँ और दूसरी ओर असीम संभावनाओं से भरा हुआ विज्ञान! लेकिन कहाँ है वह विज्ञान, जिसने नर कंकाल को अभाव, अज्ञान और अन्याय से मुक्त करने का ऊँचा वादा किया था; लेकिन आजतक उस वादे को पूरा नहीं कर सका? कहाँ है वह लोकतंत्र, जिसने हर छोटे बड़े को समान वोट देकर उसे स्वतंत्र और सम्पन्न करने का नारा लगाया था, लेकिन आज तक नहीं कर सका?

विज्ञान बन्दी है, लोकतंत्र अधूरा है। लोकतंत्र को सत्ताधारी ने अपने हाथ का खिलौना बना रखा है, और विज्ञान को व्यापारी ने अपनी मुनाफाखोरी का साधन। हम दोनों के सुखों और संभावनाओं से वंचित हैं।

गांधी के पन्द्रह वर्ष के बाद केनेडी की हत्या ने हमें फिर याद दिलाया है कि अमेरिका जैसे सभ्य, समतावादी और लोकतान्त्रिक देश में भी मानव

को मानव से जोडने के प्रयत्न में कितना जोखिम है ! अपने देश में तीसरी पंचवर्षीय योजना की कमियों ने हमें बताया है कि पश्चिम के रास्ते पर अन्धा होकर चलना और जनता का सरकार के सहारे बैठ रहना कितना गलत है ! क्या अब भी हम नहीं समझेंगे कि हमारी समस्याएँ सामूहिक हैं और सामूहिक पुरुषार्थ से ही वे हल हो सकती हैं ? सामूहिक पुरुषार्थ सिर तोड़ने का रास्ता नहीं है; वह रास्ता सबको साथ लेकर आगे बढ़ने का है। हमारे पुराने मूल्यों और मान्यताओं, स्वार्थों और संस्थाओं, पक्षों और पन्थों का मेल अब नये ज़माने से नहीं बैठता। इस अणुयुग में अगर हमें साथ नहीं मरना है तो साथ जीने का पाठ पढ़ना ही पड़ेगा।

इस विशाल देश में जन-जन को वह पाठ कौन पढ़ायेगा ? हमने देख ली बड़ों की बड़ाई; अब छोटों की बड़ाई देखने का समय आया है। असंख्य छोटों को उनके बड़प्पन का भान कौन करायेगा ? शिक्षक कहेगा—'हम गरीब हैं, उपेक्षित हैं; हमारे ऊपर दूसरों की मर्ज़ी चलती है; हमारी हस्ती क्या है कि हम विनाश की शक्तियों के मुकाबिले में खड़े हो सकें ?' कौन कहेगा कि ये बातें सही नहीं हैं ? लेकिन यह भी सही है कि इस ज़माने में जो शोषित है उसी को शोषण का अन्त करने के लिए आगे बढ़ना पड़ेगा। छोटों का बड़प्पन प्रकट करने की कला का नाम है लोकतंत्र !

आज, यह बात सही है तो इस कला का एक ही कलाकार है—शिक्षक। हमारे शिक्षक भाई, आप कितने भी दुखी हों, कितने भी तिरस्कृत हों; पर आप प्रतिनिधि हैं उन असंख्य छोटों के, जिनका बड़प्पन प्रकट होना अभी बाकी है। भविष्य ने शासक और योद्धा, व्यापारी और पुरोहित सबको छोड़कर आपको अपना प्रतिनिधि माना है। क्या आप प्रतिनिधि बनना अस्वीकार कर देंगे ?

आप शिक्षक तो हैं ही, साथ ही सजग-सचेत नागरिक भी हैं। अपने आसपास की जनता को समुन्नत जीवन का सन्देश आप नहीं सुनायेंगे तो दूसरा कौन सुनायेगा ? सम्पत्ति समाज की है, और सत्ता जनता की है—यह नयी समाज-व्यवस्था की बुनियाद है। समता और लोकतंत्र का विचार जन-जन को समझाना है। 'यह गाँव हमारा है'—ऐसी ग्राम-भावना हर गाँव में भरनी है और गाँव की सहकार शक्ति जगानी है; उसी को गाँव के पुनर्निर्माण का आधार बनाना है। भूमि गाँव की हो, खेती परिवार की; गाँव में ही गाँव की ज़रूरत का कपड़ा तथा और चीज़ें तैयार हों।

बालिगों से बनी 'ग्राम-सभा' अपनी शान्ति सेना बनाकर गाँव की शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा की व्यवस्था करे; कोई भूमिहीन न रहे, कोई बेकार न रहे। इन तत्वों पर 'ग्रामस्वराज्य' की बुनियाद खड़ी होनी चाहिए, ताकि भाईचारे के समाज में गरीब से गरीब को स्वराज्य का सच्चा सुख मिले।

स्वराज्य के मंत्र ने गुलामी से मुक्त किया, अब ग्रामस्वराज्य का मंत्र गरीबी से मुक्त करेगा।

—राममूर्ति

शिक्षा में लोकतांत्रिक भावना का विकास कैसे हो ?

•

मार्जरी साइक्स

गांधीजी नयी तालीम के जन्मदाता थे। वे समाज-जीवन में सत्य और अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करने का आजीवन प्रयत्न करते रहे। नयी तालीम का भी यही ध्येय है। अपने देश और मानवता को सत्य और अहिंसा के मार्ग पर ले जाना ही नयी तालीम का लक्ष्य है। अत नयी तालीम का मूल ध्येय समवाय द्वारा शिक्षण नहीं है, बल्कि समाज में सत्य और अहिंसा की स्थापना है। इसलिए हमारा मुख्य प्रयत्न यही रहना चाहिए कि हम बच्चों में सत्य और अहिंसा का जीवन पैदा करें, उनका जीवन सत्यमय-अहिंसामय बने।

इगलैण्ड मे 'पब्लिक स्कूल' चलते हैं। जिला-समिति की ओर से सर्वत्र स्कूलो की व्यवस्था की गयी है, लेकिन फिर भी वहाँ 'क्वेकर' लोग अपनी अलग शाला चलाते है। उनके अपने जीवन सिद्धान्त है और उन सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए, समाज-जीवन में उन्हें आरूढ करने के लिए उन्होने अपनी स्वतन्त्र शालाएँ स्थापित की है।

हमारी भी यही हालत है। अगर हम सर्वोदय की दृष्टि से, नयी तालीम की दृष्टि से स्कूल चलाना चाहते है, तो सर्वोदय सिद्धान्त स्कूल की बुनियाद में हो। सर्वोदय का सिद्धान्त हमारा लक्ष्य होगा। सत्य और अहिंसा के आधार पर हमारा समाज बने, यही हमारी शाला के सचालन की बुनियाद होगी। क्वेकर जैसे अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए शाला चलाते हैं—शालाओं के माध्यम से अपने सिद्धान्तो को समाज में स्थापित करते है, उसी तरह हमारे स्कूलो के माध्यम से हमारे सिद्धान्त जनता के बीच स्थिर हो।

दूसरा मुद्दा है धार्मिक शिक्षण का। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक आदमी में परमात्मा का अश विराजमान है। इस ईश्वरीय अश और तत्व का विकास करना हमारी शिक्षा का मुख्य ध्येय होगा। हमारा और बच्चो का सम्बन्ध बहुत ही प्रेमपूर्वक होना चाहिए। बच्चो पर हम हुक्म नही चलायें, किन्तु उन्हें ईश्वर की प्रतिकृति मानकर उनके पूर्ण विकास की योजना बनायें।

क्वेकर शिक्षको के उद्धरणो में जिस तीसरी बात पर जोर दिया गया है, वह है प्रजातत्र की भावना। प्रजातत्र की मूल भावना वोट देना, चुनाव करना, आमसभा या बालसभा आयोजित करना नही है। ये सारी चीजें अच्छी भले ही हो, पर ये प्रजातत्र की मूल बातें नही हैं। प्रजातत्र की मूल भावना है कि हमारे मन में ऐसी प्रवृत्ति हो कि हम दूसरो से समरस हो सकें हम दूसरो की बात ध्यान से सुनें, उसे समझें और उसमे से नया प्रकाश हासिल करें। दूसरो की बातो की अच्छाई को ग्रहण करें, उनकी बातो में जो सत्य है उसके साथ अपने सत्य का योगकर हम सत्य को पूर्ण बनायें। प्रजातत्र की इस भावना के बारे में आप विचार करें और उस पर अमल भी करें।

हमारी शिक्षा का ध्येय है—शान्ति। जब हम शान्ति के लिए शिक्षा की बात सोचते है तो हमें तीन बातो—शान्ति, न्याय और स्वतत्रता पर अपरिहार्य रूप से सोचना होगा।

ये तीनो एक-दूसरे पर आश्रित हैं। इन्हें हम अलग-अलग नही कर सकते। न्याय और स्वतत्रता मानो शान्ति की दो बहनें है।

प्रार्थना का आयोजन

यहूदियो के धर्म-ग्रन्थ में एक बहुत ही मधुर वर्णन है, जो इस तथ्य का प्रतिपादन करता है—

"न्याय और करुणा का हो मिलन
सत्कर्म और शान्ति का हो आलिंगन।"

हमें भी शान्ति, स्वतत्रता एव न्याय का आलिंगन करना है। सवाल यह है कि इन पर अमल कैसे करें। इसके बारे में कुछ सुझाव मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रही हूँ। आप भी इस दिशा में सोचें, विचार करें।

एक अत्यन्त लाभकर प्रवृत्ति यह होगी कि हमारी प्रार्थना के समय का उत्तमोत्तम उपयोग हो। अपनी

शाला की प्रार्थना का हम उत्कृष्ट आयोजन करें। सभी धर्म-ग्रन्थों, महापुरुषों के वचनों का प्रार्थना में समावेश करें। धीरे-धीरे दिन प्रतिदिन जैसे-जैसे बच्चे इनको सुनेंगे, तो विश्वास रखिए कि उन पर इन सद्वचनों का असर होगा और ये उनके जीवन में एक स्थायी स्थान बना लेंगे।*

उपयोगी कार्य

दूसरा काम होगा कि हमारी शालाओं में हमेशा उपयोगी कार्यों का आयोजन हो, जिन्हें सामूहिक सहकार से सम्पन्न किया जा सके। जो लोग शान्तिप्रिय होते हैं वे समाज के उपयोगी उत्पादक सामूहिक श्रम में लगे रहते हैं, उपयोगी कामों को सहकारी रूप से मिल-जुलकर करते हैं। जब हम बालकों को सुन्दर व उपयोगी चीजें बनाना सिखाते हैं तो हम उनका निर्माण रचनात्मक कार्यकर्ता के रूप में करते हैं। वे सृजनोन्मुख होते हैं, ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ उनमें घर नहीं कर पाती।

मैं जब इंगलैण्ड में पढ़ती थी उन दिनों वहाँ की शिक्षा-पद्धति बहुत एकांगी थी। आज से ५०–६० साल पहले बच्चों को मात्र किताबी शिक्षा ही दी जाती थी। बच्चों को २–३ घण्टे पास पास सटी हुई बेंचों पर नियमपूर्वक बैठना ही होता था। ऊपरी अनुशासन ऐसा रहता था कि बच्चों को मजबूरन बैठना ही पड़ता था। ऐसी हालत में स्कूल की छुट्टी होते ही बच्चों की प्रसन्नता का आप भलीभाँति अन्दाज कर सकते हैं। काजीहाउस से जानवर अथवा जेल से कैदी जिस आनन्द से छूटता है उसी उमंग से बालक स्कूल से छूटकर भागते थे। बच्चों में शारीरिक शक्ति होती है और इस शक्ति का उपयोग उन्हें करना ही होता है। जब उन्हें कोई सृजनात्मक कार्य हम नहीं देते तो उनकी शक्तियाँ ध्वंसात्मक कार्यों की तरफ मुड़ जाती हैं। उन्हें कुछ करना है। अगर रचनात्मक प्रवृत्ति नहीं उपलब्ध हुई तो वे ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में जुट जायेंगे।

इसलिए नयी तालीम का प्रतिपादन करते हुए गांधीजी ने अत्यन्त मूलभूत मुद्दे को स्पष्ट किया कि बालक और शिक्षक मिलकर सुन्दर कार्य करें—उपयोगी कामों को सहकारी रूप से करें। शान्तिपूर्ण समाज की रचना की शिक्षा का यह अत्यन्त मूलभूत तत्व है।

श्रम और बुद्धि का समन्वय

तीसरी बात है कि हम शारीरिक श्रम और बुद्धि के श्रम के बीच किसी प्रकार की प्रतियोगिता न होने दें। बौद्धिक कार्य और हाथ का काम दोनों साथ-साथ एक दूसरे के पूरक बनकर चलें। शरीर स्वस्थ और शक्तिवान हो, साथ ही मस्तिष्क का भी उचित विकास हो। *जहाँ हाथों का उपयोग हम सिखायें, उसके साथ-साथ* पढ़ना लिखना भी सिखाना जरूरी हो। यहाँ हम इस बात का ध्यान रखें कि सहकार की भावना सब जगह हो। अगर हम कहें कि हम खेत में एक दूसरे की मदद करें पर गणित में सहकार करना पाप होगा तो वह गलत है।

सच बात तो यह है कि अगर शिक्षक नम्र होकर निरीक्षण करें तो वे अनुभव करेंगे कि बच्चे उनसे ज्यादा अच्छे हैं। बच्चे का सबसे अच्छा शिक्षक दूसरा बच्चा ही है। वे जितनी अच्छी तरह आपस में एक-दूसरे को समझा सकते हैं, उतनी अच्छी तरह बड़े नहीं समझा सकते। १०,१२ साल का बच्चा ६,७ साल के बच्चों को अच्छी तरह कहानी सुना सकता है। अपने बचपन की बात कहूँ—हमारे घर में ७,८ बच्चे थे। मैं सबसे बड़ी थी। वे मुझसे रोज कहते कि कहानी कहो। मैं उन्हें लम्बी-लम्बी कहानियाँ मन से बना-बनाकर कहती और उन्हें *भी खूब मजा आता। अब वह काल्पनिकता मुझमें नहीं* है, और वैसी कहानियाँ मैं अब नहीं कह सकती। इस तरह हमें सभी बच्चों के विकास के लिए कोशिश करनी चाहिए। बच्चे सब कामों में सबकी मदद करें। अच्छे बनने में, आगे बढ़ने में एक दूसरे के सहायक हों।

स्वशासन का अभ्यास

चौथी बात है कि बच्चों को स्वशासन और प्रजातन्त्र का शिक्षण दें। इस सम्बन्ध में एक मजेदार और दुखद अनुभव का उल्लेख करती हूँ। एक प्रान्त में नयी तालीम का सिलेबस नये सिरे से बनाया जा रहा था। समाज शिक्षण के पाठ्यक्रम में निम्न बातें थीं—वोट देना, चुनाव करना, राष्ट्रपति के अधिकार, अध्यक्ष के अधिकार, विविध पदाधिकारियों के चुनाव, स्पीकर तथा उसके काम और अधिकार।

** अगले किसी अंक में हम ललिता के प्रार्थना से सम्बद्ध विचार देने का प्रयास करेंगे।—सम्पादक*

जब जुलाई में मैं उस प्रान्त के एक नगर में शाला-निरीक्षण के लिए गयी तो मुझे यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि शालाओं से बड़े-बड़े जुलूस निकाले जा रहे थे। दीवालों पर लिखा था—"अमुक को वोट दो।" मैंने अधिकारियों से पूछा कि क्या नगरपालिका के चुनाव हो रहे हैं। तो उन्होंने बताया कि नहीं, शाला के चुनाव नवीन अभ्यासक्रम के अनुसार किये जा रहे हैं। चुनाव धूमधाम से सम्पन्न हुए, लेकिन चुनाव के साथ ही सारा काम भी खत्म हो गया। इसे हम नयी तालीम की विडम्बना ही कहेंगे—यह विकृत रूप ही है।

प्रजातंत्र अथवा स्वशासन का अर्थ है अपनी व्यवस्था, अपनी विविध प्रवृत्तियों का सहकारी रूप से संचालन करना। दिल्ली के कामों का संचालन स्वशासन में लागू नहीं होता, वरन हमारे गाँव में, हमारे पड़ोस के गाँवों में किस प्रकार कार्य-संचालन होता है, इसी में स्वशासन की कसौटी निहित है। हमारे दिन-प्रतिदिन का व्यवहार किस प्रकार चलता है, यह स्वशासन के अध्ययन का मुख्य अंग है, होना चाहिए। स्वशासन का, चुनाव अथवा संविधान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः स्वशासन अथवा प्रजातन्त्र की तालीम देना हो तो शाला में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों साथ मिलकर जिन-जिन उपयोगी कार्यों को कर सकते हैं उन सबको सुचारु रूप से चलाना चाहिए।

एक क्वेकर शिक्षक ने अपने अनुभव लिखे हैं। वे इंगलैण्ड के एक स्कूल में शैतान बच्चों के साथ काम करते थे। उन्होंने अपने अनुभव बताते हुए लिखा है कि केवल दो बातें ऐसी हैं, जिन्हें हम बच्चों को नहीं करने दे सकते।

पहली बात यह कि बच्चों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित सारे प्रश्नों के बारे में निर्णय शिक्षक ही करेंगे। शिक्षक ने पालकों से बच्चों के स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व लिया है, इसलिए कब सोना, कब उठना, अधिक मीठा खाना या नहीं, इन सब बातों का निर्णय शिक्षक पर ही छोड़ना होगा। अगर बच्चे कहें कि हम मिठाई ही खायेंगे, पत्ती-भाजी नहीं तो शिक्षक को इसका प्रतिरोध करना होगा।

दूसरी बात यह कि देश के कानून के खिलाफ कोई काम बालक नहीं कर सकते। जो बातें देश में वैधानिक रूप से मान्य हैं उनके प्रतिकूल बालक कुछ नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ इंगलैण्ड में यह कानून है कि हर बालक को स्कूल जाना अनिवार्य है। अब बच्चे अगर यह तय करें कि हम स्कूल नहीं जायेंगे तो इसे मान्य नहीं किया जायेगा, या इंगलैण्ड का यह भी कानून है कि १६ साल से कम उम्र के बच्चे सिगरेट नहीं खरीद सकते तो बच्चे इस कानून का भी उल्लंघन नहीं कर सकते। सार यह कि देश के कानून का बच्चे आदर करें और उसका पालन भी करें।

इन दो बातों के अतिरिक्त उन्होंने बच्चों को सब कुछ करने का अधिकार दिया है, और बच्चों की आम-सभा के निर्णयों को शिक्षक मानता है।

इस सन्दर्भ में यह सूचित करना आवश्यक है कि बच्चे जो निर्णय करें, शिक्षक उन्हें माने। नहीं तो अगर शिक्षक वही करे जो उसे पसन्द हो तो बच्चे शिक्षक की इस मनोवृत्ति को समझ जाते हैं। होता यह है कि शिक्षक तय करते हैं कि दीवाली को ड्रामा करना है और फिर उसी को आमसभा द्वारा पास करवा देते हैं। यह गलत प्रक्रिया है।

अपने कामों का संचालन करना शान्तिमय जीवन के लिए, शान्ति की शिक्षा के लिए एक उत्तम प्रशिक्षण है, लेकिन यह स्वशासन असली होना चाहिए। अगर बच्चों को पता चलेगा कि होता वही है, जो मास्टर तय करते हैं तो वे आमसभा की प्रवृत्तियों में रस लेना बन्द कर देंगे, वे चुपचाप बैठेंगे। यह एक तरह का असत्य ही है। इस हालत में बच्चों का शिक्षक पर से विश्वास उठ जायेगा।

अतः हमें अपनी मानसिक तैयारी इतनी करनी चाहिए कि अगर बच्चे गलत निर्णय भी लें तो उसे हम मान लें। बच्चे और शिक्षक आमसभा में साथ-साथ बैठें। दोनों एक भूमिका में रहें और अगर गलत निर्णय भी आमसभा ले तो लेने दें। एक सप्ताह में वे अपनी गलती समझ जायेंगे, और वे अगली आमसभा में उस पर सही निर्णय लेंगे। गलत से सही की ओर जाने की प्रक्रिया एक बड़ा शिक्षण है। हम सत्य को हम भूल जाते हैं कि हम गलतियाँ करके सीखते हैं। हमें अपने बच्चों को भी गलतियाँ करने की स्वतंत्रता

प्रदान करनी चाहिए, जिससे वे उनसे सीख कर स्वतंत्र निर्णय ले सकें।

पंचायत राज्य की पूर्व तैयारी के लिए यह प्रशिक्षण उत्तमोत्तम सिद्ध होगा। शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर काम के बारे में विचार करें। जैसे, बगीचे की योजना बनायें तो उसमें क्या बोना, कितने हिस्से में बोना आदि बातों पर विचार किया जाय। कई विचार आयेंगे। इन सब प्रक्रियाओं के होते समय बच्चों में निम्न बातों का विकास हो, यह बात शिक्षकों को ध्यान में रखने की है।

(१) बच्चों में दूसरों के विचारों को समझने और उनसे सीखने की वृत्ति पैदा हो, दूसरों के दृष्टिकोण को ग्रहण करने की भावना उनमें उत्पन्न हो।

(२) बच्चों में यह शक्ति आ जाय कि वे विरोधी विचारों का यथा-सम्भव समन्वय कर सकें, विरोधियों को नजदीक लाने का प्रयत्न कर सकें और दोनों मतों में निहित सत्य को पहचानकर उपर्युक्त निर्णय ले सकें।

(३) बच्चों में शुरू से ही सर्वसम्मति से निर्णय लेने की वृत्ति को बढ़ावा दें। बिना वोट दिये ही—मतदान के बिना ही हम इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि सबके लिए सर्वोत्तम वस्तु क्या है।

सर्वसम्मत निर्णय लेने के प्रशिक्षण में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—

पहली तो यह कि हर व्यक्ति को अपनी राय स्वतंत्र रूप से प्रकट करने की छूट हो। इसके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया जाय। अक्सर होता यह है कि कुछ लोग सभा में चुप रहते हैं और फिर बाद में गलतियाँ निकालते हैं कि निर्णय गलत लिया गया है। इस प्रकार का प्रचार प्रायः घातक होता है, इसलिए सबको अपनी बात कहने की पूरी छूट देनी चाहिए।

दूसरी यह कि महत्वपूर्ण और कम महत्व की बातों के बीच का अन्तर बच्चे समझ सकें। हर महत्व के मुद्दे पर सबकी राय एक होनी चाहिए। कोई महत्व का मुद्दा हो और उसके पक्ष में ५५ और विपक्ष में ४० लोग हों तो विरोधियों की अवगणना नहीं की जा सकती। ऐसे में सर्वसम्मति ही आवश्यक है।

लेकिन, कई बातें गौण भी होती हैं—आमसभा ४-३० पर हो या ५ बजे, इसमें मतदान भी किया जा सकता है। अतः अगर कम महत्व की गौण बातों पर बहुमत को मान लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। कम महत्व की गौण बातों को बहुमत से मान लें; पर महत्वपूर्ण बातों को सर्वसम्मति से ही मानें।

किसी अनुभवी का कथन है—

मूल बातों में एकता,
गौण बातों में विभिन्नता, सर्वत्र उदारता।

आमसभा और बालसभाओं का शान्ति के लिए प्रशिक्षण देने में महत्वपूर्ण स्थान है; पर उनके संचालन में उचित सावधानी और विवेक आवश्यक है, अन्यथा उनसे झगड़ा और परेशानी भी पैदा हो सकती है। गलत निर्देशन से राजनीतिक झगड़ों के बीज बच्चों में पड़ जाने का भय है।

स्वतंत्रता और न्याय

शान्ति के साथ दो बातें और जोड़नी है—स्वतंत्रता और न्याय। सभी धार्मिक परम्पराओं में न्याय के साथ करुणा का जिक्र आता है।

कुछ साल पहले दीवाली के दिन मैं थी विनोबाजी के साथ थी। विनोबा मथुरा के पास किसी गाँव में थे। उस समय सभा में विनोबा ने एक बहुत ही मर्मस्पर्शी बात कही। उन्होंने कहा कि आज दीवाली है, लेकिन आप लोगों को तबतक सन्तोष नहीं मानना चाहिए जब-तक गाँव के सारे बच्चों को मिठाई और नये कपड़े न मिलें। अगर गाँव में एक बच्चा भी भूखा है, फटे कपड़े पहना है तो यह आपका कर्तव्य है कि आप उसकी उचित व्यवस्था करके ही अपने घर में आनन्द मनायें। यह एक बुनियादी बात है।

मैं दो तरह के बच्चों को देखती हूँ—कुछ बहुत साफ-सुथरे और सुन्दर वस्त्रों में होते हैं, और कुछ गन्दे फटे कपड़ों में। ये बच्चे ऐसे होते हैं, जिनके माता-पिता खेत में या और कहीं दिन भर मजदूरी करते हैं और अपने बच्चों की तरफ देखने की उन्हें चाहते हुए भी फुरसत नहीं होती। यह दृश्य मुझे बहुत चुभता है। मैं जोर देती हूँ कि शिक्षकों को और संस्थाओं को सभी बालकों की चिन्ता होनी चाहिए। शिक्षक के मन में यह भावना होनी चाहिए कि ये बालक मेरे ही हैं, इनकी उचित सार-सँभाल हो, यह मेरी जिम्मेदारी है। इसे मैं करुणा के लिए शिक्षा कहूँगी।

मैंने ऊपर लिखा है कि शान्ति के साथ-साथ दो और बातें आवश्यक हैं—स्वतंत्रता और न्याय। अब धार्मिक परम्पराओं में जहाँ-जहाँ न्याय का जिक्र है, वहाँ उसके साथ ही करुणा का भी उल्लेख अवश्य आया है और यह विचार-पूर्वक किया गया है। ईसाई परम्परा में प्रसिद्ध वचन है—

धन्य हैं वे, जो सत्याचार के लिए भूख
और प्यास सहन करते हैं,
धन्य हैं वे, जो दयायुक्त—करुणामय हैं,
धन्य हैं वे, जो हृदय से शुद्ध हैं।

प्राय लोग न्याय की धुन में करुणा को भूल जाते है, और सत्य के आवेश में जबरदस्ती पर भी उतारू हो जाते है। जिनके मन में दया-करुणा होती है वे न्याय का आग्रह नही रखते। दोनो दोषयुक्त हैं। प्रभु ईसु उक्त वचन में दोनों का समन्वय करते है। वे कहते है—जो लोग न्याय के लिए, सत्याचार के लिए कष्ट सहन करते हैं, वे धन्य हैं; लेकिन उनको करुणामय भी बनना चाहिए; इसलिए वे कहते हैं कि धन्य हैं वे, जो दयायुक्त हैं। इसके बाद वे कहते हैं कि धन्य हैं वे, जो हृदय से शुद्ध है अर्थात जिनके दिलों में करुणा और न्याय दोनों का समन्वय है। करुणा और न्याय दोनों के योग से दिल शुद्ध होता है।

इसलिए हमें अपने स्कूलों में दो बातों का विकास करना चाहिए।

(१) न्याय की भावना और

(२) करुणा एवं दया की भावना।

सवाल है कि इन दोनों की जागृति शाला में किन किन कार्यक्रमों के आयोजन से हो सकती है। आपके स्कूल अलग अलग परिस्थितियों में स्थित हैं लेकिन एक बहुत ही मूलभूत-महत्वपूर्ण बात का आप सभी पालन कर सकते है। वह यह है कि हर शिक्षक महसूस कर कि सारे बच्चे उसकी जिम्मेदारी में हैं। प्रत्येक बालक-बालिका के उचित पालन-पोषण की जिम्मेदारी वह अपनी माने और तदनुसार काम करे। मैं जानती हूँ कि यह आसान नहीं है, फिर भी इस दिशा में हमें प्रयत्न तो करने ही चाहिए।

●

नन्हे-मुन्ने और उनके रंजनात्मक गीत

●

जुगतराम दवे

नन्हे-मुनों की आनन्ददायी प्रवृत्तियों में बाल-गीतों का स्थान स्वाभाविक रूप से सबसे पहले आता है। जिसे भिन्न भिन्न किस्म के बाल-गीत नही आते हो, वह बाल शिक्षिका होने के अयोग्य है।

सच्चे बालगीत की पहचान

कुछ बाल शिक्षिकाएँ पुस्तकें खोलकर गीत गवाती हैं, पर ऐसे गीतों के गाने में आनन्द कैसे आ सकता है? और बालक भी उस आनन्द में कैसे सम्मिलित हो सकते हैं? हृदय में गीत होने पर ही सच्चा बालगीत वाणी द्वारा निकलता है। रूखे-सूखे ढंग से पढ़ने पर उसे बाल-गीत कौन कह सकता है!

सच्चा बालगीत वह है—

- जो मधुर कंठ से निकलता हो।
- जिसे गाते समय साथ-साथ कपाल और होंठ हँस रहे हों।
- साथ साथ आँखें नृत्य कर रही हों।
- साथ-साथ हाथ के हाव भाव चल रहे हों।
- साथ साथ ताल दिया जा रहा हो।
- संगीत का रंग चढ़ जाने पर साथ साथ उठकर नाचने भी लग जाते हों।

ऐसा बालगीत चल रहा हो तो बालक उसमें सम्मिलित हुए बिना नहीं रह सकते। उनके कंठ स्वतः साथ साथ गाने लगते हैं, उनकी आँखें हँसने लगती हैं उनके हाथ हाव भाव करने लग जाते हैं वे भी ताल में ताल मिलाने लग जाते हैं और खड़े होकर नाचना शुरू कर देते हैं। गीत का राग उन्हें अपने आप आ जाता है। गीत के शब्द भी सिखाये बिना या किसी तरह का प्रयत्न किये बिना याद रह जाते हैं। उनके हाव भाव आदि से हमें पता लगता है कि वे गीत का बहुत कुछ अर्थ भी समझ रहे हैं।

इस प्रकार सब अंगों द्वारा गाया जाने वाला और बालकों द्वारा उसी रूप में अपनाया गया गीत ही सच्चा बालगीत है।

प्रसंगानुसार गीत

बाल शिक्षिका बालगीतों का अखूट भंडार होनी चाहिए। चाहे जैसा प्रसंग हो, उसकी वाणी से उस प्रसंग के अनुकूल बालगीत तुरंत निसृत हो जाना चाहिए।

नाच गान के समय उसमें रंग लानेवाले गीत उसके पास होंगे। खेल-कूद चलते होंगे तो वह वैसे गीत गा सकेगी। काम काज और उद्योग का वातावरण होगा तो उसके अनुकूल गीत भी उसके पास तैयार होंगे ही।

पर्यटन में घूमने निकले होंगे तो प्रवासानुकूल बालगीत भी उसके खजाने से निकलेंगे।

सभा, जुलूस, भजन प्रार्थना इत्यादि चलते होंगे तो उसमें सुर मिलाकर गाये जानेवाले सामूहिक गीत भी वह तुरंत उपस्थित कर सकेगी।

उद्यान में गये होंगे तो वह वृक्ष, पत्ते, फूल और फल के गीत गाने लग जायेगी। नौका में बैठे होंगे तो नौका और मछली तथा कल-कल बहनेवाली नदी के गीत उसके पास से निकल आयेंगे।

खेत और जंगल में गये होंगे तो बैल, हल और गाड़ी के गीत गायेगी तथा गाय, ग्वाले और उनकी मधुर मुरली के गीत गायेगी। गली में घूमते होंगे तो घोड़ागाड़ी और घुड़सवार के गीत गायेगी।

फेरीवाले और दुकान के गीत, गली से निकलते हुए गाय, भैंस, घोड़े, गधे, बकरी, ऊँट आदि के गीत भी गायेगी, और साथ-साथ गली में खेलनेवाले बच्चों और पानी भरकर जानेवाली पनिहारिनों को भी नहीं भूलेगी।

सुबह होगी तो मुर्गा, सूरज के और रंग बिरंगे बादलों के तथा कलरव करते हुए पक्षियों के गीत लेकर आयेगी। रात होने पर चंदामामा के और लाख-लाख तारों के गीत लेकर आयेगी। समान आयुवाली बच्चियाँ साथ मिलकर गरबा खेलती होंगी तो उनके लिए सुन्दर बाल गरबे भी उसके भंडार में भरे ही होंगे।

सरदी के दिनों में वह 'तपनी' के गीत निकालेगी और चौमासे के लिए तो उसके पास ढेरों गीत होंगे। मेहुले (मेघ) के और विजल्डी (बिजली) के, छबछबिया (तैरते समय हाथ-पाँव पटकना) और नौका विहार के, धरती द्वारा ओढ़ी हुई नीली चूनरी के और खेतों में लिखी गयी हरी-हरी पंक्तियों के मोहक गीत तो उसके खजाने में भरे होंगे ही।

और, बालकों के प्रिय से प्रिय दोस्त पक्षियों के गीत तो बाल शिक्षिका के पास चाहे जैसे और चाहे जितने होंगे। चिड़िया के गीत, पौधों के गीत, मोर के गीत, तोते के गीत, कबूतर के गीत, गिलहरी के गीत, चूहे बिल्ली के गीत और आकाश में ऊपर-ऊपर उड़नेवाले हंस तथा सारस के गीतों से वह बालकों को किसी भी समय गद्गद कर देगी।

समझ में आने योग्य गीत

बालगीत किसे कहना चाहिए, इसकी कल्पना बालकों की शिक्षिकाओं, बालकों की माताओं और बालकों के कवियों को होनी चाहिए। कविता में बालक शब्द या पशु-पक्षी का नाम या चंदा-सूरज का उल्लेख हुआ हो तो इतने मात्र से वह बालगीत हो गया, ऐसा नहीं है।

किसी भी गीत को बालगीत तभी कहना चाहिए जबकि बालक उसे सुनकर तुरंत समझ जाय।

कुछ सुन्दर बाल-गीतो के नमूने नीचे दिये जा रहे हैं—

आओ न कोयल
आओ न तोता
चौक में दाने बिखरे हैं।
आओ न मुर्गी
आओ न मैना
चौक में दाने बिखरे हैं।
आओ न कौवा
आओ न मोरा
चौक में दाने बिखरे हैं।

यह भी बालवाडी के जीवन का चित्र प्रस्तुत करनेवाला कैसा सुन्दर बालगीत है—

हम बालघर में आकर
झूले में झूलते हैं,
बागो में दौड़ कर हम
पौधो को सींचते हैं ।

बादल और बरसात के गीत गाते-गाते नाचना और दौड़ना किस बालक को अच्छा नही लगता !

गली में बरसात के पानी का प्रवाह दौड़ता है। उस समय किसी भी बालक को 'नौका-नौका' खेल का आमंत्रण देता है। उस प्रसंग के अनुकूल गीत ढूँढकर बालक को देना हमारा कर्तव्य है—

बादल, बादल पानी बरसो।
मुझको मौज खेलने की है,
रिमझिम बरसो, झम झम बरसो,
मन में मौज बुल्बुले पकड़ूं,
झिमिर झिमिर तुम झर झर बरसो।

कलेवा लेकर खेत पर जाना किस लड़की को अच्छा नहीं लगता ! भोली यमुना का नृत्य गीत उसी विचार पर रचा गया है।—

सिर पर भात लिये है भोली यमुना
अपने खेत चली है भोली यमुना
वहाँ हिरन आते हैं भोली यमुना
कैसे हिरन दौडते भोली यमुना
ऐसे हिरन दौडते भोली यमुना

भोली यमुना को पानी भरने की पंक्तियाँ भी बडी सुन्दर हैं—

माथे पे गेंडुल रे भोली यमुना
माटी की गागर रे भोली यमुना
बीस गागर ढारी रे भोली यमुना
एक गागर खाली रे भोली यमुना
कैसे डोर खींची रे भोली यमुना
ऐसे डोर खींची रे भोली यमुना

ऐसे गीतों को भावात्मक गीत कहते है। इसे गाते समय बच्चे 'ऐक्शन' करते जाते है। इन गीतो को उन्हें रटना नही पडता, बरन ये सहज ही उन्हें याद हो जाते है।

बालको को अच्छे लगनेवाले काम तो ढेरों हैं। केवल खेत के लोकगीतो से उन्हें कैसे सन्तुष्ट किया जा सकता है ! हमारे नये कवियो के पास से अभी इस सम्बन्ध में थोडे ही गीत मिले है।

हम चाहते है कि बालको को चरखा, तकली और उसे चलानेवाले बापू का परिचय हो। यह इतिहास बहुत पुराना नही है। अभी बहुत से गाँवो में इसके प्रेरक सस्मरण ताजे ही होंगे और उनके चित्र तो घर-घर में होंगे।

बाल-प्रेम के गीत

हमें बालवाडी के बालक प्रिय लगते है। उसी तरह बच्चो को भी अपने घर के पालने में झूलनेवाले शिशु प्रिय लगते है। कुछ बड़े बालकों को अपने से छोटे बालक प्रिय लगते हैं और उन्हें सहायता करने तथा सिखाने में उनको बहुत ही रस मिलता है। इसलिए छोटे बालक भी बालवाडी के लिए अत्यन्त मधुर बालगीतों के विषय हो सकते हैं।

अतिथि सत्कार के गीत

घर में मेहमान का आना बालकों के लिए बहुत आनन्द और उत्साह का विषय होता है। उस समय के उनके भावों को मूर्तरूप देनेवाले बालगीत उन्हें देने चाहिए। भक्त कवियो के भजनो से कुछ पंक्तियाँ चुन लें तो बालको के योग्य अतिथि सत्कार के बालगीत बन जाते है। ०

गणित-शिक्षण की बुनियादी बातें

•

रुद्रभान

अपने विकसित रूप में गणित दुनिया का एक पेचीदा विषय है। सम्पूर्ण विज्ञान और यंत्रशास्त्र दरअसल गणित शास्त्र की नींव पर ही खड़ा है।

गणित जितना पेचीदा विषय है इसकी शुरू शुरू की जानकारी उतनी ही आसान और मजेदार हो सकती है बशर्ते कि इसकी प्रारम्भिक जानकारी खेल जैसे रुचिकर ढंग से दी जाय।

कुछ लोगों को गणित बहुत नीरस और बोझिल विषय मालूम होता है। कुछ शिक्षकों को भी प्रारम्भिक शाला के बच्चों को यह विषय पढ़ाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वे महसूस करते हैं कि बच्चों की इस विषय की ओर रुचि ही नहीं है।

क्या कारण है कि कुछ लोगों के लिए गणित एक रोचक और मजेदार विषय है और कुछ लोगों के लिए हौआ और कठिन?

गणित की ओर से किसी की अरुचि होने का मुख्य कारण वस्तुतः स्वयं यह विषय नहीं बल्कि इसके परिचय का प्रारम्भिक अरुचिकर प्रभाव है। जिसको गणित सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञान रोचक और क्रमिक ढंग से मिला होता है उसकी गणित में स्थायी रुचि होती है और जिसका प्रारम्भिक ज्ञान अरुचिकर ढंग से प्रारम्भ होता है उसकी रुचि कुण्ठित हो जाती है और उस समय तक वैसी ही रहती है जबतक कोई दूसरा व्यक्ति रोचक और क्रमिक रूप में विषय समझाकर उस कुण्ठा को समाप्त नहीं कर देता।

बच्चों को रोचक ढंग से गणित की जानकारी देने के लिए सिर्फ गणित के नियम जानना काफी नहीं होता। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक को गणित के विकास के इतिहास का भी सामान्य परिचय रहे।

गणित के विकास के इतिहास से परिचित होने पर हमें यह मालूम हो जाता है कि उसकी शुरुआत कैसे हुई, उसके खास खास मोड़ और मुकाम क्या हैं, उसको लिया गया है।

गणित के विकास के दौरान मानव-समुदाय को जिन जिन मुकामों पर अटकना और भटकना पड़ा— आज भी वे ही मोड़ और मुकाम कुछ समय के लिए बच्चों को जरूर अटकाते हैं। अनुभवी शिक्षक को ऐसे मोड़ों की जानकारी होनी चाहिए अन्यथा गणित शिक्षण सहज नहीं बन पाता।

शून्य की कल्पना गणित शास्त्र के विकास की दिशा में एक बड़ी खोज मानी गयी है। जिस किसी ने भी सबसे पहले इसकी खोज की वह हकीकत में एक आला दिमाग इन्सान था। शून्य की खोज के बाद गणित-शास्त्र छलांग भरता हुआ आगे बढ़ता गया—दहाई सैकड़ा हजार और लाख से अनन्त तक!

जिन बच्चों को शुरू शुरू की गणित की पढ़ाई सही यानी सिलसिलेवार होती है उनके लिए यह विषय हौआ नहीं बनता। वे रिले रेस में दौड़नेवाले खिलाड़ी की तरह आगे के मुकाम खेल-खेल में पार करते चले

जाते हैं। जिन बच्चों को रटाकर और उँगलियाँ गिना-कर गणित पढ़ाया जाता है, उनके लिए आगे की मंजिलें कठिन-से-कठिन होती जाती है। यहाँ तक कि वे गणित की पढ़ाई से ही भाग खड़े होते हैं। ऐसे बच्चे जिन्दगी भर भटकते हैं, औरों से पिछड़ते हैं और 'होशियार' लोगों से ठगे जाते हैं।

बच्चों को गणित का प्रारम्भिक परिचय देते समय शिक्षक को यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए कि गणित का प्रारम्भ सिर्फ लिखी हुई संख्याओं से कभी न कराया जाय। जबतक १ से ९ तक की संख्या की वस्तुओं का गिनना अच्छी तरह न आ जाय तबतक सिर्फ संख्या लिखकर गणित पढ़ाना और सौ तक की गिनती रटवाना अत्यन्त हानिकर है। निस्सन्देह, आगे चलकर कुछेक 'सूत्रों' को कंठस्थ करना उपयोगी होता है, पर प्रारम्भ में रटनेवाली पद्धति किसी भी रूप में लाभदायक नहीं होती।

गणित सीखते समय बच्चे के दिमाग पर अनावश्यक जोर न पड़े, इसके लिए जरूरी है कि सिर्फ संख्या लिखना-पढ़ना सीखने के पहले उसे वस्तुओं की गिनती कराकर ९ तक के अंकों की स्पष्ट जानकारी दे दी जाय।
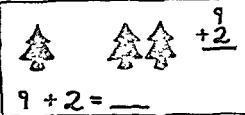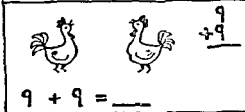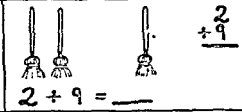
१ से ९ तक की गिनती चटपट बता देने के बदले हमें धीरे-धीरे १ से ९ तक पहुँचना चाहिए। शाला में साधनों की कमी नहीं महसूस होगी। मिट्टी की गोलियाँ, इमली, रेंड, शरीफा-जैसी हर जगह मिलनेवाली चीजों के बीज इसके लिए आसानी से मिल जायँगे।

होता यह है कि प्रायः शिक्षक साधनों की कमी का नारा तो बुलन्द जरूर करते हैं, लेकिन अपने आस-पास, परिवेश में बिखरी हुई गणित-शिक्षण की अकूत साधन-सामग्री की ओर आँख उठाकर देखना भी पसन्द नहीं करते। हमारे चारों ओर प्राकृतिक उपकरणों की बहुतायत हमें चुनौती देती रहती है कि हम अपनी आँखें खोल कर प्रकृति का निरीक्षण करें और उपयुक्त साधनों का शिक्षण-हेतु निस्संकोच चुनाव करें।

मैं अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि उद्योग कराते-कराते गणित की जानकारी सुविधा-पूर्वक दी जा सकती है। खेल-कूद और पर्यटन तो इसके लिए बेजोड़ अवसर हैं। हमारे शिक्षक बन्धु पाठशाला के बन्द कमरों में गणित-शिक्षण देने का कम से कम प्रयास करें, इसी परिपाटी के कारण यह विषय नीरस और उबा देनेवाला बन जाता है।

बिना बाहरी साधनों के भी प्रारम्भिक गणित का शिक्षण दिया जा सकता है। श्यामपट्ट पर वस्तुओं के चित्र बनाकर और उन्हें अंकों से सम्बद्ध करके गणित का सरल पाठ देना बहुत कठिन नहीं है।

१ +२ १ + २ = ___	१ +३ १ + ३ = ___
१ +१ १ + १ = ___	२ +१ २ + १ = ___

साधनों की चाहे जितनी कमी हो, यदि शिक्षक सूझ-बूझ से काम लें तो उन्हें गणित का प्रारम्भिक अभ्यास कराने के

५ तक की संख्याओं का क्रम बताने के लिए आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

५ तक गिनती का अभ्यास होने पर ही ६ से ९ तक की गिनती का अभ्यास कराना चाहिए। हमारा दूसरा

१ ●
२ ● ●
३ ● ● ●
४ ● ● ● ●
५ ● ● ● ● ●

कदम होगा इन्ही ५ तक की गिनतियो का जोड़। वस्तुआ, चित्रों और दूसरे साधनो द्वारा जोड का अभ्यास कराना चाहिए।

● + ● = ● ●
१ + १ = २

● + ● + ● = ● ● ●
१ + १ + १ = ३

● ● + ● = ● ● ●
२ + १ = ३

● + ● ● = ● ● ●
१ + २ = ३

ऊपर के सकेत चित्र से स्पष्ट है कि ३ यानी १ + १ + १ या २ + १ या १ + २ होता है। इसी तरह दूसरी संख्याओ का भी अभ्यास कराना चाहिए। जैसे नीचे ४ का सकेत चित्र दिया हुआ है—

● + ● + ● + ● = ● ● ● ●
१ + १ + १ + १ = ४

● ● + ● ● = ● ● ● ●
२ + २ = ४

● + ● ● ● = ● ● ● ●
१ + ३ = ४

● ● ● + ● = ● ● ● ●
३ + १ = ४

जिस तरह ऊपर के सकेत चित्रो से ४ के विविध रूपो का बोध स्पष्ट हुआ उसी तरह आगे ५ का सकेत चित्र दिया गया है। इसके बाद जिनके का ५ तक की संख्या का बच्चा को स्पष्ट बोध कराना चाहिए। इन छोटी-छोटी संख्याओ के जोड का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर चित्र और वस्तुओ की मदद से घटाव का अभ्यास भी कराते जाना चाहिए।

* + * + * + * + * = * * * * *
१ + १ + १ + १ + १ = ५

* * * + * * = * * * * *
३ + २ = ५

* + * * + * * = * * * * *
१ + २ + २ = ५

* * + * + * * = * * * * *
२ + १ + २ = ५

* * * * + * = * * * * *
४ + १ = ५

इस बात की सावधानी रखने की जरूरत होती है कि बच्चे को जबतक छोटी-छोटी संख्याओ के जोडने घटाने का भरपूर अभ्यास न हो जाय तबतक तीन चार अकों की संख्या तक आगे बढना ठीक नही है। शुरू में ही बच्चो को छोटी-छोटी संख्याओ के जोडने घटाने का इतना पक्का अभ्यास हो जाना चाहिए कि वे अपने सवाल मौखिक रूप म हल करने लगें। इस प्रकार के अभ्यास के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१ + ४ = ?
२ + १ = ?

३ + ० = ?
० + ३ = ?

३ − १ = ?
३ − २ = ?
३ − ३ = ?

२ + १	१ + ३
३ − १	१ − १
१ − १	३ − ०
३ − ३	१ − ०

९ तक की संख्याओं के जोड़ने-घटाने का भरपूर अभ्यास हो जाने पर ही दहाई का परिचय देना उचित होता है। दहाई का परिचय देते समय हम यदि एकाएक श्यामपट्ट पर ११ लिखकर बच्चों को कहें कि ग्यारह में एक दहाई और एक इकाई हैं तो हम उनकी नन्हीं बुद्धि के लिए एक पहेली या भूलभुलैया ही उपस्थित कर देंगे।

इसी तरह दहाई का परिचय होते ही लम्बी छलांग में *सैकड़ा, हजार और लाख* इत्यादि संख्याओं का परिचय देना भी जल्दबाजी का तरीका है। इस जल्दबाजी का बच्चों की बुद्धि पर अरुचिकर प्रभाव पड़ता है।

इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि गणित की भाषा है। इसका मतलब एकाएक बच्चों की समझ में नहीं आता। इसके लिए उन्हें शुरू में किसी न-किसी सहारे की जरूरत पड़ती है। दाशमिक प्रणाली के प्रचलित हो जाने से हर शिक्षक के लिए यह सुविधा मिल गयी है कि वह इन सिक्कों के सहारे बच्चा को दहाई, सैकड़ा और हजार की जानकारी पक्की करा सकता है। पैसे के सिक्के से इकाई, १० पैसे के सिक्के से दहाई और एक रुपये के सिक्के से सैकड़े की मिसाल देकर शिक्षक बच्चों को अंकों के तुलनात्मक मूल्य का भलीभाँति परिचय दे सकते हैं। बच्चों को दहाई, सैकड़ा और हजार की संख्या का पूरा अभ्यास हो जाने पर गणित की बड़ी संख्याएँ उनके लिए भूल-भुलैया नहीं रह जायेंगी।

बच्चों को लिखित रूप में गणित की बड़ी-बड़ी संख्याओं का जोड़-घटाव आने, इससे पहले जरूरी है कि उनको बढ़ती हुई संख्याओं के गुणात्मक अनुपात का अच्छी तरह परिचय मिल जाय। इस परिचय की असली पहचान यह नहीं है कि वह लिखकर कितने अंकों के प्रश्न हल कर लेता है, बल्कि वह इसमें है कि मौखिक रूप में वह कितनी जल्दी कितने अंकों की संख्याएँ जोड़-घटा लेता है। यह बच्चों के गणित सम्बन्धी ज्ञान की कुंजी और आगे के ज्ञान की सीढ़ी है। मौखिक-गणित का जितना अभ्यास हो जाय, आगे का गणित सीखने में उतना ही कम समय लगेगा। यदि शिक्षक-गण कहानी द्वारा या जीवन की दैनिक घटनाओं का हवाला देकर प्रतिदिन मौखिक गणित का अभ्यास कराते रहें तो निश्चय ही बच्चों के लिए गणित अत्यन्त रोचक और मजेदार विषय हो जायेगा। ● (अपूर्ण)

गुणाकार की कल्पना

●

विनोबा

एक मन्त्र-द्रष्टा वैदिक ऋषि था। उसका नाम था 'गृत्समद'। वह यवतमाल जिले के कलम्ब गाँव का निवासी था। वह प्रति दिन कोई-न-कोई उत्पादक कार्य अवश्य करता। "मैं दूसरों के परिश्रम से कदापि भोग न प्राप्त करूँ।"—यही उसका जीवन-सूत्र था।

वह लोक-सेवा-परायण था, इसलिए उसके योग क्षेम की चिन्ता लोग किया करते थे। उसके मन में यही चिंतन चला करता—"लोगों से मैं जितना पाता हूँ, क्या उसे शत गुणित करके उन्हें लौटाता हूँ? और उसमें भी क्या नवीन उत्पादन का कोई अंश होता है?"

इस चिन्तन के फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसके मन में अचानक गुणाकार की कल्पना स्फुरित हुई। गणित शास्त्र को लोक-व्यवहार-सुलभ बनाने की दृष्टि से वह फुरसत के समय उसमें आविष्कार किया करता था। उस समय लोग पद्विधियों में से सिर्फ 'जोड़ना' और 'घटाना' ही जानते थे।

जिस दिन गृत्समद ने गुणन-विधि का आविष्कार किया, उसके आनन्द का पारावार ही न रहा। उसने २ से लेकर ९ तक के ९ पहाड़े बनाये। फिर तो वह बाँसों उछलने लगा। पहाड़े रटनेवाले लड़कों को कहीं इस बात का पता लग जाय तो वे गृत्समद को बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे।

लेकिन, गृत्समद ने उस आनन्दातिरेक में इन्द्रदेव का आह्वान पहाड़ों से ही करना शुरू किया—

"हे इन्द्र! तू २ घोड़ों के ८ घोड़ों के और १० घोड़ों के रथ में बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो तो २ के पहाड़े के बदले १० के पहाड़े से काम ले। १० घोड़ों के, २० घोड़ों के, ३० घोड़ों के, ४० घोड़ों के " और १०० घोड़ों के रथ में बैठकर आ।" ●

आन्ध्र प्रदेश—

प्रादेशिक विवरण

सामाजिक शालाएँ

●

शम्सुद्दीन

ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा की प्रवृत्ति प्राथमिक शालाओं को सामाजिक केन्द्र बनाने की ओर है। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के ६२ वें वर्ष में प्राथमिक शालाओं के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया गया है। ६ से ११ वर्ष तक की उम्र के बालक-बालिकाओं की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ प्राथमिक शालाओं की कार्य प्रणाली को बुनियादी शिक्षा का स्वरूप देना एक बड़ा और महत्वपूर्ण कदम है। इसके अनुसार अब शालाओं में मध्याह्न भोजन की व्यवस्था वे स्वयं अपने संलग्न खेतों तथा बाग-बगीचों के माध्यम से करेंगे।

इस प्रकार अब ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिक शालाओं की दुहरी जिम्मेदारी है। इन्हें बालकों के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करना तथा साथ ही प्रजातंत्र की नयी पृष्ठभूमि में शिक्षा दान का कार्य करना है। इससे शिक्षक की जिम्मेदारी भी बढ़ गयी है तथा उसे बालकों की आवश्यकताओं के प्रति सतत जागरूक रहना पड़ता है। उसे समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और मांगों का अध्ययन करना पड़ता है तथा उसके अनुसार बालकों के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है जो आगे चलकर उनके भावी सामाजिक और नागरिक जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हो। वे बालक कुटुम्ब और समाज में सुखी जीवन व्यतीत करने योग्य हो सकें तथा अच्छे नागरिक बनकर राष्ट्र की सुन्दरता कायम रख सकें।

आन्ध्र प्रदेश में आधुनिक प्राथमिक शालाएँ समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर प्रयत्नशील हैं। वे विद्यार्थियों के भोजन तथा कभी-कभी वस्त्रों की भी व्यवस्था करती हैं। वे शिक्षा के द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास का प्रयत्न करती हैं। पहले शिक्षक की जिम्मेदारी बालकों को केवल शिक्षा देने तक ही सीमित थी किन्तु अब वह उनके सम्पूर्ण विकास के लिए जिम्मेदार है। यही प्रधान समस्या है जिसके लिए शालाओं को सामाजिक केन्द्र बनाना नितान्त आवश्यक हो गया है। यथार्थ में शाला ही वह स्थल है जहाँ समाज का पालन पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण तथा भावी जीवन की तैयारी होती है।

ऐसी अवस्था में शिक्षक एक अलग तटस्थ व्यक्ति के रूप में शाला में नहीं रह सकता। वह शाला में न केवल शिक्षक है वरन् एक पालक व अभिभावक भी है जो बालक की शिक्षा के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण तरक्की को ध्यान में रखकर प्रत्येक कार्य करता है। वास्तव में बालक के विकास में शिक्षक का ही प्रधान हाथ होता है। पालक तो बालकों को शालाओं में प्रवेश दिला देने के बाद उन्हें शिक्षकों को सुपुर्द कर देते हैं तथा उनकी ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं। ग्रामीण शालाओं में छात्र अपना विशेष समय शिक्षकों के साथ व्यतीत करते हैं तथा वे शालाएँ परिवार जैसा वातावरण बनाने का प्रयास करती हैं। शिक्षक बच्चों का सम्पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है। जैसे ही बालक शाला में प्रवेश करता है उसके चरित्र निर्माण, बौद्धिक विकास तथा स्वास्थ्य-सुधार का कार्य आरम्भ हो जाता है। इसके लिए ही इन शालाओं में मध्याह्न आहार, पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्य सुधार तथा सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

पाठशालाओं का वातावरण ग्रामीण होता है। जीवन की पृष्ठभूमि में खेती का कार्य प्रधान होता है तथा लोगों की रुचि हस्त-कला कौशल की ओर अधिक होती है। इन्हीं सबका प्रभाव ग्रामीण प्राथमिक शालाओं के कार्यों पर दिखाई देता है। प्रत्येक शाला को कुछ एकड़ जमीन तथा पानी की सुविधाएँ दे दी जाती हैं, जिनसे वह उत्पादन-कार्य करती है। शिक्षक जो इस काम की जिम्मेदारी लेता है स्वयं उसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त होता है। वह शाला के साथ साथ ग्रामीणों का भी खेती में मार्गदर्शन करता है।

शालाओं में छात्र खेती सम्बन्धी कई बातों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। बालक जमीन, खाद, बीज सम्बन्धी नयी-नयी बातें सीखते हैं तथा स्वयं कार्य करके ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उनकी कार्य-प्रणाली वैज्ञानिक होती है और वे स्वयं-पूर्ण तथा स्वतंत्र जीवन-यापन सीखते हैं। ये बालक खेतों और बागों में काम करके सब्जी और फल उत्पन्न करते हैं तथा उनका उपभोगकर अपना स्वास्थ्य उत्तम बनाते हैं।

इन शालाओं के बालक स्वस्थ और शक्तिवान होने के कारण उनकी मानसिक उन्नति भी अच्छी होती है और उन्हें जीवन में नया जोश और स्फूर्ति प्राप्त होती है। इसीलिए कहा जाता है कि इन शालाओं में समाज का उत्तम रीति से पालन-पोषण होता है और यही आधुनिक ग्रामीण शालाओं का क्रान्तिकारी कदम है। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि इन शालाओं की सफलता की कुंजी इनके शिक्षक हैं। ये प्रशिक्षित, योग्य तथा कुशल कार्यकर्ता हों, इनका ज्ञान विस्तृत, गहरा, तथा वैज्ञानिक हो तभी ये समाज के लिए आवश्यक मार्गदर्शन देने में समर्थ होंगे।

एक प्रश्न उठ सकता है कि जब शिक्षक अपना अधिकांश समय इन कार्यों में व्यतीत करेगा तो पाठ्य-विषयों के अध्यापन का क्या होगा? इसका उत्तर बुनियादी शिक्षा की पद्धति में है। काम करने के लिए दी गयी सामग्री तथा कार्य-प्रणाली के माध्यम से बालक को विषय सम्बन्धी ज्ञान दिया जायगा। इसे ही सामवायिक शिक्षण अथवा 'कोरिलेटेड टीचिंग' कहते हैं। इसमें बालक हर कदम पर नया ज्ञान प्राप्त करता है। कुछ समय तक इसी प्रकार अभ्यास करने के पश्चात उसे इतना अनुभव हो जाता है कि वह अपने से कम उम्र वाले बालक का भी मार्गदर्शन कर सकता है। यही नयी शिक्षा का नया स्वरूप है तथा आन्ध्र प्रदेश ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

•

हम आन्ध्र प्रदेशीय सामाजिक शालाओं के 'विशेष' विवरण के लिए प्रयत्नशील हैं। —सम्पादक

छठा कमरा

•

शिरीष

बात उस जमाने की है, जब हमें आजाद हुए अभी दो-चार साल ही हो पाये थे। देश को उठाने के लिए नयी-नयी योजनाएँ बन रही थीं। दिशाओं के कोने श्रमदान की जय-जयकार से गूँज उठे थे। यह दूसरी बात है कि काम कम और प्रदर्शन अधिक था। हमारे अगुआ हाथ में कुदाल और फावड़ा लेकर शौक से फोटो खिंचवाते थे। पत्र-पत्रिकाएँ भी ऐसे चित्रों से भरी-पूरी होती थीं।

उसी समय की एक घटना है। कहीं श्रमदान का आयोजन था। उद्घाटनकर्ता थे हमारे प्रधान मंत्री नेहरूजी। वे निश्चित समय पर उद्घाटन के लिए पहुँच गये। आयोजकों ने फूल-माला से सजी-धजी

चाँदी की कुदाल उनकी ओर बढ़ा दी। नेहरूजी की नसें फूल आयीं। वे बिगड़ पड़े—"यह चाँदी की कुदाल क्यों? क्या चाँदी की कुदाल से कहीं श्रमदान होता है? क्या मैं यहाँ नाटक करने आया हूँ? श्रमदान तो लोहे की कुदाल से होता है।" और उन्होंने फावड़ा उठा लिया, जुट गये मिट्टी खोदने में।

इस प्रकार चारों ओर श्रमदान की हवा बँध रही थी। स्कूलों में भी श्रमदान के विभागीय आदेश पहुँच चुके थे। उन दिनों मैं कासिमाबाद हाईस्कूल में अध्यापक था। यह स्कूल पूर्वी उत्तर प्रदेश के अत्यन्त पिछड़े हुए इलाके में स्थित है। सुना है नव्वाबी जमाने में इस कस्बे की तूती बोलती थी। गयी बीती शान शौकत की टूटी फूटी निशानियाँ आज भी जहाँ-तहाँ मौजूद हैं। कस्बे के चारों ओर छिन्न भिन्न अवशेष प्राचीर, बिचले भाग में किले की जीर्ण-शीर्ण दीवारें और लाखौरी ईंटों से चुना हुआ नंगा फाँसीघर विभत्स हँसी हँसता हुआ इतिहास के पिछले पन्नों की ओर आज भी संकेत करता रहता है। ऊसर-परती और भयंकर रेह से भर-पूर इस इलाके में हाईस्कूल किसी गड़ही में कमल खिलने से कम महत्त्व नहीं रखता था।

तो मैं कहने जा रहा था कि श्रमदान के आदेश के संदर्भ में प्रिंसिपल महोदय ने हम अध्यापकों की बैठक बुलायी। प्रश्न था—क्या किया जाय और कैसे किया जाय। सोचने विचारते तय पाया कि क्यों न शिक्षकों के लिए एक कमरा ही बनवाया जाय। विचार सबको जँचा, लेकिन सवाल था कि अगुआ कौन बने? बारी बारी प्रिंसिपल महोदय ने सभी शिक्षकों से पूछा, कोई बीड़ा उठाने के लिए तैयार न हुआ।

एक विचार आया कि लड़के तो कीचड़-पानी में काम करने से रहे, क्यों न चन्दा इकट्ठा करके मजदूरों से कमरा उठवा लिया जाय। मेरे गले के नीचे यह विचार *नहीं उतरा, खिलाफ कर बैठा। फिर क्या था, मजाक* मजाक में सबने मुझे 'फरजी अगुआ' बना ही दिया। हल्के-फुल्के व्यंग्य भी सुनने को मिले। फिर तो मेरा सोया हुआ अहं जाग पड़ा और मैंने अकेले अपनी कक्षा के बच्चों से एक कमरे की पूरी दीवारें तैयार कराने का जिम्मा ले लिया। उन दिनों मेरे जिम्मे वर्ग पाँच था। प्रिंसिपल महोदय ने समय देखकर दाद दी और बारी-बारी सबने एक एक कमरा बनवाने का जिम्मा उठा लिया।

बैठक समाप्त हुई। मैं कक्षा में आया। मैंने बच्चों को सारी बातें बतायीं। देखा आनन फानन में उनके चेहरों पर खुशी दौड़ गयी। सबसे नन्हे-मुन्ने और पूरे स्कूल के अगुआ! यह विचार उन्हें उत्साहित करने के लिए कम न था। सबने जी-जान से योजना को पूरी करने का संकल्प किया।

योजना के हर पहलू पर विचार किया गया। सबसे बड़ा अभाव पानी का था। पक्का कुआँ था तो जरूर, लेकिन काफी दूर। इसलिए सबने एक मत से तय किया कि नींवें और कच्चे कुएँ की खुदाई दोनों साथ साथ चलनी चाहिए।

हम लोगों के सामने एक दूसरा भी अहम सवाल था कि काम शुरू करने की योजना क्या हो जिससे पढ़ाई लिखाई पर किसी प्रकार का असर न पड़े और श्रमदान चलता रहे। थोड़ी देर की बातचीत के बाद तय पाया कि कुआँ खोदने में एक साथ केवल तीन आदमी ही काम कर सकते हैं—एक आदमी खोदेगा और दो आदमी मिट्टी निकालेंगे। इस तरह एक-एक घंटे की बारी से यह काम दिन भर चलाया जाय, और, नींवें की खुदाई के लिए सिर्फ आखिरी पीरियड दिया जाय, जिसमें खेल का समय भी मिला लिया जाय।

कुदालें आयीं। फावड़े आये। नन्हे-नन्हे हाथ सक्रिय हो उठे। एक सप्ताह के अन्दर ही नींवें खुद गयीं, कुआँ भी तैयार हो गया। नींवों की खुदाई ने तो किसी को विशेष आकृष्ट नहीं किया, लेकिन छोटे छोटे बच्चों ने बिना किसी बाहरी मदद के कुआँ खोद डाला है, यह सबके लिए निश्चय ही चकित कर देनेवाली घटना थी। देखा-देखी दूसरी कक्षा के बच्चों में भी जोश आया, श्रमदान की एक अभूतपूर्व लहर आ गयी। *आस पास के लोग भी देखने आने लगे।*

बच्चों का हौसला बढ़ा, और लगभग दो-ढाई महीने में ही सभी कमरों की दीवारें तैयार हो गयीं। काम पूरा होते-होते मई आ गयी। गरमी बढ़ गयी। छाजन कैसे हो, सवाल ज्यों-का-त्यों रह गया। गरमी की छुट्टी भी हो गयी, लेकिन श्रम-देवता की मूर्ति नंगी-की-नंगी ही रह गयी।

विज्ञान-प्रशिक्षण में सुधार के कुछ सुझाव

●

डा० एल्स वर्थ एम० ओबर्न

[डा० एल्स वर्थ एस० ओबर्न अमेरिकी सरकार के स्वास्थ्य, शिक्षा एवं जनकल्याण विभाग के प्रमुख अधिकारी हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास-एजेंसी' के अनुरोध पर आपने भारत के स्कूलों में विज्ञान प्रशिक्षण से सम्बद्ध निम्नलिखित विचार प्रकट किया। —ज्योत्स्ना सिंह]

● शिक्षार्थियों को अधिक अच्छी जानकारी कराने की दृष्टि से विज्ञान के पाठ्य विषय के सम्बन्ध में नये सिर से पड़ताल की जानी चाहिए।

● विज्ञान की दार्शनिक विचारधारा उसके तौर-तरीकों और उसकी विधि प्रक्रियाओं की उपेक्षा की गयी है यह उचित नहीं। विज्ञान के अध्ययन में इन स्वरूपों पर भी स्कूलों में ध्यान दिया जाना चाहिए तभी विज्ञान सब लोगों के जीवन का अंग बन सकेगा।

● विज्ञान की प्रक्रियाओं में पूर्ण दक्षता प्राप्त होने पर कक्षा में निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में शिक्षा की ऐसी उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जानी चाहिएँ जिनकी योजनाएँ पहले बना ली गयी हों।

● यह समझना गलत होगा कि जिस व्यक्ति के दिमाग में विज्ञान के सब सिद्धान्त घुसेड़ दिये गये हों वह शिक्षित हो गया है। हमारे शिक्षालयों में विज्ञान की शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वह सब शिक्षार्थियों की जीवन पद्धति का अंग बन जाये। अन्यथा यही होगा कि जब ये शिक्षार्थी बाह्य संसार में जायेंगे तो वे वहाँ अपने सिर पर आनेवाली समस्याओं का सामना करने में असमर्थ रहेंगे।

● जिस शिक्षार्थी के दिमाग में विज्ञान के केवल सिद्धान्त तथ्य और मान्यताएँ भरी हुई हों उसमें नयी-नयी प्रवृत्तियों की बहुलता, विचारों की विविधता जानने समझने की रुचि और विषय के प्रति गहरे प्रेम-जैसी उन बातों का अभाव ही होगा, जो नये तथ्यों, सिद्धान्तों और मान्यताओं को खोजने के लिए आवश्यक होती हैं।

● आज जब हम विज्ञान और उससे प्रभावित नयी संस्कृतिवाले युग में आगे बढ़ रहे हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे अध्यापकों को विज्ञान के उत्पादनों के साथ-साथ विज्ञान की प्रक्रियाओं का अध्यापन करने के लिए भी प्रशिक्षित किया जाय। जिस प्रकार सिद्धान्तों और मान्यताओं का विश्लेषण किया जाता है, बहुत कुछ उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के लक्ष्यों का मूल तत्वों में विश्लेषण किया जा सकता है।

● पिछले कुछ वर्षों के भीतर विज्ञान और उसकी शिक्षा की विशेष आलोचना की जाती रही है। बहुत लोगों का यह विश्वास है कि विज्ञान और गणित पर इस समय बहुत अधिक जोर दिये जाने से स्कूलों के पाठ्यक्रम में असन्तुलन और अस्त-व्यस्तता की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

● निस्सन्देह यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने लड़के लड़कियों की शिक्षा में सन्तुलन का ध्यान रखें। यह ठीक है कि हमारे स्कूलों की पढ़ाई पूरी करनेवाले मेधावी छात्रों में से एक सीमा तक छात्र विज्ञान की पढ़ाई में लगें किन्तु हमें साहित्य, इतिहास और दर्शन आदि विषयों के विद्वानों कलाकारों, कवियों लेखकों और वकीलों की भी आवश्यकता है।

● भारत और अमरिका में विज्ञान के अध्यापन की प्रणाली में एक बड़ा अंतर यह है कि अमरिका में तो हाईस्कूलों की अंतिम कक्षाओं में विज्ञान घनीभूत विधि से पढ़ाया जाता है, यानी एक पूरा वर्ष जीव विज्ञान, एक पूरा वर्ष रसायनशास्त्र और एक पूरा वर्ष भौतिक विज्ञान जबकि भारत में प्रति वर्ष थोड़ा जीव विज्ञान थोड़ा रसायनशास्त्र और थोड़ा भौतिक विज्ञान पढ़ाया जाता है।

● मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि कौन सी प्रणाली अधिक अच्छी है। दोनों में ही कुछ अच्छाइयाँ हैं और कुछ कमियाँ हैं। ●

कुछ जरूरी बातें

•

एक कार्यकर्त्ता

बच्चे की शिक्षा शुरू होने की कोई निश्चित आयु नहीं है। हाँ, स्कूल में भेजने की आयु अवश्य है। स्कूल शिक्षा की नयी कल्पना के अनुसार परिवार और समाज के बीच की कडी है, उनका स्थान लेनेवाली अपने में पूर्ण इकाई नहीं है। अगर हमें अपने बच्चे की सही शिक्षा का ध्यान है तो हम माता या पिता होने के नाते बच्चे को स्कूल के भरोसे छोडकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते। हमें यह मानकर चलना होगा कि बच्चे की शिक्षा वास्तव में उस दिन से शुरू होती है जिस दिन वह गर्भ में आता है। गर्भ में आते ही उसका संस्कार-शिक्षण शुरू हो जाता है, जिसकी बुनियाद पर आगे चलकर उसका गुण-विकास होता है। गुण विकास के मुख्य रूप से चार पहलू हैं। एक, उँगलियाँ अपने हुनर से वस्तुओं का उत्पादन करें, दो, भावना कला के रूप में सौन्दर्य की विविध सृष्टि करें, तीन, मस्तिष्क नित्य नये अनुभव करे, नयी योजना बनायें, नये वैज्ञानिक सत्य ढूंढे, चार, सम्पूर्ण संवेदनशक्ति, व्यक्तित्व, प्रकृति, पडोसी, समाज, तथा सृष्टि-मात्र से मधुर सम्बन्ध साधे। उत्पादक, कलाकार, वैज्ञानिक और मित्र ये चारो पहलू शिक्षा की प्रक्रिया मे प्रकट होने चाहिएँ, तभी शिक्षा पूर्ण कही जायगी, और जबतक शिक्षा स्वयं पूर्ण नहीं होगी तब-तक बच्चे का पूर्ण व्यक्तित्व विकसित नहीं होगा।

ऐसी शिक्षा केवल स्कूल तक, या आयु की किसी अवधि तक सीमित नहीं की जा सकती। इसमे प्रकृति, परिवार, स्कूल और समाज सबका स्थान है और इसमे जीवन की हर क्रिया, चाहे वह जितनी छोटी हो, हर प्रभाव, चाहे वह जितना अप्रत्यक्ष हो, सहज ही शिक्षण की प्रक्रिया बन जाता है। इस दृष्टि से माता-पिता केवल माता और पिता नहीं है, बल्कि बच्चे के सबसे पहले शिक्षक है। इसका अर्थ यह है कि उन्हें अपने को नये सिरे से उन गुणो की भूमिका म शिक्षित करने की कोशिश करनी चाहिए, जिनका विकास वे अपने बच्चे म देखना चाहते है। जो माता-पिता अपने को पुन-शिक्षित करने की कोशिश नहीं करना चाहते हैं वे अपने बच्चे पर अच्छा प्रभाव नहीं डाल सकते। यह माता पिता बनने का गौरव और उत्तरदायित्व दोनो है। बहुत अच्छा होगा कि इस भावी उत्तरदायित्व का भान पति और पत्नी को माता और पिता बनन स कही पहिले हो हा जाय, ताकि उनका पूरा गार्हस्थ्य जीवन ही शैक्षणिक बन जाय। यह काम आसान नहीं है, लेकिन अनिवार्य है। यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि बच्चे का शिक्षण माता पिता के पुनर्शिक्षण से शुरू होता है, क्योकि बिलकुल शुरू की अवस्था में भी उसम निकट व्यक्तियो और वातावरण से प्रभाव ग्रहण करन की शक्ति होती है।

एक दूसरी बात भी समझ लने की है। अकसर ऐसा होता है कि ममता, मोह, अधिकार-भावना या अतिशय प्रेम के कारण हमार अन्दर यह आकांक्षा पैदा हो जाती है कि हमारा बच्चा ठीक उसी तरह का हो जैसा हम चाहते हैं। पति की पत्नी से, माता-पिता की सन्तान से, बडे भाई की छोटे भाई से, मित्र की मित्र से, बुजुर्ग की युवक से, सरकार की जनता से, जहाँ देखिए हमारे जीवन में अपेक्षाओं का जाल बना हुआ है। ये अपेक्षाएं कभी-कभी इतनी उग्र होती है कि बहुत जल्द आग्रह बन जाती है, और हर आग्रह आदमी को आदमी के निक

स्थान के बजाय दूर करने का कारण बन जाता है। हमें यह जान लेना चाहिए कि प्रकृति में एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षाएँ पूरी करने के लिए नहीं पैदा किया है और कोई व्यक्ति किसी दूसरे की प्रतिकृति नहीं हो सकता। जो होने की कोशिश करेगा वह अपना व्यक्तित्व खोयेगा।

बच्चा जन्म के समय अपने विकास और व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ लेकर दुनिया में आता है। परिवार, स्कूल या समाज की कोई भी कोशिश उसकी विशिष्टता और उसके स्वतन्त्र विकास की दिशा को नहीं बदल सकती। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को कुण्ठित अवश्य कर सकती है। इसलिए शिक्षा की यह सबसे बड़ी जिम्मेदारी है कि बच्चे की विशिष्टता को कुण्ठित न होने दे, उसे अपने आप ही—रास्ते पर बढ़ने दे। माता-पिता का यह धर्म है कि बच्चे को अपनी आकांक्षाओं का शिकार न बनायें, बल्कि उसे वही होने में मदद करें जो होने के लिए वह पैदा हुआ है।

कई माता-पिता कुछ आदर्शवादी होते हैं। उनके मन में जीवन का जो चित्र (इमेज) होता है वह वास्तविक समाज का नहीं होता, बल्कि उनकी कल्पना के भावी समाज का होता है। वे चाहते हैं कि शिक्षित होकर बच्चा वास्तविक समाज का सदस्य न होकर काल्पनिक समाज का सदस्य बने, उसमें वे ही गुण दिखायी दें जो काल्पनिक जीवन के हैं। और जब बच्चा उनकी अपेक्षा नहीं पूरी करता तो उन्हें घोर निराशा होती है। इस निराशा का मुख्य कारण यह है कि उनकी अपेक्षा ही गलत है, उनका आग्रह अन्यायपूर्ण है। बच्चे को पूरा अधिकार है कि वह प्रचलित सभ्य जीवन को पसन्द करे, उसे उसी तरह यह अधिकार भी है कि प्रचलित जीवन से विद्रोही बनकर भावी जीवन के मूल्य ग्रहण कर ले। गांधी की सन्तान पर कदापि यह जिम्मेदारी नहीं है कि वह गांधी ही बने। प्रकृति में इसकी कोई व्यवस्था भी नहीं है। हर व्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य है, वही उसका गौरव है, उसी के कारण वह विभूति बनता है। हमें शुरू में ही तय कर लेना चाहिए कि हम बच्चे को विभूति बनने देना चाहते हैं या उसे रेवड़ का मुहर बनाना चाहते हैं, इसलिए शिक्षा की बुनियादें हैं स्वतन्त्रता और निर्भयता।

●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

पाठ्यक्रमों की एकरूपता : एक प्रश्नचिन्ह

○

सम्पादक जी,

अभी कल की बात है, हमारे केन्द्रीय शिक्षा मंत्री से लोकसभा के एक सदस्य ने प्रश्न किया कि सारे देश के पाठ्यक्रमों में एकरूपता लाने की दिशा में क्या प्रगति हुई है? उत्तर में हमारे नये माननीय शिक्षामंत्री ने कहा कि बार-बार मुख्य मंत्रियों एवं शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलनों में इस बात पर जोर दिया जाता है और उनसे इस दिशा में ठोस कदम उठाने का अनुरोध किया जाता है, परन्तु अपने मुख्यालय जाते-जाते वे इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस दिशा में कुछ भी प्रगति नहीं हो पायी है और सभी अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापकर महान मनीषी नहीं तो महान शिक्षा-शास्त्री होने का दावा तो कर ही बैठे हैं। प्रयोगों के नाम पर हमारी शिक्षा को जिस माटी के मोल बिकना पड़ रहा है, उसका लेखा-जोखा अभी भले ही न निकाला जाय, परन्तु परिणाम तो आनेवाली सन्तति को ही भोगना पड़ेगा।

अपने नये शिक्षामंत्री की स्पष्ट स्वीकारोक्ति से कम-से-कम इतनी बात तो साफ है कि उन्होंने एक नयी परम्परा कायम की। चाहते तो वह भी कूड़े पर थोड़ा मिट्टी डाल देते और कुछ देर के लिए ही सही हमारी नाक की रक्षा तो कर ही लेते, चाहे सड़ांद की वन्दू

कितनी ही कड़ी क्या न निकलतो। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। सच्चाई सच्चाई है उसे कहने में संकोच क्या? कड़ुई लगती है तो लगे।

गलती गलती है उसे मान लेने में लज्जा क्या? बड़े लोग भी गलतियाँ करते हैं और बहुत बड़ी बड़ी गलतियाँ करते हैं। गलतियों को मान लेने से कहीं बड़प्पन घटता है? वह तो और भी निखर उठता है। क्या ऐसी आशा की जाय कि भविष्य में हुई गलतियों को भी इतनी ही बहादुरी से सीना तानकर स्वीकार कर लिया जायगा और अपनी कमजोरियों को छिपाने की चेष्टा नहीं की जायगी? जी हो लेकिन अपनी भूलों को आंख मूंद कर स्वीकार करते जाना ही सब कुछ है इसे कोई नहीं स्वीकारेगा। आप मुझसे इस बात पर अवश्य सहमत हो जायेंगे कि हम अपनी भूलों पर पर्दा नहीं डालना है बल्कि उनसे बहुत कुछ सीखना है ताकि भविष्य में वो वैसी गलतियाँ दुहराई न जा सकें और बिना परिणाम के प्रयोगों के नाम पर बेचारी शिक्षा बिक न जाय बदनाम होकर रह न जाय।

युगों तक प्रयोग किये जाते हैं और बाद में उन्हें असफल अव्यावहारिक घोषित करके टूटी पर लिया जाता है और वह भी उन्हीं लोगों द्वारा जो उसके संचालक होते हैं सत्तसर्वी होते हैं यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात है।

देश की एकता और अखण्डता के अतिरिक्त शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी पूरे देश के पाठ्यक्रमों में एकरूपता की चर्चा कोई नयी चीज नहीं। एक राज्य के विद्यार्थी को दूसरे राज्य में एक विश्वविद्यालय के छात्र को दूसरे विश्वविद्यालय में जब जाने का अवसर मिलता है तब उसे पाठ्यक्रमों में एकरूपता न रहने के कारण उत्पन्न अनेक कठिनाइयों का शिकार होना पड़ता है।

देश में ऐसी बहुत संस्थाएं हैं अनेक राज्य भी ऐसे हैं जहाँ शिक्षा की प्रगति सन्तोषप्रद कही जा सकती है परन्तु ऐसे भी राज्य हैं जहां कुछ तथाकथित शिक्षा शास्त्रियों के स्वार्थपूर्ण भूलभुलैया का शिकार देश की भावी पीढ़ी को होना पड़ रहा है और परिणाम के नाम पर दिल्ली से दौलताबाद की यात्रा करनी पड़ रही है। लोगों को इस मिथ्या निश्चय के लिए बाध्य किया जाता है कि अंग्रेजी की शिक्षा-पद्धति ही अच्छी थी। शायद इसी का कहना है—खोदा पहाड़ निकली चुहिया।

जरूरत इस बात की है कि इन भूलभुलैयों के चक्कर में न पड़कर ऐसे ठोस कदम उठाये जायं कि पूरा देश इस दृष्टि से यह सोचने को बाध्य हो कि उसका शिक्षाक्रम एक होना चाहिए चाहे वह प्राथमिक वर्गों का हो या विश्वविद्यालयों का। हम नन्हीं-नन्हीं इकाइयों में न सोचकर देश के पैमाने पर सोचें और अपने स्वार्थों की पूर्ति के गोरखधंधों में न पड़कर देश हित को सर्वोपरि समझें और देश में एकता बनाये रखें। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारी जो भी योजना हो ठोस हो व्यावहारिक हो। ऐसा न हो कि वह चन्द बुद्धि विलासियों की मानसिक विलासिता से निकली मात्र कागजी और पूर्णतः अव्यावहारिक हवाई किला बनकर रह जाय। होना तो यह चाहिए कि देश में बिखरे पड़े लाखों शिक्षकों निरीक्षकों शिक्षा-शास्त्रियों और शिक्षा प्रेमियों के सहयोग से पूरे देश के लिए पाठ्यक्रम तैयार हो और उस पर अधिक से अधिक लोगों को अपने तर्कपूर्ण विचार एवं अनुभवों को प्रकट करने के पर्याप्त अवसर मिलें। इसके लिए प्रश्नावलियां बनाई जा सकती हैं और शिक्षक इकाई से लेकर जिला राज्य एवं देश के स्तर पर विचार करके एक ऐसा पाठ्यक्रम तैयार किया जा सकता है जो स्थान और परिस्थितियों के अनुसार सामित परिवर्तन के साथ पूरे देश में लागू किया जा सके।

मैं आशा करता हूँ कि शिक्षामंत्रीजी अपने उपलब्ध साधनों का योग्य उपयोग देश के पाठ्यक्रमों में एकरूपता लाने की दिशा में करेंगे और पूरे देश की एकता और अखण्डता में स्थायित्व लाने के लिए लोगों में संस्कृति और नैतिकता की आधार शिला पर सुनिश्चित का एक ऐसा भव्य भवन खड़ा करेंगे जिसमें पलनेवाले बच्चे और बच्चियां अपने क्षेत्र में दक्षता प्राप्त करने के साथ ही सच्चे देशभक्त बन सकें देश के लिए जीने और देश के लिए मरने की भावना से ओतप्रोत हो सकें।

—विष्णुकांत पाण्डेय
अरेराज, मोतिहारी, चम्पारण (बिहार)

●

जिस समय मगध-राज अजातशत्रु ने वज्जि-संघ राज्य पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में अपने प्रधान मंत्री वस्सकार को सलाह करने के लिए महात्मा गौतम बुद्ध के पास भेजा तो उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधित करते हुए कहा—

आनन्द ! क्या तूने सुना है कि वज्जि लोग एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी-सभाएँ करते हैं ?

हाँ भगवन्, सुना है।

आनन्द ! जबतक वज्जि एकसाथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहेंगे तबतक आनन्द ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना हानि नहीं।

क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जि लोग एक होकर विचार करते हैं ? एक होकर उत्थान करते हैं ? और एक हो राजकीय कार्यों को सँभाल करते हैं ?

हाँ भगवन सुना है।

आनन्द ! जबतक वज्जि लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे, और एक हो राजकीय कार्यों को सँभाल करते रहेंगे तबतक उनकी वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित हैं उसका उल्लंघन नहीं करते ? जो विहित नहीं है उसका अनुसरण नहीं करते ? और जो नियम पुराने समय से वज्जि लोगों में चले आ रहे हैं उनका पालन करते हैं ?

हाँ भगवन सुना है।

आनन्द ! जब तक वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित हैं उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो विहित नहीं हैं उसका अनुसरण नहीं करेंगे और जो पुराने समय से नियम वज्जि लोगों में चले आ रहे हैं उनका पालन करते रहेंगे तबतक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जियों के जो वृद्ध (महल्लक) नेता हैं उनका वे सत्कार करते हैं ? उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते हैं ? उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते हैं ?

हाँ भगवन, सुना है।

आनन्द ! जबतक वज्जियों में वृद्ध (महल्लक) नेता रहेंगे, उनका वे सत्कार करेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करेंगे। उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

—गुरुशरण

●

शिक्षण का काम करते हुए शिक्षक अपना विकास किस तरह करें ?

(१) हम जिस काम से जीविकोपार्जन करते है उसे हम पूरी वफादारी और परिश्रम-पूर्वक पूरा करें। शिक्षका को कम-से-कम दिन म ८ घण्टे काम करना चाहिए। इसम सबकों साथ-साथ मिलकर काम करने की भी योजना बनानी चाहिए। आप एसी योजना बनायें, जिसके अनुसार आप सप्ताह में तीन दिन साथ बैठकर चर्चा करें। इन मौका पर साथ-साथ कुछ स्वल्पाहार का आयोजन करें और फिर दो-सवा दो घण्ट अपने अध्यापन की तैयारी करें। इसमे स यह भावना पैदा हो कि हम सब सामूहिक रूप से शाला स लिए काम कर रहे है। अगर कोई नया शिक्षक हो तो सब मिलकर उस भी तैयारी करने म मदद दें।

(२) शाला में निश्चित रूप स कुछ शिक्षका को दूसरा से अधिक अनुभव होता है। हर शाला म एक-दो या अधिक अनुभवी शिक्षक होते ही है। इन अनुभवी शिक्षकों को नये शिक्षका की मदद करनी चाहिए। नय शिक्षक अनुभवी शिक्षका की मदद स नये पाठ, नयी योजनाएँ बनायें। अनुभवी शिक्षक नये शिक्षक को नये विचार भी प्रदान करें। सप्ताह म एक-दो दिन निश्चित कर लिए जायें और इन दिना म अनुभवी शिक्षक नय शिक्षकों को अपने अनुभव का लाभ दें।

दैनिक समस्याओ को हल करन म तथा एक-रसता का वातावरण बनाने में शिक्षका को प्रतिदिन की मीटिंग बड काम की है। सप्ताह में एक बार एक घण्टा मीटिंग हो, उसके बजाय पर हर रोज १० या १५ मिन की मीटिंग अधिक लाभप्रद होगी। मूल मुद्दा यह है कि अनुभवी शिक्षक नये की मदद करें—यह अत्यन्त आवश्यक है।

(३) शिक्षक अपने काम का पूरा-पूरा, ठीक ठीक रेकार्ड रखें। हर रोज काम की क्या योजना बनायी थी और प्रत्यक्ष हुआ क्या, इसका पूरा रेकार्ड व्यवस्थित रूप मे रखा जाय। दैनिक रेकार्ड की तरह साप्ताहिक और मासिक रेकार्ड भी नियमित रूप से रखे जायें। इसमे काम के विकास मे खूब मदद मिलती है।

(४) काम की योजना केवल शिक्षक के द्वारा ही न बनायी जाय। योजना बनाने मे बच्चा को भी भाग लेना चाहिए। नयी तालीम म सर्वोदय-समाज-रचना अथवा सहकारी समाज के निर्माण हेतु यह अत्यन्त आवश्यक मुद्दा है।

(५) आप शिक्षका का अध्ययन-दल बनायें। सप्ताह म एक दिन किसी अच्छी किताब का चुनकर उसका सब मिलकर अध्ययन करें। यह जरूरी नही है कि आप लोग नयी तालीम के साहित्य का ही अध्ययन करें। किसी भी विषय का कैसे पढ़ाया जाय, इस सम्बन्ध म बहुत-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकें है। भूगोल पढ़ाने की विधियों की बहुत-सी अच्छी अच्छी किताबें है। जनरल साइस की भी किताबें है, जिनमें दिन प्रतिदिन की घटनाओ और छोटे-छोटे प्रयोगा के आधार पर विज्ञान सिखाने के सुझाव दिये गये है। इस प्रकार शाला के सब शिक्षक एक साथ मिलकर इनका अध्ययन करें। इससे एक तो सामूहिक भावना का बल मिलेगा, और दूसरे नये-नये विचारा स समूचा शिक्षक-समूह अवगत होगा।

(६) आजकल शिक्षा सम्बन्धी अनक मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती है। इनम स कुछ आपके लिए काफी उपयोगी हो सकती है। अपने लिए कोई एक अच्छी पत्रिका चुनें और उसम जो एक-दो लख सबके लिए उपयोगी हो उन्हें सब एक साथ पढ़ें। इसम मूल मुद्दा यह है कि पूरा शिक्षक समूह एक साथ मिलकर कुछ नया अध्ययन करे। अगर किसी विषय विशेष का अध्ययन करने मे कठिनाई हो तो पत्रिकाओ में स लेखा का ही अध्ययन किया जाय।

—मार्जरी साइक्स

राष्ट्रनिर्माण
का
राजपथ

• वासुदेव शरण

नये भारत के निमाण का एक ही राजपथ मुझ दिखाई पडता ह और यह ह नयी शिक्षा। नयी शिक्षा का तात्पय ह उस प्रकार की शिक्षा जो किसी धन्धे के द्वारा मनुष्य के जीवन को सोद्देश्य बना सके अर्थात शिक्षा के साथ ही जीवन का उपयोगी ध्येय भी निश्चित हो जाय और मनुष्य ऐसा क्षेत्र प्राप्त कर ले जिसमे उसकी सभी शक्तियों का सदुपयोग हो सके। जापान में और रूस में हमने ऐसी ही व्यवहारोपयोगी शिक्षा की बात सुनी ह।

भारतवष में जो विश्वविद्यालय ह या जो विद्यालय ह उनमें शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना ह इस मिथ्या ध्येय के कारण न विद्यार्थियों के जीवन में सच्चाई आ पाती ह और न अध्यापक ही अपने पेशे के प्रति वफादार हो पाते ह। सब लोग यह देख रहे ह पर कोई भी इसमें सुधार करने का साहस नहीं करता। लाखों छात्रों की बडी बडी पलटनों को परीक्षाओं के पार उतार देना सच्ची शिक्षा नहीं ह इस प्रणाली में समय धन और शक्ति तीनों का अपव्यय हो रहा ह। नयी शिक्षा की योजना ऐसी होनी चाहिए कि उसमें प्रत्येक छात्र मातृभाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर और उसके व्यवहार की योग्यता प्राप्त कर ले विश्व और समाज के विषय में ठोस जानकारी प्राप्त कर ले एवं किसी एक शास्त्र या धन्धे के विषय में इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर ले कि वह उसके जीवन और समाज के लिए उपयोगी हो।

सबसे मुख्य बात यह ह कि शिक्षा प्राप्त व्यक्ति का ज्ञान कोरा सिद्धान्त न रहे किन्तु उसे स्वयं अपने हाथों से काम करने का पूरा अभ्यास प्राप्त कराया जाय। इस प्रकार अनेक घरेलू उद्योग धन्धों के साथ छात्रों के ज्ञान-सूत्रों को जोडा जा सकता ह एवं बडे बडे कल-कारखानों के साथ भी उनका सम्बन्ध जोडकर उनकी प्राविधिक शिक्षा को पूरा किया जा सकता ह। योजना ऐसी होनी चाहिए जिसमें कोई छात्र शिक्षा से वंचित न रहे और केवल इतना ही नहीं बल्कि कालान्तर में उचित समय पर उसे उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलने की भी निश्चित सुविधा हो।

यदि इस प्रकार का निश्चय किया जा सके तो शिक्षा के क्षेत्र में नयी जान पड जायगी। आज जैसी मूर्च्छा है वह तो सबके लिए घातक ह और भारत जैसे देश के लिए जहाँ व्यय के लिए सीमित धन ह बडी विडम्बना भी है। इस स्थिति से उद्धार करना नेता और जनता दोनों का आवश्यक कर्तव्य ह। ●

ऋतुओं की छाँव में

•

रमाकान्त

ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य के खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन सबमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन आ ही जाता है। गरमी में हम सूती कपड़े पहनते हैं, और जाड़ा आने पर गरम कपड़े। गरमी में भोजन कम और हल्का करते हैं। जाड़े में दो-चार कौर अधिक भी हो जाय तो खट्टी डकार का शिकार नहीं होना पड़ता। प्रकृति की व्यवस्था रहती है कि ऋतुओं के अनुरूप आहार भी हमें मिले। किस ऋतु में हम कौन-कौन-से फल मिलने चाहिए, प्रकृति इसका पूरा प्रबन्ध रखती है।

किसी भू-भाग में सन्तरे खूब होते हैं, कहीं लीचियों की भरमार होती है, कहीं अंगूर, सेब और केले अधिक होते हैं। आखिर ऐसा क्यों? जिस जलवायु में मनुष्य को जिस प्रकार की खुराक अपेक्षित है, प्रकृति वहाँ उसे पैदा करती है, किन्तु क्या हम इस दिशा में सजग रहते हैं? अगर जाँच की जाय तो यही नतीजा निकलेगा कि मनुष्य आहार-विहार में इतनी अनियमितता, मनमानापन और स्वच्छन्दता बरतता है कि विवश होकर रोगों को उसकी मेहमानी स्वीकारनी पड़ती है। अगर आदमी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करे तो वह बीमार ही न पड़े।

हमें स्वस्थ रहने के लिए अपनी खुराक को संयमित और मर्यादित रखना होगा। वैसे साधारणतया हमलोग खुराक का अर्थ मात्र-अनाज ही मानते हैं, लेकिन हमारी खुराक में अनाज से बढ़कर दो और आवश्यक चीजें हैं—हवा और पानी। हमारे लिए इन तीनों की समान रूप से शुद्धता आवश्यक है।

यहाँ हम हवा, पानी की चर्चा न करके केवल भोजन के सम्बन्ध में ही मोटी-मोटी बातों पर विचार करेंगे, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति के लिए जानना आवश्यक है। नहीं तो साधारण-साधारण-सी भूलों के कारण हम और हमारे नन्हे मुन्ने रोगों के शिकार हो जाते हैं और हम अपनी अज्ञानता-वश उधर ध्यान भी नहीं दे पाते।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भोजन हर दृष्टि से आदर्श होना चाहिए। समय-समय पर खाद्य-वस्तुओं में परिवर्तन करते रहना आवश्यक है। गेहूँ, चना, बाजरा और मकई की रोटी दूध के साथ खाना स्वास्थ्य-रक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मकई की रोटी तो पोषण की दृष्टि से गेहूँ की अपेक्षा कहीं अधिक लाभकर होती है। इसमें कैलोरी विटामिन और अन्य खनिज गेहूँ से अधिक होते हैं। लेकिन, इसे घी-गुड़ या दही के साथ गरम-गरम ही खाना चाहिए।

प्रायः लोगों को भ्रम है कि मांस में स्वास्थ्य-वर्द्धक तत्व अधिक होते हैं, लेकिन यह सत्य नहीं है। सच तो यह है कि हरी सब्जियों में इससे अधिक परिमाण में ये गुण मौजूद हैं, और अनेक प्रकार की जानी-अनजानी रुग्णताओं से भी हमें मुक्त रखती हैं।

भोजन के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें सदैव ध्यान में रखनी चाहिए—

- भोजन खुलकर भूख लगने पर ही करना चाहिए।
- दिन रात में केवल दो बार ही भोजन करना चाहिए।
- सदैव सादा भोजन करना चाहिए। एक बार के भोजन में अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ नहीं होने चाहिए।

- कभी-कभी भोजन के पहले नमक के साथ अदरख खाने से भोजन सुस्वादु लगता है और पाचन-शक्ति ठीक रहती है।
- भोजन एकाग्रचित्त और प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिए।
- आवेश, क्रोध या अन्य किसी मनोविकार के क्षण में भोजन नहीं करना चाहिए।
- गरिष्ठ भोजन यथा-सम्भव नहीं करना चाहिए और अगर करना ही पड़े तो नित्य के भोजन-परिमाण के आधे से अधिक नहीं होना चाहिए।
- भोजन की समाप्ति पर कुछ देर बाद दूध मिल सके तो अवश्य लेना चाहिए।
- भोजन खूब चबाकर गले के नीचे उतारना चाहिए।
- प्यास के समय पानी और भूख के समय पहले भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।
- भोजन के पहले दो चार घूंट पानी पी लेना चाहिए। बीच-बीच में अगर जरूरत हो तो थोड़ी थोड़ी देर में कम परिमाण में पानी ले सकते हैं। वैसे भोजन के आध घंटे बाद ही पानी पीना पाचन की दृष्टि से लाभकर है।
- कड़ी धूप से आने या काम से थका होने पर थोड़ा आराम करके ही खाना चाहिए।
- अच्छा-से अच्छा भोजन भी भूख से थोड़ा कम ही खाना चाहिए।
- शाक सब्जी का यथासम्भव अधिक-से-अधिक प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार ऊपर लिखी बातों का पालन हम माँ-बाप और शिक्षकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बच्चे हमारा ही अनुकरण करते हैं। जबतक अपने दैनिक जीवन में हम नियमितता नहीं लाते, केवल बार बार आदेश से काम नहीं चलनेवाला है।

आज हमारे घरों में चाय और काफी जड़ जमाती जा रही है जो आमाशय के लिए अत्यन्त हानिकर है। जबतक हम चाय काफी पीते रहेंगे, बच्चों को कैसे रोक सकते हैं! रोकना तो दूर कुछलोग गर्व से कहा करते हैं कि हमारे बच्चे को कम-से-कम तीन बार तो समय से चाय मिलनी चाहिए। और तो और बिना मुँह-हाथ धोये 'बेड-टी' का महारोग भी हमारे पढ़े लिखे परिवारों में जड़ जमाता जा रहा है, और गर्व का विषय बन रहा है। इस प्रकार अनधुले दाँतों की मैल पेट में जाती है और पाचन-शक्ति समय से पहले ही जवाब दे जाती है। अगर हम अपने बच्चों का कल्याण चाहते हैं तो हमें चाय-काफी को तुरत छोड़ना होगा।

हमारी ममतामयी माताएँ अज्ञान और आलस्यवश अपने नन्हे मुन्नों को दोपहर के लिए जलपान बनाकर नहीं देती, बल्कि उन्हें कुछ पैसे ही देकर छुट्टी पा लेती हैं। उन पैसों से बच्चे खोनचेवालों से अहितकर चटपटी खाद्य-सामग्री खरीदते और खाते हैं। यह आदत अत्यन्त अहितकर है। सन्ध्या-समय बच्चों के घर लौट आने पर भी उन्हें ताजा और आवश्यक आहार प्रायः नहीं ही मिलता। इस दिशा में माँ-बाप की सजगता अनिवार्य है नहीं तो हमारे बच्चों का स्वास्थ्य कदापि ठीक नहीं रह सकता।

जहाँ पालकों के लिए इस दिशा में सजगता आवश्यक है हमारे शिक्षक बन्धुओं के लिए भी कम जरूरी नहीं है कि वे बच्चों को समझायें कि क्या, कब और कैसे खाना चाहिए। मिर्च-मसाले का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। हमारे स्वास्थ्य के लिए कब-कब, किन किन चीजों का खाना-पीना श्रेयस्कर है, यह भी शिक्षक को बताना होगा। किसी भी ऋतु में कोई खास फल या अनाज क्या महत्व रखता है यह जानकारी बच्चों को देनी होगी और यह होगा हमारे शिक्षक का सामवायिक पाठ।

जाड़े के सन्दर्भ में, 'धूप-स्नान' कब, कैसे और क्यों करना चाहिए, शिक्षक को बताना होगा। इस मौसम में सर्दी, जुकाम और खाँसी प्रायः क्यों हो जाती है और इनसे कैसे बचा जा सकता है। इनके गले पड़ जाने पर कैसे छुटा जा सकता है, शिक्षक नहीं बतायेगा तो और कौन बतायेगा! भला समन्वित पाठ के ऐसे सुनहरे अवसर छोड़े जाने चाहिए! विश्वास है कि शिक्षक अगर जागरूक रहें तो वे ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ होनेवाले प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर अधिकांश आवश्यक ज्ञान विज्ञान बच्चों को सहज रूप में दे सकते हैं।

मधुमक्खी और उसकी पालन-विधि–२

•

शिवदास

मधुमक्खी के जीवन सम्बन्धी सामान्य जानकारी पिछले अंक में दी जा चुकी है। अब हम मधु और मोम के सम्बन्ध में विचार करेंगे। मधु हमारे लिए एक प्रकार का प्राकृतिक वरदान है। यह हमारे लिए प्रकृति प्रदत्त एक मधुर एवं बहुमूल्य मिष्टान्न है। इसका रंग, गन्ध और स्वाद तरह-तरह का होता है। श्वेत और पीत रंग का मधु तो प्रमुख है ही, हर रंग का भी मधु मिलता है। इसके गाढ़ेपन में भी अन्तर होता है। कभी-कभी तो यह इतना गाढ़ा होता है कि शीशी उल्ट देने पर भी बाहर नहीं गिरता।

मकरन्द

मकरन्द एक कच्चा पदार्थ है, जिससे मधुमक्खियाँ मधु उत्पन्न करती है। इसकी कई किस्में होती हैं, शक्कर की मात्रा भी अलग-अलग होती है। इसमें जल तथा गन्ने की शक्कर (सुक्रोस) की अधिकता होती है। मकरन्द ताजा रहने पर पतला होता है। इसमें कुछ तेल भी होता है, जिससे मधु की सुगन्ध तथा स्वाद दोनों में विशेषता आ जाती है।

मधु में शक्कर

मधु में डैक्सट्रोस, लिवोलेज और सुक्रोस की मात्रा क्रमश: ३५, ४० और २ प्रतिशत रहती है। शक्कर के द्वारा मधु की शुद्धता ज्ञात करने में आसानी होती है। इसके अतिरिक्त उसमें लोहा, प्रोटीन तथा फासफोरस भी पाया जाता है।

एक विश्व (पारमेण्ट) इन्वर्टेज मकरन्द की सुक्रोस को मधु के ग्लूकोज में बदल देता है। यह कमेरी मक्खियों की लार-ग्रन्थियों से श्रवित होता है।

मधु में जल की मात्रा १७ से २० प्रतिशत रहती है। अच्छे किस्म के मधु में पानी की मात्रा कम रहती है। हवा में खुला रहने पर मधु वायु से वाष्प सोखता है, इसलिए उसे नम स्थान में नहीं रखना चाहिए। अगर सूखे और खुले स्थान पर रख दें तो पानी निकलकर हवा में चला जायगा और इस प्रकार वह गाढ़ा हो जायगा। नम स्थानों में रखने पर वह काफी मात्रा में पानी खींच लेता है, जिससे उसका स्वाद बिगड़ जाता है और वह खाने योग्य नहीं रह जाता।

मधु में मौजूद शक्कर को पचाने की आवश्यकता नहीं होती। वह सीधे रक्त में मिल जाता है, इसलिए यह बहुत ही शक्तिदायक भोज्य-पदार्थ है। लोहे की उपस्थिति के द्वारा यह शरीर की रक्त-हीनता भी दूर करता है। बच्चों तथा रोगियों के लिए तो यह सबसे अधिक पौष्टिक पदार्थ है, क्योंकि इसमें वे सभी विटामिन हैं, जिनसे शारीरिक वृद्धि तथा स्वस्थता मिलती है।

गरम दूध के साथ लेने पर यह स्फूर्ति भी देता है और सरदी तथा जुकाम में लाभ पहुँचाता है। जले-कटे घावों पर भी इसके लगाने से आराम मिलता है।

मधुमक्खी के छत्तों से प्राप्त मोम

छत्ते की षटकोणाकार दीवारें मोम की बनी होती हैं। यह कमेरी मक्खियों के उदर के निचले भाग में स्थित विशेष प्रकार की ग्रन्थियों में उत्पन्न होता है। पुराने जमाने में लोगों की यह धारणा थी कि इसे पौधों से इकट्ठा करके कमेरी मक्खियाँ छत्ते में ले जाती हैं,

लेकिन सन् १७९२–९३ में जान हंटर तथा हूबर नामक वैज्ञानिकों ने उदर में स्थित मोम-ग्रन्थियों का जिक्र किया और यह भी दिखला दिया कि मोम मधु से बनता है।

मोम ग्रन्थियाँ

कमेरी के उदर के अंतिम चार गंडों में मोम-दर्पण होते हैं। यह दर्पण, वगड में स्थित चिकनी सतह होती है और अपने अगले खंड में आच्छादित रहती है। ये दर्पण मोम-ग्रन्थियों के नीचे रहते हैं, जो अनुकूल समय होने पर तरल मोम श्रवित करते हैं। यही तरल मोम सूखने पर कड़ी होकर छोटी-छोटी मोम की शल्कों में परिवर्तित हो जाते हैं। छत्ता के बनाते समय यही शल्क कमेरी के पिछले पैरों के काँटों द्वारा जबड़ा में ले जाया जाता है और वहीं इसको आवश्यक शक्लों में बदल दिया जाता है।

छोटी मक्खियों में ये मोम ग्रन्थियाँ क्रियाशील नहीं होतीं और बुढ़ापे में यह सिकुड़कर नष्ट हो जाती हैं। मोम केवल जवान मक्खियों में ही बनता है। इनकी यह अवस्था १२ से १८ दिन तक है। इन मोम-ग्रन्थियों में १०–२०००० कोशाएं बिल्कुल पास-पास रहती हैं। यही मधुमक्खी के रक्त से मोम श्रवित करती हैं। १ किलोग्राम मोम के लिए १२,५०,००० शल्कों की आवश्यकता होती है जो १ ५० ००० मधुमक्खियों द्वारा बनते हैं।

मोम बनाने के लिए ८७ से ९८ फान० तापमान आवश्यक है। छत्ते को बनाते समय मधुमक्खियाँ उसे चारों ओर से घेरकर तापक्रम बढ़ा देती हैं, जिससे मोम का श्रवित होना और आवश्यक शक्लों में बदलना आसान हो जाता है।

मोम का रंग मधु और पराग के प्राप्ति स्थान पर निर्भर करता है। उसका रंग श्वेत, पीला या धूसर होता है। पुराने छत्तों से प्राप्त मोम काला होता है और दिखावटी कार्यों के लिए अनुपयोगी होता है। पीले रंग का ही मोम अच्छा माना जाता है। धूप में मोम का रंग हल्का हो जाता है।

मधु निकालने की विधि

१. फ्रेम पर लगे धातु के सिरों को हटाकर छत्ते को खुरचकर हटा लेना चाहिए।

२ किसी बड़ी थाली या ट्रे में रखकर छत्तों के दोनों ओर के ढक्कन खोल दें। यह काम किसी छुरी द्वारा करें और इस छुरी को खौलते पानी में गरमा लें।

अगर कोई ट्रे न मिले तो छत्तों के बचे भाग को एक जार में रखकर, गरम पानी में रखें। मोम गलकर ऊपर तैरने लगती है, जिसको आसानी से हटाया जा सकता है, फिर मधु को बोतलों में भर लेना चाहिए।

३ छत्ता को मधु अलग करने की मशीन में रखें और उसको हैंडल बदलती हुई तेजी से घुमायें। इस प्रकार सारा मधु बिना छत्ता को दबाये बाहर निकल आयेगा।

४ जब मधु अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाय तो उसे छानकर एक टंकी में १२ घंटे तक स्थिर रख दिया जाय। इससे हवा के बुलबुले जैसी चीजें सतह पर आ जाती हैं और उन्हें हटाया भी जा सकता है। इस मधु को बोतलों में भर लेना चाहिए।

साधारणतया लोग मधुमक्खियों को भगाकर मधु को निकाल लेते हैं पर जब वे छत्तों को दबाकर मधु निकालते हैं तो छत्तों में उपस्थित अंडे, ढोले, तथा पंखहीन मक्खियाँ कुचल जाती हैं और मधु में उनका रस भी मिल जाता है। इसलिए वैज्ञानिक तरीका ही काम में लाना चाहिए।

मोम की प्राप्ति

छत्ता को एक जार में लेकर उसे एक कड़ाई में रखें। फिर कड़ाई में पानी भरें। जिसमें जार का ¾ भाग डूब जाय। कड़ाई को धीमी-धीमी आँच में गरम करें। ध्यान रहे कि पानी खौलने न पाये। जब छत्ते के टुकड़े पिघलने लगें तो जार में और टुकड़े डाल दें, पर किसी भी दशा में गला मोम पानी से न मिलने पाये। फिर पतले कपड़े से छान लें। उन्हें साँचों में भरकर धीरे-धीरे ठंढा करें, नहीं तो वे फट जायेंगे और उनका रूप नष्ट हो जायगा। बाजार में विभिन्न प्रकार के साँचे मिलते हैं। उनके अन्दर की दीवार खूब चिकनी होनी चाहिए। मोम को सुखाकर पालिश करना चाहिए, जिसके लिए फलानेल, सिल्क या टिशु पेपर काम में लाया जा सकता है। ●

समवाय का मनोवैज्ञानिक आधार

•

वंशीधर

समवाय बेसिक शिक्षा की अपनी पद्धति है। कर्म के माध्यम से ज्ञान देने की पद्धति समवाय-पद्धति है। प्रश्न यह है कि कर्म के माध्यम से ज्ञान देने का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?

ज्ञान का जन्म कर्म से ही हुआ है। मनुष्य की सबसे बलवती कामना जीवित रहने की है। इसीलिए वह जीवन को बनाये रखने का निरन्तर प्रयास करता है। जीवित रहने का उसका यही प्रयास उसकी यही चेष्टा कर्म है। कर्म का प्रतिपादन सम्यक और व्यवस्थित हो इसीलिए मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता पड़ी थी। अतः ज्ञान का जन्म कर्म से ही हुआ है।

मस्तिष्क के जो तीन पक्ष ज्ञान भावना और कर्म हैं उनमें कर्म ही आदिम है। यही प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल का भी मत है। इसलिए कर्म के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना मनोवैज्ञानिक पद्धति है। मनोवैज्ञानिक ही नहीं यही आदिम पद्धति भी है क्योंकि मानव जाति ने ज्ञान का समस्त भण्डार इसी पद्धति से प्राप्त किया है।

ज्ञान का एक रूप मात्र-सूचना भी है। ऐसा ज्ञान जड़ या मृत है और यह व्यक्तित्व का अभिन्न अंग नहीं बन पाता। व्यक्तित्व का अभिन्न अंग तो वही ज्ञान बन पाता है जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से ज्ञान का भूख से साम्य है। भूख लगने पर ग्रहण किया गया भोजन सुपाच्य होता है। ऐसा भोजन पचकर खून मांस मज्जा हड्डी बनता हुआ अन्ततोगत्वा शरीर ही बन जाता है। बिना भूख के खाया हुआ भोजन अजीर्ण का कारण होता है। ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है परन्तु जिस ज्ञान की मस्तिष्क को आवश्यकता होती है वही सहज रूप से ग्राह्य बनकर मन का अभिन्न अंग बनता है, नहीं तो वह *बौद्धिक अजीर्ण का ही कारण होता है।* मस्तिष्क को उसी ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो जीवन के लिए आवश्यक है।

अतः जीवन की कर्म-सूची के माध्यम से अर्जित ज्ञान ही सहज ग्राह्य और मनोविज्ञान-सम्मत है। आपके पास सूचना के रूप में ज्ञान की अनन्त राशि है पर आप में उस ज्ञान राशि को जीवन की समस्याओं के निराकरण करने में प्रयोग की क्षमता नहीं है तो वह ज्ञान राशि आपके व्यक्तित्व का अंग नहीं बन पायी है। पोथी पढ़ने से कोई पंडित नहीं होता। पंडित वह है जो पोथी में लिखे ज्ञान को जीवन की समस्याओं को हल करने में प्रयोग करे। यह तभी सम्भव है जब ज्ञान पुस्तक के माध्यम से रटकर सूचना के रूप में न प्राप्त किया जाय। कर्म के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने का यह भी एक मनोवैज्ञानिक आधार है।

समवाय का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक आधार भी इतना ही महत्व का है। आधुनिक मनोविज्ञान का मत है कि मन के तीनों भाग ज्ञान भावना और कर्म एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त ही समवाय पद्धति का आधार है। विनोबाजी ने एक जगह लिखा है कि शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान और कर्म का पृथक्करण

मनोविज्ञान की उपेक्षा है, क्योंकि मनोविज्ञान बतलाता है कि मन एक है। शिक्षाशास्त्री ड्यूई ने भी इसी कारण 'योजना-पद्धति' के रूप में इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन किया है। शिक्षाशास्त्री 'नन' ने भी, जो आदर्शवादी है और जिन्हें 'डीवी' के विरुद्ध विचारों-वाला कहा जाता है, माना है कि बालक की शिक्षा का आधार क्रिया होनी चाहिए। क्रिया को माध्यम मानकर ज्ञान देने से ज्ञान की एकता और अखंडता बनी रहती है और विभिन्न विषयों में उसका विभाजन नहीं हो पाता।

ड्यूई कहते हैं कि जैसे मन एक है वैसे मन का विषय ज्ञान भी एक अखंड इकाई है और विभिन्न विषयों में उसका वर्गीकरण अमनोवैज्ञानिक और अनुपयुक्त है। ज्ञान को विषयों की विभिन्न टुकड़ियों में बाँटकर देना प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर के अनुकूल पद्धति नहीं है। तर्क प्रौढ़ जीवन की चीज है। अतः प्रौढ़ के लिए ही तर्क-सम्मत, विषय-वर्गीकृत ज्ञान की आवश्यकता है। बालक के लिए तो अखंड ज्ञान ही मनोवैज्ञानिक है।

मानव-सभ्यता के विकास की आदिम अवस्था में सारा ज्ञान एक था। उसका वर्गीकरण बहुत बाद की चीज है। किसी भी देश अथवा जाति का सांस्कृतिक इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। भारतवर्ष का ही उदाहरण लें। वेद और उपनिषद आर्यों के आदि ग्रन्थ हैं। आप यह नहीं कह सकते कि उनका अमुक भाग धर्म है, अमुक आचरण है, अमुक दर्शन है और अमुक साहित्य है, सब एक है। उनमें दर्शन भी है, साहित्य भी है, इतिहास भी है, कला भी है, विज्ञान भी है। वे धर्म-ग्रन्थ भी हैं, आचार संहिता भी हैं। मिश्र और चीन के विषयों में भी यही सत्य है। वस्तुतः सभ्यता के आदि युग में सभी देशों में ज्ञान का यही रूप था।

मनोविज्ञान बतलाता है कि मनुष्य अपने जीवन के विकास-क्रम में मानव-जाति के विकास-क्रम को दुहराता है। अपने जीवन में वह विकास के उन सारे स्तरों से गुजरता है, जिनसे मानव-जाति गुजरी थी। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० 'हाल' का यह सिद्धान्त पुनरावृत्ति का सिद्धान्त कहलाता है। मानव-जाति की प्रारम्भिक अवस्था आखेट की थी। बालक भी तीर-धनुष से खेलकर इस अवस्था की पुनरावृत्ति करता है। आखेट-युग के बाद नव प्रस्तर-काल में वह हथियार बनाने, घर बनाने और जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के अनेक प्रकार के निर्माण-कार्य में लग गया था। बालक की ६ से १४ साल तक की अवस्था भी हाथ से काम करने, निर्माण करने और तोड़-फोड़ करने की अवस्था है।

बालक की ६ से १४ वर्ष तक की अवस्था मानव-जाति के शिशु-स्तर से मेल खाती है। मानव-जाति के विकास के इस स्तर पर ज्ञान कर्म का साधन भर था—स्वयं साध्य नहीं। अतः स्वाभाविक यही है कि इस स्तर पर (६ से १४ वर्ष की आयु के स्तर पर) ज्ञान कर्म का साधन बनकर आये, यही मनोवैज्ञानिक होगा।

अतएव मनोविज्ञान-सम्मत यही है कि बालक स्वयं काम करके सीखे। स्वयं प्रयोग करे और अपने लिए मूल्यों का सृजन करे। मानव-जाति ने भी स्वयं काम करके, प्रयोग करके, भूल करके और भूलों में सुधार करके, नित्य नये मूल्यों का सृजन किया था। बालक भी ऐसा क्यों न करे? शिक्षा का ध्येय है मानव-जाति की संस्कृति को, बालक को, दाय के रूप में देना। देने का यह काम तभी सहज होगा, जब हम उसे उसी रूप में दें, जिस रूप में मानव-जाति ने प्राप्त किया था। मानव-जाति ने काम करके, प्रयोग करके, ज्ञान ग्रहण किया था। ज्ञान-ग्रहण की यही आदिम पद्धति है—यही समवाय-पद्धति है। इसीलिए बालक की शिक्षा में इसका अधिक-से-अधिक प्रयोग होना चाहिए।

●

हमारे समाज में चरित्र-निर्माण की दिशा में एक गतिरोध परिलक्षित हो रहा है। इसका कारण यह है कि हमारे समाज में दो परस्पर विरोधी विचार धाराएँ काम कर रही हैं, जिनसे हमें एक सुनिश्चित दिशा की ओर बढ़ने में हिचकिचाहट हो रही है। उनमें से एक तो प्राचीन भारतीय परम्परा है और दूसरी पाश्चात्य शासकों द्वारा लायी गयी विचारधारा। हमारे शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे हमारी शिक्षा प्रणाली का पुनर्संगठितकर दोनों धाराओं के मौलिक मूल्यों की अच्छाइयाँ हमारे शिक्षण कार्यक्रम में सम्मिलित करें।

—पतंजलि शास्त्री

लोकतांत्रिक समाजवाद

●

धीरेन्द्र मजूमदार

धीरे-धीरे देश के सबसे बड़े तथा शक्तिशाली पक्ष कांग्रेस ने समाजवादी ढाँचे के लक्ष्य से आगे बढ़कर अब लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना का सकल्प कर लिया है। देश के दो और प्रगतिशील पक्ष, प्रजासमाजवादी तथा समाजवादी दल ने तो पहले से ही इस लक्ष्य को मान रखा था। इस प्रकार देश का एक बहुत बड़ा बहुमत लोकतंत्र और समाजवाद दोनों को माननेवाला हो गया है।

वस्तुत लोकतंत्र और समाजवाद इस युग के दो महान विचार हैं। भारत इन दोनों का समन्वय करना चाहता है। वह प्रचलित लोकतंत्र में से पूँजीवादी शोषण को निकालना चाहता है और साथ-ही-साथ समाजवाद की तानाशाही भी मिटाना चाहता है।

लेकिन, प्रश्न यह है कि उस लक्ष्य पर पहुँचने का मार्ग क्या हो ? भारत गाधीजी को राष्ट्रपिता कहता है। वस्तुत गाधीजी ने किसी नये लक्ष्य की बात नहीं कही है, बल्कि मानव-समाज के लिए उन्होंने अगर कोई नयी बात कही है तो वह है साधन और साध्य की एकरूपता का विचार। अत कांग्रेस का लक्ष्य अगर लोकतांत्रिक समाजवाद है तो उसकी प्राप्ति के साधन भी लोकतांत्रिक हो, यह आवश्यक है।

लोकतंत्र का बुनियादी तत्त्व सम्मति है। सम्मति की प्राप्ति दबावमूलक प्रक्रिया से सम्भव नहीं है, यह साफ है उसे तो समझाकर ही पाया जा सकता है। अगर लोकतंत्र का मूल आधार समझाना यानी तालीम है तो उसकी प्रेरक तथा चालक शक्ति भी तालीम मूलक हो, यह आवश्यक है। आज समाज की चालक शक्ति दण्ड-मूलक यानी दबाव-मूलक है।

लोकतंत्र के पुजारी को यह समझना होगा कि जबतक समाज की गतिशक्ति दण्ड यानी सैनिक-शक्ति रहेगी तबतक समाज का सचालन और व्यवस्था दबाव से ही चलेगी और जबतक यह दबानेवाली प्रक्रिया चलती रहेगी तबतक समाजवाद का तानाशाही तत्त्व हट नहीं सकता, क्योंकि दण्ड आधारित समाज हमेशा केन्द्र-सचालित ही रहेगा, चाहे वह केन्द्र अपनी शाखा-प्रशाखा बढ़ाकर कितना ही व्यापक बनने की कोशिश करे। मनुष्य जिन्दा रहने के लिए अपना पुरुषार्थ जिन साधनों में लगाता है वे साधन व्यक्तिगत अधिकार से निकलकर अगर सामाजिक अधिकार में चले जायँ और उसकी व्यवस्था यदि समाज की ओर से दंड-सचालित रहे तो वह व्यवस्था वास्तविक रूप में लोकतांत्रिक नहीं हो सकेगी, अधिक-से-अधिक वह लोक-पसन्द हो सकती है।

अगर कांग्रेस भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करना चाहती है तो आज दुनिया में जिन कारणों से प्रचलित लोकतंत्र तथा समाजवाद दोनों असफल हो रहे हैं उनकी खोज करनी पड़ेगी और उन कारणों के निराकरण का उपाय ढूँढना होगा।

मनुष्य ने जब समझा कि राजतंत्र समाज की प्रगति के लिए बाधक पद्धति है तो उसने उसे समाप्त कर लोकतंत्र की परिकल्पना की। लेकिन, उसने यह नहीं समझा कि राजतंत्र जिस पद्धति से चलता था, अगर उसी पद्धति से लोकतंत्र भी चलता रहा तो उसकी परिणति राजतांत्रिक समाज से भिन्न नहीं होगी। तंत्र-पद्धति को पूर्ववत रखकर केवल चालक बदल देने से परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता है। राजतंत्र केन्द्र-सचालित तथा तंत्र-आधारित था, लेकिन लोकतंत्र का विचार चाहता है कि समाज सचालित न हो, स्वावलम्बी हो। उसका आधार 'तंत्र' न हो, 'लोक' हो। अत लोकतंत्र का निर्माण, सचालन-पद्धति के निराकरण तथा लोक-स्वावलम्बन के अधिष्ठान से ही हो सकता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कांग्रेस के मुख्य नेता तंत्र-सचालन में न लगकर लोक शिक्षण द्वारा लोकतंत्र

के मुख्य तत्व लोक को परिपुष्ट करें। राजतंत्र में सैनिक शक्ति समाज की मुख्य शक्ति रही है। उसके स्थान पर लोकशक्ति को मुख्य शक्ति के रूप में स्थापित करना है तो समाज की मुख्य प्रतिभा को 'तंत्र' को छोड़कर 'लोक' में प्रवेश करना होगा। ।'

कांग्रेस ने अपनी 'कामराज-योजना' से जो कदम उठाया है उससे स्पष्ट है कि कांग्रेस के नेताओं का चिन्तन इस दिशा में चलने लगा है। आवश्यकता इस बात की है कि जब कांग्रेस ने अपने लक्ष्य के सन्दर्भ में इतना बड़ा कदम उठाया है तो वह 'कामराज-योजना' को पूर्ण रूप से अपनाये, अर्थात सारे मुख्य नेता तंत्र छोड़कर लोक शिक्षक के रूप में लोक में फैल जायें, ताकि वे लोक को संगठित तथा परिपुष्ट कर उसे सैनिक शक्ति पर हावी बनाने में सफलता प्राप्त कर सकें। अगर ऐसा नहीं हुआ और समाज में सैनिक शक्ति का ही आधिपत्य रहा तो समाजवाद कभी भी लोकतांत्रिक नहीं हो सकेगा, बहुत हुआ तो लोक-सम्मत मात्र रहेगा। समाज में अगर स्वतंत्र लोकशक्ति का अधिष्ठान नहीं हुआ तो लोक-सम्मति भी निरपेक्ष अर्थात स्वतंत्र नहीं होगी। वह किसी न किसी रूप में दबाव और प्रलोभन का शिकार होगी। इस तरह यह लोकसम्मति भी वास्तविक न होकर वैधानिक-मात्र रहेगी।

समाजवाद का मूल तत्व यह है कि उत्पादन के साधन का मालिक व्यक्ति नहीं समाज है। अगर ये साधन केन्द्रित उद्योग के रूप में रहेंगे तो उनका संचालन भी केन्द्रीय शक्ति से होगा, जिसका आधार सैनिकशक्ति ही बन सकती है और अगर सामाजिक मिल्कियत सैनिक शक्ति द्वारा संचालित होती रही तो आखिर में समाज का ढांचा तानाशाही बनेगा, अतएव समाजवाद को अगर लोकतांत्रिक बनाना है तो उत्पादन की पद्धति तथा औजार विकेन्द्रितकर प्रत्यक्ष रूप से लोक के हाथ में ले जाना होगा।

आशा है, कांग्रेस के नेता, लोकतांत्रिक समाजवाद के उद्देश्य की सिद्धि में—वास्तविक लोकतंत्र के लिए, उपर्युक्त दो तथ्यों पर गम्भीरता से विचार करेंगे, हिम्मत के साथ मुख्य नेतृत्व को लोक के बीच में ले जाकर लोक-शिक्षण के काम में लगायेंगे और उद्योगों को विकेन्द्रितकर उसे लोक के हाथ में समर्पित करने का निर्णय लेंगे।

•

कीनया—
उहुरू से
हरम्बी की ओर

•

राममूर्ति

१२ दिसम्बर को कीनया अंग्रेजी दासता से मुक्त हो गया। उसकी मुक्ति तो हुई ही, एक प्रकार से अंग्रेजों की भी मुक्ति उनके अफ्रीकी साम्राज्य से हो गयी। इस मुक्ति पर दोनों को बधाई।

९० लाख की जनसंख्या के कीनया देश में १ लाख ८० हजार एशियाई हैं, ६० हजार यूरोपियन और ३४ हजार अरब लोग हैं। बाकी स्वयं अफ्रीकी हैं, जो ५० विभिन्न जातियों में बँटे हुए हैं, और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। उत्तर-पूर्वी भाग में बसनेवाले २ लाख सोमालियों का बड़ा समुदाय अपने को कीनयाई न मानकर पड़ोसी सोमालिया का मानता है और उसमें मिलने को उत्सुक है। राष्ट्र की राजनीति में

अल्पसंख्यकों के मन से यह भय कैसे मिटे कि बहुसंख्यक उन्हें सतायेंगे नहीं, और स्वतंत्रता में जो तंत्र स्थापित होगा उसमें समान रूप से सबके 'स्व' की रक्षा होगी? जरूर जो संविधान बना है उसमें छोटे सदन की रचना बालिग मताधिकार पर होगी और बड़े सदन की क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर। संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में बड़े सदन को विशेष अधिकार दिये गये हैं। ९० प्रतिशत बहुमत के बिना संविधान का संशोधन नहीं हो सकता। इसके अलावा संविधान में विकेन्द्रित क्षेत्रीय सरकारों की व्यवस्था है, जिनके अधिकार संविधान से प्राप्त है, न कि केन्द्रीय सरकार से। कई क्षेत्रों में उनके अधिकार सुरक्षित हैं। पूरा संविधान कीनिया के तीन प्रमुख राजनीतिक दलों के सम्मिलित निर्णय से बना है। हर कोशिश की गयी है कि अल्पसंख्यक दमन के भय से मुक्त रहें।

कीनिया की राष्ट्रीय एकता की समस्या दुहरी है—एक यह कि सारे कीनियावासी एक हों, और दूसरी यह कि योरोपीय, एशियाई और अरब लोग अपने को वहां के मूल निवासियों के साथ एक समझें और देश के हित में अपने अबतक के विशेषाधिकारों को छोड़ने को तैयार हों। उनकी यह तैयारी अफ्रीकी लोगों को प्रेरित करेगी कि उन्हें अपने बीच बनाये रखें, लेकिन सोमालिया की समस्या कैसे हल होगी? कीनिया के स्वातन्त्र्य संग्राम के नेता जोमो केनयत्ता ने अपने देशवासियों को दो शब्द दिये थे—उहुरू (स्वतन्त्रता) और हरम्बी (आओ साथ चलें) उहुरू पूरा हो गया, हरम्बी बाकी है। यह समस्या अफ्रीका और एशिया के अनेक देशों में है, भारत में तो है ही।

पिछड़े देश के लिए स्वतन्त्रता एक अवसर है—एकता, समानता, प्रचुरता की प्राप्ति के लिए। अगर नयी स्वतन्त्रता न बन सकी तो नये तंत्र में मूल 'स्व' के खो जाने का भय है।

आज पूरा अफ्रीका—और एशिया का बड़ा भाग—एक विशाल 'स्लम' (गन्दी बस्ती) से बेहतर नहीं है, जिसमें सत्ता और पूँजी का खुला खेल हो रहा है। विदेशी सत्ताधारी विवश होकर अपनी प्रत्यक्ष सत्ता भले ही हटा लें, लेकिन स्वदेशी सत्ताधारी और विदेशी पूँजी का मेल स्वतन्त्रता के 'स्व' को नहीं प्रकट होने दे रहा है। अफ्रीका के दरवाजे खुले हुए हैं, जिनके द्वारा चीन और रूस दोनों घुसने के लिए तैयार हैं। अबतक पश्चिमी देशों ने अफ्रीका में जो पूँजी लगायी है उसने उप-निवेशवादी अर्थनीति और राजनीति को ही कायम रखा है। अफ्रीका में जो भी परिवर्तन हुआ है वह केवल राजनीतिक है, विदेशी सत्ता की जगह स्वदेशी सत्ता स्थापित हो गयी है। अफ्रीका के ढाई दर्जन राज्यों में से शायद ही कुछ राज्य ऐसे हों, जो आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े होने में समर्थ हों। पूँजीवादी विकास की तकनीकों की जानकारी स्थानीय लोगों को नहीं है लेकिन हर देश में विदेशियों का स्थान लेने के लिए स्वदेशी नेताशाही तैयार हो गयी है। निश्चित है कि अफ्रीका में आज की राष्ट्रीय सीमाएँ, और राजनीतिक या आर्थिक ढाँचे टिकने वाले नहीं हैं, और अगर पश्चिम की पूँजी ने उन्हें टिकाये रखने की कोशिश की तो अफ्रीका का घोर अहित होगा। ध्यान जनता का होना चाहिए, न कि केवल राष्ट्र और उसके ऊपरी ढाँचे का। जरूरत है, राष्ट्र के नक्शे और ढाँचों, दोनों को बदलने की।

मुक्ति के शुभ अवसर पर हम कीनिया को बधाई देते ही हैं, साथ ही सोलह वर्षों का अपना अनुभव भेंट करना चाहते हैं। हम कहना चाहते हैं कि हमने इस लम्बी अवधि में देख लिया है कि योरप और अमेरिका के नमूने पर चुनाव से बननेवाली कुछ संस्थाएँ कायम कर लेने से लोकतन्त्र नहीं हो जाता, और न विदेशी पूँजी और तकनीक से कुछ बड़े कारखाने बना लेने से जनता की भूख शान्त होती है। जरूरत ऐसे लोकतंत्र की है, जिसमें जनता की प्रत्यक्ष सहकार शक्ति का निरन्तर विकास हो, अर्थनीति ऐसी हो, जिसमें श्रमशक्ति का पूरा उपयोग हो, और शिक्षानीति ऐसी हो, जिसमें बुद्धि की शक्ति हाथ का साथ दे। कीनिया को, जैसे भारत को, अपनी ही परिस्थिति में अपनी समस्याओं को सामने रखकर अपने ढंग से आधुनिकता की खोज करनी चाहिए, न कि योरप, अमेरिका, चीन या रूस की नकल करके। भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम ने अफ्रीका को प्रेरणा दी है, उसका सोलह वर्षों का अनुभव भी अफ्रीका के नव-निर्माण में काम आयगा।

●

भारतीय प्रकाशन
का
विषयगत वर्गीकरण

सन् १९६१ में राष्ट्रीय ग्रन्थालय में आये हुए कुल २१०७६ ग्रन्थों में से निश्चित विषय वाले ८९२२ ग्रन्थ अलग निकालकर उनका भाषागत और विषयगत वर्गीकरण किया गया, जो इस प्रकार है—

भाषा	सर्व साधारण	तत्त्वज्ञान	धर्म	सामाजिक शास्त्र	भाषा-शास्त्र	विज्ञान	तांत्रिक उपयुक्त विज्ञान	ललित कला व मनोरंजन	ललित साहित्य	इतिहास, भूगोल, जीवनी	कुल योग
असमिया	—	—	८	३	२	१	—	१	५६	१२	८३
बंगाली	११	६	७६	११०	११	४४	४	२८	६४९	९७	१०३६
अँग्रेजी	३९	८	१५५	२०३७	७६	१९७	३४	२७	३१८	११८	३००९
गुजराती	४	१	४६	९६	४	२४	५	८	२११	५८	४६१
पंजाबी	४	१	२०	५६	१७	८	२	७	१८०	१२	३०७
हिन्दी	७	२	९६	३३९	२७	५५	११	६	५८५	४९	११७७
कन्नड	२	२	३६	२१	—	७	—	१	१००	२७	१९६
मलयालम्	१	१	२२	२३	४	३	—	१	२८२	३९	३७६
मराठी	६	६	७०	१२९१	१७	२६	४	६	२९१	७१	६२६
उड़िया	—	१	९	२१	—	१२	२	१	६७	३	११६
संस्कृत	—	—	४०	६	१०	—	—	—	४०	२	९७
तमिल	४	—	७२	४६	८	२८	३	५	२९५	४५	५०६
तेलुगु	७	२	८६	४८	११	१३	—	७	३८८	४१	६०३
उर्दू	१	—	५३	२०	—	३	२	—	१५७	२०	२५६
अन्य भाषाएँ	—	—	३७	१	—	५	—	—	२१	९	७३
कुल योग —	८६	३०	८२६	२९५५	१८७	४२६	६७	९८	३६४४	६०३	८९२२

ये आँकड़े हिन्दी सेवियों के लिए प्रश्नचिह्न और उनकी कर्तृत्व शक्ति के लिए एक संकेत हैं।

योजना और खेती

राममूर्ति

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अवतक के दो वर्षों में जो सफलता या विफलता मिली है उसका विवरण सरकार की ओर से पिछले महीने लोकसभा के सामने पेश हुआ। वहाँ विवरण पर जो बहस हुई वह तो हुई ही, तब से काफी चर्चा अखबारों में भी हुई है और देश के विकास के प्रश्न को लेकर चारों ओर गम्भीर चिन्ता प्रकट की गयी है। कई जगह यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या इस योजना द्वारा हम सही दिशा में जा रहे हैं? अपने भाषण में स्वयं नेहरूजी ने कहा कि सामान्यतः योजना बनानेवाले देख लेते हैं कि किन क्षेत्रों में उत्पादन का विस्तार हो सकता है, इसलिए उन्हीं क्षेत्रों में व विस्तार की सिफारिश करते हैं। देखने में यह तर्कसंगत तो लगता है और इस नीति में उत्पादन भी बढ़ता है, लेकिन भारत की जनसंख्या को देखते हुए ऐसा करना बहुत मानवीय नहीं है। यह स्वीकार करते हुए उन्होंने महात्मा गांधी की याद की—इस संकेत के साथ कि राष्ट्र निर्माण के सम्बन्ध में इस योजना की अपेक्षा गांधीजी के विचार कहीं ज्यादा सही तो नहीं थे?

प्रश्न यह है कि, आखिर जब उत्पादन बढ़ता ही है तो योजना में अमानुषिकता क्या है? एक सीधी अमानुषिकता तो यह है कि राष्ट्र का उत्पादन बढ़ाने की जो योजना बनती है उसमें राष्ट्र में बसनेवाली करोड़ों-करोड़ जनता को स्थान नहीं मिलता, और चूँकि स्थान नहीं मिलता, इसलिए बढ़ी हुई दौलत में उन्हें हिस्सा नहीं मिलता, और जिन्हें मिलता भी है वे अपनी मेहनत के अनुपात में नहीं पाते। इसलिए योजना के साथ-साथ बेकारी भी बढ़ती है, और विषमता भी बढ़ती है।

लेकिन, इस बार लोकसभा के सामने जो विवरण पेश हुआ उसमें तो यह पता चला कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस समय तक स्थूल उत्पादन भी नहीं बढ़ा है। योजना का लक्ष्य था कि खेती के उत्पादन में ३० प्रतिशत की वृद्धि हो, उद्योग में ७० प्रतिशत की और पूरी राष्ट्रीय आय में ३० प्रतिशत की। प्रस्तुत विवरण के अनुसार तीन लक्ष्यों में से एक भी सिद्ध नहीं हुआ है। राष्ट्रीय आय ५ प्रतिशत प्रति वर्ष के स्थान पर केवल २.५ प्रतिशत बढ़ी है। लेकिन, लगभग इतनी ही वृद्धि जनसंख्या में भी हो गयी है, जिसका अर्थ यह है कि चालू योजना के मध्य तक प्रति व्यक्ति औसत आमदनी कुछ नहीं बढ़ी है, जबकि उसे ३ प्रतिशत से अधिक बढ़ना चाहिए था। क्या आगे के तीन वर्षों में ८ प्रतिशत की वृद्धि होगी, जिससे अबतक की कमी पूरी हो जायगी? यह शायद किसी तरह सम्भव नहीं है।

यह कहा गया है कि उत्पादन को जो धक्का लगा है वह मुख्यतः खेती के कारण। योजनाकारों की अपेक्षा थी कि खेती में औसत ५ प्रतिशत की वार्षिक-वृद्धि होगी, लेकिन १९६१-६२ में केवल एक प्रतिशत की वृद्धि हुई, जो ६२-६३ में तीन प्रतिशत कम हो गयी। जिसका अर्थ यह होता है कि ६२-६३ में खेती का उत्पादन द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष से भी कम था। पूरी खेती का तो यह हाल हुआ ही, खाद्यान्न का तो और भी बुरा रहा। चालू योजना के पहले वर्ष में खाद्यान्न का उत्पादन ७ करोड़ ९५ लाख टन हुआ, लेकिन १९६२-६३ में ७ करोड़ ७५ लाख टन ही रह गया। सबसे अधिक कमी गेहूँ और चावल में हुई।

औद्योगिक क्षेत्र की कहानी भी कुछ इसी तरह की है। अब प्रायः सभी कहने लगे हैं—कि विकास की कुंजी खेती में है। बात सही है कि अगर खेती में तरक्की नहीं होती तो औद्योगिक विकास भी नहीं हो सकता, क्योंकि खेती से देश का पेट भरता है, उसी के कच्चे माल से कारखाने चलते हैं और खेती में लगे हुए करोड़ो-

करोड़ों लोग औद्योगिक माल के ग्राहक होते हैं। अगर खेती आगे न बढ़े तो ये तीनों काम ठप पड़ जाते हैं इसलिए खेती के बिना विकास का कुछ बहुत अर्थ ही नहीं होता।

प्रश्न है कि खेती का यह हाल क्यों हुआ? स्वराज्य के बाद से गाँवों के विकास के लिए एक के बाद दूसरी तीन योजनाएँ बनी हैं और रुपया भी भरपूर खर्च किया गया है लेकिन नतीजा क्या हुआ है? क्या हम अब भी यह दावा करेंगे कि खेती तो नहीं बढ़ रही है, लेकिन गाँवों का विकास हो रहा है? क्या हम यह नहीं जानते कि बहुत कम खेतिहर खुशी से खेती कर रहे हैं अधिकांश केवल इसलिए कर रहे हैं कि उनके पास करने को दूसरा कोई धन्धा नहीं है? मुश्किल है कि खेतिहर खेती का हिसाब नहीं करना जानता अगर जान जाय तो खेती करने की हिम्मत नहीं करेगा क्योंकि पैदा करने में जो खर्च होता है उससे कहीं कम पैसा बाजार में मिलता है। इस तरह खेती घाटे ही घाटे का सौदा हो गयी है। बाजार का शोषण खेती की कमर तोड़ रहा है। ऐसा लगता है—जैसे गाँव, शहरों और बाजारों के उपनिवेश बन गये हैं, जिनका काम है कच्चा माल देना और शहरों का तैयार माल खरीदना। ऐसी स्थिति में क्या आश्चर्य है कि गाँवों की श्रम-शक्ति गाँवों की लक्ष्मी और गाँवों की बुद्धि, तीनों तेजी से गाँव छोड़कर बाजारों और शहरों की ओर भाग रही है? आँकड़े कुछ भी कहें, लेकिन स्थिति यही है।

मजदूर जिसकी मेहनत पर गाँव का सारा जीवन टिका हुआ है जो गाँव का शेषनाग है वह अब गाँव में नहीं रहना चाहता। क्यों रहे? उसका वहाँ है क्या? जमीन अपनी है नहीं, है सिर्फ अपनी मेहनत। लेकिन, जब वह देखता है कि मेहनत से न पेट भरता है, न इज्जत मिलती है, तो वह सड़क पर पत्थर कूटने, रिक्शा चलाने या कारखाने में मजदूरी करने को अच्छा मानने लगता है। तेजी से ऐसे गाँवों की संख्या बढ़ रही है, जिनमें जवान मजदूर नहीं दिखायी देते, दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ साल में तीन महीने से अधिक का काम नहीं है। उसे खेती की चिन्ता क्यों हो? जब उसकी मजदूरी नहीं बढ़ती तो वह मेहनत क्या बढ़ाये और जब मालिक की उपज नहीं बढ़ती तो वह अधिक मजदूरी कैसे दे? अजीब असन्तुलन है!

इतने वर्षों तक खेती के नाम में बहुत-कुछ करने के बाद सरकार को और उससे भी अधिक समाज को समझ लेना चाहिए कि खेती की समस्या केवल खेती की समस्या नहीं है, उसे हल करने के लिए केवल खाद, पानी, बीज आदि ही नहीं चाहिए, उसके लिए ऐसे नये खेतिहर चाहिए जो भूमि को अपनी समझकर उसमें पूरी शक्ति, बुद्धि और पूँजी लगा सकें। ऐसे खेतिहर न कोरे मालिक होंगे, न कोरे मजदूर। लोग बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बात करते हैं लेकिन भूमि के ग्रामीकरण की बात नहीं करते, जो सबसे पहले जरूरी है। सहकारी खेती का नारा बुलन्द करने वाले भी यह नहीं बताते कि जबतक गाँव में मालिक मजदूर का सम्बन्ध है और हर परिवार की दूसरे परिवार से प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष है तबतक सहकारी खेती कैसे होगी? सहकारी भावना के अभाव में कोई भी सहकारी प्रयत्न कैसे सफल होगा? भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में उसी सहकारी भावना को पैदा करने का प्रयत्न है। निजी स्वामित्व और सहकार में विरोध है, इसलिए यह आन्दोलन स्वामित्व-विसर्जन और ग्राम भावना के निर्माण को मुख्य स्थान दे रहा है। सचमुच खेती की समस्या पूरे समाज की समस्या है, जिसका स्थायी हल समाज-परिवर्तन में ही है। नयी खेती—खेती के साथ चलनेवाले नये धन्धे, नया व्यापार, नयी व्यवस्था और नये मानवीय सम्बन्ध इन सबके लिए नया समाज चाहिए।

लेकिन, नया समाज बनाने के लिए आगे कौन बढ़े? आगे वह बढ़े, जो चेतन है जो समस्या को उसके व्यापक स्वरूप में समझता है, जो केवल व्यक्तियों को कोसता नहीं, बल्कि पूरी व्यवस्था को बदलने की जरूरत महसूस करता है। अन्त में जो अपनी चेतना इस विश्वास के साथ फैलाने में अपनी शक्ति लगाने को तैयार है कि लोकतंत्र की भूमिका में समाज की सामूहिक सम्मति और पुरुषार्थ से ही समाज-परिवर्तन सम्भव है।

खेती का यह संकट भी वरदान सिद्ध हो सकता है, अगर वह हमारा ध्यान परिस्थिति के इन तथ्यों पर केन्द्रित कर दे और हम अपने संस्कारों, संस्थाओं और स्वार्थों से ऊपर उठकर समता, स्वतंत्रता और प्रचुरता का नया समाज बनाने में अपनी सीमित शक्ति लगाने में तत्पर हो जायँ।

●

पुस्तक-परिचय

नाम पुस्तक : चिड़िया की बच्ची और खेल
लेखक जैनेन्द्रकुमार
प्रकाशक - पूर्वोदय प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली—६

यह किताबें लोक विकास कथामाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है, जिनके विषय में प्रकाशक ने लिखा है—"यह माला विशेषतौर पर उन लोगों के विचार, जो ज्यादातर देहातों में रहते है, पर जो इतने साक्षर नहीं हैं, उनके लिए छोटी और सरल ऐसी किताबों की जरूरत है, जो उनकी भावनाओं को संस्कार दें और उनकी दृष्टि को व्यापक बनायें।"

'चिड़िया की बच्ची' में अपरिचित या अल्प परिचित शब्दों के प्रयोग बहुधा नहीं हैं। बहुत से ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मिल जाएगा, जो पश्चिमी अंचल में ही समझे जा सकते है—जैसे भ्रमन के लिए 'बिसन'।

दोनों कहानियाँ सोद्देश्य लिखी गयी है, पर उनकी रोचकता धुँधली नहीं पड़ती। भाषा में उगती हुई फसल की ताजगी है। जैनेन्द्रकुमार इस तरह की चीजें औरों से कहीं उत्तम दे सकते हैं।

'खेल' और 'बिल्ली का बच्चा' जैनेन्द्र की और दो कहानियाँ है। खेल पहले की उनकी प्रसिद्ध कहानी है। बड़ी उमर का सयाना लेखक-बच्चों की एक मामूली-सी घटना को कहानी बना देता है। जरूर उस पूरे वातावरण में रस बस जाता है, मगर अपना सयानापन उसे नहीं भूलता, शब्दों से और हाशिये की मीनाकारी से जाहिर है। बच्चे की छवि देखते ही आदमी के मन का भार उतर जाता है। इस कहानी में दोनों बच्चे पाठक को वही हल्का फुल्का आनन्द दे जाते है, जिन पर जहाँ-तहाँ लेखक के अपने निर्देश अलगाये-से और भारी लगते है। पर, भूलना नहीं चाहिए कि चीज पहले की है और खासी अच्छी है। इसको कई बार भी पढ़ा जा सकता है।

धूल में जेवड़ी बटना एक मुहावरा है। इसका प्रयोग तब होता है, जब कोई अनहोनी चमत्कारी बात हो उठती है या कोई ऐसी बात कर गुजरता है, तब कहते है कि उसे धूल में जेवड़ी बटना आता है। भाषा लिखी और बोली हुई बहुत कुछ ऐसी लगती है जैसे वन और पहाड़, जहाँ विस्तार और अन्तहीनता ही आँखों को थका मारती है। उसमें जब कोई अपने मन का चुनने को होता है तब कितनी ही अपनी मनपसन्द बातें, रूप और चित्र खोज निकालता है। ऐसे खोजी बहुत कम होते है, जिनकी खोज औरों की पगडंडी छोड़ जाय।

भाषा और जीवन को कहानी बनाने की दिशा में जैनेन्द्रकुमार ने थोड़ा पना यही करना चाहा था। उनको कुछ लोग कहानी के लिए, कुछ लोग भाषा के लिए और कुछ लोग न जाने क्या-कुछ के लिए अपनाते है। जहाँ जैनेन्द्र में खूबियाँ है, आकर्षण है वहाँ उनमें उबानेवाली बातें भी हैं। जो बात चरित्र में है, वह बात रचना में भी है। कारीगरी का यदि उन्होंने हृदय अपना दे दिया होता तो काल की बदलती लहरों में बदलते दिखाई देते चलते, पर जैनेन्द्रकुमार का जैसा कहना जवानी के शुरू दिनों में था, वैसा ही २ जनवरी १९६४ को ५९ वर्ष पूरा कर लेने पर भी है।

—त्रिलोचन

पन्द्रहवाँ सर्वोदय-सम्मेलन

•

रामभूषण

पन्द्रहवें सर्वोदय-सम्मेलन के अध्यक्ष थे गुजरात के प्रसिद्ध रचनात्मक कार्यकर्ता व सर्वोदयी विचारक श्री जुगतराम दवे, जिन्होंने सराहनीय ढंग से अपने उत्तरदायित्व को वहन किया।

"रायपुर में इस सम्मेलन में तीन वर्ष के बाद पूज्य विनोबाजी की उपस्थिति प्राप्त हुई है। यह सर्वोदय-परिवार के लिए और सारे देश के लिए भी बड़े सौभाग्य का विषय है।"—इन शब्दों के साथ प्रारम्भ और —'मैं आशा करता हूँ कि रायपुर में एकत्र हुए सर्वोदय-कार्यकर्ताओं का यह समूह एक ऐसी हवा फैलायेगा, जिससे शान्ति-सेना का हमारा पुराना विचार जड़ पकड़ेगा और पनपकर सारे सर्वोदय-कार्यक्रमों में प्राण फूँकेगा।"—इन शब्दों के साथ समाप्त कर श्री जुगतरामजी ने उपस्थित जनसमूह पर अपने अध्यक्षीय भाषण का बड़ा अच्छा प्रभाव डाला।

विशिष्ट भाषण

संघ-अधिवेशन व सर्वोदय-सम्मेलन में इस बार जिन लोगों के भाषण हुए उनमें अध्यक्षीय भाषण को छोड़कर सर्वश्री विनोबा, जयप्रकाश, धीरेन्द्रभाई, ढेबरभाई, श्रीमन्नारायण व जैनेन्द्र के भाषण प्रमुख हैं। स्थानाभाव के कारण इन लोगों के भाषणों तथा अन्य भाषणों पर पर्याप्त चर्चा सम्भव नहीं है, फिर भी थोड़े शब्दों में इनके भाषणों का सार रख देना समीचीन होगा।

अध्यक्ष महोदय ने अपने सारगर्भित भाषण में मनुष्यमात्र की एकता व शान्ति के अनुपम सेनानी स्वर्गीय श्री केनेडी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और शान्ति-सेना की चर्चा पर काफी समय व बल दिया। उनके भाषण के अन्य खास मुद्दे थे—चीन और टूटी हुई आशा, युद्ध कैसे मिटे, शान्ति सैनिक की रोटी और सर्वोदयपात्र की सार्थकता, विनोबा को तीव्रता लानी होगी, मैत्री-यात्रा, ग्रामदानी गाँवों में ग्रामस्वराज्य, सर्वोदय की कार्यपद्धतियाँ, हम क्यों तरसते हैं, रायपुर से आशा।

विनोबाजी ने अभिनव ग्रामदान, शान्ति-सेना व खादी-ग्रामोद्योग के त्रिविध कार्यक्रम पर ही जोर दिया और आज की परिस्थिति में इन कार्यक्रमों को अपनी अनेकानेक कठिनाइयों का इलाज बताया। आन्तरिक उथल-पुथल हो या बाह्य आक्रमण का भय, दरिद्रता हो या वर्ग-विषमता, शोषण हो या उत्पीड़न, अभाव हो या अतिरेक, विनोबा ने हमारे सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए इस त्रिविध कार्यक्रम को अविलम्ब अपनाने की अपील की। विनोबा के भाषण के कुछ शब्द हैं—'जैसे मनुष्य को थकान आती है, वैसे समाज को कौमों को भी थकान आती है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे निष्क्रिय बन जाते हैं, ऐसा दिखता है। यह नियम आन्दोलन पर भी लागू होता है। बीच में कुछ उतार आये, लेकिन अब चढ़ाव के दिन फिर आ रहे हैं। इसलिए फिर से प्रेरित होकर सबको काम में लग जाना चाहिए।'

'हमारे सामने सवाल यह है कि हमारे पास जो भी समय बचा हुआ है वह सब इसमें लगाना चाहिए। १९६९ तक अगर हम भारत में एक ऐसी आबोहवा पैदा करने में भगवान की कृपा से समर्थ हो जायँगे, जिसे हम

ग्रामस्वराज्य कहते हैं, उसकी नींवें अगर गाँव-गाँव में बनती है और गाँव-गाँव में ग्राम-सभा बनती है इतना अगर अधिकतर गाँवों में हो जाता है, तो हम समझेंगे कि हमने अपना काम पूरा किया। अभी आप लोगों के सामने चिन्तन के लिए त्रिविध कार्यक्रम रखे गये हैं, हमको अलग-अलग काम नहीं करना है। हमें तीनों को एकत्र करके काम करना है। समाज-परिवर्तन की कौन-सी अहिंसक प्रक्रिया होगी, यह अगर हम सोचेंगे तो 'शिक्षण' ही वह प्रक्रिया होगी।"

जयप्रकाश नारायण तो इस बार अपने सहज क्रान्तिकारी के 'फार्म' में थे। आज की जागतिक परिस्थिति में उन्होंने विनोबा द्वारा प्रस्तुत त्रिविध कार्यक्रम पर जोर दिया और सभी से उसके लिए समय देने की माँग की। उनकी दृष्टि में यह त्रिविध कार्यक्रम आज की ऐतिहासिक आवश्यकता है और जन-जीवन की समस्याओं के सुलझाव का अचूक साधन।

श्री धीरेन्द्र भाई ने लोकतन्त्र के 'लोक' शब्द पर जोर देकर उसे विकसित करने और अपने मार्मिक विवेचन के साथ इस त्रिविध कार्यक्रम को अपनाने पर बल दिया। ढेबर भाई ने देश की गरीबी, दीनता, विपन्नता और हीनता का बड़ा मार्मिक चित्र खींचा और उसे दूर करने के लिए खादी-ग्रामोद्योगों को अपनाने और समाज के पिछड़े वर्गों को अविलम्ब अपना लेने की अपील की। श्रीमन्नारायण ने देश में चल रहे सर्वोदय-विचार व आन्दोलन की सराहना की और अपनी शक्तिभर स्वयं इसमें सहयोग देने का आश्वासन दिया। श्री जैनेन्द्र ने चिन्तन और उस चिन्तन के अनुरूप कार्यक्रम को निष्ठा के साथ पूर्ण करने पर बल दिया।

यह कौन-सा जादू है!

इस बार सम्मेलन में विनोबा का तेजस्वी रूप निखर आया था। सम्मेलन के मंच पर खड़े होकर और हाथ उठा-उठाकर उन्हें भाषण करते देख अनायास महाभारत-कार महर्षि वेद व्यास की याद हो आती थी। महाभारत के अन्त में व्यास ने कहा है—'मैं दोनों भुजाएँ उठाकर कहता हूँ, इस जगत में धर्म ही सर्वोपरि है, उसी की जय होती है, अधर्म की नहीं, जगत के प्राणियो! धर्म का ही अनुसरण करो, लेकिन कोई मेरी सुनता नहीं है।' इसी तरह विनोबा भी हाथ उठा उठाकर युग धर्म का निर्देश कर रहे थे।

कुछ प्रस्ताव

इस बार संघ ने जो निवेदन प्रस्तुत किया, वह एक तरह से सम्मेलन की गोष्ठियों व चर्चाओं का प्रतिनिधित्व करता है। संघ-निवेदन प्राप्तकर लोग उसका अध्ययन कर सकते हैं। इस बार जो प्रस्ताव पास हुए उनमें सुलभ ग्रामदान, गुड़-खाँडसारी सम्बन्धी प्रस्ताव, नशाबन्दी व खादी-ग्रामोद्योग सम्बन्धी प्रस्ताव मुख्य हैं। गुड़-खाँडसारी के प्रश्न को लेकर इस बार खूब चर्चा हुई। विनोबाजी ने उत्तरप्रदेश में इस सम्बन्ध में चल रहे सत्याग्रह को अपना आशीर्वाद दिया और इस कार्य की सराहना की। भारत-सुरक्षा कानून के अन्तर्गत जो कानून पास हुआ है उसे विनोबा ने भारत पर आघात बताया और सरकार द्वारा अपेक्षित कदम न उठाने पर उन्होंने सत्याग्रह की सलाह दी। श्री ढेबर-भाई का तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि पन्द्रह दिनों के अन्दर अपेक्षित सुधार न होने पर वह खादी-कमीशन से इस्तीफा दे दें। इस बार विनोबा के शब्दों में बड़ी दृढ़ता थी और अपील में मार्मिकता, अनुभूति की तीव्रता तो उनकी अपनी विशेषता है ही।

शान्तिसेना-रैली

इस बार सम्मेलन की एक विशेषता थी शान्ति-सेना की रैली। पीला रूमाल सिर पर और बायें हाथ में शान्ति-सैनिक की पीली पट्टी बाँधे विभिन्न प्रान्तों के १०२० शान्ति-सैनिक सम्मेलन-मैदान में सबके आकर्षण केन्द्र थे। शान्ति-सेना के सेनापति विनोबा ने विभिन्न प्रान्तों से आये शान्ति-सैनिकों का निरीक्षण किया। उनके साथ में चल रही थीं कान्ता बहन और पीछे थे श्री चन्द्रशेखरन्।

रैली के पश्चात शान्ति-सैनिकों ने श्रम-यज्ञ किया, जिसमें निकट के गाँव के तालाब की खुदाई हुई। शान्ति-सेना-रैली ने लोगों को बहुत प्रभावित किया। बहुतों

के मन पर अहिंसा की शक्ति की छाप पड़ी, कइयों ने शान्ति-सैनिक बनने का संकल्प किया। सर्वोदय-जगत के वयोवृद्ध कार्यकर्ता श्री जेराजाणीजी ने कहा कि शान्ति-सैनिकों की रैली देखकर उनके जीवन का एक स्वप्न पूरा हुआ और वह यह दृश्य देखने के लिए जीवित थे, इसे उन्होंने अपना सौभाग्य माना। श्री करण भाई ने शान्ति-दिवस यानी ३० जनवरी को १०१ शान्ति-सैनिक बनाने का संकल्प किया। श्री द्वारकानाथ लेले ने एक साल के अन्दर सारे खादी-कार्यकर्त्ताओं को शान्ति-सैनिक बना देने का निश्चय किया।

सम्मेलन की ऐतिहासिकता

इस १५ वें अखिल भारतीय सर्वोदय-सम्मेलन को यदि एक ऐतिहासिक सम्मेलन कहें तो अत्युक्ति न होगी। तीन वर्षों के बाद स्वयं विनोबा इस बार सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। आज की जागतिक स्थिति और विशेषकर देश की वर्तमान परिस्थिति में सम्मेलन ने सर्वोदय समाज एवं देश के सामने जो कार्यक्रम रखे उनका ऐतिहासिक महत्व है। सर्वोदय-आन्दोलन ने दस वर्षों बाद फिर एक जोर पकड़ा है और उसने अपनी शक्ति महसूस करायी है। जिस समय देश को ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता थी, जो जन-मानस को स्पर्शकर उसका अभिक्रम जगा सके, उसी समय इस सम्मेलन ने ऐसे अभिनव कार्यक्रम पेश करके सारे देश को शक्ति प्रदान की है। लोग कार्यक्रम की उत्कटता तीव्रता से महसूस करें, इसके लिए विनोबा व जयप्रकाश नारायण ने हर प्रान्त के कार्यकर्ताओं से भेंट की और उनकी भावनाओं को स्फुरित किया।

आज हम इतिहास के मोड़ पर खड़े हैं और समय हमें चुनौती दे रहा है, क्या हम इस चुनौती को स्वीकार करेंगे? ●

रोग बढ़ता जा रहा है

●

विचित्र नारायण

आज पैसा वह काम करता है, जो काम पहले तलवार करती थी। एक्स्प्लायटेशन करने की कला भी विकसित हो गयी है कि हम पैंतीस रुपये देकर एक आदमी के सिर पर जिन्दगी भर पाखाना उठवा सकते हैं। वह इसे परिस्थितिवश अच्छा समझता है, क्योंकि उसे जिन्दा रहने के लिए रोटी चाहिए। इस समाज में जहाँ मरीजों के लिए हास्पिटल नहीं, वहाँ कुत्तों को घुमाने के लिए इन्सान रखे जाते हैं और रखनेवाले इसे अपना हक मानते हैं। आज गरीब बीमार के लिए दवा नहीं मिलती, लेकिन अमीरों के कुत्तों के लिए दूध मिलता है। इस देश में अनेक लोग 'चेन-स्मोकर्स' हैं। कम-से-कम यदि माना जाय तो साठ रुपये तक का खर्चा उनका महीने में सिर्फ सिगरेट का होता है। इसलिए तम्बाकू की खेती से ज्यादा पैसा मिलता है, बजाय उन चीजों के, जिनकी हमें जिन्दा रहने के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। आज गरीबी का इलाज हो रहा है, लेकिन रोग बढ़ता ही जा रहा है।

जन-जन के जीवन में लाये
नया वर्ष उत्कर्ष,
नव जीवन की नयी प्रेरणा
नये-नये निष्कर्ष!

बापू की विरासत

इस देश के मुख्य-मुख्य जलाशयो में गाधी के शरीर की भस्म प्रवाहित की गयी थी। उस वक्त शायद लोगो ने सोचा होगा कि अब इस देश के लोग जो पानी पियेंगे, उसमें गाधी की कुछ तासीर होगी ही। हममें से प्राय सबने बच्चो या बूढो को आपस मे लडते समय यह कहते सुना होगा कि हम भी अपनी माँ का दूध पिये हुए हैं। इस तरह इस देश का मनुष्य दुनिया के सामने खडा होकर यह कह सकता है कि मैंने वह पानी पिया है, जिसमें गाधी की भस्म प्रवाहित की गयी थी। अगर हम यह नही कह सकते तो हमारे लिए यह सोचने का विषय है। यह विचार आज इस देश के अन्य लोगो के लिए जितना प्रस्तुत है, उससे कहीं अधिक हम लोगो के लिए प्रस्तुत है, जो यह दावा करते हैं कि हम बापू के वारिस हैं।

–दादा धर्माधिकारी

लाइसेन्स नं० ४१
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
जनवरी, १९६४ नयी तालीम रजि० सं० एल १७२३

जब आँखें भर आयीं

दिसम्बर '६२ में मैं बोमदिला गया था। हमारी जीप का फौजी ड्राइवर सिक्ख भाई था। जाते वक्त तो वह चुप था। जानता नही था कि हम कौन हैं, लेकिन लौटते वक्त उसने कहा—

"क्या बाबूजी, मैं आपसे कुछ बातें कर सकता हूँ ?"

"जरूर, दिल खोलकर कह सकते हो। मैं तो कोई सरकारी आदमी हूँ नही।"—मैंने कहा।

उसने बताया—"भाइयो ने, बहनो ने मिठाइयाँ भेजी, जर्सियाँ भेजी, लेकिन हमलोगो तक उनमें से कितना सामान पहुँचा, हमी जानते हैं। लेकिन, गया कहाँ ? पता नही।"

उसने आगे कहा—"बाबूजी आप तेजपुर में जाकर अफसरों का जो मेस है और उनके जो 'क्लब्स' हैं वह देखिए। हवाई जहाज पर लाद-लादकर उनके लिए कितना फर्नीचर, कितनी क्राकरी, और ऐशो-आराम की कितनी ही चीजें आयी। लेकिन, बाबूजी ! हम जवान है, सिपाही हैं—हमारा मेस जाकर देखिए।"—और उसने बडी दर्दभरी आवाज में पूछा—

"क्या बाबूजी, हमारी जान में और अफसरो की जान में फर्क है ?"

मैं इसका क्या उत्तर दे सकता था। बस, मेरी आँखें भर आयी।

—जयप्रकाश नारायण

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
गत माह छपी प्रतियाँ २,००० + १०,००० इस माह छपी प्रतियाँ १२,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १२ अंक ७

शिक्षा से मेरा अभिप्राय यह है कि बालक की, या प्रौढ़ की— शरीर, मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओं को उद्घाटित किया जाय और बाहर प्रकाश में लाया जाय। —म० गांधी

फरवरी, १९६४

नयी तालीम

●

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

अनुक्रम

●

नयी तालीम
सर्व-सेवा-संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

वार्षिक चन्दा	६-००
एक प्रति	०-६०

नयी तालीम

पाठ्यक्रम की एकरूपता

'नयी तालीम' के पिछले अंक में श्री विष्णुकांत पाण्डेय की 'सम्पादक के नाम चिट्ठी' प्रकाशित की गयी है। उन्होंने शिक्षा-जगत के लिए एक बहुत महत्व का प्रश्न उठाया है। उनकी शिकायत सही है।

अगर हमारे नये केन्द्रीय शिक्षामंत्री ने "कहा है—"बार-बार मुख्यमंत्रियों एवं शिक्षामंत्रियों के सम्मेलनों में इस बात पर जोर दिया जाता है और उनसे इस दिशा में ठोस कदम उठाने का अनुरोध किया जाता है, परन्तु मुख्यालय जाते-जाते वे इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं।"— तो यह स्थिति चिन्तनीय है। जिस राष्ट्र ने अपना राजनीतिक सिद्धान्त लोकतन्त्र माना है, उसके लिए लोकनिर्माण सबसे मुख्य धर्म हो जाता है और लोकनिर्माण का एकमात्र साधन शिक्षा ही है। अगर देश के शिक्षा-जगत में इस प्रकार की लापरवाही रहती है तो लोकतंत्र का भविष्य क्या है?

वर्ष : १२
•
अंक : ७

लेकिन, पत्र का मुख्य प्रश्न इस प्रसंग को लेकर नहीं है, बल्कि पाठ्यक्रम के स्वरूप को लेकर है। यह सही है कि 'आज शिक्षा-जगत जिन भूल भुलैयों' में पड़ा हुआ है उनसे निकलकर "ऐसे ठोस कदम उठायें जायँ कि जिससे पूरा देश ठंडे दिल से यह सोचने को बाध्य हो कि उसका शिक्षा क्रम एक होना चाहिए" या नहीं?

शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि का विकास तथा समाज का विकास है। वस्तुतः व्यक्ति समाज की इकाई होने के नाते, उसका विकास सामाजिक नागरिक की हैसियत में ही है। अतएव, अन्ततोगत्वा शिक्षा-क्रम बौद्धिक तथा सामाजिक सन्दर्भ में ही बनाना चाहिए।

आज जो शिक्षाक्रम चल रहा है उसे अगर गहराई से देखा जाय तो स्पष्ट होगा— उसमें बुद्धि की कसरत के लिए गुंजाइश नहीं के बराबर है। और, सारा अभ्यास स्मृति की कसरत के लिए ही है। किताबों और फाइलों से जानकारी हासिल कर उसे याद रखने में स्मृति को ही काम मिलता है, बुद्धि को नहीं। मनुष्य का बौद्धिक विकास तभी होता है जब वह किसी किस्म के निर्माण के काम में लगता है, और समस्याओं का हल करने बैठता है। यही कारण था कि गांधीजी ने देश के बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा का माध्यम उत्पादन की प्रक्रिया, समाज का वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण को माना था। जब ये तीनों चीजें शिक्षा का माध्यम बनती हैं तो बुद्धि को भरपूर कसरत मिलती है, साथ ही सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में शिक्षाक्रम बनने पर शिक्षा समाज विकास का उपादान बन जाती है।

वस्तुतः आज देश में छात्रों की जो ध्वंसात्मक प्रवृत्ति दिखलाई दे रही है उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति में केवल स्मृति को ही काम मिलता है, बुद्धि को नहीं, लेकिन मनुष्य की बुद्धि कभी बेकार नहीं बैठ सकती, उसे काम मिलना चाहिए। रचनात्मक काम न मिलने की अनिवार्य परिणति ध्वंसात्मक चिंतन ही होती है। अतएव आज जब शिक्षा जगत का ध्यान पाठ्यक्रम और अभ्यासक्रम पर गम्भीरतापूर्वक जाने लगा है तो उसे मानस-शास्त्र के उपर्युक्त तथ्य पर ध्यान देने की जरूरत है।

कुछ मित्र शिक्षाक्रम पर राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में सोचते हैं और इस सोचने में वे यह मानते हैं कि सारे देश में एक ही पाठ्यक्रम बनाने पर राष्ट्रीय एकता हो सकेगी, लेकिन ऐसा सोचना गलत है।

मनुष्य चेतन तत्व है। उसे किसी एक साँचे में ढालकर बराबर नहीं किया जा सकता। हर व्यक्ति और हर सामाजिक इकाई का अलग अलग संस्कार होता है। नाना प्रकार की ऐतिहासिक उथल पुथल, सामाजिक तथा वैचारिक मन्थन, तथा भौतिक परिस्थिति के आधार पर हर क्षेत्र और हर इकाई की एक संस्कृति तथा परम्परा बनती है। अगर मानव का विकास करना है तो उसे अपनी बुनियादी संस्कृति पर से ही आगे बढ़ना होगा। अतएव, प्रश्न "शिक्षाक्रम की एकरूपता कैसे हो ?" यह नहीं है, बल्कि भिन्न भिन्न सांस्कृतिक तथा सामाजिक भूमिका में प्रत्येक इकाई के शिक्षाक्रम तथा पाठ्यक्रम की आवश्यक भिन्नता रखते हुए समन्वित शिक्षा पद्धति क्या हो, यह है।

गांधीजी ने रूढ़ तंत्रमूलक लोकतंत्र के स्थान पर बुनियादी लोकमूलक लोकतन्त्र की स्थापना में संसार के सामने यह कल्पना रखी थी कि समाज का ढाँचा समुद्र की लहरों (ओशनिक-सर्कल)—जैसा होगा, जिसमें प्रत्येक इकाई अपनी विशिष्टता को कायम रखते हुए मानवीय समग्रता में विलीन हो सके।

यह तभी होगा, जब देश के शिक्षाशास्त्री तथा अधिकारी प्रत्येक इकाई की विशिष्टता की रक्षा कर उसी के सन्दर्भ में विशिष्ट पाठ्यक्रम तथा अभ्यासक्रम बनाने की दिशा में चिंतन तथा प्रयोग में लग जायँ। नहीं तो, आज जिस प्रकार एकरूपता का चिंतन चल रहा है उसकी प्रगति लोकतन्त्र की दिशा में न होकर अधिनायकतंत्र की दिशा में होगी, क्योंकि ऐसी एकरूपता की पहल शिक्षक नहीं कर सकेगा और न 'लोक' कर सकेगा। उसका पहल अनिवार्यतः तंत्र तथा अधिकारी ही करेगा, और संचालन अति केंद्रित नियंत्रण-यंत्र से ही हो सकेगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

हमारी पाठशालाएँ और सामाजिक भावना–१

मार्जरी साइक्स

करुणा और न्याय के विकास के लिए स्कूलो में क्या किया जा सकता है, इस विषय में मैं कुछ सुझाव देना चाहती हूँ। मेरे ये सभी सुझाव ऐसे है, जिनके प्रयोग मैंने अथवा मेरे परिचितों ने स्कूलो में किये है।

ग्राम के बीमारों की सेवा

शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर गाँव के बीमारो की सेवा का भार लें। यह एक आसान और सहज-सुलभ कार्यक्रम है। आज होता यह है कि स्कूल में कोई बच्चा नहीं आया तो शिक्षक उसकी अनुपस्थिति लगा देते है, उसकी कोई फिक्र उन्हें नही रहती। अगर हममें करुणा होगी—जिसके लिए हमें प्रयत्न करना ही चाहिए—तो हम अनुपस्थित बालक की मुसीबत का पता लगा सकते है। क्या हम उसके परिवार की कुछ मदद कर सकते है? शिक्षक को अनुपस्थित बालक के घर जाकर पता लगाना चाहिए और आवश्यक मदद करनी चाहिए। बच्चा क्यों अनुपस्थित था?—क्या शाला के अन्य बालक और शिक्षक मिलकर ऐसा कुछ काम कर सकते हैं, जो उसके लिए सहायक सिद्ध हो सके?—आदि बातों के हर पहलू पर विचार करना चाहिए।

उन गाँवों में, जहाँ डाक्टर नहीं है, उनके पास खबर पहुँचाने का काम भी विद्यार्थी बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं। गाँव में कोई महामारी फैली हो या कोई गम्भीर रूप से बीमार हो तो बालक दौड़कर डाक्टर को सूचना दे सकते है और उसे बुला सकते है। बीमारों के लिए दवा लाने का काम भी उनके लिए बहुत उपयोगी और लाभदायक है।

आजकल सामाजिक अध्ययन की अकसर चर्चा चलती है। नयी तालीम की दृष्टि से सामाजिक अध्ययन की शुरुआत उसी गाँव के अध्ययन से शुरू होती है, जिसमें हम रहते हैं। बच्चे अपने गाँव की, पड़ोस के गाँव की समस्याओं का अध्ययन करें। कितने लोग ऐसे है, जिन्हें रोजगार पूरा मिल जाता है? गाँव के कितने लोग बेरोजगार है? कितनों को आंशिक रूप से ही कार्य मिलता है? उनकी मजदूरी क्या है? उन लोगों को मजदूरी समय से नियमित रूप में मिलती है या नहीं?—आदि प्रश्नों पर शाला के बड़े बच्चों को विचार करना चाहिए। स्कूल के छोटे बच्चों के बारे में भी इसी प्रकार का विचार करना चाहिए कि—

● शाला में ऐसे कितने बच्चे है, जो बिना नाश्ता किये ही आते है?

● शाला में क्या ऐसे भी बच्चे है, जो गरीबी के कारण दिन में केवल एक बार ही खाना खाते है?

इन सब प्रश्नों में से न्याय और करुणा की भावना जागृत करनी है। वह इनसे जागृत की जा सकती है और इनके आधार पर प्रत्यक्ष कार्य की रूपरेखा बनायी जा सकती है। जो लोग शान्ति के लिए काम करते है, दुनिया में सच्ची शान्ति स्थापित करना चाहते हैं, उन्हे न्याय और करुणा दोनों के लिए काम करना चाहिए। न्याय

और करुणा के बिना स्थायी शान्ति कदापि स्थापित नहीं हो सकती।

उत्सर्ग और त्यागमूलक कहानियाँ

आप सब अच्छी तरह जानते हैं कि सभी बच्चे, चाहे छोटे हों या बड़े, कहानी सुनना पसन्द करते हैं। जब बच्चों में ऊपर बताये अनुसार गाँव के दुख-दर्द में भाग लेने की वृत्ति आप जागृत करना चाहते हैं तो आपको उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिए, जिनसे व जान सकें कि साधारण लोगों ने भी अपने से बुरी हालत के लोगों की हालत सुधारने के लिए कैसे-कैसे त्याग और आत्मोत्सर्ग किये हैं। उन्होंने दुखियों के जीवन को कैसे आनन्दमय बनाया है एसी कहानियाँ हमें हर देश के साहित्य से मिल सकेंगी।

प्रत्येक देश में न्याय एवं करुणा उत्पन्न करनेवाली उत्सर्ग की कहानियाँ मिलती हैं। बच्चों को ऐसी कहानियाँ बहुत प्रिय होंगी। खासतौर से १०–१२ साल के बालक पराक्रम और बहादुरी की गाथाओं के दीवाने होते हैं, महान विजेताओं, शूरवीरों और पराक्रमियों के किस्से उनके जीवन को अनुप्राणित करते हैं। ऐसे वीर, जो अपने प्राणों की भी परवा किये बिना जान को हथेली पर लेकर काम में जुट जाते हैं और कुछ कर दिखाते हैं, ऐसे लोगों के प्रति बच्चों के मन में अपार श्रद्धा होती है। उनसे उनके आदर्श भी बनते हैं और वे भी वैसे ही काम करने को प्रेरित होते हैं।

ऐसी असख्य कहानियाँ हमें उपलब्ध हो सकती हैं। हमारा सौभाग्य है कि हम गाधीजी के समय में रहे हैं। उनके जीवन और सत्याग्रह-आन्दोलनों से ऐसी अनेक कहानियाँ हमें मिलेंगी। इसके अतिरिक्त दुनिया के अन्य सभी देशों से भी हमें एसी सच्ची घटनाएँ गाथाएँ प्राप्त होंगी, जिनमें साधारण लोगों द्वारा न्याय और करुणा के लिए वीरता-पूर्वक आत्मोत्सर्ग के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कुछ समय पूर्व मैंने अंग्रेजी की एक किताब पढ़ी थी— "करेज इन बोथ हैंड्स" — उसमें विविध देशों के लोगों की १०० कहानियाँ हैं–बिना हिंसा का सहारा लिए–अहिंसापूर्वक साधारण से साधारण लोग भी कैसे न्याय-करुणा के लिए लड़ सकते हैं और विजयी हो सकते हैं, इसके बड़े प्रेरक प्रसंग हैं।

एक प्रेरक प्रसंग

रोम-साम्राज्य की एक प्रेरक कहानी है। बहुत पुरानी बात है। रोम में उन दिनों एक बहुत ही क्रूर और निर्दय प्रथा चल रही थी। लोगों के मनोरंजन के लिए एक भयंकर समारोह किया जाता। इसमें दो दल होते। ये दोनों दल आपस में युद्ध करते और जबतक एक दल के अत्यधिक लोग घायल नहीं होते या मर नहीं जाते, यह खेल चलता रहता। सरेआम नर-हत्या का घृणित ताण्डव होता और लोग उसे मनोरंजन का साधन मानते थे।

यह रूढ़ि 'टेलीमेकस' नाम के एक व्यक्ति को अच्छी न लगी। उसका मन भर आया। मनोरंजन के नाम पर चलनेवाली यह बर्बरता उसे अनुचित और गलत लगी। वह सोचने लगा कि इसे रोकने के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिए। नक्कारखाने में भला तूती की आवाज का गुजर कहाँ? इस पर उसने प्रत्यक्ष कुछ कर गुजरने की बात सोची। जब मनोरंजन का समय आया तो वह भी थियेटर में जा पहुँचा। जैसे ही दोनों दल मैदान में उतरे और एक दूसरे पर झपटने को ही थे कि इतने में टेलीमैकस उनके बीच में कूद पड़ा। वह उनको उस क्रूर कृत्य को बन्द करने के लिए कहने लगा—"यह जो आप कर रहे हैं—गलत है, अमानवीय है और बर्बर है, इसे बन्द करें।'

इस तरह की कहानियों का हमें सग्रह करना चाहिए। इन कहानियों के सग्रह में हम एकागी न बनें। एसा न मानें कि युद्ध-सम्बन्धी घटनाओं से हमें आँखें मूँद लेनी हैं। खासतौर से बड़े बालकों के लिए प्रेरक साहस और निस्वार्थता की अनेक-अनेक कहानियाँ हमें लड़ाई के मैदान से मिल सकती हैं।

एलिजाबेथ प्रथम का समय था। उनके दरबार का एक वीर सेनानी, जो एक अच्छा कवि और लेखक भी था, एक बार युद्ध में बुरी तरह घायल हुआ। चूँकि वह अफसर था, सिपाही उसके पास दौड़कर पानी लेकर आये। अफसर बहुत प्यासा था और पानी पीने को ही था कि उसे समीप से एक सिपाही की आवाज सुनाई दी। वह भी बुरी तरह घायल था और पानी के लिए चिल्ला रहा

था। जैसे ही उस घायल अफसर ने सिपाही की करात्र सुनी उसने पानी पीने से इनकार कर दिया और कहा कि मेरे लिए तो और कोई भी पानी ले आयेगा, यह पानी तुम उसे पिला दो। कितनी महानता और कितनी करुणा थी उस वीर सेनानी के हृदय में।

इस तरह की कहानियां आप अवश्य प्रचुरता से संग्रह करें और उनसे बच्चो के दिल और दिमाग को पोषित एव अनुप्राणित करें।

एक अविवेकी परम्परा

मैं हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तो के अनेक स्कूलो में गयी हूँ। मैंने देखा है कि स्कूलो मे अधिकतर तीन नेताओ के चित्र टँगे हैं—नेहरूजी, गाधीजी और सुभाष बाबू। नेहरूजी अपनी लोकप्रिय पोशाक में, गाधीजी चरखा चलाते हुए और नेताजी सुभाष फौजी जनरल की वर्दी में। मुझे व्यक्तिश इनसे कोई विरोध नही है, पर एक विचारणीय मुद्दा है, जिसे में आपके सम्मुख रखना चाहती हूँ।

आजकल ऐसी अनेक पुस्तके है, जिनमें नेताओं की जीवनियां लिखी रहती है। स्वतन्त्रता सग्राम के सेनानियो के जीवन-चरित्र बतानेवाली ये पुस्तकें कहीं भी यह नही बताती कि गाधीजी और नेताजी के स्वराज्य हासिल करने के रास्ते अलग-अलग थे—परस्पर विरोधी थे। ये पुस्तकें निरर्थक प्रशसा से भरी रहती हैं—तारीफ, तारीफ, और तारीफ। उनके जीवन, कार्यो और विचारो का अर्थपूर्ण विवेचन उनमें नही रहता। ऐसे लोगो की भी प्रशसा लिखी रहती है, जिन्होने हिंसा का आश्रय लिया, बम फोडे, रेलें उलटी और जो फाँसी पर चढ़े। मैं इन लोगो की बहादुरी, साहस और हिम्मत की कायल हूँ, फिर भी मेरा यह कहना है कि हमें बच्चों को समझाना चाहिए कि इन तीनो के रास्ते अलग अलग है। अगर हमारा स्कूल सर्वोदयी विचार धारा को मानने-वाला है तो हम बच्चो को साफ तौर से यह बता दें कि हमारा रास्ता क्या है। हम दूसरा के रास्तो को इज्जत की निगाह से देखें, पर हम अपने रास्ते को खूब समझ लें।

एक आदर्श परम्परा

इस तरह एक विचार मैंने यह रखा कि कहानी कहकर हम बच्चा को न्याय और करुणा की ओर उन्मुख कर सकते है। बडे बच्चा को हमें यह समझाना चाहिए। उनमें यह भावना हमें भरनी चाहिए कि वे समाज-परिवर्तन कर सकते है और समय के अनुरूप बदलना उन्हें अभी से सीखना चाहिए। सेवाग्राम में इसका प्रत्यक्ष रूप हम आयुधपूजा के समारोह के रूप में मनाते थे। दशहरे पर आयुध-पूजा का आयोजन होता था। बच्चा को हर साल समझाया जाता था कि यह उत्सव कैसे शुरू हुआ। पुराने जमाने में क्षत्रिय लोग न्याय, करुणा और शान्ति की स्थापना के लिए इस अवसर पर कूच करते थे। उस जमाने में वे लोग अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करते थे। आज हमारे हथियार, हमारे अस्त्र शस्त्र हमारे काम के औजार है—अधिक अन्न उपजाना, गांवो को साफ-सुथरा रखना, यह सब आज के युद्ध प्रयत्न है। तो, इन सब औजारों को साफ-सुथरा रखना, सजाना और भगवान के सामने उनको रखकर भगवान से अनुकम्पा की याचना करना, शक्ति प्राप्ति की प्रार्थना करना, यह हमारे दशहरा अथवा आयुध-पूजा का नूतन रूप था। आप भी इस प्रकार का आयोजन कर सकते हैं। इसके लिए अपने प्रदेश के लिए अनुकूल कोई भी त्योहार चुन सकते है। राम-चरित-मानस और बाइबिल में भी आत्मा के आयुधो का वर्णन है, उनका भी उपयोग आप ऐसे अवसरों पर कर सकते है। ●

मनुष्य के अन्दर जो स्नेह-भाव, सहकार-वृत्ति और सहयोग की भावना आज है वह उसके रक्त सम्बन्धी स्वजनों तक ही सीमित है। पर मनुष्य में केवल सहज प्रेरणा ही नहीं है, बल्कि प्रज्ञा भी है। और, वह प्रज्ञा कहती है कि मनुष्य के स्नेह, सहकार और सहयोग की भावना को व्यापक करना चाहिए और यही मनुष्य का धर्म है। व्यापक बनने की इस भूख को स्थायी बनाना शिक्षण का पहला काम है।

—अ० सहस्रबुद्धे

सामाजिक विषय की शिक्षा

•

वंशीधर

आज के प्रजातंत्र और समाजवाद के युग में हमारी सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हमारे बच्चे प्रजातंत्र और समाजवाद का ठीक अर्थ, और इस 'तंत्र' और 'वाद' के पीछे जो जीवन दर्शन है, उसे समझें। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जहाँ और बातें जरूरी हैं, वहाँ एक बड़ी जरूरत यह भी है कि बच्चे के सामने समाज का एक पूर्ण संश्लिष्ट चित्र आये।

मानव-समाज का विकास एक अखंड प्रक्रिया है और उसे समझने के लिए इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न सामाजिक विषयों की, जो अलग-अलग शिक्षा दी जाती है वह पर्याप्त नहीं है। हर विषय का सम्बन्ध मानव-समाज के संगठन और विकास के किसी एक पहलू से है—उसके समग्र अखंड रूप से नहीं। एक विषय एक पहलू की ही कहानी कहता है। भूगोल मनुष्य के प्राकृतिक वातावरण की ही कहानी कहता है, उसके उस पहलू को नहीं छूता, जिसका सम्बन्ध उसकी अर्थनीति से है। यह कहानी तो अर्थशास्त्र कहता है।

इसी तरह नागरिकशास्त्र और राजनीति उसकी शासन-नीति की कथा कहते हैं। एक एक विषय कहानी का एक-एक अध्याय कहता है। इसका परिणाम यह होता है कि कहानी सुननेवाले के मन पर कहानी का पूरा चित्र बन नहीं पाता। अगर हम पूरा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं तो इन विभिन्न सामाजिक विषयों से प्राप्त होनेवाली आंशिक सामग्रियों को इस प्रकार संजोना होगा, उनका एक क्षेत्र में इस प्रकार विलयन और स्पष्टीकरण करना होगा, जिससे वे समाज का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत कर सकें। जबतक ऐसा नहीं होगा, बच्चे का ज्ञान टूटा-फूटा और असम्बन्धित ही रहेगा।

परन्तु, समाजवाद और प्रजातंत्र की बात छोड़ भी दीजिए तो समुदाय के सदस्य की हैसियत से मनुष्य के आचरण का अध्ययन सदा से शिक्षा का एक अंग रहा है। व्यक्ति समाज से बहुत कुछ पाता है। मातृ पितृ और गुरु ऋण की भाँति समाज का भी एक ऋण होता है और इस ऋण को चुकाने की पहली शर्त यह है कि बालक को अपने समाज का सम्यक् ज्ञान हो। वह जाने कि समाज का विकास कैसे हुआ है। वह यह भी जाने कि इस विकास में प्राकृतिक वातावरण का कितना हाथ रहा है।

प्राकृतिक वातावरण से प्राप्त भौतिक साधनों का उपयोग करके ही मनुष्य ने सामाजिक वातावरण का सृजन किया है। अतः समाज को समझने के लिए प्राकृतिक वातावरण को जानना भी आवश्यक है। जीवित रहने के लिए मनुष्य को भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकता है। अतः समुदाय के भौतिक साधनों, उद्योग-धंधा, यातायात और संचरण, वित्त और व्यापार आदि के विषय का ज्ञान बालक को होना चाहिए। यही कारण है कि बालक के पाठ्यक्रम में सदा से ऐसे विषय रहे हैं, जो उसके प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण की कहानी बतलाते रहे हैं। भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि ऐसे ही विषय हैं। इन सभी का सम्बन्ध मानव-समाज के विकास और संगठन से है।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक ये विषय स्वतंत्र थे, अर्थात् अध्यापन की दृष्टि से एक दूसरे से एकान्त पृथक थे और इनके समन्वय की कोई चेष्टा नहीं की गयी थी, परन्तु जब अमेरिका के एक शिक्षाशास्त्री ने मानव मन की एकता के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर बल दिया और कहा कि बालक का मन इकाई है, विभिन्न प्रकार की शक्तियों का समूह मात्र नहीं है, इसलिए उसे जो ज्ञान दिया जाय वह विषयों में बँटा हुआ न हो, तो समाज से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास, भूगोल आदि विषयों में भी समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गयी,

और इन विषयों को 'समाज विज्ञान' अथवा 'सामाजिक अध्ययन' नाम के एक नये व्यापक विषय के अन्तर्गत सँजोने का प्रयास किया गया।

'समाज-विज्ञान या शास्त्र' के नाम से इस प्रकार का एक समन्वित अर्थात मिला-जुला पाठ्यक्रम सन् १८९२ ईसवी से अमेरिका में चल पड़ा था। १९११ तक इस विषय में समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नृशास्त्र आदि सामाजिक विषय भी शामिल कर लिए गये। प्रथम महायुद्ध के बाद इगलैंड और यूरोप में इस विषय को पढ़ाने की चर्चा हुई, परन्तु अमेरिका में इस विषय पर जितना बल दिया गया उतना अन्यत्र नहीं। यहाँतक कि अमेरिका के एक शिक्षाशास्त्री ने तो १९११ से १९५५ के समय को 'सामाजिक विषय' का युग ही कहा है।

अस्तु, 'समाज विज्ञान' या 'सामाजिक विषय' नाम के एक विषय को पढ़ाने और उसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र आदि विषयों की सामग्रियों को सँजोने की मूल प्रेरणा अमेरिका से ही प्राप्त हुई है और प्रजातंत्र और समाजवाद की नीति से उसे बल मिला है। अब तो यह मान लिया गया है कि समाज को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके हर पहलू की समन्वित शिक्षा बालक को देनी चाहिए।

भारतवर्ष में बुनियादी शिक्षा के आरम्भ के साथ ही प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में पहले-पहल इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र के विभिन्न विषयों के अलग-अलग अध्यापन के स्थान पर 'सामाजिक विज्ञान' नाम के एक ही विषय के अध्यापन की भी चर्चा हुई। जाकिर-हुसैन-समिति की रिपोर्ट और विस्तृत पाठ्यक्रम' में इस विषय के नीचे लिखे उद्देश्य बतलाये गये—

(१) विद्यार्थियों में आमतौर पर मानव जाति की प्रगति, और खासतौर पर हिन्दुस्तान की प्रगति की ओर दिलचस्पी पैदा करना।

(२) उन्हें इस योग्य बनाना कि वे अपने समाज और प्राकृतिक वातावरण को हालत को समझ सकें और उनमें सुधार करने के लिए तैयार हों।

(३) उनके हृदय में देश के लिए प्रेम पैदा हो। वे अपने देश के अतीत का आदर करें और उसके भविष्य में यह विश्वास रखें कि वह एक ऐसे समाज का घर होगा, जिसकी नीवें सहकारिता, प्रेम, सच्चाई और न्याय पर रखी जायगी।

(४) उनमें नागरिकता के कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान पैदा करना।

(५) उनमें ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक सद्गुण पैदा करना, जिसमें वे सभी धर्मों का आदर करते हुए सच्चे साथी और सहायक पड़ोसी बन सकें।

परन्तु, इस ध्येय की पूर्ति के लिए रिपोर्ट में 'समाज-विज्ञान' का जो पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया गया, उसमें ऊपर ऊपर से एक कमजोर और बनावटी सम्बन्ध के अतिरिक्त इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र के विषयों के एकीकरण और विलयन के लिए कुछ विशेष प्रयत्न नहीं किया गया था। फलत वे एक शीर्षक के अन्तर्गत अलग-अलग विषय ही बने रहे। उदाहरणार्थ तीसरे दर्जे के 'सामाजिक विज्ञान' की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी जा रही है—

समाज-विज्ञान (तीसरा दर्जा)

(१) प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन प्राचीन भारत (बौद्धकाल), प्राचीन फारस-प्राचीन ग्रीस—कहानियों के रूप में। (इतिहास)

(२) सुदूर देशों में मनुष्य का जीवन (न्यूयार्क के लड़के की कहानी, चीनी लड़के की कहानी इत्यादि। (भूगोल)

(३) जिले का अध्ययन और पृथ्वी के गोले का अध्ययन—(भूगोल)

(४) ग्राम-समाज का अध्ययन—ग्राम और उसका प्रबन्ध, ग्राम पंचायत का संगठन, रास्तों, कुओं की रक्षा, सफाई इत्यादि। (नागरिक-शास्त्र)

जो कुछ भी हो, इस पाठ्यक्रम ने पहली बार इति-हास, भूगोल और नागरिकशास्त्र आदि तीन अलग-अलग विषयों को अलग-अलग पढ़ाने के स्थान पर उन्हें एक ही शीर्षक 'समाज विज्ञान' के अन्तर्गत एक ही घंटे में पढ़ाने की बात कही और भारत के प्रायः सभी राज्यों में

प्रारम्भिक स्तर पर 'सामाजिक विषय' नाम से एक नये विषय की शिक्षा आरम्भ की, जिसमें इतिहास, भूगोल, और नागरिक-शास्त्र के विषयों से सामग्रियाँ लेकर एक व्यापक विषय बनाने का प्रयास किया गया। उत्तर-प्रदेश में भी प्रयास हुआ और जूनियर बेसिक स्कूलों के लिए 'सामाजिक विषय' का एक पाठ्यक्रम तैयार किया गया। उसकी एक रूपरेखा नीचे दी जा रही है—

सामाजिक विषय (जूनियर बेसिक स्कूल)

(क) इतिहास—कहानियों द्वारा, जैसे—रामायण और महाभारत की कहानियाँ—कृष्ण, अभिमन्यु, महात्मा बुद्ध, अशोक आदि।

(ख) भूगोल—भिन्न भिन्न प्रदेशों का जीवन, हमारा प्रदेश, हमारा देश आदि।

*(ग) नागरिक-शास्त्र—सामाजिक जीवन की शिक्षा—*स्वच्छता, स्वास्थ्य रक्षा, बालक घर मे, विद्यालय में आदि।

इस पाठ्यक्रम को देखने से यह साफ मालूम हो जाता है कि इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र के विषयों के विलयन का कोई प्रयास नहीं हुआ है और 'सामाजिक विषय' नाम के एक शीर्षक के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्र सत्ता बनी हुई है।

सामाजिक विषय का यह पाठ्यक्रम वास्तव में इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र के तीन विभिन्न विषयों का समुच्चय मात्र है और इससे मानव समाज के समन्वित और संश्लिष्ट रूप को समझने में सहायता नही मिलती। विचारवान शिक्षकों को इस दूषित पाठ्यक्रम से सन्तोष नही हुआ। अतः सन् १९५० में इलाहाबाद के सेंट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीटयूट में 'सामाजिक विषय' का एक पाठ्यक्रम तैयार किया गया, जिसमें इस संश्लिष्ट रूप को समझने के लिए समन्वित पाठ्यक्रम देने का प्रयास किया गया यद्यपि 'इतिहास' के उन सभी शीर्षकों को पढ़ाने का लोभ नहीं छोड़ा गया, जिसकी चर्चा 'जाकिर हुसैन-समिति' के पाठ्यक्रम में की गयी थी और जिसका परिणाम यह हुआ कि पाठ्यक्रम बहुत बोझिल हो गया। यह पाठ्यक्रम विभाग ने स्वीकृत नहीं किया और ऊपर का दूषित पाठ्यक्रम ही चलता रहा। उसका एक नमूना यहाँ दिया जा रहा है—

सामाजिक अध्ययन कक्षा ३

अ—घर

(१) कुटुम्ब

क—घर पर माँ-बाप का कर्तव्य।

ख—आदिम काल में कौटुम्बिक जीवन कैसे विकसित हुआ? एक दूसरे पर निर्भर रहने से उदारता, सहिष्णुता, सहानुभूति आदि गुणों का विकास।

(२) मकान

क—एक अच्छे मकान के गुण—प्रकाश, हवा इत्यादि—प्रकाश और रोशनी की दिशा।

ख—मकान बनाने के लिए आजकल की सामग्री ईंट, पत्थर, चूना, सीमेंट, लकड़ी, लोहा आदि।

ग—आदि मानव के मकान—पेड़, गुफाएँ—भीलों के आवास आदि—मकान के विकास की कथा।

घ—दूसरे देशों के मकान—

(i) खेमों का जीवन—(बद्दू)
(ii) झोपडी और पेडों का जीवन—(अफ्रीका के बौने)
(iii) बर्फ के मकान (एस्किमो)
(iv) कागज के मकान (जापानी)

ङ—प्राचीन काल के कुछ प्रसिद्ध मकान—

(i) मिश्र के पिरामिड,
(ii) बेबीलोन का लटकता बाग,
(iii) सिकन्दरिया का प्रकाश-गृह,
(iv) भारतवर्ष के गुफा मन्दिर।

(३) भोजन

क—भोजन प्राप्ति के साधन— पशु और पेड पौधे।

ख—भोजन की सफाई—भोजन करने के विविध ढंग।

ग—आदिम मानव का भोजन।

(i) फल मूल संग्रह।
(ii) आग का प्रयोग और बनाने के ढंग का आविष्कार।
(iii) भोजन पकाने की आवश्यकता और बरतन बनाने की कला का विकास।
(iv) खेती—फसलें बागवानी—फल और तरकारियाँ।

ब—स्कूल-समुदाय—

स्कूल-समुदाय का अध्ययन—सहकारिता, अनुशासन और आज्ञापालन आदि सामाजिक गुणों का विकास।

(स) १—पड़ोस

खेती से सम्बन्धित उद्योग—

क—किसान—

(i) किसान—खेती-बागवानी—तब और अब।

(ii) खेती-बागवानी के औजार।

(iii) खादें।

ख—दूसरे उद्योग—कपड़ा बुनना, बढ़ईगिरी, बरतन बनाना, धातु का काम, मकान बनाना आदि।

ग—जुलाहा—कातना-बुनना—तब और अब।

घ—बढ़ई और उसका काम।

ङ—लोहार—

(i) धातु के प्रयोग के पहले का जीवन।

(ii) पत्थर-युग और धातु-युग का सक्रमण काल।

(iii) लोहे का आविष्कार—कला कौशल और युद्ध-कला में क्रान्ति।

च—व्यापारी और साहूकार—

(i) गाँवों का स्वावलम्बी जीवन।

(ii) मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि।

(iii) बाजार—विनिमय—सिक्का का प्रयोग।

(२) पड़ोस की सफाई—स्कूल और पड़ोस की सफाई—सामुदायिक काम।

(३) पानी की व्यवस्था—

क—गाँव और शहर में पानी की व्यवस्था।

ख—पानी के प्रमुख साधन—

(i) बंगाल (नदियाँ)

(ii) पंजाब (नहरें)

(iii) राजपूताना (तालाब)

द—देश की कहानियाँ—

(१) सिंधुघाटी के एक कल्पित बालक का जीवन, इसके माध्यम से मोहनजोदड़ो के मकान—स्नान घर, पत्थर और धातु के औजार, बरतन, अलंकार, धर्म और खेल के बारे में बताया जाय।

(२) वैदिककाल के कल्पित बालक के जीवन-द्वारा उस काल के भोजन, रीति रिवाज, धर्म और स्त्रियों का समाज में स्थान के विषय में बताया जाय।

(३) जातक युग (बौद्ध काल के बारखा—इसके माध्यम से नागरिक जीवन—नगर का धन, ऐश्वर्य, प्रासाद और अट्टालिकाएँ—व्यापार की सामग्रियाँ, व्यापार के मार्ग और उनकी कठिनाइयों के विषय में बतलाया जाय।

(४) वर्द्धमान महावीर का जीवन।

(५) गौतम बुद्ध का जीवन—जिसके प्रसंग में बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित का नाम आ जाय और उस युग के राजनीतिक और धार्मिक जीवन का वर्णन हो।

(६) सिकन्दर और पोरस की कहानी।

(७) चन्द्रगुप्त मौर्य और न्यायालय, मेगस्थनीज।

(८) अशोक—उसकी महानता, धर्म विजय—महेन्द्र और संघमित्रा।

(९) मेनान्द्र कनिष्क—भारतीय धर्म के मानने-वाले विदेशी।

(१०) समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य। समुद्रगुप्त की विजययात्रा, कालिदास और उस युग की संस्कृति एवं कला।

य—प्रायोगिक कार्य—

(१) गाँव के पीने के पानी की व्यवस्था।

(२) गाँव की सफाई के लिए सामुदायिक काम।

(३) नक्शे का काम—कक्षा और स्कूल का चित्र।

'समाज-विज्ञान' का यह पाठ्यक्रम ऊपर दिये हुए दोनों पाठ्यक्रमों से अच्छा है। इसमें इतिहास भूगोल, नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र से सामग्रियाँ लेकर इस प्रकार गुम्फन करने की चेष्टा की गयी है, जिससे समुदाय का समन्वित रूप बालकों के सामने आये और वे अपने समुदाय और पड़ोस के जीवन को अधिक अच्छी तरह समझ सकें। यह काम 'सामाजिक विषय' के उद्देश्य के अनुकूल हुआ है। यह भी अच्छा हुआ है कि इस पाठ्य-क्रम में भूगोल इतिहास आदि विषयों की सामग्रियों को बालक के निकट के वातावरण—उसके भोजन, वस्त्र, मकान, घर, पड़ोस, और पास-पड़ोस के उद्योग धन्धों के इर्द-गिर्द संजोने की चेष्टा की गयी है। इस संयोजन से वह समाज के विकास की कहानी अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा, परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, औपचारिक इतिहास पढ़ाने की चेष्टा में जहाँ पाठ्यक्रम अधिक बोझिल हो गया है वहाँ कुछ असन्तुलित भी हो गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जाय, जिसमें ये दोष न हों। अगले अंक में इस प्रकार का एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जायगा। सामाजिक विषय की सम्यक् शिक्षा के लिए यह पहली जरूरत है।●

मचलते नन्हें-मुन्नों की मीठी बालकहानियाँ

•

जुगतराम दवे

शाम हुई नहीं कि नन्हे-मुन्ने मचल उठते हैं कहानी के लिए। दुनिया के सभी दादा-दादी उन्हें कथा-कहानी सुनाकर खुश करते हैं। परिवार में ऐसी किस्सागो दीदी-दादा दादी या नाना नानी का जो स्थान है ठीक वही स्थान बालवाड़ियों में शिक्षिका का है। यह कहना कठिन है कि बालक मुँह में किसी मीठे पदार्थ के आने से ज्यादा खुश होते हैं या किसी मीठी बालकहानी से।

लेकिन, समझदार माताएँ यह पसन्द नहीं करती कि अड़ोस-पड़ोस के लोग उनके बालकों के मुँह में जब जो चाहें खाने को डाल दिया करें। चूँकि लोग बाल प्रेम से प्रेरित होकर बालकों को गोलियाँ या पेड़े वगैरह खिलाते हैं इसलिए उन्हें एकाएक मना भी नहीं किया जा सकता और ऐसी दशा में जबकि बालक तृप्त हो उसके खाने का समय भी न हुआ हो फिर भी जब उसकी जीभ को इस तरह ललचाया जाता है तो माताओं से वह सहा भी नहीं जाता।

पेड़े का सीसे की तरह वजनी खोवा बालक की नाज़ुक आँतों को नुकसान तो नहीं पहुँचायेगा? बाजार की गोलियों में या बिस्कुटों में सेकरीन का अथवा न पचने लायक मैदे का उपयोग तो नहीं किया है? माताओं के मन में ये और ऐसे ही दूसरे प्रश्न चिन्ता उत्पन्न करते रहते हैं। पड़ोसी तो बालक की जीभ को स्वादवाली चीजें खाने का क्षणिक आनन्द भर देना चाहते हैं पर माता को तो उसका लालन पालन करना होता है। उसका स्वास्थ्य खराब न हो उसके जीभ और दाँत न बिगड़ें, पेट की जठराग्नि मन्द न हो आँतों में कोई रोग न हो जाय आदि अनेक बातों की चिन्ता उसे ही रखनी होती है।

बालकहानी की विशेषता

बालकहानियाँ कुछ निर्दोष और नीरोग होती हैं, तो कुछ बाजारू खाद्य पदार्थों की तरह मिलावटवाली और कुपच करनेवाली भी होती हैं। बाल शिक्षिकाओं को उनका चुनाव विवेकपूर्वक करना चाहिए। सिर्फ इतना ध्यान रखना काफी नहीं है कि कहानी सुनकर बालक खुश हुए और हँसे। इसी के साथ अन्य अनेक बातों का भी ध्यान रखना होता है। जैसे, कहानी नीरोग है या बाजारू? सुरुचि-पोषक है या कुरुचि उत्पन्न करनेवाली? बालक के दिल में समान जैसी है या उसकी समझ से बाहर की आदि आदि।

बालकहानी के चयन और कहने की कला अत्यन्त सुकुमार और सुकोमल है। उसका अभ्यास और विकास करना पड़ता है। हमें यह कभी नहीं मानना

चाहिए कि नन्हें-मुन्नों को सुनाने लायक कहानियाँ तो हम उन्हें बिना मेहनत के ही सुना सकेंगे। हमें यह सोचने की भूल भी नहीं करनी चाहिए कि बालकहानियाँ तो छोटी, सादी और मन बहलानेवाली होती हैं, इसलिए उनके निमित्त क्या विचार किया जाय, क्या प्रयत्न किया जाय और क्या सीखा जाय? चूँकि वे छोटी और सादी हैं, इसीलिए उनका एक-एक शब्द तौल-तौल कर लिखा जाना चाहिए, उनके प्रत्येक विचार को विवेक-पूर्वक शुद्ध करना चाहिए। इस तरह एक बार, दो बार अथवा कई-कई बार रट-रटकर और दोहरा-दोहराकर अपनी नन्ही-सी बालकहानी को शुद्ध, सुन्दर और सुरुचि-पूर्ण बनाना चाहिए। बालकहानी कहनेवाली शिक्षिका को चाहिए कि वह बालकों को सुनाने से पहले उसे खुद ही कई बार मन-ही-मन दोहराये, कागज पर लिख डाले, बार-बार जाँचे और सुधारे। इस प्रकार की मेहनत से उसे उकताना नहीं चाहिए। कहानी में उच्च कोटि का जो साहित्य-रस है उसका विकास करना चाहिए। इस तरह बाल शिक्षिका को प्रयत्नपूर्वक बालकहानी कहने की कला सीख लेनी चाहिए।

उम्र के अनुरूप कहानी

बालक की उम्र के हिसाब से बालकहानी के स्वरूप में भी अन्तर पड़ेगा। गोद में खेलनेवाले बालक की बालकहानी एक प्रकार की होगी, तो घर की छाया में खिलौनों के साथ खेलनेवाले बालक की बालकहानी दूसरे प्रकार की। और, गली-कूचे में धूल के ढेर से खेलनेवाले बालक की बालकहानी तीसरे प्रकार की होगी। इन सब अवस्थाओं को पार करके जब बालक बालवाड़ी में आने लगता है, उस समय को उसकी बालकहानी भी अलग ढंग की होगी। बालवाड़ी में भी ढाई से तीन - साढ़े तीन साल की उम्रवाले बालक की बालकहानी एक प्रकार की होगी, तो उससे कुछ ही बड़ी उम्र के बालक की दूसरे प्रकार की, और उससे भी बड़े बालक को कुछ भिन्न ही प्रकार की कहानी होगी।

यों तो कथा-कहानी का रस मनुष्य के जीवन में अन्त तक बना ही रहता है। सभी कवि, शिक्षक, कथाकार और व्याख्याता इससे लाभ भी उठाते रहते हैं। वे अपनी कहानियों और व्याख्यानों को प्रसंगोचित दृष्टान्तों तथा उपकथाओं की मदद से मनोरंजक भी बनाते ही रहते हैं। अच्छे-अच्छे कथाकार और व्याख्याकार अपने सामने बैठे हुए श्रोताओं की ओर देखकर तदनुसार अपने कथन में कथा के रस का पुट देते रहते हैं। यदि श्रोताओं में अलग-अलग उम्र का मिला जुला समाज होता है, तो वे अपनी कला का उपयोग ऐसे ढंग से करते हैं, जिससे सब उम्र के लोग अपने-अपने स्तर के अनुसार उससे लाभ उठा सकें।

उम्र के कारण कहानी के स्वरूप में जो अन्तर हो जाता है, उसका कारण स्पष्ट है। विभिन्न उम्रों में बालकों की प्रकृति विभिन्न प्रकार की होती है। उनके अनुभव अलग-अलग होते हैं, उनकी स्मृति का भण्डार भी अलग होता है। भाषा की जानकारी भी कमो-बेश होती है। बचपन में बालक बहुत ही तेजी के साथ, अद्‌भुत रीति से विकास करते हैं, इसलिए एक-एक वर्ष की अवधि में उनकी रसानुभूति और ग्रहण शक्ति में भारी अन्तर पड़ जाता है, जिसकी सही कल्पना हरेक के लिए सहज नहीं होती।

बालकहानी की विषय-वस्तु

पहले हम इस बात का विचार करेंगे कि बाल-कहानी की रचना किन विषयों और वस्तुओं को ध्यान में रखकर की जाय। स्वभावत जिस उम्र में बालकों ने जिन बातों का अनुभव किया हो, कथा के विषय के रूप में उन्हीं का चुनाव करना चाहिए।

साधारणतया दो-तीन साल की उम्र तक बालकों को जो अनुभव होंगे वे अपने घर और गली के आस-पास के ही होंगे। मोटे तौर पर इस उम्र में बालक जिनके सम्पर्क में आता है, उनकी गिनती कुछ इस तरह हो सकती है—बालक के अपने माता पिता और भाई-बहन, उसके साथ खेलनेवाले उसके हमउम्र बालक, पड़ोस में रहनेवाले काका-काकी और उनके पड़ोसी, घर में कभी-कभी आने-जानेवाले अतिथि-अभ्यागत, घर के सामने से निकलनेवाले पशु—गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, बकरी आदि, समय-समय पर आँगन में उड़कर आनेवाले पक्षी—गौरैया, कौवा, कबूतर, मोर आदि,

गली में से गुजरनेवाली बैलगाड़ियाँ, साधु-सन्त, फेरीवाले, सिपाही, घुड़सवार, ऊँट-सवार आदि-आदि। अलबत्ता इन सब के बीच बालक तो केन्द्र-रूप होगा ही। उसकी दुनिया इन्हीं सब चीजों की बनी होती है।

कहानी कहनेवाले को समझना चाहिए कि बालक अपनी इस दुनिया के अनुभवों के आधार पर ही हमारी कहानी को समझ सकेगा। सच तो यह है कि हम जो कथा या कहानी सुनाते हैं, बालक उसका एक चित्रपट अपनी कल्पना की दृष्टि के सामने खड़ा करता रहता है। उसका यह चित्र जितना ही सुन्दर और उठावदार बनता है, बालक को उसमें उतना ही ज्यादा मजा भी आता है। जब बहुत छोटे बच्चों को इन अनुभवों की मर्यादा से अंकित कहानियाँ सुनायी जाती हैं, तो वे उनकी समझ में खूब आती हैं।

यदि कहानीकार अपनी कहानी में इस प्रकार के पात्रों की सृष्टि करेगा तो बालक अपनी देखी-सुनी दुनिया से उन पात्रों को लेकर अपना काल्पनिक चित्र आसानी से बना सकेगा और इससे उसे बहुत सन्तोष होगा। यदि कथाकार किसी राजा-रानी की कहानी कहेगा, तो बालक अपने चित्र में या तो अपने माता-पिता को बैठा देगा, अथवा किन्हीं ताजे-तगड़े काका-काकी या मामा-मामी को बिठायेगा, या फिर कभी कहीं देखे हुए किसी सिपाही या घुड़सवार को। जब अपनी कहानी में हम किसी समुद्र पहाड़ या जंगल का वर्णन करते हैं, तो बालक अपनी कल्पना के चित्र में अपने देखे किसी तालाब या नदी को समुद्र की जगह, ऊँचे टीले को पहाड़ के रूप में और यदि कहीं बबूल के पेड़ देख लिये होंगे तो उनको जंगल की जगह बिठा देगा।

चूँकि बालक मनुष्य की सन्तान है, इसलिए मन अथवा कल्पना का उपयोग वह मुक्तभाव से कर सकता है। जब उसे ऐसा करने का अवसर मिलता है, तो वह प्रसन्न हो उठता है, किन्तु मन अथवा कल्पना-शक्ति का विकास भी उसके शरीर की तरह ही उसकी उम्र के अनुपात से होता है। बिलकुल नन्हे बालक, जिन्होंने जंगल, समुद्र और पहाड़ कभी देखे नहीं हैं, उनकी कोई कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें जो कहानियाँ सुनायी जायँ, उनकी छोटी-सी सृष्टि की मर्यादा की ही होनी चाहिए। उन्हें जंगली बाघ और सिंह की कहानी कहने के बदले घर में दीख पड़नेवाली चिड़िया, मोर, बिल्ली-कुत्तों आदि की कहानी कहनी चाहिए। उस उम्र में भी मनुष्य का बच्चा अपनी कल्पना के घोड़ों को कुछ तो दौड़ायेगा ही। चिड़िया रानी को वह अपनी कल्पना से छोटी छोकरी बना लेगा और वह छोकरी की तरह पानी भरती होगी, रसोई बनाती होगी, मेहमानों को खिलाती होगी, उस कहानी में उसका मन रम सकेगा। मैना रानी किसान बनकर अपनी चोंच बनवाये, जमीन जोते, खेत में जाकर ज्वार की फसल काटे और भूसा उड़ाये तो इस हद तक वह अपनी कल्पना दौड़ा सकेगा।

बालवाड़ी के कुछ बड़े बालक अपनी उम्र के हिसाब से अपनी कल्पना को कुछ ज्यादा दूर तक दौड़ा सकेंगे, लेकिन इसकी भी अपनी एक मर्यादा तो रहेगी ही। बकरी बहन गुड़ की दीवारों और गन्ने के डण्डों की मदद से अपनी झोपड़ी खड़ी करती है और उस पर खोपरे की कटोरियों के नलिये चढ़ाती है, अथवा कमाने के लिए निकले हुए तोताराम तालाब के किनारे के आम की डाल से अपनी माँ के नाम गायों के चरवाहे के साथ अपनी कुशलता का सँदेशा भेजते हैं, इस हद तक तो बालक अपनी कल्पना को आसानी से दौड़ा सकेंगे।

किन्ते सेठ का लड़का जहाज पर सवार होकर जावा गया और वहाँ की राजकुमारी से उसका विवाह हुआ, फिर लौटते समय जहाज डूब गया—ऐसे आशयोंवाली कहानी को समझने और उसमें दिलचस्पी लेने के लिए बालक को १०-११ साल की उम्र तक राह देखनी होगी। लाक्षागृह के सुलगने पर भीम अपनी माता कुंती और चारों भाइयों को उठाकर सुरंग के रास्ते भाग खड़ा होता है, महाभारत की इस कहानी को समझने के लिए भी बालक को अभी बहुत ठहरना होगा। रामायण की कथाओं में सीता की खोज करने और लंका को जलानेवाले हनुमान की कथा बहुत मजेदार है, भागवत की गज ग्राहवाली कथा भी कम रोचक नहीं, लेकिन इन कथाओं की पार्श्वभूमि और इनका हार्द ऐसा है कि बालवाड़ी की उम्र के बालकों के बाल-मन इन तक अपनी गति पहुँचा सकेंगे, ऐसी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। ●

गणित-शिक्षण की बुनियादी बातें

•

रुद्रभान

९ तक की सख्या लिखने की प्रथा दुनिया के कई देशो में बहुत पहले से प्रचलित थी। मिश्र, चीन, रोम, और भारत आदि देशो में तो इसके काफी मिलते-जुलते सकेत प्रचलित थे।

गिनतियो के लिखने की जो पद्धति आजकल दुनिया में प्रचलित है वह निश्चय ही खूब होशियारी से तैयार की गयी है। उसके सहारे बडी-से-बडी सख्या थोडे से अकों में लिखी जा सकती है।

दस की सख्या से आगे बढने पर अको के बदल देने की पद्धति सबसे पहले अरब में प्रचलित हुई। अरबी में सख्या के लिए 'हिंदसा' शब्द प्रचलित है। इससे यह धारणा बनी है कि सख्या लिखने की यह पद्धति अरब वासियो ने हिन्द (हिन्दुस्तान) से ही ग्रहण की। शून्य के लिए शून्य लिखने का ढग हिन्दुस्तान में ही पहले पहल अपनाया गया था।

पिछले लेख में यह सकेत किया गया था कि दाशमिक प्रणाली के सिक्कों से शिक्षक बच्चो को इकाई, दहाई, सैकडा आदि की धारणा आसानी से करा सकते हैं। इस कार्य के लिए सिर्फ सिक्के ही नही, कोई भी आसानी से मिलनेवाली चीज काम में लायी जा सकती है। कौडी, सीप, नदी के बालू में मिलनेवाले छोटे-छोटे रगीन पत्थर आदि अनेक वस्तुएँ गणित का ज्ञान देने का माध्यम बन सकती है।

सख्या जोडते-जोडते जिस प्रकार दाशमिक प्रणाली का सहज आविष्कार हुआ था, आज भी वह ढग बच्चो को गणित सिखाने का एक रोचक और अच्छा तरीका है।

पुराने जमाने में अगर किसी को ७, ५ और ८ कौडियो को जोडना होता था तो वह बडी आसानी से पहले ७, और ५ फिर ८ कौडियो को गिनकर और सबसे अन्त में सबको एकसाथ गिनकर उनकी कुल सख्या मालूम कर लेता था, किन्तु यदि उसे बडी तादाद में कौडियो को गिनना होता था तो उसके पास अन्त में कौडियो का एक बडा-सा ढेर इकट्ठा हो जाता था। बहुत समय तक इस प्रकार जोडते-जोडते..लोगो को यह अनुभव आया कि यदि किसी ढेर में से दस दस की सख्या में कौडियाँ गिन ली जायँ तो गिनने में बडी आसानी होती थी। अन्त में उन्हें सिर्फ यह देखना पडता था कि कुल कितनी दस-ढेरियाँ हुइ और बाकी कितनी फुटकर बच रही। उदाहरण के लिए यदि उन्हें ७, ५ और ८ कौडियो को जोडना पडता था तो उन्हें १० की दो ढेरियाँ लगानी पडती थी। यदि ९, ६, ८ और ९ कौडियो को जोडना पडता था तो उन्हें दस की तीन ढेरियाँ लगानी पडती थी, बाकी २ कौडियाँ बच जाती थी।

बडी तादाद में गिनती गिनना हो तो दस दस की ढेरियाँ बनाने पर भी बहुत-सी कौडियों को रखने की जरूरत होती थी। ऐसी हालत में किसी के मन में समझदारी का एक और अगला कदम भी सूझ गया कि क्यो न दस-दस की १० ढेरियाँ हो जाने पर उनकी गिनती समझने के लिए उन दस ढेरियो के बदले किसी अलग खाने में १ कौडी रख ली जाय। दस-दस की

१० ढेरी के बदले रखी जानेवाली १ कौडी के लिए एक अलग जगह की जरूरत थी, जिससे वह दस की ढेरियावाली कौडी म मिल न जाय।

पुराने जमाने में जोड़ने के लिए प्राय इसी प्रकार किसी-न किसी चीज का सहारा लिया जाता था। आजकल भी बहुत से ठीकेदार ईंट, बालू या अन्य चीजें ढुलवाते समय अपने मजदूरों को हर बार की खेप के लिए १-१ कौडी या कोई अन्य चीज सकेत-स्वरूप दे दिया करते है।

प्राचीन काल मे लोग वडी सख्या में चीजें जोडने के लिए एक ही ढग की कौडियो या सीपियों का उपयोग करते थे। दस कौडिया के बदले एक कौडी रखनी हो तो वे उसे अलग रख देते थे। गिनती करने के लिए वे जिस स्थान का उपयोग करते थे वहाँ कौडिया के लिए कई खाने बने रहते थे। सबसे दाहिनी ओर के खाने में वह कौडी रखी जाती थी, जो एक की सख्या के लिए थी। जो कौडी दस की ढेरी के बदले रखी जाती थी उसका खाना इकाईवाली कौडी के बायें होता था। इस पद्धति से जोडने पर लोगो को अनुभव आया कि पहले खाने मे ९ से अधिक कौडियाँ रखने की जरूरत नही पडती। जैसे ही पहले खाने में दस कौडियाँ होती, वे उनम से १ कौडी बगल के दसवाले खाने में रखकर बाकी कौडियाँ हटा लेते थे।

इसी प्रकार दूसरे खाने म जब कौडियो की सख्या १० तक पहुँच जाती तो व उसमें से एक कौडी तीसरे यानी सैकडा के खान में रखकर बाकी कौडियाँ उठा लेते थे।

इस तरह दस दस के अलग-अलग खाने निश्चित कर देने पर बहुत थोडी सी कौडियो के सहारे बडी-बडी सख्याओ को जोडना आसान हो गया।

आगे चलकर लिखित रूप म भी यही पद्धति प्रचलित हुई। बडी-से बडी सख्या को लिखने के लिए १ से ९ तक की गिनती के प्रतीक पर्याप्त हुए। कौडियाँ गिनने में जिस प्रकार अलग-अलग खानो का इस्तेमाल होता था उसी प्रकार लिखने के लिए उनकी जगह निश्चित हो गयी। जिस खाने में कोई सख्या न हो वहाँ शून्य लिख देते थे।

दाशमिक प्रणाली में ९ की सख्या का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि इस प्रणाली में यहाँ आखिरी गिनती है। इसके आगे की सख्या लिखने के लिए किसी नये प्रतीक की जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि अगली सख्या लिखने के लिए हम दहाई के खाने में १ लिखकर और इकाई के खाने में ० लिखकर इसे प्रकट कर सकते है। जब हम १० लिखते हैं तो इसका मतलब है—दस की एक गड्डी और शून्य। जब हम २१ लिखते है तो इसका मतलब है दस की २ गड्डियाँ और १।

१	९	६	४	संख्या
१	०	०	०	
	९	०	०	
		६	०	
			४	
१	९	६	४	योग
१०००	१००	१०	इकाई	

ऊपर के चित्र में १९६४ की सख्या लिखी गयी है। इसमें १०००, ९००, ६० और ४ सम्मिलित है, जिनका योग १९६४ होता है, या इसमे ४ इकाई + ६ दहाई + ९ सैकडा + १ हजार शामिल है, शिक्षक को स्पष्ट रूप से बच्चों को बोध कराना होगा।

बच्चों को प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा दहाई, सैकडा और हजार की सख्याओ का बोध हो जाने पर आगे का गणित उनके लिए मुश्किल नहीं रह जाता।●

शिक्षक और समवाय-शिक्षण

•

डा० सुनीति

प्रारम्भिक पाठशालाओं में शिक्षक का विशेष स्थान है, क्योंकि हमें एक नये समाज का निर्माण करना है, जो न्याय पर आधारित हो, जिसमें हम सत्य, प्रेम, सहयोग और सहकारिता के लिए साथ-साथ काम करें, साथ-साथ जीवन व्यतीत करें और नये समाज की रचना के प्रयत्न में जुटे रहें। इस नये समाज में विचार-परिवर्तन, आचार-परिवर्तन करते हुए व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो। फिर कुटुम्ब-विकास और समाज विकास की बात सोचें। इस सन्दर्भ में शिक्षक के अनिवार्य गुण क्या हों, यह एक बुनियादी विचारणीय विषय है।

उत्साह और आत्मविश्वास

शिक्षक में नया उत्साह होगा तभी वह अपने उत्साह के आधार पर नया ज्ञान और नया विचार विद्यार्थी को दे सकेगा। गाँव को अपना क्षेत्र समझेगा। सम्पूर्ण गाँव ही उसकी शाला होगी। उसका उत्साह नये-नये निर्माण की ओर होगा। गाँव के प्रत्येक ग्रामीण का विकास किस प्रकार हो, बालक में नवीन विचार का विकास किस प्रकार हो, यही चिन्तन अध्यापक के मन में बराबर चलना चाहिए। बिना इस प्रकार के चिन्तन, श्रद्धा और आत्म-विश्वास के वह नये समाज की रचना नहीं कर सकता। उसका दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि यही शिक्षा उद्योग के द्वारा बालक का विकास करेगी। अपने विश्वास के आधार पर ही वह प्रचलित शिक्षा के स्थान पर बुनियादी शिक्षा के मूल्यों का प्रतिस्थापन कर सकेगा।

नयी विचारधारा के प्रति विश्वास

शिक्षक प्रतिदिन विचार करेगा कि विद्यार्थी को उसकी कक्षा के स्तर के अनुसार क्या ज्ञान देना है। यह उसे प्रचलित पाठ्यपुस्तकों से नहीं प्राप्त होगा, परन्तु उसे अपने आप सोचना होगा, अपने आप निरीक्षण करना होगा। इस प्रकार उसका जीवन नीरस न होकर प्रतिदिन कार्य करने में लगा रहेगा। शिक्षक को नयी विचारधारा के प्रति विश्वासी होना ही चाहिए, तभी उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिल सकेगी।

स्वाध्याय में रुचि

प्रतिदिन ज्ञान देने के लिए आवश्यक है कि अध्यापक अध्ययन करे, जिससे वह बालकों को भली प्रकार अभिनव ज्ञान दे सके। इस तरह उसके विचारों में दृढ़ता आयेगी और वह ग्रामीण जनता को भी अन्य देशों के समाज के बारे में ज्ञान दे सकेगा। स्वाध्याय करने से आत्म विश्वास तो उत्पन्न होता ही है।

श्रम के प्रति श्रद्धा

अध्यापक स्वयं सब कार्य करेगा। कोई भी काम करने में हीनभाव नहीं मानेगा। कार्य ही जीवन है, ऐसी उनकी दृढ़ मान्यता होगी। वह खेत में विद्यार्थियों के साथ काम करेगा, तकली पर सूत कातेगा और स्वावलम्बन के लिए स्वतंत्र खेती करेगा। इससे वह स्वयं उत्पादन करेगा और स्वावलम्बी जीवन बनाने में विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करेगा।

•

उद्योग मे आस्था

उद्योग में रुचि होने से अध्यापक स्वय प्रयत्न करेगा कि नयी वस्तुऐं बनायी जायें, जिनका व्यवहार दैनिक जीवन में होता है। वह उद्योग द्वारा बच्चो को नवीन ज्ञान भी देगा।

वेशभूषा

बुनियादी शाला के अध्यापक के वस्त्र आदर्श भारतीय होने चाहिए, जिससे वह ग्रामीण जनता में अपने प्रति विश्वास पैदा कर सके। विद्यार्थियो को विश्वास हो कि हमारे शिक्षक की कथनी और करनी म साम्य है। हमारा शिक्षक ऐसा होना चाहिए कि वह बच्चो के साथ फर्श पर बैठकर तकली कात सके, खेतो में निस्सकोच भाव से श्रम कर सके।

भक्ति भावना

शिक्षक में भक्ति भावना तो होनी ही चाहिए। ज्ञान और कर्म का महत्व है परन्तु भक्ति हृदय से सम्बधित है। भक्ति में आत्मजागृति है। इसी से प्रेम उत्पन्न होता है। यही ज्ञान और क्रिया की जननी है। जब भक्ति जागृति होती है तो ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस भावना का शिक्षक अपने विद्यार्थियो को बहुत सिखा सकता है। विद्यार्थियो को देखते ही उसमें प्रेम उमड आना चाहिए। वह अपना कर्तव्य अपनी आत्मा की पुकार पर कर रहा है।

आज समाज की प्राय सर्वमान्य धारणा है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल चाकरी है। आज की शिक्षा इसी प्रकार की है कि विद्याध्ययन के उपरान्त शिक्षार्थी के लिए सिवाय नौकरी के और कोई मार्ग नही रहता। और, इस नौकरी का मिलना भी कितना कठिन बन गया है, किसी से छिपा नही।

शिक्षक जागरूक बनें

अब भी विद्यालय पुराने नियमो के अनुसार चलते हैं। शाला का सम्बध समाज से नहीं के बराबर है। शिक्षक अपने को राज्य का वतनप्राप्त एक सामान्य नौकर समझते है। उनमें वह भावना ही नहीं है, जिसके आधार पर शिक्षा का बुनियादी प्रचार हो। उनमें जीवन नही है और ये स्वय गाँव में समय नही देते है।

गाव-शाला का प्रभाव गाँव के जीवन पर नही पडा। अब भी गाँव में नीरसता है। गाँव गन्दा है, बालक भी गन्दे है और न शाला में ही कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। ग्रामीण अनुभव नही करते कि शाला उनकी है। उनका उसमें कुछ अधिकार है और कर्तव्य भी है कि वे उसमें सहयोग दें। व तो समझते है कि अध्यापक सरकार का नौकर है। सरकार ही का कर्तव्य है कि उस शाला की प्रगति कैसे हो, विचार करे और उस दिशा म कदम उठाये।

कही कही पर शालाओ म बागवानी होती है। तरकारी उत्पन्न की जाती है परन्तु गाँव में तरकारी का उत्पादन नही होता। गाँव की जनता नौटकी के अश्लील गानो की इच्छुक रहती है क्योकि व शालाएँ सास्कृतिक कार्यक्रमो म रुचि नही रखती। इस प्रकार बुनियादी शालाएँ भी सस्थागत बन गयी है। अध्यापक बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षण प्राप्त करके आता है परन्तु प्रशिक्षण से उसमें कोई भी परिवर्तन नही होता। उसकी विचारधारा में नये दर्शन का समावेश नही दिखता। वह प्रशिक्षण केवल इसलिए प्राप्त करता है कि उसे नौकरी चाहिए।

समवाय शिक्षण समस्या क्यों ?

शिक्षक के भी अपने रूढ विचार है। वह निराश है अपने जीवन से। वह केवल जीविका के लिए अध्यापक बना है जबकि उसे और कोई नौकरी नही मिली। उसमे उत्साह नही है नवीन विचार नही है। केवल १० बजे आकर शाम को ४ बजे लौट जाना ही वह अपना कर्तव्य समझता है। प्रशिक्षण विद्यालय में भी उसे इस प्रकार का प्रशिक्षण नही मिला, जिससे वह बुनियादी शिक्षण म सफलता प्राप्त कर सके इसलिए ही समवाय शिक्षण एक समस्या बन गयी है।

वास्तव म समवाय शिक्षण उतना कठिन नही है, जितना उसे बना दिया गया है। आवश्यकता है कि अध्यापक म आत्मविश्वास हो, दृढता हो और वह अपना कार्य श्रद्धा से करे। आरम्भ में उसे कुछ कठिनाइयाँ

होगी, परन्तु जब एक बार वातावरण बन जायेगा तो फिर समवाय शिक्षण की प्रतीति सम्भव और सहज हो सकेगी ।

ग्रामीण जनता से सम्पर्क

अध्यापक ग्रामीण जनता से सम्पर्क स्थापित करे । यह सम्पर्क त्योहारों के मनाते समय अन्य अवसरों पर बालक के विषय में बातचीत करके तथा घर पर जाकर स्थापित हो सकता है । सम्पर्क स्थापित हो जाने पर अध्यापक उससे शाला के बारे में बातचीत कर सकता है । शिक्षा के सही दृष्टिकोण को वह सामने रख सकता है । बुनियादी शिक्षा के क्या सिद्धान्त है, क्यो उद्योग के द्वारा शिक्षा दी जाती है, बच्चो को इससे किस प्रकार वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, केवल पुस्तकीय ज्ञान ही आवश्यक क्यो नही है, गाँव की सफाई कैसे की जाय, गाँव के जीवन में नवीनता कैसे लायी जाय और उन्हें लोकतान्त्रिक समाजवाद का आशय कैसे समझाया जाय, ताकि उनका बहुमुखी विकास सम्भव हो सके ।

प्रौढशाला

शिक्षक गाँव मे रात्रि-प्रौढशाला चलाये । प्रारम्भ में अधिक सख्या नहीं होगी, परन्तु धीरे-धीरे ग्रामीण जनता आकृष्ट होगी और अध्यापक अपना सम्पर्क दृढ कर सकेगा । प्रौढ़शाला मे सभी विषयो पर बातचीत होनी चाहिए । यही समय होगा कि अध्यापक अपनी विचारधारा उनके समक्ष रखेगा और उनके विचार से अवगत होगा । इस तरह शिक्षक को समाज में खोया हुआ अपना स्थान पुन मिल सकेगा ।

उत्सव

गाँवों में अलग उत्सव मनाये जाते हैं और पाठ-शालाओ में अलग, ऐसा नही होना चाहिए । शिक्षक गाँव का सच्चा अगुआ बने और त्योहार मनाने की एक ऐसी योजना बनाये, जिसमें पालक और बालक समान रूप से भाग ले सकें । इस प्रकार वह केवल शाला का वेतन-भोगी अध्यापक न रहे, समाज का सेवक हो, ताकि वह शाला में बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप दे सके । ●

होली की योजना

●

त्रिलोकीनाथ अग्रवाल

हमारी शालाओं का समाज से अटूट एव बेजोड सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, आज इससे कोई इनकार न करेगा, क्योंकि बिना इसके आम जनता और शालाएँ दोनो अलग-अलग इकाइयों में बनी रहेंगी, जिससे उनमें सचेतक ज्ञान की बुनियाद डाली ही नही जा सकती। यह ज्ञान पुस्तक से नही, विद्यार्थी, शिक्षक और जनता के पारस्परिक सहयोग से होगा । हमारे समाज मे होनेवाले उत्सव-त्योहार आदि का आयोजन जनता और बच्चो के सम्मिलित प्रयास से परिष्कृत कल्पनाओ के अनुरूप किया जाय तो कोई कारण नही कि बच्चो के बहुमुखी विकास के साथ-साथ जन-मानस का परिष्कार न हो और उन्हें सही शिक्षण न मिले ।

सही दिशा देने के लिए शिक्षक को अपनी निरीक्षण-शक्ति और विचार-शक्ति को बढाना होगा, उसे अपने वातावरण और परिवेश का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा । इसके अतिरिक्त जन-मानस को स्पर्श करनेवाले पर्व और त्योहारो की गहराई में उतरना होगा और उनके मनाने का आयोजन बच्चों और जनता के सामूहिक प्रयास से करना होगा, शिक्षक स्वय मार्गदर्शक-मात्र होगा ।

८-१० दिन बाद ही हम होली का त्योहार मनायेंगे। क्या आपने इस त्योहार के मूल तत्वों को पकड़ने का प्रयास किया है या इसके अन्तर में धूल-मिलकर एक बनी हुई कमजोरियों को परखना चाहा है। अगर नहीं तो अब और अधिक दिनों तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस दिशा में शिक्षक बन्धुओं को जागरूक होकर सजगता-पूर्वक काम करना ही होगा।

आज होली के नाम पर क्या-क्या नहीं हो रहा है, हमसे-आपसे छिपा नहीं है। हमसब आँखें मूँदकर शायद इसीलिए देख-सुन और सह लेते हैं कि ऐसा होता आया है, लेकिन हमारे जगतगुरु शिक्षक को अब जरूरत है कि वह अपनी आँखें खोले, समाज में व्याप्त विष-सरीखी बुराइयों को पहचाने, उनकी नब्ज टटोले और उनके उपचार का माध्यम बने।

जिसका जो सामान पाना, होलिका में स्वाहा करने के लिए रख आना, एक नैतिक कार्य सा बन गया है। सड़ी-गली चीजें, मिट्टी-कीचड़, धूल और इसी तरह की दूसरी घिनौनी, अस्वास्थ्यकर वस्तुएँ उछाल-उछाल कर दूसरों को गन्दा बनाना हमारे लिए मनोरंजन का विषय बन गया है। 'कबीर' के नाम पर दी जानेवाली गन्दी गालियाँ किसने नहीं सुनी है? कितनी घृणित परम्परा का पोषण करते आ रहे हैं हम आप।

होली का त्योहार कैसे मनायें यह आज का एक जीवित प्रश्न है। शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह इसकी विस्तृत योजना बच्चों और गाँववालों के सहयोग से बनाये। कोई भी ऐसी आदर्श योजना नहीं बनायी जा सकती, जो हर जगह ज्यों-की-त्यों काम में लायी जाय।

त्योहारों के माध्यम से जन-शिक्षण तो होगा ही, बच्चों का सामवायिक शिक्षण शिक्षक की प्रमुख उपलब्धि होगी। किसी भी त्योहार के मनाने में सबसे पहली बात, जो बहुत जरूरी है, वह है उसका पूर्ण ज्ञान। होली कब से मनाते आ रहे हैं, इसे क्यों मनाते हैं कब-कब इसके क्या-क्या रूप थे, इसके स्वरूप परिवर्तन के कारण क्या रहे, इसका आज के सन्दर्भ में सही रूप क्या होना चाहिए आदि बातें आती हैं। इस प्रकार की जानकारी बच्चों और उनके माँ-बाप दोनों को देनी है। यह ज्ञान हमें कैसे देना है, इसकी पूर्व योजना हमें बनानी होगी। योजना पहले बच्चों के साथ शिक्षक बनायेगा, लेकिन उसका अन्तिम रूप तो गाँव के लोगों के साथ सामूहिक रूप में ही देना होगा, ताकि वे उसे अपनी योजना समझ सकें और उसकी पूर्ति में जी-जान से जुट सकें।

तीसरी और अंतिम बात जो हमारे लिए विचारणीय होगी, वह है योजना का व्यावहारिक रूप।

हमारी योजना में ऐसे तत्व समाविष्ट होने चाहिएँ, जो लोकतांत्रिक समाजवाद की सही भूमिका अदा कर सकें। सहकार और सहयोग की बुनियाद डाल सकें। टूटे दिलों को जोड़ सकें और जुड़े दिलों को जोड़ और मजबूत कर सकें। इस प्रकार की योजना बनाने में किन-किन बातों का हमें ध्यान रखना चाहिए, मात्र-एक संकेत प्रस्तुत है।

होली की योजना बनाने में सबसे पहले यह तय करना होगा कि होली कबसे कबतक मनायें। बसन्त पंचमी के दिन लक्ष्मी-पूजन होता है और होलिका के प्रतीक-स्वरूप लकड़ी गाड़ दी जाती है। उस दिन से ही फाग का श्रीगणेश मानते हैं। हमारी पाठशालाओं में यह त्योहार इस प्रकार पूरे महीने मनाना चाहिए, लेकिन यह सारी बातें तथाकथित मंत्रिमंडल द्वारा तय होनी चाहिए और पूरी पाठशाला की आमसभा द्वारा पास होने के बाद ही इसे मान्य समझना चाहिए।

होली की पूर्ण तैयारी में सबसे पहली बात है—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी। प्रत्येक बच्चे को होली के क्रमिक इतिहास तथा उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि की जानकारी उसके मानसिक विकास के अनुरूप देनी होगी। इस प्रकार के मौखिक शिक्षण के साथ साथ मान लें कि आमसभा ने तय किया कि नाटक और कवि सम्मेलन होना चाहिए।

तो, कविसम्मेलन के आयोजन में हमें जहाँ प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों की फाग से सम्बद्ध रचनाओं का चयन करना होगा, वहीं 'फगुआ' और 'चैता' के ललित

पदों को भी चुनना होगा और उनके सामूहिक गायन का अभ्यास कराना होगा।

कविताओं के चुनाव के बाद कवियों की वेशभूषा, उनकी पाठन-विधि और स्वर के उतार-चढ़ाव की जानकारी भी उन्हें देनी होगी। तभी तो वह आदर्श कविसम्मेलन प्रस्तुत करने में सफल हो सकेंगे। कवियों के स्वागत की व्यवस्था, कविसम्मेलन का संचालन, धन्यवाद देना तथा मंच की व्यवस्था भी अपना कम महत्व नहीं रखती।

इसी प्रकार नाटक खेलना है तो कौन-सा नाटक आज की परिस्थिति में सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होगा। मंच हमारा कैसा होना चाहिए? क्या हमारा मंच भी नाटक-कम्पनियों की तरह छिछले किस्म के भावोद्रेक करनेवाला होगा? या हमारा मंच मात्र-प्राकृतिक वातावरण की उपलब्धियों की ही अपेक्षा रखनेवाला होगा। यह सब हमारे शिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग होगा।

वसन्त के दिन सरस्वती-पूजन का विधान कब और कैसे करना, हरेक कार्यक्रम में अधिक-से-अधिक पालकों और गाँववालों का किस प्रकार सहयोग प्राप्त करना, त्योहार का शाला तक ही नहीं, वरन् पूरे गाँव की इकाई में किस तरह मनाना—आदि प्रमुख विचारणीय बातें इस भूमिका में सोचने पर सामने आती हैं।

यह हुआ पाठशालागत योजना का एक सातत्य प्रारूप। लेकिन, शिक्षक की तो एक दूसरी ही योजना होगी। वैसे तो उसकी योजना का आधार पाठशाला की योजना का प्रारूप ही होगा, लेकिन उसे इसी भूमिका में तय करना होगा कि वह किन-किन क्रियाओं, उपक्रियाओं से सम्बन्ध स्थापित करके कौन-कौन-सी जानकारी बच्चों को सहज रूप में दे सकता है। इसके लिए शिक्षकों की आपसी बैठक अवश्य होनी चाहिए। ये बैठकें सप्ताह या पक्ष में न होकर दैनिक होनी चाहिएँ, चाहे इनके लिए १० या १५ मिनट का समय ही क्यों न दिया जाय। प्रतिदिन के कार्यों की सबको इसी बहाने जानकारी भी हो जाती है और अगले दिन क्या करना है, कैसे करना है, यह भी तय हो जाता है।

शिक्षक को सामवायिक शिक्षण की सूक्ष्मतापूर्वक एक सीमा-रेखा बना लेनी होगी; लेकिन वह कभी भी अन्तिम न होगी। जैसे, कविसम्मेलन के लिए ३० या ४० कवियों का नाम चुना गया। उनमें कुछ प्राचीन होंगे, तो कुछ अर्वाचीन। मान लें कि सन्त तुलसीदास की कविता का चुनाव करना है तो अलग-अलग कक्षाओं में उनके मानसिक धरातल के अनुरूप 'मानस' में ऋतुओं का वर्णन, मानस के कथानक के आधार-तत्व, मानस के काव्यात्मक पहलू, मानस में राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति आदि पहलुओं की चर्चा की पूर्ण योजना बनानी होगी।

नाटक के पात्रों की वेशभूषा का चुनाव करते समय 'पोशाक' का सारा इतिहास और तत्कालीन भौगोलिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की चर्चा उसी सन्दर्भ में की जा सकती है।

कविता-पाठ कैसे करना चाहिए, इस सन्दर्भ में यह प्रथा कब से चली, क्यों चली, इसका पहले कौन-सा रूप था, किस्सागो का क्या स्थान था, आज कविसम्मेलनों की क्या दशा है, अच्छे कवि आज कविसम्मेलनों से क्यों किनाराकशी करते हैं, कविता-पाठ का संगीत से कहाँ तक सम्बन्ध है आदि विचारणीय विषय हैं। ये चर्चाएँ क्रमपूर्वक और समग्र होनी चाहिएँ।

रंगमंच का निर्माण और दूसरे किस्म की सजावट के सन्दर्भ में रंगमंचों का कब-कब कैसा स्वरूप रहा, सजावट और शृंगार-सम्बन्धी रुचियों में कब-कब किस प्रकार के परिवर्तन एवं परिष्कार हुए—आदि सभी सांस्कृतिक जानकारी देने की रूपरेखा तैयार करनी होगी।

इसी प्रकार हमें विचार करना होगा कि इस योजना के माध्यम से गणित शिक्षण, समाजशास्त्र-शिक्षण तथा अन्य विषयों के शिक्षण के कहाँ-कहाँ सहज अवसर हाथ आनेवाले हैं।

योजना की रूपरेखा स्थिर हो जाने पर शिक्षक को अपनी तैयारी भी करनी होती है। अगर शिक्षक इस दिशा में ढील देते हैं तो इन पर्व-त्योहारों से बच्चों को मिलनेवाला सहज शिक्षण हमारे हाथ से निकल जाता है।

समीक्षा के आधार

•

शिरीष

आज की हमारी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह सहयोग और सहकार पर आधारित न होकर प्रतियोगिता और पुरस्कार पर आधारित है। इस प्रतियोगिता और पुरस्कार के आधार को खत्म करने के लिए और नये जीवन दर्शन के स्थापन के लिए शिक्षा की दोषपूर्ण परिपाटियों को दृढ़ता-पूर्वक समाप्त करना होगा। हमारे शिक्षण के मूल्यांकन का मापदण्ड बन गया है मात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होना। कोई भी—चाहे शिक्षक हो या पालक बूढ़ा हो या जवान शिक्षाशास्त्री हो या अशिक्षित नेता हो या मजूर—यह नहीं सोचता कि हमारे बच्चे का चारित्रिक विकास कहाँ तक हो रहा है। वह तो केवल यही चाहता है कि उसका बच्चा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाय बस।

दूसरी ओर प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकारते हैं कि हमारी शिक्षापद्धति में अनेक भयंकर दोष आ गये हैं जिनमें पुरानी घिसी पिटी परीक्षा प्रणाली भी एक है। इस दूषित परीक्षा विधि से आये दिन निरीह छात्रों की आत्महत्याओं के समाचार सुनने को मिलते रहते हैं। प्रश्नपत्रों की चोरी और नकल तो एक सामान्य बात बन गयी है। नकल में रोक टोक करनेवाले परिदर्शकों की पिटाई भी असाधारण घटना नहीं रही। फिर भी तन-मन के सहज विकास को रोकनेवाली बुद्धि को कुंठित करने वाली परीक्षा-परिपाटी अबाध गति से ज्यों की-त्यों चल रही है।

मान्यताओं और परिपाटियों की पुरानी लकीर अब बहुत दिनों तक नहीं पीटी जा सकती। इसके लिए हमें अपनी मूल्यांकन विधि यथाशीघ्र बदलनी होगी। परीक्षा प्रणाली की रूढ़ मान्यताओं को ध्वस्त करने के लिए आवश्यक है कि सबसे पहले हम इस परीक्षा शब्द को ही शिक्षा क्षेत्र से बहिष्कृत करें। परीक्षा का पर्याय जबतक दूसरा उचित शब्द नहीं मिलता समीक्षा या आत्मसमीक्षा शब्द चलाया जा सकता है।

समीक्षा का वैज्ञानिक स्वरूप अभी धुँधला धुँधला सा है वह सज सँवर कर हमारे सामने नहीं आया है लेकिन बुनियादी शिक्षा की गैरसरकारी पाठशालाओं में चाहे उनकी संख्या कम ही क्यों न हो समीक्षा का अपना एक अलग रूप तो है ही। चाहे उसके बाह्य रूप में असमानता भले ही हो किन्तु उसके निहित उद्देश्यों की शुद्धता और एकरूपता में शंका नहीं की जा सकती। इस प्रकार की गैरसरकारी बुनियादी पाठशालाओं के अतिरिक्त और भी गिनी चुनी ऐसी शिक्षण-संस्थाएं हैं जो इस प्रकार के प्रयोग कर रही हैं। उनसे भी इस दिशा में हमें मार्गदर्शन मिल सकता है।

समीक्षा का स्वरूप स्थिर करने के लिए विविध प्रयोगों के आधार पर हमें तीन बुनियादी बातों पर विचार करना होगा—बच्चे की अपनी समीक्षा उसका वर्ष भर का काम और शिक्षक की सम्मति।

बच्चे की आत्मसमीक्षा

यहाँ स्मरण रखना होगा कि जबतक बच्चे में समीक्षा लिखने की क्षमता नहीं आती तबतक उसके विकास क्रम के मूल्यांकन की पूरी जिम्मेवारी शिक्षक पर होगी लेकिन जब बच्चे की भाषा इतनी सशक्त हो जाय कि वह अपने मनोभावों को शब्दों में बाँध सके तो दैनिकी-लेखन आरम्भ करा देना चाहिए। बच्चा जैसे जैसे बड़ा होता जाता है घर-परिवार पास पड़ोस और गाँव देहात की दैनिक घटनाओं को समझने-बूझने और विचार करने लगता है। कुछ और बड़ा होने पर वह जिला प्रान्त और देश विदेश की प्रभावपूर्ण घटनाओं से प्रभावित होने लगता है और कुछ दिनों बाद वह उनकी तह में पहुँचने का प्रयास भी करने लगता है। इस प्रकार बच्चा अपने विकास के स्तर के अनुरूप अपनी दैनिक चर्चा को दैनिकी में लिख लेता है। सभी पाठशालाओं

में तो नही, लेकिन बेसिक शिक्षा की गैरसरकारी और कुछ सरकारी पाठशालाओं में भी दैनिकी-लेखन छोटी कक्षाओं से बड़ी कक्षाओं तक चलता है। यद्यपि लेखन-विधि मे अभी तक स्वरूप की समानता और पूर्ण वैज्ञानिकता नही आ पायी है, फिर भी उसे असन्तोषजनक नही कहा जा सकता।

दैनिकी लेखन में बच्चों के सामने, क्या लिखना है और कैसे लिखना है, इसका स्पष्ट चित्र होना चाहिए। इसके लिए सन्दर्भ निश्चित कर लेने चाहिए। छोटी कक्षाओं के लिए नीचे लिखे सन्दर्भ पर्याप्त होगे—

प्रकृति की बात

इस सन्दर्भ में बच्चा प्रकृति में होनेवाले दैनिक परिवर्तनों का उल्लेख करेगा। उगता हुआ सूरज, डूबते हुए सितारे, बादलों की चन्दामामा से आखमिचौली, सावन की रंगीन साँझ, हरी-हरी दूब पर सुबह के मोती, मचलती हुई हवाएँ, आँधी-तूफान, खिलनेवाले फूल, फल और अनाज का विकास-क्रम आदि इसी प्रकार की असख्य बातें हैं, जिनका सूक्ष्मता से निरीक्षण करने की टेव दैनिकी के माध्यम से बच्चा में डाली जा सकती है।

गाँव की बात

इस सन्दर्भ में बच्चे गाँव में घटनेवाली घटनाओं का वर्णन करेंगे। उन घटनाओं का बच्चे के मन पर क्या और कैसा प्रभाव पडा, सजग शिक्षक इससे उनकी ग्रहण-शीलता का पता लगा सकेगा। अगर गाँव या समाज में कोई ऐसी घटना नही घटी, जिसका उल्लेख आवश्यक हो तो इस सन्दर्भ को छोडा भी जा सकता है, लेकिन ऐसे अवसर आते ही कितने है?

उद्योग की बात

बच्चे ने शाला में उद्योग के लिए कितना समय दिया? उसने कौन-सा काम किया? क्या उसे अपने काम से सन्तुष्टि मिली? क्या उद्योग के लिए कोई नयी योजना बनायी गयी है? उस योजना में उसका कहाँतक हाथ है—आदि बातों का इस सन्दर्भ में वर्णन रहेगा। घर पर उसने उद्योग से सम्बद्ध कुछ किया या नही? अगर नही किया तो क्या नही किया—आदि बातें भी लिखी जायेंगी।

शाला की बात

उद्योग के अतिरिक्त विषयगत शिक्षण से क्या मिला? अलग-अलग विषयों में उसे क्या-क्या नयी बातें सीखने को मिली, सक्षिप्त रूप से इस स्तम्भ में लिखा जायगा।

अपनी बात

यह स्तम्भ बडे महत्त्व का है। प्रारम्भ मे बच्चा जीवन को नियमित बनानेवाली आदतों के प्रति—जैसे, कब उठना, कब सोना, कब और कैसे नहाना-धोना, क्या खाना, कब खाना आदि इसमें लिखेगा। और, कुछ सजगता आने पर वह निस्सकोच और निर्भयता-पूर्वक लिखेगा कि उसके मन पर किस घटना का क्या प्रभाव पडा। उसे किस बात से खुशी हुई और किस बात ने उसे तकलीफ पहुँचायी। उसकी राय में कौन काम सही और कौन काम गलत हुआ। इस स्तम्भ में वह अपनी और दूसरों की खुले शब्दों में आलोचना प्रत्यालोचना कर सकता है। इस प्रकार उसमें स्वस्थ आलोचना की नींव पडती है। यह रही बच्चे की दैनिकी लिखने की सक्षिप्त विधि।

मासिक समीक्षा

दैनिकी का दूसरा सोपान 'मासिकी' या 'मासिक समीक्षा' होता है। महीने के अन्त में बच्चे अपने महीने भर के काम की समीक्षा तैयार करते है, और यह मासिकी ही 'आत्म समीक्षा' या 'समीक्षा' की रीढ होती है। दैनिकी में वर्णित स्तम्भों की महीने भर की विस्तृत समीक्षा इसमें रहती है। महीने में कौन-कौन-सी ऐसी घटनाएँ घटी, जिनका उसके ऊपर विशेष प्रभाव पडा, उद्योग में उसने महीने भर में कितना काम किया, विषयगत शिक्षण में उसे मोटे रूप में क्या जानकारी मिली, और उसने आत्मविकास की दिशा में कहाँतक प्रयास किया और उसे कितनी सफलता मिली, यह सभी बातें उल्लिखित रहती है।

त्रैमासिक समीक्षा

मासिक समीक्षा के आधार पर तीन महीने की समीक्षा बच्चे तैयार करते है, जिसे त्रैमासिक समीक्षा या

मासिक रहते हैं। शिक्षण-योजना के अनुसार बच्चे को तीन महीने में कहाँतक पहुँचना था और वह कहाँतक पहुँच पाया है, काम अधिक या कम किन कारणों से हुआ है, समीक्षात्मक ढंग से लिखा रहता है।

षट्मासिक समीक्षा

बच्चा अपने छ महीने के काम के आधार पर 'षट्मासिकी' तैयार करता है। यह षट्मासिकी, त्रैमासिकी और उसके बाद के तीन महीनों की मासिकी के आधार पर तैयार की जाती है।

वार्षिक समीक्षा

वार्षिक समीक्षा में बच्चा पूरे साल की अपनी योजनाओं में सफलता-असफलता का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। अपने विकास के प्रत्येक मोड़ और विराम की समीक्षा करता है। सालभर में उसके स्वास्थ्य में कितना विकास हुआ, उसने कौन-कौन-सी बातें सीखीं और उन्हें जीवन में उसने कहाँतक उतारा, उद्योग में उसे कितनी सफलता मिली—आदि बातों के विस्तृत उल्लेख के अतिरिक्त उसकी अपनी भाव भूमि पर प्रत्येक कार्य की समीक्षा होगी, जिसका मूल्य शिक्षण की दृष्टि से बड़े महत्व का होता है।

ऊपर लिखे सन्दर्भ प्राइमरी पाठशालाओं के बच्चों के लिए हैं। इसी तरह मिडिल स्कूल के बच्चों के विकास को ध्यान में रखकर नये सन्दर्भ बना लिये जायँगे।

बच्चे का वर्ष भर का काम

शिक्षा का उद्देश्य बच्चे का सर्वांगीण विकास होता है। उसे बच्चे के शारीरिक, मानसिक और आचारिक विकासक्रम को मद्देनजर रखना जरूरी होता है। इस सन्दर्भ में बच्चे के शरीर, मन और आचार तीनों प्रकार के विकास की पूरी-पूरी जाँच होनी चाहिए। पूरे साल में बच्चे के शरीर का कितना विकास हुआ, इसका लेखा बच्चा स्वयं तो रखेगा ही, शिक्षक भी तैयार करेगा। बच्चे में सफाई के प्रति कितनी आस्था जग पायी है उसके दैनिक व्यवहारों में शिक्षक अपनी दैनिकी में मूल्यांकन करता रहेगा। उद्योग तथा दूसरी प्रवृत्तियों में शिक्षक बच्चे के विकासशील गुणों पर ध्यान रखेगा और उसका लेखा-जोखा तैयार करता जायगा। उसका यही लेखा-जोखा बच्चे का सही विकास-चार्ट होगा।

बच्चे ने अपनी वार्षिक समीक्षा में कहाँतक ईमानदारी बरती है, उसकी समीक्षा कहाँतक पूर्ण या अपूर्ण है—आदि बातों का विचार शिक्षक को करना होगा। इसके अतिरिक्त उद्योग का कितना व्यावहारिक ज्ञान उसने प्राप्त किया है, उसकी वार्षिक उपलब्धि क्या रही है—आदि विषयों पर सम्पूर्ण दृष्टि से विचार करना होगा।

'हर इक के रा बहर कारे साख्तन्द' के अनुसार प्रत्येक बच्चे का निर्माण एक अलग कार्य के लिए होता है। परिवेश और वंशानुक्रम की एकता के बावजूद बच्चों की रुचियों में विभिन्नता होती है। एक बच्चा चित्रकला में विशेष रुचि रखता है तो दूसरा गणित में, तीसरा समाज शास्त्र में रस लेता है तो चौथा संगीत में डूबा रहता है। इस प्रकार रुचि विभिन्नता के कारण समीक्षा का मापदण्ड कभी समान नहीं हो सकता। बच्चे ने अपने विशेष रुचिवाले विषय में कैसी प्रगति की है, उसकी इस दिशा में क्या उपलब्धि रही है, अपना विशेष महत्व रखता है। और, शिक्षक के लिए समझना-बूझना है कि वह इस दिशा में बच्चे को विकास के लिए कहाँतक सुविधा दे पाया है।

शिक्षक की सम्मति

शिक्षक की सम्मति समीक्षा का तीसरा पहलू है। शिक्षक साल भर बच्चे के साथ-साथ रहता है। वह उनके विकास का चार्ट भरता रहता है। वह देखता रहता है कि बच्चे में नियमितता की टेव का कहाँतक विकास हुआ है, उसने अपने जीवन में सफाई को कहाँतक अपनाया है, सहकार और सहयोग की भावना की प्रतीति कहाँ तक जम पायी है, श्रम को वह अपने दैनिक जीवन में कहाँतक उतार पाया है, स्वावलम्बन के विकास के साथ-साथ उसके प्रति वह कहाँतक आस्थावान हो पाया है। पूरे साल में उसने कौन-कौन से मंत्रिपद या दूसरी जिम्मेदारियाँ सँभाली और उन्हें उसने कितनी कुशलता से निभाया। इस तरह वर्ष भर में शिक्षक की बच्चे के प्रति एक निश्चित सम्मति बनी रहती है, जो नितान्त दोषहीन और पूर्ण रहती है।

शिक्षक अपनी सर्वांगपूर्ण सम्मति स्थापित करने के लिए विषयगत शिक्षण का 'टेस्ट' सप्ताह मे एक बार लिया करेगा—कभी मौखिक तो कभी लिखित, लेकिन बच्चो को यह कभी भान नही होने देना चाहिए कि उनका टेस्ट हो रहा है। और, असल बात तो यह है कि यह टेस्ट बच्चे का नही, बल्कि सही अर्थों में शिक्षक ने बच्चे का कहाँतक और कैसा मार्गदर्शन किया है, पता लगाना ही उसका उद्देश्य है। उसे यह जानना होता है कि वह बच्चे की जिज्ञासा को कहाँतक जागरित कर पाया है।

इस प्रकार समीक्षा की जो रूपरेखा निश्चित की गयी है, वह सर्वांगपूर्ण नहीं कही जा सकती, इसमें संशोधन, परिवर्द्धन और परिमार्जन के द्वार सदा के लिए खुले रहेंगे, लेकिन एक बात तो विश्वास के साथ कही जा सकती है कि इस समीक्षा-प्रणाली में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली जितने भयकर दोष तो नही ही है और नहीं रहेंगे।

आज से कुछ वर्षों पूर्व जब प्राइमरी पाठशालाओ म चौथी कक्षा तक ही पढाई चलती थी, परीक्षा का सारा अधिकार प्रधानाध्यापका के अधीन था। उस समय आज जितनी गडबडी न थी, इस प्रकार के दूषित परिणाम सामने नही आते थे, बल्कि उस समय शिक्षक आज से अधिक अपनी जिम्मेवारी महसूस करता था, न कि पूरे साल चैन की बशी बजाकर अधिकारियो की सही-सिफारिश से कच्चे छात्रा को उत्तीर्ण कराने के चक्कर में रहता था। उसके शिष्य जब मिडिल स्कूलो मे अच्छे नम्बरो से उत्तीर्ण होते थे तो वह गर्व का अनुभव करता था, लेकिन आज यह सारी जिम्मेदारियाँ शिक्षक के सिर से अलग जा पडी हैं।

सम्भव है, कुछ दिनो तक इस समीक्षा प्रणाली से अनियमितता और गडबडी भी आये, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि निडर भाव से इस खतरे का साहसपूर्वक सामना किया जाय और अभिशप्त परीक्षा प्रणाली को अविलम्ब दूर किया जाय, शिक्षको का विश्वास प्राप्त किया जाय और मिडिल कक्षाओ तक इस प्रणाली को चालू किया जाय।

●

प्रश्न एक : पहलू अनेक

●

लोक-निर्माण की सही दिशा क्या हो सकती है ?

आम जनता की तालीम

● नयी तालीम के कार्यक्रमा का विचार करते हुए हम लोगा ने बच्चो की कक्षा का विचार किया है, किशोरो की कक्षा का विचार किया है, अनपढ प्रौढ़ो की कक्षा का विचार किया है, लेकिन हमने आम जनता की तालीम का विचार अवतक नही किया है। हर नागरिक को हर दस वर्ष में एक वर्ष की शान्ति-सैनिक की तालीम दी जाय, यह है आम जनता की तालीम। —विनोबा

मनोबल बढ़ाना

● भारत और चीन के बीच भले ही 'सीज फायर' हो गया हो, परन्तु वैचारिक आक्रमण अब भी जारी है। चीन के विचार को सेना से नही रोका जा सकता, इसके लिए तो हमें गाँव-गाँव में ग्राम भावना जागृत करनी होगी, एक-एक व्यक्ति को मजबूत बनाना होगा। देश के हर व्यक्ति को हम राइफल नही दे सकते, पर अहिंसक प्रतिकार के लिए उसका मनोबल अवश्य बढा सकते हैं। —जयप्रकाश नारायण

दयनीयता की समाप्ति

● हिन्दुस्तान में तीस प्रतिशत लोगो की हालत खराब है। अन्य तीस प्रतिशत लोगा की हालत उनसे भी खराब है और उनसे आधे लोग ऐसे हैं, जिनकी हालत बहुत ही दयनीय है। कुल मिलाकर पाँच करोड लोगो को हालत बडी ही दयनीय हैं। हमारी नैतिक जिम्मेवारी है कि इस दयनीयता को दूर करें। —ढेबर भाई

●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

स्वतंत्र भारत के ये अध्यापक !

सम्पादकजी,

कोई भी शिक्षा-प्रेमी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि शिक्षा के समुचित विकास के लिए देश के अध्यापकों को उचित सम्मान मिलना चाहिए। जिस राष्ट्र में राष्ट्र-निर्माताओं की उपेक्षा एवं अवहेलना होगी वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। राष्ट्र-जीवन को सक्रिय बनाने का श्रेय अध्यापकों को ही होता है। ज्ञान के विविध अंगों का परिशीलन कर अपने अमूल्य अनुभव के द्वारा मानव-समाज का सर्वाधिक कल्याण-साधन अध्यापकों द्वारा ही होता है। फिर भी स्वतंत्र भारत में अध्यापक से अधिक निरीह प्राणी अन्यत्र नहीं दिखलाई पड़ता।

भारत की स्वतंत्रता का किसको कितना लाभ हुआ, यह अलग प्रश्न है, किन्तु अध्यापक आज भी आर्थिक बन्धनों का शिकार है, और वह सामाजिक मर्यादा का भी अधिकारी नहीं समझा जाता। अध्यापन-कार्य ही कुछ ऐसा निम्न अर्थ का प्रतिपादक समझा जा रहा है कि साधारण-से-साधारण मनुष्य भी 'मास्टर' का तिरस्कार करने में नहीं हिचकता। विश्वविद्यालयों में पढ़ानेवाले अध्यापक वेतन-सम्बन्धी सुविधाओं से युक्त होते हुए भी इसके अपवाद नहीं हैं। आखिर हैं तो मास्टर ही, छोटे हों या बड़े। यदि कदाचित किसी अभिभावक ने 'कहिए मास्टर साहब' कहकर सम्बोधित कर दिया तो ऐसा जान पड़ता है कि उसका प्रत्येक शब्द, अध्यापक समझे जानेवाले व्यक्ति का उपहास कर रहा है।

यह कटु सत्य है कि सामाजिक जीवन को गतिशील बनानेवाला अध्यापक आज अपने को अध्यापक कहने में हीनता का अनुभव करता है। सरकारी विभागों में काम करनेवाले निम्नतम श्रेणी के कर्मचारी भी इसकी अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट एवं सम्पन्न दिखाई देते हैं। माध्यमिक पाठशाला के अध्यापकों को इतना भी सम्मान नहीं प्राप्त है, जितना पुलिस के एक सामान्य कर्मचारी को। यही दशा डिग्रीकालेज के अध्यापकों की भी है।

पुलिस-कर्मचारियों द्वारा भय और आतंक उत्पन्न किये जाने के कारण सभी वर्ग के लोग न्यूनाधिक अंशों में उनसे सामान्य व्यवहार में सावधानी और सतर्कता बरतते हैं। कोई भी सरकारी कर्मचारी—चाहे वह पूर्ति कार्यालय में काम करता हो, चाहे वह नगर-निगम से सम्बद्ध हो, चाहे वह माल के मुहकमे में काम करता हो, चाहे फौजदारी हो—जनता के लिए आदर का पात्र है; किन्तु अध्यापक को देखकर उसका अभिवादन करने में भी लोगों को सकोच होता है। स्वतंत्रता के पूर्व अध्यापक इस भांति सामाजिक गौरव से हीन नहीं था। आखिर ऐसा क्यों? क्या कोई भी समाज राष्ट्र के विज्ञ पुरुषों का तिरस्कारकर जीवित रह सकता है? जिस देश में अध्यापकों की कोई मर्यादा नहीं, जहाँ के अध्यापक हीन-भावना से ग्रस्त हों, जहाँ अपने को अध्यापक कहने में भी शर्म मालूम होती हो, उस देश के नागरिक स्वस्थ चित्त-वृत्तिवाले कैसे हो सकते हैं? क्या कोई भी देश

संस्कृति के पोषक अध्यापकों को उचित सम्मान दिये बिना अपने उत्कर्ष की कल्पना कर सकता है ? असन्तुष्ट अध्यापक सन्तुलित विचारवाले मनुष्यों का निर्माण नहीं कर सकता। उसके मानस में उठनेवाली भयंकर लहरें राष्ट्र-जीवन को स्थिरता नहीं प्रदान कर सकतीं। वह मानव-मस्तिष्क की पृष्ठभूमि में विचारों के अगणित चित्र बनाया करता है। वह जन-मानस का शिल्पी है। विक्षुब्ध चित्त से वह किन कृतियों का निर्माण करेगा ?

आज सर्वत्र शिक्षा के स्तर में गिरावट की चर्चा सुनने में आती है। शिक्षा के संचालन करनेवाले उच्चाधिकारी कुछ आदर्श वाक्यों को दुहराकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लेते हैं। प्रायः नीति निर्धारण ऐसे व्यक्तियों के द्वारा होता है, जिन्हें शिक्षण का कोई व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता। शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं, किन्तु उसका नतीजा क्या निकलता है ? आज शिक्षक स्वाधीन देश का नागरिक भले ही हो, किन्तु उसके मूल अधिकारों के संरक्षण की कोई भी व्यवस्था नहीं है। समाज-सेवियों ने हरिजन-कल्याण-केन्द्र की स्थापना की, किन्तु अध्यापक-कल्याण केन्द्र की नहीं। सर्व-सेवा-संघ के नैष्ठिक कार्य-कर्ताओं ने सर्वोदय के द्वारा देश के कोने-कोने में सुख और समृद्धि लाने का संकल्प किया, भूमिदान और ग्रामदान के द्वारा आर्थिक वैषम्य दूर करने और ग्रामस्वराज्य स्थापित करने की योजनाएँ बनायीं, किन्तु वे भूल गये कि इस महान राष्ट्र के एक कोने में सामाजिक वैषम्य से पीड़ित अध्यापकों का वर्ग भी रहता है, जिसके प्रति हम अपने नैतिक उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते। अध्यापक सर्वोदय का सक्रिय प्रेरक है। इसके सहयोग के बिना सर्वोदय की कल्पना की नहीं जा सकती।

नेतृ-वर्ग अध्यापकों से निःस्वार्थ सेवा की तो अपेक्षा रखता है; किन्तु उनकी समस्याओं का महत्त्व नहीं समझता। बड़ी-से-बड़ी योजनाएँ प्रस्तुत की जा चुकीं, बड़े-से-बड़े निर्माण के स्वप्न साकार किये जा चुके, किन्तु समाज की आधार-शिला अध्यापक-वर्ग को उनके गौरव के अनुकूल स्थान दिलाना तो दूर की बात रही, उनकी रोटी-रोजी के संरक्षण की भी व्यवस्था न की जा सकी। शिक्षा-क्षेत्र में अभिनव प्रयोगों से उसके स्तर में सुधार तबतक नहीं हो सकता जबतक अध्यापकों को सुखी और सन्तुष्ट बनाने के लिए कदम न उठाये जायँ। यदि अध्यापक को स्वयं पढ़ने लिखने की सुविधाएँ न प्राप्त हों तो वह सिवा घिसे पिटे ज्ञान के अपने छात्रों को दे ही क्या सकता है ? यदि उसे अपने कार्य-क्षेत्र में निर्भीकता-पूर्वक स्वतन्त्र प्रयोग करने का अधिकार न प्राप्त हो तो वह अपने छात्रों का भावात्मक विकास नहीं कर सकता।

अध्यापन वस्तुतः स्वतन्त्र प्रेरणा का विषय है। जिस के जीवन में प्रेरक शक्ति का अभाव होगा वह कुशल अध्यापक नहीं बन सकता। अध्यापन-कला को नियमों द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। अपनी कक्षा में अध्यापक को ही नियामक होना चाहिए। उसके व्यक्तित्व पर अंकुश लगाने का प्रयास घातक सिद्ध होगा। उसे भय-विजड़ित बनाकर उसकी शक्तियों का उपयोग नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र राष्ट्र का अध्यापक अपनी स्वतन्त्र चेतना द्वारा ही सृजन के नवीन मार्ग प्रशस्त कर सकता है। दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्र भारत में भी अध्यापक की स्वतन्त्रता पर व्यापक प्रतिबन्ध है। शिक्षा-सम्बन्धी नीति निर्धारित करते समय अध्यापक के व्यक्तिगत अनुभव का उपयोग नहीं किया जाता, उसके विचारों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता क्योंकि वह तो बेचारा है, कह ही क्या सकता है ? कुछ कहने लायक होता तो अध्यापक ही क्यों होता ?

—मदनमोहन पाण्डेय
वसन्त कालेज
राजघाट, वाराणसी

सरकार या कुछ नेता अच्छे या बुरे नियम बना दें और उन्हें जनता चुपचाप या थोड़ी-बहुत चिल्लपों मचाने के बाद स्वीकार कर ले, उससे जनता शिक्षित नहीं मानी जायेगी। परन्तु, जनता खुद ही अपने नियम पसन्द करके उन पर अमल करने लगे और सरकार को वे नियम उसी रूप में स्वीकार करने पड़ें, ऐसी स्थिति निर्माण करनेवाली शिक्षा ही राष्ट्रीय शिक्षा है। —कि० घ० मशरूवाला

दो चुनौतियाँ

•

धीरेन्द्र मजूमदार

भुवनेश्वर के अधिवेशन में लोकतान्त्रिक समाजवाद का सिद्धान्त मान्य होने के साथ-साथ कलकत्ता में जो दुर्घटना हुई वह हरेक चिन्ताशील व्यक्ति के लिए गम्भीर चिन्तन का विषय है। केवल चिन्तन का ही नहीं चिन्ता का भी विषय है क्योंकि यह घटना विश्व के सामने दो बहुत खतरनाक चुनौतियाँ पेश करती है।

क्या बात है—दो सम्प्रदाय के मनुष्य पडोसी के नाते मित्र भाव से परस्पर व्यवहार करते रहते हैं फिर एकाएक इतने पागल हो उठते हैं कि एक दूसरे को कत्ल करने के लिए कमर कस लेते हैं। सोचने की बात है कि क्या पडोसी का आपस का झगडा मनोमालिन्य या आक्रोश है? अगर होता तो इसका भार क्षणिक स्थानिक और सामयिक-मात्र न होकर व्यापक पैमाने पर सुसंगठित कैसे होता? समाज की हलचलों को थोडा भी समझने वाला यह समझ सकता है कि ऐसे दंगे सामान्य साम्प्रदायिक नहीं होते राजनीतिक होते हैं। जब एक राष्ट्र की जनता दूसरे राष्ट्र की जनता के साथ मिलती है तो अत्यन्त सद्भावना के साथ मिलती है। भिन्न-भिन्न जाति तथा सम्प्रदाय के पडोसी प्रेम से एक दूसरे से व्यवहार करते हैं लेन-देन करते हैं लेकिन जैसे ही राजनीतिक क्षेत्र में अनबन होती है तो भिन्न भिन्न नेतृत्व की प्रेरणा से अनबन छनकर शान्तिप्रिय जनगण के अन्दर प्रवेश कर जाती है और यह स्थिति अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आये दिन दिखाई देती है।

पुराने जमाने में जब विज्ञान की प्रगति नहीं हुई थी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता तथा संघर्ष छनकर सुदूर अवस्थित जन-जन में जल्दी प्रवेश नहीं कर पाता था। विज्ञान ने जहाँ देश और काल को नजदीक लाया है वहाँ शान्तिप्रिय लोगों और संघर्षरत राजनायकों को भी नजदीक लाया है। फलस्वरूप इस वैज्ञानिक विश्व में लोक-संघर्ष की आग व्यापक रूप से फैल गयी है। सनातन काल से राजनीति हमेशा संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता तथा कूटनीति-मूलक ही रही है। फिर भी समाज के विकास में अबतक उसकी कुछ-न-कुछ देन रहती आयी है। आन्तरिक विरोध और संघर्ष के बावजूद यही एक तत्व था जो समाज को बाँधता था तथा इसी के हाथ में सामाजिक शान्ति का संरक्षण था। लेकिन आज विज्ञान ने जब जनसमूह को इस राजनीति रूपी संघर्ष-तत्त्व के पास ला दिया है तो निस्सन्देह अब वह शान्तिरक्षक न रहकर शान्तिनाशक तत्त्व बन गयी है। अतः विज्ञान के सामान्य नियम के अनुसार आज राजनीति डिमिनिशिंग रिटर्न की परिस्थिति में आ गयी है।

कलकत्ता की घटना की चुनौती यही है कि ऐसी परिस्थिति में क्या राजनीति के सहारे अब मानव आगे चल सकेगा या उसके स्थान पर कोई दूसरा विकल्प खोजना होगा। यही कारण है कि आज विनोबा कहते हैं कि विज्ञान और सियासत एकसाथ नहीं चल सकती। अगर विश्व को इस चुनौती का उत्तर देना है तो उसे राजनीति के स्थान पर लोकनीति का क्रमबद्ध मार्ग खोजना होगा जिससे लोक राज्य तथा राजनीति का सहारा छोडकर प्रत्यक्ष रूप से पारस्परिक व्यवहार के आधार पर ही समाज को अधिष्ठित कर सके।

दूसरी चुनौती प्रचलित मान्यता के लोकतन्त्र पर है। कलकत्ता में किन्ही कारणो से अशान्ति हुई। अशान्ति को शान्त करने के लिए सभी पक्ष के लोक-प्रतिनिधि व्याकुल थे, लेकिन प्रतिनिधियो की नैतिक शक्ति उसे सँभाल नही सकी। वह स्थिति शासन की सामान्य दड-शक्ति के भी काबू में न रही और अन्ततोगत्वा सैनिक विभाग की ताकत ने परिस्थिति को काबू में लाकर सामान्य जन को आश्वस्त किया।

देश के लोकनायक तथा सामान्य शासन व्यवस्था बात-बात में असहाय हो जाय और सैनिक का सहारा लेती रहे तथा इसके फलस्वरूप जनमानस में सैनिक-शक्ति एकमात्र त्राण-शक्ति के रूप म अधिष्ठित हो तो लोकतत्र की भूमिका में इसका परिणाम क्या होगा ?

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जितने मुल्क आजाद हुए उनके सभी नेताओ की आकाक्षा लोकतत्र की रही है, और प्रारम्भ भी उसी विचार से किया गया। देखते-देखते एक-एक करके उन देशो लोकतत्र का सैनिकवाले लोकतत्र कोसमाप्तकर राष्ट्र-सत्ता अपने हाथ में लेता जा रहा हैं। अगर कुछ हेरफेर भी हो रहा है तो वह सैनिक सैनिक की आपसी प्रतिद्वन्द्विता से ही हो रहा है। उसमें 'लोक' का कोई स्थान नही है।

ससार के लोकतत्र में आस्था रखनेवाले मुल्को में भारत सबसे बडा मुल्क है। अगर इस देश का लोकतत्र कुठित हुआ तो विश्वभर के लोकतत्र की क्या गति होगी, कौन कह सकता है ? अतएव आवश्यक है कि भारत के सभी नेता, जो लोकतत्र में आस्था रखते हैं, इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करें कि इस देश में लोक-सत्ता की बुनियाद कैसे मजबूत हो। उन्हें सोचना होगा कि जिस प्रकार मजबूती के साथ सैनिक-शक्ति परिपुष्ट और सगठित है, क्या उसी प्रकार इस देश की लोकशक्ति भी मजबूत है ? अगर नही है तो उसे मजबूत बनाकर निरन्तर सैनिक-शक्ति पर हावी रखकर स्थायीरूप स लोकतत्र को सरक्षित कैसे करें, उसका मार्ग खोजना होगा।

जब अँग्रेज भारत छोडकर गये तो द्रष्टा पुरुष गाधी ने आगे का चित्र देख लिया था और चलते-चलते उन्होंने देश को यह चेतावनी दे दी थी कि भारत भूमि पर लोकतत्र की स्थापना में सैनिकशक्ति और लोकशक्ति में सघर्ष अनिवार्य है। और, इस सघर्ष की तैयारी के लिए उन्होंने—देश की मुख्यशक्ति तथा नेतृत्व—काग्रेस को सैनिकशक्ति-आधारित राजतत्र में न जाकर लोकसेवक के रूप में 'लोक' मे प्रवेश कर उसे परिपुष्ट और सगठित करने को कहा था। क्योकि यह सर्वमान्य है कि लोक-तत्र में 'लोक' मुख्य तत्त्व है और तत्र गौण है। भारतीय परिस्थिति में सदियो की गुलामी के कारण यह मुख्य तत्व निस्तेज ही नही, मृत प्राय हो गया था और अँग्रेजी शासन के फलस्वरूप तत्र सुसगठित तथा सैनिक-शक्ति द्वारा सरक्षित था। गाधीजी को इस स्थिति को उलटना था। इसलिए वे मानते थे कि मुख्य प्रतिभा और शक्ति लोकशिक्षण द्वारा लोकनिर्माण के काम में लगे और गौण राष्ट्रीय शक्ति तत्र-सचालन के काम म आये।

लेकिन, ऐसा नही हो सका। परिणाम स्वरूप लोकतत्र का 'लोक' अपने को इतना असहाय महसूस करता है कि मुल्क के कोने कोने म तत्र निष्ठा और सैनिक-प्रतिष्ठा बढती ही चली जा रही है। फलस्वरूप मुल्क का तत्र 'लोक' पर इस कदर हावी है कि सामाजिक सन्दर्भ म तत्र-ही-तत्र दिखाई देता है—'लोक' नदारद है। नतीजा यह हो रहा है कि राष्ट्र के नेता लोकतत्र की बुनियाद को मजबूत करने के उद्देश्य से तत्र को फैलाकर जितना ही 'लोक' के हाथ में सौंपने का प्रयास करते जा रहे है, वह उसके हाथ में न पहुँच कर सिर पर ही सवार होता जा रहा है।

लोकतत्र की भूमिका में यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक है। इतिहास कहता है कि ऐसी ही परिस्थिति सैनिकवाद की जननी होती है।

क्या देश के नेता कलकत्ते की चुनौती सही सही पढ सकेंगे। क्या वे आज भी गाधीजी की आखिरी चेतावनी को समझकर देश की व्यवस्थापक शक्ति के हाथ में तत्र-सचालन का काम सौंपकर—अपनी नेतृत्व-शक्ति को जनगण के साथ शामिल कर, बुनियादी लोकशक्ति को मजबूत बनाकर—भारत, एशिया तथा विश्व के लोकतत्र की रक्षा करेंगे ? ●

सन् १९८१

•

रामसूर्ति

१९८१ म अभी १७ साल ह । ततीय पचवर्षीय योजना १९६६ म खत्म होगी । १९६७ म चौथी शुरू होगी । १९६७ से ८१ के बीच के १५ वर्षो म तीन योजनाए बीतगी । इस तरह १९८१ का अथ ह ६वी पचवर्षीय योजना का अत । अगर १९४७ से १९८१ तक के वप जोड तो इस समय देश इस अवधि के लगभग बीच म ह । स्वराज्य से १७ साल बिता चुकन के बाद आग के १० वर्षो की बात सोचना कुछ बुरा नहीं ह बल्कि योजना के इस युग म तो पचास या सौ साल आगे के लिए सोचना और उसके लिए योजना बनाना उचित ही नही आवश्यक समझा जाता ह । बात यह है कि न समाज के भविष्य की सीमा ह न मनुष्य के पुरुषाथ की ।

दिल्ली-सरकार न अपन शिक्षामत्री श्री छागला की अध्यक्षता म एक समिति बनायी ह जिसे यह काम सौपा गया है कि १९८१ तक के लिए शिक्षा की योजना बनाय । अभी कुछ ही दिन पहले भुवनेश्वर म काग्रेस की ओर से लोकतात्रिक समाजवाद की घोषणा हुई । इस घोषणा से काग्रेस दुनिया का सबसे बडा समाजवादी दल बन गयी ह । अभी देश काग्रेस के शासन म ह और निकट भविष्य म काग्रेस की यह जिम्मेदारी बदलनेवाली है एसा दिखाई नही देता । लोकतात्रिक समाजवाद के साथ-साथ शासको की ओर से यह भी कहा गया ह कि १९७५ तक देश म एसी आर्थिक व्यवस्था हो जायगी कि हर व्यक्ति के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताए पूरी हो जायगी । अबसे आगे योजना और विकास के नाम पर सरकार की ओर से जो कुछ होगा उसका यही लक्ष्य होगा ।

तो एसी स्थिति म क्या हम यह मान लें कि १९८१ तक की शिक्षा का सीधा सम्बध १९७५ के वादे को पूरा करन और लोकतात्रिक समाजवाद के लक्ष्य को सिद्ध करन के लिए ही होगा ? यह न मानें तो और मानें क्या ? अगर यह मानना सही हो तो क्या यह भी मान लेना सही होगा कि अब सरकार की ओर से शिक्षा की कल्पना सामाजिक परिवतन और विकास की गतिशक्ति (डाइनमिक्स) के रूप म की जा रही ह क्योकि जबतक शिक्षा म गतिशीलता (डाइनमिक) नही होगी तबतक वह सामाजिक शक्ति (सोशल फोर्स) कैसे बनगी ?

इधर पिछले कुछ महीनो से तृतीय पचवर्षीय योजना की विफलताओ की चर्चा हो रही ह । अब यह बात जाहिर हो गयी ह कि हमारी योजना अभी तक देश की बहुसख्यक जनता के जीवन को नही छू सकी ह । नीचे की करोडो-करोड जनता के पास योजना का प्रसाद नहीं पहुचा ह क्योकि जनता की वास्तविक समस्याओ और उसके हाथो म छिपी हुई असीम सृजन और श्रम की शक्ति पर योजना म समुचित विचार नही किया ह । जनता का स्थान न योजना बनान म ह न उसे चलान म और न उसका फल भोगन म ।

जब यह प्रश्न उठता है कि एसा क्या हुआ तो नताओ की ओर से कहा जाता ह कि योजना को कार्यान्वित करन म सरकारी तत्र न अपना हक नही अदा किया नता कहत ह—अधिकारी काम नही करते अधिकारी कहते ह—नता काम नही करन देते जनता कहती ह—दोनो काम ही नहीं करना चाहते । कौन कितना दोषी ह इसका निणय कब होगा और कौन करेगा ? हमारी दृष्टि म तो अभी यह भी तय होना बाकी ह कि स्वय योजना की रचना का कितना दोष ह ।

हम तो यह मानते ह कि योजना की रचना म ही बुनियादी दोष ह । कल-कारखान छोटे-बडे बाँध सडक स्कूल अस्पताल सैकडो सरकारी विभाग और लाखो सरकारी अधिकारी कमचारी केवल इनके टोटल से किसी राष्ट्र का समग्र विकास नही होता । समग्र विकास की परिस्थिति प्रचलित व्यवस्था के आमूल परिवतन से बनती है । भूमि की व्यवस्था उद्योगो की व्यवस्था प्रशासन की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था

इन चारों में परिवर्तन लाना पड़ता है, बल्कि यह कह सकते हैं कि शिक्षा में सबसे पहले हमारी योजनाओं ने इनमें से किसी एक के भी जड से परिवर्तन की कल्पना नहीं की है। इसीलिए योजनाओं के १३ वर्ष बीत चुकने पर भी लोगों के सोचने, काम करने या संगठन बनाने के तरीकों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं दिखाई देता, और जनता दिनोंदिन सही विचारों के प्रति शंका और अनास्था का शिकार होती चली जा रही है।

वास्तव में जिन मूल तथ्यों, मान्यताओं तथा भविष्य की कल्पनाओं पर ये योजनाएँ बनी हैं वे जनता की सीमाओं और समस्याओं से अलग हैं, उनका विज्ञान, लोकतंत्र और देश की परम्परा और प्रतिभा से मेल नहीं खाता, इसलिए देश की बहुसंख्यक जनता पर उनका अनुकूल असर नहीं पड़ता। ये योजनाएँ, न देश के हृदय को छू सकी हैं, न पुरुषार्थ को जगा सकी हैं।

हमारा देश पुराना है, इसलिए उसके दोष भी पुराने हैं। सदियों से हम प्रगति के प्रवाह से दूर हो गये हैं। हमारी खेती नहीं बदली है, हमारी जाति-निष्ठ समाज-व्यवस्था नहीं बदली है, जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण नहीं बदला है। जातिवाद ने हमारी मनुष्यता छीनी, मूलधनवाद ने हमें शोषक बनाया, सामन्तवाद ने हम गुलामी दी, साम्राज्यवाद ने विज्ञान से अलग रखा, उपनिवेशवाद ने हमारा आर्थिक विकास रोका। बुद्धि ने विचार छोड़ा, हृदय से भावना गयी, उँगलियों से हुनर छूटा। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ है कि क्या भौतिक और क्या चारित्रिक, हर दृष्टि से हम पतन की अन्तिम सीमा पर पहुँचे हुए हैं, और अब भी हमारे पतन के स्रोत से राष्ट्रीय जीवन को विघटित करनेवाली नयी-नयी विषैली धाराएँ फूटती जा रही हैं। देश का सारा जीवन ही दूषित हो गया है। यह दोष शासक द्वारा सञ्चालित कुछ फुटकल योजनाओं से कैसे दूर होगा? इसके लिए समग्र विकास की योजना चाहिए, जो जन-जन की बुद्धि को जगा सके, हृदय को उभाडकर एक दूसरे के साथ जोड सके, और उँगलियों को चला सके। समग्र विकास के लिए समग्र तालीम जरूरी होती है। समग्र जीवन को छूनेवाली तालीम आज है कहाँ?

स्वराज्य के १७ वर्ष बाद भी हमारी शिक्षा आशिक है, वर्ग-विशेष के लिए है, ऐसी शिक्षा है, जो समाज में भेदों, विषमताओं और आग्रहों को बनाये रखनेवाली है। यह शिक्षा न लोकतंत्र की है, न समाजवाद की। इसका दोनों से खुला विरोध है। यह शिक्षा सत्ता और सम्पत्ति दोनों को वर्ग-विशेष के हाथों में केन्द्रित रखने के लिए उपयुक्त सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका तैयार करती है। यह शिक्षा तोडती है, जोडती नहीं। वास्तव में हमारे देश के जो तीन मूल प्रश्न हैं—सुरक्षा, विकास और लोकतंत्र (डिफेंस, डेवलपमेंट और डिमाक्रेसी) तीन 'ड' वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, इसलिए शिक्षा ऐसी चाहिए, जो तीनों को एक धागे में पिरो सके। इस दृष्टि से राष्ट्रीय विकास का पूरा प्रश्न शिक्षण का प्रश्न बन जाता है—लोक शिक्षण और बाल-शिक्षण दोनों का—और विकास का हर कार्यक्रम इस व्यापक शिक्षण का माध्यम हो जाता है। इस प्रक्रिया से जो शिक्षण होगा उसकी निष्पत्ति उत्पादन-सहकार की वृद्धि के रूप में होगी ही। इसी अर्थ में गांधीजी ने कहा था कि नयी तालीम के तीन माध्यम हैं—प्रकृति, समाज और उत्पादन।

आज समाज में नेतृत्व शिक्षा का नहीं है, नेतृत्व है व्यापार और राजनीति का। व्यापार और राजनीति के नेतृत्व में समाज में संघर्षों का बढ़ना अनिवार्य है। लोकतंत्र और समाजवाद दोनों में प्रधानता उसकी है, जिसे 'कामन मैन' कहा जाता है। कामन मैन के समाज में नेतृत्व सेठ और नेता का नहीं हो सकता। अगर किसी का नेतृत्व लोकतंत्र और समाजवाद से मेल खाता है तो शिक्षक का। उस शिक्षक का, जो मुक्त समाज के लिए शासन-मुक्ति और शोषण-मुक्ति की शिक्षा देता है।

श्री छागला ने १९८१ के लिए कौन-सा रास्ता चुना है? राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद का, या लोकतंत्र और समाजवाद का? प्रचलित तालीम के विस्तार का या नयी तालीम के अभ्यास का? योजना बनाना आसान है, अगर उसकी भूमिका (पर्सपेक्टिव) तय हो जाय? वह बतायें कि १९८१ के लिए उनकी क्या भूमिका है। यह निश्चत है कि जो शिक्षा समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुबन्ध में नहीं चलेगी वह बेकार है। क्या अभी यह बताना बाकी है कि आज की शिक्षा में यह अनुबन्ध नहीं है? ●

राष्ट्रीय एकता

•

स्वामी आनन्द

इस देश के हिन्दू, शकों और हूणों से लेकर मुसलमानों और ईसाइयों तक अनेक भिन्न-भिन्न जातियों, कौमों और मानव-समूहों के सम्पर्क में आये हैं, सदियों तक एक दूसरे के साथ रहे हैं। बाहर से आनेवालों के रोब-दाब, धार्मिक उन्माद अथवा अत्याचार और शोषण के शिकार भी बने हैं। 'काले के पास गोरा रहे तो रूप न सही, रीत तो ले ही,' के अनुसार एक का दूसरे पर कुछ-न-कुछ प्रभाव तो समय पाकर पड़ा ही होगा। टैगोर और विवेकानन्द-जैसे कवि-मनीषियों ने हमारे भारत देश को जातियों और राष्ट्रों की समन्वय भूमि कहा है, और इस रूप में उसकी स्तुति भी की है। भारतवर्ष की सदियों के ऐसे स्तुति-पाठ का लाभ उठाकर अनेक अधकचरे और टुटपुँजिए हिन्दू सेठ की गाँठ के सहारे गांधी बनने देश-विदेश में निकल भी पड़े होंगे, किन्तु इस सब के मूल में और इससे परे जिस ठोस रूप से सिद्ध हुई ऐतिहासिक घटना का निदान स्व० मशरूवाला-जैसे मनीषी ने किया है, वह किसी भी तरह अप्रमाणित सिद्ध नहीं हो सकता।

वह निदान यह है कि मुख्य रूप से हिन्दुओं ने और उनके पाप के कारण समूचे भारत की जनता ने अतीत में देश-विदेश की अन्य जातियों और अन्य राष्ट्रों से साथ के अपने सम्पर्क में सदियों तक जो कुछ सहन किया है और आज तक हम जो सहन करते चले जा रहे हैं, उन सबके मूल में हिन्दुओं की (किसी यूरोपवासी को इशारे में यह बात समझानी हो, तो कहना होगा कि इवह पुराने समय के यहूदियों-जैसी) अस्पृश्य-वृत्ति ही है। हिन्दुओं के हाड़ मांस में यह अस्पृश्य-वृत्ति ठेठ प्राचीन-काल से कुछ इस तरह जड़ जमाकर बैठ चुकी है कि चाहे जो करो, चाहे जितना समझो-समझाओ, पर किसी भी तरह वह नष्ट होती ही नहीं।

हमारी शिक्षित मध्यम-श्रेणी के हजारों-हजार युवक और युवतियाँ पिछली तीन-चार पीढ़ियों से इस देश में ईसाई पादरियों द्वारा चलाये जानेवाले विद्यालयों और महाविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करती रही हैं। उन्हें इनाम में मिली हुई बाइबिल की हजारों प्रतियाँ आज के शिक्षित हिन्दुओं की आलमारियों में देखने को मिलेंगी, किन्तु उनकी आलमारियों को सुशोभित करने के अलावा उनमें से एक भी प्रति को सौगन्ध खाने के लिए भी खोलने अथवा पढ़ने और समझनेवाले शिक्षित हिन्दू आज कितने हैं?

विनोबाजी ने गहरी धार्मिक वृत्ति से प्रेरित होकर कुरान कण्ठाग्र की और हाफ़िज़ का पद प्राप्त किया। संसार के उपकार के लिए हर किसी की समझ में आने लायक भाषा में कुरान की शिक्षा का सार प्रस्तुत किया। पाक पैगम्बर अथवा ईसामसीह को नामदेव, तुकाराम, नरसिंह मेहता अथवा द्राविड़ी अलवार सन्तों के समान ही अपना मानकर उनके प्रति अपनी भक्ति-निष्ठा से अपने हिन्दुत्व को अधिक उज्ज्वल, अधिक उदार और तेजस्वी बनाने की बात सार्वजनिक रूप से कहकर उन्होंने एक हिन्दू के नाते इसमें गौरव का अनुभव किया। आज कितने हिन्दू ऐसे हैं, जिन्होंने इन सबकी कद्र की हो? कितनों ने इस घटना के निमित्त उनके-जैसे गौरव का अनुभव किया है? हमारे कितने हिन्दुओं ने कुरान और बाइबिल का, इसलाम अथवा ईसाई धर्म का, उनके सामाजिक विधान के मूल में वर्तमान मूल्यों का अथवा ईसाई और इसलामी जीवन-दर्शन का श्रद्धा-भक्ति के साथ अध्ययन किया है? उत्तर एक ही है कि साधारणतया लगभग समस्त हिन्दुओं ने ऐसा-कुछ करने में विनोबाजी की तरह धर्मलाभ अथवा धर्मतेज का अनुभव न करके धर्महानि और अस्पृश्य भाव का ही अनुभव किया है।

इसलाम और ईसाई धर्म को हम घडीभर एक ओर रख दें और फिर देखें कि अपने ही रक्त में बने बौद्ध, सिक्ख और जैनो के प्रति तथा अपने ही हाथ-पैर और हाड-मास-तुल्य कष्टजीवी हरिजन समाज के प्रति हमारा व्यवहार कैसा रहा है ? ठेठ प्राचीन काल से लेकर आज तक हिन्दुओ का सारा इतिहास इस घातक और विनाशक अस्पृश्य-वृत्ति से, और जन्मगत अधिकार-वाद से भरा पडा है। जिन शंकराचार्य के लिए आज का प्रत्येक शिक्षित हिन्दू गौरव अनुभव करने में थकता नही है, बुद्धि के मेरु-समान उन शंकराचार्य ने भी बौद्ध-धर्म और बौद्धों के जीवन-दर्शन को जडमूल से उखाडकर उसे हिन्दुस्तान से खदेड देने में ही सार्थकता मानी और हिन्दुओ ने इस सिद्धि को दिग्विजय का नाम दिया।

पश्चिमी राष्ट्रों के, विशेषकर अँग्रेज लोगों के, सम्पर्क और जबरदस्त प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हमारे देश के विचारकों और देश-नेताओ ने आसेतु हिमाचल भारतवर्ष एक और अखण्ड राष्ट्र है, 'वन नेशन' है, इस विचार के संस्कार को दृढ करने के लिए लगातार ५०–७५ साल तक हमारी जनता के बीच प्रचण्ड पुरुषार्थ करके अपने आपको खपा दिया, पर हमारे लोग इस नये संस्कार को स्वीकार नहीं कर सके और अब जब कसौटी का समय आया, तो घडी के छठे भाग में यानी बात-की-बात में हमारा यह संस्कार और हमारी निष्ठा-भक्ति सब-कुछ उथली-छिछली सिद्ध हुई। एक फूंक में सब-कुछ उड गया और जिन्ना साहब की दो राष्ट्रोंवाली जिस स्थापना को गाधीजी ने निरे असत्य का नाम दिया था, उसी को ताबडतोड स्वीकार करके हमने अपनी ही हड्डी-पसली के अन्दर से जनम-जनम के लिए अपना ही एक हिस्सा अलग कर दिया।

स्व० मशरूवाला के निदान के अनुसार मियाँ और महादेव के बीच मेल हो ही नहीं सकता, इस प्रकार का पार्थक्य-भाव माननेवाला दो राष्ट्रों का सिद्धान्त हमारे ही खून में मौजूद था, जो इस समय प्रकट हुआ।

इस प्रकार हमारे ही पाप से देश के टुकडे हुए। फिर भी लगभग आधे मुसलमान तो ज्यों-के-त्यों भारत के ही निवासी बने रहे। स्वतन्त्र भारत के संविधान मे बौद्ध, सिक्ख, पारसी, ईसाई, जैन, यहूदी, नागा, नेफा-वासी, ल्हाखी आदि सबको एक ही राष्ट्र की नस-नाडी और हाड-चाम-स्वरूप माना है। फिर भी आज कितने-हिन्दू ऐसे है, जो अपने ईश्वर को हाजिर-नाजिर रखकर छाती पर हाथ रखते हुए यह कह सकेंगे कि हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, जैन, बौद्ध, ईसाई सब एक ही हाड-मांस और रक्त की उपज है ? और तो और, जो कांग्रेस असाम्प्रदायिक होने का दावा करती है, उसी की नाक और आँख तले आज कितने कांग्रेसी ऐसे है, जो वोटों की छीना-झपटी के लिए बेहूदी और भ्रामक जात-पांत की दुहाई दिये बिना अथवा उसके दायरे में आनेवाले का आसरा लिए बिना या ऐसी किसी प्रवृत्ति की ओर निरी नफरत दिखाकर छोटे-से-छोटा चुनाव भी लडते होंगे ? जवाब पाने के लिए चिराग लेकर निकलना नहीं पडेगा।

जैसा कि स्व० मशरूवाला कहा करते थे—हिन्दुओं के सामने आज दो ही विकल्प है, या तो हम यह मान लें कि हमारी अस्पृश्य-वृत्ति हमारे हाड-मास और रक्त का एक ऐसा अविभाज्य अग बन चुकी है, जिसे हम किसी भी तरह त्रिकाल में भी अपने अन्दर से निकाल नही सकते, इसलिए उस दिशा के अपने प्रयत्न को व्यर्थ मानकर जिस तरह सृष्टि में से उसकी रचना के अनेक नमूने लुप्त हो गये, उसी तरह ठंडी-धीमी मौत के रास्ते आत्महत्या करने के भविष्य को स्वीकार कर लें और पैबन्दबाजी की बेकार कोशिशें छोड दें।

यदि हम यह अनुभव करते है कि हमारी इस अस्पृश्य-वृत्ति ने हजारों वर्षों तक हमें अकूत हानि पहुँचायी है, अथवा यदि हम मानते है कि आज के संसार में टिके रहने के लिए हिन्दुओ को इस ठंडे हलाहल का अपने जीवन और व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र से किसी भी कीमत पर और कैसा भी खतरा उठाकर, अन्त ही कर देना है, तो कही सौगन्ध खाने जितना भी समझौता करने अथवा बीच का रास्ता निकालने अथवा धीमी चाल से बढने का विचार तक न रखकर हमें निष्ठुरता-पूर्वक नया मार्ग अपनाना ही होगा। गांधी विनोबा के जीवन की, और जिन्दगी भर के उनके कठिन प्रयत्नों की क़द्र करने का दूसरा कोई रास्ता है ही नही। (अपूर्ण)

अनु०—काशिनाथ त्रिवेदी

शब्दों की सिसकियाँ

●

रामजनम

"छि तुम रो रहे हो! तुम हो कौन, तुम्हें किसने सताया है?"—एक साथ मैं उससे कई सवाल पूछ गया।

उसने तिरस्कार भरी एक नजर मुझ पर डाली और सिर झुकाकर पुन रोने लगा। उसकी सिसकियाँ तीव्र होती जा रही थीं। मैंने समझा—शायद मेरी कोरी संवेदना ने उसके मानस को और झिझोड दिया है। मैं कारण जानने के लिए आतुर हो उठा और मैं पुन पूछ बैठा—"आखिर बताओ तो, तुम्हारे साथ किसने अन्याय किया है?"

"तुमने"—उसने गरदन उठायी नहीं, आँख मिलायी नहीं, आँसुओ को रोका नही, निष्काम भाव से कह गया।

मैं हैरान, जान-न-पहचान, फिर मैंने इसे कब और कैसे सताया?

"क्या तुम मुझे पहचानते हो?"—मेरे स्वर में किंचित दृढता थी।

"हाँ—पहचानता हूँ, तूने ही, तू और तेरे भाई-बन्द ने ही।"

"मेरे भाई-बन्द से तुम्हारा किससे मतलब है?"

"आलोचक, समालोचक, कवि-कथाकार लेखक, .. और हाँ, कथाकारों की तो याद आते ही ...।"

मेरा आश्चर्य बढा मैं तनिक और उसके पास गया। उसकी ठोढी पकडकर उठाया और स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'क्यो, मेरे भाई! इन कवि-कथाकारो ने तुम्हें क्यो सताया है, तुम हो कौन, पहले यह तो बताओ?"

"मैं? मैं कौन हूँ—यह बताऊँ! और तुमसे? सचमुच, तुम मुझे नही जानते! नही पहचानते! अरे, मेरे ही बल पर तुम लोग लच्छेदार बातें करते रहते हो, और हजारो-हजार की आँखो में धूल झोकने का व्यापार चलाते रहते हो! फिर भी, मुझे नहीं पहचानते, आश्चर्य!"

मेरे धैर्य का बाँध टूट गया और मैंने तीव्र उत्सुकता के स्वर में कहा—'मेरे भाई, अब देर न करो, अपना पूरा नाम तो बता ही दो।"

"अच्छा, लो सुन लो। मुझे तुम लोग 'शब्द' कहते हो और मेरी शक्ति के बल पर ही अपनी कीर्ति-पताका दिशाओ के कोने-कोने में फहराया करते हो!"—और वह चुप हो गया।

"चुप क्यो हो गये, कहो भी तो, हम-सबने तुम्हें कब सताया है? उलटे तुम्ही हम लोगो को कदम-क़दम पर सताते रहते हो। तुम जब भूल जाते हो तो पहरो हम लोगो को झख मारनी पडती है। हम बुलाते हैं, चिरौरी-मिनती करते हैं, और तुम हो कि आने का नाम नहीं लेते! और ऊपर से हमी तुम्हे सताते हैं, ऐसा कह रहे हो!"

"मैं सही कह रहा हूँ मेरे दोस्त, साहित्य के महारथी अपने शान के मिथ्या दम्भ में कभी हमारी टाँगें तोडते हैं, कभी आँखे फोडते हैं, और कभी खुश रहे तो कान ही पकडकर छोड देते हैं। नेताओ की याद आते ही मेरी सूझ-बूझ बगलें झाँकने लगती है। उनके स्वरों का कृत्रिम उतार-चढ़ाव हर मोड पर मेरा अंग-भंग किये बिना नहीं रहता।"

"मैं मानता हूँ कि तुम जो कुछ कह रहे हो, अक्षरशः सत्य है, फिर भी तुम चाहते क्या हो ?"—अधीर होकर मैंने पूछा।

'मैं नहीं जानता, मेरी चाह तुम पूरी कर सकोगे या नहीं—आखिर तुम भी तो उसी परिवार के ठहरे। फिर भी, जब आग्रह करते हो तो मन की बात तुम्हें बता ही देता हूँ। और वह कहने लगा—

"एक दिन की बात है कि प्राइमरी पाठशाला का एक शिक्षक मुझे बहुत परेशान नजर आया। मैंने पूछा—क्यों भाई, तुम्हारा कुछ खो गया है ? उसने झुँझलाकर कहा—नहीं जी, मैं तो कोस रहा हूँ अपने को, अपने शिक्षण के पेशे को, और उससे भी अधिक उन हजारों हजार मासूम बच्चों को, जो • • !"

मैंने उसे बीच ही में टोककर पूछा—"पहले कारण तो बताओ।"

उसने कहा—"हमसे सबको आशाएँ हैं, अपना उल्लू सीधा करने के लिए हमें जगतगुरु भी कहा जाता है, वेतन के नाम पर त्याग का सबक सिखाया जाता है, आदर्श शिक्षण की हमसे आशा रखी जाती है, लेकिन मैं सबेरे से ही परेशान हूँ। एक शब्द का अर्थ नहीं आ रहा है। क्या करूँ ? बच्चों को तो मुझे कुछ-न-कुछ बताना ही है—झूठ या सच। उनके सामने अपने अज्ञान का ढिंढोरा कौन पीटना पसन्द करेगा ? तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ?" "क्यों गुरुजी, आपके पास 'शब्द-कोश' तो होगा ही, उससे अर्थ क्यों नहीं मालूम कर लेते ?"

"वाह भाई, तुम भी लगता है बिलकुल नये हो। प्राइमरी पाठशाला और शब्दकोश ! दोनों में कहीं भी कोई साम्य है क्या ? तुम कह सकते हो, दूसरी जगह से 'शब्द-कोश' क्यों नहीं प्राप्त कर लेते ! लेकिन भाई, मान लो, 'शब्दकोश' मिल भी गया तो क्या हुआ ? उसमें नन्हे-मुन्ने शब्द कहाँ ? और, फिर कठिन शब्दों के आसान अर्थ मिलेंगे क्या ? तुम यह भूल क्यों रहे हो कि मुझे पढ़ाना है उन नन्हें मुन्नों को, जो आसानी से बड़े बड़े 'शब्दकोशों' के भारी भरकम शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर पाते। अब तुम शायद मेरी परेशानी समझने लगे होगे।

"हाँ, तो मैं तुमसे कह रहा था कि उस दिन उस शिक्षक की बात सुनकर मुझे बेहद रोना आया। और, आज एक 'बड़े शिक्षक' की जानकारी देखकर तो मेरा साहस ही छूट गया, मेरी आँखों से बरबस आँसू चू पड़े • • ।"

'शब्द' की करुण कहानी सुनकर मुझे भी कम हैरत न हुई। उसने मेरे सामने नीचे की शब्द-तालिका पेश करते हुए कहा—"एक बार सभी लोग जरा सोचें तो, इस तालिका के शब्दों के साथ कितने लोग कहाँतक न्याय कर पाते हैं !"

शब्द-तालिका

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
काश्मीर	कश्मीर	आधीन	अधीन
उपरोक्त	उपर्युक्त	उलघन	उल्लघन
ऐक्यता	ऐक्य	निरपराधी	निरपराध
पहिला	पहला	जाग्रति	जागृति
पुरष्कार	पुरस्कार	पूज्यास्पद	पूजास्पद
दुखदाई	दुखदायी	निरस	नीरस
औषधि	औषध	ब्राम्हण	ब्राह्मण
बाह्य	बाह्य	पूज्यनीय	पूजनीय
रम्बतसर	संवत्सर	परतु	परन्तु
इक्किस	इक्कीस	घनिष्ठ	घनिष्ट
त्रितीय	तृतीय	न्याई	न्यायी
विजई	विजयी	मिष्ठान्न	मिष्टान्न
झोपडी	झोंपड़ी	धूम्रपान	धूमपान
प्रकोष्ट	प्रकोष्ठ	चाहिये	चाहिए
बावजूद भी	बावजूद	मुँहजबानी	जबानी
दूकान	दुकान	ईस्वी	ईसवी
त्यौहार	त्योहार	प्रगट	प्रकट
आसम	असम	नैपाल	नेपाल
पहिचान	पहचान	पहिन	पहन
बाम्बे	बम्बई	बिनोवा	विनोबा

और कहाँतक गिनाऊँ तुम्हें ! सूची तो इतनी बड़ी हो सकती है कि तुम पढ़ते-पढ़ते ऊँघने लगो। छोड़ दो, मुझे यों ही आँसू बहाने दो। काश, तुम या तुम्हारे भाई-बन्द कोई निराकरण निकाल पाते ! ●

लोकतांत्रिक समाजवाद: नया वादा !

•

रामभूर्ति

पिछले महीने भुवनेश्वर में कांग्रेस ने लोकतांत्रिक समाजवाद की घोषणा की, और यह कहा कि इसकी प्राप्ति शान्तिपूर्ण और सवैधानिक उपायों से की जायेगी। भुवनेश्वर के पहले १९५७ में कांग्रेस ने 'समाजवादी सहकारी व्यवस्था' (सोशलिस्ट कोआपरेटिव कामनवेल्थ) को लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण और उचित (पीसफुल और लेजिटिमेट) उपायों की घोषणा की थी। दोनों में क्या अन्तर है, यह तो प्रस्ताव बनानेवाले ही जानें, लेकिन लगता है कि पहला लक्ष्य समाजवाद के उतना ही निकट था जितना नया लक्ष्य हो सकता है। हां, यह सम्भव है कि समाजवाद के लिए जितनी उत्कटता और तत्परता अब दिखाई जा रही है उतनी शायद पहले नहीं थी।

क्या पहले और क्या अब, समाजवाद लानेवाली जिस शक्ति की कल्पना की गयी है वह एक ही है—सरकार। समाजवाद के लिए स्वयं समाज की शक्ति जगाने और सगठित करने की बात नहीं है, भरोसा है सरकार के कानून का, और उसकी शक्ति का, यानी उसकी पुलिस का, नौकरशाही का और सेना का। इसीलिए कांग्रेस के प्रस्ताव में उन कामों की एक लम्बी सूची दी गयी है, जिनके लिए सरकार से कानून बनाने को कहा गया है।

यह सोचने की बात है कि अगर समाजवाद को सरकार की ही शक्ति से बढ़ना और फैलना है, और जनता को केवल सरकार के पीछे-पीछे चलना है, तो निश्चित है कि समाजवाद के नाम में सरकार अपनी शक्ति बढ़ाती जायेगी और लोकतंत्र का स्थान गौण होता जायेगा, और इस गरीब देश की जनता भी कहेगी कि समाजवाद के लिए अगर लोकतंत्र को छोड़ना पड़े तो छोड़ना चाहिए, क्योंकि पश्चिम के नमूने के केन्द्रित उद्योगवाद के साथ जिस समाजवाद का मेल मिलाने की बात कही जा रही है उसके लिए आवश्यक पूंजी इकट्ठा करने, देश-व्यापी योजना बनाने, कच्चा माल जुटाने, बाजार नियमन करने, मजदूरों पर कंट्रोल रखने, और एक विशाल सर्वग्राही नौकरशाही का सगठन करने का काम सरकार ही कर सकती है, ऐसी सरकार सारी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को अपने हाथ में केन्द्रित कर लेती है। और, चाहते हुए या बिना चाहे, वह किसी-न-किसी प्रकार की तानाशाही बन बैठती है।

जब ऐसा होता है तो व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसकी स्वतन्त्रता और समाज के नैतिक मूल्य सब, जिनकी कांग्रेस के प्रस्ताव में इतने आदर के साथ चर्चा की गयी है, शासकों की मर्जी की चीज बन जाते हैं, और सरकार के सिवा समाज में दूसरी कोई शक्ति रह नहीं जाती। क्या यह क्रम इस देश में शुरू नहीं हो गया है? समाजवादी राज्य एक चीज है, और समाजवादी समाज बिलकुल दूसरी।

भुवनेश्वर का प्रस्ताव चाहता है कि सरकार समाजवाद की दिशा में आर्थिक और प्रशासकीय मोर्चे

(इकनामिक ऐंड ऐडमिनिस्ट्रेटिव फट) पर आवश्यक कदम उठाये । आर्थिक दृष्टि से सबसे बडा प्रश्न है गरीबी को दूर करना और विज्ञान और टेक्नालॉजी की मदद से बिलकुल 'अप-टू डेट' उत्पादन-तन्त्र स्थापित करना । यह 'योजना' से ही होगा । इसके लिए आवश्यक है कि धन को थोडे लोगो के हाथो में केन्द्रित होने से रोका जाय, पैतृक धन और शहरी सम्पत्ति पर रोक लगायी जाय, तरह-तरह की 'ब्लैक' आमदनी को खत्म किया जाय, पूंजी के स्रोत राष्ट्र के हित में कंट्रोल किये जायं, खेती-द्वारा उत्पादित सामग्री की जो 'प्रोसेसिंग' होती है मुख्यत धान-कुटाई, उस पर सार्वजनिक या सहकारी स्वामित्व और प्रबन्ध स्थापित हो ।

कुल मिलाकर इस बात की मांग है कि बडे-बुनियादी उद्योगो में और जनता के जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियो के व्यापार में 'पब्लिक सेक्टर' यानी सरकारी सेक्टर का प्रमुख स्थान हो । निजी उद्योग राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत चले । खेती, छोटे धन्धो और खुदरा व्यापार में सहकारी पद्धति पर जोर दिया जाय । मूल्यो पर नियत्रण हो और कन्ट्रोल जब अनिवार्य हो तभी लगाये जायें । खेती के क्षेत्र के लिए ये मुख्य बातें कही गयी है—खेती के साथ-साथ पशु-पालन और बागबानी पर जोर दिया जाय, गाँव-पचायत से लेकर ऊपर राष्ट्रीय स्तर तक किसान को कर्ज देने के लिए विशेष सस्थाएँ कायम की जायें, कर्ज का सम्बन्ध कर्ज चाहनेवाले की हैसियत से न हो, बल्कि उसकी उत्पादक-क्षमता से हो, प्रकृति से रक्षा के लिए फसलो और पशुओ का बीमा हो, छोटे किसान स्वेच्छा से सहकारी खेती अपनायें, उनकी उत्पादित सामग्री का किसान को उचित मूल्य मिले । हर कोशिश की जाय कि आज बिक्री का जो मुनाफा 'मिडिल मैन' की जेब में जाता है वह सहकारी पद्धति द्वारा स्वय किसान को प्राप्त हो ।

भूमि-व्यवस्था की दृष्टि से किसान अपनी भूमि का मालिक हो, लेकिन 'सीलिंग' लगायी जाय । खेतिहर मजदूर की मजदूरी और उसके रोजगार पर विशेष ध्यान दिया जाय । पूरी ग्रामीण खेती और अर्थनीति के लिए सहकारी पद्धति की कल्पना की गयी है और इस दिशा मे पचायती राज और सामुदायिक विकास के महत्व को दुहराया गया है । इनके अलावा ग्रामीण जनता के लिए पीने लायक पानी और शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय । इन आर्थिक निर्णयो और लोक-कल्याणकारी उपायो को कार्यान्वित करने के लिए शासन-तत्र को चुस्त और दुरुस्त किया जाय । अन्त में इस बात पर जोर दिया गया है कि १९७१ तक देश की जनता के जीवन की—भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में न्यूनतम आवश्यकताएँ (नेशनल मिनिमम) पूरी हो, नही तो, सामान्य व्यक्ति के लिए योजना और विकास का कोई अर्थ नही रह जायेगा ।

बातें ये सब अपनी जगह अच्छी है, और इनके पीछे जो चिन्तन धारा है वह कुछ नयी भी है । पिछले तेरह वर्षो से एक के बाद दूसरी पचवर्षीय योजना में यही धारा विकसित हुई है । भुवनेश्वर के प्रस्ताव द्वारा एक बार फिर, तृतीय पचवर्षीय योजना की भयकर विफल-ताओ के प्रकट होने पर भी, यह बात दुहरा दी गयी है कि हमारी योजनाओ की मूल मान्यताएँ और उनकी दिशा, दोनो अपनी जगह ठीक हैं, जरूरत है केवल कुछ जगह पैबन्द लगाने की और नौकरशाही को चुस्त कर देने की ।

लेकिन, प्रश्न क्या सचमुच इतना ही है ? उदाहरण के लिए एक चीज ले ली जाय—हिन्दुस्तान के गांव, जिनमें हमारे देश के ८२ प्रतिशत लोग रहते हैं, क्या चित्र है उन गांवो का सरकार के समाजवाद में ? क्या नीति और निर्णय है भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में, असीम श्रमशक्ति के सदुपयोग के सम्बन्ध में, और ग्रामीण विकास के लिए उपयुक्त शिक्षा के सम्बन्ध में ? वह चित्र (इमेज) क्या है, जिसे यह नया समाजवाद ग्रामीण जनता के सामने प्रस्तुत करता है ? क्या विकेन्द्रीकरण और पचायतीराज का नाम लेते रहना काफी है ? कौन-सी योजना है, जो नीचे के ३० प्रतिशत को ऊपर लायेगी, गाँव म खेती और उद्योगो का सन्तुलित विकास करेगी, विषमता मिटायेगी, और शहरो द्वारा गांव के शोषण का अन्त करेगी ?

इधर कुछ दिनो से बैंको के राष्ट्रीयकरण की बात तो बहुत कही जा रही है, लेकिन न काग्रेस में और

न किसी दूसरी ही पार्टी में, कभी इस बात की चर्चा भी हुई है कि जमीन की मालिकी कैसे मिटेगी और गाँव की जमीन सम्मिलित रूप से गाँव की होगी। क्या भूमि का स्वामित्व बना रहेगा और समाजवाद कायम हो जायेगा? सचमुच यह बात समझने की है कि आखिर मामला क्या है कि एक नहीं, सभी राजनीतिक दल इस प्रश्न पर चुप हैं।

बात यह है कि हमारे नेताओं के, चाहे वे किसी भी दल के हों विचारों में दो बातों पर एकता है—'प्लैन' और 'पार्लियामेंट'। वे जी-जान से मानते हैं कि सरकारी योजना की अर्थनीति ठीक है, और चुनाव की राजनीति ठीक है। योजना की अर्थ नीति में मूल प्रेरणा है पूँजी लगाकर मुनाफे के लिए उत्पादन करने की, और चुनाव की राजनीति की मूल पद्धति है दलगत संघर्ष-द्वारा सत्ता हाथ में करने की। इन दोनों ने पश्चिम की दुनिया को किस तरह सर्वनाश के किनारे पहुँचा दिया है, यह दुहराने की जरूरत नहीं है, लेकिन समझने की जरूरत तो है ही।

प्रचलित प्रवाह से भिन्न इस देश में एक आवाज है, अभी अत्यन्त सीमित और क्षीण, जो भारतीय समाजवाद की बात कहती है। भुवनेश्वर से दस दिन पहले रायपुर (मध्यप्रदेश) में सर्वोदय-सम्मेलन हुआ था, जिसमें देश के सामने तीन तत्त्वों का एक समन्वित कार्यक्रम पेश किया गया। वे तीन तत्त्व हैं—१–अभिनव ग्रामदान, २–ग्रामाभिमुख खादी और ३–शान्ति-सेना। गाँव का हर भूमिवान अपनी जोत की भूमि से बीघा पीछे एक कट्ठा निकालकर गाँव के भूमिहीन को दे, बाकी भूमि खुद जोते-बोये, लेकिन उसकी कानूनी मालिकी ग्रामसभा को समर्पित करे, जो हर परिवार से एक एक प्रतिनिधि लेकर बनायी जाय। भूमिवान की बची हुई भूमि उसके वारिस की मर्जी के बिना नहीं बाँटी जा सकेगी। इस भूमि-व्यवस्था के साथ खादी जोड़ी गयी। गाँव अपनी कपास उगाये, या फिलहाल रुई खरीदे, सूत काते और कपड़ा ६ अप्रैल से लागू होनेवाली मुफ्त बुनाई-योजना के अन्तर्गत बुनवा ले, अथवा खादी के किसी केन्द्र से सूत देकर कपड़ा बदल ले। अन्त में गाँव की शान्ति, सुरक्षा और सुव्यवस्था की जिम्मेदारी गाँव की अपनी शान्ति-सेना ले। इस तरह गाँव के जीवन को समृद्ध, सुव्यवस्थित, और सुरक्षित करने की शक्ति स्वयं गाँव के अन्दर से निकले।

यह योजना है गाँव को, जो अभी कुछ घरों की एक भौगोलिक इकाई मात्र है, एक 'समाज' बनाने की, और उसे साम्य की दिशा में ले जाने की, लेकिन समाजवाद और साम्यवाद दोनों के 'वादों' और उनसे पैदा होनेवाले 'विवादों' से बचाते हुए। प्रचलित समाजवाद और साम्यवाद में भयंकर राज्यवाद है पूँजीवाद का अनिवार्य अन्त फासिस्टवाद में होता है, और दलवाद तो सैनिकवाद तक पहुँचाता ही है। इसलिए जरूरत है भारत की परिस्थिति, उसकी प्रतिभा और परम्परा का ध्यान रखते हुए समाजवाद का नया भारतीय संस्करण तैयार करने की। रायपुर की योजना में ग्रामदान राज्यवाद से, गाँव की खादी पूँजीवाद से, और शान्ति-सेना सैनिकवाद से बचते हुए आगे बढ़ने का उपाय है। उसमें जनता की अर्थनीति और जनता की 'राजनीति है, सरकार या दल की नहीं। उसमें विज्ञान और लोकतंत्र दोनों का मेल है। उस समन्वित कार्यक्रम में सुरक्षा, विकास और लोकतंत्र (डिफेंस, डेवलपमेन्ट और डिमोक्रेसी) की त्रिविध समस्या के समाधान का सुनिश्चित कार्यक्रम है। इसीलिए उसे भारतीय लोकतांत्रिक क्रान्ति की त्रिमूर्ति कहा गया है। हम जरा रुककर देखें तो सही कि इस त्रिमूर्ति में हमारी आशाओं और आकांक्षाओं की झलक मिलती है या नहीं।

●

अगर समाजवाद लाना है तो उसका स्वरूप क्या हो, सोचना होगा। उसके स्वरूप की विशेषता होगी कि हर कोई समर्पण करेगा। समर्पण एक बात है और छीन लेना दूसरी बात। व्यक्ति इच्छापूर्वक समाज को समर्पण करे, समाज व्यक्ति के विकास के लिए पूरा स्वतंत्र्य दे; तब नया समाजवाद आयेगा। —विनोबा

कृषि-उत्पादन
का
कार्यक्रम

आँकड़े

करोड़ रुपये में

मद	तीसरी योजना के लक्ष्य	१९६१–६२ वास्तविक	१९६२–६३ संशोधित अनुमान	१९६३–६४ योजना	१९६१ से ६४ योगकालम	२ का प्रतिशत
१	२	३	४	५	६	७
कृषि उत्पादन	२२६ १	२१ ९	३१ ६	४५ १	९८ ६	४३ ७
छोटी सिचाई-परियोजनाएँ	१७६ ८	१९ ४	४१ १	५४ ४	१२४ १	७० ६
भू-सरक्षण	७२ ७	७ ३	१०.२	१६ ०	३३ ६	४६ ०
सहकारिता	८० १	८ ९	११ [illegible]	२६ ०	४१ ६	५१ ९
आनुमानिक कृपि कायक्रम	१२६ ०	१६ ४	१५ ५	१० २	५१ १	४० ८
बड़ी-मंझोली सिचाई-योजनाएँ	५९९ ३	६६ ०	१०२ ०	९९ ०	२९३ ०	४८ ८
योग	१२८१ ०	१७० ९	२१२ १	२५४ ७	६४२ ७	५० १

कृषि उत्पादन की प्रगति

वस्तु	इकाई	१९५५–५६	१९६०–६१	१९६१–६२	१९६२–६३	तीसरी योजना के अनुमान
१	२	३	४	५	६	७
चावल	००० टन	२७,१०६	३३,६५८	३४,२५७	३१,५१२	४५,०००
गहूँ	,,	८,६३०	१०,८१८	११,८४१	१०,९५६	१५,०००
अनाज	,,	५४,९४१	६७,२३९	६८,३१०	६६,०४१	८३ ०००
खाद्यान	,,	६५ ८१६	७९,६९१	८०,७४१	७७,५०७	१००,०००
गन्ना (गुड़)	,,	५,९७९	१०,४४७	९,९८४	९,२२८	९,९६३
रुई		३,९९८	५,३९०	४,५१२	५,३१२	७,०६५
तलहन	,,	५,६४३	६,५२०	६,८४८	६,७०६	९,८२०
पटसन	,,	४,१९८	३ ९८२	६,३४७	५,३६७	६,१८१
तम्बाकू	,	२९८	३०७	३४२	३६१	३२५
चाय	१० लाख पौंड	६२८	७०८	७८१	७५९	९००
काफी	००० टन	३४	६७	४९	५२	८०
रबड़	—	२२	२५	२६	३१	४५

औसत-सूचक अंक

वस्तु	इकाई	१९५५–५६	१९६०–६१	१९६१–६२	१९६२–६३	तीसरी योजना के अनुमान
खाद्यान्न	—	११५ ३	१३५ ६	१३७ ५	१३१ ३	१७१
अखाद्यान्न	—	११९ ९	१४७ ६	१४८ ९	१४७ ७	१८६
तमाम वस्तुएँ	—	११६ ८	१३९ ६	१४१ ४	१३६ ८	१७६

जादुई किरनों की छावँ में

रमाशान्त -

जीव का प्रकृति से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। उसके विकास की प्रक्रियाएँ बहुत हद तक आज भी प्रकृति पर आधृत है। प्रकृति का सर्वाधिक विकसित जीव मनुष्य भी प्रकृति की कितनी अपेक्षा रखता है, किसी से छिपा नहीं। जबतक वह प्राकृतिक नियमों का ठीक से पालन करता है बीमारियाँ उसके पास भूलकर भी नहीं आतीं।

लेकिन हम जब प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते हैं तो हमारा आमाशय सबसे पहले हमारी अनियमितताओं से प्रभावित होता है। आमाशय की गड़बड़ी का अर्थ होता है रोग की पूर्व सूचना। हमारे आमाशय की तुलना घर से की जा सकती है। जिस तरह घर गन्दा रहने से रोग का कारण सिद्ध होता है उसी तरह आमाशय में अगर मल और गन्दगी रह जाय तो वह भी रोग के लिए बुलावा सिद्ध होती है। अगर हमारा आमाशय ठीक रहे तो कोई रोग हमारे पास न आय। प्राय रोग की आरम्भिक दशा में हम उसकी उपेक्षा करते हैं और उसके बढ़ जाने पर डाक्टर, हकीम और वैद्य की शरण में जाते हैं और पानी की तरह पैसे को बहाते हैं।

मनुष्य भी प्रकृति का ही अंग है लेकिन जिस प्रकार अन्य जीवों को अपने स्वास्थ्य की विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती, क्या मनुष्य भी वैसे ही निश्चिन्त रह पाता है? नहीं, कदापि नहीं। वह अपने को अति विकसित मानने लगा है और उस विकास के मिथ्या दम्भ में वह प्रकृति से दूर पड़ता जा रहा है। यही कारण है कि उसे नित नये रोगों का शिकार होना पड़ रहा है।

प्रकृति हमारी माँ है और माँ ममतामयी होती है। इसलिए वह हमारे पालन-पोषण में रत्तीभर की भूल-चूक नहीं करती उचित प्रबन्ध रखती है। हमारे प्रत्येक अवयव को पुष्ट और पूर्ण विकसित होने के लिए किन-किन तत्वों की किस परिमाण में आवश्यकता है उसका पूरा-पूरा प्रबन्ध रखती है। और, यह सूर्य, जो हमारी धरती का पिता है फिर वह क्या पीछे रहे! सूर्य अपनी रंग-बिरंगी किरणों को हमारे पास भेजता है मात्र प्रकाश पहुँचाने के लिए नहीं बल्कि वे अनगिन वरदान बनकर हमारे पास आती हैं।

ये किरणें, जो देखने में उजली लगती हैं, वास्तव में सतरंगी होती हैं। इनका सतरंगापन इन्द्रधनुष में स्पष्ट उभर आता है। शिक्षक 'त्रिकोण शीशे' के प्रयोग से यह जानकारी बच्चों को दे सकता है। रंगों के गुणों की जानकारी बहुत पहले से लोगों को रही है। शरीर को झुलसानेवाली गरमी में लहलहाती हरियाली किसे शान्ति नहीं देती! तन मन को कँपा देनेवाली सरदी में आग या दूसरी लाल रंग की वस्तुएँ देखने से किसके चित्त को शान्ति नहीं मिलती!

क्या आपने कभी सोचा है कि बच्चों को लाल रंग क्यों पसन्द होता है? इसका कारण स्पष्ट है कि उनमें जीवन-शक्ति अकूत होती है जिससे वे प्राय उछलते कूदते रहते हैं। जैसे जैसे उनकी अवस्था बढ़ती जाती है उनकी यह शक्ति क्षीण होती जाती है और वृद्धावस्था में तो यह हालत हो जाती है कि सदैव लेटे रहने को जी चाहता है। इस प्रकार इस लाल रंग (जीवन-शक्ति) की कमी ही हमारे आलस्य और थकान का कारण होती है।

जब हमारे शरीर में नारंगी रंग की कमी होती है तो हमारी पाचन शक्ति जवाब देने लगती है जिगर भी कमजोर होने लगता है। हरे रंग की कमी से आँतें विशेष

रूप से प्रभावित होती है। नीले रग की कमी हमार हृदय और मस्तिष्क की शक्ति-हीनता का प्रतीक होती है।

एक अमरिकन चिकित्सक का तो यहाँ तक विश्वास है कि भविष्य में वह दिन दूर नहीं है जब विभिन्न दवाओं के स्थान पर केवल रगों से ही काम लिया जायगा और सभी रोगो का भली भाँति उपचार सम्भव हो सकेगा। डाक्टर जेठानन्द राष्ट्रवादी के शब्दों में सूय की किरणो से चिकित्सा के कुछ मूलभूत सिद्धात है। जैसे किसी को पेचिश की शिकायत ह तो इसका अर्थ है कि उसके शरीर में लाल रग की बहुतायत है और नीले रग की कमी। ऐसे रोगी के शरीर में अगर नीला रग पहुँचा दिया जाय तो शीघ्र ही वह स्वस्थ हो जायगा।

इसी तरह अगर कोई व्यक्ति सुस्त रहता है रक्त सचार ठीक ढग से नहीं होता उसके अवयव अपने कार्य उचित रूप से नही कर पाते तो निश्चय ही उसके शरीर में लाल रग की अत्यन्त कमी हो गयी है। अगर उसके शरीर में लाल रग पहुँचा दिया जाय तो वह पूर्ण स्वस्थ हो जायगा।

आरम्भ में मनुष्य रगो के प्रभाव से अपरिचित तो नहीं था लेकिन उसे यह जानकारी नही थी कि रगो के माध्यम से रोगो का निदान भी सम्भव है। उन्नीसवीं सदी में सबसे पहले कनाडा के एक डाक्टर ने रगों से उपचार की पद्धति निकाली। उसके बाद दूसर डाक्टरो ने भी उसके सफल प्रयोग किये।

एक बार पागलखाने के एक डाक्टर न सूय की किरणों का चमत्कारिक प्रयोग किया। उसने एक ऐसे पागल को चुना जो अत्यन्त उद्दत और भयानक था। उस पागल को उसन ऐसे कमर में रखा, जिसकी खिड़कियो में नीले शीशे लग थ और जिससे धूप छनकर कमर में प्रवश करती रहती थी। परिणाम यह हुआ कि उस पागल को धीरे धीर शाति मिलने लगी और कुछ ही दिनो में वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। इसी तरह के दूसर पागलो पर भी उसन प्रयोग किये और सूय की किरणों का प्रभाव सब पर समान रूप से पाया।

रगो के सम्बध म डाक्टर राष्ट्रवादी का निश्चित मत है कि आसमानी रग ठढा होता है। अगर तेल में लगभग ३०० घट तक आसमानी किरणो का प्रवश कराया जाय तो उसे विषले जीव-जन्तुओ के काटने या जली-कटी जगह पर लगा देन से शीघ्र ही आराम पहुँचता है। ये किरणें गले की तमाम बीमारियां ज्वर पेचिश, चचक, मोतीझरा तथा मुख चम रोगो के लिए रामबाण हैं। शरीर का स्नायु-जाल इनसे जाग रित हो जाता है।

लाल रग की विशेषता उसका गरम होना है। सूय की लाल किरणा से शरीर की सुस्ती, काहिली कमजोरी आदि छोटे मोटे रोगों से लेकर पेदेमा-जैसे भयकर रोग भी दूर किये जा सकते हैं। पीला रग भी गरम है और पेशाब में शुगर जान की हालत में इससे विशेष चिकित्सा सम्भव है। नीला रग ठढा और पुष्टि कर है, फेफडो के लिए लाभकर है। दमे के लिए नीली किरणो का प्रयोग वरदान है।

इनके प्रयोग का सरल ढग यह है कि रगीन शीशे को चौखटे में फिट करा लें और रोगी के जिस अग पर प्रकाश डालना अभीष्ट हो उसी को लक्ष्य कर सूय और रोगी के बीच म शीशा को रख दें। यह काय प्रतिदिन १० मिनट तक करें। शीघ्र ही रोगी को अप्रत्याशित लाभ मिलने लगगा। अगर शीशा उपलब्ध न हो तो पेडो की छाव म लेटकर सूय की किरणो का सेवन किया जा सकता है।

ऐसी गुणकारी किरणें जिन्हें हम प्रकृति प्रदत्त परिचारिका कह सकते हैं हमार दायें-बायें चारो ओर सुबह से शाम तक बिखरी रहती हैं लेकिन हम उनका कहाँतक उपयोग करते हैं किसी से छिपा नही है। हम प्रकृति की उपेक्षा करेंगे तो वह भी हमें क्षमा नही कर सकती। शिक्षक बच्चो के मन म इन किरणो के प्रति ममता पैदा करे। और, ममता पैदा कर उस ग्रामीण जीवन के प्रति, जहाँ इनका निर्बाधित रूप से भरपूर उपयोग किया जा सकता है। नगर के निवासी अधिक रोगी होत हैं? अन्य कारणों म, प्राकृतिक वरदान-स्वरूप इन किरणो से उनका सम्बन्ध विच्छेद होना भी कम महत्व नहीं रखता।

प्रात कालीन किरणो का कितना महत्व है और जैसे-जैसे सूय की किरणों में प्रखरता आती जाती है, उनका प्रभाव हमारे लिए कहाँतक गुणकारी है—आदि बातें शिक्षक के लिए सफलता का द्वार प्रशस्त करती ह। आवश्यकता है सिर्फ सजगता की।

आज समाज की स्थिति जंगल की सी है। इस स्थिति को बदलने के लिए क्या किया जाय?

जीवन जीने के लिए मनुष्य भी प्रयत्न करता है और अन्य प्राणी भी।

जैसे, शेर बकरी को मारता है और अपनी भूख मिटाता है। बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है और अपनी भूख मिटाती है। चील कबूतर पर झपटता है और अपनी भूख मिटाता है। भूख मिटाने का इन सबका एक ही तरीका है। एक डर से भागता है, खुद को बचाना चाहता है और दूसरा उस पर आक्रमण करता है, अपना पेट भरना चाहता है। यह प्रक्रिया छीना-झपटी की प्रक्रिया है। इसे जंगली कानून कहते हैं।

लेकिन, आश्चर्य की बात है कि मानव-समाज में भी यही कानून आजतक चलता आया है और बहुत हद तक, इसीलिए मानव-समाज की स्थिति जंगल-जैसी ही है।

आज का मानव शिक्षित मानव कहलाता है, लेकिन उसको आज जो शिक्षण मिल रहा है वह सही माने में शिक्षण नहीं है। वह यदि सही शिक्षण होता तो मानव-समाज में जंगली कानून नहीं चलता होता, क्योंकि शिक्षण का प्रमुख और पहला काम ही यह है कि मनुष्य को मनुष्य बनाया जाय, मनुष्य-समाज में पशुओं के कानून से भिन्न कानून प्रचलित किया जाय। आजतक के शिक्षण से यह नहीं हो पाया। अगर हमें आज की स्थिति को बदलना है और समाज की जंगल-जैसी स्थिति दूर करनी है तो हमें सबसे पहले शिक्षण को बदलना होगा। ●

—अप्पा सहस्रबुद्धे

देश और देहात की आवश्यकता के ख्याल से आज की तालीम पूरी नहीं पड़ रही है। गाँवों में अच्छी तालीम की शुरुआत करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

गाँववालों के पास पहुँचा जाय। वह गाँव ग्रामदानी हो तो और अच्छा। फिर उनसे पूछा जाय कि क्या वे वहाँ स्कूल चलाने के लिए तैयार हैं? दो घंटा स्कूल चलेगा, बाकी समय बच्चे खेत में काम करेंगे, खेलेंगे कूदेंगे, थोड़ा अभ्यास करेंगे। उनको गाना सिखाया जायगा। "नहीं करनी, नहीं करनी, सरकारी नौकरी नहीं करनी।" स्कूल के ऊपर लिखा जायेगा—"स्कूल के बच्चों को सरकारी नौकरी नहीं मिलेगी।" इस शर्त पर जो अपने बच्चे को भेजना चाहे, भेज सकता है।

स्कूल के लिए एकाध एकड़ जमीन मिले तो अच्छी बात है। उसमें बच्चे और शिक्षक काम करेंगे। शिक्षक को गाँव से, अनाज तरकारी वगैरह सामान मिलेगा और ऊपर से भी कुछ देना पड़ेगा।

खेती को कितना भी कनिष्ठ मानें, करोड़ों लोगों को खेती करनी है, क्योंकि खेती पर जीवन है। इसलिए इसके इर्द गिर्द तालीम होनी चाहिए। उसके साथ-साथ और उद्योग जोड़ दें। शिक्षा में दुनिया की कहानी विधान, स्वच्छता, गाँव की, और आस-पास की जानकारी आदि विषय रख सकते हैं। ऐसे गाँवों में, जाने के लिए जितने शिक्षक तैयार होंगे उससे ज्यादा ऐसे गाँव आज मिलेंगे। आज पाँच लाख गाँवों में से बहुत थोड़े गाँवों में सरकारी स्कूल हैं। गाँव में जाने के लिए और गाँव की पद्धति से रहने के लिए जो तैयार होगा, वह 'लक्ष्मी' चाहेगा, लेकिन पैसा नहीं चाहेगा। ऐसे शिक्षण से गाँव के लिए उत्तम तालीम की योजना हो सकती है। ●

—*विनोबा*

बालकों को संस्कारी और देशप्रेमी बनाने के लिए

उपयोगी बुनियादी साहित्य

१-१२ धर्म क्या कहता है ? ले० श्री कृष्णदत्त भट्ट

इन बारह पुस्तकों में लेखक ने विश्व के प्रमुख और प्रचलित धर्मों-जैसे, वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, पारसी, इसलाम, सिख और ताओ-कनफ्यूश आदि की सरल, संक्षिप्त और उपयोगी जानकारी देते हुए जन-मानस का ध्यान आकृष्ट किया है कि सभी धर्मों में सत्य-प्रेम-करुणा की निर्मल त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है।

नन्हें-मुन्नों से बूढ़े-बड़ों तक सबके पढ़ने योग्य। प्रत्येक का मूल्य ०.५०

शिक्षण-सम्बन्धी साहित्य

गांधीजी की 'नयी तालीम'-योजना का मकसद था कि हर बालक अपने पैरों पर खड़ा हो, सरस्वती का विनयी उपासक हो। इस दृष्टि के ये पुस्तकें शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा अन्य सभी लोगों के लिए बड़े काम की हैं—

१३. समग्र नयी तालीम—धीरेन भाई	१.२५
१४. बुनियादी शिक्षा : क्या और कैसे ? दयाल चन्द सोनी	१.२५
१५. जीवन-दृष्टि—विनोबा	१.२५

विचार-प्रेरक रचनाएँ

१६. जातिवाद और कौमवाद—श्री कृष्णदत्त भट्ट	०.५०
१७. सेवा के पुजारी—श्री कृष्णदत्त भट्ट	०.६०
१८. अकिली की कहानी—यदुनाथ थत्ते	०.६०
१९. पंचायती राज को जानिये—गुरुशरण	०.७५
२०. अणुयुग और हम—दिलीप सिंघी	०.५०
२१ हमारे युग का भस्मासुर अणुबम—सुभद्रा गांधी	०.५०
२२. पारमाणविक विभीषिका—विक्रमादित्य सिंह	०.५०

कहानी तथा नाटक

२३. देर है, अन्धेर नहीं—म० भगवानदीन	०.७५
२४. पाँव पड़े की जीत— ,,	०.७५
२५. मानस मोती—(रामचरित मानस का संक्षिप्त)	०.३०
२६. हार-जीत (नाटक)—निर्मला देशपांडे	०.३०
२७. बुद्ध देव की शरण में (नाटक),,	०.३०

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

न जीने की सुविधा, न मरने की जगह

एक आदमी था। उसे अपना घर अमंगल प्रतीत होने लगा। वह गाँव में चला गया। वहाँ उसे गन्दगी दिखाई दी तो जंगल में चला गया। जंगल में एक आम के पेड़ के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षी ने उसके सिर पर बीट कर दी।

"यह जंगल भी अमंगल है।"—ऐसा कहकर वह नदी में आ खड़ा हुआ। नदी में उसने देखा कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा रही हैं। उसे बड़ी घृणा हुई। उसने सोचा—यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहाँ मरे बिना छुटकारा नहीं है, ऐसा सोचकर वह पानी से बाहर निकला और उसने चिता जलायी।

तभी एक सज्जन आये और बोले—"भाई, यह मरने की तैयारी क्यों?"

"यह संसार अमंगल है इसलिए।"

उस सज्जन ने कहा—"तेरा यह गन्दा शरीर और चरबी आदि जलने लगेंगी तो यहाँ कितनी बदबू फैलेगी? पास में ही हम लोग रहते हैं, हम सब कहाँ जायेंगे? एक बाल के जलने से कितनी दुर्गन्ध होती है? फिर तेरी सारी चरबी जलेगी?"

वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनिया में न जीने की सुविधा है, न मरने की जगह।"

—विनोबा

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
गत मास छपी प्रतियाँ १७,००० इस मास छपी प्रतियाँ १७,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष : १२ अंक : ८

मार्च, १९६४

सरकार का अर्थ है पुरानी पीढ़ी;
क्रान्ति का अर्थ है नयी पीढ़ी;
और शिक्षक का अर्थ है—
पुरानी पीढ़ी को पुरानी समाज-रचना से नयी समाज-रचना की ओर यानी क्रान्ति की ओर ले जाने का मार्ग दिखानेवाला।

नयी तालीम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम
सर्व-सेवा-संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

अनुक्रम

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-६०

वर्ष : १२

अंक : ८

लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए शिक्षा

अब यह मान लेना चाहिए कि समाजवाद देश की चेतना में आ गया है। आज जो नहीं मान रहा है कल मान लेगा। विज्ञान और लोकतन्त्र के जमाने में पूरे समाज से कम की बात नहीं सोची जा सकती। और, जब पूरे समाज की बात सोचनी है तो समाजवाद से कम सोचा ही क्या जा सकता है? जीविका का साधन और विकास का अवसर सबको देना ही पड़ेगा। लोकतंत्र ने समता की माँग पैदा की है, और विज्ञान ने उसकी पूर्ति सम्भव बना दी है।

लेकिन, तय यह हुआ है कि समाजवाद हमें ऐसा चाहिए, जिसे जनता माने और जनना चाहे। अगर ऐसा नहीं होगा तो समाजवाद लोकतांत्रिक नहीं होगा। फिर वह समाजवाद अधिनायकवाद का कोई रूप होगा। डिक्टेटर की तलवार या सरकार के कानून के भय से कायम किया हुआ समाजवाद टिकाऊ नहीं होता। जहाँ भय गया कि भय से बना समाजवाद गया। जरूरत इस बात की है कि समाजवाद समाज की व्यवस्था तथा लोगों के चरित्र का सहज अंग बन जाय। जो समाजवाद लोक-सम्मति से बनेगा उसमें ही यह गुण होगा, दूसरे में नहीं।

लोकसम्मति लोकशिक्षण से बनती है। आज लोकशिक्षण के नाम से जो कुछ होता है वह पार्टियों या सरकार की ओर से किया गया प्रचार होता है। प्रचार में पक्षपात होता है। पक्षपात का प्रभाव भले ही फैले, लेकिन उससे बुद्धि नहीं खुलती। जरूरत है शिक्षण की, पक्षपात-भरे प्रचार से काम नहीं चलेगा।

विचार कहकर समझाया जा सकता है; लेकिन उसका अमली रूप भी हो तो समझने के साथ-साथ काम का कदम भी उठ सकता है। तब लोगों के जीवन म विचार कोरा विचार न रहकर शक्ति बन जाता है।

यह सब सोचकर विनोबाजी ने देश के सामने 'त्रिविध कार्यक्रम' रखा है। अभी शुरुआत गाँव से हुई है। पहली चीज ग्रामदान है। उसके अनुसार हर भूमिवान अपने मजदूर या और किसी भूमिहीन को अपनी जोत की जमीन में से बीघा पीछे एक बिस्वा देता है। गाँव के हर परिवार के सब बालिग मिलकर—या अगर गाँव बड़ा हो तो हर परिवार से एक प्रतिनिधि लेकर—'ग्रामसभा' बनती है। ग्रामसभा में पंचायत की तरह चुनाव नहीं होता, इसलिए पार्टीबन्दी नहीं होती। इस ग्रामसभा को हर परिवार अपनी कुल जमीन की मालिकी सौंप देता है; लेकिन जोतने बोने का कानूनी अधिकार उसे और उसके वारिसों को ही होता है। हाँ, वह जमीन को बेच या गिरवी नहीं रख सकता। उसके लिए उसे ग्रामसभा की अनुमति लेनी पड़ेगी।

ग्रामसभा ग्राममाता की तरह पूरे गाँव की रक्षा करेगी, शान्ति रखेगी, और हरेक के सुख की चिन्ता करेगी। इसके लिए हर खेतिहर अपनी खेती की उपज में से ४० सेर-पीछे एक सेर अनाज देगा; मजदूर ३० दिन म से एक दिन की मजदूरी देगा और तनख्वाह पानेवाला महीने में एक दिन की तनख्वाह देगा। कुल मिलाकर ग्रामसभा के पास एक बड़ा ग्रामकोष हो जायेगा, जिससे वह अपने सदस्यों को शादी, श्राद्ध आदि में मदद करेगी, और खेती, धंधे, शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई आदि में भी पूँजी लगा सकेगी। ग्रामदान-कानून के अनुसार ग्रामसभा को कानूनी मान्यता होगी, इसलिए उसे सरकार से मदद, कर्ज या छूट लेने का अधिकार होगा।

इसके अलावा ग्रामसभा अपने गाँव या टोले में सबसे पहले खादी का धन्धा खड़ा करेगी, जिससे गरीबों को कपड़े के लिए अनाज नहीं बेचना पड़ेगा, और किसी को कपड़े के लिए तरसना भी नहीं पड़ेगा—अपने खेत म कपास घर में सूत, और गाँव में कपड़ा—बुनकर के यहाँ बुनवाकर या खादीभंडार से बदलकर। इस तरह खादी बिना पैसे के बन जायेगी, और बुनाई पर सरकार से छूट भी मिलेगी, जो ग्रामसभा की आमदनी होगी। गाँव का ग्रामदान हो जाय गाँव में गाँव की खादी हो जाय, और गाँव गाँव में शान्तिसेना बन जाय, तो गाँव की पूरी व्यवस्था और योजना ग्रामसभा के हाथ में आ जाय। चूँकि ग्रामसभा के निर्णय सर्वसम्मति से ही होंगे, इसलिए कोई किसी को दबायेगा नहीं और सब मिलकर सबकी चिन्ता करेंगे।

यह त्रिविध कार्यक्रम समाजवाद की बुनियादी शिक्षा है। गाँव में निजी मालिकी मिटी, सामूहिक पूँजी बनी, और सामूहिक व्यवस्था कायम हुई तो समझ लीजिए समाजवाद की बुनियाद पड़ गयी। धीरे धीरे लोगों का सोचने और काम करने का ढंग भी बदल जायेगा। इस त्रिविध कार्यक्रम के समवाय में जनता का समाजवाद के लिए शिक्षण होगा और इसके द्वारा जनता समाजवाद के रास्ते पर खुद आगे बढ़ जायगी, सरकार के लिए रुकी नहीं रहेगी। यह त्रिविध कार्यक्रम समाजवाद के लिए जनता की सबसे बडी शिक्षा है।

लेकिन यह शिक्षण कौन करेगा? क्या नेता करेगा, जो अपनी सत्ता चाहता है? क्या सेठ करेगा, जो मुनाफे के सिवाय दूसरा कुछ जानता ही नहीं? या शिक्षक करेगा, जो विचार को समझता है और चाहता है कि नया समाज बने?

—राममूर्ति

शिक्षक की कसौटी

•

विनोबा

शिक्षकों को लगातार कई घंटों तक सिखाना पड़ता है। हमने भी सिखाया है, लेकिन कभी भी दो घंटे से ज्यादा नहीं सिखाया। एक घंटा सुबह और एक घंटा शाम को। कहीं-कहीं केवल 'वन टीचर' स्कूल रहते हैं, यानी चार-पाँच वर्ग और एक शिक्षक। उनमें अपेक्षा यह है कि जैसे आदिगुरु ब्रह्मदेव के चार मुख माने जाते हैं वैसे शिक्षक भी चारमुखी हों। वे चार मुख से सिखायें, लेकिन शिक्षक को तो चार मुख नहीं, इसलिए एक क्लास को कुछ गणित करने को दिया, दूसरे को इतिहास दिया, तीसरे को भूगोल दिया, ऐसा चलता है। जैसे मिल चौबीस घंटे चलती है, वैसे यंत्र की तरह शिक्षकों को पाँच-छः घंटे सिखाना पड़ता है, जिससे उनका जीवन नीरस बन जाता है।

खुली हवा में घूमना

इसलिए, मैं शिक्षकों को सलाह दूँगा कि वे हवा में थोड़ा घूमें। उससे जीवन में ताजगी आयेगी। स्वच्छ हवा मिलेगी, सुबह का निर्मल वातावरण देखने को मिलेगा, तारिका-गण देखने को मिलेंगे। शिक्षक को चार-पाँच चार मील रोज घूमना ही चाहिए। मनुष्य को आकाश से जितना ज्ञान मिलता है, उतना पुस्तकों से नहीं। जहाँ आकाश सुलभ है, वहाँ सुख है, और जहाँ आकाश दुर्लभ है, वहाँ दुःख है। भारत के ऋषियों की यह अनुभूति है, मेरा अनुभव तो है ही। आकाश से जितनी कल्पना मिल सकती है उतनी घर में नहीं मिलती। इसलिए कवि, तत्त्वज्ञानी, साहित्यिक, सबको खुले आकाश की छाया में घूमना चाहिए। आकाश के कारण दिल बड़ा बनता है और कोठरी में चारों ओर दीवार ही दीवार है, इसलिए दिल संकुचित बनता है।

अन्धकार का सेवन

शिक्षकों को जरूरी है कि वे जल्दी सो जायें। साढ़े-सात बजे या ज्यादा-से-ज्यादा आठ बजे। सोते समय घर में गहरा अँधेरा रखें। शहरवालों ने अँधेरे को भी आग लगा दी है। रात को इतने दीये जलते हैं कि भगवान ने अन्धकार पैदा किया, लेकिन देखने को नहीं मिलता। अन्धकार की शान्ति, गाम्भीर्य देखने को नहीं मिलती।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"ज्वालबो ना मोर वातायने प्रदीपखानि आमि शुनबो बसे गम्भीर वाणी।" हे भगवान! मैं खिड़की में दीप नहीं जलाऊँगा, बल्कि अन्धकार की गम्भीर वाणी सुनूँगा। भगवान की बड़ी भारी देन अन्धकार है। अन्धकार नहीं होता तो शान्ति खतम हो जाती। अन्धकार में जैसी निद्रा आती है, प्रकाश में कहाँ आती है! इसलिए अन्धकार का सेवन किया जाय। सात बजे सोया जाय और दो बजे उठा जाय। दो बजे उठ नहीं सकते हों तो तीन बजे ही सही। सात से आठ घंटे तक नींद अच्छी आनी चाहिए।

शिक्षक को चलचित्र (सिनेमा) कभी नहीं देखना चाहिए। वह आँख को पीड़ा देता है। निःस्वप्न निद्रा में बाधा नहीं पड़नी चाहिए, क्योंकि वह समाधि ही है। ऐसी समाधि मनुष्य को लगनी चाहिए। शिक्षक को तो लगनी ही चाहिए। रात को गाढ़ी नींद शिक्षक की कसौटी है।

उपनिषद में इसका वर्णन आया है। कहा है—"यथा कुमारो वा महा ब्राह्मणो वा।" ब्राह्मण यानी ज्ञानी गुरु, जिसके मन में राग-द्वेष नहीं, अपराध नहीं। जैसे छोटे बच्चे को तुरन्त गाढ़ी नींद लगती है, वैसे ब्राह्मण को भी तुरन्त गाढ़ी नींद आनी चाहिए। और फिर आगे कहा है—"महाराजो वा।" इधर शेक्सपीयर ने तो कह दिया है कि जिसके सिर पर राजमुकुट है, उसको नींद नहीं आती, हराम हो जाती है, लेकिन, उपनिषद के सामने जनक महाराज का आदर्श है। जनक महाराज मुक्त थे। उन पर प्रजा का बोझ नहीं था। इसलिए वे

शान्ति से सोते थे। और वशिष्ठ के समान ब्राह्मण का आदर्श उपनिषद के सामने है।

उत्पादक श्रम

शिक्षक को शरीरश्रम करना चाहिए और उसे पसीना बहाना चाहिए। पसीना बहाये बिना दिन निरर्थक जाता है। आजकल लोग पसीना बहाने के लिए दंड-बैठक लगाते हैं और पूछने पर कहते हैं कि व्यायाम करता हूँ। व्यायाम के लिए उठने-बैठने की क्या जरूरत?

एक बड़े विद्वान और शिक्षा-शास्त्री हमारे आश्रम में आये। मैं अपने विद्यार्थी के साथ आटा पीस रहा था। गुरु और विद्यार्थी का मिलकर काम करना आश्रम का रवैया था ही। यह देखकर विद्वान शिक्षाशास्त्री ने भाषण किया—यह 'चाइल्ड लेबर' ठीक नहीं। उनके व्याख्यान के बाद मैंने कहा—आप बड़े विद्वान हैं। आपका उपदेश हमें शिरोधार्य है। कल से हम आमने-सामने बैठकर चक्की घुमायेंगे लेकिन उसमें गेहूँ नहीं डालेंगे। गेहूँ डालेंगे तो गुलामों का श्रम हो जायेगा। मुगदर लेकर घुमाना और चक्की घुमाना दोनों एक ही तो है।

फिर मैंने कहा—भाई, कुछ उत्पादन होगा तो क्या आपको पाप लगेगा? हम लोगों ने तय ही किया है कि व्यायाम करेंगे लेकिन उत्पादक श्रम नहीं करेंगे। यह ठीक है—खेत खोदो, तरकारी लगाओ। लेकिन ये लोग खेत नहीं खोदते, अखाड़ा खोदते हैं। कुश्ती में आमने-सामने रहना पड़ता है और नाक सामने आती है तो एक दूसरे की कार्बानिक एसिड एक दूसरे को मिलती है। खुली हवा में आधा घंटा खोदें, कुछ बोयें। ऐसे घंटा भर काम करें तो जीवन में स्फूर्ति और उत्साह रहेगा।

सहधर्मिणी को ज्ञानदान

शिक्षक बीस-पच्चीस साल तक सिखाता है, लेकिन उसकी पत्नी जैसी-की-तैसी मूढ़ बनी रहती है। बच्चे की सेवा, रसोई और घर के काम के अलावा उसको और कुछ भी नहीं आता। शिक्षक के ज्ञान का उसको जरा भी स्पर्श नहीं होता। जब दोनों को सहधर्मी कहते हैं, तो दोनों का धर्म भी एक ही होना चाहिए।

शिक्षक को चाहिए कि दूसरों की तरह अपनी पत्नी को भी वह ज्ञान दे।

शिक्षक के त्रिविध कार्य

शिक्षक के कई दोष बताये जाते हैं; लेकिन मैं तो उसका एक ही मुख्य दोष मानता हूँ। और वह यह कि हमारे जन्म का जो उद्देश्य था उससे भिन्न उद्देश्य हमारे बच्चों के जन्म का है, यह वह नहीं जानता। हमारे जीवन के उद्देश्य से भिन्न उद्देश्य बच्चों के जीवन का नहीं होता तो भगवान उन्हें जन्म ही क्यों देता? वह तो कहता है कि इस पीढ़ी में सब पर जो कर्त्तव्य-बोझ था वह दूसरी पीढ़ी में नहीं रहेगा। इसलिए नयी पीढ़ी को हम अपनी आत्मा का दर्शन सिखाने के बजाय, हमारी आत्मा का दर्शन करने को कहेंगे, तो क्या होगा? हमारी मर्यादा में चलो, हमारे नीति नियमों का पालन करो, हमने जो ग्रन्थ माने हैं उनका पठन करो, ऐसा कहने से सारी सृष्टि सीमित हो जायेगी। अगर बच्चों से कहें कि हमारे अनुभवों का लाभ लेकर आगे बढ़ो तो उन पर बड़ा एहसान होगा।

अपने लिए हम ही प्रधान हैं और जो पुराने हो गये हैं वे गौण हैं। हमको उनका लाभ जरूर लेना चाहिए, लेकिन उन्होंने जो गलतियाँ की हों, वे हम फिर न करें। हमें पुरानों से सार लेना है, असार छोड़ना है और नया सार जोड़ना है। यह त्रिविध कार्य हमें करना है।

—विनोबा

हमारी पाठशालाएँ और सामाजिक भावना—२

•

मार्जरी साइक्स

शान्ति के लिए शिक्षा का अमली रूप क्या हो, यह हमें सोचना है। हम शाला में परस्पर विश्वास का वातावरण पैदा करें। आजकल अविश्वास का प्रतीक 'ताला' हम हर जगह देखते हैं। अविश्वास एक तरह से हमारी राष्ट्रीय आदत ही बन गयी है। रेल में सफर करते हुए कई बार मैंने देखा है कि छोटी-सी सन्दूकची में लोग बड़ा-सा ताला लगाकर बड़ी सुरक्षा अनुभव करते हैं। अरे, अगर आपकी सन्दूक ही कोई उठाकर ले जाय तो क्या होगा। शाला में भी इसका अनुभव आप करते होंगे। अगर बच्चों को आप डेस्क देंगे तो वे फौरन उसमें ताला लगा देंगे। पुस्तकालयों में तो ताले लगे ही रहते हैं। मैं तालों के खिलाफ कोई जिहाद नहीं बोल रही हूँ। व्यावहारिक कठिनाइयों को मैं समझती हूँ, पर हमको कहीं-न-कहीं से शुरू तो करना ही चाहिए।

मैं अपना एक अनुभव आपके सामने रखती हूँ। मैं मद्रास में नयी-नयी शिक्षिका थी। स्कूल में अच्छी लाइब्रेरी थी। मैंने सुझाया कि बच्चों को अगर घर पर पढ़ने के लिए किताबें देंगे तो उनमें पढ़ने की वृत्ति जागृत होगी, लेकिन बात सुनते ही मेरे साथियों ने कहना शुरू किया कि नहीं-नहीं, अगर किताबें बच्चों को घर के लिए देंगे तो गुम होंगी, खराब होंगी, घी-तेल के दाग उन पर वे लगा देंगे। मुझे बड़ा अजीब-सा लगा। आखिर, किताबें हैं किसलिए? क्या केवल नुमाइश के लिए?

खैर, किसी तरह मैंने अपने साथियों को किताबें देने के लिए राजी कर लिया। फिर मैंने बच्चों को पूरी तरह सारी बातें समझा दीं। उनको बताया कि किताबें सबके लिए हैं, इसलिए आपलोग इनको अच्छी-से-अच्छी तरह सँभालकर रखें। फटने या गुमने न दें। अगर किसी से गुम जाय तो वह उसके दाम लाकर दे दे, कोई दाम न दे सके तो सूचित करे, और इस प्रकार बच्चों पर पूरा विश्वास रखकर हमने उनको किताबें देना शुरू किया। सप्ताह में दो दिन बच्चों को किताबें दी जातीं।

इसका फल यह हुआ कि बिना हमारे कहे या सुझाये बच्चों ने नयी किताबों पर कागज के पुट्ठे चढ़ा लिये। सैकड़ों किताबें बच्चों को दी गयीं, पर उनमें से मात्र ३ या ४ खराब हुईं या गुमीं। जिनसे किताबें गुमीं वे हमारे कहे बिना ही किताब की कीमत हमें दे गये।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम

इसे आप अच्छी तरह समझ लें कि जीवन में हम जो देते हैं वही हम पाते हैं। अगर आप लोगों पर विश्वास करेंगे तो लोग भी आप पर और अधिक विश्वास करेंगे। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि अगर आप लोगों पर दया, सदय करेंगे तो लोग भी आपके प्रति और अधिक सदय रहेंगे। मैं एक ताजा अनुभव बताती हूँ। पिछले साल बजट-अधिवेशन के समय मिट्टी के तेल की एकदम कमी हो गयी थी। मैं कोटागिरि के जिस हिस्से में रहती हूँ वहाँ मिट्टी के तेल से ही प्रकाश और ईंधन दोनों काम लेती हूँ। अब हालत यह हुई कि आसपास के गाँवों में मिट्टी का तेल मिलना दुर्लभ हो गया। मेरे घर में मिट्टी का तेल पहले से ही था। इसी समय मुझे १० दिन के लिए बाहर जाना पड़ा। जाने से पहले मैंने अपने साथ काम करनेवाले वहीं के स्थानीय कार्यकर्ता सूजे से कहा कि देखो इस टीन में मिट्टी का तेल है, अगर दोपहर में तम काफी

या चाय पीना चाहो तो जरूर पीना। लेकिन, जब मैं वापस आयी तो मैंने देखा कि उस टीन में से एक बूंद भी तेल कम नहीं हुआ है। मैंने मुझे पर विश्वास किया और बदले में मुझे भी विश्वास ही मिला, वह भी मिट्टी के तेल की उस कठिन कमी की स्थिति में। मैंने विश्वास दिया और वही मुझे मिला भी। हम भले बड़ी-बड़ी बातें करें—स्वराज्य, सर्वोदय, जनतंत्र आदि की दुहाई दें, पर जबतक हम आपस में एक दूसरे का विश्वास नहीं करते, इनकी सिद्धि सम्भव नहीं। राष्ट्रों के बीच अविश्वास आज हम सर्वत्र ही देखते हैं।

दूसरे महायुद्ध के समय इसी अविश्वास ने एक विभीषिका ही संसार पर लाद दी। जब जापानियों को पता चला कि अमेरिका ने एक नये संहारक हथियार की शोध की है तो उसने रूस के पास खबर पहुँचायी कि हम सुलह करना चाहते हैं। रूस ने यह संदेश अमेरिका भेजा लेकिन अमेरिका अपने विरोधी रूस से प्राप्त सन्देश पर विश्वास क्यों करता? और इसके साथ ही विनाश का आविर्भाव हुआ। नागासाकी और हिरोशिमा पर अणु-बम बरसा, जिसकी यातना आज भी मानवता भुगत रही है। लाखों निरपराध मासूम लोग काल के ग्रास बने, केवल इसलिए कि एक सरकार दूसरी सरकार का विश्वास नहीं कर सकी। क्या नुकसान होता, अगर अमेरिका रूस का विश्वास कर लेता! कौन-सा खतरा हो जाता, अगर रूस के उस सन्देश को अमेरिका सत्य ही मान लेता!

आज भी शान्ति के लिए अच्छे-से-अच्छे प्रस्ताव रखे जाते हैं, पर परस्पर उन पर विश्वास नहीं किया जाता। उनका मजाक उड़ाया जाता है, उनको अस्वीकार कर दिया जाता है और कहते हैं कि ये केवल दिखावे के लिए हैं। अवश्य ही मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं हूँ, लेकिन अपनी सामान्य बुद्धि से विचार करने पर मुझे लगता है कि अगर शान्ति का कोई प्रस्ताव आया भी तो उस पर विचार करने में, चर्चा करने में कौन-सा हर्ज है? सम्भव है प्रस्ताव सच्ची भावना से ही रखा गया हो।

विनोबाजी ने एक बार अपने प्रवचन में विश्वास सम्बन्धी अपना एक अनुभव सुनाया था। उन दिनों वे काशी में रहते थे। अक्सर वे यों ही महज जानकारी के लिए चीजों के भाव पूछ लिया करते थे। एक दिन उन्होंने दुकानदार से ताला खरीदा। दुकानदार ने ताले की कीमत दस आने बतायी। विनोबाजी जानते थे कि वह ताला तीन आने का ही है, पर उन्होंने कहा—"यद्यपि इस ताले की कीमत तीन आने है, पर आप कहते हैं तो मैं दस आने दे देता हूँ।"—कहकर उन्होंने १० आने दे दिये। दुकानदार ने भी पैसे ले लिये।

विनोबाजी अक्सर उस दुकान के सामने से गुजरते थे। एक दिन जब विनोबाजी रोज की तरह उसकी दुकान के सामने से गुजरे तो उस दुकानदार ने उन्हें बुलाया और कहा—"मैंने उस दिन तुमसे ७ आने ज्यादा लिये थे, वह वापस कर रहा हूँ। वास्तव में ताला तीन आने का ही था।" अब हर विश्वास का परिणाम ऐसा ही निकलेगा, यह मानना कठिन है। कई बार नुकसान भी उठाना पड़ता है पर विश्वास करना ही हमेशा श्रेयस्कर होता है।

दीनबन्धु एण्ड्रूज के जीवन में विश्वास की ऐसी बीसों कहानियाँ हमें मिलती हैं। उनके एक साथी ने लिखा था कि एक बार मैं एण्ड्रूज के साथ रेल-यात्रा कर रहा था। जब हम स्टेशन से उतरे तो कुलियों को सामान दिया, लेकिन सामान यथा-स्थान रखने के बाद जब कुलियों को हम पैसा देने लगे तो वे कहने लगे कि ये तो महात्मा पुरुष हैं, इनकी सेवा करने का मौका हमें मिला, यही हमारा बड़ा सौभाग्य है, हम तो पैसे नहीं लेंगे। उसके बाद जब हम दोनों जलपान-गृह में गये तो वहाँ चाय और नाश्ता करने के बाद जब मैं मैनेजर को पैसे देने लगा तो उसने भी पैसे लेने से इनकार कर दिया और कहने लगा—इन महान सन्त ने हमारे यहाँ आतिथ्य ग्रहण किया, यह हमारा परम सौभाग्य है। हम इनका स्पर्श पाकर धन्य हुए, हम पैसे नहीं लेंगे। जब मैंने कहा कि पैसे वे नहीं, मैं दे रहा हूँ तो भी वे न माने। इस तरह एण्ड्रूज ने लोगों पर निरन्तर विश्वास करते-करते एक आध्यात्मिक विजय ही हासिल कर ली थी। उन्हें कई बार धोखा खाना पड़ा पर वे हमेशा सब पर विश्वास करते रहे। इस विश्वास की शक्ति से सब उनकी तरफ खिंचते थे। विश्वास की इस शक्ति का हम अपने में, अपनी शालाओं में विकास करें, यही मेरा निवेदन है। ●

नाटकी बालक और बाल-शिक्षिका

•

जुगतराम दवे

नाटक बालवाडी की आनन्दमयी प्रवृत्तियो का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है।

बालक स्वभाव से ही एक नटवर होता है। जब उसे किसी भी कारण आनन्द होता है, तो अपने उस आनन्द को वह बडो की तरह केवल मुसकराकर या हँसकर ही व्यक्त नहीं करता, बल्कि वह खड़ा होकर नाचने लग जाता है या कूदना शुरू कर देता है।

जब कड़ी गरमी के बाद अचानक पानी बरसने लगता है तो बालक का नटवर स्वरूप तुरन्त प्रकट हो जाता है। वह एकदम उठकर बाहर दौडता है, नाचता है, हाथो से और आँखो से आनन्द सूचक अनेक अभिनय करता है और मौज मे आने पर कुछ-न-कुछ गाने या राग अलापने लगता है।

जब अचानक कोई मेहमान हमारे घर आता है, हम बडे हाथ जोडते हैं, मन्द भाव से मुसकराते हैं, अथवा बहुत किया तो खडे होकर अगवानी के लिए दरवाजे तक पहुँच जाते है। लेकिन ऐसे समय बालक कैसा व्यवहार करता है? वह अपने उत्साह पर इतना अकुश रखने मे विश्वास नही करता। वह तो तरह-तरह की आवाजो के साथ दौडता, कूदता, और नाचता हुआ मेहमानो से लिपट जाता है। एक उत्तम नट की अदा से वह यह सारा अभिनय करता है। इस अभिनय के प्रकार का सारा आधार ही इस पर होगा कि आनेवाला व्यक्ति कौन है। यदि उसके अपने माता-पिता कही बाहर से लौटे होगे, तो इस अभिनय का स्वरूप एक प्रकार का होगा, और यदि कोई परिचित मेहमान आया होगा, तो बालक अपने उत्साह को दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करेगा। किसी अपरिचित व्यक्ति के आने पर अलबत्ता बालक सकुचायेगा, ताकता रहेगा अथवा कही चला जायेगा। इसे भी उसके स्वागत का ही एक प्रकार समझना चाहिए।

कुछ लोग स्वभाव से ही नाटकी होते हैं। उन्हे अपने हर्ष को एव उछाह के साथ प्रकट करने की आदत होती है। हम देखते है कि गुजरात के दूसरे प्रदेशो की तुलना में सौराष्ट्र की जनता ने इस गुण को अधिक मात्रा मे विकसित किया है। वहाँ मेहमान को देखते ही लोग उत्कटतापूर्ण उत्साह का अनुभव करते हैं। 'ओ हो हो! आप! आप कहाँ से?'' इसी प्रकार के शब्दो के साथ वे अपने आनन्द-सूचक उद्गार प्रकट करने लगते है। उठकर दौडते हैं, घर के दरवाजे के बाहर भी कुछ दूर तक दौड जाते हैं, इस बीच मुँह से भी शब्द निकलते ही रहते हैं। हाथ भी प्रसग के अनुरूप कुछ-न-कुछ अभिनय करते ही रहते हैं। अन्त में वे बडे आवेग के साथ दृढ़ आलिंगन करते हैं और जबतक मेहमान को उठाकर दो-चार डग खीच नही लाते, तब-तक उनका उछाह शान्त ही नही होता। यदि आनेवाला मेहमान भी उसी प्रदेश का हुआ और उसे भी ऐसे ही उछाह का अनुभव और अभिनय करने की आदत हुई, तो वह भी कुछ इसी तरह का अभिनय करता हुआ घर

में प्रवेश करेगा। दौड़ता हुआ आयेगा और बड़े ही कलात्मक ढंग से पैर छूयेगा और स्वयं भी उतनी ही उत्कटता से गले मिलेगा।

किन्तु, हम किसी भी देश में और किसी भी समाज में क्यो न जायें, बालक तो लगभग सभी जगहों में एक ही प्रकार का व्यवहार करते पाये जाते हैं।

हमारे समाज में बहुत उत्कटता और भारी उछाह दिखाने की आदत न होने पर भी बालक तो अपने उछाह का प्रदर्शन करेगा ही। हमारे समाज में अमुक रीति से 'जयरामजी की' या 'राम-राम' कहने की अथवा हाथ जोड़ने की प्रथा भले हो, लेकिन बालक हमारी इस प्रथा की मर्यादा में रहकर अपने उछाह को संयत करना पसन्द नही करेगा, वह अपने निराले ढंग से अपने हर्ष को प्रकट करके ही रहेगा। इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि बालक स्वभाव से ही नटवर होता है।

बालक जब बात करता है तो सिर्फ मुँह से नहीं करता। जब कुछ गाने लगता है, तो उस समय भी वह अकेले गले से नही गाता। वह आठों अगो से बात करता है और आठो अगो से गाता है। अपने हाथो की मदद से तरह-तरह का अभिनय करके अपने मन का भाव प्रकट किये बिना उसे सन्तोष नही होता। प्रसंगानुसार अपनी बात का पूरा भाव समझाने के लिए दौडकर दिखाता है, कूद पड़ता है, तरह-तरह की क्रियाओं का अभिनय करता है और जैसा मौका होता है, उसके अनुसार आँखें मटकाता और मुसकाता भी है। उस समय उसका वह अभिनय देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह कोई पक्का प्रशिक्षित नट हो। उसके उस अभिनय में कला-सौष्ठव और सुघड़ता भी पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। वह अपने व्यवहार मे बड़ो के नाट्यशास्त्र की रूढ मुद्राओं को तो व्यक्त कर ही नही सकता, लेकिन उसके इन अभिनयो मे उसकी अपनी सहज कला प्रकट हुए बिना नहीं रहती। वह प्रसग और पात्र के साथ इतना तन्मय हो जाता है कि उसके व्यवहार में नाट्य-कला सहज ही प्रकट हो जाती है। हो सकता है कि नाट्य-शास्त्र ने बाल-अध्ययन करके ही अपनी मुद्राओ और अभिनयो की रचना की हो।

जो समाज स्वभाव से गम्भीर और शान्त है, जिसके जीवन में नाटकीय तत्वों का कोई प्रवेश नही हुआ है, उस समाज में भी बालक नट क्योंकर बन जाते हैं? बाल-स्वभाव की यह एक पहेली ही है। आम तौर पर बालक बड़ो का व्यवहार देखकर तदनुसार अपने व्यवहार मे उसकी नकल करते हैं। उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी है। उनके प्रशिक्षण के लिए यह एक स्वाभाविक पाठशाला है। लेकिन जहाँतक इस नटपने का सम्बन्ध है, वे हम बड़ो को अपने अनुकरण का आदर्श मानने को तैयार नहीं होते। इस मामले में वे अपने अन्तर के उछाह के प्रति ही अधिक वफादार रहना चाहते हैं। बड़ो के नाते जब हम बैठे ही रहते हैं तब भी वे उठकर खड़े हो जाते हैं, हम सिर्फ हाथ जोड़ते हैं, तो भी वे हमसे लिपट जाते हैं। हम सिर्फ हँसते हैं, फिर भी वे तो नाचने लगते हैं।

शायद इस विषय में वे प्रौढ़ो के व्यवहार को अपना आदर्श न मानकर अपने कुछ बड़े बालको को ही अपना आदर्श मान लेते होगे। उनसे दो-चार साल पहले की पीढी के बालक कुछ-कुछ हमारे रास्ते चलकर सीधे-सच्चे बनने लगते हैं; फिर भी असभ्य रीति से अपने मनोभाव प्रकट करने के नाटकीय ढग को वे बिलकुल भूले नही होते। सम्भव है कि छोटे बालक उन्ही से अपने पाठ सीखते हो, लेकिन यहाँ उल्लेखनीय है कि वे उनकी सिधाई-सच्चाई और उनकी गहराई को स्वीकार नही करते।

असल बात यह मालूम होती है कि बालको के पास इस उम्र मे भाषा का बल बहुत ही अविकसित रहता है और सभ्यता की रीति-नीति से भी वे अपरिचित होते है, अतएव उन्हे अपने व्यवहारो के लिए भाषा के अतिरिक्त हाथ, पैर, आँख, हँसना, रोना, चिल्लाना, चीखना, नाचना, लिपटना, भागना आदि साधनों का उपयोग करना ही पड़ता है। बिना इसके अपने आपको व्यक्त करने का सन्तोष ही उन्हें नही हो पाता।

एक ओर अपने अन्तर की अधूरी अभिव्यक्ति के कारण बालक के मन में असन्तोष बना रहता है और दूसरी ओर उसकी अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओ की पूर्ति नही हो पाती। माता-पिता और बड़े-बूढ़े समझ

नहीं पाते कि बालक की जरूरतें क्या हैं और वह चाहता क्या है, अथवा कुछ समझते भी हैं, तो उलटा ही समझते हैं। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, उठने बैठने और चढ़ने-उतरने—जैसे कामों में से किसी एक में भी वह सभ्य बनकर सिर्फ जबान के आधार पर ही रहे, तो न तो उसकी कोई इच्छा पूरी हो पाये और न उसकी किसी आवश्यकता की पूर्ति ही हो सके।

ऐसी दशा में भूख लगने पर उसे कोई भोजन न दे, और जब भूख न हो तो जबरदस्ती खिला दे, जब वह बाहर जाना चाहे, लोग उसे पालने में सुला दें और जब सोना चाहे तो उठाकर बाहर कर दें, जब वह उतरना चाहे तो उसे उठा लें और जब उसे कन्धे पर चढ़कर ऊपर देखना हो तो उतार कर नीचे खड़ा कर दें। भला, इस तरह वह कैसे जी सकता है ? और कैसे अपना विकास कर सकता है ? इसलिए जीभ के अतिरिक्त शरीर की सब इन्द्रियों और सब अंगों का उपयोग करके वह अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को प्रकट करने की कला सीखता जाता है। कुदरत ही उससे उसके सब अंगों का उपयोग करा लेती है। इस प्रकार कुदरत की ताकत से जीवन की एक आवश्यकता के रूप में, बालक बचपन से ही हावभाव, अभिनय और नाटक की कला का विकास करता है। जिस तरह प्रकृति की दी हुई शक्ति के भरोसे वह अपनी शब्द-शक्ति बढ़ाता जाता है, उसी तरह प्रकृति के ही प्रताप से वह अपनी नाट्य-कला का विकास भी करता रहता है।

बाल शिक्षिका भी बालस्वरूप धारण करे

अतएव नट की कला में निपुण इन बालकों की बालवाड़ी चलाने के लिए बाल-शिक्षिका को अपने बचपन की नट-कला एक बार फिर सजीव करनी होगी। थोड़ी बहुत नट-कला तो वह अपने बचपन की याद को ताजा करके सजीव कर सकेगी। कुछ बालवाड़ी के बालकों का अवलोकन करके सीख लेगी। कुछ उत्तम बाल-शिक्षिकाओं से और बाल-स्वभाव के अभ्यासियों से सीखेगी। नाट्य-कला और नृत्य-कला के कलाधर भी उसके प्रशिक्षण में पर्याप्त योग दे सकेंगे।

परन्तु, बाल-शिक्षिका का सच्चा प्रशिक्षण तो उसके अपने अन्तःकरण द्वारा ही प्राप्त होगा। उसे यह भूल जाना होगा कि उसका अपना शरीर सौ-सवा सौ पौण्ड का है। उसे यह मानकर चलना होगा कि स्वयं तो बीस-पचीस पौण्ड की ही है। मतलब यह कि उसे अपने मन से बाल-स्वरूप धारण कर लेना होगा।

बालकों के साथ काम करते समय, फिर वे कैसे भी काम क्यों न हों, उसे अपने सब अंगों को उन्मुक्त कर देना होगा। गीत गाते-गवाते समय वह गम्भीर मुँह लेकर नहीं गायेगी। गीत के भाव और गीत के ताल के साथ उसका मुँह हँसेगा, उसकी आँखें नाचेंगी, उसके हाथ अभिनय करेंगे। चूँकि वह मन से फूल की तरह हल्की बन चुकी होगी, इसलिए वह बात-बात में खड़ी हो जायेगी और बालक की तरह नाचने भी लगेगी।

बाल-कथा कहते समय भी वह सिर्फ बैठे-बैठे पुस्तक में से पढ़कर कुछ सुना रही हो, इस तरह कथा नहीं सुनायेगी, बल्कि कथा को बहुत-कुछ नाटक का ही रूप दे देगी। जैसे, वह कथा कहती है—बकरी बहन बीच रास्ते में बैठी है और गाड़ीवाला उसे उठा रहा है। ऐसे समय बालक बनी हुई हमारी बाल-शिक्षिका स्वयं बकरी की तरह बैठ कर दिखायेगी और सिर उठाकर गाड़ीवाले के साथ बातचीत करेगी—"बकरी-बकरी किसे कहते हो ? बकरी बहन कहते नहीं बनता ?"

जब सात पूँछोंवाले चूहे की कहानी चलेगी, तो खुद चूहे की माँ बनकर खड़ी हो जायेगी और किसी बालक को सात पूँछवाला चूहा बनाकर उसे पाठशाला छोड़ने जायेगी। फिर उसकी अँगुली पकड़कर उसे पूँछ कटाने के लिए बढ़ई के घर ले जायेगी, तो चूहा बना हुआ बालक, जो स्वभाव से ही नट है, अपना काम खूबी के साथ करेगा। पूँछ कटते ही वह भी ऊँ-ऊँ-ऊँ करके रोने लगेगा और कूद-फाँद करके बिना कहे, बिना सिखाये ही अपना काम एक होशियार नट की सी अदा के साथ करने लगेगा।

इस प्रकार बालवाड़ी के प्राय सभी काम नाटक-मय वातावरण में ही चलने चाहिएँ। बच्चों को यह अनुभव हो जाना चाहिए कि बालवाड़ी उनकी अपनी

एक बाल-दुनिया ही है अन्यथा शिक्षिका कितने ही गीत क्यों न गाये और कितनी ही कहानियाँ क्यों न कहे, बालक तो यही सोचेगा कि वह एक स्कूल में आया है, शिक्षक जैसा कहे वैसा करते रहना है, जिस तरह बोलने को कहे, बोलते रहना है, जैसा गवाये, गाना है, जब तालियाँ बजवाये, बजाना है। ऐसी स्थिति में गीत की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। बाल-मण्डली किसी संगीत-शास्त्री के संगीत-वर्ग का रूप धारण कर लेती है। फिर तो ताल, सुर, ऊँची आवाज, नीची आवाज—सा-रे-ग-म-प-ध-नी सा—सभी कुछ क्रम से शुरू हो जाता है।

बच्चों को कहानी सुनाते समय उनसे कहा जाता है कि वे भले बनकर चुपचाप बैठे रहें। कहीं कोई तुकबन्दी आयी, तो सबको एक साथ गाने का आदेश दिया जाता है। कहानी में कहीं हँसी का कोई प्रसंग आया, तो वहाँ बालकों को हँसने के लिए भी कहा जाता है।

बाल-शिक्षिका मन-ही-मन परेशान होती है कि मैं इन्हें इतनी बढ़िया कहानी सुना रही हूँ नमूनेदार कहानी, जिसे सब शिक्षकों और विद्वानों ने बाल-कथा के रूप में प्रमाणित कर रखा है, फिर भी बालक इसे रस-पूर्वक सुनते क्यों नहीं और हुँकारी क्यों नहीं भरते? उसके मन में यह शंका उत्पन्न ही नहीं होती कि शायद उसकी कथा बाल-कथा ही नहीं है। उसे डर लगता है कि यदि वह उस छपी हुई कहानी के बारे में अपने मन में कोई शंका लायेगी, तो बालवाडी के क्षेत्र में नास्तिक कहलायेगी।

शिक्षिका को विश्वास रखना चाहिए कि यदि उसने सच्ची बाल-कथा पसन्द की होगी और स्वयं संकोच छोड़कर उसे पूरे अभिनय के साथ सुना रही होगी, तो निश्चय ही बालक खुशी-खुशी उसकी कहानी सुनेंगे, बीच-बीच में हुँकारी भी भरते जायेंगे, कहानी में अपनी ओर से नये-नये रंग भी जोड़ते जायेंगे, जहाँ गाने की बात आयेगी वहाँ गाने भी लगेंगे और कभी-कभी चलती कहानी में खुद खड़े होकर किसी पात्र का अभिनय भी करने लग जायेंगे।●

—अनु० काशिनाथ त्रिवेदी

दो लघु कथाएँ

एक

एक बार की बात है कि मैं काठियावाड में अपने एक मुसलमान मित्र के घर गया। जब उनसे मैं विदा लेकर जाने को हुआ, तो वे भाई मुझे विदा करने खड़े हुए। उनके साथ उनका छोटा लडका था। कुछ दूर साथ चलने के बाद मैंने उनसे कहा—"बस, अब आप लौट जाइए।" पर वे नहीं गये। उन्होंने मुझसे कहा—"महाराज, आपको विदा करने आया हूँ, सो आपके लिए नहीं आया, अपने इस बच्चे के लिए आया हूँ। इस बहाने इसे पता तो चलेगा कि मेहमानों को विदा देनी हो, तो उनके साथ कहाँतक जाना चाहिए।"

इसका नाम है बाल-शिक्षा।●

दो

*एक मुसलमान का किस्सा है। वह कांग्रेस का कार्य*कर्ता था। बड़ा होशियार और सेवाभावी। सरकार ने उसे गिरफ्तार किया और जेल में बन्द कर दिया। घर में बूढ़ी माँ थी। लोग माँ के पास पहुँचे और खबर दी कि सरकार ने तुम्हारे बेटे को जेल में बन्द कर दिया है। बुढ़िया ने बड़ी खुशी के साथ कहा—'ओ मेरे भले भाई! क्या वह मेरा बेटा था? वह खुदा की धरोहर था। जरूरत पड़ने पर काम दे, इस खयाल से मेरे घर रख छोड़ा था। मैंने उसे सँभालकर रखा था। अब खुदा को उसकी जरूरत हुई, तो वह उसे ले गया। भला मैं उसे अपने घर में रख कैसे सकती हूँ? रखने लगूँ तो यही कहा जायेगा कि मैंने किसी की धरोहर दबाकर रख ली। खुदा इस तरह की धरोहर मेरे घर और भी खूब-खूब रखे!'

बालक हमारे घरों में भगवान की धरोहर हैं। उनका लालन-पालन करना, उन्हें संस्कारी बनाना और समय आने पर उनको भगवान की या जनता की सेवा के लिए समर्पित करना माता-पिता का पवित्र कर्तव्य है।●

—रविशंकर महाराज

बुनियादी शिक्षा और सरकारी मान्यता

•

राधाकृष्ण बजाज

महिलाश्रम, वर्धा का वार्षिकोत्सव १५ फरवरी, १९६४ को केन्द्रीय सरकार की उपशिक्षामंत्री श्रीमती डा० सौन्दरम् की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। महिलाश्रम की रिपोर्ट में बताया गया कि स्वराज्य के बाद १५ वर्षों से आश्रम बराबर 'बुनियादी' और 'उत्तर बुनियादी' का शिक्षण निष्ठापूर्वक चलाता आया है। पन्द्रह साल के अनुभव से बुनियादी शिक्षा के प्रति आश्रम की निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ी है।

'उत्तर बुनियादी' उत्तीर्ण करके जो बहनें मैट्रिक तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा में गयीं, उनकी अच्छी प्रगति रही। काशी विद्यापीठ ने तो महिलाश्रम की लड़कियों के विकास से सन्तुष्ट होकर 'उत्तर बुनियादी' को 'अन्तरिम' के समकक्ष मानकर 'उत्तर बुनियादी' उत्तीर्ण बहनों को सीधे 'शास्त्री' परीक्षा में प्रवेश देना शुरू कर दिया। गोपुरी (वर्धा) में भी 'उत्तर बुनियादी' का यही अनुभव रहा। वहाँ के 'उत्तर बुनियादी' उत्तीर्ण विद्यार्थी जहाँ भी गये, पढ़ाई में आगे रहे। बुनियादी पद्धति में विद्यार्थी की समग्र-शक्ति का विकास होता है। इससे शिक्षा की बुनियाद मजबूत होती है, यह स्पष्ट है।

सरकारी मान्यता

आज शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान-प्राप्ति के बदले जीवन-निर्वाह हो रहा है। ऐसी स्थिति में सरकारी-अर्धसरकारी क्षेत्र में नौकरियों के लिए तथा विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के लिए उत्तर बुनियादी के दरवाजे जबतक बन्द रहेंगे, तबतक बुनियादी शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकती। महिलाश्रम में प्राइमरी बुनियादी की चार कक्षाएँ चलती हैं। उनको सरकारी मान्यता है, इसलिए उनमें २७० लड़कियाँ पढ़ती हैं। लेकिन, माध्यमिक बुनियादी यानी ५ वी से ८ वी तक की ४ कक्षाओं में केवल २२ छात्राएँ हैं, और उत्तर बुनियादी की तीन कक्षाओं में १० छात्राएँ, क्योंकि इनको मान्यता नहीं है।

महिलाश्रम ने अपनी रिपोर्ट में यह शिकायत की है कि सरकार बुनियादी शिक्षा को बिना मन के चलाती है, बुनियादी के विद्यार्थियों के भविष्य को अन्धकारमय रहने दिया है और उनकी चिन्ता नहीं करती। सरकार का यही रुख रहा, तो देश में आज जो थोड़ी-सी बुनियादी संस्थाएँ हैं, वे उठ जायेंगी या उनमें बुनियादी शिक्षा बन्द हो जायेगी।

बुनियादी शिक्षा आगे कैसे बढ़े ?

श्रीमती डा० सौन्दरम् ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि 'गांधीग्राम' का उनका अनुभव भी यही है कि बुनियादी के विद्यार्थी विश्वविद्यालयीन शिक्षा में तेजी से आगे बढ़ते हैं। प्रायः सभी देशों ने शिक्षा की बुनियादी पद्धति को सर्वोत्तम पद्धति माना है। सरकारी तौर पर बनायी गयी कमेटियों की भी सिफारिशें यही रही कि भारत के लिए बुनियादी शिक्षा-पद्धति ही उत्तम और उपयोगी है।

मद्रास-सरकार की एक समिति की सिफारिश थी कि हाईस्कूल बोर्ड में बुनियादी पाठ्यक्रम अलग हो और बोर्ड ही उसकी परीक्षा ले। इससे विश्वविद्यालयों में या ट्रेनिंग कोर्सेस में प्रवेश पाने में कठिनाई नहीं होगी।

डा० सौन्दरम् ने कहा कि वे जब से केन्द्रीय सरकार में उप शिक्षामंत्री हुई हैं, बुनियादी शिक्षा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रही हैं। सब लोग बुनियादी शिक्षा को

अच्छी तो मानते हैं, पर अमल में क्यों नहीं ला पाते और अपने को असहाय क्यों महसूस करते हैं, यह समझ में नहीं आता।

बुनियादी के खिलाफ एक बड़ी दलील यह दी जाती है कि उद्योग द्वारा शिक्षा देने में खर्च बहुत बढ़ जाता है। बजट के बड़े-बड़े आँकड़े सामने रखे जाते हैं, जिनको देखकर बुद्धि गुम हो जाती है। इसमें रास्ता कैसे निकाला जाय, इसके बारे में उनका चिन्तन चल रहा है। यदि वे अपने कार्यक्रम में बुनियादी शिक्षा को आगे न बढ़ा सकीं तो वे सरकार में रहना व्यर्थ समझेंगी।

डा० सौन्दरम् ने अपने भाषण में यह भी कहा कि बुनियादी विद्यालय चलानेवालों में भी निष्ठा की कमी है। जबतक उनके अपने बच्चे बुनियादी को छोड़कर अन्य पाठशालाओं में पढ़ते रहेंगे, तबतक दूसरे लोग, अपने बच्चों को बुनियादी शालाओं में क्यों भेजेंगे ? फिर भी महिलाश्रम की शिक्षा-दीक्षा का उनके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा है। ऐसी संस्था में छात्राएँ कम आयें, यह चिन्ता का विषय है।

कुछ कठिनाइयाँ

महिलाश्रम की शिकायत पर डा० सौन्दरम् ने जो जवाब दिया, उससे स्वयं उनके चित्त का समाधान नहीं था, यह स्पष्ट है। सवाल यह है कि आखिर नयी तालीम की गाड़ी अटकी कहाँ है ? कई प्रश्न सामने आते हैं—

१—क्या नयी तालीम के खर्च की व्यवस्था सरकार नहीं कर सकती ?

२—क्या विश्वविद्यालय नयी तालीम को मान्यता इसलिए नहीं देते कि वे स्वतंत्र हैं ?

३—क्या हाईस्कूल-बोर्ड बुनियादी शिक्षण का स्वतंत्र पाठ्यक्रम नहीं बना सकता ?

४—क्या बुनियादी के शिक्षक नहीं मिलते या पाठ्यपुस्तकों की कमी है ?

५—क्या उद्योग एवं परिश्रम के प्रति अवमानना की भावना आगे बढ़ने से रोकती है ?

६—क्या सरकार को बुनियादी का महत्त्व और आवश्यकता नहीं महसूस होती ?

७—क्या बुनियादी के अधिष्ठाताओं की निष्ठा इतनी कच्ची है कि वे अपनी सन्तानों को बुनियादी के लिए राजी नहीं कर सकते ?

८—क्या इम्तहान का सर्वसम्मत तरीका नहीं निकल सकता ?

दो सुझाव

उपर्युक्त कठिनाइयाँ तो हैं ही, इनके अलावे और भी कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनको नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। इन कठिनाइयों के बावजूद बुनियादी को आगे बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव विचारार्थ पेश हैं—

(१) बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र की स्पष्टता होनी चाहिए। यदि बेसिक के बाद उत्तर बुनियादी और उत्तम बुनियादी का आग्रह न रखा जाय, सारी शक्ति बुनियादी पर केन्द्रित की जाय तो दो साल 'प्री बेसिक' में और आठ साल 'बेसिक' में, इस तरह दस साल तक हमारी पद्धति से बच्चा शिक्षण पा लेता है, तो इसे फिलहाल काफी मानना चाहिए। 'बेसिक' के बाद हाईस्कूल का रास्ता खुला रहे, हाईस्कूल के शिक्षण-क्रम में बुनियादी की दृष्टि से जितना फर्क सम्भव हो, उतना कराने का प्रयत्न किया जाय।

(२) आज के जमाने के अनुरूप अँग्रेजी की सर्वोपरिता को स्वीकार करने की तैयारी हो और 'बेसिक' की ५ वीं कक्षा से अन्य हाईस्कूलों की तरह अँग्रेजी विषय की पढ़ाई शुरू करा दी जाती हो, तो 'बेसिक' में अँग्रेजी की दिक्कत नहीं जायेगी। इस प्रकार समन्वय का यदि कोई रास्ता निकाला जाय और "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडित" के न्याय से काम लिया जाय, तो गाड़ी काफी आगे बढ़ सकती है।

नयी तालीम के विकास के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार संक्षेप में पेश किये हैं। मेरी भूमिका एक सामान्य नागरिक और गृहस्थ की है। शिक्षा-क्षेत्र में मेरा कोई अधिकार या दावा नहीं है। आशा है, हमारे सभी मित्र इन सुझावों पर यथोचित विचार करेंगे और हम सबके सामने बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी जो समस्या खड़ी हुई है, उसे सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। ●

भूल कहाँ ?

भाई जी !

बड़े विचार-मन्थन के बाद लिख रहा हूँ। मेरे दिल में कई बार यह विचार उठा कि कहीं यह किसी की शिकायत तो नहीं होगी। यह विचार पब्लिक में जाना चाहिए या नहीं। इस पर मैं लिखूं या नहीं। बहुत दिना असमंजस में पड़ा रहा। लिखने में अब हाथ कँपन लगा है, अत लिखने म कष्ट भी होता है, पर जब मन नहीं माना तो आज लिखना पड़ा। सोचा, शायद औरों के मन में भी ये विचार उठते हो। अत इन पर चर्चा हो जाय, यही अच्छा। इस पर 'नयी तालीम' में चर्चा करें, और यदि यह उसमें प्रकाशित होने के योग्य न हो तो मुझे व्यक्तिगत रूप से ही इस पर अपने विचार लिख दें। बड़ी कृपा होगी।

कहा जाता है कि रचनात्मक कार्यकर्ता अपने लड़कों को बुनियादीशाला में नहीं भेजते। पता नहीं, यह बात कहाँतक ठीक है, पर मेरे विषय में तो बिलकुल नहीं। आप मानेंगे कि मेरे रचनात्मक कार्यकर्ता होने में कोई कमी नहीं। मैं बुनियादी शिक्षा में विश्वास करता हूँ और चाहता भी हूँ कि मेरा लड़का बुनियादी शाला में पढ़े। मेरा एक ही लड़का है सन्तोष कुमार सिंह, और वह हम तीन भाइयों के बीच में अकेला है। उसकी अवस्था इस समय १३ वर्ष की है। जब वह ८ वर्ष का भी नहीं था तभी मैंने उसे धीरेन्द्र भाई के यहाँ खादीग्राम भेज दिया, जो यहाँ से काफी दूर है। घरवालों तथा गाँववालों ने इसका विरोध किया कि इतने छोटे बच्चे को इतनी दूर भेजते हो। किसी ने कहा—इसकी माँ नहीं है, इसलिए तुम निर्दय हो—उसकी माँ जब वह पाँच वर्ष का था तभी मर चुकी थी—किसी ने कहा तुम बिलकुल पत्थर हृदय हो। सबने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मुझे कोसा, पर मैंने किसी की परवाह न की, और बच्चे को खादीग्राम भेज दिया। बच्चा जबतक खादीग्राम में रहा, बड़े आनन्द से रहा। उसे वहाँ काफी अच्छा लगता था। आपका तथा धीरेन्द्र भाई का सहवास उसके लिए सुखकर था।

किन्तु, दुर्भाग्य से खादीग्राम की बुनियादी शाला समाप्त हो गयी। धीरेन्द्र भाई ने नया प्रयोग शुरू कर दिया ग्रामशाला का। अत अधिकांश कार्यकर्ता आस-पास के गाँवों में चले गये और बुनियादी शाला के लड़के इधर-उधर की बुनियादीशालाओं में भेज दिये गये। मेरा बच्चा भी ८ अन्य बालकों के साथ सेवापुरी बुनियादी-शाला में भेज दिया गया। दो साल वह वहाँ भी आनन्द से रहा। तीसरे साल यानी सातवीं कक्षा में उसका मन वहाँ से उचटा। वह वहाँ से भागकर घर आ गया। मैंने पूछा—'क्यों भाग आये", तो उसने कहा—"वहाँ की पढ़ाई ठीक नहीं, सभी लड़के सरकारी पाठशालाओं में जा रहे है। मैं भी उन्हीं में पढ़ूँगा और डाक्टर बनूँगा।" मैंने पूछा—'कहाँ पढ़ोगे', तो उत्तर दिया—"जहाँ मेरे घरवाले होंगे।" चार जगहें उसने बतलायीं। उसमें उसका ननिहाल भी था। वहाँ अंग्रेजी स्कूल था। जब मैंने देखा कि वह सेवाग्राम नहीं जायेगा तो मैंने उसे उसके ननिहाल भेज दिया। लेकिन वह गत साल आठवें क्लास में वहाँ से भी भागा। चीन भारत-युद्ध शुरू हो गया था। वह मुझे लिखकर रख गया कि मैं बच्चा-पल्टन में भरती होने जा रहा हूँ। वह गया, लेकिन बच्चा-पल्टन में

भरती नहीं किया गया। अत घर लौट आया। साथ मे कुछ रुपये ले गया था। उसमें से १२५ रु० श्री गुप्ताजी (तब वे उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री थे) को रक्षाकोष म दे आया। खैर, लौटने पर मैंने उसे हरदोई क्षत्रिय इटर कालेज में भरती करा दिया। अब वह वहाँ ९ वी कक्षा मे पढता है। उसका अभी पत्र आया है। उससे पता चला है कि वह वहाँ ठीक से पढ रहा है।

आज मेरे अन्दर यह बार-बार प्रश्न उठता है कि वह बुनियादी शाला में नही पढ सका, इसमें कहाँ पर किसकी भूल रही। मेरी भूल तो इसमें बिलकुल नही मालूम होती, क्योंकि मैंने तो उसे वहाँ भेजा ही था और अब भी चाहता हूँ कि वह वही पढे। वहाँ पढने के लिए उसे बार-बार समझाया भी। धीरेन्द्र भाई का प्रयोग भी इसमें कारण हो सकता है। यदि ग्रामशाला का प्रयोग न शुरू होता और खादीग्राम की बुनियादीशाला बनी रहती तो शायद वह उसमें पढता रहता। यह बात मैंने सेवापुरी में धीरेन्द्र भाई से कही तो उन्होंने कहा—"उससे कहना, जहाँ उसकी इच्छा हो वहाँ पढे।"

सन्तोष ने अपने भागने का एक कारण और दिया था कि वह वही पढेगा, जहाँ उसके घरवाले होंगे। उसके भागने में उसका मोह भी हो सकता है। ज्यो-ज्यो उसकी उम्र बढती जाती है, हो सकता है, उसका मोह भी बढ रहा हो। लेकिन फिर वह अपने ननिहाल से क्यो भागा। वहाँ तो वह स्वय अपनी इच्छा से गया था। पर वहाँ की शिक्षा उसे पसन्द नहीं थी। कहता था—वहाँ पढ़ाई अच्छी नही। फिर उन दिनों देशभक्ति के लेख भी अखबारो में निकलते थे। शायद इसीलिए वह बच्चा-पल्टन मे भरती होने के लिए भागा। इसमें कौन-सा कारण है, यह समझ म नही आता। शकरराव देवजी से भी मैंने पूछा तो उन्होंने भी कहा कि उसे अपनी इच्छा के अनुसार पढने दो, उस पर अपने विचार न लादो। अब यदि बालक के ही ऊपर सब छोड दिया जाय तो फिर कैसे, क्या हो, यह समझ में नहीं आता। शिक्षक बन्धु इस पर पूर्णतया विचार करें, इसीलिए मैंने इसे विस्तार से लिखा। इसमें कहाँ किसकी भूल है, यह मुझे बतलाने की कृपा करें। मेरा चित्त इस विषय में काफी अशान्त है। मैं अपने अनुसार अपने लडके को नहीं बना पा रहा हूँ। यहाँ इन स्कूलों की शिक्षा मुझे बिलकुल पसन्द नही। यहाँ पढाई कुछ नही होगी, पार्टीबन्दी चलती है। लडको में आये दिन लडाई और मारपीट होती है। इस शिक्षा से बुनियादी शिक्षा को मैं लाख दर्जे अच्छा समझता हूँ, पर वही मैं अपने लडके को नही दिलवा पा रहा हूँ, इसका मुझे खेद है।

भैरव सिंह भारतीय
गणेशपुर, ज्योंता (फर्रुखाबाद)

प्रिय महाशय,

अपका पत्र मिला। आपने लिखा है कि आपने अपने बच्चे को सर्वोदय की शिक्षा देने की इतनी कोशिश की लेकिन वह आपको बतायी राह पर न चलकर अपनी ही राह गया। उस पर धीरेन भाई और मेरा भी प्रभाव नही पडा। आज वह एक हाईस्कूल में पढ रहा है। इससे आपको बहुत अधिक निराशा हुई है।

मैं आपकी स्थिति महसूस कर रहा हूँ। यह स्थिति ऐसे अनेक अभिभावको की होती है, जो अपने बच्चो को आग्रह पूर्वक अपने सोचे हुए किसी एक रास्ते पर ले जाने की कोशिश करते है। इस सम्बन्ध में एक बात यह सोचनी चाहिए कि विचार मे पिता-पुत्र की परम्परा नही होती बल्कि गुरु-शिष्य की परम्परा होती है। इस कारण पिता की अपेक्षा पुत्र से प्राय नही पूरी होती। इसके अलावा मेरा यह भी मानना है कि किसी माता पिता को पुत्र से यह अपेक्षा रखनी भी नही चाहिए कि पुत्र उसी आदर्श को माने, जिसे पिता मानता है। माता पिता को जरा सयम और विवेक से काम लेना चाहिए। उन्हें जानना चाहिए कि बच्चे का जन्म उनकी अपेक्षाएँ पूरी करने के लिए नही हुआ है। उसका अपना व्यक्तित्व अलग है और होना चाहिए। बच्चे के स्वतत्र व्यक्तित्व को अस्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। माता-पिता की ओर से आदर्श के नाम में आग्रह के प्रदमन का मेल सामतवाद से है, न कि लोकतत्र से।

आदर्शों का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। प्रायः ऐसा होता है कि माता पिता अपने अनुचित मोह या आग्रह को आदर्श का नाम देकर अपनी संतान के सामने प्रस्तुत करते हैं। कई अपने को 'क्रांतिकारी' या 'प्रगतिशील' समझनेवाले माता पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा अपने को उनकी कल्पना की क्रान्ति या प्रगति के ढाँचे में ढाले। वे माता पिता अपनी कल्पना में भावी समाज का चित्र देखते हैं, और यह कल्पना उनके लिए आत्यन्तिक निष्ठा अथवा धार्मिक कट्टरता का रूप ले लेती है। लेकिन, बच्चे को ये बातें नहीं जँचती। वह प्रचलित सभ्य समाज में ही अपने लिए स्थान प्राप्त करना चाहता है। उसे सभ्य, सुलभ जीवन आकर्षित करता है, न कि क्रान्ति का भावी जीवन। अगर ऐसी बात है तो कोई कारण नहीं कि हम बच्चे पर अपनी निष्ठा या जिद लादें। प्रचलित समाज में सम्मानपूर्ण स्थान पाने की आकांक्षा को 'पाप' मानने की जरूरत नहीं है। कई बार इस शील-मान के कारण माता पिता और बच्चे में अनावश्यक तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है।

अभी तक विज्ञान प्रामाणिकता के साथ यह नहीं बता सकता कि मनुष्य के चित्त की रचना किन तत्वों से होती है। अनेक ज्ञात-अज्ञात तत्वों से मनुष्य के चित्त की रचना होती है, और वह बराबर बदलता रहता है। आनुवंशिकता, शरीर की रचना, आयु, लालन-पालन, संगत तथा वातावरण आदि अनेक तत्वों के प्रभाव इस तरह एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं कि एक को दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि विचार, निष्ठा या आदर्श का आग्रह छोड़कर, विशुद्ध मानवीय स्तर पर 'सन्तोष' के साथ बरताव कीजिए। वह बड़ा हो गया अब उसे मित्र मानिए, और जो कुछ वह खुद करना चाहता है उसमें मददगार होइए। ऐसा रुख रखने पर आपमें और उसमें मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होगा, जिससे परस्पर समाधान मिलेगा। ●

आपका
रामपूर्ति

तोते के बच्चे

●

गिजुभाई

तोते के दो बच्चे एक पेड़ की डाल पर बैठे हुए थे। वे दोनों एक ही माँ-बाप के बच्चे थे। एक ही घोंसले में पले थे।

एक दिन बहेलिया आया और उन्हें पकड़ कर ले गया। उसने उन्हें बाजार में बेच दिया।

तोते के बच्चों में से एक सेठ के घर बिका और एक कलवार के घर। सेठ के घर में शांति थी, एकता थी, स्नेह और प्रीति थी, मान और सम्मान था। सेठ-वाला तोता सेठ की आदत सीखा। पिंजड़े में बैठा मीठी बातें बोलता, मजेदार बातें कहता। किसी के आने पर कहता—"आइए। तशरीफ़ रखिए। पानी पीजिए।" जैसा देखा वैसा सीख गया, जो देखा सो किया।

कलवार के घर गाली-गुफ्ता, लड़ाई-झगड़े, धमा-चौकड़ी हमेशा चलती रहती। उसकी पत्नी से बिलकुल नहीं पटती थी। उनमें सदा खिच खिच लगी रहती थी, इसलिए कलवारवाला कमीनापन सीखा। पिंजड़े में बैठा कड़वी बातें बोलता, गालियाँ बकता। किसी को आते देखता तो चिल्लाता—"भाग जा, भाग जा, यहाँ क्या आया है, निकल जा, दूर हट।"

जैसा देखा वैसा सीखा, जो देखा सो किया।

जरा सोचिए तो, हमारे नन्हें-मुन्ने भी क्या इसी तरह नहीं सीखते? ●

गतांक से आगे

गणित-शिक्षण की बुनियादी बाते–२

•

रुद्रमान

शिशु जब अपने पैरो पर खड़ा होना सीख लेता है तो वह आहिस्ता-आहिस्ता औरो की देखा देखी अपने नन्हें पाँव भी आगे की ओर बढ़ाना चाहता है। चलने की जो क्रिया दो-ढाई साल के बच्चे के लिए एकदम आसान चीज है वही साल सवा साल के शिशु के लिए बहुत ही कठिन। अपने नन्हे-नन्हे पाँव से एक दो डग चलना भी उसके लिए बड़ी बात होती है।

गिर गिरकर फिर उठकर वह अपने शरीर और पाँव की सन्तुलन शक्ति का विकास करता है और इस प्रकार एक दिन चलने की क्रिया उसके लिए बिलकुल आसान बन जाती है। चलने के मामले में शिशु की अगली रुकावट सीढ़ियों की शक्ल में सामने आती है। अच्छी तरह चलना जाननेवाला शिशु भी शुरू शुरू में सीढ़ियों पर नहीं चढ़ पाता। उसे बहुत सभल-सँभलकर एक एक सीढ़ी हाथ और पाँव की मदद से चढ़ना पड़ता है। जरा सी चूक होते ही वह नीचे लुढ़क पड़ता है।

शिशु जब सीढ़ी पर चढ़ना सीखता होता है उसी समय उसे कुछ-कुछ नीचे उतरने का अभ्यास भी होने लगता है लेकिन सभी पालक यह जानते हैं कि शिशु को जब कई सीढ़ियाँ चढ़ना आ जाता है उस समय भी वह नीचे की ओर बड़ी मुश्किल से एक-आध सीढ़ी ही उतर पाता है।

आगे चलकर जब सीढ़िया पर चढ़ने और उतरने का भरपूर अभ्यास हो जाता है तो खेल-खेल में बच्चे छोटी-छोटी दो-दो और कभी-कभी तीन-तीन सीढ़ियाँ एक साथ चढ़ना और उतरना शुरू कर देते है। उस समय उनके शरीर के अंग इतने पुष्ट और अभ्यासी हो चुके होते हैं कि वे सीढ़ी चढ़ने के बहाने एक प्रकार से उछलने की ही क्रिया करते है।

शिशु-जीवन के इस विवरण में गणित शिक्षण-सम्बन्धी कुछ कीमती संकेत मौजूद है—

बच्चे के चलने की क्रिया की गिनती से सीढ़ी पर चढ़ने की क्रिया की जोड़ से सीढ़ी से उतरने की क्रिया की घटाने से एक साथ कई सीढ़ी ऊपर उछलने की क्रिया की गुणा से और कई सीढ़ी नीचे उतरने की क्रिया की भाग से तुलना हो सकती है।

एक चरण में कुशलता प्राप्त होने पर जैसे अगला चरण उठाना आसान होता है और गिरने की सम्भावना कम होती है इसी तरह गणित के अभ्यास में भी होता है। जिस बच्चे को ९ तक की गिनती का भरपूर अभ्यास नहीं हो पाता उसकी बुद्धि जोड़ने घटाने में कच्ची साबित होती है। जो बच्चा जोड़ने घटाने में कच्चा रहता है वह गुणा भाग करने में भी पंगु रह जाता है।

शिशु जिस प्रकार तरह-तरह के खेलो से चलने दौड़ने उछलने और कूदने की क्रिया में आसानी से निपुणता प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार छात्र की बुद्धि भी जीवन के विभिन्न प्रसगो में गणित के अभ्यास का अवसर पाने पर सहज में ही जोड़ घटाव गुणा और भाग में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेती है।

हमारा दैनिक जीवन गणित के तरह-तरह के उपयोग और अभ्यास से भरा पड़ा है। समय की नाप, वजन की नाप, दूरी की नाप, कीमतों की नाप और न जाने कितने प्रकार की नाप-जोख प्रतिदिन हमारी आँखों के आगे होती रहती है। चूंकि बच्चों की इसमें कोई रुचि नहीं होती, इसलिए ये अवसर यों ही गुजर जाते हैं। शिक्षकगण यदि गणित की पढ़ाई को अपनी कक्षा के कुछ घंटों तक ही सीमित न रखें, बल्कि उसे विद्यार्थी की रोज-रोज की जिन्दगी के साथ जुड़ने में मदद दें तो गणित का विषय छात्र के लिए खेल-जैसा ही दिलचस्प हो जाय।

विद्यार्थी सीढ़ियाँ चढ़ते समय कई सीढ़ियाँ उछलकर चढ़ जाता है, मेल ट्रेन पर यात्रा करते समय वह देखता है कि उसकी गाड़ी कई स्टेशनों पर बिना रुके आगे निकल जाती है। उसके जीवन के इस प्रकार के प्रसंगों में कहाँ-कहाँ गणित के नियम प्रच्छन्न रूप से मौजूद हैं, इसका उसे बोध होना चाहिए। स्लेट पर लिखे जानेवाले प्रश्नों का बच्चे के वास्तविक जीवन के साथ जितना ही लगाव होगा, उसका बौद्धिक विकास उतना ही सहजता से होगा।

१	११	२१	३१	४१	५१	६१	७१	८१	९१
२	●	२२	३२	४२	५२	६२	७२	●	९२
३	१३	●	३३	४३	५३	६३	●	८३	९३
४	१४	२४	●	४४	५४	●	७४	८४	९४
५	१५	२५	३५	●	●	६५	७५	८५	९५
६	१६	२६	३६	●	●	६६	७६	८६	९६
७	१७	२७	●	४७	५७	●	७७	८७	९७
८	१८	●	३८	४८	५८	६८	●	८८	९८
९	●	२९	३९	४९	५९	६९	७९	●	९९
१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०	८०	९०	१००

बच्चे लुका छिपी का खेल खूब पसन्द करते हैं। १०० तक की गिनतियों की लुका छिपी का खेल कई ढंग से खेलाया जा सकता है। ऊपर के चार्ट में कुछ गिनतियाँ नहीं छपी हैं। बच्चे उन्हें पहचानकर उनकी जगह भरेंगे।

इसी पद्धति से जोड़, घटाव, गुणा और भाग के सवालों में से कुछ गिनतियाँ मिटाकर उनके ढूंढ़ने का खेल खेलाया जा सकता है।

प्रायः बच्चे इस बात को जानते हैं कि पैसेंजर रेलगाड़ियाँ सभी स्टेशनों पर रुकती हैं और एक्सप्रेस तथा मेलगाड़ियाँ खास-खास स्टेशनों पर ही रुकती हैं। बच्चों के इस ज्ञान को हम गुणा सिखाने में अच्छी तरह इस्तेमाल कर सकते हैं।

१	११	●	३१	४१	●	६१	७१	●	९१
२	●	२२	३२	●	५२	६२	●	८२	९२
●	१३	२३	●	४३	५३	●	७३	८३	●
४	१४	●	३४	४४	●	६४	७४	●	९४
५	●	२५	३५	●	५५	६५	●	८५	९५
●	१६	२६	●	४६	५६	●	७६	८६	●
७	१७	●	३७	७	●	६७	७७	●	९७
८	●	२८	३८	●	५८	६८	●	८८	९८
●	१९	२९	●	४९	५९	●	७९	८९	●
१०	२०	●	४०	५०	●	७०	८०	●	१००

ऊपर के चार्ट में यह संकेत है कि यदि कोई एक्सप्रेस रेलगाड़ी दो-दो स्टेशनों के बाद रुकती जाय तो वह किस-किस मुकाम पर रुकेगी। मेल रेलगाड़ी का हवाला देकर हम दस ढंग से ९ तक के पहाड़े का बोध बच्चों को सुगम रीति से करा सकते हैं।

जिस प्रकार हम दिन में कुछेक बार ही भोजन करते हैं, किन्तु पानी पीने की बार-बार जरूरत पड़ती है उसी तरह गणित के अभ्यास में लिखित गणित से कहीं अधिक जरूरत मौखिक गणित की ही पड़ती है। जिस छात्र का मौखिक गणित का अभ्यास जितना पक्का होता है, लिखित प्रश्न हल करते समय वह उतनी ही तेजी और अचूकपन का परिचय देता है।

छात्र के बौद्धिक दायरे का ध्यान रखते हुए ही हमें मौखिक गणित का अभ्यास कराना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षा के छात्रों के मौखिक अभ्यास के लिए सामान्य दो अंक तक के गुणा और भाग के प्रश्न मौजूं होते हैं। जोड़ने और घटाने के लिए तीन अंकों तक की संख्याएँ दी जा सकती हैं। ●

कोई बहारों से क्या कहे !

•

गुरुबचन सिंह

आज मैं पौधों को पानी देने के बाद दिन ढले तक, अपने छोटे से बंगले के बगीचे में घूमता रहा। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मेरे मित्र भी यहीं कहीं बगीचे के किसी कोने में बैठे कोई काम कर रहे हैं। थोड़ी देर बाद फुरसत पाकर वे मेरी ओर आयेंगे और अपनी पेशानी से पसीना पोंछते हुए कहेंगे—'यदि अँधेरा न छा जाता तो कुछ देर और यह शगल रहता।

वे एक रिटायर्ड फारेस्ट अफसर थे। काम से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात उन्हें अपने बारे में कुछ ऐसा भ्रम हो गया था, जैसे उनके जीवन की गति रुक गयी हो। चलना फिरना, सोना-जागना, यहाँतक कि खाने पीने में भी अन्तर आ गया हो। एक दिन उन्होंने कहा था—'अब मेरी साँस जल्द ही रुक जायगी। जीवन तो गति का नाम है। जिन्हें जीवित रहना है, उन्हें सदैव गतिमय रहना चाहिए। कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए।'

मैंने सोचा था—शायद सिंहजी चालीस वर्ष नौकरी कर चुकने के बाद अपनी निजी स्वतंत्रता खो बैठे हों। खूँटे से बँधा रहनेवाला बूढ़ा बैल यदि खोल दिया जाय तो घूम-फिरकर फिर अपने खूँटे के पास आ जाता है।

मैंने कहा था—शायद एक लम्बी नौकरी के बाद आपको आराम अब भाता नहीं है सिंहजी। दूसरे शब्दों में, आप आराम को भूल चुके हैं। अभी आपको चिन्ता किस बात की है। लड़का आपका कमाता है। घर में नौकर हैं, चाकर हैं। न किसी का देना, न किसी का लेना, फिर चिन्ता किस बात की। आराम से खाइए-पीइए, सोइए, और चैन के दिन काटिए। फुरसत मिले तो मेरे यहाँ आ जाया कीजिए। यों तो मैं शतरंज बहुत दिनों से छोड़ चुका हूँ। यदि आप शौक करेंगे तो दरी बिछ जाया करेगी। फिर देखियेगा, समय किस प्रकार कटता है।

वे हँस कर बोले थे—'हमारी जिन्दगी तो खुद शतरंज है भाई। समय की घटनाएँ, समय के मुहरों की चाल बदलती रहती है।'

उन्होंने ने मेरी बात का कोई असर नहीं लिया था।

मैं और सिंहजी प्रायः साँझ के समय चहलकदमी के लिए बाहर निकला करते थे। हम बातों में खोये-से टहलते-टहलते दूर नदी तक चले जाते। वहाँ एक काली-सी चट्टान पर बैठे-बैठे नदी के उस पार निहारते रहते। वह अपने जीवन के अनुभव बताते—जगलों की बातें जगलों के जीव जन्तु और वनस्पतियों की बातें। और, वे मुझे बिलकुल दार्शनिक मालूम देते। चालीस वर्षों तक जगलों की खाक छानते-छानते, मौन तपस्वियों की नाईं पेड़ों की छाया तले सोकर, जागकर उनकी मूक भाषा को अन्तर में बसाकर वे विचारक और तपस्वी बन गये थे।

एक दिन वे मुसकुराते हुए मुझसे बोले—'क्या आपने कभी जगल का राग सुना है ?'

मैंने मजाक से पूछा—'क्या यह कोई नया राग है ? इसके सुर-ताल क्या आधुनिक रागों के निकट हैं ?'

वे उसी प्रकार मुसकुराते हुए बोले—'नहीं, राग तो प्राचीन है—लेकिन जिसने पहले कभी नहीं सुना, उसके लिए अवश्य ही नया होगा। आप जानते नहीं, प्रकृति की प्रत्येक वस्तु गाती है। जो गतिमय है वह गाता है। उसकी गति से संगीत फूटता है। यह जंगल का राग भी उसी राग का एक अंश है। चांदनी रातों को जब चाँद आकाश पर निखर रहा हो और उसकी गोद से चांदनी नीचे उतर आये—तब जो हल्की-हल्की हवा के स्पर्श से पेड़ों के पत्ते गाया करते हैं—एक विचित्र राग। अब उन्हीं रागों को दिल तरसता है।'

एक दिन वे कहने लगे—'जंगलों की सैर से तो मन भर चुका है—लेकिन पेड़-पौधों और बहारों से नहीं। यह शौक मुझे पूरा करना ही होगा। अब तो बेकार बैठे मुझे नींद भी नहीं आती।'

मैंने कहा—'क्या विचार है, हम पार्क में टहलने चला करें।'

वे बोले—'नहीं—।'

और इसके तीसरे चौथे दिन, मैंने देखा—वे अपने बगीचे में फावड़ा हाथ में थामे क्यारियाँ बना रहे हैं। साथ उनके पोते-पोतियाँ भी जुटी हुई हैं। मैंने पूछा—'सिंहजी टहलने नहीं चलिएगा?'

उन्होंने कहा—'जरूर—क्या नहीं—क्या समय हो रहा है—?'

मैंने कहा—'पाँच बज चुके हैं—।'

'ओह—। पाँच कैसे बज गये, कुछ खबर ही नहीं लगी। वे फावड़ा एक तरफ रख, अन्दर बँगले में लिबास बदलने के लिए चले गये। उस दिन वे बहुत प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। जब मैंने उनके उस काम की चर्चा की तो वे कहने लगे—'बागवानी-जैसा दिलचस्प और हल्का काम और है ही क्या। फिर बूढ़ों के लिए तो यह एक बेहतरीन शगल है। देखिएगा, मैं बगीचे में एक नयी बहार ला देता हूँ या नहीं—।'

दूसरे दिन मैंने अपने बँगले से झाँक कर देखा—वे अपने काम में बड़ी तन्मयता से जुटे हुए थे। और नरसरी से आये पौधे बच्चों की मदद से रोप रहे थे।

इधर बरसात उतर आयी थी। हमारा घूमना-फिरना बहुत हदतक कम हो गया था। मैं जब भी बाहर झाँकता, उन्हें अपने बगीचे में किसी-न-किसी काम में लगे पाता। कभी क्यारियाँ बना रहे हैं, तो कभी कहीं मिट्टी डाल रहे हैं। कहीं पौधा रोप रहे हैं, तो किसी पौधे की काट-छाँट कर रहे हैं। मैं सोचता—यदि सिंहजी को बगीचों को इतना ही खूबसूरत बनाने का शौक है तो वे एक माली क्यों नहीं रख लेते।

उस वर्ष अक्तूबर के महीने, इंडिया क्लबवालों की ओर से हमारे हल्के के घरों में बगीचों का मुआइना हुआ। पहला इनाम सिंहजी को मिला। इनाम में उन्हें एक खूबसूरत छड़ी भेंट की गयी, जिसकी मूँठ हाथी के दाँत की थी।

लेकिन, मैंने उन्हें वह छड़ी लेकर टहलते हुए कभी नहीं देखा।

प्रायः बाहर जाने से पहले मुझे ही उन्हें बुलाना पड़ता था। लेकिन एक दिन मैंने ही उन्हें बेचैनी से मेरा इन्तजार करते हुए देखा। जब हम नदी किनारे टीले पर बैठे बातें कर रहे थे। वे कहने लगे—'आपको यह जानकर खुशी होगी कि मेरे बेटे की तरक्की मिली है और उसका तबादला देहरादून में हो रहा है—।'

अचानक जैसे ठंड की एक लहर ने शरीर में कँप-कँपी कर दी हो मैं चौंक सा गया—'तबादला हो रहा है'—बस मैं इतना ही कह सका।

वे मुसकुराते हुए बोले 'हाँ। बड़े दिनों की छुट्टियों में हम यहाँ से जा चुके होंगे।'

रस्मी तौर पर मैंने कहा 'लड़के की तरक्की की खबर सुनकर तो मुझे खुशी हुई" लेकिन ये जाने की बात जरा' मैं आगे कुछ नहीं बोल सका।

वे मुसकुरा दिये।

बड़े दिनों की छुट्टियों को दस-पन्द्रह दिन रह गये थे। मैंने गहरी साँस ली।

एक दिन जब टहलने के लिए बाहर निकले तो मैंने देखा—उनके हाथों में वही छड़ी थी, जो उन्हें इंडिया क्लब की ओर से इनाम में मिली थी। ज्योंही मैं उनके निकट आया उन्होंने मेरी मामूली बेंत की छड़ी अपने हाथ में लेते हुए यह सौ पच्चास की कीमती छड़ी मेरे हाथ में थमा दी। और कहा " 'यह मेरी ओर से आपको

भेंट है और मैं चाहता हूँ आप अपनी यह छडी यादगार के तौर पर मुझे दे दें।'

मैंने मुसकुराते हुए स्वीकार कर लिया।

वह हमारी चहलकदमी की अन्तिम साँझ थी। उस दिन हम बहुत सारी बाता म खोये रहे। और, काफी देर के बाद घर की ओर लौटे। जब उनके बँगले के सामने आकर रुके मैंने धीरे से कहा यह आपका बगीचा ये फलदार पेड यह सुहावना कुज जिन्हें आपने अपने हाथों से बनाया-सँवारा, उसे किसके लिए छोड़े जाते हैं ?

वे हँसकर बोले—'आपके लिए मैं तो जहाँ भी जाऊँगा, फिर ऐसा ही बगीचा बनाऊँगा, सँवारूँगा जिन्दगी तो चलते रहन का नाम है। व अपने दोनो हाथ दिखात हुए बोले 'मेर इन हाथो में अभी निर्माण की शक्ति है । मै बहुत कुछ कर सकता हूँ।

मैंने कहा—मै अपन लडके से कहकर आपके इस बँगले में आ जाऊँगा ।

'जरूर आ जाइएगा उन्होंन कहा—'और देखिएगा बगीचे की हिफाजत होती रहे। हाँ, जब फल पकने लगें तो मुझे भूल मत जाइएगा।'

'अच्छा फल आपके पास जरूर भिजवाऊँगा '— मैंने कहा। वे हाथ मिलाकर विदा हुए, जाते-जाते कहते गये—'यदि मैं जवां होता और मेरे सिर व दाढ़ी के बाल सफेद न हो गय होते तो मैं आज की सारी रात इसी बगीचे में ऊँचे स्वरो में गा-गाकर बिता देता।'

मैंने खिलखिलाकर हँस दिया।

वे चले गये। हम पुराना बँगला बदलकर इसमें आ गये। जब से वे गये है, मेरी सैर को जाने की तबीयत नहीं चाहती। जब जाता हूँ तो उनकी दी हुई छडी हाथ में लेकर। प्राय मुझे ऐसा अनुभव होने लगता है, जैसे यह छडी नही उनका एक बाजू है, जिसके सहारे आगे बढ रहा हूँ। यद्यपि वे मुझे दिखाई नहीं देते, लेकिन मेरे साथ जरूर है—? उन्हें मैंने एक कर्मठ पुरुष पाया था। जीने का मजा उनसे सीखा था। उनकी जिन्दगी में सदा बहार छायी रहे—मैं यही प्रार्थना करता हूँ—। बडे अच्छे व्यक्ति थे वे।

ग्रामीण शिक्षा

•

जी० रामचन्द्रन्

हमारे देहाती इलाको की अनेक समस्याओ म से सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा की समस्या है। इसके बिना हम गाँव की जन-शक्ति और साधन-शक्ति का उपयोग गाँवो के लिए नहीं कर सकते। कस्बो और शहरो से तो हमें अधिक-से-अधिक आंशिक नेतृत्व और ग्राम-पुनर्निर्माण की तकनीको का ही पता चल सकता है पर अन्ततोगत्वा गाँवों का उद्धार तो गाँवो को जनता द्वारा ही होगा।

नयी पीढी को सामान्य शिक्षा अच्छी तरह दी जानी चाहिए और साथ ही उन्हें ग्राम-पुनर्निर्माण के मनोविज्ञान, तकनीको और तरीको की भी ट्रेनिंग दी जानी चाहिए, जिससे वे गाँवो को सुखी, समृद्ध और स्वस्थ बना सकें। दूसरे शब्दो में सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त कृषि, ग्रामोद्योगो, सहकारिता, सफाई, पौष्टिक खाद्य, ग्रामीण इजीनियरी, प्रौढ साक्षरता और समाज सगठन का वैज्ञानिक प्रशिक्षण व्यापक आधार पर दिया जाना चाहिए।

ऐसी सामान्य शिक्षा और प्रशिक्षण गाँव के वातावरण में ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओ के सम्पर्क में रहते हुए ही अच्छी तरह दिया जा सकता है। यदि शहरो में रहनेवाले स्त्री पुरुषो को ऐसा प्रशिक्षण दिया

भी गया तब भी वे गाँवों में टिकना पसन्द नहीं करेंगे। शहर की नर्सों, डाक्टरों, स्वास्थ्य-कर्मचारियों और अध्यापकों के व्यवहार से यह बात कई बार स्पष्ट हो चुकी है।

इस तरह मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण शिक्षा में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं की भी शिक्षा दी जाये और वह भी निश्चित रूप से ग्रामीण वातावरण में ही। जब एक बार हम इसका महत्व स्वीकार कर लेते हैं तो फिर इस पर विस्तारपूर्वक और सावधानीपूर्वक आगे बढ़ा जा सकता है।

आजकल केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा संचालित उच्चतर शिक्षण के कुछेक ग्रामीण संस्थानों में ग्रामीण शिक्षा के बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग हो रहे हैं। ग्रामीण विश्वविद्यालय का विचार पहले-पहल विश्व-विद्यालय-आयोग ने दिया था, जो डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था। भारतीय विश्व विद्यालयों ने इस प्रयोग का विरोध किया। इसे तो केन्द्रीय शिक्षामन्त्री और उसके मन्त्रालय ने अत्यन्त साहस से, धैर्यपूर्वक और समझा-बुझाकर ही चलने और आगे बढ़ने का मौका प्रदान किया।

देश में ग्रामीण संस्थानों की संख्या आज २० से कम है। इन संस्थानों में जो शिक्षा दी जाती है वह वास्तविक ग्रामीण शिक्षा के दृष्टिकोण की निकटवर्ती कही जा सकती है।

बुनियादी शिक्षा प्रारम्भिक अवस्था में ग्रामीण शिक्षा का सर्वोत्तम रूप है। अच्छा प्रबन्ध न होने और सतत चेष्टा न होने के कारण बुनियादी शिक्षा के प्रयोग में बहुत सफलता नहीं मिली। इन ग्रामीण संस्थाओं में अब साधारण स्कूलों से पढ़कर आनेवाले छात्र और छात्राओं के साथ उत्तर-बुनियादी स्कूलों के छात्रों को भी भरती किया जा रहा है। यह देखा गया है कि उत्तर-बुनियादी स्कूलों में पढ़ी छात्राएँ और छात्र ग्रामीण संस्थान में ज्यादा अच्छे सिद्ध होते हैं। इससे पता चलता है कि भारत में शिक्षा-पुनर्निर्माण में बुनियादी शिक्षा कितनी अधिक महत्वपूर्ण है। ●

कुछ बातें
जिनकी
उपेक्षा नहीं की जा सकती

●

सम्पादकजी,

आज हमारी शिक्षा पूर्व और पश्चिम के मध्य असमंजस की स्थिति में पड़ी हुई है। हमारे अधिकारी, विशेषज्ञ, शिक्षाविद और नवयुवक सभी नित नयी कठिनाइयों और परिस्थियों को महसूस कर रहे हैं। लेकिन, वे कोई हल निकालने की स्थिति में नहीं हैं। प्रायोगिक रूप में अनेक नये कदम उठाये गये और उठाये जा रहे हैं, परन्तु यदि उनका मूल्यांकन किया जाय तो उनका कोई ठोस परिणाम नहीं दिखाई पड़ता।

शिक्षा की प्रकृति तीव्र गति से पश्चिम के ढाँचे में ढलती जा रही है। बाह्य रूप में प्रगति मालूम पड़ती है, परन्तु वस्तुत हम अपनी मूल और परम्परागत शिक्षा के रूप को नष्ट करते जा रहे हैं और वह खोखली होती

जा रही है। विदेशों के परीक्षणों को अपने लिए भी सत्य मानकर ज्यों का त्यों अपनाना हमारी भारी भूल है।

विदेशी प्रभाव का ही परिणाम है कि आज शिक्षा नौकरी दिलवाने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह गयी है। अब उत्तरोत्तर बढ़ती बेकारी से इसका वह मूल्य भी समाप्त होता जा रहा है। ज्ञान और व्यक्तित्व के विकास के लिए बिरला ही युवक पढ़ता होगा।

बेचारे विद्यार्थियों पर नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं। उन्हें वैज्ञानिक प्रयोगशाला के मेंढक से भी सस्ता मान लिया गया है। इसका कारण हमारे शिक्षा-संचालकों के सामने कोई निश्चित योजना का न होना ही कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शिक्षक वर्ग में भी शिक्षण के प्रति निष्ठा और लगन घटती जा रही है और असन्तोष बढ़ता जा रहा है। उनका वेतन-स्तर तो निम्न है ही, उन्हें समाज में उचित स्थान भी हमने नहीं दिया है। आज वही 'मास्टर' बनता है, जिसे कहीं और नौकरी नहीं मिलती।

पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों की भी कुछ ऐसी ही हालत है। किस कक्षा के लिए कौन-सी किताब रखी जा रही है और कैसा पाठ्यक्रम बनाया जा रहा है उसे केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से सोचा जाता है। फलतः प्रायः पाठ्यपुस्तकें स्तर के अनुरूप नहीं होतीं। पाठ्यक्रम में रखी गयी पुस्तकें संख्या में इतनी अधिक होने लगी हैं कि उन्हें ठीक-ठीक पढ़ाना किसी भी तरह सम्भव नहीं रह गया है।

साथ ही हमारी परीक्षा-पद्धति इतनी दोषपूर्ण है कि सम्भवतः शिक्षा का उद्देश्य ही लुप्त होता जा रहा है। यहाँ हम परीक्षा पद्धति के दो पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित कराना चाहते हैं—एक तो परीक्षा का तरीका और दूसरे परीक्षा का समय। साल भर की पढ़ाई के बाद अन्त में सात या आठ दिन परीक्षा के लिए दिये जाते हैं। इस अवधि में विद्यार्थियों से आशा की जाती है कि उन्हें सारी किताबें रटी हुई हों और वे उन्हें तीन घंटे के समय में उगल सकें।

परीक्षा के इस चालू तरीके के कारण पढ़नेवालों की मनोवृत्तियों में अवांछनीय परिवर्तन आ गया है। यदि उनका सर्वेक्षण किया जाय तो ९० प्रतिशत से भी अधिक विद्यार्थी परीक्षा के एक माह पहले पढ़ाई चालू करते पाये जायेंगे। पूरे साल उनमें पढ़ाई का वातावरण नहीं बन पाता है। वैसे तो गृहकार्य दिया ही कम जाता है, और जो कुछ दिया भी जाता है उसे विद्यार्थी किसी से पूरा कराकर जिम्मेवारी से अपनी जान बचा लेते हैं।

शिक्षकों को भी इतनी फुरसत कहाँ कि वे ध्यानपूर्वक गृहकार्य का निरीक्षण कर सकें। सभी जानते हैं कि शिक्षक इधर की कोर-कसर बोर्ड की परीक्षा में नकल के अवसर देकर पूरा करते हैं। परीक्षा यदि स्थानीय हैं तो पर्चे आउट कर देना बायें हाथ का खेल है। कक्षा में पढ़ाने की अपेक्षा संक्षिप्त नोट लिखवा देना आवश्यक समझा जाता है। अध्यापकों का निश्चित परीक्षाफल न होने पर उन्हें पदच्युत होने या बढ़ोत्तरी न मिलने का अस्वाभाविक भय भी उनकी मनोवृत्ति को दूषित करता है।

आम तौर पर परीक्षाएँ मार्च-अप्रैल में हुआ करती हैं। यह समय परीक्षा के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त है, क्योंकि परीक्षा के बाद ही गरमी की छुट्टी हो जाती है, जिससे पूरा ग्रीष्मावकाश बेकार चला जाता है। उस समय तक विद्यार्थियों को अगली कक्षा की पढ़ाई के लिए मार्गदर्शन नहीं मिला रहता, जिससे उनके पास कोई काम नहीं होता। जुलाई में जब वे वापस आते हैं तो पढ़ाई का वातावरण बनते-बनते दो-तीन महीने बीत जाते हैं। अतः मेरी राय में परीक्षा अक्तूबर-नवम्बर में होनी चाहिए। और, उसके बाद अधिक-से-अधिक एक सप्ताह की छुट्टी हो। फिर आगे की कक्षा का कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए। इस प्रकार गरमी की छुट्टी परीक्षा से पहले हुआ करेगी, जिससे विद्यार्थियों का यह बहुमूल्य समय व्यर्थ नहीं हो पायेगा।

—स्नेह कुमार चौधरी
उपसम्पादक 'धर्मयुग'—
दी टाइम्स आव् इंडिया,
बम्बई—१

यह तो एक सामान्य अनुभव की बात है कि बालकों की नैसर्गिक शक्तियों में, घरेलू वातावरण में और स्वास्थ्य में बहुत अन्तर होता है। इनका असर उनकी उपस्थिति, उनकी लगन, उनकी स्वाभाविक रुचि और स्कूली जीवन के प्रति उनकी भावनात्मक प्रतिक्रिया पर पड़ता है। इसलिए कक्षा के अनुसार बच्चों को विभाजित न करके उनकी जरूरतों के मुताबिक टोलियों में संगठित करने से उनका विकास स्वाभाविक ढंग से और अच्छी तरह हो सकता है। यह विश्वास जिन शिक्षकों में दृढ़ हुआ है उन्होंने नयी तालीम की पहली मंजिल पार कर ली है। इसके आगे उन्हें विभिन्न योग्यतावाले बच्चों को एक साथ शिक्षा देने के तरीकों का विकास करना होगा।

इसका प्रयोग बुनियादी ट्रेनिंग स्कूलों में ही शुरू होना चाहिए, ताकि भावी शिक्षक इसके बुनियादी सिद्धान्त और पद्धति में कुछ तैयार होकर ग्राम शालाओं में काम करने जायँ और आगे प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा इस पद्धति में विकास करते जायँ। इसलिए यह जरूरी है कि ट्रेनिंग स्कूल के साथ जो एक या अधिक प्रेक्टिसिंग स्कूल हों उनमें भी विद्यार्थियों का संगठन कक्षाओं के अनुसार न होकर टोलियों के अनुसार हो। इन टोलियों में अगर विभिन्न योग्यता के बच्चे हों तो और भी अच्छा होगा, क्योंकि उससे सिर्फ शिक्षक को मदद मिलेगी। इतना ही नहीं, इससे बड़ी बात यह है कि जो अधिक कुशल या बुद्धिमान बच्चे हैं उन्हें कमजोर बच्चों की मदद करने का अवसर मिलेगा।

आज का समाज प्रतियोगिता के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है, इसलिए ऐसा माना जाता है कि बुद्धिमान या कुशल विद्यार्थी कम योग्यतावाले विद्यार्थियों के साथ काम करें तो उनकी प्रगति में बाधा होती है। वर्तमान-शिक्षा-व्यवस्था और परीक्षा-पद्धति इसी नीति पर संगठित है कि जो योग्य है वे आगे बढ़ें और जो दुर्बल है वे पीछे रहें। नयी तालीम के द्वारा हम जिस सहयोगी समाज की रचना करना चाहते हैं, उसका आदर्श है—'सब का उदय' यानी जो बुद्धिमान हैं, वे स्वयं आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करेंगे, बल्कि अपने सब भाई-बहनों को साथ लेकर एक-साथ आगे बढ़ने के सामूहिक प्रयास में सहायता करेंगे। इसमें उनकी बुद्धि, कुशलता या शक्ति कुंठित या संकुचित नहीं होगी, बल्कि उनके विकास के लिए उन्हें एक अच्छा अवसर मिलेगा।

इसलिए नयी तालीम के शिक्षकों में यह विश्वास हो कि शिक्षा की दृष्टि से बच्चों को अगर कक्षाओं में न बाँटकर टोलियों में संगठित करें तो उनका विकास अच्छा होगा। इतना ही पर्याप्त नहीं है, इस विश्वास की बुनियाद में जो जीवन-दर्शन है उसमें भी दृढ़विश्वास चाहिए, नहीं तो यह काम नहीं हो सकेगा।

हमारे देश में या विदेश में जिन एक शिक्षकवाले स्कूलों में पुरानी पद्धति से पढ़ाई चलती है, वहाँ भी अच्छे शिक्षकों ने पाठ्यक्रम पूरा करने की पद्धति का विकास किया है। नयी तालीम की शालाओं में जहाँ सामाजिक जीवन और अन्न, वस्त्र और आश्रय से सम्बन्धित उद्योगों के द्वारा शिक्षा का काम चलता है, यह काम और आसान होना चाहिए, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। ये प्रवृत्तियाँ हरेक उम्र, और विभिन्न स्तर के विद्यार्थियों के एकसाथ मिलकर काम करने के योग्य भी हैं।

अब रही शिक्षा-पद्धति की बात। इसके लिए आवश्यक है कि सारे स्कूल को एक समग्र इकाई के रूप में देखें और संगठित करें। हम मानते हैं कि 'हिन्दुस्तानी तालीम संघ' ने कक्षावार नयी तालीम का शिक्षाक्रम प्रकाशित करके इस भावना को प्रोत्साहन दिया है कि बुनियादी शालाओं में भी शिक्षा का काम 'कक्षावार' ही चलना चाहिए। लेकिन यह शिक्षाक्रम नयी तालीम की प्रारम्भिक अवस्था में प्रचलित शिक्षा-पद्धति की भाषा और व्यवस्था को ध्यान में रखकर प्रकाशित किया गया था। इस शिक्षाक्रम के बावजूद अच्छी बुनियादी शालाओं में जो काम हुआ है वह सम्पूर्ण स्कूल को एक समाज के रूप में संगठित करके ही हुआ है।

आज वर्षों के अनुभव के बाद यह कहने का समय आया है कि नयी तालीम का सच्चा काम 'कक्षा-पद्धति' से, विद्यार्थियों के बँटवारा द्वारा नहीं, बल्कि विविध प्रवृत्तियों के एक सहयोगी समाज के रूप में संगठित करने से ही हो सकता है। ● —ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम्
सेवाग्राम, वर्धा

विज्ञान की शिक्षा

•

केनेथ एम० स्वेज़ी

घरों तथा स्कूलों में आम प्रयोग में आनेवाली सामान्य वस्तुएँ—गिलास, रस्सियाँ, रबड़ बैण्ड, सेब, छोटे गुब्बारे अथवा बिजली के पंखे—सूझबूझ के साथ एकत्र किये जाने पर, वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

सम्भव है कि प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं की सहायता से छात्र अपनी श्रेणियों में अधिक रुचि लेने लगें और उनकी सहायता से शिक्षक छात्रों को अधिक आसानी से किसी परीक्षण अथवा प्रदर्शन का निष्कर्ष समझा सकें। शायद वे अधिक जटिल एवं बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग करके छात्रों को इतनी आसानी से परीक्षणों का निष्कर्ष नहीं समझा सकेंगे।

प्रतिदिन के विज्ञान के सम्बन्ध में हमारी प्रदर्शन करने के लिए—सामान्य पत्रिकाओं, परीक्षणात्मक पुस्तकों, पाठ्यपुस्तकों तथा शिक्षण-सम्बन्धी फिल्मों के लिए—मुझे ये सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

● प्रदर्शन से एक ऐसे प्रयोग तथा अनुभव पर प्रकाश डालने में सहायता मिलनी चाहिए, जिसमें छात्र की गहरी रुचि हो। वह केवल एक ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त न हो, जिसके विषय में छात्र कुछ न जानता हो और जिसका उसको कोई व्यावहारिक प्रयोग दिखाई न पड़ता हो।

● जिसमें बिलकुल सामान्य तथा ऐसी वस्तुओं का प्रयोग किया जा सके, जिनसे सभी लोग परिचित हों।

● उसका परिणाम ऐसा होना चाहिए, जो स्वयं दिखाई पड़ सके।

● परिणाम को देखनेवाले को कुछ आश्चर्य-सा प्रतीत होना चाहिए।

● प्रदर्शन के पीछे वैज्ञानिक सिद्धान्त ठोस होना चाहिए, और वह सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए, जिसके विषय में विस्तृत चर्चा एवं परीक्षण किया जा सके।

● यह प्रदर्शन ऐसा होना चाहिए, जिसे कोई छात्र अपने, अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों के आनन्द तथा ज्ञान-वृद्धि के लिए दोहरा सके।

फिर भी, प्रत्येक प्रयोग—पूरा प्रयत्न किये जाने पर भी, इन समस्त सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। इस प्रकार का एक परीक्षण एक दो सेबों (सन्तरों, बेसबालों, टेनिस-बालों अथवा सोडे की छोटी बोतलों) द्वारा सम्पन्न किया जाता है, जो कुछ इंचों की ऊँचाई पर, एक लम्बी डोरी पर एक इंच के अन्तर से लटका दिये जाते हैं। उनके मध्य अत्यन्त तेज हवा छोड़ दीजिए और फिर देखिए—क्या होता है? वे अलग अलग उड़ेंगे। इस विषय में जानकारी न रखने वाला छात्र, यह देखकर चकित रह जायेगा कि वे आपस में टकरा रहे हैं।

अनेक वर्षों से यह प्रदर्शन एक जादू के खेल के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है।

इसी सिद्धान्त को प्रदर्शित करनेवाले दूसरे सरल प्रदर्शन के लिए केवल एक छोटे गुब्बारे, दो पेपर क्लिपों और एक बिजली के पखे की आवश्यकता है। पहले पखे का रुख ऊपर करके उसे चला दीजिए और फिर गुब्बारे को हवा में छोड दीजिए। गुब्बारे का भार तोल कर उसकी गरदन में पर्याप्त पेपर क्लिप लगा देने चाहिएँ, ताकि वह उड़कर पखे से बहुत दूर न चला जाय। यद्यपि वह गुब्बारा ऊपर तथा नीचे जायेगा, फिर भी वह हवा के झोंके को नहीं छोड सकता। इसका कारण यह है कि उसके आस-पास तेज गति से कम दबाववाली हवा चलती है। जब भी वह हवा के झोंके के किनारे पर पहुँचता है, वातावरण की शान्त और अधिक दबाव-वाली हवा उसे पीछे धकेल देती है।

अधिक सन्तोषप्रद परिणाम देखने के लिए पखे को तिरछा कर दीजिए। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तो के विपरीत, वह गुब्बारा ऊपर वायु में रुक जायेगा। वह तभी नीचे गिरेगा जब गुरुत्वाकर्षण वातावरण के ऊपरी दबाव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जायेगा।

ऐसे अनेक परीक्षण, जिनका कई पीढियों से पाठ्य-पुस्तकों में वर्णन चला आ रहा है, प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाली सामान्य वस्तुओं की सहायता से बडे ही दिलचस्प ढग से सम्पन्न किये जा सकते हैं।

रहस्यपूर्ण 'बाटल इम्प' अथवा 'कार्टेसियन डाइवर', जो ३०० वर्ष से भी पहले सामान्य लोगों को चकित करने के लिए एक खिलौने के रूप में तैयार किया गया था, इस आशय का एक अच्छा उदाहरण है। अपने पहले आकार के अनुसार (जैसा कि अब भी पाठ्यपुस्तकों में दिखाया जाता है) यह शीशे का बना हुआ एक छोटा-सा मनुष्य अथवा दैत्य है, जिसकी टाँग अथवा पूँछ में एक सूक्ष्म-सा सुराख है। वह जल से भरे हुए सिलेण्डर में तैरता है। वह एक लचीले डायफार्म द्वारा आच्छादित है। डायफार्म को दबाने से वह मनुष्य गोता लगाता है और उसको छोडने से जल के बाहर आ जाता है।

केवल रहस्य बनाये रखने की दृष्टि से वह प्रारम्भिक खिलौना बहुत सुन्दर है। किन्तु यह दर्शाने के लिए कि वायु में दबने की क्षमता है और जल में दबने की क्षमता नहीं है, हम ऐसी वस्तुओं से काम ले सकते हैं, जो प्रति-दिन कार्यों में प्रयोग में लायी जाती हैं। इस प्रदर्शन के लिए एक जल से भरी बोतल, एक ड्रापर तथा एक कार्क की आवश्यकता है। गिलास में जल लेकर ड्रापर में इतना जल भर दें कि वह तैर न सके। उसको जल से पूरी तरह भरी हुई बोतल में डाल दें और फिर एक कार्क लगा दें। यदि ड्रापर में जल की मात्रा ठीक है, तो कार्क पर थोडा-सा दबाव डाल देने से वह ड्रापर डूब जायेगा और कार्क को थोडा-सा ढीला करने पर वह जल से बाहर निकल आयेगा। इसको देख छात्र शीघ्र ही उस सिद्धान्त को समझ जायेगा, जिसके अनुसार ड्रापर पानी में डूबता तथा बाहर निकलता है।

जटिल उपकरणों की अपेक्षा परिचित वस्तुओं से यह अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित किया जा सकता है कि प्रत्येक स्थान पर हमारे चारों ओर विद्युत विद्यमान है। तथ्य यह है कि जितनी बार कोई व्यक्ति किसी वस्तु से कोई वस्तु उठाता है अथवा किसी अन्य वस्तु के विरुद्ध कोई वस्तु हटाता है उतनी ही बार विद्युत उत्पन्न होती है।

वर्षा ऋतु में, जब पृथ्वी के अधिकांश ऊपरी भाग गीले होते हैं तब यह इतनी तेजी से निकलती है कि वह दिखाई भी नहीं पडती है। फिर भी, ग्रीष्मकाल के शुष्क दिन में, यह चिनगारियों के रूप में तथा एक दूसरे से चिपकने अथवा अलग होनेवाली वस्तुओं में दिखाई पडती हैं। इसकी उपस्थिति प्रदर्शित करने का सबसे आसान तरीका यह है कि समाचारपत्र से दो लम्बी कतरनें फाड लीजिए, एक सिरे पर उनको एक साथ पकड लीजिए, और उन्हें हाथ के अगूठे तथा तर्जनी के मध्य पकड़कर कई बार मसलिए। वे कतरने उडकर दूर जा गिरेंगी। इसी प्रकार अगुलियों के सम्पर्क से बिजली उत्पन्न होने पर, वे एक दूसरे से पृथक हो जाती हैं। ●

राष्ट्रीय एकता

स्वामी आनन्द

गांधीजी ने हमें आजादी दिलायी। प्रत्येक प्रान्त का संगठन करने के काम में लीवर की तरह प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग करके उन्होंने हमारे अन्दर एक राष्ट्र का बल उत्पन्न किया और आत्मबल की ठोस ताकत के जोर से विदेशी हुकूमत को विदा होने के लिए राजी किया। भाषा के सहारे राष्ट्रीय एकता सिद्ध करने की गांधीजी की उसी कला को हमने इतना बिलोया और इतना विकृत किया कि उसमें से प्रान्तवाद का विष प्रकट हो गया। इस तरह बारह भाइयों के तेरह चौके खड़े करके हमने एक ही देश में पन्द्रह पाकिस्तान पैदा कर लिये। ये पन्द्रह अब बीस होने जा रहे हैं और पच्चीस भी हो जायें, तो आश्चर्य नहीं।

हमारे लाडले देश-नेता नेहरूजी हमारे द्वारा स्थापित राज्यतंत्र को आज की दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहने से कभी थकते नहीं; किन्तु संविधान के बाहर कौमों, जातियों और जमातों के भेदों को हमने अपने बीच से किस हद तक मिटाया है? मुल्की और लश्करी भरती के फार्मों में अथवा साम्प्रदायिक दंगों की खबरों में सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख न करने की जो मनाही अखबारवालों के लिए कर रखी है, उसके अलावा हमने इस दिशा में कितनी तरक्की की है? कश्मीर से कन्या-कुमारी और द्वारका से डिब्रूगढ़ तक बसे हुए भारतीय समाज के जीवन में से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, सिक्ख, बंगाली, मद्रासी अथवा मारवाड़ी के भेद को हमने किस हद तक मिटाया? स्वतंत्र भारत के समस्त नागरिकों के किसी भी सार्वजनिक व्यवहार और बरताव में एक ही कानून और उसका एक-सा अमल लागू करने की तथा धर्म, कौम, पन्थ अथवा फिरके के भेदों को भूलने और मिटाने की ताकत हममें है?

हम उठते-बैठते अपने जिस लोकतंत्र की दुहाई देते रहते हैं, उसी लोकतंत्र के अन्तर्गत हम अपने यहाँ नागरिकों के बीच कैसे-कैसे बेहूदा भेदों को बेफिक्री से बरदाश्त करते रहते हैं? हिन्दू के लिए एक कानून, मुसलमान के लिए दूसरा, फौज में काम करनेवालों के लिए तीसरा, शहर में रहनेवालों के लिए चौथा, कंटोनमेंटवालों के लिए पाँचवाँ और अलग-अलग सम्प्रदायों के विवाह, विरासत, वसीयत, वक्फ और दान-धर्म के लिए छठा। प्रत्येक प्रान्त में बसे हुए अन्य प्रान्तवासियों के अथवा अन्य जातियों के बालकों को पढ़ाने की भाषा के बारे में एक अलग कानून, फौजियों, टूरिस्टों, विदेशी दूतावासों अथवा हवाई जहाज के अड्डों के लिए शराब पीने का कायदा अलग, अमुक रास्ता या स्थानों पर बाजे बजाने का कायदा अलग!—शिवजी की इस बड़ी बरात के बीच मजाल है नेहरूजी की या किसी और की भी कि वह भीन का मेद करा सके?

वैसे, आसेतुहिमाचल हमारा देश एक है, जनता एक है, किन्तु एक भाषा, एक लिपि, एक झण्डा, एक पंचांग, एक संवत्सर आदि राष्ट्रीयता के सर्वस्वीकृत लक्षणों को

अपनाने की ताकत हममें नहीं है। हमें तो आधे दर्जन मवतार पचास और दर्जनभर लिपियाँ तथा भाषाएँ कायम रखनी है। उनके साहित्य, लिपन और लिपियों को भी उतनी लगन और आग्रह के साथ बनाये रखना है। उनका सगोपन-मवर्द्धन करके उन्हें विकसित भी करना है। तिस पर इन सब भाषाओं की सास-सी अंग्रेजी भाषा का राजसी ठाठ और रोब-दाब राष्ट्रीय सरकार से लेकर प्राथमिक पाठशाला के पाठक तक सबके लिए अनिवार्य है और इसके बावजूद हम एक ही राष्ट्र और एक ही प्रजा के 'वन नेशन' के अपने दावे को भी उतने ही जोर से कायम रखना है।

इस सारे ब्रह्म घोटाले में से—इस 'खदबद-खिचड़ी' में से—एक ही अविभाज्य राष्ट्रीय मानस का और एकता तथा दृढ़ता का विकास होने के बदले महाराष्ट्र-संस्कृति, बंगाली-संस्कृति, सिक्ख संस्कृति, पंजाबी सूबा, आमची मुम्बई,' द्रविड कलगम, भगवा झण्डा,—आदि-आदि का ही विकास न हो, तो और क्या हो? ऐसी दशा में हमारे मुँह से निकलनेवाली राष्ट्रीय एकता की बात अद्वैत वेदान्त के समान खोखली ही न होगी?

हम रोज सबेरे उठकर अपने घर के बालकों को 'जन-गण-मन' रटाते है और पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड आदि की राष्ट्रीय एकता की स्तुति करना सिखाते हैं किन्तु दूसरी तरफ उन्हीं बालकों की उपस्थिति में सुबह से शाम तक जात-पाँत भाटिया लुहाणा, नागर-कायस्थ, 'यह हमसे से नहीं है, वह हमारी जात का है,' 'पड़ोसी की लडकी का व्याह दूसरी जात में हुआ है' आदि आदि बातें ही कहते-सुनते रहते है।

सवेरे उठकर 'दैनिक पत्र' पढते हैं, तो उसमें भी जिन्दों की तो बात ही क्या,मृत लोगों की उत्तर क्रिया की खबरों में भी 'हिन्दू मौत, 'पारसी मौत 'हालाई-घोघारी मौत', 'भाटिया मौत' और 'खोजा मौत' की खबरें पढने को मिलती हैं। इसी तरह विवाह की खबरों मे देखिए—'आवश्यकता है, स्थानकवासी कच्छी ओसवाल कन्या की,' 'उनेवाल इंजीनियर युवक के लिए जाति की ही बी ए पास सुन्दर कन्या की,' फिर देखिए— दशा श्रीमाली बोर्डिंग,' 'औदिच्य विद्यार्थी-गृह', 'कपोल सेने टोरियम,', लुहाणा हितेच्छु, मासिक,' 'प्रबुद्ध जैन पाक्षिक,' आदि-आदि। समाचार पत्रों में और पढ़िए—उच्च शिक्षा के लिए विदेश जानेवाले सद्भावना युवक का जाति की ओर से होनेवाला सम्मान-समारोह,' 'हमारा दानवीर सेठ 'अमुक' का जाति की सेवा के लिए दिया गया महान दान', 'बोहरा समाज के धर्मगुरु का सम्मान-समारोह,' 'इस्माइली खोजा जमात से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों की प्रस्तावित चर्चा,' 'मुखबिर ए-इस्लाम का खास स्तम्भ'!!!

हमारे लोकतन्त्र ने जात-पाँत, ऊँच-नीच और पन्थ-सम्प्रदाय से ऊपर उठकर चारों वर्णों और चौरासी जातियों के लोगों को, ब्राह्मण-भंगी, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष सबको वोट का अधिकार दिया, लेकिन इस वोट की अपेक्षा रखनेवाले उम्मीदवारों को अथवा उनके एजण्टों को देखिए। आपको यही देखने को मिलेगा कि वे जात-पाँत के घेरे में असर रखनेवाले अथवा वोट की शक्तिवाले लोगों की ही खोज में घूम रहे हैं और उन-उन जातों अथवा बिरादरियों के मुखिया और पटेलों के दरवाजों पर चक्कर काट रहे हैं। नौकरियों में, शिक्षा-संस्थाओं में, लोकतंत्र के कलेजे की कोर-जैसी विधान सभाओं में, मन्त्रि-मण्डलों मे, कमेटियों की रचना में, सरकारी नौक-रियों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का और उनके प्रतिशत का ख्याल तक न करते हुए हम अपना कितना व्यवहार चला पाते हैं? है किसी में कहने की हिम्मत कि 'यह लोकतन्त्र है, सम्प्रदायों का अजायबघर नहीं,' जो कोई ऐसा कहने की हिम्मत करेगा, दूसरे ही दिन उसका टाट उलट जायगा।

हम भेदभाव मे और अलगाव में गले गले तक डूबे हुए हैं। सच्चा लोकतन्त्र कुएँ में हो, तभी न हौज में आये। स्वतन्त्रता के बाद देश में प्रान्तवाद दूने जोर से फैला है और जात पाँत में नयी वृद्धि हुई है। आज दिल्ली, कलकत्ता कानपुर और जयपुर-जैसे शहरों में 'महाराष्ट्र-भवन,' 'गुजराती समाज भवन,' तथा आन्ध्र केरल आदि राज्यों के राजदरबार भवन खड़े हो रहे हैं, जहाँ प्रत्येक प्रान्त के लोग अपनी-अपनी जात-जमात के लोगों के बीच आते जाते और रहते ठहरते है!

राजनीतिक क्षेत्र की बात तो जितनी कम करें, उतनी ही भली। समूचे देश क राजनीतिक 'तरी-मेरी' के मारे परेशान है। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, धर्म, शिक्षा, साहित्य, कला आदि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आज भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी, वसीलेबाजी और भाई-भतीजावाद की दुर्गन्ध से दूषित हो उठा है। राजकाजी लोग राजनीति का शतरंज खलें और गँवार, अनाडी-अदनें लोग आदर्शवाद की माला जपें, एसा लगता है मानो आज के सत्ताधारी राजनीतिज्ञ का यही एक ध्यान-मंत्र बन चुका है।

राजनीतिक पक्ष ही नही, खादी-ग्रामोद्योग, नयी तालीम, भूदान, सर्वोदय और रचनात्मक कार्यों में लगे हुए लोगो में से भी अधिकांश अस्ताचल को पहुँचकर लोकमानस में से लुप्त विलुप्त होकर भूतकाल क खात म जमा हो चुके हैं, अथवा वे भी अपने-अपन अलग दायरे घेरे और जात बिरादरी खडी करके सत्ताधारी पक्ष के साथ, अपने नाते रिश्ते के बल पर राज्याश्रय प्राप्त करके हारे-थके आश्रिता का-सा दीन मलिन और निस्तेज जीवन बिता रहे हैं। एक बार कही किसी ने इस आशय की बात कही थी कि ये सब मायकेवालो के माथे लदी हुई गाधीजी की विधवा बेटियाँ हैं।

जातियाँ बढ़ीं, बिरादरियाँ बढ़ीं, भेद बढे, भाव बढे, कर्ज बढा, काला बाजार बढा। पहाडो जगलो के बीच बसे पच्चीस-पचास की छोटी-सी बस्तीवाले गाँव का दुकानदार भी काला बाजार करना सीख गया। आज तो स्वतन्त्रता के और लोकशाही के पद्रह वर्ष बीत चुकने पर भी देश के लाखा गाँवा और बस्तियो में रहनवाले लोग अपने मवशिया क साथ एक ही गन्दे पोखर का पानी पीते है। करोडा-करोड कीडा-मकोडा की तरह जी रहे है। ब हिसाब बढनेवाले करो और अजब-गजब की मँहगाई के कारण लागो को सन्तप्त आत्मा लम्बी और गरम उसाँसें ले रही है। यह है हमारे लोकतन्त्र की वेशभूषा! और ऐसी ही है हमारी स्वतन्त्रता की शक्ल-सूरत!

चाहे लोकतन्त्र हो, चाहे राजतन्त्र हो, चाहे ताना-शाही हो, अपने इस देश की धरती पर तन्त्र, सगठन, मस्था, मण्डल आदि जो कुछ भी आप खडा करेंगे, अथवा लाकर लगायेंगे—वह सब जात-पाँत, कौम, पन्थ अथवा फिरके में ही बदल जायेगा। इस प्रकार के दायरो और घेरा के बाहर से खुले मैदान म जीना हमने कभी सीखा ही नहीं। जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेदो क विरुद्ध जिन्होंने जीवनभर घनघोर युद्ध चलाया, उन विद्रोही सुधारको के शिरोमणि-स्वरूप कबीर के आज क उत्तराधिकारी अपने मठो या मन्दिरो में एक रात का 'रैन बसेरा' चाहनवाला से यह पूछ बिना नही रह पात कि तुम कौन दूध हो अर्थात तुम किस जात बिरादरी के हो?

यदि कबीर के काल को पुराना माना जाय, तो आधुनिक काल के भी राममोहन राय से लेकर दयानन्द, रामकृष्ण विवेकानन्द टैगोर, गाधी और विनोबा तक व सब लोगा का हमारा कोठा हजम कर चुका है और आज भी जैसा-का-तैसा विष घट बना हुआ है।

गाधीजी कहा करते थे कि यदि देश म अस्पृश्यता रही तो हिन्दुओ का नाश निश्चित है। स्पष्ट ही अस्पृश्यता शब्द से गाधीजी का आशय जात-पाँत, ऊँच-नीच के जन्मगत अधिकारवाद का और मशरूवाला द्वारा वर्णित हिन्दुओं की छुआछूत की वृत्ति का ही था।

जबतक अपने पेट में पडे इस विष को हम निकाल बाहर नही करते, तबतक हमारा उद्धार सम्भव नही। चाहे धीमा आत्मघात कहिए, अथवा तूफानी चालवाली बाढ कहिए, मौत हमें ग्रसने को बढी चली आ रही है। उसके और हमारे बीच का अन्तर प्रति क्षण घट रहा है। हम अपनी जान लेकर कितना ही क्यों न भागें, यदि हमारे भागने की गति उसकी गति से कम हुई, तो हमारी मौत निश्चित समझिए।

इसलिए या तो ऐसी मौत को युगो के अपने कर्मों का परिणाम समझकर हम उसके आगे घुटन टकना कबूल करें, या राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध छेडकर हमारे रक्त माँस में घुसी हुई जात-पाँत की इस छुआछूत वृत्ति को, अपने कोठे में पडे इस हलाहल को जडमूल से खोदकर निर्मूल कर डालें। स्व० श्री मशरूवाला के सकेत के अनुसार आज हमारे सामने इन दो के अलावा तीसरा कोई विकल्प है ही नही।● अनु०-काशिनाथ त्रिवेदी

नये भारत
की
नयी ज्योति

•

जयप्रकाश नारायण

अपने देश में जो परिवर्तन हुए हैं और दुनिया में जो परिवर्तन हो रहे हैं उन्हे ध्यान में रखकर सोचें तो इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि आज समाजवाद की बात सब तरफ फैल गयी है। भुवनेश्वर म काग्रेस ने प्रस्ताव किया कि लोकतात्रिक समाजवाद कायम करना है। वहाँ सर्वोदय-समाज की बात भी कही गयी। वैसा समाज लाने के लिए भी लोकतात्रिक समाजवाद को पहला कदम बताया गया।

ऐसा क्यो हो रहा है? जो लोग समाजवाद के खिलाफ थे, वे भी आज उसके पक्ष मे क्यो कह रहे है? जब हमलोगो ने काग्रेस-समाजवादी पार्टी बनायी तो कई लोगों ने हमारा विरोध किया और आज पूरी काग्रेस ही समाजवादी पार्टी बन गयी—यह देखकर मुझे बेहद खुशी है। लेकिन यह काम केवल प्रस्ताव से होनेवाला नही है। आज गाँवो में जो दु ख-दर्द है, गरीबी है, अज्ञान है, बीमारी है, बेकारी है, जो सामाजिक अन्याय और अधर्म है, जो समस्याएँ है उनको इस तरह के प्रस्ताव स्पर्श तक नही करते। १६ वर्ष से ये प्रश्न सबके सामने रहे हैं।

हमलोग आजाद तो हुए, लेकिन नया गाँव, नया भारत अभी बनाना बाकी है। गाधीजी तो स्वराज्य मिलते ही चले गये। लेकिन उन्होंने आजादी की लडाई जिस ढग से लडी, उसी तरह स्वराज्य का चित्र और उसको पाने का रास्ता भी बता कर वे गये। आपसे-आप सब काम हो जायेगा, ऐसा मानकर जनता मतदान करके अपना काम पूरा हो गया, ऐसा समझने लगी। हमारे प्रतिनिधि हमारे प्रश्न हल कर देंगे, हमलोग केवल अधिकारियो के आगे हाथ जोडकर उनसे प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कुछ नही करेंगे—ऐसा मानकर बैठ गये। परिणाम क्या हुआ? गाँव जहाँ क तहाँ है।

जमींदारी तो खत्म हुई, लेकिन गाँवो मे किसान-मजदूर के बीच भेद, वैमनस्य तो मिटे नही। आज भी लोभ है, लालच है, अहकार है। अपनी जरूरत का लेकर बाकी सब समाज की सेवा मे अर्पण कर देना है। गोविन्द की वस्तु गोविन्द को, समाज की वस्तु समाज को अर्पण करके ही जीना है। यही सत्य का रास्ता है।

ग्रामदान में गाँव से जाता क्या है? गाँव में आता ही है। गाँव के लिए उन्नति का रास्ता खुल जाता है। समाज के सहयोग के बिना न कुछ पैदा किया जा सकता है और न उसका उपभोग ही किया जा सकता है। स्वामित्व-विसर्जन में खरीद-बिक्री पर रोक लगायी गयी है। यह भी सबके हित की दृष्टि से है। जमीन को बेचना या बन्धक रखना मूर्खता है। लेकिन यदि बहुत जरूरत पडे तो ग्रामसभा की राय से सदस्यो के बीच लेन-देन हो सकेगा। कर्ज की अन्य व्यवस्था हो जाने पर वैसे अवसर कम ही आयेंगे।

गाँव का सगठन बने, सामूहिक चिन्तन हो, और सामूहिक शक्ति बने, इसके लिए ही ग्रामदान का आन्दोलन चल रहा है। अभिनव ग्रामदान में काफी सुलभता रखी गयी है, लेकिन बुनियादी तथ्य स्वामित्व-विसर्जन का कायम रखा है। पुराना ग्रामदान युग के अनुकूल था, लेकिन व्यक्तिगत स्वार्थ के अनुकूल नही था। आज के ग्रामदान में दोनो की ही अनुकूलता है। जमीदारी-प्रथा के समय मालिक किसान नही था, मालिक जमीदार था, आज सरकार मालिक है। लेकिन ग्रामदान में ग्रामसभा को मालिक बनाना होता है। इससे किसान के कब्जे में जो बीघा-कट्टा निकाल देने के बाद बचता है, उसमे कोई अन्तर नही होता। सरकारी कागजो में अलग-अलग

मालिक न होकर पूरा गाँव मालिक होता है। मालिकी के मिथ्या विचार से दुनिया में अशान्ति रही है, आज भी है और आगे भी रहनेवाली है। कौरव-पाण्डवों में महाभारत इसी का परिणाम था। आज चीन, भारत, पाकिस्तान के झगडे इसी विचार पर आधारित होकर चल रहे हैं। ये मिट नहीं सकते, जबतक गाँव-गाँव में ये मालिकी के भेद कायम रहेंगे।

एक बात और ध्यान में ला देना जरूरी है। ग्रामदान का हल स्वराज्य-जैसा न हो जाय। ग्रामदान कर दिया तो सारे सवाल हल हो गये, या और कोई आकर हल कर जायगा—ऐसे भ्रम में नहीं रहना चाहिए। इसका अर्थ इतना ही है कि सब मिलकर गाँव की *समस्याओं का हल ढूँढेंगे और सन्तोषकारी व्यवस्था* कायम करेंगे, जिससे सारा गाँव उठ सके।

ग्रामदानी गाँवों के लिए जो बाहरी मदद मिल सकेगी, उसका उपयोग सबके लिए करना है। आज गाँव में कर्ज के कारण जो शोषण है वह बडा ही भयानक है। किसान-मजदूर कर्ज के सूद से बुरी तरह लदा हुआ है। महाजनों के साथ बैठकर इसकी भी चर्चा की जायेगी और पुराने कर्जों का समझौता कराके, थोडा-बहुत ले देकर निबटारा कराना होगा। उसमें सरकारी मदद भी दी जा सकेगी, समय पर नये कर्ज मिल सकें, वैसी योजना भी बनानी होगी।

दूसरे काम जो तुरन्त ग्रामदानी गाँव में करने हैं, वे ये हैं—

(१) एक-एक व्यक्ति प्रत्येक परिवार से लेकर ग्रामसभा का गठन कर लिया जाय। इसके पीछे जो *विचार है वह आज के पाश्चात्य लोकतंत्र के प्रचलित* विचार से भिन्न है। भारत में कुटुम्ब को इकाई माना गया है। हम उसे कायम रखना चाहते हैं। कुटुम्ब में व्यक्तिगत आजादी कायम रखते हुए भी ग्रामसभा में कुटुम्ब का एक व्यक्ति ग्राम-विकास के बारे में सोच सकता है। वयस्क मताधिकार का प्रयोग गाँव में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। देश की विधान-सभाओं में वह रहे तो ठीक है। एक कुटुम्ब में से समय-समय पर दूसरा व्यक्ति भी आ सकता है। ग्रामसभा के निर्णय सर्वसम्मति या सर्वानुमति से करने का आग्रह रखा गया है। ग्रामसभा में से ही एक कार्यसमिति बना ली जाय।

(२) प्रति बीघा कट्ठा निकालकर भूमिहीनों में बाँट दिया जाये। जहाँ भूमिहीन न हो, वहाँ अल्प भूमिवानों में बाँट दे सकते हैं, या तो ग्रामसभा अपने पास सार्वजनिक कामों के लिए रख सकती है।

(३) देश में अन्न की उपज बढ नहीं रही है। सरकारी प्रयासों के बावजूद दो या तीन प्रतिशत पैदावार बढी है। लेकिन जनसंख्या इससे कहीं ज्यादा बढी है। इसलिए बडी समस्या है देश में अनाज की पैदावार बढाने की। गाँव के लोग तय करें कि अगले वर्षों में १५ से २० प्रतिशत तक अधिक पैदावार बढायेंगे। वैसी योजना बनानी चाहिए। उसके लिए सिंचाई के साधन, बीज, खाद आदि की व्यवस्था क्या हो—उसके बारे में सोचना चाहिए।

(४) केवल खेती के ऊपर निर्भर रहना गलत है। ग्रामोद्योग खडे करने चाहिएँ। गाँव में क्या-क्या उद्योग किये जा सकते हैं? कहाँ से उनके लिए मदद उपलब्ध हो सकती है, उसके बारे में सोचकर योजना बनानी चाहिए।

(५) उद्योगों के साथ रोजगार भी बढेंगे। जो दुकानदार आज गाँव में हैं उनकी आमदनी भी बढेगी। लेकिन यदि वे ग्रामसभा के साथ रहते हैं, सरकारी दुकान चलाते हैं तो और भी बहुत से काम ऐसे खडे किए जा सकेंगे, जिनसे पूरे गाँव की आय बढ जायेगी।

(६) आपसी झगडे आपस में निपटाने की परम्परा डालनी चाहिए। स्वच्छता, पीने के पानी का प्रबन्ध, रोगियों की देखभाल, कुष्ट रोगियों या क्षयरोगियों की *विशेष देखभाल तथा महामारी आदि आकस्मिक उपद्रवों* के लिए भी योजना बनानी होगी।

(७) कुछ-न-कुछ सामूहिक कार्यक्रम रखे जायें। सप्ताह में एक दिन गाँव के लिए २ घंटा श्रमदान हो। गाँव का जो कोष बने, वह भी समय पर इकट्ठा हो जाय। इकट्ठा करने की योजना भी बना लेनी चाहिए।

इतना आपने किया तो आपके गाँव का नक्शा बदले बिना नहीं रह सकता। ●

सोसोदेवरा के भाषण से—

कलकत्ता से पटना

धीरेन्द्र मजूमदार

पिछले अंक में मैंने कलकत्ता की घटना की चुनौती पर इंगित किया था। वस्तुत राज्य और राजनीति का आविष्कार मानव-समाज के अन्दर के संघर्ष को नियंत्रित रख, शांति और शृंखला के अधिष्ठान के लिए हुआ था। उसमें मैंने लिखा था कि यद्यपि राजनीतिक रंगमंच हमेशा परस्पर संघर्ष का ही नाटक खेलता रहा है लेकिन सामान्य जनता से दूर रहने के कारण उसका असर जन जन में नहीं फैलता था और आज विज्ञान के विकास के कारण दुनिया इतनी छोटी हो गयी है कि राजनीति संघर्ष निराकरण करने के बजाय उसे फैलाने का ही काम कर रही है। अत समय आ गया है कि जनता राजनीति के स्थान पर कोई दूसरी चीज खोज निकाले।

कलकत्ता की घटना समाप्त होते ही पटना में जो घटना घटी वह शायद सामान्य जन की दृष्टि आकर्षित नहीं कर सकी है लेकिन वह घटना है अत्यन्त गम्भीर। अभी हाल में पटना विश्वविद्यालय छात्र संघ के वार्षिक समारोह के अवसर पर सेनाध्यक्ष चौधरी का मुख्य अतिथि होना, उसी दिशा की ओर संकेत करता है, जिसकी ओर मैंने कलकत्ता की घटना का परिणाम क्या होगा कहकर इंगित किया था। विश्वविद्यालय और सेनापति ! राजनीतिक नेता नहीं, शिक्षा-शास्त्री नहीं, बौद्धिक प्रतिभाशाली मनीषी नहीं, सेनापति !! यह कैसा मर्म है ?

पटना की यह घटना, लोकमानस किधर जा रहा है इसका स्पष्ट संकेत है। अब लोकमानस में यह बात स्पष्ट हो रही है कि राजनीति समाज की शान्ति और शृंखला का आश्वासन नही रह गयी है। मानव को उसके बदले दूसरी शक्ति चाहिए। स्वभावत रूढ़िग्रस्त जनता नये विकल्प की ओर न जाकर पीछे मुड़कर पुरानी परम्परागत शक्ति को ही अपनाना चाह रही है।

लोकतंत्र के पुजारियों को परिस्थिति के इस अनिवार्य संकेत की ओर गम्भीरता से विचार करना होगा। अगर लोकतांत्रिक आरोहण की प्रक्रिया में राजनीति से लोकनीति की ओर आगे नही बढ़ेंगे, तो दुनिया असहाय होकर बैठी नही रहेगी, वह पीछे ही हटेगी। अतएव देश के नेता, विचारक तथा जनता को सैनिक शक्ति-आधारित तंत्र को छोड़कर शिक्षा शक्ति-आधारित सम्मति तथा संकल्प का उद्बोधन और संगठन का छोर खोजने में लगना होगा। आज सन्त विनोबा ग्रामदान आन्दोलन द्वारा लोक-सम्मति तथा संकल्प का जो दर्शन करा रहे हैं और उसकी सिद्धि में लोकमानस में जिस शिक्षण शक्ति का अधिष्ठान कर रहे हैं उस छोर को अगर देश के सभी लोकतांत्रिक मता पकड़ लें तभी पटना की चुनौती का उत्तर मिल सकेगा।

क्या नेता और जनता कलकत्ता से पटना तक के संकेत को समझ सकेगी ?●

कश्मीरी घाटियों के गूँजते स्वर

•

जयप्रकाश नारायण

सर्व श्री पूर्णचन्द्र जैन, अहद फातमी और कृष्णराज मेहता हाल ही में सर्व-सेवा-संघ तथा शान्ति-सेना मंडल की तरफ से श्रीनगर गये थे। वे करीब एक सप्ताह वहाँ व्यतीत कर लौटे। उस दरमियान वे विभिन्न जमात व वर्ग के लोगों से मिले और उन्होंने वहाँ की परिस्थिति को एक तटस्थ दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया। उनसे सारा वृत्तान्त सुनने एवं चर्चा करने के पश्चात जनता व सरकार दोनों के सामने मैं अपने कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ।

सर्व प्रथम इस बात का उल्लेख करूँगा कि पवित्र अवशेष की चोरी २७ दिसम्बर को हुई, तब से ६ जनवरी के आम दीदार तक की चिन्तामय अवधि में हिन्दू, मुसलमान व सिक्ख जनता के बीच, जो साम्प्रदायिक एकरसता रही वह ध्यान देने योग्य है। मुझे लगता है कि भारत में तथा बाहर इस तथ्य को समुचित महत्व नहीं दिया गया। वस्तुस्थिति को देखते हुए जगत के हर समझदार व्यक्ति को इस बात का दुःख होगा कि पाकिस्तान के कुछ नेताओं ने तथा समाचार-पत्रों ने इस सारी घटना को अतिशय साम्प्रदायिक दुर्भावनापूर्ण व विग्रहभरे रूप में रँगने का प्रयत्न किया है। मैं कश्मीर की समस्त जनता की अनुकरणीय एकता के लिए उसका अभिनन्दन करते हुए गर्व अनुभव करता हूँ।

कश्मीर राज्य में उस समय जो उत्तेजना रही उसे देखते हुए यह उल्लेखनीय है कि वहाँ की जनता ने साम्प्रदायिक एकरसता के साथ सामान्यतः शान्ति कायम रखी। थोड़ी-बहुत जो आग जली व गुण्डागिरी हुई, उसकी निःसकोच भर्त्सना करनी चाहिए। इस बात का भी खेद होना चाहिए कि पुलिस को दो बार गोली चलानी पड़ी और उसके कारण कुछ लोग मरे और काफी लोग घायल हुए। भारत-सरकार ने अवशेष की चोरी के सम्बन्ध में पकड़े गये व्यक्तियों के मुकदमों के लिए राज्य से बाहर के न्यायधीश की नियुक्ति की माँग को स्वीकार करके बुद्धिमत्ता का काम किया है। गोली चलाने के विषय में अदालती जाँच के लिए की गयी माँग पर भी भारत सरकार को सहानुभूति-पूर्वक विचार करना चाहिए!

केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के अफसर भी प्रशंसा के अधिकारी हैं, जिन्होंने चुराये गये अवशेष को इतना शीघ्र और दक्षता से ढूँढ निकाला। खेद है कि शुरू में अवशेष की शनाख्त कराने में इतनी आनाकानी और ढील की गयी और उसे लेकर व्यर्थ की शंकाएँ पनपीं तथा राज्य में परिस्थिति बिगड़ी। अतः यह अच्छा हुआ कि श्री लालबहादुर शास्त्री श्रीनगर गये और उन्होंने परिस्थिति को बुद्धिमत्ता, साहस एवं दूरन्देशी से सँभाला।

यह कई तरह से स्पष्ट हो गया है कि कश्मीर सरकार में राज्य की जनता का विश्वास नहीं रहा है। यह खतरनाक वस्तुस्थिति है, जिसे शीघ्र सुधारने की आवश्यकता है। दीदार के सम्बन्ध में जिस बुद्धिमत्ता, साहस एवं दूरन्देशी का परिचय दिया गया उसी को इस

मामले म भी आवश्यकता है। निस्सन्देह कोई भी रास्ता नया लिया जाता है तो उसम खतरा होता है। लेकिन अभी का रास्ता अपेक्षाकृत अधिक खतरे से भरा है।

आगे किस तरह का कदम उठाया जाय यह निश्चय करने में जम्मू व कश्मीर के भिन्न भिन्न तरह के विचार रखनेवाले सभी वर्गों से सलाह-मशविरा करना ठीक होगा। यह बताने की आवश्यकता नही कि एक औपचारिक और सस्थागत मत प्रकट करने की पद्धति, जो कि दल आधारित चुनाव में आज चलती है प्राय लोकमत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती और अकसर तो गुमराह करनवाली होती है। विशेषकर उस स्थिति म जबकि नागरिक स्वतत्र कानून के बन्धनो से अमुक प्रत्यक्ष व्यवहार के तरीको के कारण अवरुद्ध होती है। जैसाकि दुर्भाग्यवश आज कई देशो में देखन म आता है।

अन्त में कश्मीर में जिस पैमान पर एकरसता और शाति का उद्भव हुआ है वह एक एसा अनुकूल अवसर है, जबकि सर्वोदय-आन्दोलन का ध्यान इस राज्य की ओर जाना चाहिए और वहाँ एक योजनाबद्ध तरीके पर रचनात्मक कायक्रम उठाया जाना चाहिए। बहद गरीब और व्यापक बेरोजगारी का यह तकाजा है कि दस्तकारी और छोटे व कुटीर उद्योगो का वहाँ पूरा विकास किया जाय। हलचल की अवधि में शाति का काम करनवाले जो अनेक सेवक सामन आयें उनको एक प्रशिक्षित स्थायी शाति-सेना के रूप में सगठित किया जा सकता है। मुझ आशा है कि सर्वोदय आन्दोलन इस चुनौती को स्वीकार करगा।

•

नयी तालीम पत्रिका की जानकारी

फार्म रूल, ४८

प्रकाशन का स्थान	वाराणसी
प्रकाशन-काल	मासिक
मुद्रक का नाम	श्रीकृष्णदत्त भट्ट
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता—'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी।	
सम्पादक का नाम	धीरेन्द्र मजूमदार
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी
पत्रिका के मालिक	अखिल भारत सर्व सेवा सघ (सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट १८६० के सेक्शन २१ के अनुसार रजिस्टर्ड सार्वजनिक सस्था)

मैं श्रीकृष्णदत्त भट्ट, यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है।

२८,२, ६४ —श्रीकृष्णदत्त भट्ट

•

भूल-सुधार (फरवरी १९६४)

(१) पृष्ठ सख्या २६७ के कालम एक के तीसरे अनुच्छेद की चौथी पक्ति में 'देशों लोकतत्र का' के स्थान पर 'देशों का लोकतत्र, कर लें।

(२) पृष्ठ संख्या २७३ की शब्दतालिका में 'घनिष्ट' के स्थान पर 'घनिष्ठ' कर लें

शिक्षा द्वारा समाज-परिवर्तन

रामचन्द्र 'राही'

गत दिसम्बर '६३ की १७ वीं तारीख को जब हम आगरा से चले तो धीरेनभाई की गप्प-गोष्ठी से प्रभावित आगरा के कुछ उद्बुद्ध नागरिकों ने प्रस्ताव किया कि नयी तालीम, जिसे आप भावी समाज-रचना की मूल और धृति शक्ति बताते हैं, उस विषय में विस्तार से चर्चा करने के लिए हम यहाँ एक गोष्ठी का आयोजन करना चाहते हैं, अगर आप समय दें तो।

धीरेन भाई ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फिर क्या था? २३, २४, २५ फरवरी '६४ को एक गोष्ठी का आयोजन हुआ। विषय था—शिक्षा द्वारा समाज-परिवर्तन। यह गोष्ठी आगरा कालेज के हाल में हुई, जिसके उद्घाटन की रस्म पूरी करते हुए आचार्य राममूर्तिजी ने कहा—

"आज एशिया और अमरीका के देशों को नयी स्वतंत्रता से उत्पन्न परिस्थिति की तीन चुनौतियाँ हैं—सुरक्षा, विकास और लोकतंत्र। इन चुनौतियों का मुकाबला इन देशों में सैनिक-शक्ति, पाश्चात्य ढंग के केन्द्रित औद्योगीकरण और पार्टी के संकुचित लोकतंत्र द्वारा हो रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप विदेशी प्रभाव और प्रभुत्व के साथ सैनिकवाद, उत्पादन के ह्रास के साथ राज्य का पूँजीवाद तथा शासक, सैनिक और पूँजीपति के गठबन्धन से लोक-शून्य तंत्रवाद जोरों से फैल रहा है।

"इस परिस्थिति में नय रास्ते की खोज करनी होगी, मूल मान्यताओं पर नये ढंग से विचार करना होगा। विज्ञान और लोकतंत्र की भूमिका में परस्परावलम्बन की अनिवार्यता और सांस्कृतिक विकास के प्रश्न पर गम्भीरता से सोचना होगा। लोकतंत्र की माँग है क्षमता और ममता की। इसके लिए स्वावलम्बी, सहकारी इकाइयों का संगठन करना होगा। विज्ञान और लोकतंत्र अहिंसा के आधार पर ही एक साथ विकसित हो सकते हैं। इस दृष्टि से दुनिया के सामने यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित है।

"नयी सामाजिक क्रान्ति के लिए आज युद्ध, संघर्ष और दबाव अव्यावहारिक और अनावश्यक हो चुके हैं। अपवाद रूप में प्रतिकार चल सकता है, लेकिन सहज तो सहकार ही है, क्योंकि समाज में सभी 'हैव्स' हैं—भूपति, पूँजीपति, श्रमपति तीनों द्वारा स्वामित्व विसर्जन और तीनों के समन्वय से ही नयी समाज-रचना होगी, एक दूसरे के दमन से नहीं। शान्ति की शक्ति, शैक्षणिक प्रक्रिया और लोकनीति के द्वारा ही वैज्ञानिक बुद्धि और मानवीय चित्त का निर्माण हो सकता है।

"इसीलिए नयी संघर्ष-मुक्त क्रान्ति की गति-शक्ति नयी तालीम में ही है, जिसके एक साथ तीन स्वरूप हैं—क्रान्ति का वाहन, निर्माण की प्रक्रिया और शिक्षा की पद्धति। राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद से मुक्ति के लिए अभिनव ग्रामदान, स्वावलम्बी खादी और शान्ति-सेना के रूप में नयी तालीम निर्माण की समस्याओं को हल

करती है और स्वावलम्बन और समवाय-पद्धति से भावी समाज रचना का मार्ग प्रस्तुत करती है।

"इस प्रकार एशिया और अफ्रीका के तमाम अविकसित देशों में शिक्षा का यह नया स्वरूप व्यापार और राजनीति के स्थान पर समाज का नेतृत्व ग्रहण करेगा, दुनिया के लोकतंत्र को सैनिकशाही के संकट से मुक्त करेगा और भविष्य में क्रांति एक घटना न होकर आरोहण की प्रक्रिया होगी।"

परिचर्चा की अध्यक्षता की श्री धीरनभाई ने। आपने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा— राज्यतंत्र से लोकतंत्र की ओर जाने की प्रक्रिया दबाव से मनाव की ओर जाने की है जो शिक्षण द्वारा ही सम्भव है। समाज में शिक्षा को विभिन्न सेवाओं की योग्यता और क्षमता हासिल कराने तथा सांस्कृतिक विकास के लिए एक उपादान माना जाता रहा है शिक्षण समाज की चालक और धृतिशक्ति नहीं रहा है। राज्यतंत्र, अधिनायकतंत्र और लोकतंत्र सबका संचालन दण्ड-पद्धति में होता चला आ रहा है और समाज की अंतिम बागडोर सैनिक के ही हाथ में रही है। यही कारण है कि प्रचलित लोकतंत्र प्रत्यक्ष सैनिकतंत्र द्वारा दबता जा रहा है।

"महात्मा गांधी से १९२५ में स्वराज्य की परिभाषा और संविधानिक रूपरेखा के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा था कि स्वराज्य की जो लड़ाई शुरू हुई है उसकी पूर्व तैयारी है अँग्रेजों को हटाना। हम जिस लोकतंत्र और स्वराज्य की बात कहते हैं वह इंग्लैंड, अमरिका आदि किसी भी मुल्क में नहीं है। गांधी ने क्यों ऐसा कहा था यह दुनिया के लोकतंत्र की स्थिति को देखने से स्पष्ट पता चलता है।

'सैनिकशक्ति-आधारित लोकतंत्र नहीं, सम्मति मूलक लोकतंत्र की स्थापना अगर करनी है तो वह केंद्रित अर्थनीति की प्रेरणा से या राजनीति के दबाव से सम्भव नहीं है। सम्मति की उस लक्ष्य की पूर्ति शिक्षण प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। उस शिक्षण की जो इस युग की आकांक्षा (लोकतंत्र) को पूरी करे। उसकी रूपरेखा क्या होगी, उसकी पद्धति क्या होगी, आप इस परिचर्चा में इस पहलू पर गम्भीरता से विचार करें।

'दुनिया के लोग जब निःशस्त्रीकरण की बात कर रहे हैं तो उसकी अनिवार्यता है कि सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण होना ही चाहिए। एक तरफ शांति के लिए दुनिया सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण की बात कह रही है और दूसरी तरफ सुरक्षा के लिए शस्त्र और सेनाओं का तेजी से संगठन और विकास कर रही है, यह विसंगति है। सोचने की बात है कि सम्पूर्ण शस्त्र-त्याग का मतलब सैनिक-मुक्ति होता है, तो फिर सैनिक द्वारा आज जिन कार्यों की सिद्धि हो रही है, उन्हें किन शक्तियों द्वारा समाज सिद्ध करेगा? जबतक वह विकल्प नहीं मिलेगा, विश्व आज की विसंगति से मुक्त नहीं होनेवाला है।

"लोकतंत्र को सैनिकशाही के खतरे से मुक्त करना है दुनिया में शान्ति और सुरक्षा की स्थिति लानी है तो लोक की संकल्प, सहकार और संस्कृति इन तीनों स्वाव लम्बी शक्तियों को संगठित करना होगा। इसके लिए शिक्षा को संस्था और व्यक्ति से निकालकर जन-जन में फैलाना होगा। अबतक चिंतन अध्ययन, शिक्षण और साधना सामाजिक प्रवृत्तियों से अलग हटकर विशिष्ट व्यक्ति, वर्ग और संस्था तक ही सीमित रहे हैं। वास्तविक लोकतंत्र की माँग है कि शिक्षण जन-जन का हो, विशिष्ट जन बहुजन का ही नहीं। आपके सामने चिंतन के लिए यह दूसरा पहलू है कि सहचिंतन, सहअध्ययन, सहशिक्षण और सहसाधना की किस प्रक्रिया द्वारा लोकतंत्र की आवश्यक योग्यता देश के हर मतदाता नागरिक को अच्छी तरह मिले।

'आज शिक्षा राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद को चलाने तथा संगठित करनेवाले कार्यकर्ता तैयार करने के लिए चल रही है। आप सब शिक्षकों की जिम्मेदारी है कि लोकतंत्र के लिए लोकनिर्माण का काम लोकनायक बनकर करें। गांधी ने स्वावलम्बन और समवाय ये दो विचार अहिंसक समाज रचना करनेवाली नयी तालीम के स्तम्भ के रूप में रखा था। अगर पूरे समाज के नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर का विकास करना है तो इसकी प्रक्रिया पूरे समाज की भूमिका में हो, पूरे समाज के साथ चले, और उसकी निष्पत्ति सार्वजनिक हो, यह अनिवार्य है। उसे समयजनिक बहुजनिक, विशिष्टजनिक ही नहीं रहना चाहिए। ऐसी तालीम

स्पष्ट है कि स्वावलम्बी ही हो सकती है और सर्वजन के सर्वकर्म के समवाय में ही हो सकती है।

"इस तरह विज्ञान की आवश्यकता और लोकतंत्र की आकांक्षा है कि शिक्षण स्वावलम्बी हो और उसकी पद्धति समवाय की हो। तभी वह लोक-निर्माण का काम कर सकेगी। आप गम्भीरता-पूर्वक इस परिचर्चा में इन बातों पर विचार करें।"

परिचर्चा के संयोजक प्रोफेसर रामलक्ष्मण तिवारी ने अपने स्वागत भाषण के शुरू में ही कहा था—"हम सबमें यह टटोल है कि शिक्षण का कोई नया मार्ग मिले। सरकार में उलझे हुए लोग हमारा मार्गदर्शन नहीं कर पाते, नयी तालीम की मखौल उड़ायी जाती है। सरकार ने उसे फेल करार दिया है लेकिन हम आगरा के कुछ शिक्षा प्रेमी उस विचार को गहराई से समझना चाहते हैं। इस परिचर्चा से हमें उसकी दिशा मिलेगी, ऐसी आशा है।

फिर दूसरे दिन टटोल शुरू हुई। शिक्षण को समाज संचालन की मूलशक्ति के रूप में पेश किया गया था इसलिए पहला प्रश्न उपस्थित हुआ—शक्ति का, जिसे आगरा कालेज के राजनीति विज्ञान विभाग के प्रमुख डा० एस० एन० दुबे ने रखा—

दुनिया का इतिहास शक्ति का इतिहास रहा है। वह शक्ति हिंसा के रूप में ही रही है। मानवीय चेतना में आज क्या गुणात्मक परिवर्तन आ गया है कि हम उस शक्ति से मुक्त हो सकते हैं? मैं मानता हूँ कि हमें शक्ति का संगठन करना चाहिए, ऐटम बम भी बनाना चाहिए और उसके लिए जो कुछ भी त्याग करना हो उसे करना चाहिए?

धीरेनभाई—इतिहास के विकास-क्रम में आज की परिस्थिति को सामने रखकर आप हिसाब जोड़ें। पुराने जमाने में दूसरे को मारकर उसे हड़पना सहज था। दूसरे को हराकर अपनी सत्ता भी उस पर स्थापित कर सकते थे। अब ऐसा दिखाई दे रहा है कि हिंसक शक्ति के सहारे हम दूसरों के मुकाबले जिन्दा रह सकते हैं, उन्हें मारकर हड़प नहीं सकते, उनपर अपनी सत्ता नहीं लाद सकते। लेकिन, हम अधिक बारीकी से विश्लेषण करें तो हिंसा-शक्ति के विकास के साथ उसकी मर्यादा भी इतनी बढ़ गयी है कि अब उससे आत्मरक्षा की एक प्रतिशत भी गारंटी नहीं रह गयी है। क्योंकि अधिक शस्त्र-शक्ति के सहारे विजयी होकर भी जिन्दा रहना अब सम्भव नहीं है। आज यह परिस्थिति बन गयी है कि एक दूसरे को मिलाकर ही आत्मरक्षा सम्भव है। अबतक के ज्ञात साधना द्वारा सुरक्षा की गारंटी जब नहीं है तो क्या वैकल्पिक शक्ति की खोज अनिवार्य नहीं हो गयी है?

डा० दुबे—यह तो ठीक है। आत्मरक्षा की गारंटी नहीं है, लेकिन शस्त्र-शक्ति के कारण एक दूसरे का जो भय बना हुआ है उसे ही आत्मरक्षा की गारंटी मानना चाहिए।

धीरेनभाई—भय आत्मरक्षा की गारंटी है यह विचार ठहर नहीं सकता। क्योंकि भय का कोई जाहिर हिसाब नहीं लग सकता। ऐसे एब्स्ट्रैक्ट तत्व पर समाज निर्भर नहीं रह सकता, क्योंकि अत्यधिक शक्ति इकट्ठी करनेवाला में भय न रहना सहज होगा। आज हिंसा के पुजारी भी इसे समझते हैं। अगर वे परस्पर भय को आत्मरक्षा की गारंटी मानते होते तो वे निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता की बात नहीं करते।

बी० आर० कालेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० आर० पी० चतुर्वेदी ने सवाल उठाया—"क्या लोकतंत्र समाज-विकास की अन्तिम स्थिति है? क्या किसी सर्वथा तंत्रमुक्त समाज की भी कल्पना की जा सकती है?"

धीरेनभाई—समाज की बुनियादी शक्ति मनाव की होगी तो उसका मूल ढांचा ही बदल जायेगा। लोकतंत्र का मतलब क्या है? समाज का संचालन लोक-सम्मति से हो, दबाव से मजबूर करके नहीं। शिक्षा ने जिस तरह व्यक्ति के अन्दर यह शक्ति प्रदान करने की कोशिश की है कि वह अपने अन्तर्निहित सांस्कृतिक तत्वों को संगठित कर अपने आन्तरिक विकारों को

नियंत्रित करता रहे उसी तरह जब समन्वित सामाजिक शिक्षण की प्रक्रिया, सामाजिक संस्कृति को विकसित तथा सगठित कर समाज के अन्तर्निहित विकारों को सगठित सास्कृतिक शक्ति द्वारा नियमित कर सकेगी उसी समय तंत्रमुक्त समाज साकार होगा। उसी दिशा में आरोहण की साधना लोकतंत्र की साधना है।

डा० दुबे—आप जो शिक्षण-प्रक्रिया की बात करते हैं, उसका व्यावहारिक रूप क्या होगा?

धीरेनभाई—हर कार्यक्रम के लिए प्रायमिक पृष्ठभूमि बनाने की आवश्यकता होती है। पूरे समाज की भूमिका में सार्वजनिक शिक्षण का प्रायमिक सन्दर्भ ग्रामदान से निकलता है। ग्रामदान दण्डशक्ति यानी सैनिक-शक्ति-निरपेक्ष सम्मति-शक्ति-आधारित समाजवाद की प्रक्रिया है। इसमें समाज के सब लोगो को सामूहिक रूप से सोचने का, तथा पुरुषार्थ प्रकट करने का उद्बोधन होता है। इससे उस शिक्षण पद्धति के लिए आरम्भ बिन्दु मिलता है, जिसे हम नयी तालीम यानी समन्वित सामाजिक शिक्षण कहते हैं।

डा० एस० एन० दुबे—ग्रामदान का कार्यक्रम यथार्थवादी लगा। क्या आप कानूनी 'सैंक्शन' स्वामित्व-विसर्जन में लेंगे? जितनी तेजी से जनसंख्या बढ़ रही है, उसे गाँव में ही 'फीड' किया जा सकता है? अभाव में आज 'जेलेसी' बढ़ रही है। इन सबका हल क्या होगा?

धीरेनभाई—जबतक पूरे समाज की मान्यता कानून के लिए है और सरकार से राजस्व सम्बन्ध है, भूमि की मालिकी के मामले में सरकारी स्वीकृति तो लेनी ही होगी। आज कई राज्यों ने ग्रामदान अधिनियम बनाये है। गाँव पूँजीवाद के पेट में समा रहे हैं, सम्पत्ति और चेतन शक्ति शहर की ओर खिंचते जा रहे हैं इसीलिए आज की परिस्थिति में नयी तालीम अनिवार्य हो गयी है।

गाँव की सारी समस्याएँ तभी हल होगी, जब इन्हें हल करने का 'अप्रोच' शैक्षणिक होगा। अधिक उत्पादन हो और आराम से हो, इसके लिए विज्ञान और शिक्षण द्वारा ऐसी प्रक्रिया खोज निकालेंगे, जिसमें ऊब और थकान कम से-कम होगी और उसका परिणाम होगा सहज सांस्कृतिक विकास। जिसकी परिणति से उत्पादन-वृद्धि होकर अभावजनित जेलेसी का निराकरण होगा। वस्तुतः आज जिन समस्याओं को आप देख रहे हैं वे प्रतिद्वन्द्विता-मूलक व्यक्तिवादी संस्कृति का परिणाम हैं। ग्रामदान की प्रक्रिया तथा उसके आधार पर समन्वित शिक्षण समाज को निरन्तर उन समस्याओं से बचाता रहेगा।

सेंट जान्स कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० हरिहर नाथ टंडन ने पूछा—वैसी स्थिति में क्या आज की सांस्कृतिक मान्यताएँ बदल जायँगी?

धीरेनभाई—संस्कृति निरपेक्ष अभिव्यक्ति नहीं है। समाज के परस्पर सम्बन्धों के प्रकार ही संस्कृति के निर्देशन हैं। उसके बाहर संस्कृति नाम से आज जिस निरपेक्ष अभिव्यक्ति का दर्शन हो रहा है, उसे श्रृंगार कहना चाहिए, संस्कृति नहीं। शिक्षण जब मनुष्य को समग्र कर्म सूची के समवाय में विकसित होगा तो प्रत्येक कार्यक्रम के प्रसंग में, जो पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट होंगे, वे सांस्कृतिक होंगे और वे ही वास्तविक संस्कृति के परिचायक होंगे। इस तरह, आज की श्रृंगार-मूलक सांस्कृतिक मान्यता के बदले व्यवहार-मूलक कलापूर्ण लोक अभिव्यक्ति को ही सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त होगी।

आगरा कालेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० मक्खन लाल शर्मा ने प्रश्न किया—इससे एकता का प्रश्न कैसे हल होता है? आप उत्पादन के साथ शिक्षण को जोड़ने की बात कहते हैं। उससे जो तनाव बढ़ेंगे, उनकी जो प्रतिक्रियाएँ होंगी, उस स्थिति में व्यक्तिगत विकास कैसे सम्भव होगा?

धीरेनभाई—नयी तालीम का माध्यम केवल उत्पादन की प्रक्रिया नहीं है, सामाजिक प्रक्रिया भी है।

उत्पादन जब शिक्षण का माध्यम होगा तो उसके साथ विज्ञान और संस्कृति का समवाय अनिवार्यतः होगा। ऐसी स्थिति में उत्पादन की कला तथा उसके औजारों में क्रान्तिकारी सुधार होंगे। इससे उत्पादन तनाव-मुक्त नहीं रह जायगा। नयी तालीम की जिम्मेदारी है कि वह कला और औजार में इस प्रकार के परिवर्तन करे, जिससे न केवल उत्पादन की वृद्धि हो, बल्कि उसकी प्रक्रिया आरामदेह और आनन्ददायी हो। सामाजिक वातावरण जब शिक्षण का माध्यम होगा तो वह शिक्षण समाज में पारस्परिक सहायता तथा सहकार का क्षेत्र बढ़ाता रहेगा। इसलिए समाज में नैतिक तथा सामाजिक चरित्र का विकास होगा और वह सुसंस्कृत समाज की स्थापना की ओर अग्रसर होगा।

डा० शर्मा ने पुन पूछा—"विकास सहकारात्म होगा या द्वन्द्वात्मक, गुणात्मक होगा या नकारात्मक।"

धीरेनभाई—विकास सहकारात्मक होगा। विचार-भेद होगा, लेकिन आपस में संघर्ष नहीं होगा। विचार-भेद होने पर विचार-मन्थन होगा, संघर्ष को शिक्षण द्वारा मन्थन में परिणत करेंगे और सहकार का क्षेत्र बढ़ायेंगे। इसमें से रचना की शक्ति निकलेगी। इस शिक्षण का प्रारम्भ वर्तमान के चालू उत्पादन और सामाजिक सम्बन्धों के समवाय में प्रौढ़ों से शुरू होगा। ज्यों ज्यों विकास की चाह बढ़ेगी, शिक्षण सहज होता जायगा। संस्कृति संघर्ष को मन्थन में परिणत करती जायेगी।

आगरा कालेज के एक छात्र ने प्रश्न किया—"नयी तालीम में यंत्रशास्त्र का स्थान है, लेकिन केन्द्रीकरण का नहीं। यंत्रों के कारण केन्द्रीकरण तो होगा ही।

धीरेनभाई—आज विज्ञान अपने अशोधित (क्रूड) स्वरूप में है। वह आगे विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचकर विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ेगा। वैसी स्थिति में विकेन्द्रित शक्ति के स्रोतों की खोज होगी और ऐसे यंत्रों का निर्माण होगा, जो विकेन्द्रित होंगे, कुशल होंगे, आराम-देह तथा आनन्द-दायक होंगे और सर्व सामान्य द्वारा संचालित होंगे।

डा० एस० एन० दुबे ने प्रश्न किया—समस्या मनोवैज्ञानिक है। दर्शन, कला आदि विषय मानसिक उत्थान के लिए हैं; लेकिन आज वे कमाई के साधन बन गये हैं।

धीरेनभाई—इसके लिए आपको सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक संयोजन करना होगा। शिक्षण को लोकप्रिय कार्यक्रम के साथ जोड़ना होगा। और सामान्य व्यक्ति जहाँ है वहीं से ही शिक्षा का स्रोत खोजना होगा। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी कार्यक्रमों में से यह स्रोत निकालना होगा। इसके अलावा अगर हम शिक्षा को समाज से अलग संस्थाओं के घेरे में गिरफ्तार रखेंगे तो उसमें से जो जानकारी हासिल करने की प्रक्रिया निकलेगी, उसमें केवल स्मरण शक्ति की ही कसरत होगी, बुद्धि या मेधा की नहीं। आज शिक्षण-शालाओं की इन मर्यादाओं को दूर करने के लिए सामाजिक कार्यक्रमों को शाला की चहारदीवारी के अन्दर प्रविष्ट कराने की कोशिश होती है। लेकिन, ऐसा प्रोजेक्शन गमला सजाकर बाग लगाने-जैसा होता है। वह कार्यक्रम कृत्रिक ढंग से सयोजित होने के कारण उसमें से समस्याओं की वास्तविक अनुभूति नहीं होती। किताब पढ़कर याद करने के स्थान पर माडल देखकर याद करने-जैसी चीज होती है। इसमें भी केवल स्मृति का ही अभ्यास होता है। फर्क इतना ही है कि इससे प्रक्रिया कुछ आसान हो जाती है।

दोपहर के बाद की बैठक में आगरा के श्री सेवतीलाल शर्मा वकील, जिन्होंने विनोबा के समक्ष आत्म-समर्पण करनेवाले बागियों के मुकदमे की पैरवी की थी, अपना विचार प्रकट करते हुए कहा—'अपने देश में शिक्षा उपेक्षित रही है। शिक्षा का एकीकरण होना चाहिए। एक ही साथ 'कान्वेन्ट स्कूल' और जिला परिषद के स्कूल नहीं चलने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त नयी तालीम की एक आकर्षक संस्था बनानी चाहिए। जैसी संस्था 'शान्ति निकेतन' के रूप में गुरुदेव ने बनायी थी। हमने ऐसा नहीं किया यानी समय के साथ नहीं चले, इसीलिए हमारी बात कोई नहीं सुनता।

धीरेन्द्रभाई—लोक-प्रवाह और काल-प्रवाह दो भिन्न चीजें हैं। लोक-प्रवाह की गति धीमी होती है, द्रष्टा काल की गति को देखता है, पहचानता है, और सूचित करता है, भविष्य की सामाजिक रचना का चित्र पेश करता है, लेकिन लोग उस पर अमल तब करते हैं जब उनकी मौजूदा नाव डगमगाने लगती है। गांधी ने भारत का जो नया नक्शा पेश किया उसे नहीं अपनाया गया। गुरुदेव के शान्तिनिकेतन का आपने उदाहरण दिया। लेकिन बारीकी से देखें तो पता चलेगा कि गुरुदेव का 'सोशल कन्सेप्ट आफ एजुकेशन' नहीं चला। चित्रकला, संगीत आदि विषय चले। लोक-मान्यता पुरानी हो और नये समाज की मान्यता के अनुसार संस्था खड़ी करेंगे तो वह नहीं चलेगी। उसके लिए सबसे पहले लोक-मान्यता बदलनी होगी और हम उसी काम में लगे हैं।

डा० आर० पी० चतुर्वेदी—नयी तालीम को अहिंसावाद के साथ जोड़ा गया है। अहिंसा वांछनीय है लेकिन नयी तालीम का मार्ग अवरुद्ध करती है?

धीरेनभाई—शिक्षा समाज के भावी स्वरूप को सामने रखकर चलनी चाहिए। समाज की रूपरेखा स्पष्ट होगी तभी तो शिक्षण द्वारा उसके योग्य नागरिक तैयार करने का प्रयास होगा। आज चिन्तन में यह विसंगति है कि एक ही आदमी अन्तर्देशीय शान्ति के लिए सेना चाहता है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण चाहता है। वह यह नहीं देखता कि पूर्ण निःशस्त्रीकरण होने पर अन्तर्देशीय सेना किसके सहारे अपनी शक्ति प्रकट करेगी और अन्तर्देशीय सेना के लिए अगर कुछ भी शस्त्र-संयोजन किया जायेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का उपादान बनने से रुकेगा नहीं। वस्तुतः सम्पूर्ण मानव जाति के लिए आज अहिंसा आवश्यक हो गयी है। शान्ति के लिए तो दुनिया निःशस्त्रीकरण की बात कहती ही है, सुव्यवस्था भी शान्तिमय नागरिक-शक्ति से सम्भव होनी चाहिए, यह आज के युग की माँग है। यह सम्भावना शिक्षण द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। नयी तालीम युग की चुनौती का हल प्रस्तुत करे, तभी वह नयी तालीम है। (अपूर्ण) ●

एक था गड़रिया

●

काका कालेलकर

एक गड़रिया अपनी भेड़ों को लेकर एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहा था। दोपहर को वह रोटी खाकर आराम करने लगा। उसे नींद आ गयी। भेड़ों ने एक नजदीक के खेत और बगीचे में जाकर चरना शुरू किया। किसान ने बड़ी मेहनत करके अच्छी फसल पायी थी। भेड़ों ने सब कुछ नष्ट कर दिया।

किसान न्याय के लिए राजा के पास गया। राजा ने पूरा मामला सुनने के बाद निर्णय दिया—"गड़रिया सारा नुकसान अपनी भेड़ें बेचकर अदा करे।"

देखा गया कि नुकसान भरपायी के लिए गड़रिये को अपनी सारी-की-सारी भेड़ें बेचनी पड़ेंगी। वह अपना सिर पीटकर रोने लगा। उसने राजा से कहा—"आपका न्याय तो ठीक है, लेकिन मेरा तो सर्वनाश हो रहा है।"

राजा ने कहा—"क्या किया जाय, न्याय तो न्याय है। मुझे तो निष्ठुर बनना पड़ता है।"

इतने में राजा का सयाना लड़का आ पहुँचा। उसने कहा—"निष्ठुरता न्याय नहीं हो सकती। मानवता के आधार पर रास्ता निकालना ही चाहिए।"

राजा ने कहा—"तुम्हीं बताओ।"

लड़के ने कहा—"गड़रिया जमीन मालिक के यहाँ अपनी सब भेड़ों के साथ नौकरी करे। मालिक गड़रिये को खिलाएगा और कपड़े देगा। भेड़ मालिक के खेत में पेशाब और लेंड़ी करेंगे। भेड़-बकरे के बच्चे मालिक के होंगे। इस तरह गड़रिया अपना पूरा हिसाब चुकता करके अपनी भेड़ों के साथ चला जायगा।"

यह न्याय सबको पसन्द आया; क्योंकि इसमें सर्वोदय था। ●

सेवाग्राम-नयी तालीम-परिवार
का
स्नेह-सम्मेलन

प्रिय भाओ, बहन,

हमारी बहुत दिनो की अिच्छा है कि सेवाग्राम-नअी तालीम-परिवार के पुराने और नये भाई-बहनो का एक स्नेह-सम्मेलन बुलाया जाय। आगामी ६ अप्रैल १९६४ को पूज्य विनोबाजी सेवाग्राम आ रहे है। इस शुभ अवसर पर सेवाग्राम-नअी तालीम-परिवार-स्नेह-सम्मेलन के लिअे आपका सप्रेम निमन्त्रण है। इस सम्मेलन का अुद्बोधन पूज्य विनोबाजी करेंगे और ६-७ अप्रैल दो दिन सम्मेलन का कार्यक्रम चलेगा। इस सम्मेलन में आप अपने पिछले वर्षों के अनुभव और कार्य-विवरण सुनायेंगे और सेवाग्राम में नयी तालीम के भावी विकास के बारे म भी विचार होगा, ऐसी अपेक्षा है। अन्त म आप सबसे हमारा सप्रेम निवेदन है कि सेवाग्राम आपका घर है। आपको जब सुविधा हो आप यहाँ आयें और बापूजी के आदर्शों के अनुसार सेवाग्राम के विकास के प्रयत्न म हाथ बटायें। आपके आने की सूचना, मन्त्री, स्नेह-सम्मेलन स्वागत समिति के नाम पर भेजने को कृपा करें।

निवेदक
आर्यनायकम
आशादेवी

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
मार्च, १९६४ नयी तालीम रजि० स० एल १७२३

आपकी निकाह ?

घनी बँसवारियो के झुरमुट और सीधे तथा लम्बे सुपारी के पेडो से घिरे एक गाँव के भूमिवान से चर्चा हो रही थी ।

'क्या किसान ग्रामदान से सहमत हैं ?'—मैंने पूछा

'जी हाँ ।'—उसने उत्तर दिया ।

ग्रामदान-कानून के अनुसार उन्होने फार्म भर दिया है ?

'नहीं, लेकिन सभा मे सुना दिया गया है ।'

'उसके बाद ग्रामसभा बनी है ?'

'नही ।'

'गाँव में भूमिहीन कितने हैं ?'

'कोई नही ।'

'एक परिवार के पास कितनी भूमि है ?'

'दस बीघे ।'

'और अधिक से अधिक ।'

'पचीस पुरा—सौ बीघा-जो कि मेरे पास है ।'

'तब तो भाई, मुझे भी अपनी जमीन मे से हिस्सा दो ।'—मैंने हँसते हुए कहा ।

'हाँ जरूर देंगे । लेकिन आप पहले बसिए तो ।'—फिर कुछ सोचते हुए कहा—'मगर मुसलमान तो यहाँ हैं नही ।...आपकी निकाह ?'

मेरी दाढी देख उसे मुझे मुसलिम होने में कोई शक नही रहा । धर्मों का बाहरी रूप मन की परतों में कितनी गहराई तक पैठ गया है !

—जगदीश यवानी

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
पत्र माघ छपी प्रतियाँ १०,००० इस मास छपी प्रतियाँ २५,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सरकार का अर्थ है पुरानी पीढ़ी;
क्रान्ति का अर्थ है नयी पीढ़ी;
और शिक्षक का अर्थ है—
पुरानी पीढ़ी को पुरानी समाज-रचना से नयी समाज-रचना की ओर यानी क्रान्ति की ओर ले जाने का मार्ग दिखानेवाला।

१२ . अंक ९

अप्रैल, १९६४

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम
सर्व-सेवा-संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-६०

नयी तालीम

पाकिस्तान के हिन्दू, हिन्दुस्तान के मुसलमान

वर्ष : १२
•
अंक : ९

अगर अलग होकर भी चैन से न रह सके तो अलग हुए ही क्यों ?

जब हिन्दुस्तान पाकिस्तान का बँटवारा हुआ तो सोचा यह गया था कि जो एक घर में नहीं रह सके वे कम से कम पडोसी की तरह रह लेंगे, लेकिन लगता है कि भाई का रिश्ता तो टूटा ही, पडोसी का रिश्ता भी बन नहीं पाया। भाई-भाई जब दुश्मन होते हैं तो दुश्मन से भी बदतर हो जाते हैं।

जो आग किसी समय विदेशी शासकों ने लगा दी वह आजतक बुझी नहीं। १९४६,'४७ में स्वराज्य और विभाजन के समय वर्षों से इकट्ठा होने वाली शत्रुता ने हिंसा और अनाचार का जो दृश्य दिखाया वह पहिले कभी नहीं देखा गया था। उस समय लगभग एक करोड हिन्दू पाकिस्तान से हिन्दुस्तान आये और लगभग दस लाख मुसलमान यहाँ से वहाँ गये। आज पच्छिमी पाकिस्तान में हिन्दू नहीं रह गये हैं, जो हैं पूर्वी पाकिस्तान में ही हैं। बँटवारा हुए सत्रह साल बीत गये लेकिन पीछे का इतिहास दोनों देशों के लोगों के दिलों में पडा हुआ है, और इसी इतिहास की रोशनी में हर बात, चाहे वह कितनी भी छोटी हो, देखी जाती है। नतीजा यह होता है कि किसी सवाल का निपटारा इस बुनियाद पर नहीं हो पाता कि सचाई क्या है। हर चीज दुराग्रह पर उतर जाती है। अगर ऐसा न होता तो कश्मीर क्या, कोई भी मसला कब का हल हो गया होता। उम्मीद थी कि स्वराज्य के बाद स्थिति सुधरेगी, लेकिन सुधरने की कौन कहे, कुछ अर्थों में तो और बिगड़ गयी। जो झगडा पहिले दो सम्प्रदायों का

था वह बढ़कर दो राष्ट्रों का हो गया। जहाँ यह होना चाहिए था कि दोनों देश मिलकर अपनी प्रतिरक्षा-नीति तय करते, आर्थिक विकास के काम में एक दूसरे के मददगार बनते, एक देश से दूसरे देश में आने-जाने में रुकावट न डालते, तथा हर तरह आपस में पूरक होते, वहाँ यह हुआ कि दुश्मनी और बढ़ी और बढ़ती ही चली जा रही है। कश्मीर को लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ में जो छीछालेदर हो रही है वह अपनी जगह है; उससे कहीं अधिक शर्म और खेद की वे घटनाएँ हैं जो अब भी समय समय पर आक्रमण और उपद्रव के रूप में घटती जा रही हैं। उपद्रवों का नया दौर पिछले साल इस बात से शुरू हुआ कि पूर्वी बंगाल के लाखों लोग बिना अनुमति के असम और त्रिपुरा के इलाकों में घुस आये। बाद को कश्मीर में हजरतबल की घटना हुई जो अनायास व्यापक उत्तेजना का कारण बनी। मुश्किल यह है कि जनता को कभी सही बात का पता नहीं चलता; शायद पता चलने भी नहीं दिया जाता। उसके सामने वे ही बातें और उसी शक्ल में रखी जाती हैं जिन्हें अखबार या सरकार के लोग पेश करना चाहते हैं। सचाई अफवाह के नीचे दबी रहती है या प्रचार के पीछे छिपा दी जाती है। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण नहीं था कि असम में घुसनेवालों का या हजरतबल का मामला इतना तूल पकड़ता।

हिन्दुस्तान के लोग यह समझ लें कि पाकिस्तान उन्हें निगल जायेगा, या पाकिस्तान की जनता यह मान बैठे कि हिन्दुस्तान उसे हड़प जाने को तैयार बैठा है, तो इसे प्रचार नहीं तो और क्या कहेंगे? पाकिस्तान या हिन्दुस्तान आज हजार एक-दूसरे के लिए बदनीयत हों, लेकिन एक दूसरे को निगल जायेगा यह आज की दुनिया में किसी तरह सम्भव नहीं है। फिर भी प्रचार ने ऐसा भय पैदा कर रखा है कि जो कभी होनेवाला नहीं है वह भी सामने होता दिखाई देने लगता है। और जब एक बार दिमाग ऐसा बन जाता है तो असम में घुसनेवालों को वापस भेजने की कार्रवाई या हजरतबल की चोरी एक बड़े षड्यंत्र का रूप ले लेती है, और फौरन खून बहाने और आग लगाने की तैयारी होने लगती है।

पूर्वी बंगाल में हिन्दुओं पर हमला और अपनी सरकार से झगड़ा, इन दोनों का सिलसिला बराबर जारी है। क्या कारण है कि पूर्वी बंगाल इस तरह उपद्रवों का अड्डा बन गया है? बात यह है कि पूर्वी बंगाल गरीब तो है ही, साथ ही वहाँ का मध्यम वर्ग जगा हुआ भी है। गरीब को जमीन चाहिए, धन्धा चाहिए। पूर्वी बंगाल में दोनों में से एक भी नहीं है; असम में जमीन है और शायद धन्धा भी है, इसलिए उसमें घुसने की कोशिश होती है। लेकिन जबतक दुनिया अलग अलग देशों में बँटी हुई है तब-तक एक देश दूसरे देशवालों को इस तरह घुसने नहीं दे सकता। इस सचाई को समझना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि पाकिस्तान में फौजी शासन है। पूर्वी बंगाल

के लोग खुले चुनाव की माँग करते हैं, राजनीतिक संगठन बनाने का अधिकार चाहते हैं। मध्यम वर्ग लोकतंत्र में अपना स्थान चाहता है। लेकिन फौजी सरकार इनमें से कोई बात मानने को तैयार नहीं है। नतीजा यह हो रहा है कि विरोध बढ़ता जा रहा है। लोगों की ओर से विरोध और सरकार की ओर से दमन, दोनों को मिलाकर घरेलू लड़ाई सी छिड़ी हुई है। ऐसी हालत में किसी भी सरकार के लिए यह बायें हाथ का खेल है कि वह कोई ऐसा शिगूफा छेड़ दे जिससे जनता का विरोध उसकी ओर से हटकर विधर्मी की ओर चला जाय। यह और भी आसान हो जाता है जब आपसी अनबन का पुराना इतिहास हो, जब पड़ोसी देश से कुछ प्रश्नों को लेकर विवाद छिड़ा हुआ हो, जब सरकार एक डिक्टेटर के हाथ में हो जिसके इशारे पर अखबारवाले चलते हों, जो किसी को खुलकर बोलने न देता हो, और जिसका गुट अपनी सत्ता को जनता की आजादी से ज्यादा कीमती समझता हो। जब पाकिस्तान की फौजी सरकार ने विरोधी के लिए भी छूट नहीं दी है तो विधर्मी को कब सुरक्षित रख सकती है? उसे तो कोई-न-कोई नारा चाहिए जिसमें जनता आपस में उलझी रहे और सरकार अपने को बनाये रखे। पूर्वी बंगाल में आज यही हो रहा है। वहाँ जो नीचे का मुसलमान है वह गरीबी से मर रहा है, और जो हिन्दू या ईसाई है वह पड़ोसी की छुरी का शिकार हो रहा है। वहाँ का सैनिक-शासन इसी तरह चल रहा है। सभी सैनिक-शासन इसी तरह चलते हैं। डिक्टेटर को हमेशा कोई-न-कोई आड़ चाहिए।

कहा जाता है कि दोनों देशों में हिन्दुओं या मुसलमानों पर जो अत्याचार होते हैं वे गुंडों के द्वारा किये जाते हैं। यह बात आज ही नहीं, हमेशा कही जाती रही है। गुंडे एक-से-एक बड़ी शरारत कर सकते हैं इसमें शक नहीं, लेकिन पूरे समाज को वे उबलते कड़ाह में नहीं डाल सकते जबतक कि शरीफ कहे जानेवालों तथा स्वयं सरकारी लोगों का हाथ उनके पीछे न हो। हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्धों का पिछले पचास वर्षों का इतिहास यही बताता है, और आज भी स्थिति कुछ बदली नहीं है। गुंडों की आड़ लेना शरारत की दलील है।

पाकिस्तान के पूर्वी हिस्से में जो गैर-मुसलमान बच गये हैं उन्हें अगर वहाँ शान्ति और सम्मान के साथ रहने दिया जाय तो वे रहना चाहेंगे, और जो मुसलमान हिन्दुस्तान में हैं उनके न रहने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। हिन्दुओं में जाति-पाँति है, छुआछूत है, तथा दूसरी भी तरह-तरह की संकीर्णताएँ हैं, जो सामाजिक जीवन को छिन्न भिन्न करती हैं और राष्ट्रकी एकता को विकसित नहीं होने देतीं, लेकिन हिन्दुस्तान के संविधान और कानून ने जाति या धर्म के नाम में कोई भेदभाव नहीं किया है। ऐसा भेदभाव पाकिस्तान के कानून में है। इस भेदभाव के रहते वहाँ के हिन्दुओं और ईसाइयों के मन में से यह भय कैसे दूर किया जायेगा कि वे किसी-न-किसी रूप में दुराव के शिकार नहीं बनाये जायेंगे? इस दृष्टि से

पाकिस्तान के हिन्दू और ईसाई का प्रश्न राजनीतिक और संविधानिक है, जब कि हिन्दुस्तान के मुसलमान का प्रश्न मुख्यतः सामाजिक है। देश का संविधान हर नागरिक को बराबर मानता है, यह स्थिति पाकिस्तान में कैसे पैदा की जायेगी, और अगर न पैदा हुई तो गैर-मुसलमानों का स्थान क्या रहेगा?

यह ठीक है कि अगर परिस्थिति अनुकूल बना दी जाय तो पाकिस्तान के हिन्दू वहाँ रहना चाहेंगे, और हिन्दुस्तान के मुसलमान यहाँ, लेकिन यह बात भी ठीक है—कारण चाहे जो हो, कि पाकिस्तान के अधिकांश मुसलमान वहाँ के हिन्दुओं को पाकिस्तान के प्रति वफादार नहीं मानते, ठीक उसी तरह जैसे हिन्दुस्तान के अनेक हिन्दू यहाँ के मुसलमानों को हिन्दुस्तान के प्रति वफादार नहीं मानते। दोनों अपने अपने देश में शुबहे की निगाह से देखे जा रहे हैं। बात अच्छी हो या बुरी, लेकिन जबतक यह स्थिति रहेगी तबतक दोनों चैन और इज्जत के साथ नहीं रह सकेंगे। आज भी भारत में जब कहीं-कहीं 'पाकिस्तान जिन्दाबाद'—जैसे नारे सुनाई दे जाते हैं तो वफादारी का सवाल ताजा हो जाता है। 'पाकिस्तान जिन्दाबाद'—बेशक जिन्दाबाद, हजार बार जिन्दाबाद—लेकिन 'हिन्दुस्तान जिन्दाबाद' भी क्यों नहीं? क्यों नहीं 'हिन्दुस्तान-पाकिस्तान जिन्दाबाद', 'हिन्दू मुसलिम जिन्दाबाद'? एक जिन्दाबाद का अर्थ है दूसरा मुर्दाबाद! इस तरह के नारे तलवार से भी ज्यादा तेज होते हैं, इसलिए इनके लगाने-वालों को जरा सोच समझकर नारे लगाने चाहिएँ। यह देख लेना चाहिए कि मन के किसी कोने में चोर तो नहीं है। स्थिति यों ही बहुत नाजुक है। नाजुक स्थिति को और नाजुक बनाते जाने में क्या बुद्धिमानी है? बच्चों का गला घोंटने या औरतों की हया लूटने में क्या बहादुरी है? हजारों वर्षों के इतिहास में यह सब बहुत हो चुका है। अब विज्ञान और लोकतंत्र के जमाने में जीवन की बुनियादों पर जरा नये सिरे से सोचने की जरूरत है, क्योंकि अब जो भूल होगी वह भयंकर होगी और उसका परिणाम होगा सम्पूर्ण सर्वनाश। अब हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न केवल हिन्दू-मुसलमान का नहीं है, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का भी है; ५५ करोड़ और उनकी नस्लों का है; एशिया के बड़े भूभाग का है।

हिन्दू-मुसलमान, हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बड़े सवाल की पूरी जिम्मेदारी सिर्फ सरकार पर डालने से काम चलता नहीं दिखाई देता। सरकार हमेशा बुद्धिमान या नेकनीयत होती ही है, यह मानना सही नहीं है। और अगर वह हो भी तो अकेली सरकार की शक्ति से यह सवाल हल होगा भी नहीं। कई मौके ऐसे होते हैं जब जनता को, या कम-से-कम उसमें जो लोकप्रिय लोग हों उनको, सरकार से अलग सामने आना पड़ता है, और आना चाहिए। जब व्यापक भय और शंका का वातावरण हो तो अच्छी सरकार भी जनता के एक भाग को दूसरे भाग से सुरक्षित रखने की स्थायी गारंटी नहीं दे सकती।

सुरक्षा पड़ोसी की सद्‌भावना में है; न कि सरकार की सेना में। सोचने की बात है कि अगर सरकार को बार बार सेना बुलाकर रक्षा करनी पड़ी तो वह रक्षा कितनी होगी और कबतक होगी। इस सुरक्षा को अरक्षा ही मानना अच्छा है, और यह मानकर सुरक्षा का कोई दूसरा उपाय सोचना जरूरी है। वह दूसरा उपाय है मित्रता; मित्रता के पहिले है सद्‌भावना। सद्‌भावना के लिए आवश्यक है कि हिन्दू और मुसलमान के मन में एक-दूसरे के प्रति जो भय, शंका और अविश्वास है वह दूर हो। कैसे दूर होगा, इसे तुरत सोचना चाहिए। हिन्दू को भी सोचना चाहिए, मुसलमान को भी सोचना चाहिए। भारत ने घोषित किया है कि वह धर्म-निरपेक्ष राज्य है। उसके संविधान में सबके लिए समान स्थान है। यह भारत की स्वतंत्र नीति है जिसने इस बात की परवाह किये बिना अपनाया है कि पाकिस्तान ने अपने लिए क्या नीति बनायी है। इस नाते भारत के हिन्दुओं की विशेष जिम्मेदारी है। उन्हें यह देखना है कि भारत की सीमा के अन्दर उनके कारण कोई भी नागरिक अपने को अरक्षित न महसूस करे। पाकिस्तान का जवाब देने का काम सरकार का है; उसे सलाह देने, और जरूरत पड़ने पर उसपर दबाव डालने का भी हमारा अधिकार है, लेकिन पाकिस्तान की करनी पड़ोसी के सिर उतारना किसी दृष्टि से उचित नहीं है—न नीति की दृष्टि से, न कानून की।

लेकिन मैं मानता हूँ कि जैसे ताली एक हाथ से नहीं बजती उसी तरह सामान्य जीवन में परस्पर विश्वास भी परस्पर चेष्टा से पैदा होता है। स्थिति बेहद बिगड़ चुकी है। कटुता का इतिहास, जाति-पाँति, दलबन्दी की राजनीति और पाकिस्तान के फौजी शासन के कारण मनुष्यता इतना नीचे दब गयी है कि उसे ऊपर लाने के कुछ नये उपाय सोचने पड़ेंगे। उनमें से एक बड़ा उपाय यह है कि अल्प संख्यक भी अपनी जिम्मेदारी महसूस करें। पाकिस्तान के हिन्दू और हिन्दुस्तान के मुसलमान को इस मामले में अब हिम्मत के साथ जरा आगे बढ़ना चाहिए। हिन्दुस्तान के मुसलमान की वह स्थिति नहीं है जो पाकिस्तान के हिन्दू की है। हिन्दुस्तान का मुसलमान खुलकर बोल सकता है। अगर वह चाहता है कि पाकिस्तान में हिन्दू और ईसाई बने रहें और हिन्दुस्तान में मुसलमान, तो वह क्यों न कहे कि पाकिस्तान के हिन्दुओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी हम अपने ऊपर लेते हैं ? वह क्यों न प्रोपेगेंडा और अफवाह का पर्दा फाड़े और सही, वाजिब बात सामने रखे ? अगर वह आगे बढ़ता है तो हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और पाकिस्तान के मुसलमानों का रुख बदलेगा, और तब पाकिस्तान का हिन्दू भी कह सकेगा कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों की सुरक्षा की जिम्मेदारी हम भी ले सकते हैं।

हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में जो उपद्रव होते हैं वे दूसरे देश के अपने धर्म-भाइयों के नाम में होते हैं, इसलिए यह जिम्मेदारी उनके सिर है; वे इससे बरी नहीं हो सकते। उन्हें निडर होकर कहना चाहिए—'मेरे ऊपर कृपा करो; कम-से-कम मेरे नाम में अपने पड़ोसी का खून

मत महाओ, क्योंकि अगर वहाँ उसका खून बहेगा तो यहाँ मेरा कबतक बचेगा'? यह केवल मनुष्यता की पुकार नहीं है, यह परिस्थिति का तर्क है। क्या परिस्थिति का यह स्पष्ट संकेत नहीं है कि बहुत अंशों में पाकिस्तान के हिन्दुओं की सुरक्षा हिन्दुस्तान के मुसलमानों से हो सकती है और हिन्दुस्तान के मुसलमानों की सुरक्षा में पाकिस्तान के हिन्दू भी काफी हद तक सहायक हो सकते हैं? इस संकेत को पहचानना चाहिए। क्या हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसे लोग नहीं हैं जो इस तर्क को महसूस करें, और एक सुसंगठित, शान्तिपूर्ण, सक्रिय आन्दोलन द्वारा हिन्दुस्तान-पाकिस्तान, दोनों में इस जिम्मेदारी का एहसास पैदा करें? अगर उनकी संगठित और खुले दिल की आवाज हिन्दुस्तान के शहर-शहर और गाँव-गाँव में गूँजती है तो असम्भव है कि पाकिस्तान के फौजी शासन की लोहे की दीवाल को छेदकर वहाँ भी न पहुँचे। और अगर अपने आप न पहुँचे तो पहुँचाने के उपाय सोचने चाहिएँ। तब वहाँ के प्रतिनिधि यहाँ आ सकते हैं और यहाँ के प्रतिनिधि वहाँ जा सकते हैं। हिन्दुस्तान के मुसलमानों की आवाज पाकिस्तान की जनता को प्रभावित करके रहेगी, और वहाँ का फौजी शासन भी उसकी उपेक्षा देर तक नहीं कर सकेगा।

भारतीय मुसलमानों की इस कार्रवाई से शंका और भय का वातावरण दूर होगा, बदले की भावना मिटेगी, और दोनों देशों के बीच अटकनेवाले सवालों का हल लोक-स्तर पर भी ढूँढ़ने की भूमिका बनेगी। अगर यह कार्रवाई शुरू होती है तो सरकारों के सोचने का ढंग भी बदलेगा।

एक ओर न्याय और सद्भावना के पक्ष में भारत के मुसलमान उठें, आगे बढ़ें और अपनी आवाज की गूँज पाकिस्तान तक पहुँचा दें, दूसरी ओर हिन्दू जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद आदि संकीर्णताएँ छोड़कर अपनी विशुद्ध परम्परा का मर्म पहचानें, और गर्व के साथ कहें कि भारत विभिन्न धर्मों का देश है और रहेगा। इस देश की यह विशेषता है। पहिले से कहीं अधिक अब आवश्यक है कि यह प्रतीति सब में जगे। सब यह मानकर चलें और अपने आचरण से सिद्ध करें कि हिन्दुस्तान सबकी सम्मिलित मातृभूमि है जिसे सबकी वफादारी और शक्ति की जरूरत है। संख्या के बल पर अगर हिन्दू उद्दंड हो जाय, और मुसलमान परिस्थिति देखकर चुप रह जाय या बेचारा बन जाय तो इस देश में न हिन्दू के लिए भविष्य है, न मुसलमान के लिए। अपने को भरपूर भारतीय नागरिक मानने में ही दोनों का भला है, सुरक्षा है। इसके साथ साथ हिन्दुस्तान-पाकिस्तान को सरकारी स्तर पर करीब लाने की कोशिश तत्काल होनी चाहिए। सुरक्षा, आर्थिक विकास और यातायात आदि को लेकर किसी प्रकार का 'कान्फेडरेशन' बन सकता है; और बनना चाहिए। हिन्दू-मुसलमान, दोनों सोचें, और जल्द सोचें। देर खतरनाक साबित हो सकती है।

—राममूर्ति

बाल-नाटिका

•

जुगतराम दवे

नन्हे मुन्ने नाटक खेलने में बडा रस लेते है। उनके लिए यह जरूरी नही कि वे गीतो और सवादो को रटें। राजा को इस तरह बैठना चाहिए और सिपाही को इस ढंग से पहरा देना चाहिए, बुढिया को इस तरह चलना चाहिए और नाई को इस तरह हजामत बनानी चाहिए, आदि अभिनयो को भी बालक से बार-बार करवाकर उन्हें पक्का कराना जरूरी नही।

बालको को यह सब सहज रीति से सिखाने और सकोच मिटाने का उत्तम उपाय यह है कि शिक्षको और बडो को स्वय बालक बनकर नाटक खेलना चाहिए। कभी-कभी बाल-नाटको में एक-दो पात्रों के रूप में बडे लोग भी भाग लें और इस तरह मिश्रित नाटक भी करके देखें।

शिक्षिकाओं का संकोच

अक्सर शिक्षक अथवा शिक्षिकाएँ खुद तो बैठी रहती है और अलग अलग वेश में आये बालनटों को जबानी तौर पर सुझाती रहती है कि वे अमुक तरीके से बोलें, अमुक तरीके से चलें और हाथो से अमुक ढंग का अभिनय करें। खुद उन्हें अभिनय करके दिखाने में सकोच और शरम मालूम होती है। यदि सम्मेलन बुलाया गया है और गाँव के भाई-बहन भी देखने आये है, तब तो उन्हें और भी ज्यादा शरम मालूम होती है। मन में डर-सा बना रहता है कि बालको के साथ बालक बनकर खेलने, भेस बदलने और अभिनय करने के कारण कही सभ्य समाज उन्हें मूर्ख और छिछोर न समझने लगे। कही लोग उनका मजाक न करने लगें।

बाल शिक्षिकाओं को हिम्मत के साथ ऐसे सकोच और झिझक को जीत लेना होगा। यह कोई कठिन बात नही है। यदि वे मन से यह मान लेगी कि बालको के सिवाय दूसरा कोई उन्हें देख नही रहा है, तो वे बाल-जगत में पहुँच जायेंगी और तब शरीर भी फूल की तरह हल्का बनकर बालक की भाँति नाचने-कूदने लगेगा।

अभिनय सहज हों

बालवाडी के नाटको में परदे टाँगने की और तरह-तरह के साधन बटोर कर दिखावा करने की खटपट में पडना जरूरी नही है। यही नही, बल्कि ऐसा करना दोषपूर्ण भी है।

जब बालको को राम और सीता का वेश धारण करना होता है, तो उनके सिर पर मुकुट बाँधा जाता है, उन्हें रेशमी वस्त्र पहनाये जाते है, राम के कन्धे पर धनुष लटकाया जाता है, गले में फूलो की माला पहनायी जाती है, हाथ में रगीन चिडियो के अथवा फूल पत्ती के बाजू-बन्द बाँधे जाते है। बालको के लिए तो यह सब अभिनय के समान ही दिलचस्प होता है। वे इसे भी एक प्रकार का नाटक ही मानते हैं। वे कैसी वेश भूषा धारण कर रहे है, इसे दिखाने के लिए बार-बार दर्शको की ओर देखकर मुसकराते है, और जब दर्शक यह सब देखकर आपस में हँसी-मजाक करते है, तो बालक उसे भी देखना चाहते है। जो शिक्षिका बच्चो की इस मन स्थिति को समझती है, वह बच्चो की वेशभूषा किसी एकान्त कमरे में नहीं, बल्कि रगमच पर सबके सामने धारण करने देगी या करायेगी।

"अरे, ये सब हमारी वेश-भूषा देख रहे है! जल्दी करो, परदा गिराओ!"—यो कहकर कभी परदे की आड की भी जा सकती है, लेकिन यह परदा कैसा होगा? दो बालक दो तरफ किसी चादर के दो पल्ले पकडकर

खड़े हो जायेंगे। पकड़े हुए परदे की आड में छोटे बच्चों के बीच जो हँसी-विनोद चल रहा होगा, उसे दर्शक बहुत कुछ देख सकेंगे और साज शृंगार में लगे बालक भी परदे के ऊपर से या नीचे से उनकी ओर देख देखकर हँस सकेंगे। छोटे बालक माँ की गोद में या कोने में छिप जाते हैं और फिर "ता—" बोलकर प्रकट होते हैं—इस लुका-छिपी में बच्चो को एक अनोखे आनन्द का अनुभव होता है, जैसा-कि ऊपर कहा गया है, बीच में परदे की आड कर देने से भी बालकों को लुका छिपी का-सा आनन्द लूटने को मिलेगा।

अभिनय के साधन

साज शृंगार के साधनों के लिए शिक्षिका को परेशान होने अथवा बटुवा लेकर बाजार में दौड़े जाने की भी कोई आवश्यकता नही है। फटे-पुराने कपड़ो को इकट्ठा करके उन्हें लाल, पीले, हरे, भूरे, केसरिया, गुलाबी, जामुनी आदि रंगो से रंग कर रख लेना चाहिए। इनकी मदद से हर तरह के सुन्दर अलंकारों और आभूषणो की रचना की जा सकेगी।

रंगीन कपड़े का फेंटा बाँधकर उसमें एकाध पख खोस देने से राजा की भडकीली पोशाक तैयार हो जायेगी। राम या कृष्ण का स्वांग सजाना हो, तो पीले या लाल रंग की धोती पहना देनी चाहिए। हाथो पर बाजूबन्द और रुद्राक्ष की माला सजानी हो, तो पहुँचो और भुजाओ पर रंगीन कपड़े बाँध देने चाहिए। पास पड़ोस में फूलो की कमी न हो तो उनका उपयोग माला के लिए किया जा सकता है।

गुलमोहर और सोनमोहर—जैसे रंगीन फूलो की मालाएँ साधारणतया कोई पहनता नहीं है, पर उनके उपयोग से नाटक की चमक-दमक में चार चाँद लग जायेंगे। कही फूल न मिलें तो नीम वगैरह पेड़ो की हरी पत्तियों के भी अलंकार बनाये जा सकते है। हरी-हरी निबोलियों को धागे में माला की तरह पिरोकर पहनाया जायेगा, तो वे हीरे-मोती के हार से भी ज्यादा शोभा देंगे। बालको को रंगो का स्वाभाविक आकर्षण होता है। इस तरह रंग बिरंगी और चित्र विचित्र वेश भूषा धारण करने से बालकों का नट-स्वभाव बहुत ही मौज में आ जायेगा और पोशाकें पहनने और नाटय खेलने का उनका उत्साह बढ़ जायेगा।

वेशभूषा

बाल-नाटकों में नन्हे-मुन्नो को माँ-बाप, राजा-रानी सेठ सेठानी—जैसे बड़े स्त्री-पुरुषों का भी अभिनय करना होगा। कभी-कभी उन्हें साधु-सन्तो और ऋषि मुनियों का वेश भी धारण करना होगा इन वेशो के लिए दाढ़ी-मूँछ की जरूरत खास तौर पर रहेगी। काली मूँछ और सफेद दाढ़ी की भी जरूरत होगी। इसके लिए सूत, सन, भिण्डी वगैरह का भी उपयोग किया जा सकता है। बाबा जी को दाढ़ी-मूँछ के अलावा निबोली-जैसे फलों की माला पहनायी और हाथ में दी जा सकती है। बूढ़े आदमी का अभिनय करते समय सफेद दाढ़ी-मूँछ के साथ आँखों पर चश्मा भी पहनाना चाहिए। ऐसे अवसरों पर बालक सभा में बैठे हुए बूढ़े लोगों से उनके चश्मे घड़ी और छाता वगैरा सामान माँगकर ले जाते हैं। वैसे तो नकली चश्मे भी पहनाये जा सकते हैं।

बाल-नाटकों में पशु-पक्षियों का काम करने के अवसर भी आयेंगे। इसके लिए बहुत अधिक सज धज की झंझट में नही पड़ना चाहिए। प्राणी विशेष की एक-दो विशेषताओ को ध्यान में रखकर उनका प्रदर्शन करना काफी होगा। बाघ बनने के लिए पीले काले पट्टा वाला कपड़ा बाँधना, हाथ की मुट्ठियो में पीला कपड़ा लपेटना और लम्बी छलांगें मार कर चलना तथा हाथ फैला-फैला कर गरजना बहुत है। हनुमान बनाने के लिए कमर में लाल पट्टा और लाल लँगोट पहना दें, साथ में पूँछ बाँध दें और माथे पर तथा गालो पर लाल निशान बना दें। गाय-बैल बनाने के लिए सफेद चादर लपेट दें और चार पैरों से चलने को कहें। कुछ लोग प्रयत्न पूर्वक डंडों के सींग भी बनाते और बाँधते है, लेकिन ऐसा न करने पर भी काम चल सकेगा।

पक्षियों का अभिनय

चिड़िया, कौवा, तोता, मोर, बगुला आदि पक्षियो का अभिनय करने के लिए उनके समान चोंच लगाना या

मुखड़े पहनाना जरूरी नहीं है, न नीचे झुककर उनकी तरह चलना ही जरूरी है। जिस पक्षी का अभिनय करना हो उसके रंग का रूमाल सिर पर या गले में बाँधना, बीच-बीच में चीं-चीं, काँव-काँव—जैसी आवाज करते रहना, समय-समय पर हाथ फैलाकर उन्हें पंखों की तरह हिलाना, दो पैरों से पक्षी की तरह फुदकना और हाथ से जमीन पर दाना चुगने का अभिनय करना चाहिए।

सवारियों का अभिनय

बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी का दृश्य दिखाने के लिए कुछ लोग छोटी खिलौना गाड़ी लाने और नन्हे बछड़ों या बकरियों को बैलों की तरह जोतने की झंझट में पड़ जाते हैं। वास्तव में इसकी कोई जरूरत नहीं। बैलगाड़ी के दृश्य में दो बालक नीचे बैठकर घुटना के बल चलें। सींगों की रचना करें तो ठीक, न करें तो भी ठीक। किसान उनके हाथ में रस्सी बाँधकर उसे रास की तरह थाम ले और हो-हो करके हाँकना शुरू करे। सचमुच की बैलगाड़ी दिखाये बिना ही सब समझ जायेंगे कि गाड़ी आयी है। घोड़ागाड़ी के या ताँगे के दृश्य में घोड़ा का काम करनेवाले बालकों को नीचे झुकने की जरूरत नहीं। वे खड़े-खड़े ही दौड़ेंगे। दौड़ते समय बीच-बीच में घोड़े की तरह हिनहिनाने और जाँघ को हाथ से पीटकर टापों की आवाज करते जायेंगे। यों रंगमंच पर घोड़ागाड़ी दिखाये बिना ही लोग समझ जायेंगे कि अब घोड़ागाड़ी आयी है।

बाल-नाटकों में तरह-तरह के कामों के दृश्य भी आयेंगे। कभी कभी इन कामों में लगनेवाले सचमुच के औजार भी लाये जा सकते हैं, लेकिन ज्यादातर तो अभिनय द्वारा ही औजारों का और उनकी मदद से किये जानेवाले कामों का अन्दाज दिया जा सकेगा। बोना, नीदना, खोदना, फसल काटना, भूसा ओसाना, आदि खेती-सम्बन्धी काम और पीसना, सींचना, काटना छाड़ बिनना आदि घर के काम औजारों का उपयोग किये बिना ही अभिनय द्वारा भली भाँति दिखाये जा सकेंगे।●

अनु०—काशिनाथ त्रिवेदी

सामाजिक विषय का पाठ्यक्रम

●

वंशीधर

सामाजिक विषय की शिक्षा का उद्देश्य है बालक को उसके प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वित ज्ञान देना—उस वातावरण का, जिसमें उसका घर और पड़ोस है, उसके खेत खलिहान, उसके नदी-तालाब और वन-बाग हैं, पहाड़ और समुद्र हैं, दुकान और बाजार हैं, और जिनका विकास एक समन्वित इकाई के रूप में हुआ है। भोजन, वस्त्र और आवास-सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने प्राकृतिक वातावरण में उपलब्ध भौतिक साधनों का उपयोग कर अपनी सुख-सुविधा के लिए नाना प्रकार के उद्योग धन्धों का, यातायात का, शासन-तन्त्र का, लेन-देन का और व्यापार का, कला और विज्ञान का, धर्म और दर्शन का विकास किया है। इस पूरी कहानी को बालक की और उसके समुदाय की आवश्यकताओं और अनुभवों के सन्दर्भ में समझना-समझाना ही सामाजिक विषय का लक्ष्य है।

बालक का यह समाज उसे 'दाय' के रूप में प्राप्त हुआ है। इस दाय के सच्चे रूप को समझे बिना वह

आज की अपनी जिन्दगी के सच्चे रूप को नहीं समझ सकता। इस दाय-रूपी पौधे की जड़ें अतीत के पाताल में हैं। उसके विकास में जलवायु का प्रभाव पड़ा है। विभिन्न जलवायुवाली परिस्थितियों में उसका रूप भिन्न हो गया है, परन्तु मूलत वह एक है। भौतिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य की संस्कृति में जो अन्तर आ गया है, उस अन्तर को समझे बिना उसकी मूलभूत एकता को भी समझा नहीं जा सकता। एकता मूलक विभिन्नताओं की कहानी को समन्वित रूप में कहना—इस प्रकार कहना कि उसकी धारा अखण्ड-अजस्र बनी रहे—सामाजिक विषय का प्रयोजन है।

इसीलिए सामाजिक विषय का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए, जिसमें इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, दर्शन आदि विभिन्न समाज-सम्बन्धी विषयों से प्रायोगिक सामग्री ग्रहण कर उनका इस प्रकार गुफन, संयोजन और विलयन किया जाय, जिससे विभिन्न विषयों की सीमा-रेखाएँ मिट जायँ और एक ऐसा विषय प्रस्तुत किया जा सके, जो मानव-समाज का अखण्डित-समन्वित रूप प्रस्तुत कर सके। जब ऐसा होगा तभी बालक अपने समुदाय और पड़ोस के जीवन को समझ पायेगा और बड़ा होकर उसकी प्रगति में योगदान दे सकेगा।

वास्तव में सामाजिक विषय का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना मनुष्य का जीवन। और इस विषय का पाठ्यक्रम बनाने में मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सामग्री ली जा सकती है, परन्तु सामग्री लेते समय अध्यापक को दो प्रश्न पूछने चाहिएँ। एक तो यह कि शीर्षक का अध्ययन बालक को आज के समाज में रहने की अधिक क्षमता किस सीमा तक प्रदान कर रहा है और दूसरा यह कि यह शीर्षक समाज के विकास की कहानी के संश्लिष्ट रूप की अखण्डता को खण्डित और विकृत तो नहीं कर देता?

इन बातों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक विषय का एक नमूने का पाठ्यक्रम दिया जा रहा है। पाठकों से प्रार्थना है कि वे अपने सुझाव भेजें। यह पाठ्यक्रम दर्जावार नहीं है।

पाठ्यक्रम

समुदाय का जीवन

(क) पोषण

१—भोजन—*समुदाय अपना भोजन कहाँ से प्राप्त* करता है। भोजन के प्रकार, शाक-सब्जी, फलफूल, दूध-अण्डा और मांस। भोजन प्राप्त करने के साधन—आखेट, पशु-पक्षी और खेती बागवानी।

२—मनुष्य का भोजन तब और अब। आदिम मानव का भोजन—शाक, फलमूल और मांस। आखेट और पशुपालन। दूध का प्रयोग, दूध के प्रयोग से लाभ।

३—भोजन—पकाना—आग का प्रयोग—भूनना और पकाना। पकाने से लाभ। पकाने के लिए बरतन बनाना। बरतन बनाने की कला और विधियाँ—चाक का आविष्कार। धातु का आविष्कार—धातु के बरतन।

४—कृषि का आविष्कार। कृषि—आज भोजन प्राप्त करने का प्रमुख साधन। खेती—तब और अब। खेती का पुराना ढंग। पुराने औजार—औजारों का क्रमिक विकास। खेती का आधुनिक ढंग। यांत्रिक खेती और सहकारी खेती। खाद और सिंचाई—प्राचीन और आधुनिक काल में।

५—कृषि के अन्य उद्योग-धन्धों का विकास—१—टोकरी और बरतन बनाने का उद्योग। २—बढ़ई का काम। ३—लोहार का काम—धातु का आविष्कार। धातु के आविष्कार के पहले के औजार। धातु के आविष्कार का मनुष्य के उद्योग-धन्धे, कला-कौशल और सभ्यता पर प्रभाव। युद्ध-कला में भारी परिवर्तन। ४—अन्न की सुरक्षा के लिए घर बनाने की कला का विकास। ५—अन्न की लेन-देन, विनिमय का प्रारम्भ। सिक्के का आविष्कार—सिक्के के अनेक रूप। लेन देन और व्यापार—बाजार—गाँव के बाजार नगर की दुकानें—नागरिक सभ्यता—मोहनजोदड़ो की नागरिक-सभ्यता। आयात और निर्यात। आयात-निर्यात के लिए यातायात के साधनों का विकास।

यातायात और संचरण :

(अ) यातायात

भोजन, वस्त्र और आवास-निर्माण सम्बन्धी सामग्री का आयात निर्यात और इस प्रसग में देश की यातायात और सचरण-प्रणाली का अध्ययन ।

१—भारत में यातायात के साधन—पशु, गाडियाँ, इक्के-ताँगे, साइकिल, मोटर, रेलगाडी और हवाई जहाज, बेडे, नाव और जहाज ।

२—स्थल के यातायात के विकास की कहानी—भारवाहक मनुष्य, भारवाहक पशु, बिना पहिये की गाडियाँ, पहियेवाली गाडियाँ, विभिन्न जलवायुवाले देशो में विभिन्न प्रकार के गाडी खीचनेवाले जानवर, भाप की शक्ति का आविष्कार और यातायात में उसका प्रयोग—रेलगाडी बिजली का आविष्कार और यातायात में उसका प्रयोग—बिजली से चलनेवाली गाडियाँ ।

३—जल के यातायात—लट्ठे, बेडे, नाव और पालो से चलनेवाली बडी-बडी नावें और जहाज, भाप के इजन से चलनेवाले जहाज, बिजली के बल से चलनेवाले जहाज । प्राचीन काल के जहाजियो की कहानियाँ ।

४—युद्ध के लिए यातायात के साधनो का विकास—रोमन को बनायी सडकें—अशोक और शेरशाह की सडकें । युद्ध के रथ—ह्यदल और गजदल और रथदल के अनुकूल सडको का निर्माण । आज के टैंक और युद्ध-पोत—लडाकू वायुयान ।

(ब) संचरण

१—आज के सचरण के विविध रूप—डाकघर, तारघर, इन सस्थाओ का अध्ययन । रेलवे-मेल-सर्विस । हवाईडाक ।

२—संचरण के विकास की कहानी—डाक ले जानेवाले कबूतर और दूसरे पक्षी । दमयन्ती का राजहस । पद्मावत का हिरामन तोता । युद्ध में समाचार ले जाने वाले पक्षी । डाक ले जानेवाले घुडसवार । राज्य द्वारा डाक-व्यवस्था । रलवे मेल-सर्विस और हवाई डाक । आज के डाक की कहानी ।

भोजन के पौस्टिक तत्व—सतुलित भोजन । भोजन में सफाई—सडा और बासी भोजन । भोजन के विविध ढग—हाथ से भोजन, छुरी, चम्मच और काँटे से भोजन (यूरोप और अमेरिका) तीलियो से भोजन (चीन)।

(स) रक्षण

१ वस्त्र—शीत से रक्षण, अलकरण । वस्त्र के विविध रूप—खाल, छाल, वल्कल, वस्त्र और चटाइयाँ । सिले हुए कपडे, सुइयो का प्रयोग । बने हुए कपडे—कताई का प्रारम्भ—बुनाई पहले—कताई पीछे । कपडे के विकास की कहानी—ऊनी, सूती, और रेशमी कपडे ।

वस्त्र कहाँ से आता है ? हाथ के कते बुने कपडे—स्थानीय बुनकर का जीवन—उसके औजार, कपडा बुनने के कच्चे माल का आयात । मिल के कते बुने कपडे । कताई-बुनाई-कला का विकास । पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति । क्रान्ति के पहले और पीछे । ईस्ट इंडिया कम्पनी—कपडे का व्यापार । भारत के वस्त्रोद्योग का पतन और उत्थान ।

२—आवास—घर की आवश्यकता—अच्छे घर के लक्षण—हवादार घर । घर बनाने में हवा और रोशनी की व्यवस्था । घर के कमरे—पशुओ और मनुष्यो के अलग अलग रहने की आवश्यकता ।

घर के विविध रूप—घर का आदिम रूप—पेडों के पालने—अफ्रीका के बौनो की पेडो पर झोपडियाँ ।

गुफाएँ—जमीन पर आदिम मानव के पहले मकान—आग के प्रयोग के फलस्वरूप । गुफाओ का जीवन । कुटुम्ब का विकास ।

खेमे—पशु पालन-युग के खेमे—मध्य एशिया के बद्दुओ के खेमे का जीवन ।

गाँव की झोपडियाँ और कच्चे मकान—कृषि-युग की देन, वातावरण का प्रभाव—उत्तरी ध्रुव के एस्किमो के बरफ के मकान । जापान के कागज के मकान ।

ईंट-पत्थर के पक्के मकान—ईट-पत्थर और चूने-गारे का उपयोग, आज के मकान—सीमेंट और लोहे का प्रयोग—अमेरिका के कई मजिलो के मकान ।

विभिन्न देशों की मकान बनाने की कला में विभिन्नता—इस कला की कहानी। संसार के कुछ प्रसिद्ध मकान—मिश्र के पिरामिड, बैबिलोन के झूल्ते-बाग—भारत के गुफा-मन्दिर। आगरे का ताजमहल, उत्तर भारत और दक्षिण भारत के मंदिर।

रक्षण

समुदाय अपने रक्षण का प्रबंध कैसे करता है? खेती-बाडी का रक्षण। व्यक्तिगत और सामुदायिक सम्पत्ति का समाज के अनैतिक तत्वों से रक्षण। पुलिस और जेल। इन सस्थाओं का अध्ययन। इनमें सुधार के सुझाव।

बाह्य आक्रमण से रक्षण के लिए सेना। सेना का आधुनिक सगठन। सेना के विकास की कहानी। युद्ध के कला विकास के तीन महत्वपूर्ण चरण—धातु का विग्पत लोहे का प्रयोग बारूद का आविष्कार और अणुबम का प्रयोग। आज के युद्ध का सहारक रूप—मानवता के नाश का खतरा। अहिंसा का प्रयोग—शांतिसेना।

रोगों से रक्षण—स्वच्छ जल स्वच्छ वायु स्वास्थ्य वर्धक आवास। पेशाबघर, टट्टी और स्नानघर। उपचार—प्राथमिक उपचार। उपचार और औषध की कहानी। प्राचीन काल के वैद्य और हकीम। आजकल के डाक्टर—होमियोपैथिक डाक्टर। औषधालय और अस्पताल। रेडक्रास और अस्पताल की सस्थाओं का अध्ययन। पशुओं के अस्पताल। अशोक की कहानी।

शिक्षण और रंजन

अ—शिक्षण

समुदाय की शिक्षण सस्थाएँ—गाँव के स्कूल, सस्कृत पाठशालाएँ और मक्तब-प्रौढ़शालाएँ।

नगरों की शिक्षण-सस्थाएँ—प्रारम्भिक, पूर्व माध्यमिक और माध्यमिक स्कूल और कालेज। विश्व विद्यालय।

शिक्षा का आदिम रूप—गुफाओं में पत्थर के औजार बनाने की सतान को शिक्षा, भिन्न भिन्न उद्योग धधों की शिक्षा। शिक्षा का प्राविधिक रूप।

प्राचीन भारत के आश्रमों की शिक्षा—बौद्धयुगों के महान विश्वविद्यालय। मुसलिमकाल में शिक्षा।

आज की शिक्षा के विविध रूप-गुरुकुल और विद्यापीठ-आज के कालेज और विश्वविद्यालय—कला कौशल की शिक्षा-उद्योग धधा की शिक्षा। प्राविधिक विद्यालय और प्रशिक्षण सस्थाएँ।

पुस्तकालय तथा वाचनालय—अखबार, पत्र पत्रिकाएँ और रेडियो।

ब—रंजन

लोक-कला—लोकगीत-लोकनृत्य-सगीत, नृत्य और नाटक।

खेल कूद—भारतीय खेल-कूद, कबड्डी, खोखो, घुड़दौड़।

पाश्चात्य सामूहिक खेल—फुटबाल, वालीबाल, हाकी, क्रिकेट टनिस, बैडमिंटन आदि। स्काउटिंग।

मनोरजन और खलकूद की सस्थाएँ—बालचर सस्था सेवासमिति किशोर और युवक—मगलदल—खलकूद के क्लब।

●

जीवन एक सम्पूर्ण वस्तु है। उसके अनेक पहलू हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन के लिए एक ही हैं। इस प्रकार जीवन एक अखण्ड और सतत रूप से बहनेवाला झरना है।

●

शिक्षा और समाज-निर्माण

०

विवेकी राय

शिक्षण द्वारा समाज-निर्माण का कार्य ऊपर से हो या नीचे से—विश्वविद्यालयों से हो या ग्रामीण पाठशालाओं से ? नौकरशाही के लिए क्लर्क उत्पन्न करनेवाली बड़ी-बड़ी युनिवर्सिटियों की शिक्षा हमारी संस्कृति और हमारे वातावरण के मेल में नहीं बैठ पाती। शिक्षा द्वारा समाज के जर्जर अंगों में रक्त-संचार कराना साधना की अपेक्षा रखता है। यह एक तपस्या है। इसके साधन स्कूल हैं। नगर के बड़े-बड़े कालेज नहीं, गाँवों के कच्चे मदरसे !

स्कूल भावी समाज का प्रतिबिम्ब होता है। बालक रहता तो समाज में है किन्तु उसके शारीरिक अथवा बौद्धिक विकास की प्रेरणा स्कूल में ही मिलती है। अतः उसके ऊपर स्कूल के वातावरण का ही विशेष प्रभाव रहता है। यदि समाज की नसों में किसी नयी प्राणशक्ति का इंजेक्शन देना है तो समूचे समाज शरीर में बहनेवाली शाला रूपी नाड़ी से ही प्रारम्भ करेंगे। किसी ग्रामीण समाज का दर्शन करना हो तो वहाँ के स्कूल में चले जाइए। सम्पूर्ण कक्षा के बालकों को ध्यान से देखिए। स्पष्ट पता चल जायगा कि इस गाँव का समाज कैसा है। प्राय प्रत्येक परिवार के बालक स्कूल में आते हैं। वे घर पर जिस प्रकार के वातावरण में रहने के अभ्यस्त होते हैं वैसे ही स्कूल में भी रहते हैं।

क्या स्कूल समाज के माडल हैं ?

आवश्यकता इस बात की है कि स्कूल को हम समाज का 'माडल' बनायें। लोग कहते हैं कि बालक एक 'छोटा मनुष्य' है, परन्तु वे भूल जाते हैं कि वह अभी 'मनुष्य बनने के रास्ते में है।' इसकी सारी प्रेरणा उसे स्कूल से मिलती है। हम समझते हैं कि समाज की सारी त्रुटियाँ प्रकारान्तर से स्कूलों में हैं और वहीं से वे समाज में आती हैं। मादक पदार्थों के सेवन की ही बात लीजिए। गाँवों में इसकी अधिकता देखने पर दाँतों तले उँगली दबा लेना पड़ता है।

बड़े-बड़े सिद्धान्तों और जीवन नियमों की चर्चा छोड़िए। एक साधारण बात पर ध्यान दीजिए। स्कूल लगा है। 'वशिष्ठ' के उत्तराधिकारी और 'पाराशर' के दायाद चरण पादुका की खटपट से कमरे को मुखरित करते चले आ रहे हैं। शिष्य गण सन्नाटे में आ जाते हैं। भय है कि अब तब वह चरण पादुका उनकी पीठ पर कुन्दी-कन्दुका बनी ! उनकी सूरत देखिए। आश्चर्य होगा। इतने नर वानर कैसे बनाकर बना रखे गये ? नंगे, धूल लगे या कई परत कपड़ों पर मैल बैठाये, चेहरे पर कालिमा पात, आपको छात्र मिलेंगे। लँगोटी पहने (बेलसी में) चिथड़े रूपक बीसवीं शताब्दी के अभिशाप, यंत्र-युग के निर्मम उपहास, आपको 'मुनि-अगस्त' के 'सुतीक्ष्ण' मिलेंगे। ९९ प्रतिशत लड़कों के कुरते में बटन नहीं। कुरता सिला गया तभी से वह वैसा ही है। कदाचित इसकी आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। जूता क्या ? भला इसकी क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार भ्रष्ट, अजर, जगली समाज स्कूलों में मिलेगा। यही वह भावी पीढ़ी है, जिसके कन्धों पर ग्रामीण जीवन आनेवाला है। ये बालक समाज में जाकर क्या करेंगे ? इनकी आयु का वह महत्वपूर्ण भाग, जिसमें वे जीने के लिए शिक्षा पाते हैं अंधकार में बीता तो हम उनसे प्रकाश की आशा भला कैसे करें ?

शिक्षा शिक्षा के लिए नहीं, समाज के लिए

ऐसी बात नहीं है कि स्कूल में समाज की शिक्षा की सुविधा और सम्भावनाएँ नहीं, बल्कि ठीक इसके विपरीत समाज की पूरी शिक्षा स्कूलों में ही दी जा सकती है। जहाँ लोग मिलकर एक साथ चलते हों वही समाज है। पुनः यह शिक्षा पाठशाला से बढ़कर और कहाँ हो सकती है ? प्रत्येक वर्ग के बालक हैं, सबमें भ्रातृत्व उत्पन्न किया जा सकता है। दूसरे के दुःख में

दुखी और गुख में सुखी होना सिखा सकते हैं। मनुष्य अकेला तो रह सकता नही, वह रहेगा मनुष्य के साथ ही, समाज में मिलकर ही। इस समाज में वह कैसे रहे, कैसे वह दूसरे की सुविधा का ध्यान रखते हुए अपना विकास करे, यह स्कूल में ही सिखाया जा सकता है।

साथ-साथ रहने से ऐसे भी अवसर आ जाते हैं जब पर दु खकातरता, सत्य, न्याय, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि उदात्त मानवीय भावों के विकास के लिए प्रेरणा मिल्ती है। दो बालक पढ़ रहे हैं। एक चिल्लाकर पढ रहा है और दूसरा मौन होकर। यहाँ चिल्लाकर पढनेवाले बालकों को यह समझा दिया जाय कि तुम्हारी इस क्रिया से तुम्हारे साथी की हानि हो रही है तो यहीं से कितन ही सद्गुणो का श्रीगणश हो जाता है। बात यदि बालक के मन मे जम गयी तो भविष्य में वह ऐसा काय नही करेगा, जो उसके पडोसी के लिए बाधक हो। इस प्रकार 'पडोसी से प्रम करो' जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को हम स्कूल के साधारण वातावरण में ही उत्पन्न कर सकते है।

उत्तरदायित्व जीवन की एक मुख्य वस्तु है। कितने अनुत्तरदायी लोग समाज के स्थायी सिरदर्द बने जीवन यापन करते है। यदि स्कूल में, कच्ची आयु में उत्तरदायित्व के छोटे-छोटे काय सौपे जात, वे उन्ह करते तथा वैसे कामों का उन्हें अभ्यास होता तो कदापि एसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तरदायित्व के साथ चरित्रादि की शिक्षा भी सम्यक् रूप से स्कूलो में दी जा सकती है। इससे सामाजिकता की भूख स्कूलों में ही मिट सकती है। चरित्र के अन्तगत "आचरण की दृढता और उद्देश्य की सच्चाई' आज कितने लोगो को स्कूलों में सिखायी जाती है ? रचनात्मक कार्य और विनय (डिसिप्लिन) के दुर्भाव से शिक्षा की अधोगति-सी हो रही है। वह अव्यवहार्य तो हो ही जाती है, मानसिक भार भी होती है। भला ऐसे शिक्षालय से निकले छात्र समाज का भार कैसे वहन करेंग ? सबसे बडा दुर्भाग्य यह होता है कि बालक समझ नहीं पाता कि वह क्यो पढ़ रहा है ?

नयी पीढ़ी का निर्माण

आज का बालक ही कल का नागरिक होता है। नागरिकता की आवश्यक प्रवृत्तियाँ यदि उसने बचपन ही में न सीखीं तो जीवन भर अयोग्य नागरिक ही रह जायेगा तथा समाज को काँटे की तरह खटका करेगा। छात्रावस्था ऐसी ही लचीली अवस्था है, जिसमें यदि चाहें तो विनीतता की भावनाएँ भर कर उस एक योग्य नागरिक बना दें अथवा यदि चाहें तो उसके स्वाभाविक पशुत्व को खाद पानी देकर, पनपने देकर उद्दण्ड पशु बना दें, जो दिन-दहाडे नागरिक अनुशासन पर कुठारा घात करने में तनिक भी सकोच न करे। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षा के केन्द्र में बालक है। पाठशाला, शिक्षक, विषय तथा पद्धति सब बालक के लिए। इसी बालक के व्यक्तित्व निर्माण में आनेवाला समाज निहित रहता है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि समाज निर्माण का अथ ही है बालक निर्माण।

बालक साधन है। देश की उन्नति चाहनेवाले उसका उपयोग कर पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सकते है। ग्रामसुधार की समस्या लीजिए। यह हमारे निर्माण-कार्य का प्रमुख अग है। क्या प्रौढ लोगो की सहायता से ग्राम-सुधार का नक्शा पूरा-पूरा उतर सकता है ? कदापि नहीं। एक बार घूर उठवा दिया गया परन्तु क्या घूर लगानेवाले का हृदय-परिवतन हो गया ? जबतक घूर लगानेवाले है, एक बार नही सौ बार सफाई कराइए, वह घूर जहाँ-का-तहाँ लग ही जायेगा। यदि बालकों में स्वच्छता का स्थायी भाव उत्पन्न कर दें तो कदाचित सरकार को ऐसे प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रह जाय।

स्कूल समाज की मिल है। बालक उसके कच्चामाल है। परन्तु उसका सचालक कौन है ? वह पूँजीवादी, साम्राज्यवादी, शोषक, निरकुश और उत्पीडक तो नही है ? चलानेवाले मजदूर (अध्यापक) असक्त हडताली और असन्तुष्ट ज्वालामुखी तो नही है कि अब आग भडकी, तब आग भडकी ? विचारने योग्य बात है। यदि मिल का सचालक पूँजीवादी हुआ तो स्वार्थी भी

होगा और निकालनेवाली वस्तु को उपयोगिता की दृष्टि से नही, बल्कि अपने लाभ की दृष्टि से देखेगा। उधर मजदूर निर्माण इसलिए नही करता है कि उत्पादन से जनता की सेवा होगी, बल्कि वह अपने काम का मूल्य चांदी के टुकडो में आँकने का अभ्यस्त होता है। फलत सारा कार्य एक गलत तरीके पर होता है। उद्देश्य ही भ्रष्ट होता है। पग-पग पर अडचन, द्वेष और हडताल का भय रहता है। इस खींचातानी में बिगडता है समाज, और हानि होती है प्रजा की। हमारी शिक्षण सस्थाओ की यही दशा है। उनमें समाज के उपयोगी तत्व उत्पादित नही होते। जैसे-तैसे अध्यापक भी बेगार टालता है।
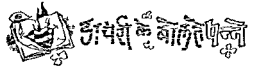
अध्यापक पर महान उत्तरदायित्व

आज के सामाजिक जीवन के बीच हमने अध्यापक को देखा। हम उसे एक ऐसे चौराहे पर पाते है जहां से समाज की सभी प्रवृत्तियो के मार्ग निकलते है। एक तरफ वह जीवन के तरीके को प्रभावित करता है। बालको में परिवर्तित युग की जीवन रक्षा सम्बन्धी भावनाएँ भरता है। उनकी व्यवसाय शक्ति को उत्तेजित करता है। उन्हें कुछ करने की प्रेरणा देता है और इस प्रकार समाज के उस रोग का, जिसे हम बेकारी कहते हैं, उन्मूलन करता है। स्थायी शांति का मार्ग प्रशस्त करता है। दूसरी ओर प्रेम सम्बन्धी भावनाओ के मार्ग पर बडी दूर तक चलने की प्रेरणा देता है। बालक में प्रकृत्या निहित कामवासना को खेल, कला तथा रचनात्मक कार्य में लगाकर, उसका ऊर्ध्वगमन कराकर शाश्वत सौंदर्य की भावना जगाकर समाज का उपकार करता है। तीसरी ओर दूसरे व्यक्तियो के साथ उसके सम्बन्ध को वह विशुद्ध तथा परिपक्व बनाता है। विश्व-बन्धुत्व जैसे सिद्धान्तो को वह बालक के मस्तिष्क तथा हृदय में भरता है। चौथी ओर भावात्मक जीवन को भी उद्बुद्ध करता है। न्याय, सत्य, अहिंसा आदि मानवीय भावों की प्राण-प्रतिष्ठा वह बालक मे करता है। इस प्रकार अध्यापक के सिर पर समाज-निर्माण के सारे उत्तरदायित्व है। वह सदा से इस कार्य को करता चला आ रहा है। आज भी वही कर सकता है। ●

बच्चे की चित्रकारी

●

क्रान्ति

एक बाल प्रदर्शन की तैयारी। बाल-प्रदर्शन का अर्थ बच्चो के हाथ से बनी वस्तुओ और चित्रो का प्रदर्शन। बच्चो को इस प्रदर्शन से कोई मतलब नहीं, उन्हें कोई जानकारी भी नहीं। उनका सम्बन्ध तो तभी तक जबतक सर्जन में लगे है, चित्रण में व्यस्त है। शिक्षिकाओ को उनकी सब चीजो का सग्रह कर लेना होता है। एक शिक्षिका इसी प्रकार के सग्रह को लेकर बैठी है। जो चित्र अच्छे हैं उन्हें प्रदर्शन में ले जाने के लिए छाँट रही है। बारी-बारी, एक चित्र को उठाती, गौर से देखती, कुछ सोचती, फिर दूसरे चित्रो के आजू बाजू में रखती। इस तरह लगभग ४५ मिनटों में सारे चित्रों को उसने बाँट दिया। कुछ को प्रदर्शन के योग्य समझा, कुछ को नहीं। मैं देखती थी, सोचती थी, पर समझ नहीं सकी कि योग्य और अयोग्य के किस पैमाने से चित्रा को

नापना पड रहा है। मन की उलझन को प्रकट किया। शिक्षिका ने दो चित्र उठाये-एक योग्य, दूसरा अयोग्य। बताया-"जिसमें कोई आकार स्पष्ट नही है, केवल रेखाएँ-रेखाएँ इधर से उधर खीचीं नजर आती हैं उसे देखने में किसे आनन्द आयेगा-तो यह प्रदर्शन के लायक नही। जिसमें किसी जानवर, किसी वस्तु का आकार नजर आता है, नजर आता है इतना ही नहीं, पर बराबर स्पष्ट और सही है उसे देखते है तो लगता है कि बच्चे ने इतना बनाया। देखने में समझ में भी आता है।"

पूछा—"जो अपने को आनन्द दे सके और अपनी समझ में आ सके वैसे चित्रो की प्रदर्शनी है या बच्चों की कृति कैसी है क्या है, इनकी प्रदर्शनी है? अगर अपना आनन्द और समझ प्रधान है तब तो बाजार में प्राप्य चित्रों की तुलना में यह सब फीका और बेकार है।"

शिक्षिका ने बात के मर्म को पकडा। बोली—"तो क्या सारे-के सारे चित्र ले जाना ठीक होगा? कौन देखेगा?'

"तो क्या जितने आप ले जायेंगी उन्हें कोई देखेगा ही? *आपके बच्चो ने बनाय हैं, इस कारण आपको तो* रुचि है, दूसरों को तो वह भी नही होगी। क्यो, होगी क्या?"

शिक्षिका—"बात तुम्हारी ठीक है, बच्चो की चीजो में, बच्चो के जीवन में, बच्चो की रुचियों में बड लोगो को रस नही पडता। जो उनका अपना बच्चा है उसमें भी उन्हें दिलचस्पी नही होती। तो क्या प्रदर्शन का यह विभाग "

"नहीं विभाग छोडने की बात नहीं। लेकिन इसका रूप बदलना चाहिए। शैक्षणिक पद्धति सामने आनी चाहिए। इस अच्छे बुरे की छँटनी से तुलनात्मक पद्धति से रस पैदा नही कर सकते। यह चित्र है। सिवाय रेखाओ के कुछ समझ में नहीं आता। लेकिन जिस बच्चे ने ये रेखाएँ बनायीं होगी उसकी कल्पना में उस समय किसी न किसी दृश्य का, किसी वस्तु का और किसी व्यक्ति का सम्पूर्ण रूप उसके मन में रहा होगा। जब बच्चा अपना पुरुषार्थ पूरा कर अपनी कृति को हर्ष से, गर्व से देखता है, उसी समय उससे पूछा जाय तो वह अपनी कल्पना के चित्र को बताता है। बताता है उतना ही नहीं, पर कोशिश करता है कि उसकी कल्पना के चित्र का दर्शन हमें भी हो। उन्हीं रेखाओं में हो। वह बार-बार हमारी उगली पकडकर अमुक-अमुक जगह रखता है, और कहता है,—'देखो यह तालाब है, किनारे पर पेड है, ऊपर बन्दर है, तालाब में गाय नहाती है, धोबी कपडा धोती है' आदि जितना जिसके मन में हो। बच्चे के लिए ये रेखाएँ नही, पर सम्पूर्ण कला है जिसका सम्पूर्ण आनन्द वह लेता है।"

"हाँ, यह तो होता है। मैंने कभी-कभी किसी किसी बच्चे से उसी समय पूछा है तो उसने बताया है, जगल है, जगल में आग लगी है, जानवर भाग रहे है। अपनी समझ में कुछ नही आता था।"

"होता था न वैसा? फिर सुनकर अच्छा लगता था या नही? अच्छा लगता था तो, दर्शकों को भी उस कला से तभी आनन्द मिल सकता है जब वह बच्चों की दुनिया में पहुँचे। बच्चा की दुनिया में पहुँचाने का रास्ता *एक यह भी हो सकता है कि उस चित्र पर शिक्षिका* बच्चे की कल्पना का उल्लेख कर दे, और बच्चे की आयु लिख दे, उतनी भूमिका सामने रखकर जब ये चित्र देखे जायेंगे तो अपनी भी समय में आयेगे। फिर हर चित्र अपने में पूर्ण होगा। एक की दूसरे से तुलना नही की जा सकेगी। तुलना हो भी कैसे सकती है। चित्रो की तुलना का मतलब बच्चे के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की तुलना। एक व्यक्तित्व को दूसरे से अच्छा या बुरा बताने का मतलब है एक को समाप्त कर देना। जब समाप्त कर दिया तब शिक्षण काहे का। शिक्षण तो तभी सम्भव है जब सबको अपने में सम्पूर्ण मानें। जो जिस किस्म का है उसे उस तरह आगे बढ़ने में मदद दें।"

बातें सुनते सुनते शिक्षिका को पता नही क्या लगा कि सारे चित्र जो अलग-अलग किये थे, मिला दिये और फिर नये सिरे से छँटनी की। नयी छँटनी में क्या था यह मै देखना चाहती थी पर साथ की बहन आग्रह कर रही थी घर चलने का। मै चली आयी।

●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

शिक्षा का स्तर कैसे उठे ?

सम्पादकजी,

"""आज शिक्षा पर करोड़ों रुपया व्यय किया जाता है तथा योग्य शिक्षाशास्त्रियों की सहायता से शिक्षा-सुधार की योजनाएँ बनायी जाती है, फिर क्या कारण है कि शिक्षा का स्तर उठने के बजाय गिर रहा है ? यदि विषय पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो कारण मिलना कठिन नही होगा। यह तो सभी जानते है कि जिस भवन की नीवें कमजोर होगी वह अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता। आज वही दशा वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की है, जिसके लिए आज की सरकार पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। कोई यह न समझे कि कोई कार्य केवल राय दे देने अथवा धन खर्च कर देने-मात्र से पूरा हो सकता है। यह कोरा भ्रम है।

किसी योजना के गुण अवगुण का विचार किये बिना, उसे बलात् किसी पर लाद देना तथा अमल करने पर विवश करना पूर्णतया अनुचित तथा अन्याय है, परन्तु वर्तमान उत्तरप्रदेश सरकार ने उत्तरप्रदेश की पाठशालाओं में गत वर्ष से डबल शिफ्ट की योजना लागू की है, जिसके अन्तर्गत कक्षा दो दस बजे पाठशाला में आती है और पौन बजे चली जाती है तथा सवा बजे कक्षा एक आती है जो चार बजे तक पाठशाला में रहती है। इन दोनों कक्षाओं मे अधिकतर छात्र छोटी अवस्था के होते है, साथ ही अनेक परस्पर भाई-भाई। विशेषकर एक घर के तो होते ही है, जो एक साथ ही पाठशाला आते है, परन्तु राजकीय योजना के अन्तर्गत पाठशाला आने पर उनको पृथक् हो जाना पड़ता है। परिणाम-स्वरूप या तो कक्षा एक के छात्र पाठशाला के दरवाजे पर शोर मचाते रहते हैं या फिर अन्यत्र खेलने निकल जाते है। फल यह होता है कि कक्षा एक की उपस्थिति तो कम होती ही है, जिसका दंड भोगना पड़ता है अभागे सम्बन्धित अध्यापक को। साथ ही संरक्षक भी बच्चे के आवारा घूमने से कम परेशान नही होते। फलस्वरूप संरक्षक अध्यापक को कोसता है और अध्यापक अपने भाग्य को।

इस योजना के पूर्व जहाँ एक अध्यापक को ३० अथवा ३५ छात्र पढ़ाने पड़ते थे वहाँ इस योजना के अनुसार ५०-५० छात्र पढ़ाने पड़ते है। परिणाम यह होता है कि बेचारे अध्यापक का घोर परिश्रम करने पर भी असफलता का मुँह देखना पड़ता है। इस योजना के अन्तर्गत जहाँ अन्य पाठशालाओं में ग्रीष्म-कालीन समय सात से साढ़े ग्यारह होगा वहाँ इस योजना के अधीनस्थ पाठशालाओं का समय जुलाई और अगस्त में भी १० से ४ तक रहेगा, जिसका परिणाम होगा—पाठशालाओं मे बच्चों की अनुपस्थिति। यह तो रही डबल शिफ्ट योजना की बात।

"अध्यापन-कार्य मेरा पैतृक धंधा है। अपने १६ वर्ष के अध्यापन-कार्यकाल के अनुभव के आधार पर शिक्षा-स्तर में सुधार-हेतु कुछ सुझाव नीचे दे रहा हूँ। आशा है सरकार उनपर विचार करने का कष्ट करेगी—

(१) शिक्षानीति निर्धारित करते समय योग्य शिक्षकों की सम्मति अवश्य ली जाय। (२) विधान-परिषदों में योग्य प्राथमिक अध्यापकों को लिया जाय। (३) गोष्ठियों के आयोजन द्वारा अध्यापकों के विचार एकत्र किये जायें। (४) अध्यापकों की आर्थिक दशा सुधारी जाय तथा सरकारी और गैरसरकारी अध्यापकों के अन्तर को समाप्त किया जाय। (५) प्राथमिक शिक्षा का पूर्णरूप से राष्ट्रीयकरण किया जाय। (६) पुस्तकों का मूल्य कम किया जाय, ताकि निर्धन बच्चे भी खरीद सकें। (७) डबल शिफ्ट योजना समाप्त की जाय।

शंकररामशर्मा

हम चाहते हैं कि अन्य शिक्षक बन्धु भी इस प्रश्न पर विचार भेजें। —सम्पादक

समाज-परिवर्तन
की
नयी प्रक्रिया
(नयी तालीम)

●

रामभूर्ति

आज की दुनिया में जो शक्तियाँ काम कर रही है तथा प्रचलित समाज की जो आवश्यकताएँ और समस्याएँ है उन्हीं के सन्दर्भ में इस विषय पर विचार किया जा सकता है। विशेष रूप से हमारे सामने एशिया और अफ्रीका के देश हैं जो अभी हाल में स्वतन्त्र हुए हैं या स्वतन्त्र होने की कोशिश कर रहे है। इन देशों की नयी स्वतन्त्रता से उत्पन्न परिस्थिति की चुनौती के मुख्य रूप से तीन अंग है

सुरक्षा (डिफेंस)
विकास (डेवलपमेंट)
लोकतन्त्र (डिमोक्रेसी)

और जितनी समस्याएँ है वे सब इन तीन 'डी' से जुडी हुई हैं। इनमें से एक को दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है।

एशिया और अफ्रीका की समस्या

इस त्रिविध चुनौती की जड इस बात में है कि इन दोनों महाद्वीपों के अनेक देशों में एक नहीं, तीन क्रान्तियाँ साथ-साथ चल रही हैं। पहली क्रान्ति अमेरिका के स्वातन्त्र्य-संग्राम-जैसी है जो पूर्ण स्वतंत्रता के लिए उपनिवेशवाद का अन्त करना चाहती है, दूसरी, फ्रांस की क्रान्ति-जैसी है जो अभी थोडे लोगों के हाथों में सीमित सत्ता और सम्पत्ति को सर्वजन के हाथों में बाँटना चाहती है, और तीसरी, औद्योगिक क्रान्ति है जो दस्तकारी की सभ्यता को मशीन की सभ्यता में बदल रही है। इसमें एक ओर करोडों करोड के मन में नयी आशाओं और आकाक्षाओं का उदय हुआ है, तो दूसरी ओर अनेक ऐसी समस्याएँ पैदा हुई है जिनके हल पर केवल एशिया और अफ्रीका का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया का भविष्य निर्भर है।

तीन क्रान्तियाँ एक साथ

एक ही क्रान्ति का झोंका समाज को जड से हिला देने के लिए काफी होता है, लेकिन जब समाज को एक साथ तीन-तीन जबरदस्त क्रान्तियों के झोंके बरदाश्त करने पडें तो क्या आश्चर्य है कि वह उबलते कडाह की तरह दिखाई दे, और किसी समस्या के समाधान के लिए परिचित मूल्य और प्रचलित तरीके काम न दें ? इन तीन क्रान्तियों के सन्दर्भ में सुरक्षा, विकास और लोकतन्त्र के रूप में प्रकट होनेवाली त्रिविध चुनौती का मुकाबिला एशिया और अफ्रीका के नये देश किस तरह कर रहे है ? क्या तरीके अपनाये जा रहे है, और उनके क्या परिणाम हो रहे है ?

पहली चीज सुरक्षा है। सुरक्षा के लिए हर देश अपनी सेना सजा रहा है। देश की स्वतन्त्रता आज भी विदेशी आक्रमण के भय से मुक्त नहीं है, इसलिए सुरक्षा हर देश की पहली चिन्ता है, और उस चिन्ता से बचने का एक ही सहारा है—सैनिक-शक्ति। लेकिन आज की दुनिया में कमजोर और गरीब देश की सैनिक-शक्ति सुरक्षा की गारंटी नहीं रह गयी है, इसलिए उसे किसी बडे देश की सहायता और संरक्षण की तलाश करनी ही पड रही है। सुरक्षा के लिए अपनी सेना और संरक्षक की सेना–इसके सिवाय दूसरा रास्ता नहीं सूझ रहा है।

विकास के मुख्य आधार

चूँकि सुरक्षा हर देश की मुख्य चिन्ता है, इसलिए उसका विकास का सम्पूर्ण कार्यक्रम सुरक्षा-मूलक (डिफेंस मेंटेड) हो गया है। और जब सुरक्षा की पद्धति पारम्परिक है तो विकास के लिए भी पारम्परिक पद्धति ही अपनायी गयी है। हर देश में विकास का मुख्य आधार पैसे के रूप में पूँजी ही मानी गयी है और इसके लिए देशी और विदेशी पूँजी इकट्ठा करने की कोशिश की जा रही है। इस तरह देशी और विदेशी पूँजी तथा तकनीक की साझेदारी प्रकट हुई है। और पाश्चात्य ढंग का केन्द्रित उद्योगीकरण विकास की बुनियादी कार्यक्रम माना गया है। उद्योगीकरण के इस व्यापक कार्यक्रम में निजी पूँजीपतियों के अलावा स्वयं राज्य पब्लिक सेक्टर का नाम लेकर एक बड़े पूँजीपति के रूप में सामने आया है। लेकिन बावजूद इसके कि देश की विकास-नीति सरकार-द्वारा एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होती है, उत्पादन और वितरण की मुख्य प्रेरणा मुनाफे की ही है, और कोई देश अभी तक बाजार की अर्थनीति से मुक्त नहीं हो पाया है और न उस दिशा में कोई ठोस कदम उठता ही दिखाई देता है। विकास के हर पहलू को छूनेवाली योजना बनी है, लेकिन किसी देश में अपनी पूरी श्रमशक्ति को उत्पादन के साथ जोड़ने का प्रयत्न नहीं हुआ है।

सुरक्षा पारम्परिक, विकास पारम्परिक, तो राज-नीतिक ढाँचा भी पारम्परिक ही रह गया है। हर जगह लोकतंत्र का स्वरूप पार्टी-तंत्र का है। कहीं एक ही पार्टी है, और कहीं एक से अधिक। लेकिन प्रचलित धारा है–पार्लियामेंटरी लोकतंत्र को सीमित और संकुचित करने की–कहीं 'पीपुल्स डिमोक्रेसी' के नाम में, तो कहीं 'बेसिक', 'गाइडेड' या 'कंट्रोल्ड डिमोक्रेसी' के नाम में। भारत अकेला अपवाद है। ढाँचा किसी देश में किसी तरह का हो, लेकिन हर जगह शासन की अन्तिम शक्ति नौकरशाही और सेना के ही हाथ में है। इस तरह हम देखते हैं कि सुरक्षा, विकास और लोकतंत्र, तीनों क्षेत्रों में इन नये देशों ने प्रचलित, पश्चिमी तरीके ही अपनाये हैं। किसी ने अपनी विशेष परिस्थिति के लिए कोई नया नमूना नहीं विकसित किया है।

समस्याएँ नयी हों, नयी से नयी हों, और उन्हें सुलझाने के लिए जो तरीके अपनाये जायँ वे सब पारम्परिक हों तो सोचने की बात है कि इस विसंगति का क्या परिणाम हुआ है। क्या पुरानी नीति से नयी समस्याओं की चुनौती का मुकाबिला किसी भी हद तक किया जा सकता है?

सेना सुरक्षा की गारंटी नहीं

सुरक्षा को लीजिए। क्या एशिया और अफ्रीका के नये देश यह मान सकते हैं कि वे अपनी सेना के कारण सुरक्षित हैं? वास्तविकता यह है कि जो कुछ सुरक्षा है वह विदेशी संरक्षण और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन के कारण। ऐसी हालत में स्वभावतः हर देश अन्दर तक किसी-न किसी विदेशी प्रभाव में है, यहाँ तक कि कई देश तो विदेशी कूटनीति के हाथ के खिलौने बनते जा रहे हैं। सेना छोटी हो या बड़ी, अणुअस्त्रों के सामने उसका कोई मूल्य हो या न हो, लेकिन राष्ट्र की सुरक्षा के नाम में हर देश का सुरक्षा-बजट बढ़ रहा है और सैनिकवाद का बोलबाला होता जा रहा है। बावजूद इसके यह बात जाहिर हो गयी है कि किसी देश की सेना उसकी सुरक्षा की गारंटी नहीं रह गयी है।

कुछ भी हो, सेना को सारे विकास-कार्यक्रम में जो प्रमुखता मिली है, उसके कारण सेना के खर्च में बराबर वृद्धि हो रही है और विकास के दूसरे कामों के लिए खर्च की कमी पड़ रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कल-कारखानों के विकास के बावजूद देश के सारे आर्थिक जीवन में नागरिक आवश्यकताओं का स्थान गौण हो गया है। और सब मिलाकर विकास की एक ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है जिसमें एक ही देश में राष्ट्र की अर्थनीति जनता की अर्थनीति से अलग हो गयी है। राष्ट्र की आय बढ़े और जनता का सुख घटे, ऐसी स्थिति को क्या कहेंगे? गाँवों में सामुदायिक विकास के नाम से जो विविध कार्यक्रम चले हैं उन्होंने भी बहुसंख्यक जनता को अछूता ही छोड़ दिया है। निजी पूँजीवाद और राज्य के पूँजीवाद की व्यवस्था में टोटल उत्पादन के आँकड़े चाहे जो दिखाये जायँ लेकिन इस लोक-कल्याणकारी पूँजीवाद के अनिवार्य परिणाम हैं—विषमता, भ्रष्टाचार,

बेकारी, शोषण, और उत्पादन का ह्रास। ऐसा दिखाई नही देता कि जनता की कोई मूल समस्या हल हुई है। इतना ही नहीं, यह भी नहीं दिखाई देता कि राष्ट्रीय विकास की योजनाओ में जनता का भी कोई स्थान है। नित्य नये तनावों और संघर्षों का शिकार होनेवाली जनता यही देखती रह जाती है कि जीविका के स्रोत बराबर उसके हाथ से निकलते चले जा रहे है, और ऐसा लगता है जैसे देश बाजार और सरकार के मालिकों के हाथ गिरवी रख दिया गया है।

लोकतंत्र का क्या ?

स्वाभाविक है कि ऐसी अर्थनीति लोकतंत्र के विकास म बहुत सहायक नही होती। राज्य के क्षेत्र और शक्ति म अपार वृद्धि हुई है, यह तो दिखाई देता है, लेकिन लोकतंत्र का 'लोक' कहीं भी नही दिखाई देता। हर जगह तंत्र 'लोक' के सीने पर सवार है। पिछले सत्रह वर्षों म हमने देख लिया कि लोककल्याण के नारे से शासक लोक को जगाने म सर्वथा असमर्थ रहे है। लोकतंत्र में जनता मालिक कही जाती है, लेकिन हर जगह जनता नौकरशाही के हाथ मे है उसी द्वारा शासित और संचालित है। इतना ही नही राजनैतिक संगम पर शासक और सेठ गंगा जमुना की तरह मिले हुए दिखाई देते है और सैनिक भी सरस्वती की तरह गुप्त नही है, बल्कि प्रकट हो रहा है। देश का सारा जीवन शासक-सैनिक-सेठ की इस धुरी पर घूम रहा है। जनता की आवश्यकताओ और आकांक्षाओ की पूर्ति नही हो रही है। राजनैतिक नेतृत्व अप्रतिष्ठित हो रहा है। व्यापक निराशा और असमाधान है। समाज में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही है। एशिया और अफ्रीका के नभ-मंडल में फासिस्टवाद के काले बादल फैलते चले जा रहे है। ऐसी परिस्थिति म अनेक देशों में सेना मुक्ति का अंतिम साधन बनकर सामने आयी है और उसने लोकतंत्र के 'तंत्र' को अपने हाथ में लेकर 'लोक' को बन्दूक के हवाले कर दिया है। लोककल्याणकारी राज्य तथा पार्टी निष्ठ लोकतंत्र के गर्भ से एक के बाद दूसरे देश में सैनिकतंत्र का जन्म होता चला जा रहा हैं। भारत में भी इसके संकेत प्रकट हो रहे है।

स्वभावतः ऐसी हालत में प्रश्न उठता है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोकतंत्र के प्रयोग का इतना विकृत परिणाम क्यों प्रकट हो रहा है। सचमुच कारण क्या है कि ये देश न अपनी शक्ति से सुरक्षित हो पा रहे हैं, न अपेक्षित दिशा में इनका विकास हो रहा है, और न इनमें लोकतंत्र की जड़ ही जम रही है ? कारण इतिहास में है। ये देश लम्बी गुलामी से गुजरे हैं जिसके कारण राष्ट्रीय जीवन का सहज, स्वाभाविक विकास नहीं हो सका है और जिन क्रान्तियों से पश्चिम के देश बने वे इनमें अपने समय से नही हो सकीं। इसके विपरीत गुलामी के दिनों में विदेशी साम्राज्यवाद और स्वदेशी सामन्तवाद का गहरा गठबन्धन हुआ। सामन्तवाद ने साम्राज्यवाद को बल दिया और साम्राज्यवाद के चले जाने पर उसका वारिस हुआ सामन्तवाद उत्तराधिकारी हुआ। इसलिए हम देख रहे है कि राजनीतिक नेतृत्व के रूप में हर देश का सामन्तवाद उतने और उसी प्रकार के लोकतंत्र को ग्रहण कर रहा है, जो उसको किसी-न-किसी रूप में जीवित रहने दे। साम्राज्यवाद के चंगुल से निकलनेवाले हर देश का समाज सामन्तवादी मूल्यों और परम्पराओं से जकड़ा हुआ है, और स्वाभाविक विकास और शक्ति संगठन के अवसर के अभाव में जनता का जो बौद्धिक ह्रास और चारित्रिक पतन होना अनिवार्य था, वह हुआ है।

जनता का नगण्य रोल

यह स्थिति कुछ बदली होती अगर स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व ने परिस्थिति और समय के संकेत को पहचाना होता और साहसपूर्वक विकास की नयी दिशा अपनायी होती, लेकिन उसने तो वफादार बेटे की तरह बाप की विरासत ही निभायी। नतीजा यह हुआ कि किसी देश ने राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, धर्मनीति और शिक्षानीति, इनम से किसी क्षेत्र में नयी परम्परा का सूत्रपात नही किया है। सेना, पूँजी और पार्टी की पुरानी ही नीवें पर वलफेयर स्टेट के नये त्रिभुजात्मक ढाँचे को खडा करने की कोशिश की गयी है। राष्ट्र के विशाल मंच पर सारा नाटक मध्यम वर्ग खेल रहा है जनता सिर्फ पीछे पीछे चलकर छिटपुट पार्ट अदा कर रही है।

रास्ता क्या है ?

हर जगह यही परिस्थिति है। इस परिस्थिति से निकलने का रास्ता ढूंढना है। यह जाहिर है कि जिन देशों में क्रान्तियाँ एक के बाद दूसरी हुई हैं उन्हें बीच में सगठन (कान्सालिडेशन) का समय मिलता गया है जिसमें वे उपयुक्त सस्थाएँ और चरित्र विकसित करते हुए आगे बढे हैं, लेकिन एशिया और अफ्रीका के नये देशो को तीन क्रान्तियाँ एक साथ करनी पड रही हैं, इसलिए प्रचलित तरीको से उनका काम नही चलता दिखाई देता। साथ ही यह बात भी है कि उनमे क्रान्ति की डायनेमिक्स का जो स्वरूप प्रकट होगा वह परिचित स्वरूपो से भिन्न होगा, क्योकि उनकी परिस्थिति भिन्न है, इसलिए हमें क्रान्ति और समाज-परिवर्तन के पूरे प्रश्न पर और इस प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी सारी मूल मान्यताओ पर नये सिरे से विचार करने लिए तैयार होना चाहिए।

विज्ञान और लोकतंत्र

कुछ भी हो, आज के जमाने में किसी भी विचार की भूमिका विज्ञान और लोकतंत्र के सिवाय दूसरी नहीं हो सकती। विज्ञान और लोकतंत्र को छोडकर क्रान्ति या समाज-परिवतन, या किसी भी दूसरी चीज की बात सोचना इतिहास को पीछे ले जाने जैसा प्रयत्न होगा, उस प्रयत्न की विफलता निश्चित है, क्योकि आज समाज के सामने जो प्रश्न (सिनॉप्सिस) प्रस्तुत हैं वे विज्ञान और लोकतंत्र के सिवाय दूसरी किसी भूमिका म हल नही हो सकते।

लोकतत्र ने समता की माँग पैदा की है और विज्ञान ने सबके लिए समान अवसर की सम्भावना प्रकट की है। कुछ का लोकतत्र फासिस्टवाद होता है और कुछ के लिए विज्ञान व्यवसाय है। सबका विज्ञान और सबका लोकतंत्र हो, यह विज्ञान और लोकतत्र दोनो का लक्ष्य भी है और आधार भी। लोकतात्रिक क्रान्ति नागरिको की क्रान्ति है, कामन मैन की है, विशिष्ट नागरिकों की नही। पारम्परिक क्रान्ति में जो हिंसात्मक सघर्ष का तत्त्व है उसका न विज्ञान से मेल बैठता है, न लोकतत्र से। विज्ञान के कारण सघर्ष सर्वनाश का छोटा भाई बन गया है और लोकतत्र की भूमिका में सघर्ष लोकतत्र की बुनियाद को ही समाप्त कर देता है।

विज्ञान और लोकतत्र दोनो को जीवन के हर क्षेत्र मे अनाक्रमण (नान अग्रेशन) की आवश्यकता है। जिस प्रक्रिया में व्यक्ति का व्यक्ति पर या समुदाय का समुदाय पर आक्रमण होगा उससे विज्ञान और लोकतत्र की निष्पत्ति नहीं होगी। लोकतत्र का आधार नागरिक है। नागरिक की ही शक्ति लोकतत्र की शक्ति है। नागरिक-शक्ति और सैनिक शक्ति दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। दोनो मे से हम किसे ग्रहण करेंगे, यह लोकतत्र के विकास में निर्णायक प्रश्न बन गया है। इस प्रश्न के उत्तर पर यह बात निर्भर करती है कि लोकतत्र सरकार-शक्ति यानी सैनिक-शक्ति से चलेगा या जनता की सहकार-शक्ति से। सहकार-शक्ति से चलनेवाले लोकतत्र के लिए स्वावलम्बी सहकारी इकाइयो की कल्पना की गयी है। इस तरह विज्ञान और लोकतत्र, दोनो का विकास अहिंसा के विकास के साथ जुडा हुआ है। और ऐसा लगता है कि एक के विकास के लिए दूसरे का विकास अनिवार्य है।

संघर्ष-मुक्त क्रान्ति

अगर यह बात सही हो तो नये जमाने की सामाजिक क्रान्ति वह होगी जिसमें युद्ध, सघर्ष या षड्यत्र न हो। इतना ही नही, बल्कि पार्टी के लोकतत्र में जो प्रेशर की तकनीक अपनायी जाती है वह भी अव्यावहारिक और अनावश्यक है। सघर्ष चाहे वह खुला हो या षड्यत्र द्वारा हो, वह हमेशा दल विशेष के माध्यम से होता है। इसलिए समाज पर विजय दल की होती है, जब कि आज के लोकतत्र की आवश्यकता जन-जन की सहकार-शक्ति की है। सामाजिक क्रान्ति के लिए साम्यवाद ने सघर्ष का सिद्धान्त बताया और कई देशो ने उसे अपनाया। उसका क्या परिणाम हुआ है यह मालूम हुआ। भारत के स्वातत्र्य-सग्राम की विशेष परिस्थिति मे शान्तिपूर्ण दबाव का तरीका अपनाया गया था। हो सकता है कि साम्य-वादियो के सामने सघर्ष का या भारतीय स्वातत्र्य-सैनिको के सामने प्रेशर का कोई विकल्प नही था। लेकिन आज जब कि विज्ञान की चरम भयकरता और लोकतात्रिक

शक्ति की पूरी सम्भावना प्रकट हो चुकी है तो सघर्ष या प्रेशर का अगला कदम सोचना ही चाहिए। स्वयं प्रेशर को हम खुले सघर्ष का अगला कदम मान सकते हैं, लेकिन् प्रेशर का अगला कदम प्रेशर की अपेक्षा अधिक सौम्य होगा, यह निश्चित है। सघर्ष विरोधी के दमन द्वारा समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया है, प्रेशर में विरोधी का दमन नही है, उसका आत्म समर्पण है, लेकिन वास्तविक लोकतत्र की पद्धति यह होनी चाहिए कि 'लोक' अपने सामूहिक निर्णय से समाज परिवर्तन की परिस्थिति और शक्ति, दोनों पैदा करे। लोकतत्र मे प्रतिनिधियो द्वारा बनाये गये कानून से जो परिवर्तन होता है उसका सरक्षक पुलिसमैन हो जाता है। उससे जनता की सहकार-शक्ति का विकास नही होता। लोकतात्रिक क्रान्ति प्रत्यक्ष कार्रवाई की प्रक्रिया है। और इस प्रक्रिया की बुनियाद विचार-परिवर्तन के आधार पर अपने लिए सामूहिक निर्णय है।

सब मालिक, मालिक-मजदूर नहीं

सघर्ष अथवा प्रेशर के क्रान्ति-दर्शन में समाज सम्पन्नो और विपन्नो में बँट जाता है और यह मान लिया जाता है कि दोनो में कोई कामन ग्राउण्ड नही है। इसलिए एक की विजय के लिए दूसरे की पराजय ही नही, बल्कि उसका समूल नष्ट होना आवश्यक है। समूल नाश (एलिमिनेशन) की यह पद्धति न विज्ञान में व्यवहार्य है, न लोकतत्र में इष्ट। लोकतत्र एलिमिनेशन की नही, एसिमिलेशन की प्रक्रिया है। कोई प्रक्रिया चाहे जितनी शान्तिपूर्ण हो अगर उसमें एलिमिनेशन का आग्रह है तो उससे लोकतत्र का पोषण नहीं हो सकता। इसलिए अब यह मानकर चलना पडेगा कि समाज में सब हैव्स है हैव नाट्स कोई नहीं है, और इसी भूमिका मे सामाजिक क्रान्ति की बात सोचनी पडेगी। भूमि का मालिक, पैसे का मालिक, श्रम का मालिक, बुद्धि का मालिक—जितने है सब मालिक ही मालिक है। सब मालिकों को मिलाकर नयी समाज रचना करनी होगी, लेकिन मालिकी किसी की नही रहेगी। स्वामित्व का विसर्जन होने पर स्वामी की वास्तविक सृजन-शक्ति प्रकट होती है। इस सृजन-शक्ति को वर्ग-सघर्ष की आग में जला डालना समाज का अहित करना है। ऐसा करना क्रान्ति नही, क्रान्ति का विरोध है।

विचार: सामाजिक शक्ति

हजारो वर्षों के विकास-क्रम से दुनिया आज विज्ञान और लोकतत्र की जिस मजिल पर पहुँच गयी है उसपर 'विचार' को सामाजिक शक्ति का रूप देना और विचार-परिवर्तन को समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया बनाना सम्भव हो गया है। आज का नागरिक पहले के नागरिक की अपेक्षा परिस्थिति के सकेत को कहीं अधिक समझता है, वह विचार की सद्भावनाओं का कायल है, उसकी सहानुभूति विस्तृत हो गयी है। उसमें यह प्रतीति जग गयी है कि अपने स्वार्थ को समाज के हित के साथ मिलाये बिना निजी समस्या का भी हल नही होगा। इसलिए क्रान्तिकारी का अब यह काम हो गया है कि वह व्यापक पैमाने पर लोकमानस म ऐसी प्रतीति जगाये और अपन लिए सामूहिक निर्णय की भूमिका तैयार करे। इस प्रक्रिया में जोर रेमिस्टेंस पर नही है, बल्कि असिस्टेंस पर है, यानी सही विचार क्या है इसकी प्रतीति पैदा करने में सहायक होने पर है। ऐसी हालत में क्रान्ति कत्ल और कानून का रास्ता छोडकर स्वयं सघर्ष मुक्त हो जाती है और सघर्ष मुक्त होकर लोकशिक्षण, लोक-सम्मति और लोकनिर्णय की सम्मिलित प्रक्रिया बन जाती है। यह तो ठीक है कि इस प्रक्रिया में सघर्ष के लिए स्थान नहीं है, लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या इसमें प्रतिकार के लिए स्थान नही है? प्रतिकार और विरोध में अन्तर है। प्रचलित लोकतत्र मे विरोध सत्ता-प्राप्ति की एक प्रक्रिया है, प्रतिकार मे सत्ता-प्राप्ति की नहीं, स्वत्व-रक्षा की दृष्टि होती है, इस शर्त के साथ कि उस स्वत्व-रक्षा का विचार विरोधी को भी मान्य होना है, लेकिन मानते हुए भी वह दूसरे के स्वत्व *का अपहरण करने की अनधिकार चेष्टा करता है।* प्रश्न हो सकता है कि क्या विचार मनवाने के लिए प्रतिकार नही हो सकता? उत्तर है, लोकतत्र की भूमिका मे नही, लेकिन जो विचार मान्य हो चुका उसके अनुसार आचरण न करने का दुराग्रह हो तो उसका सत्याग्रही प्रतिकार हो सकता है। जाहिर है कि प्रतिकार की यह स्थिति, यानी रेमिस्टेंस, अपवाद है, सामान्य नियम सहकार का ही है।

अगर क्रान्ति के सम्बन्ध में यह स्थिति मान्य हो तो समाज-निर्माण के प्रश्नों पर नये सिरे से विचार करने की जरूरत है। नयी भूमिका मे प्रचलित मान्यताएँ बहुत काम की नही साबित होंगी। सोचना होगा कि क्या राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सैनिक-शक्ति के मुकाबिले शान्ति-पूर्ण सामूहिक प्रतिकार-शक्ति अधिक कारगर उपाय नही है? क्या समाज का समग्र विकास सरकार के डंडे से ही हो सकता है?—और क्या उसके लिए शैक्षणिक प्रक्रिया अधिक वैज्ञानिक, अधिक लोकतात्रिक, अधिक समर्थ, अधिक उपयोगी और अधिक सास्कृतिक नही होगी? और अगर समाज को अलग अलग गुटो और 'प्रेशर ग्रुप्स' का अखाड़ा नही बनाना है तो क्या राजनीति के स्थान पर लोकनीति को मान्य करना अधिक युक्ति-संगत नही होगा? ये प्रश्न ऐसे है जो समाज-रचना के प्रश्न पर नयी दृष्टि डालने के लिए विवश करते हैं, साथ ही ये ऐसे प्रश्न है जिनका उत्तर पारम्परिक ज्ञान और अनुभव से मिलता दिखाई नही देता।

वर्ग-संघर्ष आउट आव् डेट

अगर विज्ञान और लोकतंत्र की भूमिका मे संघर्ष-मुक्त क्रान्ति अपेक्षित है तो वर्ग-संघर्ष इसकी डायनेमिक्स नही हो सकता। उसकी डायनेमिक्स विचार-परिवर्तन अथवा हृदय परिवर्तन में ही हो सकती है। और उस नयी डायनेमिक्स की प्रक्रिया कोई न कोई नयी तालीम ही होगी। वह नयी तालीम स्कूल के बँधे अभ्यासक्रम तक सीमित नहीं है, वह गर्भ से मृत्यु तक फैली हुई है और पूरा सामाजिक जीवन और प्राकृतिक वातावरण उसकी परिधि के अन्तर्गत है। ऐसी नयी तालीम के तीन स्वरूप हैं :

क्रान्ति का वाहन : नयी तालीम
निर्माण की प्रक्रिया नयी तालीम
शिक्षा की पद्धति नयी तालीम

क्रान्ति के वाहन के रूप में नयी तालीम का लक्ष्य नये समाज की रचना है—नाम चाहे उसका जो दीजिए। कोई उसे 'अहिंसक समाज' कहेगा, कोई 'मुक्त व्यक्तियों का भाईचारा' तो कोई 'लोकतात्रिक समाजवाद' की संज्ञा देगा। हर उदय गुण में आध्यात्मिक होता है इसलिए एक दूसरे से बहुत भिन्न नही होता। इस समय अपने देश में नयी तालीम को समाज के तीन बन्धन एक साथ काटने है—राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद। इसलिए क्रान्ति की भूमिका मे इन तीनो के निराकरण के लिए लोकतत्र के 'लोक' की नयी तालीम के हेतु आज देश के सामने "त्रिविध कार्यक्रम" प्रस्तुत हुआ है। इसके तत्व ये है—

अभिनव ग्रामदान,
स्वावलम्बी खादी और
शान्तिसेना।

अभिनव ग्रामदान मे शासन-निरपेक्ष सहकारी समाज की बुनियाद है। स्वावलम्बी खादी में पूँजी-निरपेक्ष औद्योगिक क्रान्ति की बुनियाद है, और शान्तिसेना में तो साक्षात् शस्त्रमुक्त प्रतिकार-शक्ति प्रकट हुई है। इस तरह यह लोकतत्र को राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिक-वाद से एक साथ मुक्त करने की योजना है।

क्रान्ति की शैक्षणिक प्रक्रिया

मुक्ति की इस क्रान्ति की प्रक्रिया क्या है? प्रक्रिया है लोकशिक्षण। विचार से प्रभावित होकर गाँव के लोग अपनी विद्रोह-शक्ति का परिचय देते है और अपने सामू-हिक निर्णय द्वारा ग्रामस्वराज्य के लक्ष्य के प्रति अपनी निष्ठा घोषित करते है। उनके सामने न कानून का दबाव है और न तलवार का भय। भारत भर में फैले हुए एक के बाद दूसरे ग्रामदान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य और उसकी मनुष्यता के बीच में सत्ता और सम्पत्ति की जो दीवाल खड़ी है उसे तोड़ने के लिए वह उत्सुक है, लेकिन आज की सामाजिक व्यवस्था तथा अपने मोह के कारण वह तोड नहीं पाता, पर ज्योंही उसे विचार की शक्ति और सरक्षण प्राप्त हो जाता है, वह मुक्ति की घोषणा कर देता है। ग्रामदान संघर्ष-मुक्ति क्रान्ति का प्रत्यक्ष चरण है जिसमे स्वामित्व विसर्जन की बुनियाद पर व्यक्ति और समाज के हित का समन्वय हुआ है। सबने देखा है कि सबके विसर्जन में सबका संरक्षण है। उसके आधार पर नये समाज की रचना हो सकती है।

एशिया और अफ्रीका के पिछड़े देशों में निर्माण की समस्या अत्यंत जटिल है। इन देशों में निर्माण के लिए केवल साधनों का ही अभाव नहीं है, बल्कि बुद्धि और चरित्र का भी उतना ही जबरदस्त अभाव है। भारत में पिछले तेरह वर्षों में सरकार के पैसे और सरकार की शक्ति से निर्माण का जो व्यापक प्रयत्न किया गया है वह विफल हुआ है। क्यों? अभाव, अज्ञान और अन्याय के त्रिविध महारोगों से ग्रस्त जनता ने शासक को नहीं माना, सुधारक को नहीं सुना, सेवक को नहीं स्वीकारा, लेकिन जहाँ कहीं कोई उसके बीच मित्र बनकर गया उसे विचार शिक्षित किया, उसके सामने उसने अपना हृदय खोल दिया। जाहिर है कि अब समाज राजनीति और व्यवसाय (पालिटिक्स और बिजिनेस) के नेतृत्व से ऊब गया है, वह शिक्षा (एज्युकेशन) का नेतृत्व चाहता है। शिक्षा के नेतृत्व और शिक्षा की प्रक्रिया से जो निर्माण-कार्य होगा उसकी सफलता निश्चित है। इसलिए अगर निर्माण का अप्रोच प्रशासकीय या व्यावसायिक न होकर शैक्षणिक हो, तो उसकी निष्पत्ति आर्थिक विकास के रूप में तो होगी ही, साथ ही बौद्धिक और चारित्रिक विकास भी होगा, यानी समग्र विकास होगा।

शिक्षा की पद्धति के रूप में नयी तालीम के दो मूल तत्व हैं—एक समवाय, दूसरा स्वावलम्बन। समवाय और स्वावलम्बन की प्रक्रिया द्वारा शिक्षार्थी अपने ज्ञान और पुरुषार्थ को अपने अस्तित्व तथा परिवर्तनशील प्रकृति और समाज के साथ जोड़ता है, अपने व्यक्ति तत्व को समष्टि तत्व में जोड़ता है अपनी विशिष्टता को समग्रता में जोड़ता है।

समवाय और स्वावलम्बन से दूर हटी हुई जो शिक्षा आज हमारे तथा हमारे जैसे दूसरे देशों में चल रही है उसके समाज-परिवर्तन की दृष्टि से कितने भयंकर परिणाम हुए हैं, यह सोचने की बात है। सबसे पहले यह साफ जाहिर है कि यह शिक्षा मध्यमवर्गीय जीवन पद्धति, यानी शोषण और दमन के समाज को मजबूत करती है। समाज में उपलब्ध बुद्धि (टेलेंट) सबसे पहले शासन की ओर झुकती है और आफिस की रुटीन में फँसकर रह जाती है, निर्माण को उपलब्ध नहीं होती। ऐसी शिक्षा आँकड़ों की दृष्टि से चाहे जितनी फैल जाय, लेकिन राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से रहती है आंशिक ही, वह राष्ट्र के हर सदस्य और हर समुदाय की शिक्षा नहीं बन पाती। और चूँकि शिक्षा शासन की ओर से विभागीय तौर पर चलायी जाती है, इस कारण उसमें नेतृत्व की शक्ति आ नहीं पाती, वह राजनीतिक नेताओं की स्तुति, अधिकारियों की गुलामी और व्यापारी-दानियों की मुहताजी से ऊपर नहीं उठ पाती। यह तो उत्पादक को भी अनुत्पादक बना देती है। ऐसी शिक्षा से समाज का आर्थिक तथा सांस्कृतिक और नैतिक ह्रास न हो तो और क्या हो? इसीलिए नयी तालीम स्वावलम्बन को अपनी कसौटी मानती है, क्योंकि जैसे यह जाहिर हो रहा है कि केन्द्रित ढंग से न सुरक्षा सम्भव है न निर्माण, उसी तरह अब यह स्पष्ट है कि केन्द्रित ढंग से शिक्षा भी सम्भव नहीं है। स्वावलम्बन की यह माँग है कि तालीम जीवन-पद्धति के रूप में अपनायी जाय ताकि औद्योगिक हाथ, वैज्ञानिक बुद्धि और मानवीय चित्त का निर्माण हो। श्रम और बुद्धि के मेल से यह चमत्कार सम्भव है। और यह मेल नयी तालीम में हो सकता है।

चूँकि नयी तालीम नये समाज की तालीम है इसलिए सबसे पहले उसका वह रूप प्रकट होगा जो नये समाज की नयी बुनियादें तैयार करे। आज ग्रामदान आन्दोलन के द्वारा उसका यह रूप देश की चेतना में, और प्रत्यक्ष रूप से कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में प्रकट हो रहा है। उदाहरण के लिए ५ सौ गाँवों और ८० हजार की जन संख्या के एक सघन क्षेत्र की कल्पना कीजिए। उसमें २० गाँव ग्रामदान की योजना स्वीकार कर चुके हैं, बाकी में वातावरण बन रहा है। इन बीस गाँवों में क्या हुआ है?

इन गाँवों ने जो योजना स्वीकार की है उसमें समाज-परिवर्तन के ये तत्व हैं

१—गाँव में जमीन की मालिकी समाप्त होती है। व्यक्तिगत मालिकी के स्थान पर ग्रामसभा की सामूहिक मालिकी स्थापित होती है।

२—सामूहिक कोष बनता है।

३—भूमि के मालिक, भूमि के मजदूर, महाजन, कारीगर आदि एक सहकारी योजना के अन्तर्गत आ जाते

है। ग्रामसभा में सभी परिवारों का प्रतिनिधित्व रहता है इसलिए बहुमत-अल्पमत का प्रश्न समाप्त हो जाता है।

४–भूमिहीनों को जमीन मिल जाती है, इसलिए गाँव में उनका हित हो जाता है, और उनके मन में गाँव के प्रति वफादारी की भावना पैदा होती है।

५–खादी को अपनाकर गाँव अपना सैकड़ों मन अनाज बचा लेता है, कपड़े के लिए महाजन के कर्ज से बचता है, और गाँव में एक बड़ा उद्योग खड़ा हो जाता है।

६–शान्तिसेना के द्वारा गाँव की संगठित प्रतिकार-शक्ति प्रकट होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि एक साथ गाँव का कदम संघर्ष-मुक्ति, महाजन-मुक्ति और पुलिस-मुक्ति की दिशा में उठ जाता है। दूसरे शब्दों में सरकार-शक्ति के स्थान पर सहकार-शक्ति, राजनीति के स्थान पर लोकनीति आ जाती है। आर्थिक दृष्टि से व्यापार का स्थान स्वावलम्बन तथा मुनाफे का स्थान उपभोग ले लेता है।

यह सब नयी तालीम के अन्तर्गत लोक शिक्षण की प्रक्रिया से ही सम्भव हो रहा है। ग्रामदान के बाद विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से तकनीक और सहकार का अभ्यास शुरू होता है। बच्चों की ग्रेडेड तालीम सबसे अन्त में आयेगी।

विकास के माध्यम से शिक्षण, और शिक्षण की निष्पत्ति के रूप में विकास के कार्यक्रम की रूपरेखा कुछ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है

त्रिविध कार्यक्रम—लोकशिक्षण

गाँव सभा (गाँव) (व्यवस्था, योजना और विकास, गृहउद्योग)	बुनियादीशाला (प्रवृत्तियाँ)	प्रौढ़ तकनीकी अभ्यास किशोर प्रौढ़ों के साथ अभ्यास साक्षरता, गृहवाटिका बच्चे : घंटे भर की पाठशाला
क्षेत्रीय सभा (पंचायत) (ग्रामोद्योग)	उत्तर बुनियादी (समस्याएँ)	प्रयोग उत्पादन की विकसित तकनीक, समस्याओं की जानकारी, 'एक्सटेंशन सर्विस'
ग्रामदान संघ (ब्लाक) (क्षेत्रोद्योग, कर्ज, गोदाम, मार्केटिंग, तकनीकी प्रशिक्षण आदि)	उत्तम बुनियादी (विश्वविद्यालय) (सम्भावनाएँ)	रिसर्च तनावों और संघर्षों का अध्ययन ग्रामदान-संघ को सलाह

प्रवृत्तियाँ —

१–विज्ञान

समाज विज्ञान (सोशल साइंस)
परस्पर सहायता और सहकार के क्षेत्रों का विकास–ग्राम-गोष्ठी
सत्संग, समस्याओं पर चिंतन, चित्त-निर्माण,
श्रमदान–

२–सामान्य विज्ञान (जनरल साइंस)

क खेती–पशुपालन, मत्स्यपालन, सूअरपालन, मुर्गीपालन
रूरल इंजिनियरिंग लैंड रिक्लेमेशन, वन, रेशम, पूष्पोगंगिग

ख प्रचलित गृह और ग्रामोद्योगों का विकास
नये उद्योग जिनका कच्चा माल उपलब्ध हो—जैसे डेयरी, चर्मालय, जंगल उद्योग, कुम्हारी,

ग स्त्री शिक्षण गृह विज्ञान गृह-व्यवस्था, शिशुपालन बालशिक्षण,

घ स्वास्थ्य और सफाई

३–बच्चों की क्रमिक शिक्षा—पूर्व-तैयारी की तीन शर्तें

१ बच्चों की प्रवृत्तियाँ सामूहिक हों
२ गाँव की शिक्षा ग्रामसभा के हाथ में आ जाय
३ देश की अर्थनीति और शिक्षानीति ग्रामाभिमुख हो जाय।

इस तरह अब शिक्षा को स्कूल तक सीमित करना शिक्षा को अपूर्ण रखने जैसा है। उसकी पूरी शक्ति तब प्रकट होगी जब वह समाज-व्यापी होगी। समाज व्यापी होते ही शिक्षा स्वयं क्रान्ति बन जाती है। अब वह जमाना आ रहा है जब शिक्षा से अलग क्रान्ति की बात सोचना आवश्यक नहीं रह जायगा। यही कल्पना बापू की नयी तालीम में थी और उसी का प्रारम्भिक अभ्यास त्रिविध कार्यक्रम द्वारा प्रस्तुत हुआ है। ●

आपलोगों के सामने चिन्तन के लिए त्रिविध कार्यक्रम रखे गये हैं। हरएक की खास विज्ञानिका होती है, इसलिए हरएक कार्यक्रम एक 'टेक्नीकल सबजेक्ट' बन जाता है और उसके बारे में अलग अलग सोचना पड़ता है। लेकिन हमको अलग अलग काम नहीं करना है। हमें तीनों को एकत्र करके काम करना है। एक कार्यक्रम है—अभिनव ग्रामदान का, दूसरा है ग्रामाभिमुख खादी का और तीसरा शांति सेना का। हमने जब जीवनदान दिया था, तो उसके साथ एक मंत्र हमने दिया था। हमारा वह दान मंत्रपूर्वक था जिसमें कहा गया था 'भूदान मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रांति के लिए मेरा जीवनदान।' आज जो अभिनव ग्रामदान है, वह भूदान का विकास है जो ग्रामाभिमुख खादी है वह ग्रामोद्योग का सर्वोत्तम प्रतीक है और शान्ति सेना के द्वारा अहिंसक क्रांति आ सकता है।

जब यह मंत्र बना, तब किसी ने मुझसे पूछा था कि 'आपने इस मंत्र में नयी तालीम का नाम नहीं दिया।' मैंने उससे कहा था, वह जो अहिंसक शब्द है वह नयी तालीम का ही द्योतक है। अगर हम सोचें कि समाज परिवर्तन की अहिंसक प्रक्रिया कौन सी होगी, तो मालूम पड़ेगा कि शिक्षण ही एक ऐसी प्रक्रिया होगी। अहिंसा के लिए हमें और कोई प्रक्रिया अनुकूल नहीं पड़ेगी। इसलिए अहिंसक क्रांति में नयी तालीम अन्तर्निहित है वह उसमें आ ही जाती है। आज नयी तालीम का मुख्य कार्य यही है कि शान्तिसेना तैयार हो। शान्तिसेना में जो व्यक्ति मिलते हैं, उनको ठीक तरह से विचार समझाने के लिए प्रशिक्षण का काम करना होगा। जो व्यक्ति श्रद्धा प्रेरित होकर, विचार में निष्ठा रखकर आयें, उनको विचार से पूरा परिचित कराने का काम नयी तालीम का है। फिर ग्रामसभा जब ग्रामस्वराज्य बनाने के बारे में सोचेगी, तब भी नयी तालीम का काम रहेगा। इस तरह आगे और पीछे नयी तालीम है। ●

–विनोबा

वह लौट आया

•

गुरुबचन सिंह

उन दिनो मैं एक स्कूल का टीचर था और अपने गाँव से चार मील दूर मुझे तहसील के हाईस्कूल में पढाने जाना पडता था। मैं जिस-जिस गाँव से होकर गुजरता, वहाँ के बहुत सारे लोग मेरे परिचित हो गये थे। वे मेरा बहुत आदर करते थे। प्राय स्कूल जानेवाले लडके मेरे साथ हो लेते और हम एक टीम की तरह बातें करते हुए हँसी-खुशी अपना रास्ता तय कर लेते थे।

रास्ते में पडनेवाला पहला गाँव सुनामपुर था, जिसके खेतो में से एक परिचित स्वर मेरा सर्वप्रथम अभिनन्दन करता था। 'सत् श्री अकाल मास्टरजी' कहता हुआ मेरा एक पुराना छात्र मुसकुराता दिखाई देता।

उस खेत में कभी मैं उसे हल चलाते, कभी मिट्टी उलटते और कभी किसी दूसरे काम में व्यस्त देखता था। चलता-चलता सदैव उससे सुख-समाचार पूछता और वह बडी श्रद्धा से मेरी बातो का उत्तर देता। कभी ऐसा भी होता कि मैं कुछ क्षणो के लिए उसकी बातें सुनने के लिए रुक जाता और वह मेरे सामने अपने दिल का बुखार उतारने लगता। कुछ दिनो पहले उसने अचानक स्कूल से नाता तोड लिया था, और खेती-बाडी के काम में जुट गया था। मुझे उसके स्कूल छोडने का बहुत दुख था। वह मेरे अच्छे छात्रो में से था। पिछले वर्ष जब हमारे स्कूल के मैट्रिक का नतीजा बडा सफल निकला, तब मुझे उसकी याद हो आयी थी और मैंने उसे दुख-पूर्ण शब्दो में कहा था—'हरी सिंह, यदि तुमने अपनी शिक्षा अधूरी न छोडी होती, और तुम भी अपने साथियो के साथ मैट्रिक कर लिये होते, तो मुझे बडी खुशी होती!

उसने उत्तर में कहा था—"पढने की इच्छा तो थी मास्टर साहब, पर घरवाले नही मानते थे। आखिर मैं एक ऐसे घर का लडका हूँ, जहाँ कोई भी शिक्षित नहीं है। सब कहते थे—पढ लिखकर क्या करेगा? खेतो में हल ही चलायेगा न!"

मैंने कहा था—"तो क्या हुआ? क्या हल चलानेवाले के लिए शिक्षा प्राप्त करना पाप है?"

"नहीं मास्टर जी, मैं तो ऐसा नहीं समझता।"—वह निराश-सा बोला था—'बापू को कुछ दूसरा ही शक खाये जाता था। उन्हें डर था, अगर मैं कुछ अधिक पढ गया तो शायद गाँव छोडकर नौकरी की तलाश में शहर भाग जाऊँगा, घर-बार और खेती से अपना नाता तोड लूँगा।"

मैंने कहा था—"नहीं यह फजूल शक है।"

वह बोला था—"लेकिन मास्टरजी अब तो मुझे सचमुच इन कामो से कोई दिलचस्पी नही। घरवालों ने मेरा भविष्य बिगाड दिया। एक दिन मैं यह सब छोड-छाडकर कहीं और चला जाऊँगा, और मैं देखूँगा—वे क्या करते हैं।"

मुझे उसके इस इरादे से दुख हुआ था। मैंने कहा था—"देखो ऐसी गलती मत करना।"

हरी सिंह के बापू से जब कभी भेंट हो जाती, वे उसकी शिकायत करते हुए कहते—"हरिया खेती-बाडी के कामो में कोई दिलचस्पी नहीं लेता, और हमेशा नगर जाने की बात कहता रहता है। यदि यह कुछ और पढ-लिख गया होता तो जरूर घर छोडकर कहीं चला जाता।"

मैं उन्हें समझाता—"नहीं-नहीं, हरी सिंह ऐसा लडका नहीं । वह जोश में आकर ऐसी बातें करता है । पर कहीं जायेगा नहीं ।"

एक दिन मैंने देखा–हरिया नाशपाती का एक पौधा रोप रहा था ।

मैंने बडी दिलचस्प नजरों से उसे देखा और पूछ बैठा—"हरी सिंह, सुना है तुम गाँव से बाहर जा रहे हो । कहाँ का इरादा है ..?"

"नौकरी करूँगा ।"

"कैसी नौकरी करोगे.. ?"

और उसने धीरे से कहा—"मैं कारखाने में काम करूँगा । रुपया कमाऊँगा । यहाँ क्या रखा है ? हल चलाओ, खेत जोतो और फसल काटो न यहाँ शहर जैसी रौनक है और न धमा धमी । यहाँ कोई भी दिलचस्पी का सामान नहीं ।"

वह न जाने और क्या-क्या बक गया । मेरे कानों में उसका विद्रोही स्वर गूँजता रहा । उसे शायद खेत और खलिहान वीरान दिखाई देने लगे थे । उसका मन ऊब गया था, मिट्टी के कच्चे घरों और चौपायों से । शायद उसे गाँव के लोगों, गाँव के सस्कारों से कोई मोह नहीं रह गया था । ढोर और बलखाती हुई पगडंडियाँ उसके लिए कोई दिलचस्पी नहीं रखती थीं । मैं सोचता था क्या किसी की स्मृति से इन हरे भरे खेतों, आम-अमरूद के बगीचों, नहरों और जोहडों की याद दूर हो सकती है ।

इस वार्ता के बाद हरिया बहुत दिनों तक मुझे दिखाई नहीं दिया । उसकी बातें मेरे दिल को कुरेदती रहीं । लडकों से पता चला—वह गाँव से बाहर चला गया है ।

एक दिन वृद्ध पिता सामने से बैलों को हाँकते हुए आते दिखाई दिये । मुझे देखते ही उन्होंने नमस्कार किया । मैंने पूछा—"बाबा, हरी सिंह कहाँ है ?" वह दिखाई नहीं देता . ?"

बाबा दुखी स्वरों से बोले—"वह परदेश चला गया है । अच्छा ही हुआ, मेरी आँखों से दूर हो गया । उसे घर के कामों से कोई दिलचस्पी नहीं थी । वह इज्जत की जिन्दगी बिताना नहीं जानता था उसके सिर पर नौकरी का भूत सवार था । कहता था–मैं मोटर ड्राइवर बनूँगा ।'

"कहाँ गया है ..?"—मैंने पूछा ।

"मुझे मालूम नहीं ।"—वे बोले । "मेरे लिए तो वह हमेशा के लिए चला गया ।"

मेरी दृष्टि कुछ फासले के शहतूत पर गड गयी जो हवा में झूम रहा था ।

मैंने कहा—"बाबा, लडका है । मन भर जायेगा तो लौट आयेगा, इतना दुखी न होओ ।"

"अच्छा ।"—कहते हुए वह बैलों को हाँकते हुए आगे बढ गये ।

तब से जब भी मेरी उनसे मुलाकात होती वे हरिया का जिक्र छेड देते । गाँव के अन्य लडकों का उदाहरण ले-लेकर उसे कोसते । एक दिन कहने लगे—"हरिया मेरे हाथ से निकल गया । अगर नम्बरदार की तरह मैंने भी उस पर सख्ती की होती जो वह धरती से प्यार करता । धूप में तपना जानता और बरसात में भीगना सीखता । मास्टरजी, यह धरती तो सेवा चाहती है, तप चाहती है, और हरिया धरती माता की सेवा करना नहीं जानता था ।"

मैं चुप उनकी बातें सुनता रहा और वे कहते गये—"मेरा तो विचार था—जैसे तैसे कुछ जमीन और मोल लेता, कुछ जायदाद और बना लेता लेकिन अब सोचता हूँ यह सब किसके लिए । किसे खेती-बाडी से मोह है । कौन तकलीफ सहेगा, कौन जोतेगा-बोएगा और अन्न से खलिहान भरेगा । यह धरती किसके काम की है . ?"

उनके अन्तर की पीडा उनके वृद्ध झुर्रीदार चेहरे पर साकार हो उठी थी । उनसे ऐसी बातें बराबर होती ही रहीं और समय बीतता गया ।

एक दिन बाबा बहुत खुश थे । उन्होंने मुझे स्वयं बुलाकर बतलाया कि ' मैंने अपने खेतों के साथ लगी थोडी जमीन और खरीद ली है ।"—वे बोले—"पुरखों से हमारे घर के लोग जायदाद बनाते चले आये हैं । मैंने

भी उसमें वृद्धि की है। चाहे बाद में इसे सँभालनेवाला हो या न हो, लेकिन अपना तो फर्ज है।... और मैंने अपना फर्ज पूरा किया।"

वे मुझे अपने खेतों की ओर ले गये और नयी खरीदी जमीन दिखलाने लगे। उन्होंने यह भी बताया कि यहाँ कौन-सी उपज अच्छी होगी। मकई के बाद वे क्या बोयेंगे इत्यादि। और फिर वे दुःख भरे शब्दों में बोले—"अब तो हरिया गाँव लौट आवे।"—मुझे चुप देखकर कहते गये—"दिल्ली से चिट्ठी आयी है, वहाँ ट्रक चलाता है। दो सौ रुपये भी भेजे थे। लिखा था—बाबा अगर और रुपयों की जरूरत हो तो मँगवा भेजना। कितना नादान लड़का है...अरे क्या कभी नौकरी से भी किसी का पेट भरता है? सच कहता हूँ जब से वह गाँव से गया है; उसने तरीके की रोटी नहीं खायी होगी उसने खालिस दूध और घी का मुँह नहीं देखा होगा...वह .. वह उसकी सेहत गिर गयी होगी...।"—कहते-कहते उनका स्वर भर्रा गया।

मैंने उन्हें यकीन दिलाया—"बाबा धीरज रखो...वह जल्दी ही गाँव लौट आयेगा।"

वे बोले—"चाहे आये या न आये, मैं उसे लिखवा भेजूँगा कि आओ और अपनी जमीन-जायदाद सँभालो। अब मुझसे हल चलने के नहीं। जमीन की देख-भाल मैं नहीं कर सकता। अगर गाँव के खेतों से कोई मोह नहीं है तो इन्हें आकर बेच जाओ...हाँ! मुझसे अब बोझ नहीं सँभाला जायेगा!"

उनकी बातें सुनकर जाने क्यों मैंने मन-ही मन हँस दिया। वृद्ध को अपने बेटे से कितना मोह है!

संयोग से उस वर्ष खूब वर्षा होने लगी। दिन-रात पानी। नाले और जोहड़ जल से भर गये। खेत पानी में डूब गये। हँसली और नहरों के किनारे बह गये... मिट्टी के कच्चे मकान ढह गये। हर ओर पानी पानी, बस पानी ही दिखाई देने लगा। धान, ज्वार और मकई सब कुछ जल में डूब गया। दूर-दूर तक केवल गँदले पानी की एक चादर सी बिछी दिखाई देती थी। स्कूल तो बन्द ही थे। कहीं आना जाना रुक गया, यार दोस्तों से मुलाकात बन्द हो गयी। जाने-पहचाने लोगों की खबरें मिलना मुश्किल हो गयी। कई दिनों के बाद जब धीरे-धीरे पानी उतर चुका था, ..जहाँ-तहाँ कीचड़ ही कीचड़ दिखाई देता था, तब मैं एक दिन गाँव के खेतों की ओर दूर तक निकल गया। ठंडी ठंडी हवा सर्दियों की याद दिला रही थी, और पानी में घुले वृक्षों के पत्ते एक विचित्र-सी दुर्गन्ध उत्पन्न कर रहे थे। तभी हरिया के पिता अपने कुछ पशुओं को हाँकते हुए उस ओर आते दिखाई दिये। मुझे देखकर श्रद्धापूर्वक पूछ बैठे—"मास्टरजी अपने गाँव में सब सुख तो है! कोई विशेष नुकसान तो नहीं हुआ?"

मैंने कहा—"ऐसे ही है बाबा ..मांसियों (डोम) के दो घर ढह गये हैं! वैसे थोड़ा-बहुत नुकसान सबका हुआ है। पशुओं की हालत बुरी है!

वे बोले—"अपनी जिन्दगी में ऐसी बरसात मैंने कभी नहीं देखी थी। ऐसा तूफान, ऐसी तबाही कभी नहीं आयी थी। जाने कहाँ से बादल इधर भटक पड़े। कहाँ का पानी इधर उमड़ आया। ऐसा लगता है, भगवान नाराज हो गये हैं। हो भी क्यों न? हम जमीन की कद्र करना भूल गये हैं। धरती के बेटों को धरती से मोह कहाँ रहा!"

वे पशुओं को हाँकते हुए आगे बढ़ गये! मैं कुछ क्षण वहीं खड़ा रहा। हरिया का लगाया हुआ शहतूत का पेड़ वर्षा की बौछारों को सह न सकने के कारण झुक सा गया था। बाबा के अन्तिम शब्द कानों में गूँज रहे थे। जमीन की कद्र करना भूल गये हैं। मैं मन में सोचने लगा—दुनिया में कद्र है किस चीज की? सचमुच यह दुनिया कितनी बेकद्री है ..कोई किसी वस्तु की कद्र करना जानता ही नहीं। इनसान इनसान का नहीं और भाई-भाई का नहीं, शिकायत कैसी, शिकवा कैसा ..?"

दो महीना बाद अचानक स्वयं मुझ से मेरा गाँव छूट गया, गाँव के खेत, पगडंडियाँ, और सभी परिचित व्यक्ति तथा स्कूल भी छूट गया! मैं एक सरकारी नौकरी में अच्छी तनख्वाह पर दिल्ली चला गया। तब दिल में केवल उस वातावरण की याद रह गयी, जिसके पीछे

अतीत की अनेक स्मृतियाँ थीं, जो बारी-बारी याद आ जाया करती थी। हरी सिंह, उसके बाबा, स्कूल के साथी और छात्र भी। मैं अपनी नयी दुनिया में इन सबको भुला देने का प्रयत्न करता रहा।

वर्ष भर बाद की एक घटना है। मैं गाँव गया था। तो लगा-जैसे पुराने संस्कार, पुराने भाव, पुराने विचार फिर मन में जागृत हो उठे हों। गाँव में घूमता रहा। खेत और मैदानों से होकर एक दिन स्कूल की ओर चल पड़ा। रास्ते में हरिया का गाँव पड़ता था। वह पगडंडी, वही राह..वही पेड़, वही झाड़ियाँ जैसे सब जानी-पहचानी-सी लगी। देखा—शहतूत का पेड़ कितना ऊँचा हो गया था.. कितनी स्मृतियाँ उभरने लगी मस्तिष्क में...। अचानक एक स्वर ने पीछे से चौंका दिया—"सत् श्री अकाल मास्टरजी" मुँह फेर कर देखा ..सामने हरी सिंह खड़ा था, पक्का जाट बना! वैसी ही पगड़ी, जिनमें से बालों की लटें बाहर लहरा रही थी। उसके हाथ में हल का फाल था।

"तुम.. हरी सिंह?"—मैं चकित-सा बोला—"अरे वाह . तुम तो शहर में नौकरी करते थे न...कब आये . ?"

"आये तो मुझे छ महीने हो गये मास्टरजी आप कहीं बाहर गये हुए थे शायद!"—वह बोला—"सुना है बाहर कहीं नौकरी लग गयी है। सच बात है क्या . ?"

मैंने कहा—"हाँ . ।"

"शहर की नौकरी में क्या रखा है मास्टरजी?"—वह भावपूर्ण शब्दों में बोला—"गाँव गाँव है ..यह तो कहिए आप अच्छे हैं न? कब आये हैं ?"

"परसों ही आया हूँ।"—और मैंने पूछा—"क्या तुमने बाहर की नौकरी छोड़ दी ?"

"जी हाँ ...?"—उसने सन्तोषप्रद शब्दों में कहा—"कहाँ यह काश्तकारी, और कहाँ वह मोटर-ड्राइवरी . यह शाही काम है और वह गुलामी थी ..।"

"तुम्हारे बाबा जर्नैल सिंह के भी यही विचार है।"—फिर मैंने पूछा—"हाँ वे अब कैसे हैं ?"

वह कुछ दुखी स्वरों से बोला—"वे अब इस दुनिया में कहाँ मास्टरजी। वे तो भगवान के यहाँ चले गये। जाती बार कहते गये थे ...देखो अगर तुम घर और जमीन छोड़कर गाँव से बाहर गये तो मैं समझूँगा तुमने मुझे छोड़ दिया। मेरी याद भुला बैठे .. तुमने मुझसे रिश्ता तोड़ लिया। और बाबा के वे शब्द हमेशा मेरे कान में गूँजते रहते हैं . मुझे ऐसा लगता है जैसे बाबा हमेशा इन्हीं खेतों में घूमते रहते है, और काम में मेरा हाथ बँटाते है ..।"—उसने ठंडी साँस भरी।

"सच कहते हो।"—मैंने कहा—"उन्हें धरती से प्यार था, धरती से मोह था! उनका सारा जीवन मिट्टी को सोना बनाने में बीत गया।"

हरी सिंह कुछ झिझकते हुए बोला—"मास्टरजी, मैं जरा हल का फाल ठीक करवा लाऊँ। थोड़ा खेत जोतना है। सवेरे-सवेरे यह काम हो जाये, फिर धूप चढ़ आयेगी! आप तो अभी कुछ दिन रहेंगे न यहाँ। घर में आइयेगा? खुलकर बातें होंगी आपसे, बहुत सारी बातें करने को जी चाहता है . ।"

मैंने कहा—"हरी सिंह पहले फाल ठीक करा लो। मैं तुम से फिर मिलूँगा। मैं तो एक महीने की छुट्टी पर आया हूँ।"

"एक महीने की छुट्टी"—उसने ये शब्द दोहराये—"बस! कितनी बड़ी कैद है यह ।"

वह मुसकुराने लगा—"कोई अपने घर आये, गाँव आये तो वह भी तीस दिन की पाबन्दी में....!"

'हाँ ' मैंने भी मुसकुरा दिया। और उसे जाता देखता रहा। युगों का भाव मेरे सामने था। युगों के इतिहास के पृष्ठ मेरी आँखों के आगे खुले हुए थे। सोच रहा था—संसार के सारे काम और व्यवहार बदल सकते हैं। उनके कार्य-क्षेत्रों में परिवर्तन आ सकता है,-पर यह धरती, और इस धरती के बेटे के कामों में कोई अन्तर नहीं आ सकता! ये संस्कार नहीं बदल सकते। यह पुश्त-दर-पुश्त, पीढ़ियों से चलता आया है, चलता रहेगा। ये धरती के बेटे अमर है।

●

बच्चों को बन्धन-मुक्त करें

सुधाकर तिवारी

बन्धन में बंधा रहना ही दासता है और यही पराधीनता भी। प्राय बन्धन दो प्रकार के होते हैं। बहुधा हम बाहरी बन्धन को ही बन्धन कहते हैं, किन्तु बाहरी बन्धनों की अपेक्षा भीतरी बन्धन और भी भयकर होते है। बन्धन का मन से बहुत गहरा सम्बन्ध है। अत मन का बन्धन बाहरी बन्धन से भी ज्यादा असह्य होता है।

अपने शयन-कक्ष म हम स्वत दरवाजा अन्दर से बन्द करके स्वतत्रता का अनुभव करते हैं, किन्तु वही क्रिया कोई दूसरा कर दे, तो वह बन्धन माना जायगा। काय तो एक ही है, किन्तु दोनों में महान अन्तर है। जो कार्य स्वत किया जाता है उसमें बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जब वही काय किसी के विवश करने पर या किसी प्रकार के अकुश में करना पडता है तो बन्धन का अनुभव होता है। अत बालकों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाय कि कोई भी काम उन्हे बन्धन स्वरूप न प्रतीत हो।

उचित निर्देशन

विद्यालय में बालक की प्रत्येक क्रिया अध्यापक के निर्देशन से होती है। निर्देशन में ही अध्यापक की कुशलता आधारित है। कुछ शिक्षकों की बातें बच्चे बड़े मन से सुनते हैं और उन्हें आदर और सम्मान देते हैं, लेकिन वे ही बच्चे उचित निर्देशन के अभाव में आवश्यक और उचित काम को भी भार समझने लगते है। ऐसी स्थिति में सारा दोष अपनी अज्ञानतावश बालकों पर ही मढ देते है।

आज हमारी पाठशालाओं की स्थिति यह है कि बालक के लिए अधिकाश निर्देशन बोझ बन रहे हैं, क्योंकि जो भी नियम उन्हें अपनाने पड रहे हैं, वे स्वेच्छा से नही, बल्कि बाध्य होकर। इसलिए मन-ही-मन बालक बन्धन का अनुभव करता है और मन-ही-मन विद्रोह की ज्वाला में जलता रहता है। उदाहरण के लिए किसी बालक की रुचि गणित मे बिल्कुल नही है, तो भी उसे वह विषय अनिवार्य रूप से पढना ही पडेगा और उसी एक विषय के कारण लगातार उसे असफलता का अभिशाप सहना पडेगा।

हमारी अज्ञानता

इस प्रकार के बन्धनों को बालक प्रत्यक्ष तो स्वीकार करता है, किन्तु परोक्ष रूप में अपनी प्रतिक्रिया दिखाता हैं, जिसे हम उद्दण्डता या अशिष्टता कहते हैं। इस प्रकार बालक में आजकल जो विशेष उद्दडता या अनुशासनहीनता दिखाई दे रही है उसके पीछे बाल मनोविज्ञान की हमारी अज्ञानता छिपी हुई है। एक तरफ तो हम उनके सामने स्वतत्रता की भव्य मूर्ति प्रदर्शित करते हैं और दूसरी तरफ परिस्थिति-वश उन्हें बन्धनों में कसकर जकडे रहते हैं फलत इस द्वन्द्व में बालक का अन्तर्विद्रोह उद्दडता में ही प्रकट हो रहा है।

बालक के चरित्र-गठन में माता पिता, मित्र, पास-पडोस तथा समाज का बहुत अधिक महत्व होता है। बच्चे पर हर छोटी-बडी बात का असर पडता है और यही से सस्कार बनने शुरू होते हैं। जैसा समाज होगा, जैसा परिवार होगा, बच्चे के सस्कार भी उसके अनुरूप ही होंगे। आज हमारे सामान्य समाज की क्या स्थिति है, किसी से छिपा नही। फिर बच्चों से यह आशा रखनी कि वे अच्छे सस्कार लेकर पाठशालाओं में आयेंगे, एक बडी भूल है।

इस प्रकार अपरिपक्व और अशुद्ध सस्कारों को लेकर बच्चा स्कूल में आता है। अस्तु आप सोच सकते हैं कि

ऐसी स्थिति में शिक्षक की जिम्मेदारी कितनी बढ़ जाती है। उसे कदम-कदम पर अत्यन्त सावधानी बरतनी पड़ती है। उस की मामूली-सी भूल या असावधानी बच्चे का सारा जीवन चौपट करने के लिए काफी होती है।

शिक्षकों और संचालकों की जिम्मेदारी

ऐसी दशा में आवासीय विद्यालयों (रेजिडेंसियल स्कूल) के शिक्षकों और संचालकों की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है, लेकिन क्या वे अपनी जिम्मेदारी का ईमानदारी से निर्वाह करते हैं? शायद नहीं, क्योंकि ऐसे विद्यालयों में पूरी सतर्कता कम ही देखने को मिलती है। बच्चों पर तरह-तरह के अनावश्यक बन्धन लदे ही रहते हैं। परिणामतः चरित्र निर्माण न होकर उनमें अनेक प्रकार के अवांछनीय तत्वों का विकास देखा जाता है। ऐसी हालत में अधिक पैसे खर्च करके और बच्चे को अपने से अलग रखकर भी उसमें जब अच्छे संस्कार नहीं पड़ पाते तो माँ-बाप के मन निराशा से भर उठते हैं। ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चलायी जा सकती। इस ओर शिक्षकों और शिक्षा संचालकों को ध्यान देना ही होगा।

सभी एक स्वर से कहते हैं कि अध्यापक को उचित सम्मान मिलना चाहिए। ठीक है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु वैसा कहने के पहले माँ बाप जैसा हृदय भी शिक्षक के पास होना ही चाहिए। शेर की खाल पहनकर शृगाल शेर नहीं हो जाता। नीर क्षीर का विवेकी हंस सदा ही आदरणीय ही रहा है तथा रहेगा, परन्तु बगुलों के झुण्ड में हंसों का तिरस्कार ही होता है। आज हमारे शिक्षा समाज में भी यह स्वरूप आरोपित हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि गुरुजन भी अपने सम्बन्ध में कुछ सोचें, विचार करें। बिना आत्म चिन्तन के और बिना अपना सुधार किये समाज से आदर और सम्मान की आकांक्षा दिवास्वप्न से अधिक महत्व नहीं रखती। क्या हमारे शिक्षक, पाठक, अभिभावक, विधायक तथा समाज सुधारक इस तथ्य को स्वीकार करेंगे? ●

बम्बई की गोष्ठी

बम्बई में विलेपार्ले स्थित 'श्री चन्दूलाल नाणावटी कन्या विनयमन्दिर' में सम्पन्न बुनियादी शिक्षा-कार्यकर्ताओं तथा नयी तालीम में रुचि रखनेवालों की दो-दिवसीय गोष्ठी ७ मार्च को हुई।

गोष्ठी का आयोजन बुनियादी शिक्षा की समस्याओं तथा इसके पूर्ण कार्यान्वय के उपाय खोजने के लिए विचार विमर्श करने हेतु किया गया था। गोष्ठी में विभिन्न स्कूलों तथा कालेजों के प्राचार्यों और अन्य कार्यकर्ताओं ने भाग लिया।

गोष्ठी में महाराष्ट्र के मंत्री श्री मधुकर चौधरी, खादी और ग्रामोद्योग मंडल के सदस्य श्री वैकुण्ठ ल० मेहता तथा कमीशन के प्रशिक्षण निर्देशक श्री धीरूभाई देसाई ने भी भाग लिया।

अपने भाषण में उपकुलपति ने कहा कि बुनियादी शिक्षा स्थिर अथवा एकदम निश्चित नहीं है, यह हर क्रम में बदल रही है बढ़ रही है और विकसित हो रही है।

जिम्मेदारी

श्री देसाई ने कहा कि योजना के दोषपूर्ण कार्यान्वय के लिए अधिक जिम्मेदार है बुनियादी शिक्षा योजना में प्रशासको के विश्वास की कमी तथा उनकी बेरुखी।

उन्होंने कहा कि लोगो मे यह धारणा घर कर गयी है कि बुनियादी शिक्षा कताई और बुनाई तक ही सीमित है। स्कूलो में अन्य दस्तकारियां शुरू कर इस भ्रम को मिटा देना चाहिए।

बुनियादी शिक्षा के प्रति लोगो के रुख का जिक्र करते हुए श्री देसाई ने कहा कि लोगो को बुनियादी शिक्षा के विषय की ठीक-ठीक जानकारी नही है, अत उनमें इसके प्रति विश्वास पैदा करने के लिए आवश्यक कार्रवाई की जानी चाहिए।

'श्री चन्दूलाल नाणावटी कन्या विनयमन्दिर' के प्राचार्य **श्री वजुभाई पटेल** ने बुनियादी शिक्षा की भारतीय परिषद, जो कि बुनियादी शिक्षा सघ का नया नाम है, के उद्देश्यो पर प्रकाश डाला।

दोषों को दूर करने की आवश्यकता

अपने भाषण में श्री पटेल ने कहा कि बुनियादी शिक्षा में कुछ दोष हैं जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि दस्तकारी पर अधिक जोर न देकर सामुदायिक जीवन पर बल देना चाहिए। उन्होंने वर्धा-किस्म की योजना को रद्द कर देने का आग्रह किया।

महाराष्ट्र के गुरुकुल लोनावला के निर्देशक **श्री जी एल चन्दावरकर** ने कहा कि एक समय था जबकि बुनियादी शिक्षा को शकित निगाह से देखा जाता था, लेकिन इसके समर्थको के निरन्तर प्रयास से शका घट रही है। बम्बई के सेंट जेवियर इस्टीट्यूट आव् एजुकेशन के उपाध्यक्ष **फादर रेबेलो** ने कहा कि निचले दर्जों में दस्तकारियां नहीं सिखानी चाहिएँ क्योकि बचपन में बच्चो की प्रवृत्ति स्थिर नही रहती, वह बदलती रहती है।

बम्बई के विल्सन कालेज के प्राचार्य डा० जेड० डब्ल्यू० आयरन और उदयपुर (राजस्थान) के विद्या-भवन टीचर्स कालेज के अध्यापक डा० लक्ष्मीलाल के० ओड ने भी गोष्ठी में भाग लिया।

सिफारिशें

दिनाक ८ मार्च को गोष्ठी ने बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए कई प्रस्ताव पारित किये।

१ गोष्ठी ने केन्द्रीय और राज्य-सरकारो से यह आग्रह किया कि वे तीसरी पचवर्षीय योजना में बुनियादी शिक्षा के लिए निर्धारित निधि उपलब्ध करायें और यदि आवश्यक हो तो उसमें वृद्धि करें। गोष्ठी ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तो की ठोस उपयोगिता में पुन अपना विश्वास बताया।

२ गोष्ठी ने केन्द्रीय और राज्य-सरकारों से बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के कार्यान्वय को शिक्षा-नीति का महत्वपूर्ण अग मानने का आग्रह किया।

३ गोष्ठी ने उपराष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन द्वारा बम्बई में किये गये इस आग्रह का, कि बम्बई निगम को अपने नगरपालिका-स्कूलो में बुनियादी शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए, जोरदार समर्थन किया। साथ ही इसने अन्य नगरपालिका निगमो से भी स्कूलो में बुनियादी शिक्षा आरम्भ करने का आग्रह किया।

४. गोष्ठी ने यह मत प्रकट किया कि शिक्षा के विभिन्न स्तरो पर शिक्षको की शैक्षणिक योग्यता के बीच जो भेद किया जाता है, वह धीरे धीरे दूर हो जाना चाहिए। इसने सरकार से आग्रह किया कि शिक्षको को उनकी योग्यता के अनुसार-वेतन दिया जाना चाहिए।

५ गोष्ठी ने पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक और माध्यमिक प्रशिक्षण कालेजो का पुनर्संगठन करने का आग्रह किया।

६ गोष्ठी ने केन्द्रीय और राज्य-सरकारो से यह भी आग्रह किया कि वे सभी क्षेत्रीय शिक्षण-सस्थाओ और बुनियादी शिक्षा के स्नातक बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्रो में अनुसन्धान इकाइयां स्थापित करें।

७. अन्तत गोष्ठी ने देश के सभी विश्वविद्यालयो से 'बुनियादी शिक्षा के दर्शन' को बी. एड और एम. एड स्तरो पर शिक्षा-दर्शन' विषयान्तर्गत एक विषय के रूप में जोड़ने का आग्रह किया। ●

गतांक से आगे

शिक्षा-द्वारा समाज-परिवर्तन

•

रामचन्द्र 'राही'

परिचर्चा के अन्तिम दिन डा० दुबे ने नयी तालीम के बारे में अपनी राय जाहिर करते हुए कहा—"आज शिक्षा और जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। जीवन के साथ जोड़ने के लिए इसमें (नयी तालीम के विचार में) हमको आत्मा दिखाई देती है। अमेरिका के शिक्षाशास्त्री डिवी ने लिखा है—स्कूल की एक खिड़की खेत में, दूसरी दुकान में, तीसरी बाजार में खुलती हो। ये सभी दीवालें ही तोड़ दें तो नयी तालीम हो गयी, जिससे हम सहमत हैं, लेकिन कुछ व्यावहारिक प्रश्न हैं—१-सरकारी स्कूल और हमारे शिक्षण में प्रतिद्वन्द्विता नहीं होगी? २—नौकरी चाहनेवालों का आकर्षण नयी-तालीम की ओर होगा? ३—शहरों का क्या स्वरूप होगा? ४—समाज को नगरीकरण से कैसे बचायेंगे? आज जो भी थोड़ा पढ़-लिख लेता है वह शहर की ओर ही दौड़ता है। ५—गाँव का पेशा कृषि है; लेकिन खेती एक पेशा ही नहीं, एक जीवन-प्रणाली है, जिसे हमारे देश के लोग नापसन्द करने लगे हैं। ६—छोटे-छोटे बिखरे हुए गाँवों को फिर से बसाने की योजना बनानी होगी, ताकि इतना बड़ा गाँव तो हो, जिसमें शहर की सुविधाएँ मिल सकें। इस दृष्टि से आज जो छिटपुट निर्माण के कार्य हो रहे हैं वे व्यर्थ साबित होनेवाले हैं, ७—गाँव में स्थायित्व नहीं रह गया है। लोग अपनी पूँजी गाँव के मकान, लेनदेन और उद्योग में नहीं लगाते, बल्कि शहर में अपने को स्थापित करने की कोशिश करते हैं।

इन समस्याओं पर आप क्या विचार रखते हैं?

दर्शन-विभाग के अध्यक्ष श्री गुप्ताजी ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा—"भारत की समस्या शैक्षणिक नहीं, आर्थिक है। आर्थिक आवश्यकता के आधार पर ही शिक्षा चलनी चाहिए, जो देश की मुख्य माँग है। मेरी स्पष्ट राय यह है कि शिक्षा या तो समाज की माँग पूरी करे या समाज को ही बदल दे।"

धीरेनभाई—हमारे चिन्तन में विसंगति यह है कि हम परिवर्तित पद्धति को वर्तमान परिस्थिति में जोड़कर देखने की कोशिश करते हैं। इसलिए बहुत-सी गलतफहमियाँ होती हैं। जब हम तालीम को गाँव की परिस्थिति में संयोजित करेंगे तो ग्राम-विकास का कार्यक्रम ही तालीम का माध्यम बनेगा। ग्राम-विकास का मतलब समन्वित विकास है, जिसमें हर प्रकार के ज्ञान विज्ञान की आवश्यकता होगी और हर व्यक्ति को अपनी सहज प्रतिभा के अनुसार विभिन्न दिशाओं में ज्ञान प्राप्ति के अवसर होंगे। सरकारी नौकरी भी विभिन्न विषयों के सन्दर्भ में ही होती है। सरकार को भी नयी तालीम के प्रशिक्षित लोगों में से अपने काम के लिए विशिष्ट उपयोगी लोगों को छाँट लेना होगा। उस समय तक सरकारी स्कूलों से हमारे काम की

प्रतिद्वन्द्विता इसलिए नहीं होगी कि सरकारी स्कूल के छात्र समाज के कार्यक्रम से अलग होकर स्कूल में भरती होते हैं। जैसे-जैसे समाज-पद्धति के शिक्षण की सम्भावना प्रकट होगी, वैसे-वैसे उसे लोक-मान्यता प्राप्त होगी और उसी अनुपात में नयी तालीम की ओर लोग अधिक झुकेंगे। साथ ही सरकारी मान्यता में भी वृद्धि होगी।

जब हम आज गाँव और शहर के सन्दर्भ में सोचते हैं तो हमारा मन छोटा शहर बनाने की ओर दौड़ता है, लेकिन अगर देश का मुख्य उद्योग खेती ही रहनेवाला है तो जीवन-प्रणाली तथा संस्कृति भी उसी में से निकलनेवाली है। फिर छोटा शहर न बनाकर सांस्कृतिक तथा समृद्ध गाँव बनाने की ओर जाना होगा। संस्कृति मनुष्य की कलात्मक तथा भावनात्मक चिन्तन की अभिव्यक्ति है। जमीन से दूर रहकर खेती मैकेनिकल होगी। उसकी प्रक्रिया जड़वत होगी, उसके साथ खेतिहर की आत्मीयता का विकास नहीं होगा। बिना आत्मीयता के भावनात्मक उद्बोधन नहीं होता। संस्कृति के विकास का स्रोत सचेतन कार्यक्रम में से ही निकलता है, यन्त्रवत् आर्थिक संयोजन में से नहीं। इसलिए खेती करनेवालों के निवास का समवाय खेत के साथ ही रखना होगा।

आज हम छोटे-छोटे शहर की बात सोचते हैं। उसका कारण यह है कि आज छोटी इकाइयों में शहर की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। गाँव के सन्दर्भ में आराम और सुविधा का संयोजन तो करना ही होगा, लेकिन उसका स्वरूप भिन्न होगा। वह संस्कृतिमूलक होगा, शृंगारमूलक नहीं। उसका स्रोत भावनात्मक होगा, भौतिक नहीं। इसके लिए विज्ञान के शोध की दिशा बदलनी होगी। भौतिक शक्ति सर्वव्यापी साधन, जैसे— सूर्य किरण, ध्वनि-कम्पन तथा भूगर्भ की गरमी में से निकालनी होगी। और यह उबानेवाला नहीं, बल्कि आनन्द देनेवाला हो, इसकी खोज करनी होगी।

आज शहर में जो यांत्रिक सुख और आराम के साधन मिलते हैं उनमें जो एकांगीपन और ऊबन का तत्त्व है वह सांस्कृतिक विकास के लिए बाधक है। इसलिए समाज के ढाँचे पर जब हम सोचते हैं तो हमें अपने मन में से आज के गाँव और आज के शहर, इन दोनों चित्रों को निकाल देना होगा और बौद्धिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों की बुनियाद पर नवीन समाज की रूपरेखा तैयार करनी होगी। जिस दिन देश के प्रतिभाशाली व्यक्ति तकलीफ उठाकर भी देहातों में जाकर इस प्रकार की जिन्दगी हासिल करने की खोज में लगेंगे और गाँव के साधनों में से इसकी प्राप्ति की सम्भावना की कोशिश करेंगे उस दिन से गाँव के लोगों का गाँव छोड़ने का प्रवाह रुकने लगेगा।

नयी तालीम में धर्म की शिक्षा जरूर होनी चाहिए, लेकिन उसका स्वरूप धर्म के प्रचलित अर्थ का नहीं होना चाहिए। धर्म की नहीं, धर्मतत्त्वों की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह सही है कि सभी धर्मों का मूल तत्त्व एक ही है, लेकिन धर्म के प्रश्न पर आज जिस प्रकार का सार्वजनिक मानस बना हुआ है और उसकी वजह से जो सामाजिक परिस्थिति चल रही है, उसको देखते हुए प्रश्न इतना सरल नहीं है कि हम चाहे किसी एक किताब से धर्मतत्त्वों की शिक्षा दें। सभी धर्मों की किताबों में से तत्त्व की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों का समन्वय करना होगा। उसी को मैं धर्म-निरपेक्षता कहता हूँ। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता नहीं, उस शब्द का अर्थ सम्भावना है, ऐसा मैं मानता हूँ। भिन्न-भिन्न धर्मों के गहराई से अध्ययन के लिए अलग-अलग विषय हों, यह इष्ट है, लेकिन यह अध्ययन धर्म के सन्दर्भ में होना चाहिए।

आगरा कालेज के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक डा० भगवतशरण मिश्रा ने कहा— स्कूल की सीमा में आज की आवश्यकता पूरी नहीं होती। इधर उत्तर प्रदेश के एक मन्त्री ने कहा था कि शिक्षण का काम बन्द कर दें तो चलेगा, लेकिन पुलिस का काम थोड़ी देर के लिए भी बन्द नहीं किया जा सकता। शिक्षा की उपेक्षा से जीवन ही उपेक्षित है। शिक्षा का उद्देश्य और स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए। समाज निरपेक्ष व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। इसलिए समाज का भावी चित्र भी साफ होना चाहिए। व्यक्ति

और समाज में सामंजस्य स्थापित होना चाहिए, लेकिन इसके लिए धर्म-वृत्ति आवश्यक है। धर्म विमुख होकर समाज पाप सापेक्ष बना है। विद्यालयों में धर्म की सामान्य शिक्षा तो होनी ही चाहिए। धर्म के विशिष्ट ज्ञान के लिए विशिष्ट धर्मों का अध्ययन अलग विषय के रूप में होना चाहिए। चूँकि सभी धर्म तत्व एक हैं, इस लिए चाहे कुरान से, गीता से या बाइबिल से शिक्षा दी जाय, उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आज की परिस्थिति में सम्पूर्ण शस्त्रमुक्ति सम्भव नहीं है, लेकिन यह स्थिति शिक्षा द्वारा लानी चाहिए कि सैनिक शक्ति कंट्रोल में रहे।

परिचर्चा के संयोजक प्रोफेसर रामलक्ष्मण तिवारी ने कहा—शिक्षा आध्यात्मिक होनी चाहिए, लेकिन मजहबी नहीं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आज 'ओवर स्पेशलाइजेशन' हो रहा है। उससे सृजनात्मक शक्ति का उपयोग नहीं होता है, इसे रोकना चाहिए।

परिचर्चा की अन्तिम बैठक में केन्द्रीय उप शिक्षामंत्री डा० सौन्दरम् भी शरीक हुईं।

आचार्य राममूर्ति ने राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद के त्रिदोष से देश को मुक्त करने के लिए ग्रामदान, स्वावलम्बी खादी और शान्तिसेना की उपासना का एक व्यापक और समग्र कार्यक्रम रखा, जिसे हम नयी-रचना के लिए व्यापक लोक शिक्षण का क्रांतिकारी शिक्षाक्रम मान सकते हैं। इसके द्वारा लोकतंत्र से पूँजीवाद तथा समाजवाद से सैनिकवाद को समाप्त कर वास्तव में लोकतांत्रिक समाजवाद की मंजिल की ओर बढ़ा जा सकता है।

डा० सौन्दरम् ने अपने भाषण में कहा—यह मानना गलत है कि नयी तालीम फेल हुई। नयी तालीम का जो चित्र बापू ने देश के सामने रखा था उसके विकास का पूरा मौका ही नहीं मिला।

अपने समावर्तन भाषण में श्री धीरेनभाई ने मद्रास के ट्रेनिंग कालेज की दिलचस्प घटना का जिक्र करते हुए कहा—"चर्चा पूरी होने के बाद मेरे उत्तर में एक प्रोफेसर ने कहा कि विद्वान् शिक्षा-शास्त्री तो तब इस काम में लगें जब सामने आदर्श चित्र कोई प्रस्तुत करे। मैंने मजाक में उनसे पूछा कि अगर शिक्षा-शास्त्री और विद्वान् लोग प्रस्तुत आदर्श चित्र को देखने के बाद ही इस काम को उठायेंगे तो यह आदर्श प्रस्तुत करनेवाले मूर्ख लोग होंगे न? और जब उनमें इतनी क्षमता आ जायेगी कि आपको आकर्षित करने लायक नमूना खड़ा कर सकें तो फिर शिक्षा के लिए आपकी जरूरत ही क्या रह जायेगी? आपको कोई पूछेगा ही क्यों? तो मित्रो, तीन दिनों तक आप सबके साथ इतनी गहराई से चर्चाएँ हुईं, विचारों की सफाई हुई। मैं आशा करता हूँ कि उक्त महाशय की तरह आप नहीं सोचेंगे और इस दिशा के चिन्तन में लगेंगे तथा आगे बढ़ेंगे।"

परिचर्चा सफल रही। इसका श्रेय गांधी स्मारक निधि के श्री कृष्णचन्द्र सहाय, आगरा सर्वोदय मण्डल के संयोजक श्री चमनलाल भाई और श्री रामलाल भाई तथा अनेक-अनेक स्थानीय मित्रों के सक्रिय सहयोग और अथक परिश्रम को रहा। जो कुछ भी विचार मन्थन हुआ उससे लोगों का आकर्षण ग्रामदान के प्रति बढ़ा। शिक्षा अब शास्त्र और शास्त्री की चीज नहीं रही, उसे पूरे समाज में फैलना होगा और सबके नित्य कर्म के समवाय में चलना होगा, यह सबने महसूस किया। सभी समाज की संगठित सांस्कृतिक शक्ति द्वारा सम्पूर्ण मानव-अस्तित्व को हिंसा की भयंकरता से मुक्त किया जा सकता है।

इस दिशा में कुछ व्यावहारिक प्रयास हो, इस दृष्टि से कालेज बन्द होने पर आगरा के पास के ग्रामीण क्षेत्र में एक सप्ताह की ग्रामदान-पदयात्रा का कार्यक्रम बना, जिसमें आचार्य राममूर्ति भी शरीक रहेंगे।

इस गोष्ठी द्वारा आगरा के विद्वान् सज्जनों को नयी तालीम के नये रूप का जो चित्र दिखाई दिया है, ग्रामदान-पदयात्रा के कार्यक्रम द्वारा वे इस चित्र में आत्मा का संचार भी महसूस कर सकेंगे, ऐसी आशा है। ●

खान-पान-सम्बन्धी कुछ बातें

•

श्री जे० डी० वैश

हमारे देश में, जब से देश स्वतंत्र हुआ है, एक नयी परम्परा बनती जा रही है, वह यह है कि हम अपनी पुरानी चीजों को विकसित करने और बनाये रखने का सत् प्रयत्न कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप गाँव-गाँव में एक जागृति पैदा हुई है।

लेकिन हम एक क्षेत्र में अभी तक उदासीन रहे हैं—यह है आहार-सम्बन्धी स्वस्थ आदतों का क्षेत्र। जिस प्रकार से अन्य क्षेत्रों में हमारे देश में बहुत अच्छी-अच्छी बातें, प्रशंसनीय और अनुकरणीय परम्पराएँ मौजूद हैं, उसी प्रकार से आहार के क्षेत्र में भी हमको कितनी ही ऐसी बातें मिलती हैं जिनका हमारे देश के कोने कोने में पनपना अत्यन्त आवश्यक है। जन-आन्दोलन खड़ा करके इसका प्रचार करना चाहिए। इस दिशा में वे लोग, जो गाँवों में काम करते हैं, छोटे-बड़े सभी कुटुम्बों के सम्पर्क में आते हैं, विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

इस समय हमारे देश में दो संस्थाएँ ऐसी हैं जिनका कार्य और जिनके कार्यकर्ता देश भर में फैले हुए हैं। छोटा-से-छोटा गाँव भी उनके प्रभाव-क्षेत्र से नहीं बचा है, उनमें एक शिक्षा-विभाग है और दूसरा विकास-विभाग। इसलिए प्रत्येक अध्यापक, ग्राम-सेवक और ग्राम-सेविका का यह कर्तव्य है कि वे इस ओर सोचते रहें, गाँव-गाँव में आहार-सम्बन्धी-स्वस्थकर नियमों और परम्पराओं का एक जागरूक आन्दोलन चालू करें। शिक्षा-विभाग और विकास-विभाग के अधिकारियों के कन्धों पर उसका भार होना स्वाभाविक है। वे लोग बालक-बालिकाएँ, नवयुवक और प्रौढ़ सभी के सम्पर्क में आते हैं। उनके सहयोग से इस दिशा में बहुत जल्दी अधिक काम हो सकता है। इसका परिणाम प्रत्यक्षरूप से जनता और सरकार के सामने शीघ्र ही आ सकेगा। स्वस्थकर भोजन-सम्बन्धी परिपाटियों के चलन का अर्थ यह होगा कि चारों ओर हँसमुख चेहरे दीख पड़ेंगे, बीमारियों से जन-साधारण को छुटकारा मिलेगा। प्रत्येक कुटुम्ब में रोगों के कारण जो धन और समय की क्षति होती है, मानसिक क्लेश के कारण कार्य-क्षमता कम होती है उनसे हम व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और देश को बचा सकते हैं।

बिना इस ओर ध्यान दिये हम अपने शिक्षा-कार्यक्रम में और विकास-कार्य में उतनी उन्नति नहीं कर सकेंगे जितनी उन्नति की हमसे आशा की जाती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जल्द-से-जल्द इस ओर सोचना शुरू करें।

यह ऐसा कार्यक्रम है जिसके लिए हमको कुछ भी अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ेगा। यह कार्यक्रम केवल हमारे दृष्टिकोण के अन्दर थोड़ा-सा भेद लाने पर और उस भेद को जनता तक पहुँचाने के प्रयास पर अवलम्बित है। यह कार्यक्रम एक शुद्ध आन्दोलनात्मक कार्यक्रम है। इसमें सभी भाग ले सकते हैं। यह कार्यक्रम गाँव, शहर, कस्बा सभी जगह पूरे वेग से एक साथ चालू किया जा सकता है। शिक्षा-विभाग और विकास-विभाग के जो व्यक्ति, जो अधिकारी कार्य कर रहे हैं, वे लोग अपने साधारण दैनिक कार्यक्रम के साथ ही इस कार्यक्रम को आगे बढ़ा सकते हैं।

हमारा देश दूसरे देशो के मुकाबिले बहुत-सी चीजो में पिछड़ा हुआ है, लेकिन जहाँ तक मनुष्य के दाँतों की औसत आयु का प्रश्न है, भारतवर्ष, अमरीका, इग्लैंड और दूसरे यूरोपीय देशो के मुकाबिले बहुत आगे बढ़ा हुआ है। हमारे देश में मनुष्य के दाँतो की औसत आयु विदेशियो के दाँतो के मुकाबिले बहुत अधिक है। विदेशों में मनुष्य के दाँतो की औसत आयु ३५ वर्ष है। क्या आपने कभी सोचा है कि हम अपने दाँतो की औसत आयु को कैसे बनाये रख सकते है, अथवा इसको और कैसे बढा सकते है ?

हमारे देश में मनुष्य के दाँतो की औसत आयु अधिक होने के कारण ये है—(१) भारतवर्ष में अनादि काल से छोटी से छोटी चीज खाने पर पानी से कुल्ला करने की स्वस्थ परम्परा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पायी जाती है। इसके कारण भोजन के कण दाँतो के अन्दर सड नही पाते और दाँतो की रक्षा होती है, (२) कुल्ला करते समय हम मसूडो पर अँगुली फेरते है तो उसमें हमारे मसूडे स्वस्थ होते है, (३) खाने-पीने की प्रत्येक वस्तु को छूने से पहिले अथवा भोजन आरम्भ करने से पहिले हाथ धोने की प्रथा, (४) भोजन के अन्दर कुछ ऐसी सख्त चीजो का समावेश करना, जिनके खाने से दाँतो का व्यायाम होता हो—जैसे गन्ना चूसना, चने चबाना, कच्चे फल खाना, (५) व्रत-परम्परा, (६) वर्ष के कुछ दिन ऐसे माने जाते है कि उस दिन अमुक वस्तु के खाने का महात्म्य माना जाता है—जैसे एकादशी के दिन आँवला, नागपचमी के दिन भिगोये हुए चने, मकर सक्राती के तिल, (७) बच्चो, गर्भवती स्त्रियो या मरीजों को गाय का ही दूध देना—भैस का नही, (८) पूरी, कचौडी, पराबठो के स्थान पर चपाती और चावल का खाया जाना।

इन स्वस्थकर परम्पराओ के कारण ही हमारे देश में दाँतो की औसत आयु विदेशो के मुकाबिले में ऊँची है। यदि हम इन परम्पराओ को भुला देंगे तो हमारे देश में शायद दाँतो की औसत आयु अन्य देशो से भी कम हो जायेगी।

हमारे दैनिक भोजन में कुछ सख्त वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिएँ। चना इस श्रेणी में सब से उत्तम है। भुना हुआ चना खायें, लेकिन छिलका न उतारें। अकुरित चना भुने चने से भी अच्छा है। इसका चलन बहुत आसानी से स्कूलो, क्लबो, व्यायामशालाओ में हो सकता है।

गन्ना

गन्ना दूसरी उपयुक्त वस्तु है। शहरो में गन्ने का निरादर होने लगा है। बालक गन्ना चूसना नही चाहते। वे गन्ना छीलकर चूसने के मुकाबिले गडेरी या गट्टे चूसना अच्छा समझते है और इन दोनो के मुकाबिले रस पीना और भी अधिक अच्छा समझते है—यह ठीक नहीं है। गन्ने को दाँत से छीलकर चूसना सर्वोत्तम है क्योकि ऐसा करने से गन्ने की गाँठो पर जो सफेद चूर्ण होता है, वह पेट मे जाता है, छीलने की क्रिया में दाँतो का व्यायाम होता है।

कच्ची सब्जी और फल

चने और गन्ने के अतिरिक्त कच्ची सब्जी व फलो का भी प्रयोग करना चाहिए।

मूली—इसके प्रयोग में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। उसके पत्ते, विशेषकर मुलायम पत्ते जो जड के बिलकुल पास होते है, अवश्य खाये जायें। मूली में शरीर की अम्लता को नष्ट करने की अद्भुत क्षमता है। मूली की प्रतिक्रिया क्षारीय है। जहाँ तक हो सके मूली और उसके पत्ते कच्चे खायें।

पालक—यह प्राय सब स्थानो पर मिलनेवाला एक बहुत सस्ता साग है। शायद इसके सस्तेपन के कारण इसकी कदर नही की जा रही है। इसके खाने के प्रचलित ढग में सुधार की आवश्यकता है। इसको पहिले पानी मे डालकर उबालते है, फिर हाथ से खूब निचोडते है ताकि सब पानी निकल जाय। इससे भी सतोष नही होता है, निचोडने के बाद उसको तवे या कड़ाई में डालकर घी, तेल, मिर्च-मसालो के साथ खूब

भूनते हैं। इन सब क्रियाओं का परिणाम यह होता है कि पालक की प्राण-शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है।

पालक ताजा और कच्चा ही लें—यह खाने का सबसे अच्छा तरीका है। पालक को खूब धोकर बारीक काट लें, उसमें अदरक, नीबू, नमक-मसाला मिला लें। इसमें पत्ता गोभी, मटर, टमाटर, तर-ककडी, अरण्ड-ककडी भी मिलाये जा सकते हैं।

पत्ता गोभी—बालकों को कच्ची पत्ता गोभी खाने से न रोकें। उनको उत्साहित करें कि अधिक-से-अधिक मात्रा में खायें।

प्याज—दम आलू में प्याज, प्याज की सब्जी आदि के मुकाबिले में कच्ची प्याज खाना अधिक हितकर है। *यदि आप प्याज उसके गुणों के लिए खाते हैं तो कच्ची* ही खायें, तलने या भूनने से वे सब गुण बहुत अंशों में नष्ट हो जाते हैं।

गाजर—जहाँ तक हो सके बच्चों को गाजर कच्ची खाने दें। गाजर बहुत लाभदायक है, विशेषकर उस अवस्था में जब शरीर का गठन हो रहा हो।

मटर—मटर कच्ची अवस्था में बच्चों को बहुत प्रिय होती है। इस आदत को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

टमाटर—लाल लाल टमाटर बच्चों को ही क्या सबको प्रिय होते हैं। सब्जी के बजाय लाल टमाटर कच्चे खाना अधिक लाभकारी है।

शलजम—अधिक गानेवाला को, बोलनेवाला को, जिनके गले में खराश रहते हो, अथवा चाहे खराश की शिकायत हो जाती हो, उन सबके लिए शलजम बहुत उपयोगी है। बच्चों को बोलना भी पड़ता है गाना भी हो"ा है, गले म खराश भी हो जाती है, ऐसा ही हाल अध्यापकों का है। इसलिए छात्र व अध्यापक दोनों को ही शलजम का प्रयोग खूब करना चाहिए। शलजम के पत्ता को काट कर छौंक लिया जाय। शलजम को कच्चा खाया जा सकता है अथवा आँच में जरा भुलभुला कर।

चौले की फली (लोभिया)—कच्ची-कच्ची चौले की फली तो बिना पकाये हुए वैसे ही खायी जा सकती है।

मेथी का साग, चौलाई का साग—इनको भी पालक के साग के साथ जरा-सा धनिया (हरा) मिला कर कच्चा ही खाया जा सकता है। नीबू, अदरक, मूली, चौले की फली, पत्ता गोभी, गांठ गोभी, टमाटर ककडी, खीरा मिलाने से स्वाद और भी अच्छा हो जाता है। ऐसी प्लेट को सलाद की प्लेट कहते हैं। यह प्रत्येक खाने के साथ ली जा सकती है। प्रत्येक कुटुम्ब में इसका चलन होना चाहिए।

आँवला

भारतीय घरों में आँवले को बहुत गुणकारी समझा जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक भी इस बात का समर्थन करते हैं। आँवला एक विचित्र फल है। इसके गुण इसके मूल्य के मुकाबिले कहीं अधिक हैं। गुणों में यह सन्तरे से टक्कर लेनेवाला फल है। इसमें एक और विशेषता भी है, वह यह है कि इसके विटामिन इसके सूखने पर भी नष्ट नहीं होते हैं—यह गुण शायद केवल आँवले में ही पाया जाता है।

परम्परा यह है कि आँवले का मुरब्बा बहुत लाभदायक होता है। ठीक है, लेकिन मुरब्बा आँवले का निकृष्ट रूप है अर्थात जब आँवला अन्य रूप में न मिले तो मुरब्बे के रूप में लें। सब से अच्छा तो कच्चे आँवले का खाना ही है। बालकों में आदत डालें कि जरा-सा नमक के साथ खायें, खाने से पहिले, खाने के साथ, खाने के बाद। इसके अलावा आँच में भुलभुला कर भी खाया जा सकता है। जरा-सा उबालकर भी काम में लाया जा सकता है। लौंजी के रूप में तव पर जरा सा घी या तेल में मसाले के साथ छौंक कर भी काम में लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सूखे हुए आँवले भी खाने के काम में लाये जा सकते हैं—(१) चटनी में, सब्जी में, खटाई के बजाय काम में लाये जा सकते हैं (२) सुपारी की तरह खाने के काम में आ सकते हैं।

कच्चे आँवला को काफी समय तक ताजा रखने का एक बहुत सरल उपाय है। एक काँच या चीनी के बरतन में नमक के पानी में आँवलों को डाल दें। काफी दिनों वे ठीक बने रहेंगे। जब भी आवश्यक हो, उसमें से निकाल कर काम में ला सकते।

मट्ठा या छाछ

मट्ठा दही या दूध से अधिक गुणकारी है क्योंकि यह जल्दी हजम हो जाता है। हमारे शरीर में खाने के उस भाग से ही लाभ पहुँचता है, जो पच जाता है। वह भोजन अथवा भोजन का अंश, जो शरीर पचा नही सकता, शरीर के विभिन्न अवयवों पर एक हानिकारक जोर डालता है, जिससे शरीर की कार्य क्षमता धीरे धीर कम हो जाती है। दैनिक भोजन पदार्थों में मट्ठा को उचित स्थान देना बहुत आवश्यक है।

नीबू

नीबू खटाई नही, दवाई है। नीबू से डरें नही। उसका प्रयोग अधिक-से-अधिक करें। इस विचारधारा को बदल दें कि नीबू दर्द में, खाँसी में, जुकाम म, गले की खराश में हानिकारक है। वास्तविकता यह है कि नीबू इन सब की एक अचूक दवा है।

दूध बनाम चाय

भारत में'जहाँ दूध दही की नदियाँ बहती थी वहाँ आज बालक दूध के लिए तरसते है। एक ओर बालक दूध के लिए तरसते हैं तो दूसरी ओर जिन घरो में दूध के तीन चार जानवर हैं अथवा दूध खरीदने की क्षमता है वहाँ बालक दूध के नाम से रोते है। जहाँ माँ ने दूध का नाम लिया कि सब बालक इधर उधर खिसक जाते है अथवा कहते है कि चाय या ओवल्टीन या बोर्नविटा तैयार कर दे, दूध नहीं पियेंगे।

बालकों, गर्भवती स्त्रिया और बीमारो को गाय का दूध अधिक से-अधिक मात्रा में लेना चाहिए।

जब चाय और छाछ दोना उपलब्ध हो तो छाछ को ही चुनना चाहिए। वह देहाती बालक, जो गाँव में दूध पीता है, जब शहर में आता है तो चाय ही पीना पसन्द करता है। क्यो? इसलिए कि वह कहीं दूध पीने पर गँवार न समझा जाय। यदि ये बच्चे अपने अध्यापक, अपने माता पिता के मुँह से यह सुनते रहेंगे कि जब चाय और दूध में से एक को चुनना हो तो सदैव दूध ही चुनना चाहिए तो वे साहस के साथ शहर में कह सकेंगे कि वे चाय नही, दूध पियेंगे।

मक्खन निकला दूध

भारत में मक्खन निकले दूध का बहुत अनादर हुआ है। इस अनादर के कारण ही यह घूम फिरकर परदे की आड से असली दूध में मिलकर बिकता है। मक्खन-निकले दूध में से केवल चिकनाई निकल जाती है, अन्य उपयोगी तत्व उसमें बने रहते है। चिकनाई के निकल जाने से यह दूध शीघ्र हजम होनेवाला हो जाता है। इसलिए मक्खन निकले दूध का उचित आदर करना चाहिए, ताकि दूध बेचनेवाले मक्खन निकले दूध को उसी नाम से बेचें।

निवेदन

'नयी तालीम' का जून जुलाई का अंक संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित होगा। संयुक्तांक के विषय सोचे गये हैं—'लोकतान्त्रिक समाजवाद और शिक्षा' तथा देश विदेश में प्राइमरी शिक्षा। सहयोगियों से निवेदन है कि वे इन विषयोंपर अपने विचार अथवा लेख अधिक से अधिक जून के अन्तिम सप्ताह तक भेज देने की कृपा करें। —सम्पादक

साम्प्रदायिक एकता

के लिए

सर्व-सेवा-संघ की अपील

सर्व सेवा संघ की प्रबन्ध समिति उन साम्प्रदायिक दंगों पर बहुत दुख और वेदना प्रकट करती है, जो हाल के चन्द महीनों में भारत और पाकिस्तान में हुए हैं और दोनों देशों के सभी विचारवान लोगों से विनती करती है कि इस निर्दय और खूँखार पागलपन की कड़ी भर्त्सना करें। पागल जनता के उन्माद के शिकार हुए लोगों की रक्षा के लिए दोनों देशों के जिन बहादुर और करुणावान लोगों ने अपने जीवन को जोखिम में डाला, उनका हम अभिनन्दन करते हैं। न्याय और सदाचार की जो लोग चिन्ता करते हैं उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपनी शक्तिभर इस बात का प्रयत्न करें कि अल्पमतवाले धार्मिक समुदायों के खिलाफ कायरतापूर्ण हमले कभी न हों। भारत की जनता से हम गांधीजी के नाम पर—जिन्होंने साम्प्रदायिक वैमनस्य के विनाश से देश को बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दी—और उनकी देशभक्ति के नाम पर अपील करते हैं कि वह उन घटनाओं को खत्म करें, जिनसे भारत सभ्य राष्ट्रों की आँखों में शर्मिन्दा होता है। हम मानवता के नाम पर लोगों से अपील करते हैं कि वे ऐसा एलान करें कि उन जुल्मों के जवाब में, जो पाकिस्तान के मुसल्मानों ने किये हों, वे भारत के निर्दोष मुसल्मानों की स्त्रियों, पुरुषों की हत्या और मारकाट को बरदाश्त नहीं करेंगे। हम उसकी महान नैतिक और धार्मिक परम्पराओं के नाम पर जो बदला नहीं, दया सिखाती है उनसे अपील करते हैं कि मार लेने के बजाय वे बचाने का काम करें।

हर नगर और कस्बे के लोगों से हमारी अपील है कि अपनी बस्ती में एक मेलमिलाप समिति बनायें और निष्ठापूर्वक उसको सक्रिय बनाने में योग दें।

सभ्य राष्ट्र होने का हमारा दावा तबतक पूरा नहीं हो सकता, जबतक हर अमनपसन्द और कानून पासन्द आत्मा को यह न महसूस हो कि उसका जीवन सुरक्षित है और अमुक धर्म का होने के कारण उसके साथ कोई अन्याय और अत्याचार नहीं होगा। हमको यह प्रयत्न करना चाहिए कि भारत को ऐसा देश बनायें, जहाँ हर आदमी, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो बिना परेशानी के और निर्भयतापूर्वक सही-सलामत अपना जीवन बिता सके। कोई देश सच्ची आजादी का अनुभव तबतक नहीं कर सकता जबतक उसके अल्पसंख्यकों के मानवीय अधिकार सुरक्षित न हो जायें।

●

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अप्रैल, १९५४ नयी तालीम रजि० सं० एल १७२३

दादा का न्याय

जिन दिनों मैं वीसापुर जेल में था, मुझे रसोई का काम सौंपा गया था। वहाँ रोज एक बार में ६६ मन आटे की रोटी, ११ मन दाल और २४ मन साग-सब्जी पकती थी। ६६ मन की रोटियों का एक बड़ा-सा ढेर खड़ा हो जाता था। हर कैदी को दो-दो रोटी देने का नियम था।

पर रोटियों का ढेर देखकर कुछ 'दादा' लोग आते और मुझसे कहते—"ए, रोटी दो। भूख लगी है।"—मेरे न देने पर गुस्सा होते और बड़बड़ाते—"कमबख्त, कंजूस कहीं का! दो रोटी देने में क्या बिगड़ जाता है?" यों कहकर गालियाँ देते हुए चले जाते।

रोटियों का ढेर बहुत बड़ा था, तो क्या खानेवाले भी कुछ कम थे? जो माँगने आते वे ढेर को तो देखते थे, पर खानेवालों का ख्याल नहीं करते थे। रोटियाँ तो बराबर गिनती की ही बनती थीं, मगर बीच ही में कोई उठाकर ले जाता, तो कुछ लोगों को रोटी न मिलती और भूखों रहना पड़ता। ये भूखों रहनेवाले आम तौर पर झाड़ू लगानेवाले भंगी और उन्हीं के जैसे दूसरे होते थे।

ईश्वरी दुनिया में भी यही बात पायी जाती है। उसने तो ऐसी योजना की है कि कोई भूखा न रहे। पर कुछ 'दादा' बीच में बहुत ज्यादा दबाकर बैठ जाते हैं, इसलिए दूसरों को कम मिलता है।

काश, इस सच्चाई को हम समझ पाते!

रविशंकर महाराज

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से हिन्द प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
गत मास छपी प्रतियाँ २७०० इस मास छपी प्रतियाँ २,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष : १२ अंक : १०

मई, १९६४

जीविका तथा प्रतिदिन के वातावरण से अलग हटाकर जो शिक्षा दी जायेगी, वह जीवन शिक्षा नहीं होगी, उससे मानवीय सम्बन्ध नहीं पैदा होंगे।

नयी तालीम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

अनुक्रम

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ राजघाट
वाराणसी-१

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-६०

वर्ष : १२

अंक : १०

ठंढा दिल, गरम दिमाग !

आज देश में जहाँ देखिए क्षोभ ही क्षोभ दिखाई देता है। बस में, रेल में, कमरे में, बाजार में, जहाँ सुनिए हर जगह कोई-न-कोई किसी-न-किसी के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करता हुआ सुनाई देगा। क्षोभ की हालत में कुछ भी कहिए, कितना भी समझाइए, आदमी सुनने को तैयार नहीं होगा; उसे अपनी ही कहने की धुन लगी रहती है। वह अपनी बात से भिन्न कोई बात बर्दाश्त नहीं करना चाहता। असहिष्णुता, उपहास, निन्दा, अविश्वास, निराशा, भर्त्सना, बस यही उसका राग होता है। ऐसा लगता है जैसे क्षोभ और उत्तेजना हमारा खाना-पीना बन गया है। एक ओर देश के सामने एक-से-एक बड़े सवाल हों, और दूसरी ओर जनता के अन्दर क्षोभ की आग धधक रही हो तो उन सवालों पर सोचने की फुरसत किसको है? मुल्क की गरीबी, भ्रष्टाचार, चीन का हमला, पाकिस्तान की शरारत, तरह-तरह के तनाव और संघर्ष-एक दो सवाल हों तो गिनाये भी जायँ, हमारे लिए कितने मोर्चे एक-साथ तैयार हो गये हैं। जब सवाल अनेक हों, और सब एक साथ टूट पड़े हों, तो यह कहना मुश्किल हो जाता है कि कौन सबसे बड़ा है और किसको हल करने का क्या सही तरीका है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि हर सवाल को हल करने के लिए दिल का गरम होना यानी सद्भावना और दिमाग का ठंढा होना यानी विवेक जरूरी है। लेकिन यह तो तब होगा जब हम नये जमाने में नये ढंग से सोचना शुरू करें और आजाद देश में अपनी ऊँची हैसियत महसूस करें।

अब वह जमाना नहीं है कि हमारे सवालों का हल कोई राजा, गुरु, योद्धा, या पुरोहित सुझा दे और हम लाखों-लाख लोग श्रद्धापूर्वक उसकी बातें सुन लें और मान लें। अब जमाना केवल एक या दस की मर्जी का नहीं है, बल्कि सबकी मिली-जुली राय का है। 'यह बेवकूफ है,' 'वह विरोधी है,' 'वह विधर्मी है'—इस तरह की बातों से मसले हल नहीं होते, बल्कि बढ़ते हैं। जहाँ दस की बात चलती है वहाँ दूसरों की बात सुनी जाती है, अपनी बात कही जाती है, और दोनों को मिलाकर ऐसा रास्ता निकाला जाता है जो सबको पसन्द हो। लोकतंत्र दबाव से नहीं चलता, मनाव से चलता है, और मनाव गाली और डंडे से नहीं होता, मेल और धैर्य से होता है। जो देश क्षोभ और उत्तेजना को जीवन का सामान्य नियम बना ले उस देश में लोकतंत्र कैसे चलेगा?

इधर कुछ दिनों से देश में गाली और डंडा बहुत दिखाई दे रहा है। धैर्य और मेल का तो जैसे पता ही नहीं चलता। जमशेदपुर और राउरकेला में हत्याकांड, दक्षिण के एक हरिजन गाँव का जलाया जाना, बात-बात में विद्यार्थियों के उपद्रव, असेम्बली और पार्लियामेंट तक में तू-तू-मैं-मैं और अशोभनीय प्रदर्शन आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जो यह बताती हैं कि जनता का दिल कितना ठंढा और दिमाग कितना गरम हो गया है। जब दिल और दिमाग की स्थिति उलटी हो गयी हो तो कैसे समझ में आयेगा कि जो कुछ हम कर रहे हैं उसका हमारे, हमारे समाज, और हमारे देश पर क्या असर होगा? हमें जल्दी पड़ी है किसी पर अपना गुस्सा उतारने की; अपने घर में अपने चिराग से आग लगाने की।

इस देश का बड़ा होना इसका गुण भी है और दोष भी। गुण यह है कि इतनी तरह के लोग साथ रह लेते हैं, और दोष यह है कि साथ रहते हुए भी मिलकर नहीं रह पाते; हमेशा आपस में परायापन बना रहता है, और यह अलगाव आपस में तरह-तरह के तनावों और संघर्षों का कारण बनता रहता है। अपने इस बड़े और विविध देश में, जो सबसे बड़ी समस्या है वह यह है कि लोग एक-साथ रहना सीखें, भले ही वे एक भाषा न बोलें, एक जाति और धर्म के न हों, एक विचार और एक राय के न हों। अगर इतना भी करना न आये तो कितना भी विकास हो, विनाश की आग हमें जलाने के लिए हर वक्त तैयार रहेगी। साथ रहेंगे, मिलकर रहेंगे, फिर भी मतभेद होंगे, विरोध होंगे, कभी झगड़े भी हो जायेंगे; लेकिन हम जानेंगे कि समाज के नाते अपने मतभेद या विरोध प्रकट कैसे करें और झगड़ा भी करना हो तो उसकी सीमा या मर्यादा क्या हो।

जरूरत है परिस्थिति और संकट को पहचानने की। यह समय क्षोभ और उत्तेजना में अपनी शक्ति गँवाने का नहीं है। अपनी हर जिद को सम्मान का प्रश्न बना लेना, जाति, सम्प्रदाय और दल को देश समझ लेना, मारकाट को प्रतिकार मान लेना और उत्तेजना में उत्सर्ग का अवसर देखना—ये लक्षण शुभ नहीं हैं। अगर दिल गरम और दिमाग ठंढा हो तो हर संकट का उपाय निकल आता है; अगर ऐसा न हो तो हर परिस्थिति संकट बन जाती है। हम जोड़ डालें कि स्वराज्य के सत्रह वर्षों में हमने कितने सवाल हल किये और कितने ऐसे नये सवाल पैदा किये, जिन्हें हम चाहते तो पैदा न होने देते। अगर पुराने सवाल हल न हों, नये सवाल जुड़ते जायँ और हर सवाल अपने चारों ओर नयी उत्तेजना पैदा करता रहे तो हम कहाँ पहुँचेंगे, यह सोचने की बात है। जिस देश में गांधी की हत्या हुई हो और जहाँ भाषा, प्रान्त, जाति और धर्म के नाम में बड़े पैमाने पर उपद्रव होते हों उस देश के लोगों के लिए यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि क्षोभ से उत्तेजना, उत्तेजना से गाली और गाली से गोली तक का रास्ता कितना सीधा है। अगर हमने सबक न सीखा तो देश देश न रहकर अखाड़ा बन जायेगा।

—राममूर्ति

रहने का ही प्रयत्न करते हैं, अथवा अछूते रह जाते हैं, किन्तु प्राथमिक शाला का शिक्षक ही अपने बालकों पर अधिक-से-अधिक संस्कार डालता है।

श्रद्धा की कसौटी

मैं चाहता हूँ कि ये संस्कार सुसंस्कार ही हों, कुसंस्कार कदापि न हों। दरअसल यह बात नयी नहीं है और आपसे खास कहने की जरूरत भी नहीं है, परन्तु आज देश में जो वातावरण फैल रहा है, उसके लिहाज से यह मामूली-सी बात भी खास कहने की हो जाती है।

ऐसी हालत में सम्भव है कि आपका चित्त भी उस चक्कर में पड़ जाय और आपके मन में भी जहर फैल जाय, लेकिन श्रद्धा की कसौटी ऐसे अवसरों पर ही होती है। अगर ऐसे विकट प्रसंग आयें ही नहीं, तो श्रद्धा की कसौटी नहीं होगी। आप अगर साम्प्रदायिक बनेंगे या बनना ही चाहें तो किसके लिए? क्या आपके लिए यह सम्भव है? क्या आपकी गाड़ी इस तरह दो क्षण भी चल सकेगी? क्या शिक्षण देते समय आप यह विचार करेंगे कि अमुक विद्यार्थी हिन्दू है या फलां मुसल्मान। अमुक को ज्यादा शिक्षण देना चाहिए, फलां को कम। फलाने पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए, ढिमाके की उपेक्षा करनी चाहिए?

कुछ शिक्षक मन्द विद्यार्थियों की तरफ अधिक ध्यान देते पाये गये हैं परन्तु विद्यार्थी की कौम का विचार करनेवाला तो उनका शिक्षक नहीं, वरन् दुश्मन होगा। और फिर साम्प्रदायिकता का अन्त कहाँ होगा, इसका भी आपको ख्याल है? वैश्य, शूद्र, हरिजन वगैरह भेदों को भी आपका मन स्वीकार करने लगेगा और फिर आपका सारा शिक्षक-जीवन कौमी जहर से दूषित हो जायेगा।

पशु नहीं, इनसान बनना है

हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के विरोधी या दुश्मन हैं, इस भावना को आपने अपने दिल में भूलकर भी स्थान दिया हो, तो उसे तिलांजलि देना शिक्षक के नाते आपका धर्म है। भेद तो मनुष्यों के बीच है ही। मशहूर है कि मनुष्यों के अँगूठों के निशान कभी एक-से नहीं होते और दो पैरों की रेखाएँ समान नहीं होती, लेकिन इस वस्तुस्थिति पर हम जोर दें, तब तो हम प्रलय-काल को समीप लायेंगे।

भेदों के होते हुए भी हम सभी प्राणिमात्र एक ही पिता की सन्तान हैं, यह जानने की चीज है। यही भावना हमें एक अभेद में जोड़ती है। इस अभेद भाव की जड़ें बालक के चित्त में जमाना आपका पवित्र कर्तव्य है, और आप यदि यह कर सकें, तो अपने देश की एकता और कौमी शान्ति में काफी हिस्सा अदा किया, ऐसा माना जायेगा। अगर आप भेद-भावों की जड़ों को गहरी करेंगे, तो आपकी पाठशालाएँ शिक्षा मन्दिर न रहकर कुश्ती के अखाड़े बन जायेंगे।

और, यह सब सिखाते हुए आपको अपने बालकों को यह सिखाना होगा कि उन्हें इन्सान बनना है, पशु नहीं। मुझसे कुछ शिक्षक पूछते थे कि 'इतिहास किस तरह सिखाया जाय? उसमें तो औरंगजेब का वर्णन करने से भी टण्टा खड़ा हो जाता है।' मैं विनय-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि अगर आप पक्षपात रहित होकर इतिहास सिखायेंगे तो टण्टा खड़ा होने की सम्भावना नहीं रहेगी। अगर औरंगजेब था तो अकबर भी था, और अगर हैदर था तो टीपू भी तो था ही। लड़ाइयाँ केवल हिन्दू-मुसलमानों के ही बीच नहीं होतीं। प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिकों में तथा मुसलमान और ईसाईयों में भी खूँखार लड़ाइयाँ हुई हैं, परन्तु इतिहास से यही पाठ सीखना है कि इस जंगलीपन में से हमें मनुष्य बनना है।

विद्यार्थियों को व्यायाम की तालीम दो, खूब तालीम दो। उनका मन और शरीर सुदृढ़ बनाओ, उन्हें कूदना-फाँदना सिखाओ, तैरना सिखाओ, हिम्मतपूर्वक बाढ़ में कूदकर डूबनेवालों को बचाना सिखाओ, आग से न डरकर उसे बुझाना सिखाओ, लेकिन मनुष्य से पशु बनना हरगिज न सिखाओ।

शिक्षक का धन्धा पवित्र धन्धा है और आज की विकट परिस्थिति में उनके सामने बड़ा भारी कर्तव्य है। उस कर्तव्य को भुलाकर वे भी अगर मौजूदा बहाव के साथ बहते जायेंगे, तो अपने धन्धे की प्रतिष्ठा खो बैठेंगे। 'दरिया में लगी आग, कौन बुझा सकेगा?' नमक ही बेमजा हो जाय तो उसे नमकीन कौन बना सकेगा? ●

सामाजिक विषय
का
पाठ्यक्रम–२

●

वंशीधर

[इस लेखमाला की पिछली किश्त में लेखक ने स्पष्ट किया था कि आज का समाज बालक को 'दाय' के रूप में प्राप्त हुआ है। इस दायरूपी पौधे की जड़ें अतीत के पाताल में हैं। विभिन्न जलवायुवाली परिस्थितियों में इसका रूप भिन्न हो गया है, परन्तु वह मूलतः एक है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में समाज की एकतामूलक विभिन्नता की कहानी इस ढंग से प्रस्तुत की गयी है कि उसकी धारा अखण्ड एवं अजस्र बनी रहे। —सम्पादक]

समाज-विकास के तीन चरण

१. आखेट-युग की गुफाओं के कुटुम्ब

एक साथ रहने और काम करने से सहकारिता, सहिष्णुता, सेवा, त्याग आदि सामाजिक गुणों का उदय। कुटुम्ब का आर्थिक संगठन–भोजन-संग्रह और आखेट। आखेटयुग का आदिम साम्यवाद। सामुदायिक सम्पत्ति की भावना का विकास। गुफावासी कुटुम्ब की एक झलक–कुटुम्ब का एक मुख्य उद्योग–पत्थर के हथियार बनाना। आग और दीपक का प्रयोग। मनुष्य का सबसे पुराना पालतू पशु–कुत्ता।

२. कृषि-युग के गाँव

गाँव–खेतों के बीच में बसे हुए कुटुम्बों के समूह। संयुक्त परिवार। कई कुटुम्बों के समूह–कुल। कुल सबसे प्राचीन सामाजिक संगठन–राष्ट्र की पहली इकाई। एक कुल का एक टोटम। टोटमवार कई कुल मिलकर एक जाति। जातियों का संघ–राष्ट्र। राष्ट्र का कर्तव्य–शान्ति के समय कानून की रक्षा, अनैतिक तत्वों से व्यक्ति की रक्षा। युद्ध के समय जाति की रक्षा।

युद्ध के समय सुरक्षा के लिए कई कुलों का एक मुखिया की अधीनता में संगठन। मुखिया से राजा का विकास। मुखिया की सहायता के लिए समिति–गणतंत्र। भारत के गणतंत्र–यूनान के प्राचीन गणतंत्र। समिति-विहीन निरंकुश राजा। राजा, सम्राट और चक्रवर्ती राजा। राजा में ईश्वर का आरोप। निरंकुश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह–फ्रांस और रूस की क्रान्तियाँ–आज का प्रजातंत्र–समाजवाद।

गाँव का आर्थिक संगठन–व्यक्तिगत सम्पत्ति और दास-प्रथा। कृषि व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासप्रथा की जननी, कृषि के सहकारी धन्धे। श्रम विभाजन और वर्ग-प्रथा। धन्धों के समाज के लिए समान महत्व के न होने के कारण–ऊँच-नीच का भेदभाव–जाति प्रथा के लाभ और हानियाँ। भारत में जाति प्रथा का विकृत रूप।

नव प्रस्तर युग के एक गाँव की झाँकी–कृषि और सहकारी उद्योग करनेवाले कुटुम्बों का सरल जीवन। संयुक्त परिवार। गाँवों का स्वावलम्बन।

वैदकालीन एक गाँव की झाँकी–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के परिवारों का जीवन। वर्ण और

५ पढ़ना-लिखना-लिखाने की संस्थाएँ-अविधिक और सविधिक शिक्षा-प्राचीन काल के आश्रम-बौद्धयुग के विश्वविद्याल-मध्ययुग के मन्दिरों और मसजिदों के साथ लगी हुई पाठशालाएँ और मकतब। आधुनिक काल की शिक्षा-संस्थाएँ। समाज और शिक्षा।

६ संसार के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री—(प्राचीनकाल)-याज्ञवल्क्य अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व, आरुणि आदि—यूनान-सुकरात, प्लेटो और अरस्तू रूसो, पेस्टालॉजी, फ्रॉबेल, हरबर्ट, मान्टेसरी, डीवी। विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, गांधी।

(घ) समुदाय का राजनीतिक संगठन

आज के समुदाय का प्रजातान्त्रिक संगठन-ग्राम, नगर और जिले का स्वायत्त शासन, संगठन।

१ ग्रामसभा—ग्राम-पंचायत, ग्राम-पंचायत की कहानी। प्राचीन काल का गौरवमय रूप। ब्रिटिशयुग की कचहरियों के कारण ह्रास। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का पुनरुत्थान। ग्राम-पंचायत, ग्रामसभा, गाँव-अदालत-अधिकार और कर्तव्य। चुनाव की पद्धति। निर्वाचकों के कर्तव्य और अधिकार।

नगर का प्रबन्ध-नगरपालिका, नगरमहापालिका-क्षेत्रीय समितियाँ-जिला परिषद-संगठन, अधिकार और कर्तव्य।

२ प्रदेश का प्रशासन-प्रशासन के तीन अंग-अ कार्यकारिणी, ब. विधान सभाएँ, स न्यायपालिका।

इनके संगठन, कर्तव्य, अधिकार-लोकसभा के चुनाव की एक झाँकी-प्राचीन गणतन्त्रों का संगठन-उनमें मतदान की पद्धति। इंग्लैंड की पार्लियामेंट आज के प्रजातन्त्र की जननी। समाजवादी देशों की प्रजातान्त्रिक पद्धति।

३ देश का प्रशासन-हमारा संविधान-व्यक्ति के मौलिक अधिकार। लोकसभा-राज्यसभा-कार्यकारिणी-राष्ट्रपति और मन्त्रिमंडल-न्याय-व्यवस्था-सुप्रीमकोर्ट।

४. राष्ट्रसंघ-संगठन। राष्ट्रसंघ के लक्ष्य-राष्ट्रसंघ की समस्याएँ-राष्ट्रसंघ की सफलता की शर्तें। ●

शब्दों के बदलते अर्थ

●

रामजनम

शब्द चलते हैं। शब्द चलते हैं और चलते-चलते थक जाते हैं तो रुक भी जाते हैं। शब्द बोलते हैं—मीठे, तीखे और तेज सुरों में। शब्द मौन भी साध लेते हैं। शब्द में कितनी शक्ति होती है, इसे पारखी ही समझ सकता है। लेखकों, कवियों, कथकड़ों और कथाकारों को इनकी शक्ति जाँचने-परखने की क्षमता अपने में लाने के लिए कितनी कठोर साधना करनी पड़ती है, वही जानते हैं।

स्व० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' की ये पंक्तियाँ देखिए—

> दिवस का अवसान समीप था
> गगन था कुछ लोहित हो चला,
> तरु-शिखा पर थी अवराजती
> कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।

छन्द की दूसरी पंक्ति में एक शब्द है 'लोहित'। इसमें क्या विशेषता है, इसका सच्चा अनुभव किया हरिऔध-जी ने ही। एक कवि सम्मेलन में कवि-कर्तव्य की गुरुता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था—इस शब्द को पाने में मुझे करीब तीन साल लगे हैं। यह बात

ऐसे-वैसे की नहीं है; बल्कि एक कवि-सम्राट की है। आशय यह कि शब्दों के मर्म पहचानना हरेक के बस की बात नहीं। इस समय छोटे-बड़े पारखी तो लाखों-लाख हैं, लेकिन उनमें एक ऐसा है, जो अपना अलग स्थान रखता है। और, वह शब्द-पारखी है विनोबा। उसकी परख की कुछ मिसालें उपस्थित हैं। पढ़ें और गुनें।

"जब देश उन्नत होता है तब शब्द भी उन्नत होते है। और, जब देश अवनत होता है तब शब्द नीचे गिर जाते है। अवनत समाज शब्दों को अवनत करता है। जैसे, 'ब्राह्मण' शब्द को ही लीजिए। ब्राह्मण कौन? इसकी व्याख्या उपनिषदो ने की है। जो जानकर देह को छोड़ता है वह ब्राह्मण है, परन्तु आजकल कहते है कि हमने अपने घर ब्राह्मण रखा है अर्थात् भोजन बनाने के लिए रसोइया रखा है। इस प्रकार अवनत समाज शब्दो को अवनत करता है।

"मै शिक्षकों को उदासीन रहने की सलाह देता हूँ। इसका अर्थ यह नही कि शिक्षको को खिन्न-दिन निराश होकर और बैठ रहना चाहिए। यहाँ उदासीन शब्द का मराठी अर्थ न लिया जाय। उदासीन उत्+ आसीन. यानी जो ऊँचा रहता है और अपने चिन्तन को उन्नत रखता है। वह है उदासीन। शिक्षकों को ऐसा उदासीन रहना चाहिए।

"अमर कोश में 'सुवर्ण' के लिए अनेक शब्द आते हैं—कनक, काचन, हेम, सुवर्ण आदि। इनके अतिरिक्त कुछ और भी शब्द है। उनमें से एक शब्द है—माक्षिक और दूसरा है पारुज। 'माक्षिक' का अर्थ सुवर्ण होता है। अगर शब्दश: अर्थ करने बैठें तो मक्खियो से पैदा हुई वस्तु होगी। मक्षिका यानी मक्खी। माक्षिक यानी मक्खी से पैदा हुआ। वैद्यक शास्त्र में शब्द आता है—सुवर्ण, माक्षिक वगैरह। ये औषधियों के नाम हैं। तब ख्याल नही होता था कि इन शब्दो का क्या अर्थ होना है। लेकिन, अब पता चला कि माक्षिक यानी 'मैक्सिको' का नाम। आज जिसको मैक्सिको कहते हैं उसका नाम माक्षिक दिया गया है।

"दूसरा शब्द है 'पारुज' यानी 'पारु' में जनमा हुआ। तो पारुदेश कौन-सा? जिसको आज इगलिश में 'पेरु' कहते हैं उसको तब 'पारु' कहते थे। पारज अर्थात् पारु देश में पैदा हुआ।

"कालिदास ने अपने एक ग्रन्थ में रेशम के लिए 'चिनाशुक' शब्द इस्तेमाल किया है। चिनाशुक यानी चीन का वस्त्र। भारतीय बहुत दूर-दूर के देशो में जाते थे और उन्होंने वहाँ कालोनी भी बनायी थी। इसीलिए तो महाभारत और रामायण के चित्र आज 'जावा' और 'सुमात्रा' में मिलते हैं।

"इसी तरह हिन्दू में दो अक्षर हैं। 'हिं' और 'दू'—'हिं' मानी हिंसा और 'दू' मानी दुःख। हिंसा से जिसके चित्त को दुःख होता है वह है हिन्दू।

"अब मुसलमान शब्द को लें। इसलाम का अर्थ है, शरण—शरणागत। तो भगवान की शरण में जो आता है, वह है मुसलमान।"

●

पुराने शब्दों पर नये अर्थ की कलम लगाना विचार-क्रांति की अहिंसक प्रक्रिया है। —विनोबा

●

जब धरती की ममता फूट पड़ी

०

से० ना० भट्टाचार्य

'आपने कुआँ खोदना क्यों शुरू किया ?''—मैंने ब्रह्मोदेवी से पूछा। बात कुछ इस तरह थी—उसके पिता के घर तो कुआँ था, पर ससुराल में कोई कुआँ न था। बहुत दूर से पानी लाना पड़ता था। कई बार उसने अपने पति से कुआँ बनवाने के लिए कहा भी, पर कोई परिणाम न निकला। और कुछ समय बाद एक ऐसी घटना घटी कि उसने कुआँ खोदना शुरू कर दिया।

गाँव का कहार उनके घर हर रोज आठ घड़े पानी डालता था। इसके बदले वह उसे दो मन अनाज और दो रुपये वार्षिक दिया करती थी। श्रावण मास के 'तीज' के त्योहार पर ब्रह्मोदेवी को कुछ अधिक पानी की जरूरत थी, पर कहार ने अधिक पानी लाने से इनकार कर दिया। कहार के इस बर्ताव से ब्रह्मोदेवी को बहुत दुःख पहुँचा। उसने तत्काल ही कहार से कह दिया कि वह कल से उसमें पानी न लेगी। शाम के समय जब उसका थका मांदा पति अपने खेतों से वापस घर लौटा, तो उसने सारी कहानी उससे कह सुनाई और यह प्रस्ताव उसके सामने रखा—

''क्या न हम अपना कुआँ बनवा लें ? हम दूसरा पर कब तक आश्रित रह सकते हैं ?''

''तुमने स्वयं कहार को हटाया है। अब यह तुम्हारा काम है कि घर के पानी का प्रबन्ध करो। मुझसे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखो''—थके हारे पति ने जली-कटी सुनाते हुए कहा।

स्वाभिमानिनी स्त्री के लिए बस इतना ही काफी था। क्या धन का ही संसार में महत्त्व है ? क्या वह स्वयं कुआँ नहीं खोद सकती ? उसी क्षण उसने स्वयं अपने हाथों से कुआँ खोदने का निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन हर रोज की भाँति, उसका पति खेतों से वापस घर लौटा। वह यह देखकर हैरान रह गया कि उसकी स्त्री कुआँ खोद रही है। पिछली शाम का किस्सा वह बिलकुल भूल चुका था, परन्तु ब्रह्मोदेवी ने वह बात न भुलाई थी। उसने उसी दिन ८ फुट गहरा कुआँ खोद डाला।

उसके नेक पति ने उसे बहुत समझाया कि कुआँ खोदना बन्द कर दे। यह योजना महज पागलपन है।

''तुम्हें इस बात का पूरा भरोसा भी नहीं कि यहाँ पानी है भी ?''—नम्र भाव से पति ने कहा।

'पानी कहीं न कहीं नीचे अवश्य होगा। मैं तबतक चैन से न बैठूँगी जब तक पानी निकल नहीं आता।''—ब्रह्मोदेवी ने उत्तर दिया।

और गाँववालों ने सोचा, वह पागल हो गयी है। 'स्त्रियाँ ही दुनिया में आफत की जड़ होती हैं'—कुछ सयानों ने ऊँचे स्वर में कहा।

''आप भेड़ों से कभी खेती नहीं कर सकते।''—कई लोग फुसफुसाये।

और निराश पति ने यह सोचकर अपने मन को समझाया कि ब्रह्मोदेवी बड़ी सयानी है। अपने-आप ही इस काम को बन्द कर देगी।

परन्तु, और लोगों की तरह उसने भी उसकी मानसिक शक्ति तथा उसके प्रति पड़ोसिनों की सहानुभूति का गलत अनुमान लगाया। दूसरे दिन ६० वर्ष की बूढ़ी चन्द्रवती भी उसके साथ काम में जुट गयी। उसने कहा—"मैं भी क्यों न कुआँ खोदूँ, जब कि बहू अकेली कुआँ खोद रही है। मैं हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं रह सकती।"

और तीसरे दिन रतनकली और परमली भी उनका हाथ बँटाने लगीं। उन्होंने मेरी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा—"जब इतनी बूढ़ी काम कर रही हों, हमें बैठे-बैठे तमाशा देखना कैसे शोभा दे सकता है ?

जिन पुरुषों को कुआँ खोदने का अनुभव नहीं होगा, उन पुरुषों के लिए भी यह कुआँ खोदने का काम बड़ा कठिन होता है। परन्तु, जैसे लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"दृढ़ सकल्प तो लँगड़े को भी पर्वत लाँघने की शक्ति प्रदान कर देता है।" ये चारों वीरांगनाएँ अपने खाली समय में कुआँ खोदती रहीं। आलसी और नुक्ताचीं लोगों के परिहास और ठठोलियों से उन्हें मबल ही मिला।

बारी बारी से एक-एक स्त्री टोकरी में बैठकर कुएँ में उतरती। फावड़े से मिट्टी कुरेदती और टोकरी में डालती जाती। तीनों स्त्रियाँ उसे ऊपर खींच लेतीं। काम एक दिन के लिए भी न रुका। गृहस्थी के कठिन धन्धों से छुट्टी पाकर वे कई-कई रात काम करती रहीं, जब कि दूसरे लोग दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद सोकर अपनी थकान उतारते।

पचीसवें दिन गाँव में बहुत हलचल थी। यह खबर सब जगह फैल गयी—"पानी निकल रहा है।" सारा गाँव—पुरुष और स्त्रियाँ, बूढ़े और जवान, सभी वहाँ जमा हो गये। धरती की ममता फूट पड़ी और पानी निकल आया। ब्रह्मोदेवी ने आखिरी बार फावड़ा चलाया। उसे उसी टोकरी में ऊपर खींचा गया, जिसके साथ वह पचीस दिन पहले गढ़े में उतरी थी। उस दिन उसे नीचे उतारनेवाली एक दुर्बल स्त्री थी, और आज कम-से-कम एक सौ हाथ उसे बाहर निकालने में जुटे थे। प्रत्येक व्यक्ति ने उसके शौर्यपूर्ण कार्य की प्रशंसा की। वृद्ध रणजीत सिंह ने कहा—"इन वीरांगनाओं ने एक मिसाल कायम कर दी।" और सभी उपस्थित लोगों ने सिर हिलाकर इस बात का अनुमोदन किया।

श्री नेहरू ने एक बार कितने सुन्दर ढंग से कहा था—"लोगों को जागृत करने के लिए 'स्त्री' को जगाने की आवश्यकता है। एकबार जब वह गतिमान हो जाती है, तो गृहस्थी में गति आ जाती है, गाँव में गति आ जाती है, और देश गतिशील हो जाता है।"

मैंने ब्रह्मोदेवी से पूछा—"यदि आपको दो हजार रुपये दे दिए जायें, तो आप इसके बाद क्या करेंगी ?"

उसने तत्काल उत्तर दिया—"कुएँ के साथ ही मैं एक कमरा बनवाऊँगी, जिसमें स्त्रियाँ पर्दे में नहा सकें। और उसके बाद मैं कुएँ पर छत डलवाऊँगी।"

'परन्तु', उसने लम्बी साँस लेते हुए कहा—"धन है कहाँ!"

'अपनी सहायता आप' जैसे कार्यक्रम की गति में वेग लाने के लिए क्या कुछ नहीं किया जा सकता ?

—उन्होंने रास्ता दिखाया से

सुबह की नमाज

एक बार महाकवि शेखसादी अपने बेटे के साथ सुबह की नमाज़ पढ़कर लौट रहे थे। रास्ते के दोनों ओर लोग सो रहे थे।

"ये लोग कितने पापी हैं अब्बा कि अभी तक पड़े सो रहे हैं ? नमाज पढ़ने नहीं गये।"—बेटे ने कहा।

"बेटा, अच्छा होता कि तू भी सोता रहता और नमाज पढ़ने न आता।"—शेख सादी ने कहा।

"यह आप क्या कह रहे हैं अब्बाजान ?"—चकित होकर बेटे ने पूछा।

शेख सादी ने गम्भीर आवाज में कहा—"तब तू दूसरों की बुराई खोजने के इस भयंकर पाप से तो बचा रहता मेरे बेटे!"

कच्ची उम्र का भयानक शौक

•

रमाकान्त

बहुत से ऐसे काम हैं, जिनके सम्बन्ध में हम अच्छी तरह जानते हैं कि वे बुरे हैं, फिर भी हम करते हैं और करने में जरा भी संकोच का अनुभव नहीं करते। कभी-कभार अगर कोई रोकता-टोकता है तो क्या करें, आदत पड़ गयी है, बहुत कोशिशें करता हूँ, छूटती नहीं, इसी तरह की अनेक बातें सहज रूप से कह जाते हैं। लेकिन, हम यह नहीं सोचते कि हमारी इन बुरी आदतों का हमारी सन्तान पर क्या असर पड़ता है। आज हमारे समाज में एक नहीं, अनेक इस तरह की बुराइयाँ घुसी हुई हैं, जिनमें एक धूमपान भी है। यह हमारे समाज में घुल मिलकर इस तरह एक हो गया है कि इसके प्रति हमारे मन में किसी प्रकार का दुराव नहीं रह गया है।

जरा सोचिये तो, बीते हुए बीस बरसों में तम्बाकू, बीड़ी और सिगरेट की खपत कितनी बढ़ी है? और इनसे होनेवाले रोग—खाँसी, दमा और कैंसर ने हमारे-आपके बीच कितनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। आज जब यह बुराई विष की तरह हमारी नस-नस में व्याप्त हो गयी है, तो धीरे-धीरे हमारे विचारकों, नेताओं और समाज शिक्षकों का ध्यान इस ओर खिंचना शुरू हुआ है। और वे सोचने के लिए मजबूर हो गये हैं कि इस महारोग से किस तरह छुटकारा मिले।

यह सभी जानते हैं कि धूमपान कच्ची उम्र का शौक है। बच्चे इसे फैशन के रूप में अपनाते हैं और धीरे-धीरे यह शौक ही आदत के रूप में बदल जाता है। पहले तो बच्चा दूसरे के पैसों से यह शौक सीखता है, लेकिन जब उसकी आदत पड़ जाती है, तो वह घर से पैसे चुराने लगता है, क्योंकि माँगने पर बीड़ी-सिगरेट के लिए किसी भी बच्चे को घर से पैसा नहीं मिलता और उसमें साहस भी नहीं होता कि वह पैसे माँग सके। ऐसी हालत में अपना शौक पूरा करने के लिए या अपनी आदत की तुष्टि के लिए उसे मजबूर होकर चोरी करनी पड़ती है। जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती जाती है कच्ची आदत भी पक्की बनती जाती है। और, एक दिन ऐसा आता है, जब वह इसके बुरे परिणामों से ऊबकर छोड़ना भी चाहता है, लेकिन अपने को विवश पाता है और अनेक-अनेक रोगों को मेहमान बना लेता है।

प्रायः देखा गया है कि ऐसे वयस्क, जिनके जीवन में धूमपान जड़ जमा चुका है, उनसे अगर इस बुराई को छोड़ने के लिए कहा जाता है, तो वे बड़ी निरीहता से अपनी मजबूरी बताते हैं और कहते हैं कि इसे छोड़ दूँ, तो सिर में चक्कर आने लगता है, टट्टी साफ नहीं होती, काम करने में जी नहीं लगता आदि एक नहीं, अनेक कारणों का पहाड़ खड़ा कर देते हैं। लेकिन, क्या वे कभी भावी पीढ़ी के सर्वनाश की भी कल्पना कर पाते हैं? या तो वे इस दिशा में अपनी विवशता के कारण सोच नहीं पाते या सोचकर भी अपनी मजबूरी से कुछ कर नहीं पाते। इस प्रकार अपने को और अपनी सन्तान को छलने की भयानक विडम्बना हमारे आज के समाज में चल रही है।

बच्चों में जिज्ञासा और अनुकरण दो मूल प्रवृत्तियाँ प्रमुख है, जिनसे प्रेरित होकर वह सीखता-समझता है। जब बच्चा अपने माता-पिता, चाचा-ताऊ, भाई-बहन, और गुरुजनों को छल्लेदार धुँआ उड़ाते देखता है, तो उसके मन की सहज उत्सुकता जाग जाती है, और वह भी वैसा ही करना चाहता है। वह जानना चाहता है कि हमारे बड़े-बूढ़े ऐसा करने में कौन-सा अलौकिक आनन्द लूटते हैं ?

दुर्भाग्य है कि हमारे बड़े-बूढ़े इस दिशा में बहुत कम सोचते हैं और अगर सोचते भी है, तो बच्चों को भय से आतंकित करके वे इस बुराई से उन्हें दूर रखना चाहते है, लेकिन जब मेहमान आते हैं या उनकी स्वयं की जरूरत उन्हें विवश करती है, तो उन्हीं बच्चों से बीड़ी-सिगरेट खरीदकर मँगवाते हैं। यह दोहरी अपेक्षा कैसे सम्भव है ?

सर्वेक्षण से पता चला है कि अपराधी बच्चों में करीब ९० प्रतिशत बच्चे धूमपान करनेवाले रहे। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में प्रवेश करनेवाले छात्र, जिनकी अवस्था १३-१४ की होती है, बीस प्रतिशत धूमपान के आदी पाये गये। घनी बस्तियों में रहनेवाले पिछड़े तथा मध्यमवर्गीय परिवारों में यह आदत बहुत पायी गयी। हाईस्कूल पास करके कालेज और विश्वविद्यालयों में प्रवेश करनेवाले छात्रों में से अधिकांश पहले ही से धूमपान के अभ्यस्त होते हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि किशोर वर्ग में धूमपान एक सामान्य व्यवहार-सा बन गया है। इसमें कोई हानि नहीं, यह विचित्र तथा मिथ्या धारणा उनके मन में घर कर गयी है। उल्टे अगर कोई किशोर छात्र धूमपान नहीं करता, तो वह अपने छात्र-समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। किशोर वर्ग की यह दूषित मान्यता हमारे अन्धकार-पूर्ण भविष्य की ओर संकेत करती है। इसलिए हमारे पालकों, शिक्षकों और रहबरों को इस ओर सजगता से कुछ निश्चित ठोस कदम उठाने की जरूरत है।

बच्चे की १४ वर्ष के आसपास की अवस्था बड़ी नाजुक होती है। यही अवस्था है यौवनोद्गम की। इसमें वह बड़ों की तरह रहना-सहना, अकड़कर चलना, बाल सँवारना, नौकरों-चाकरों को फटकारना, सिगरेट का धुँआ उड़ाते हुए शान से चलना आदि कार्य करना चाहता है और ऐसे ही अनेक कामों को करने में उसे अत्यन्त आनन्द मिलता है। लेकिन, ये सारे काम बड़े-बूढ़ों से लुकछुपकर ही किये जाते हैं।

हमारे माता पिता और गुरुजन बच्चों से इतना छिपाव रखते है कि इस सम्बन्ध में उनसे खुलकर बातें नहीं करते। वे सोचते हैं कि बच्चों से इन बातों को गुप्त रखा जाय। नहीं तो, वे इन दुर्व्यसनों के शिकार हो जायेंगे। लेकिन, उनके इस चिन्तन का असर उलटा ही होता है। भोले-भाले बच्चे बुरी संगति में पड़कर ये सारी बुराइयाँ अनजाने ही सीख जाते है, जिनसे उनके माता-पिता, उन्हें दूर रखना चाहते हैं। जब ये बीड़ी-सिगरेट के आदी हो जाते है, तो झूठ बोलना, चोरी करना, सामान बेचना आदि बुराइयाँ उनमें धीरे-धीरे बिना बुलाये आ जाती है।

स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों के अनुपात में वे बच्चे अधिक धूमपान करते पाये गये हैं, जो शिक्षा नहीं पाते, बल्कि अपने माँ-बाप या अभिभावकों के साथ काम करते हैं। इसके अतिरिक्त अपने माँ-बाप के काम में सहायता करनेवाले बच्चे दूसरे बच्चों की अपेक्षा कच्ची उम्र में ही इस दुर्गुण के शिकार हो जाते है। इसका कारण सम्भवत अशिक्षा, बुरी संगति और छोटी अवस्था में ही प्रौढ़ता लाने की भावना होती है।

धूमपान को रोकने के लिए बाल-अधिनियम के अन्तर्गत कई प्रान्तों ने नियम बनाये, लेकिन व्यवहार में किसी प्रकार की सफलता देखने को नहीं मिली। कानून की इस असफलता ने हमें इस विषय पर सोचने के लिए विवश कर दिया है कि इस समस्या का हल कानून से नहीं, बल्कि सामाजिक शिक्षा से ही निकलनेवाला है।

आज अमेरिका और विशेष रूप से ब्रिटेन के समाज-शास्त्री इस धूमपान के भयानक दुष्परिणामों से कांप उठे हैं और वे इसकी रोक-थाम के लिए तरह-तरह के प्रयोग कर रहे हैं। कहा नहीं जा सकता कि उनके किस प्रयोग

का क्या परिणाम होगा। इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा, लेकिन इतना मानना होगा कि आज नहीं तो कल हमारे देश के विचारकों को भी इसी राह आना होगा और मंजिल का पता लगाना होगा। इसलिए जरूरत इस बात की है कि धूमपान के दिन-दूने रात चौगुने बढ़ते हुए इस महारोग का असाध्य होने के पहले ही रोक-थाम का व्यापक एवं बहुमुखी प्रयास चालू कर दिया जाय।

इस महारोग को रोकने के लिए जरूरत हुई तो कानून भी बनाने होंगे, और उनका कड़ाई से पालन करना होगा। इस बुराई को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का काम शिक्षकों और पालकों के आपसी सहयोग के बिना असम्भव है। इस बुराई को दूर करने के प्रयास के साथ-साथ भावी पीढ़ी में इसे पैदा ही नहीं होने देना, यह इस प्रश्न का दूसरा पहलू है। इसके लिए माता पिताओं और शिक्षकों को विशेष जागरूक रहने की जरूरत है।

•

तू नहीं या मैं नहीं

•

रविशंकर महाराज

"ठाकुर साहब आप काशी की यात्रा तो कर आये, लेकिन वहाँ कोई व्रत भी लिया या यों ही चले आये ?"—मैंने पूछा तो उन्होंने कहा—'नहीं।' मैंने कहा—"तब तो आपकी यात्रा अकारथ हुई। यह अफीम छोड़ आते, तो क्या बुरा था ?" ठाकुर को थोड़ा पानी चढ़ा। बोले— 'लो, आज से ही छोड़ी।" मुझे खुशी हुई।

कुछ दिनों बाद मैं उनसे मिला। वे बोले—"महाराज, ऐसा और किसी के साथ मत कीजिएगा। आप तो जान ले डालेंगे जान।"

मैंने पूछा—"बात क्या हुई ?"

"क्या बताऊँ महाराज, अफीम तो छोड़ी, पर दो-तीन घंटों के अन्दर ही तलब लगी। जमुहाइयाँ आने लगीं। फिर तो सिर चढ़ गया, आँखें खिंचने लगीं, दस्त लग गये, बोला भी नहीं जाता। खटिया में पड़े पड़े हथेली पर अँगुली घुमाकर घरवाली को इशारे से समझाया-जरा घोलकर पिला। और जब उसने कुछ पिलाई तो मुझे थोड़ा होश आया।"

मैंने कहा—"ठाकुर साहब, क्षत्रिय होकर इस डिबिया में बन्द क्षत्रिय के डर से आपको दस्त लग गये ? क्षत्रिय तो छाती पर वार झेलता है और या तो लड़ते-लड़ते जीतता है या मर मिटता है। आप तो हार गये और नाम डुबो दिया।"

इतना सुनना था कि ठाकुर को पानी चढ़ा। जेब से अफीम की डिबिया निकाली और हाथ घुमाकर छप्पर पर फेंक दी और बोले—"ले अब चली जा, अब तो तू नहीं या मैं नहीं।' और ठाकुर साहब ने हमेशा के लिए अफीम छोड़ दी। ●

ईसा की फिर हत्या हुई

•

वासुदेव सिंह
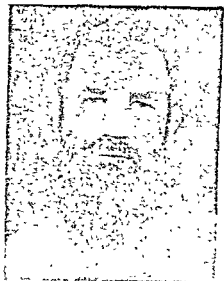
शहर में सबके सिरों पर खून सवार था। किसी का दिमाग सही न था। एक ही आवाज हवा में तैर रही थी—मारो, मारो। ऐसे में फादर हरमान राशहार्ट ने अपने पास आनेवालों से बात करने की कोशिश की। कुछ चुप रह गये, बहुतों ने कहा—आपकी बातें फिर सुनेंगे। फादर ने कहा—हमारी बात सुनने का आज ही मौका है। और, बात मेरी नहीं, मानवता के रक्षक ईसा की है, जिसे तुम मानते हो। याद रखो, उसने कहा था—"कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।"

और फादर ने देखा कि उनके ये शिष्य, जो पहले श्रद्धा से सिर झुका लेते थे, आज उनकी बात पर उद्धत हँसी सुना रहे हैं।

कुछ प्राण-भय से पीड़ित अल्पसंख्यक फादर के पास आये और उनसे पनाह माँगी। फादर ने आश्वासन देकर उन्हें जगह दी। और, सोचने लगे कि इस पागलपन से कैसे निबटा जाय। उन्हें समाचार मिला कि किसी गाँव में आततायियों की भीड़ कुछ भी कर गुजरने पर आमादा है। सुनते ही उन्होंने साइकिल उठायी और उधर प्रस्थान किया।

मौके पर देखा कि भीड़ में कहीं कोई व्यवस्था न थी। विक्षोभ, विनाश और विध्वंस की लहरें थीं और उन्हीं की ललकार। उन्होंने अपने शिष्यों को पूरी तरह समझाना चाहा, और जिनके बीच उन्होंने ३० वर्ष काम किया था, और सम्पर्क रखते हुए प्रेम, सहानुभूति और ईश्वरीय प्रकाश दिया था, आज वे कान उनकी बातों के लिए बहरे थे, आँखें अन्धी थीं, और हाथ कटा गये थे। वही हाथ, जो कभी उनके चरण छूते थे, उनके ऊपर उठे, और फादर धरती पर आखिरी बार गिरे। ईसा की फिर हत्या हुई और पागलपन को होश नहीं आया।

कहते हैं, आदमी बुद्धिमान जानवर है। जान पड़ता है बुद्धि उसमें कभी-कभी आती है, और वह भी तब जब वह अपनी करनी पर पछताता है। क्या यह बुद्धि उसका साथ बराबर नहीं दे सकती? कब वह घड़ी आयेगी? आइये, हम-आप उसी की प्रतीक्षा करें और साथ साथ चलें, साथ-साथ बोलें और एक दूसरे के मनों को साथ-साथ जानें। •

बोलती कतरनें

●

काक भुशुण्डि

● दिल्ली नगर निगम के स्कूलों के १०,००० बच्चे गायब पाये गये। पूछताछ पर पता चला कि ये दस हजार बच्चे काल्पनिक थे। एक अफसर अधिकारी ने स्वीकार किया कि मेरे 'अफसर' महोदय अनिवार्य शिक्षा योजना का अच्छा फल दिखाकर केन्द्रीय सरकार को प्रभावित करना चाहते थे। इसलिए मैंने सूची में काल्पनिक छात्रों की संख्या बढ़ा दी थी। —हिन्दुस्तान

अपने विभागीय आँकड़ों को सौ टके सही माननेवाले अधिकारियों के सिर में इस प्रकार की खबर से कुछ खुजली भले ही हो, लेकिन इसमें विशेष चिन्ता की कोई बात नहीं। जिस युग और प्रशासन में आदेश का इतनी तत्परता से पालन होता हो उसके लिए किसी भी लक्ष्यांक तक पहुँचना बायें हाथ का खेल है।

● सन् १९५८-५९ की शिक्षा रिपोर्ट के अनुसार पहली से पाचवीं कक्षा तक पढ़नेवाले हर १०० विद्यार्थियों में से केवल १२.५ प्रतिशत विद्यार्थी ही पहली कक्षा से पांचवीं कक्षा में पहुँच पाते हैं। —हिन्दुस्तान

अच्छा ही तो है, अगर बाकी ८७.५ भी पढ़ते तो प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था पर खर्च कितना बढ़ जाता!

● तीसरी योजना के अन्त तक ६ से ११ वय की अवस्था के ९७ प्रतिशत बच्चों के स्कूल में पहुँच जाने की आशा है। —हिन्दुस्तान

चिन्ता क्या है, इनमें से लगभग १२.५ प्रतिशत ही तो ६ वीं तक पहुँच सकेंगे।

● शिक्षा का सबसे अधिक विस्तार माध्यमिक स्तर पर हुआ है। इसी ने एक ओर शिक्षा के स्तर की और दूसरी ओर विश्वविद्यालयों में प्रवेश की समस्या को जन्म दिया है। —हिन्दुस्तान

अच्छा ही हुआ कि शिक्षा के प्रारम्भिक और उच्च स्तर पर अधिक विकास नहीं हुआ। नहीं तो हमारी समस्याएँ तिगुनी ही नहीं, बहुगुणित हुई होतीं।

● महाराष्ट्र के गाँवों के पढ़नेवाले विद्यार्थी घर आकर अपने माता पिता को अक्षरज्ञान कराते हैं। —हिन्दुस्तान

प्रयास स्तुत्य है। देखना है, दूसरे प्रान्तवालों के कान पर जूँ कब तक रेंगती है?

● कानपुर में आवारागर्द बच्चों के लिए 'सुधार घर' खोला गया है। —कौमी आवाज

और जो बच्चे आवारा नहीं हैं, उनके लिए?

● मद्रास के गाँव के स्कूलों में दोपहर के स्वल्पाहार के लिए एक योजना चालू की गयी है। माताएँ भोजन बनाते समय प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल अलग निकाल देती हैं। सप्ताह में उसे एकत्र कर लिया जाता है। उससे वहाँ के स्कूलों बच्चों को दोपहर के समय मुफ्त स्वल्पाहार दिया जा रहा है। —कौमी आवाज

देखना है, मद्रासी माताओं की तरह अन्य प्रदेशों की माताओं का वात्सल्य कबतक जागता है! ●

सेवाग्राम-स्नेह-सम्मेलन

०

शिरीष

शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले सभी जानते हैं कि सेवाग्राम में पूज्य बापू के आशीर्वाद से बाबा (ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम्) और माँ (आशा देवी आर्य०) की स्नेह-छाया में नयी तालीम की सतत साधना चल रही थी, जिसकी गूँज हर दिशा में थी और आज भी कमोबेश है। निश्चय ही 'तालीमी संघ' की यह साधना देश ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ का काम कर रही थी। 'संघ' ने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नयी तालीम-परिवार की एक अनोखी शृङ्खला खड़ी कर दी, जिसकी प्रत्येक इकाई स्नेह-सूत्र से जुड़ी हुई है।

लेकिन, परिस्थिति-वश साधना का यह सातत्य कुछ वर्षों के लिए विच्छिन्न-सा हो गया और शृङ्खला की इकाइयों में एक प्रकार का बिखराव आ गया, जो अटपटा-सा लगने लगा। इसी अनुभूति की तीव्रता ने बाबा और माँ को उत्प्रेरित किया और उन्होंने पूज्य विनोबाजी के सेवाग्राम पहुँचने के अवसर पर ६-७ अप्रैल '६४ को एक स्नेह-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें पूरे देश के करीब २०० प्रतिनिधियों—कार्यकर्ताओं, शिक्षकों और शिक्षा-शास्त्रियों ने भाग लिया। इसका उद्घाटन पूज्य विनोबा ने इन शब्दों में किया—

ऐसी जगह बोलना बहुत ही मुश्किल लगता है। स्नेह-सम्मेलन की कल्पना आशादेवी और आर्यनायकम्‌जी को कैसे सूझी, यही मैं सोच रहा था। दोनों ही नयी तालीम के सेवक और ज्ञाता हैं। मेरे ध्यान में आया कि आज के सन्दर्भ में, जिस स्थिति में आज गांधी-समाज है, उस स्थिति में उसे परस्पर स्नेह बहुत जरूरी है। इसलिए ऐसी स्थिति में नयी तालीम का सर्वोत्तम अर्थ 'स्नेह' ही हो सकता है।

यंत्र में विभिन्न हिस्से हुआ करते हैं। उनका अपना एक-एक कार्य होता है और सबको मिलकर भी काम करना पड़ता है। किन्तु उन विभिन्न हिस्सों में घर्षण न हो, इसलिए स्नेहन की जरूरत रहती है लेकिन यह स्नेहन यंत्र का अंग नहीं होता। यंत्र के हिस्से ढीले हों तो स्नेह की भी जरूरत नहीं, परन्तु इस दशा में काम भी न होगा। काम लेना है तो यंत्र का ढीलापन चल नहीं सकता, क्योंकि इस तरह उसमें घर्षण होगा। इस घर्षण से बचाव के लिए स्नेह की भी जरूरत मालूम पड़ती है। यह काम नयी तालीम करे तो वह कृतार्थ होकर रहेगी।

गांधीजी ने अनेक कार्यक्रम रखे। उससे जीवन की व्यापकता का दर्शन हुआ, लेकिन लाभ के साथ कुछ हानि भी हुआ करती है। तरह-तरह के ख्याल एक दूसरे से टकराते भी हैं। यह जब ध्यान में आया तो उन्होंने नयी तालीम के साथ समग्र शब्द का प्रयोग किया, ताकि सभी पुर्जे मिलकर अपेक्षित काम करें, उनमें विशृंखलता न हो। अगर वे इधर-उधर बिखरे हों और उनमें एक-सूत्रता न रहे तो काम न होगा। मैं जीभ से बोल रहा हूँ और आप कान से सुन रहे हैं। मान लें, मेरी जीभ काटकर सामने रख दें और आपके कान काटकर अलग कर दें, तो न जीभ बोल सकेगी और न कान सुन ही सकेंगे। लेकिन समग्रता में ऐसा नहीं होगा। इसलिए गांधीजी ने पुर्जों को जोड़ने के लिए ही ऐसा किया।

कल्पना में पुर्जे इकट्ठा हो गये हैं। फिर भी सवाल कायम ही है। ढीलेपन से काम नहीं होता और कसाव से घर्षण होता है। तब समग्रता के अलावा स्नेह भी आवश्यक होता ही है। मेरे बारे में कहा जाता है कि

अनेक काम करता हूँ, पर नयी तालीम का नाम भी नहीं लेता। मैं तो कहता हूँ कि उसका सिर्फ नाम 'भी' नहीं, 'ही' चलना चाहिए। अनेक वस्तुओं का नाम लेना ही पड़े, तो उनमें नयी तालीम ओत-प्रोत होनी चाहिए। जैसे, किसी अच्छी-सी माला में फूल गूँथे रहते हैं, फूल प्रफुल्ल हो तो उनके बीच का धागा नहीं दिखेगा, पर फूल सूख जाने के बाद वह दीखने लगता है। नयी तालीम माला के उस धागे के समान होगी, जो सभी फूलों को पिरोये हुए है। वह धागा स्नेह ही हो सकता है। यही वह शक्ति है, जो सबको एकत्र रख सकती है। मेरा अनुभव कहता है कि मनुष्य स्नेह-हीन नहीं है। यह अलग बात है कि किसीमें विश्व-व्यापी प्रेम न हो, पर कम-बेशी प्रेम सभी में होता ही है।

मुझे जो अभी महसूस हुआ—नम्बर एक दुनिया में, नम्बर दो भारत में, और नम्बर तीन सर्वोदयी जमात में—मुझे अगर सबसे कोई कमी दीख पड़ी, जो अभाव के करीब आ जाती है, वह है परस्पर विश्वास का अभाव। जिनमें स्नेह है, उनमें भी परस्पर विश्वास नहीं। बाल-बच्चे हो गये, फिर भी पति-पत्नी में अन्योन्य विश्वास देखने को नहीं मिलता।

क्या आश्रम, क्या भारत, और क्या विश्व, हर जगह ऐसा पाया। सर्वोदय-समाज, आश्रम, भारत और विश्व—सर्वत्र परस्पर विश्वास की कमी दिखाई पड़ रही है। दुनिया की समृद्धि और शान्ति के लिए तीन चीजों की आवश्यकता है–१ वेदान्त, २. विज्ञान और ३ विश्वास।

वेदान्त का अर्थ है, दुनिया में जो कुछ धारणाएँ, मान्यताएँ हों उनका अन्त, सम्प्रदाय का अन्त, बाइबिल का अन्त, कुरान का अन्त, यानी जिन चीजों से सिर पर बोझ पड़ता है, जिनसे बुद्धि कुंठित और क्षीण होती है, उन सबका अन्त। मैं वेदान्त का यही अर्थ करता हूँ।

विज्ञान का अर्थ है, सृष्टि के साथ एकरूप होना, सृष्टि का अर्थ खोजकर तदनुसार जीवन बनाना। सृष्टि के अन्तर्गत जो तत्त्व हैं, वेद में 'ऋत' कहा गया है। उनका जितना पालन होगा, मानव का जीवन उतना ही शान्त और उतना ही समृद्ध बनेगा।

आज राष्ट्र-राष्ट्र में विश्वास नहीं। एक-साथ बैठकर चर्चा करने के लिए भी शर्तें रखी जाती हैं। भारत चीन की चर्चा के लिए भी 'कोलम्बो-सहिता' बनानी पड़ी, किन्तु यह अविश्वास की वृत्ति विज्ञान के विरुद्ध है। अविश्वास की यह भावना 'यू० एन० ओ०' में है, सुरक्षा-परिषद् में है, गांधी-समाज में है, परिवार में है–जहाँ-तहाँ, सर्वत्र है। इसी कारण बातें बिगड़ रही हैं। एक-दूसरे के सामने बैठकर वाद-विवाद चलते हैं, प्रतिवाद होता है। अधिक हुआ तो अनुवाद भी होता है, लेकिन संवाद नहीं चलता। विश्व की चिन्ता करनेवाला एक विश्वेश्वर बैठा हुआ है। मैं व्यर्थ ही क्यों चिन्ता करूँ? गांधीजी से क्षमा माँगकर मैंने 'गांधी-समाज' शब्द कहा। यह नाम उन्हें पसन्द न था और मुझे भी नहीं। फिर भी उस समाज में परस्पर विश्वास की कमी दीख पड़ी। इसलिए इस स्नेह सम्मेलन में आये लोग इस विषय पर विचार करें।

तेरह वर्षों की पदयात्रा के आरम्भ में मैं दिल्ली गया था। पुनः दूसरी बार वहाँ नहीं गया। दिल्ली की प्रदक्षिणा अवश्य की। तब मुझे कुछ लोग बुलाने आये। मैं दिल्ली चलूँ, इसके लिए आग्रह भी हुआ, प्रेम का दाँव भी खेला गया। मैंने उनसे कहा कि जो दिल्ली गया, वह लौटा ही नहीं। आप मुझे व्यर्थ क्यों बुला रहे हैं? दिल्ली अविश्वास का गढ़ है। वहाँ परस्पर अविश्वास है। सभी दलों में, स्वयं कांग्रेस के भीतर भी वह है। टीम बनाने के लिए नेहरू को अधिकार दिया गया। जैसे राजा अपने मंत्रियों को चुनता था। सोचा जा रहा था कि इससे सस्था कार्यक्षम बनेगी, पर उन मंत्रियों में भी परस्पर विश्वास नहीं। दिल्ली की यह परिस्थिति है। कम-से कम सेवाग्राम में तो ऐसा नहीं होना चाहिए। यहाँ भी, कम परिमाण में क्यों न हो, वह चलता रहे तो फिर दिल्ली को दोष देने का कोई तुक नहीं। क्योंकि दिल्ली अनेक लोगों के मतानुसार चलती है।

सेवाग्राम के लोगों में परस्पर विश्वास पैदा होना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि वह होगा ही नहीं। मैं तेरह वर्ष बाद यहाँ आ रहा हूँ। इसलिए यहाँ की विशेष जानकारी नहीं। इसलिए सर्वत्र जो अविश्वास का वाता-

वरण है, वह यदि यहाँ न रहे तो सेवकों में एक ज्योति पैदा होगी, जिसका सारी दुनिया पर प्रभाव पड़ेगा, मुझे भारत कहना चाहिए था। हमारी दृष्टि में सेवाग्राम दुनिया का केन्द्र-बिन्दु है, यह कहना अहंकार-भरा, धृष्टता-भरा सिद्ध होगा, फिर भी हम वैसी आशा रख सकते हैं और दुनिया भी उसे समझ सकती है।

पूज्य विनोबाजी के उद्घाटन भाषण के बाद अतिथियों का स्वागत करते हुए श्री शंकरन्‌जी ने नपे-तुले शब्दों में कहा—

पूज्य बापू की खादी-योजना, जिसे उन्होंने सन् १९३९ में हमारे-आपके सामने रखी थी, उस पर आज अमल शुरू होने जा रहा है, यह हमारे और आपके लिए प्रसन्नता की बात है। इसी शुभ अवसर पर नयी तालीम का स्नेह-सम्मेलन भी हो रहा है, हमारे लिए यह दोहरी प्रसन्नता की बात है। हमें आशा है कि गाँवों को सगठित करने में सफलता-प्राप्ति के लिए नयी तालीम पूरी तरह साधक सिद्ध होगी।

श्री शंकरन्‌जी के स्वागत-भाषण के बाद श्री शालिग्राम 'पथिक' ने आये हुए सन्देशों को पढ़कर सुनाया। सर्व श्री डॉ० जाकिर हुसैन, आचार्य कृपालानी, सुचेता कृपालानी, विजयलक्ष्मी पंडित, हरिभाऊ उपाध्याय, डा० सौन्दरम्, अमरनाथ विद्यालंकार, मोहनी रंजन प्रसाद, रामेश्वरी नेहरू, धीरेनभाई, अम्बालाल साराभाई, प्रो० रामशरण उपाध्याय आदि के सन्देश बड़े ही प्रेरक थे।

श्रीमती आशा देवी आर्यनायकम् ने स्नेह-सम्मेलन बुलाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए बताया—

आप सबके दर्शन की लालसा ही प्रमुख उद्देश्य है इस स्नेह-सम्मेलन के बुलाने का। इसके अतिरिक्त मैं चाहती हूँ कि नयी तालीम की योजना बने और उस पर श्रद्धापूर्वक, स्नेहपूर्वक और सहयोगपूर्वक अमल हो।

श्रीमती आशादेवी के संक्षिप्त एवं स्नेहिल भाषण के बाद श्री दामप्पाजी ने अपना विचार इन शब्दों में रखा—

आज इतने दिनों बाद हम सब एकत्र हुए हैं। इस बीच हमारा ध्यान खींचनेवाली अनेक समस्याएँ नयी तालीम के सामने मौजूद हो गयी हैं। हम भविष्य में नयी तालीम के संचालन के लिए अपना संगठन किस प्रकार का बनायें? क्या नयी तालीम, जैसा कि अक्सर सुनने को मिलता है, असफल हो गयी? अगर सचमुच असफल हो गयी तो क्यों, उसके कारण क्या थे? क्या हम सबने बापू के विचारों को अच्छी तरह समझा और उस पर अमल किया? नयी तालीम के भविष्य के सम्बन्ध में सन्देह और अश्रद्धा का वातावरण अब अधिक दिनों तक नहीं चलनेवाला है। इसे हमें जल्द-से-जल्द खत्म करना है।

श्री दामप्पाजी के आशा और विश्वासपूर्ण भाषण के बाद डा० सुशीला नैय्यर ने अपने विचारों को भाव-पूर्ण शब्दों में इस प्रकार रखा—

एक बार किसी ने बापू से कहा कि आपके पास रहनेवाले कार्यकर्ता निस्तेज लगते हैं, तो उन्होंने कहा कि हमारे न रहने पर यही कार्यकर्ता सतेज लगेंगे। मैंने भी जब विनोबा से कहा कि आप जैसा ग्रामदान चाहते हैं, वैसा बैठकर एक बनायें तो उन्होंने कहा कि तुम बनाओ। तो क्या हमलोगों को इस दिशा में कुछ नहीं सोचना है, कुछ नहीं करना है? क्या नयी तालीम की आदर्श शाला नहीं कायम की जा सकती?

जब नयी तालीम के सैद्धान्तिक पहलू सर्वांगपूर्ण हैं तो फिर यह व्यवहार में क्यों असफल हो रही है? इस स्थिति का सामना करने के लिए नयी तालीम की प्रयोग-शाला होनी चाहिए। समय-समय पर कार्यकर्ताओं को अनिरत स्फूर्ति और चेतना मिले, ऐसा प्रबन्ध होना ही चाहिए। यह प्रबन्ध सेवाग्राम से अच्छा कहाँ हो सकता है? यह बापू की कर्मभूमि है......

इतना कहते-कहते डा० नैय्यर की आँखें भर आयीं और कंठ अवरुद्ध हो गया। इसके आगे कहना चाहते हुए भी वह कुछ न कह सकीं। डा० नैय्यर के करुणा-जनक भाषण के बाद श्री तुलसीराम दवे ने अपने अनुभवों को इस प्रकार पेश किया—

आप जानते हैं कि क्रांतिकारी विचार कभी स्थिर नहीं होता। उसके स्थिर होने पर उसकी क्रान्ति मिट जाती है। जो बदलती रहती है वही है क्रान्ति। इसलिए नयी तालीम का बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में सोचने की जरूरत है। इसके अनेक पहलू है। क्रान्ति की तेजी हमें विनोबा से मिल रही है। वे तो इसे जनता में अहिंसा लाना कह रहे हैं और वे इसमें शान्तिसेना भी जोड रहे हैं।

"बच्चों को दी जानेवाली 'नयी तालीम' नयी तालीम से भिन्न है। आनेवाले प्रसंगों का अहिंसक वीरतापूर्वक सामना करना, हताश नहीं होना, आर्थिक जीवन में सरकार के ऊपर आधार रखकर न बैठना, इन सब बातों को नयी तालीम में से निकालना है"—ऐसा विनोबा कहते है। पाठशालाओं का हमारा काम इससे सम्बद्ध तो है, लेकिन कुछ अलग भी है। यह जरूर है कि हमने अभी तक अपना काम पूरा नहीं किया है। हम उसे करना होगा। अगर हम नहीं करना चाहेंगे तो भी समय हमसे करवायेगा।

जब हम गाँवों में जाते है और गाँववालों से अपना प्रबन्ध करने को कहते है, तो वे कहते हैं कि जाडा आने पर हम खुद ही अपनी कथरी सी-गूँथकर ओढ लेंगे, सो जायेंगे। पहले से ही तैयारी क्यों करें। यह एक हँसी की बात है। लेकिन एक चिन्तक तो आगे से ही सोचता-समझता है। जहाँ हिंसा है वहाँ अहिंसा, जहाँ अश्रद्धा है वहाँ श्रद्धा को लाना है। हमें शिक्षा-जैसी योजना नहीं चलानी है। फिर हमें क्या करना है, कैसे करना है, सोचना है।

सरकार में यह नयी तालीम नहीं चलेगी, यह कहना ठीक नहीं। आवश्यकता पड़ने पर आर्यनायकम्‌जी उन्हें इसकी सफलता के लिए ही सलाह देते रहते हैं। इस सलाह का बड़ा मूल्य है। यद्यपि इसमें क्रान्ति-जैसी कोई बात नहीं, फिर भी बडी बात है। मैं छोटे बच्चों के साथ गाता हूँ, नाचता हूँ, तो क्या किसी क्रान्ति से यह छोटा काम है? किसी शाला में बैठा हुआ शिक्षक अगर अपने बच्चों को गणित सिखाता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह साधारण काम करता है। यह क्रान्ति का ही काम है। कोई काम छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं। जिस काम में हमारा दिल लगता है वही बडा है। यदि इसमें से बच्चे को निकाल दिया तो तालीम ही नहीं रही, तो नयी तालीम कहाँ।

हम नयी तालीम के कार्यकर्ताओं को जितनी तेजी से काम करना चाहिए, करते नहीं। कभी-कभी विनोबा बडा काम कर जाते है। सामयिक समस्याओं पर उनका मार्गदर्शन अमूल्य होता है। बापू भी ऐसा किया करते थे। शिक्षा के सम्बन्ध में विचार का बल लाकर भी नयी तालीम का काम करना चाहिए। सरकार ने मुफ्त शिक्षा का एलान किया है और वह इस दिशा में कुछ कर भी रही है, लेकिन जिस तरह भूखे को कुछ भी खिलाना अच्छा नहीं, बल्कि हमेशा पौष्टिक भोजन ही खिलाना अच्छा है, उसी तरह चलानी है तो नयी तालीम ही चलानी चाहिए। लेकिन नयी तालीम के नाम पर आप दकियानूसी, जबरदस्ती की तालीम चलायें, यह ठीक नहीं। नयी तालीम के सामने यह एक समस्या है।

इसी तरह अलग-अलग राज्यों में अंग्रेजी को लेकर सवाल उठाये जाते है। देश के सम्पूर्ण जीवन के सन्दर्भ में अंग्रेजी का क्या स्थान है, हमें सोचना है। नयी तालीम के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। उनके बारे म गहराई से सोचना है, करना है। आज हम सब प्रेरणा-स्थल पर एकत्र है। हमें यहाँ से प्रेरणा मिलेगी ही, ऐसा हमें निश्चित विश्वास है।

श्री जुगतराम दवे के मार्मिक भाषण के बाद काकासाहब कालेलकर ने बड़े ही मनोहारी ढंग से अपने विचारों को रखा, जिसका सारांश इस प्रकार है—

कोई नयी तालीम कहता है और कोई बुनियादी तालीम, लेकिन हम तो इसे नयी बुनियाद की तालीम कहते हैं। यह व्यक्ति के समाज के कल्याण की कल्पना पर आधारित है, इसलिए यह नयी तालीम है। हमारी प्रचलित तालीम में साम्प्रदायिकता अधिक है। लेकिन नयी तालीम में व्यक्ति का स्वातंत्र्य सँभालते हुए चलना पडता है।

इस सन्दर्भ में सोचने पर मुझे कहना पड़ता है कि विदेशवालों से हमने हजार दोष लिये होंगे, लेकिन घूस-खोरी तो हमारी अपनी चीज है, हमारे खून में है। हमने अपने भगवान तक को घूसखोर बना रखा है। जहाँ यह घूसखोरी होगी वहाँ शोषण होगा ही। यह घूसखोरी सजा से नहीं जानेवाली है, इसे भगाने के लिए त्याग और उद्योग के सम्मिलित प्रयास की जरूरत है।

सामान्य गृहस्थ, जो मेहनत करता है, ईमानदारी की रोटी खाता है, वह त्यागी या वैरागी नहीं है, इसलिए उसे हमने सम्मान देना छोड़ दिया। हमने तो अपरिमेय सम्मान दिया है साधुओं को। साधु को भी साधु से ऊँचा स्थान मिलना ही चाहिए, ऐसी स्थिति है हमारे यहाँ। इन 'त्यागियों' ने अपने को भगवान बना लिया है और हमारी सारी संस्कृति को चौपट कर रखा है। यह स्थिति चलनेवाली नहीं है। सबको सामान्य स्थिति में होकर चलना होगा। संघर्ष और शोषण को निकालने के लिए गृहस्थों को सम्मान देना ही होगा। उनमें संयम और निष्ठा लानी होगी। यही कारण है कि हमारे समाज में गृहस्थाश्रमी को श्रेष्ठ माना गया था। क्योंकि गृहस्थ खिलानेवाला है और सन्यासी खानेवाला। समाज को सन्यासी नहीं, गृहस्थ चलाता है, यह कभी नहीं भूलना चाहिए। यह घूसखोरी तबतक नहीं जायेगी, जबतक हमारे समाज में मूल्यांकन का तरीका गलत रहेगा और इस मूल्यांकन के तरीके में सुधार का काम बुनियादी तालीम के सिवा दूसरा नहीं कर सकता।

स्नेह-सम्मेलन में आने के नाते हमारा फर्ज होता है कि इस बात को मैं प्राथमिकता दूँ कि हमें नयी तालीम को प्रतिष्ठित करने के लिए उद्योगों की तालीम देनी है और उन्हें समाज में स्थान देना है। आज हमारा राज्य-पाल सिने-तारिका से कम तनख्वाह पाता है। किसान से फोटोग्राफर अधिक कमाता है। अपनी कला से आपकी खुशामद करनेवाला फोटोग्राफर ईमानदार किसान से दसगुना तक अधिक कमाता है। इन खुशामदियों को बढ़ावा देंगे, तो नयी तालीम कैसे चलेगी? अब तीस प्रतिशत पास नहीं चलेगा, अब तो शत-प्रतिशत पास ही चलेगा।

सेना में काम करनेवालों के प्रति मेरे मन में बहुत स्नेह है। यह स्नेह इसलिए नहीं है कि वे हत्यारे हैं, बल्कि इसलिए है कि वे अपने देश के लिए खून बहाते हैं। दिन-रात समाज की सेवा के लिए 'लेफ्ट-राइट' करनेवाले निश्चय ही अधिकतम सम्मान के भागी हैं।

एक आदमी ने 'शान्ति सेना' का अर्थ शान्ति के बाद पहुँचनेवाला लगाया। यह दोषारोप हमें स्वीकारना नहीं है। फौजी तालीम भी हमें चाहिए, लेकिन बुनियादी तालीम तो चाहिए ही। बुनियादी तालीम का काम करनेवाला को शान्ति-सैनिक बनाने की स्पष्ट कल्पना अपने मन में रखनी है। हमें लाखों लाख लोगों को ट्रेनिंग देनी है। सहयोग और सेवावृत्ति रखनेवालों को बनाना है। यह काम सरकार नहीं करेगी। क्योंकि सरकार जिस काम को करती है, वह कानून के अन्दर आ जाता है और बाजारू बन जाता है। इसलिए सज्जन और कुशल आदमियों को ढूँढना होगा और उनके आधार पर काम करना होगा।

एक बार गुजरात विद्यापीठ में मेरा एक छात्र मेरे पास आया और उसने कहा—'आपने मेरे साथ पक्षपात किया है।'

मैंने पूछा—'क्या?'

'आपने उस लड़की को ग्यारह दिन की छुट्टी दी और मुझे पाँच दिन की भी नहीं।'—उसने बताया।

फिर हमने उसे बताया कि मैंने उस लड़की को छुट्टी इसलिए दी कि उसे जरूरत थी और तुम्हें इसलिए नहीं दी कि तुमने अपना बहुमूल्य समय सिनेमा देखने में गँवाया है। वह लड़की विदेश से देर से आयी है, इस-लिए उसे छुट्टी देना जरूरी था। अगर कानून के अनुसार ही काम करना होता तो बापू मुझे यहाँ क्यों बिठाते, क्लर्क क्यों नहीं बनाते? इसलिए मैं जोर देकर कहता हूँ कि नैतिक शिक्षा नयी तालीम का एक जोरदार पहलू है। बुनियादी तालीम कौशल और चरित्र-निर्माण की तालीम है। सामाजिक मान्यताओं के मूल्यांकन का तरीका ठीक करना होगा। तभी नयी तालीम सच्ची नयी तालीम होगी।

काका साहब के ओजस्वी भाषण के बाद पहले दिन का कार्यक्रम समाप्त हुआ। दूसरे दिन कार्यकर्ताओं के अनुभव सुनाने की बारी थी। समय कम था और सुनानेवाले अधिक, इसलिए कुछ ही लोग अपने अनुभव सुना पाये। अनुभवों के सुनाने का संयोजन कुछ इस प्रकार किया गया कि थोड़े ही समय में सरकारी और गैर-सरकारी दोनों पक्षों का सही प्रतिनिधित्व हो सके। सबसे पहले मध्य प्रदेश के कर्मठ कार्यकर्ता श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवों को बड़े ही आकर्षक ढंग से रखा, जो सार-रूप में नीचे है—

विनोबा ने कहा है कि बनाने गये गणपति और बन गया बन्दर। लगभग ऐसी ही दशा आज हमारी नयी तालीम की है। आज का सबसे जीवित प्रश्न यह है कि पुरुषार्थ जगाने के लिए क्या किया जाय?

हमारा प्रान्त तीन करोड़ तीस लाख की आबादीवाला सबसे बड़ा प्रान्त है। जनसंख्या में इसका चौथा नम्बर है। सन् १९५६ के पूर्व हमारे प्रान्त में केवल दो प्रशिक्षण केन्द्र थे, लेकिन आज हमारे ४३ जिलों के १३ जिलों में, प्रत्येक में दो-दो तीन-तीन प्रशिक्षण केन्द्र खुल गये हैं। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण विद्यालय भी हैं। इन विद्यालयों में प्रशिक्षार्थी ११ महीने कैदी-जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। अगर नयी तालीम में भी गुरु और शिष्य की खाई घटती नहीं, बढ़ती ही जाती है तो क्या कहा जाय? कटुतर गुरु-शिष्यों के सम्बन्ध कैसे सुधारे जायें, कोई मार्ग नहीं दीखता। वे वहाँ से अनास्था और अश्रद्धा लेकर आते हैं। यही नहीं, उनकी सुख-सम्बन्धी आकांक्षाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं, ऐसा देखा जा रहा है।

हमारी शिक्षण-संस्थाएँ पूर्णतया व्यावसायिक हो गयी हैं। दिनों-दिन जितनी ही ज्ञाप्ताएँ (प्रतिबन्ध) बढ़ती जा रही हैं उतनी ही गलियाँ निकलती जा रही हैं। हमारे कार्यकर्ता, जो उन संस्थाओं में जाते हैं उनमें स्वयं श्रद्धा नहीं होती। वे सामाजिकता को नहीं मानते। सफाई और सामूहिक भोजन की हँसी उड़ाते हैं। सेवाग्राम से जानेवालों की एक अलग बिरादरी बना दी गयी। हर जगह उनका मखौल उड़ाया गया। स्थिति यह है कि एकाकी संघर्ष करके इस विपरीत प्रभाव से किसी भी मूल्य पर निकलना सम्भव नहीं दीखता। और, हमारे पास संयुक्त शक्ति है नहीं। जहाँ विनोबा की आवाज भी उड़ायी जाती है वहाँ हमारा-आपका कौन सुनता है!

हमारे ऊपर अंग्रेजी को इसलिए लादा गया है कि 'टेक्नीशियन' पैदा करना है। यह कम भयावह स्थिति नहीं है। ८०-९० प्रतिशत बेचारे तो पढ़ ही नहीं पाते और जो पढ़ते हैं उनमें ७० प्रतिशत तक फेल होते हैं। कुछ मुट्ठी भर लोगों के लाभ के लिए यह सब हो रहा है। जनता को तो हमने अफीम खिला ही दी है। वह खामोश है।

छठी कक्षा से अंग्रेजी चालू न करें, मैंने शिक्षामंत्री को लिखा। मैंने यह बात वैयक्तिक रूप से नहीं, बल्कि 'सर्वोदय मंडल' की ओर से लिखी थी, लेकिन उसकी कौड़ी-जितनी परवाह नहीं की गयी। हम प्रान्त की 'सलाहकार एजुकेशन बोर्ड' के द्वारा राय भिजवाते हैं, उसे भी मंत्री ठुकरा देते हैं। पूछने पर कहते हैं कि समिति को केवल राय देने का हक है। श्री जी० रामचन्द्रन्-जैसे आदमी ने भी अंग्रेजी को अनिवार्य नहीं करने के लिए अनुरोध किया, लेकिन उसे भी ठुकरा दिया गया।

बापू ने कहा था—'अनाचार के प्रति, विद्रोह करो।" लेकिन आज ऐसा करनेवाला खब्ती माना जायेगा। आज की इस प्रकाशहीनता में क्या किया जाय, प्रश्न है। शासन के आदेश तथा साढ़े तीन वर्ष के सतत प्रयास के बावजूद मेरी संस्था को मान्यता नहीं मिल सकी थी। अभी-अभी ४ मार्च को किसी प्रकार मिल पायी है।

एक ओर आदिवासियों के बच्चों को शिक्षा के लिए नवाबों के लड़का-जैसा व्यवहार किया जाता है। उन पर पानी की तरह रुपया बहाया जाता है। जब वे लड़के छुट्टियों में घर आते हैं, तो हमारे बच्चों से बातें करते हैं। हमारे बच्चे काम करते हैं और वे ठाटदार नवाबी जीवन बिताते हैं। इस विसंगति से बच्चों के मन पर कितना गलत प्रभाव पड़ता है, कहा नहीं जा सकता। जो बेचारे पसीना बहाने में आनन्द लेने आये हैं, आज उन्हें भी नौकरी के लिए तैयार किया जा रहा है। इस नौकर-

शाही के ढांचे मे ढालकर अगर इसी तरह उन श्रमजीवियों को भी नौकर बनाया जाता रहा, तो परिणाम क्या निकलने वाला है, कहा नहीं जा सकता।

श्री काशिनाथ त्रिवेदी के बाद श्रीमन्नारायणजी ने नयी तालीम-सम्बन्धी अपने अनुभवों को इन शब्दों में रखा—

मैं कहना चाहता हूँ कि बुनियादी तालीम का काम सरकार की ओर से जिस तरह चला वह सन्तोषजनक न तो था, और न है। पहले एक असेसमेंट कमेटी बनी थी, जिसके सयोजक थे श्री रामचन्द्रनजी। उस कमेटी ने पूरे देश में घूम-घूमकर जानकारी हासिल की और सुझाव दिया। केन्द्र में भी एक समिति बनी, जिसमे मैं भी था। इसके अतिरिक्त समय-समय पर चर्चाएँ चलती रहीं। योजना-विभाग में आने पर मैंने देखा कि प्रान्तीय सरकारें सोचती है कि यह योजना तो केन्द्र की है, रुपया मिलता है, इसलिए इसे करना चाहिए। उसकी सफलता की जिम्मेवारी हमारी नहीं है।

सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड की चर्चाओं मे बुनियादी तालीम की असफलता की बात अकसर सुनने को मिलती है। मैं मानता हूँ कि वे लोग दिल से काम नहीं करते। बुनियादी तालीम के साथ बापू का नाम जुड़ा है, इसलिए गाड़ी ढकेलते जा रहे है।

पचमढ़ी में मैंने कहा था कि आप लोग यह काम अच्छी तरह नहीं चला रहे है। आप जिसे पसन्द करते हो, वही क्यों नही चलाते? इसके उत्तर म कहा गया कि नही, हम जो चला रहे है, हमें वह पसन्द नही ह। हमने कहा कि हम कोई योजना नही देंगे। हम चाहते हैं कि आप ही कोई योजना बनायें।

मुझसे लोग अक्सर पूछते रहते है कि हम तो खेती करते है, लेकिन हमारे बच्चे तो आपके शिक्षण स निकलकर खेती करेंगे नही, फिर भविष्य मे खेती कौन करेगा? ग्रामोद्योगो को बढ़ाने की बात कही जाती है, लेकिन वह काम भी कौन करेगा? क्योंकि सभी लोग शहरों की ओर भागे जा रहे हैं।

मेरे एक जापानी मित्र, जो अभी-अभी आये थे, वे कहते थे कि हमारे यहाँ देहातों में केवल बूढ़े लोग ही रह गये है। हमारे बच्चे शहरों मे जा बसे है। आप जानते हैं कि जापान में खेती का उत्पादन दुनिया मे सबसे बढा हुआ है, लेकिन अब उसका विकास रुक गया है। वहाँ की शिक्षा में तकनीकी दृष्टि है, लेकिन शिक्षा प्राप्त लोगों को गाँव मे रख सकनेवाली क्षमता वहाँ भी नही है।

बुनियादी तालीम के लिए पहले जितनी सुविधाएँ थी, आज उसके लिए उससे भी अधिक सम्भावनाएँ है। हमने कहा था कि हमारे सारे विकास के कामो को तालीम से जोड देना चाहिए। मै जब स्कूलो में जाता हूँ तो पूछता हूँ कि आपको मालूम है कि यहाँ विकास कौन चलाता है? और वे कहते है कि 'हाँ'? तो मैं अपने विकास अधिकारियो को शाबाशी देता हूँ।

अनिवार्य शिक्षा के बारे मे हमने कहा था कि ६ से १४ वर्ष तक की नि शुल्क शिक्षा का, शिक्षण-पद्धति की ओर ध्यान दिये बिना, लक्ष्याक पूरा करने में लगेंगे तो हमारा अनुमोदन नही होगा। हमारे जितने भी स्कूल खुलें, उनमें हमारी बुनियादी तालीम की मान्यताओं के अनुरूप तो काम होना ही चाहिए।

हमारे स्कूलो में आज शिक्षक और विद्यार्थी बेंचो की अपेक्षा रखते हैं। उनके आस-पास घास उगी रहती है, लेकिन उससे उन्हें कोई मतलब नहीं। जब पालकों से पूछता हूँ तो वे कहते है कि स्कूल तो खुला, हम चाहते भी है कि हमारे बच्चे पढें, लेकिन पढने के बाद हमारे बच्चे हाथ से निकल जाते है।

आज मात्र लक्ष्यांक पूरा किया जा रहा है। हमने जितना सोचा था उससे अधिक स्कूल खुल गये, लेकिन हमको इसमे मिला क्या?

बेसिक स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चे उद्योग तो कुछ सीखते है, लेकिन उनके आगे के रास्ते बन्द रहते हैं। यही कारण है कि पालक अपने बच्चों को बेसिक स्कूलों मे भेजना पसन्द नहीं करते। ऊपर के स्कूलों से सम्बन्ध जुड़ना इन स्कूलों का एक भारी दोष है। यह अवरोध भी कम महत्त्व नहीं रखता।

मैंने दिल्ली में सुना कि निगम बेसिक शिक्षा हटाना चाहता है। मैंने उनसे पूछा कि आपलोग ऐसा क्यों

करते हैं ? उन्होंने बताया कि इस शिक्षा में लड़के गयी-बीती कताई सीखते हैं और दूसरे विषय उन्हें कुछ आते-जाते नहीं। फिर हम इस शिक्षा को कैसे चलायें। गाँव के लोग विद्रोह करते हैं।

एक बड़ी गलती यह भी हुई कि शहरों में यह काम चला नहीं। कुछ अंग्रेजियत का भूत इस तरह सवार है कि क्या कहा जाय। आप जानते हैं कि लखनऊ हिन्दी का गढ़ है, लेकिन आपको वहाँ के अधिकांश साइनबोर्ड अंग्रेजी में ही मिलेंगे। मैं अभी-अभी दूसरे देशों में घूमकर आया हूँ। ऐसी बात और कहीं देखने को नहीं मिली।

जेनरल नेविन ने बर्मा में बेसिक शिक्षा चालू की है और उन्होंने उत्पादन को अनिवार्य रूप से रखा है। आप जानते हैं कि बौद्ध धर्म पैदा तो हुआ भारत में, लेकिन फला फूला और कहीं। वही हाल बेसिक शिक्षा का भी हो रहा है। खेद है कि अभी तक हमलोग प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं को भी स्थान नहीं दे पाये हैं। गुजरात में यह सवाल उठा था। मैंने उनसे कहा कि पहले राज्यभाषा का मसला तय करें, नहीं तो लड़के गुजराती पढ़कर क्या करेंगे ? इस प्रकार अंग्रेजी के मोह ने भी हमारी बुनियादी तालीम का बहुत बड़ा अहित किया है। हमें किसी भी मूल्य पर परीक्षाओं का माध्यम प्रान्तीय भाषाएँ करना ही है। पहले बड़े जोर-शोर से बुनियादी तालीम का काम चला। हर साल सम्मेलन होते रहे, लेकिन इधर दो-तीन वर्षों से काम में रुकाव आ गया था। सर्व-सेवा-संघ को चाहिए कि वह इस काम में तेजी लाये।

इस सम्बन्ध में आपके सामने तीन सुझाव रखना चाहता हूँ—

१—सेवाग्राम में मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं के माध्यम से प्री प्राइमरी स्टेट से यूनिवर्सिटी तक का शिक्षण तेजी से चलना चाहिए।

२—सेवाग्राम के अलावे प्रत्येक प्रान्त में कम-से-कम एक केन्द्र स्थापित होना चाहिए, जिससे प्रान्तों को मार्गदर्शन मिल सके। इस काम में सरकार से अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि बड़े पैमाने पर किया गया काम अच्छा नहीं होता।

३—हमारी अगली योजना दसवर्षीय होनी चाहिए और इस पर समग्र रूप से विचार करने के लिए सन् १९५३ की तरह एक सम्मेलन बुलाना चाहिए, जिसमें देश के समस्त शिक्षा शास्त्री, शिक्षामंत्री, निकाय-अधिकारी, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री और आचार्य विनोबा आदि सभी सम्मिलित रहें। अगर सम्मेलन में शरीक होनेवाले शिक्षा शास्त्रियों को नयी तालीम नाम से चिढ़ हो, तो इसका नाम बदल दें। हमें इस नाम से विशेष लगाव नहीं है, लेकिन जीवन-मूल्यों को बदलनेवाली तालीम तो हमें हर मूल्य पर लानी ही है।

दो साल पहले की बात है। मैं केरल में गया था। सबेरे जाते समय एक स्थान पर मैंने लगभग ५००० आदमियों की भीड़ देखी तो पूछा। लोगों ने बताया कि दुर्घटना हो गयी है। बहुत देर बाद जब लौटा, तो वही भीड़ उसी रूप में मिली। मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने कहा कि क्या इनके पास कोई काम नहीं है ? वहाँ के लोगों ने मुझे बताया कि सचमुच ये बेकार हैं। उनमें अधिकांश ग्रेजुएट हैं, और जो ग्रेजुएट नहीं हैं, वे कम-से कम हाईस्कूल पास तो हैं ही। कोई काम न होने के कारण अपने बहुमूल्य समय को इस तरह बिता रहे हैं। तो क्या हम अपने देश को केरल बनाना चाहते हैं ?

श्रीमन्नारायण जी के ओजस्वी भाषण के बाद सभा के अध्यक्ष श्री बद्री बाबू ने पूज्य विनोबा के सामने रखे जानेवाले प्रस्तावों को सुनाया और उनके सम्बन्ध में अपना अनुमोदन प्रकट किया। फिर उन्होंने प्रतिनिधियों की सम्मति जाननी चाही। सभी लोगों ने प्रस्तावों को एकमत से स्वीकार किया।

श्री कमलनयन बजाज सभा में बाद को उपस्थित हुए और अभी पूज्य विनोबा के आने में थोड़ी देर थी, इसलिए आर्यनायकम्‌जी ने उनसे कुछ कहने के लिए विशेष अनुरोध किया।

बाबा के अनुरोध पर उन्होंने गिने-चुने शब्दों में एक सुझाव पेश किया, जो इसप्रकार है—

इस कार्य के संचालन के लिए एक विशिष्ट एजेंसी का निर्माण आवश्यक है, जिस पर इसकी व्यवस्था तथा अर्थ प्रबन्ध आदि का उत्तरदायित्व हो।

आप सब विनोबा के सामने बातें करने जा रहे हैं। उसमें मुझे इतना ही कहना है कि नयी तालीम का अबतक शुरू से आखिर तक का पूरा काम नहीं होता, समस्या का हल नहीं मिलनेवाला है। मेरी राय है कि २५ वर्ष का एक पूरा कार्यक्रम बना कर हम काम चालू करें। इस सम्बन्ध में पूरा विचार करने के लिए शिक्षा-मंडल की स्वर्णजयन्ती का अवसर उपयुक्त होगा। अगर आप चाहें तो पहले या बाद में भी कर सकते हैं। आनेवाली पीढ़ी के लिए छोटा या बड़ा काम सम्पूर्ण इकाई में करके छोड़ जायें, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। अबतक हमारे कामों से बुराई ही निकली है अच्छाई नहीं, लेकिन कार्यकर्ताओं के मन में अकूत विश्वास है, यह बहुत बड़ी बात है और इस बल पर बड़ा से बड़ा काम किया जा सकता है।

श्री कमलनयन बजाज के बाद बिहार के एक उद्योग निरीक्षक ने बताया कि—मैंने शुरू से अपने लड़के को बेसिक स्कूल में पढ़ाया। आगे चलकर उसने विश्व-विद्यालयीन शिक्षा के लिए इच्छा प्रकट की। मैंने हर द्वार खटखटाया, लेकिन सभी बन्द मिले। उनमें से एक भी खुला नहीं। अन्त में उसने चोरी से हाईस्कूल की परीक्षा दी और अब बी० ए० की परीक्षा देने जा रहा है। हमलोग कबतक इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में अपने बच्चों को रखते रहेंगे? हमें मिलजुलकर जल्द से जल्द इन मसलों को तय कर लेना है।

इसके बाद सौभाग्यवती सत्यार्थी साहु, शिवकुमार लाल तथा सीताराम जी (बैंगलूर) ने अपने अनुभव रखे। उसके बाद पूज्यविनोबा के सामने प्रस्तावपत्र रखा गया, जो इस प्रकार है—

सेवाग्राम नयी तालीम परिवार-स्नेह-सम्मेलन का निष्कर्ष

१—यह सम्मेलन सर्व-सम्मति से प्रस्तावित करता है कि सेवाग्राम का नया तालीम-केन्द्र पुनः सगठित किया जाय, जिससे वर्तमान परिस्थिति के सन्दर्भ में समग्र नयी तालीम का एक पूर्ण रूप देश के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके और कार्यकर्ताओं को प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्राप्त हो सके।

३—सम्मेलन यह आशा व्यक्त करता है कि श्रीमती आशादेवी तथा श्री आर्यनायकम्‌जी सेवाग्राम को केन्द्र बनाकर इस कार्य के लिए समय तथा शक्ति दें।

४—इस काम को आगे बढ़ाने के लिए नीचे लिखी 'तदर्थ समिति' पूज्य विनोबाजी, सर्व-सेवा-संघ तथा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन ले—

१—श्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा (अध्यक्ष)
२—श्री ढेबर भाई
३—डा० सुशीला नैय्यर
४—श्री काशिनाथ त्रिवेदी
५—श्री जुगतराम भाई
६—श्री असारी साहब
७—श्री ठाकुरदास बंग
८—श्रीमन्नारायण जी (संयोजक)

प्रस्ताव पढ़ने के बाद पूज्य विनोबा जी ने लगभग दो मिनट तक मौन चिन्तन किया और अपने विचार नीचे लिखे शब्दों में रखा—

चर्चा के निष्कर्ष मेरे सामने हैं। आपने उसे सोच-समझ कर तैयार किया है। वैसे मैं सहमत हो जाता हूँ लेकिन मेरा मत इनसे कुछ भिन्न है। आप चाहें तो उन्हें स्वीकारें या न स्वीकारें।

आपका पहला प्रस्ताव नयी तालीम का सेवाग्राम में केन्द्र स्थापित करने का है। यह ठीक है, लेकिन जिस तरीके से पहले चला था वैसे ही चले तो बनेगा नहीं और लाभदायी भी नहीं होगा। परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, इसलिए पुराना ढाँचा खड़ा करने की कोशिश करना ठीक नहीं। मैं 'खादी' और 'दवाखाना' को छोड़कर बात करता हूँ। यहाँ का जीवन नयी तालीम का पूरा चित्र प्रस्तुत करे, केवल बच्चों का नहीं। बच्चों की तालीम का प्रबन्ध तो होना ही चाहिए लेकिन यह सब स्वाभाविक तौर पर होना चाहिए, न कि हिन्दुस्तान भर के लोगों को बुलायें और टिकायें। शिक्षा के बच्चों को आप यहाँ लायें, लेकिन आवाहन देकर बाहरी लोगों को बुलायें, यह ठीक नहीं। जो हो स्वाभाविक तौर पर हो।

आपका तीसरा प्रस्ताव है कि सेवाग्राम में श्रीमती आशादेवी और आर्यनायकम्‌जी को बैठना चाहिए।

यह फैसला भगवान के पास भेजना चाहिए। लेकिन मुझे भय है कि यहाँ से मंजूर न होगा। ये लोग यहाँ रहें, बाहर भी घूमें, यह जरूरी है। लेकिन २६-२७ साल के बाद भी क्या आप उन्हीं को जिम्मा देना चाहते हैं। मैं कहूँगा कि यह वृद्ध होने पर शादी करने जैसा है। एक उम्र के बाद दूसरों को तैयार करना चाहिए। निर्गुण निराकार का भी ध्यान रखना चाहिए। इस जीवन में जिसका विचार महत्व पाया है उसके पीछे उसका ध्यान जुटा हुआ है। इसलिए जरूरत है कि वे ध्यान करें, सम्पर्क बनायें, लेकिन नयी तालीम का जो स्वरूप है, उसको विकसित करने की जिम्मेदारी दूसरे की होगी। आप पूरे देश को मदद करने का काम करें। आशादेवी आपके प्रस्ताव के अनुसार यहाँ रहेंगी तो मान लें मैं बंगाल जाऊँ तो वे कैसे जा सकती हैं? वह वहाँ जो काम करती थी, वह कैसे होगा? मानता हूँ कि बंगाल में और लोग हैं, लेकिन ५० प्रतिशत काम उन्हीं का है। उनका हेडक्वार्टर यहाँ रहे, यह ठीक है।

आपका दूसरा प्रस्ताव विशिष्ट एजेंसी के निर्माण का है। एजेंसी याने सरकार की मदद, जो बिलकुल नहीं चाहिए। मनु ने कहा है—श्राद्ध का अन्न नहीं खाना चाहिए। मेरा इशारा है —गांधीनिधि की ओर। अब उस आधार पर कोई काम नहीं होना चाहिए। निधि को मदद हास्पिटल को मिले, ठीक है। हास्पिटल आगे चलकर सरकारी मदद भी ले सकता है, लेकिन आप नहीं। मेरे ख्याल से अधिक-से-अधिक ४० हजार रुपया सालाना यहाँ का खर्च होगा। इसका इकट्ठा करना इस स्नेह सम्मेलन में आये हुए लोगों के लिए कठिन नहीं है।

पचमढ़ी में एक सम्मेलन हुआ था। एक मिलीजुली समिति बनी थी। मैं ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरा मानना है कि *सरकार द्वारा सारे भारत में चलाने का प्रयास न* करें। हमें तो सेवाग्राम में शिक्षा का प्रयोग ऐसा करना है, जो भारत ही नहीं, सारे विश्व में असर डाले। शिक्षा के प्रयोग हमेशा थोड़े में हुए हैं, चाहे उसको करनेवाला फ्रावेल हो या पेस्टालाजी, सभी ने ऐसा ही किया है।

नयी तालीम तो चारों ओर दौड़ती है। मेरा जी चाहता है कि बैठूँ। मैं जहाँ बैठूँ वहाँ साइनबोर्ड पर लिखा हो—"यहाँ वही बच्चे आयेंगे, जो सरकारी नौकरी में नहीं जायेंगे।" ऐसे लड़के मिलेंगे। यहाँ की तालीम की तुलना सरकारी तालीम से कभी नहीं की जा सकती। यहाँ सात साल पढ़ने के बाद लड़का हाईस्कूल के बराबर होगा कि नहीं, यह सवाल गलत है। यह तो सेना के दृढ़ सैनिक का डरपोक से मुकाबला करने जैसा है। हमारी तालीम अपने ढंग की होगी। जो डाक्टर होनेवाले होंगे उन्हें महत्वाकांक्षा होगी, क्षुद्राकांक्षा नहीं, लेकिन हमको 'रिकाग्निशन' देनेवाला कौन है। क्या नयी तालीम का स्नातक होना कम नहीं है? क्या शेर को शेर होने का सर्टिफिकेट चाहिए? क्या बिल्लियों को शेर का सर्टिफिकेट देने से वे शेर हो जायेंगी?

एक भाई मुझसे गाँव की बात करने आये। वे ८०–९० नम्बर के सूत की खादी पहने थे। मुझे लगा कि वे खादी नहीं पहने हैं। जब मैंने पूछा तो उन्होंने बताया कि नहीं मैं खादी पहने हूँ। तो मुझे कहना पड़ा कि तुम्हारी खादी को सर्टिफिकेट चाहिए। तुम्हें तो मोटी खादी पहननी चाहिए और तभी गाँव के काम की बात सोचनी चाहिए।

पंढरपुर विट्ठल के दर्शन के लिए हर साल जाने की बात सन्त ने कहा, लेकिन दिल्ली की ओर जाने की बात और कबतक चलेगी? हम तो दिल्ली-केन्द्रित हो गये हैं। हमें तो सेवाग्राम में दिल्ली को बदलने की शक्ति पैदा करनी है। सभी सरकारी मदद की अपेक्षा रखते हैं—अच्छे काम के लिए ही सही। लेकिन, देखता हूँ, सभी फीके पड़ रहे हैं। पहले ५० प्रतिशत मदद माँगते थे और अब ७० प्रतिशत। लेकिन, क्या मदद माँगनी चाहिए? यह कहाँतक ठीक है? मैं चाहता हूँ कि आप सरकार के पेट में न पड़ें। उसके द्वारा जगह-जगह नयी *तालीम न आये। आप स्वयं करें तो सरकार करेगी ही।* यह मेरी सलाह है।

मार्गदर्शन से ओतप्रोत विनोबा के सारगर्भित भाषण से स्नेह-सम्मेलन का प्रेरक कार्यक्रम पूरा हुआ। आगत प्रतिनिधियों की चेतना को इस सम्मेलन से निश्चय ही स्फुरण मिला, नया उत्साह और बल मिला तथा उन्हें मिली नये मानव के निर्माण की नयी दिशा।

●

परिवार-स्वावलम्बन-विद्यालय

धीरेन्द्र मजूमदार

भूदान तथा ग्रामदान आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ देश के रचनात्मक कार्य तथा कार्यकर्ताओं में एक नवजागरण की सृष्टि हुई है। आज देश में हजारों रचनात्मक कार्यकर्ता ग्रामीण क्षेत्र में नयी समाज रचना का ध्येय सामने रखकर सेवा कर रहे हैं, लेकिन इस देश की विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति के कारण उनके परिवार पुरानी मान्यता तथा स्तर के आधार पर ही चलते हैं। फलस्वरूप कार्यकर्ताओं का समग्र परिवर्तन का विचार परिपुष्ट नहीं हो पाता है।

पिछले दो साल से सेवक के परिवार को विचार की दिशा में आगे बढ़ाने के लक्ष्य को सामने रखकर उत्तरप्रदेशीय कस्तूरबा ट्रस्ट के अन्तर्गत एक परिवार-स्वावलम्बन विद्यालय संगठित किया गया है, जिसमें रचनात्मक कार्यकर्ता की पत्नी और बच्चों को साथ रखकर प्रशिक्षित करने की कोशिश की जाती है। इस वर्ष भी विद्यालय का सत्र १५ जून से प्रारम्भ किया जा रहा है। विद्यालय में ऐसे परिवारों की भर्ती हो सकेगी, जिनमें आगे बढ़ने का उत्साह हो।

शिक्षा-परिचय

दो साल की अवधि में जिस स्त्री की योग्यता जहाँ तक है उससे आगे की परीक्षा दिलाने की कोशिश की जायेगी, लेकिन परीक्षा गौण है। मुख्य प्रयास पूरे परिवार के समन्वित सामाजिक शिक्षण तथा परिवार कर्म का अभ्यास ही रहता है। प्रयास का दूसरा स्थान अम्बर चरखे से स्वावलम्बन साधना है। अनुभव यह आया है कि स्त्रियाँ अपनी गृहस्थी का काम करते हुए २० से ४० रुपये तक की मासिक कमाई कर लेती हैं। सर्वोदय की वैचारिक चर्चा का वातावरण हमेशा बनाये रखने की कोशिश की जाती है, ताकि आनेवाले नये युग के नये जीवन मूल्यों की स्पष्ट कल्पना हो सके।

आर्थिक व्यवस्था

विद्यालय में स्त्री के लिए ३० रुपया मासिक और प्रति बच्चा १२ रु० मासिक खर्च आता है।

अवैतनिक निधिमुक्त कार्यकर्ताओं के परिवार को स्वावलम्बन-मदद प्रति-परिवार ३० रु० तथा बच्चों का खर्च १२ रु० प्रति बच्चा २ बच्चों तक दिया जाता है। ३० रु० महीने की स्वावलम्बन-मदद में दो महीने बाद ५ रु० प्रति महीना घटती है। ३ माह तक घट कर शेष १८ रु० प्रतिमाह दो वर्ष तक मिलता रहता है।

वैतनिक कार्यकर्ताओं के परिवारों को १५ रु० प्रति माह स्वावलम्बन-मदद के तौर पर दिया जाता है।

विद्यालय की अधिक जानकारी के लिए संचालिका से पत्र-व्यवहार करें—संचालिका, कस्तूरबा परिवार स्वावलम्बन विद्यालय, रामतीर्थ प्रतिष्ठान आश्रम, सारनाथ, वाराणसी।

यह देश महात्मा गांधी का

जयप्रकाश नारायण

आज देश की हालत देखकर दुख होता है। पता नहीं, इस अभागे देश को अभी क्या-क्या देखना है, भगवान ही जानता है। आजादी के पहले या उसके तुरत बाद, जो साम्प्रदायिक दंगे हुए थे उनके बाद ऐसा कभी नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि मानसिक अराजकता फैल गयी है। मानस ऐसा छिन्न भिन्न हो रहा है कि अपने पर कोई काबू ही नहीं रहा।

भारत देश पुराना है। इसका इतिहास ५-१० हजार साल का है। दुनिया के दो-चार पुराने देशों के इतिहास में इसकी गिनती है। हमारे इतिहास से यह बात साफ-साफ ज्ञात होती है कि जब भारत में एकता रही तो यह दुनिया की ऊँची से-ऊँची चोटी पर पहुँच गया। धर्मगुरु हो गया और दुनिया में उसकी तूती बोलती थी। सम्राट अशोक के लड़के-लड़की बुद्ध का सन्देश लेकर समुद्र पार गये थे, लेकिन आज हम कहाँ-से-कहाँ चले गये ....।

आज कौन-सा सन्देश है, जिसे भारत दुनिया को दे रहा है? यह देश रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है, महात्मा गांधी का है, रामकृष्ण परमहंस का है, लेकिन यह कर क्या रहा है? दुनिया को बताना क्या चाहता है? नौजवानों की हालत तो कुछ भी समझ में नहीं आती। अगर परीक्षा में नकल करते पकड़ गये तो प्रोफेसर पर छुरा निकाल लेते हैं। बात-बात में मारकाट, दंगा होता है, फर्नीचर तोड़ दिया जाता है।

आज कोई भी सवाल शान्ति से, संजीदगी से हल नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि दिमाग के पुर्जे ही ढीले हो गये हैं। जब इस देश में अंग्रेजी राज्य था तब हम नौजवान समझते थे कि छाती पर पत्थर रखा है। एक उमंग थी, एक अनुशासन था और प्रतिज्ञा थी कि इसको बिना हटाये चैन नहीं लेंगे। काम करने का एक ढंग था और कुछ मूल्य थे, जिनके प्रति मन में आदर था, लेकिन अब स्वराज्य के बाद ऐसा लगता है कि हर बात की छूट हो गयी है।

आज हिन्दू ने मुसलमान का घर लूटा है, कल हिन्दू हिन्दू का घर लूटेगा, रेलें बन्द हो जायेंगी, कारखाने बन्द हो जायेंगे, खेत-खलिहानों में कोई काम नहीं होगा। यह हालत रहेगी तो कौन, और क्या बचेगा? इसलिए सबको समझ लेना चाहिए कि जो यहाँ रहता है उसकी रक्षा करना सबका फर्ज है। हिन्दुओं का बहुमत है तो उनका धर्म हो जाता है कि मुसलमानों को यह महसूस करायें कि वे हिफाजत से हैं और उन्हें कोई डर नहीं है।

बंगाल में एक हवा चली है कि पूर्वी पाकिस्तान के हिन्दुओं को बुला लिया जाय और यहाँ के मुसलमानों को वहाँ भेज दिया जाय। यह कहा जाता है कि एक करोड़ हिन्दुओं को बसाने के लिए पाकिस्तान से दो जिले माँग लिये जायँ, लेकिन जब लाखों आदमी इधर-से-उधर आयेंगे-जायेंगे तो क्या कोई इन्तजाम कायम रह

सकेगा ? कौन पुलिस, कौन मजिस्ट्रेट, कौन अधिकारी इस हालत को सँभाल सकेगा ? और कहाँ-कहाँ फौज जायेगी, खेतों में कौन काम करेगा, कारखाने कौन चलायेगा ?

आप देखते हैं कि पश्चिमी पंजाब से आये हुए शरणार्थियों में से कोई भीख नहीं माँगता। सब मेहनत करते हैं, रोजी कमाते हैं। वे पराक्रमी हैं, लेकिन पूर्वी बंगाल से आनेवालों की यह बात नहीं है। वे मदद पर जिन्दा रहते हैं। तो, इन करोड़ों का इन्तजाम कौन करेगा ? अराजकता नहीं होगी तो क्या होगा ? कौन किसको लूटेगा, कोई हिसाब नहीं।

आप एक करोड़ हिन्दू बसाने के लिए दो जिले माँगते हैं। वे चार करोड़ बसाने के लिए ८-१० जिले माँगेंगे और फिर कहेंगे कि बंगाल के इतने जिले दो, बिहार के इतने जिले दो, असम के इतने जिले दो तब पश्चिमी बंगाल रह ही कहाँ जायेगा। यह सब बहुत दुखदायी बातहैं। माना देश आत्महत्या करने पर उतारू है।

यह सब कौन करवाता है ? क्या राजनीतिक दल और उनके नेता करा रहे हैं ? क्या कांग्रेस, प्रजासमाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी आदि या आपके लेबर यूनियनवाले करा रहे हैं ? क्या कांग्रेसवाला ने, क्या कम्युनिस्टवाला ने, पी० एस० पी० वाला ने कहा कि मुसलमान को मारो ?

आज आप कहते हैं कि मुसलमान यहाँ नहीं रह सकते। कल बिहारी कहेगा कि यहाँ बंगाली नहीं रह सकते, बंगाल में चले जायें। कलकत्ते में वे कहेंगे कि क्यों तुम बिहारी, हिन्दुस्तानी यहाँ आये हो, चले जाओ यहाँ से, बंगाल हमारा है, क्या-क्या झगड़े इस देश में होंगे ? पंजाब में पंजाबी सूबे का झगड़ा है, पंजाबी भाषा और हिन्दी भाषा का झगड़ा है, वहाँ फरसे और कृपाण निकल रहे हैं और हिन्दू भाग रहे हैं जिला से, देहातों से, गाँवों से।

आज कश्मीर के लिए कड़ी आवाजें उठ रही हैं। वर्षों से शेख अब्दुल्ला की रिहाई की आवाज मैंने उठायी, इसलिए कि मैं जानता था कि यह मुकदमा तमाशा है, यह कोई न्याय नहीं है, इन्साफ नहीं है, यह कोई डिमोक्रेसी नहीं है, लोकतंत्र नहीं है। खुशी की बात है कि भारत सरकार ने तय किया कि शेख साहब छोड़ दिये जायें। अब आवाज उठ रही है, पार्लियामेंट में उठ रही है, इधर-उधर उठ रही है, अखबारवाले लिख रहे हैं कि पता नहीं कि शेख साहब क्या करेंगे। तो क्या चिन्ता कि शेख साहब क्या करेंगे, जब यह फैसला है कि भारत में मुसलमान नहीं रह सकते ? वे सभी गद्दार हैं, सबको कत्ल कर देना चाहिए, हिन्दू वहाँ नहीं रह सकते, सबको बुला लेना चाहिए, मुसलमानों को वहाँ भेज देना चाहिए—जब ऐसी बातें कही जा रही हैं, तो कश्मीर की घाटी में, जहाँ ९६ फी सदी मुसलमान हैं, कौन रहता है इसकी क्या चिन्ता है ? फिर काहे का मोह है, किस बात का झगड़ा है ? सिक्यूरिटी कौंसिल में क्यों झगड़ रहे हो ? शेख अब्दुल्ला भी मुसलमान हैं, बक्शी गुलाम मोहम्मद भी मुसलमान हैं और सादिक साहब भी मुसलमान हैं। और, बाकी लोग भी वहाँ मुसलमान हैं, तो कश्मीर का क्या मोह है ?

अन्त में उन बच्चों से, नौजवानों से मैं कहूँगा कि यह भारत तुम्हारा देश है। हम चल बसेंगे इस दुनिया से। तुम्हारे हाथों में है अपना भविष्य। जो करना हो करो। इतनी बात मेरी समझ लो कि अगर यह देश बनेगा, या दुनिया का कोई देश बनेगा, तो धर्म पर बनेगा, नीति पर बनेगा, न्याय पर बनेगा, इन्साफ पर बनेगा। इसके लिए तुम्हारा त्याग चाहिए, बलिदान चाहिए, निःस्वार्थ सेवा चाहिए, कठोर परिश्रम चाहिए। हमारा पेट भर दो, हमारा तन ढक दो—केवल ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। कोई देनेवाला नहीं है। नौजवानों को अपना खून, और अपना पसीना देना है और इस देश को बनाना है, कारखानों में काम करते हो, या खेती में, या दफ्तरों में काम करते हो, चाहे कहीं भी काम करते हो। अगर देश बनाना है तो नीति-न्याय से, धर्म से, इन्साफ से बनेगा। कोई दूसरी बुनियाद हो नहीं सकती इस बड़े राष्ट्र की। यह गिरह बाँध लो। भगवान तुमको सुबुद्धि दे, यही उससे हमारी प्रार्थना है।

●

शिक्षा और समाज-निर्माण

•

धीरेन्द्र मजूमदार

आज बुनियादी शिक्षा द्वारा जिस जीवन-दर्शन का प्रचार हम करना चाहते हैं, उसके प्रति जनता का आकर्षण कैसे हो ?

बुनियादी तालीम का एक मुख्य माध्यम दस्तकारी है, लेकिन देश की अर्थनीति का आधार दस्तकारी न होकर केन्द्रित उद्योग है। ऐसी हालत में हम देश के बच्चों को चौदह-पन्द्रह साल तक दस्तकारी का अभ्यास किस उद्देश्य से कराना चाहते हैं ? अर्थनीति का केन्द्रीकरण करके दस्तकारी के माध्यमवाली शिक्षा-नीति नहीं चल सकती, चलाना अनुचित भी है। ऐसा करने का मतलब यह होता है कि हम अपने बच्चे को बुलाकर कहते हैं कि "देखो बेटा, खूब दिल लगाकर दस्तकारी का अभ्यास करो, लेकिन एक बात समझ लेना कि चौदह-पन्द्रह साल तक लगातार एकाग्रता से अभ्यास करने के बाद जिस हुनर की प्राप्ति होगी, उसका समाज में कोई स्थान नहीं।"

शिक्षा की उपेक्षा क्यों ?

इस अत्यन्त निष्ठुर आश्वासन पर किस बच्चे को बुनियादीशाला में तालीम पाने की दिलचस्पी होगी और कौन अभिभावक अपने बच्चे को ऐसी शाला में भेजना चाहेगा ? जब शिक्षक भी समझता है कि ऐसी बेकार वस्तु की प्राप्ति में अपने दिल, दिमाग और जिस्म का व्यय क्यों करें, तो आप समझ सकते हैं कि आज देशभर में नयी तालीम के प्रति उपेक्षा क्यों पैदा हो रही है ?

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि हमें इस क्रान्ति से विशेष दिलचस्पी नहीं है, हम तो शिक्षण-कला की दृष्टि से ही इसे मानते हैं। शायद कुछ शिक्षा-शास्त्री ऐसा मानते भी हैं, परन्तु शिक्षण-कला की दृष्टि से आप आखिर इसलिए न मानते हैं कि वास्तविकता के माध्यम के मामले में यह पद्धति पूर्ण है ! लेकिन हुआ यह कि वास्तविकता की खोज में हमने उस वास्तविकता को ही खो दिया है। जब माध्यम के रूप में दस्तकारी को अपनाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि दस्तकारी द्वारा उत्पादन-पद्धति आज एक अवास्तविक पद्धति है, क्योंकि राष्ट्र की ओर से आज इसकी मान्यता नहीं है।

अतएव क्रान्ति के बिना ही आज के वास्तविक जीवन के माध्यम से अगर शिक्षा-पद्धति चलानी है, तो चरखा छोड़कर मिल-उद्योगशालाओं को अपनाना होगा। ऐसा करने में एक दूसरी दिक्कत का सामना भी करना पड़ेगा। मिल-उद्योग की प्रक्रियाओं में विभिन्नताएँ नहीं हैं। उनमें काम करनेवाले एक ही प्रक्रिया को आजीवन यन्त्रवत् चलाते रहते हैं। उसमें न सृष्टि का आनन्द है और न कार्यक्रम की विचित्रता। इस कारण अगर शिक्षा का मतलब केवल जड़वत् जानकारी प्राप्त करना है, तो भी हम प्रक्रिया से वह सध नहीं सकेगी। इस प्रकार आज हम एक विकट परिस्थिति के बीच खड़े हैं। दस्तकारी के लिए नहीं और 'मिलकारी' में शिक्षण का अवसर नहीं। फलस्वरूप आपकी सम्पूर्ण चेष्टा निष्फल हो रही है और सामान्य शिक्षण-कला की दृष्टि से भी इसको यश नहीं मिल रहा है।

श्रेणीहीन समाज का निर्माण

अब गैर-सरकारी प्रयत्नों की बात लीजिए। अगर हम गहराई से अध्ययन करें, तो यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि हम जो रचनात्मक कार्यकर्ता गैरसरकारी तौर पर काम कर रहे हैं, वह काम जनता को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है। इसका भी यही कारण है कि इसे हम यन्त्रवत स्वतन्त्र कार्यक्रम के रूप में चलाना चाहते हैं। हम भी क्रान्ति देवी को पीठ पर लेकर चल नहीं रहे हैं। हम गम्भीरतापूर्वक इस बात का विचार नहीं करते हैं कि नयी तालीम के जरिये हमें शोषण-हीन अर्थात श्रेणी-हीन समाज की स्थापना करनी है। यदि समाज में कुछ लोग उपदेश देकर खायें, कुछ व्यवस्था चलाकर गुजारा करें, कुछ लोग केवल माल-वितरण करते रहें और कुछ के जिम्मे शरीरश्रम के द्वारा उत्पादन करना मात्र ही रहे, तो क्या समाज श्रेणीहीन हो जायेगा? आप श्रम-विभाजन की बात करेंगे? क्या वास्तविक श्रेणीहीन समाज का स्वरूप यही रहेगा कि कुछ लोग केवल शरीर श्रम करें और कुछ लोग दिमागी श्रम करें? क्या प्रकृति ने मनुष्य को इसी तरह से विभाजित किया है? उसने तो प्रत्येक व्यक्ति को मस्तिष्क और शरीर दोनों दिये है, ताकि वह दोनों का पूर्ण विकास करे और अपनी संयुक्त शक्ति लगाकर शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की सेवा करे। मनुष्य ने प्रकृति के इस नियम का उल्लंघन किया। उसने अपने को दो हिस्सों में बाँट दिया। एक को हेड्स कहा और दूसरे को हैंड्स। विनोबाजी कहते हैं कि इस प्रकार मनुष्य राहु और केतु के रूप में दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। मानव-समाज का सनातन अनुभव यह है कि प्रकृति के नियम का उल्लंघन करने पर वह चुप नहीं बैठती, वह उसका प्रतिशोध लेती है। अतएव आज समाज में जो उत्कट वर्गविषमता की सृष्टि हुई है, उसीके कारण प्रकृति अपना प्रतिशोध ले रहा है और मानव-समाज 'त्राहिमाम्' कर रहा है।

कार्यविभाजन और क्षमता

प्राय लोग कहते हैं कि अगर हरेक आदमी शरीरश्रम और बौद्धिक श्रम दोनों करेगा, तो समाज में योग्यता तथा कर्मकुशलता का ह्रास होगा और दुनिया उन्नति नहीं कर सकेगी। पर ऐसा कहकर वे क्षमता की वेदी पर समता का बलिदान करना चाहते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वे ही विज्ञान के नाम से जन्म के आधार पर प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध करते हैं। आखिर यदि क्षमता ही इष्ट है, तो समाज की क्षमता-वृद्धि के लिए पैतृक गुणों का लाभ लेना क्या अधिक वैज्ञानिक नहीं है? लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि उनकी यह धारणा भी भ्रान्ति-पूर्ण है। मनुष्य की समग्र इन्द्रियों के पूर्ण और सन्तुलित विकास से ही क्षमता की प्राप्ति सम्भव है। एकांगी विकास से क्षमता के उद्देश्य की भी सिद्धि नहीं होती है।

आखिर प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर कुछ इन्द्रियों की सृष्टि की है, तो उसका भी कोई तात्पर्य तो होगा ही। क्या उसे दबाकर समाज की क्षमता बढ़ायी जा सकती है? वस्तुत आज मनुष्य शक्ति गलत वर्गीकरण के कारण एक-दूसरे को काटने में ही लगी हुई है। फलस्वरूप सारी सृष्टि तीव्र गति से ध्वंस की ओर अग्रसर हो रही है। अतएव, अगर अहिंसक समाज के उद्देश्य से श्रेणीहीन समाज इष्ट है तो वह पूर्ण विकसित, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक उत्पादकों के एकवर्गीय समाज के रूप में ही हो सकेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शरीर श्रम के द्वारा समाज की सेवा करता रहेगा। इस सेवा से कोई आर्थिक लाभ यानी इसके बदले में किसी प्रकार के उपभोग की सामग्री नहीं मिल सकेगी, फिर ऐसी सेवा पारस्परिक होने के कारण सामाजिक स्वार्थ-सिद्धि तथा आत्म-सन्तोष ही उसका पुरस्कार होगा।

आत्मसमर्पण की घड़ी

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर नयी तालीम के कार्यकर्ताओं के लिए आज आत्मपरीक्षण की घड़ी उपस्थित हुई है। उन्हें श्रेणीहीन समाज की भूमिका में अपने-अपने को तौलना होगा। वर्ग विषमता के निराकरण के लिए दो रास्तों में से हमें एक को तो चुनना ही है—वर्ग-परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रान्ति या श्रेणी-संघर्ष की हिंसात्मक प्रक्रिया।

जाहिर है कि हमारा रास्ता वर्ग परिवर्तन का है। तो हमें अपने को जांचकर देखना होगा कि हम प्रतिवर्ष किस गति से उत्पादक श्रमिक बनने की ओर बढ़ रहे है। क्रांति का पुरोहित क्रान्तिकारी ही होगा न ? अगर हम अपने जीवन म क्रान्ति किये बिना ही समाज में क्रान्ति करने की बात सोचते हैं, तो निस्सन्देह हमारी चेष्टा निष्फल होगी।

यदि हमारी आर्थिक क्रान्ति केन्द्रित उद्योगो को समाप्त कर विकेन्द्रित स्वावलम्बी उद्योगो की स्थापना करने की है, तो आग्रहपूर्वक केन्द्रित उद्योगों के बहिष्कार द्वारा हम ग्रामउद्योगों का सरक्षण यदि नही करते हैं, तो हम क्रान्तिकारी कैसे हो सकेंगे ? श्रेणी-समता का पौरोहित्य करते हुए अगर हम प्रतिदिन मजदूरो की सेवा छोडते न चलें तथा शरीर-श्रम के द्वारा गुजारा करने की ओर बढ़ने न चल, तो हम वास्तविक क्रान्तिकारी न होकर क्रांति के नाटक के अभिनेता बनकर ही रह जायेंगे और चाहे जितना पुकार-पुकार कर क्रान्ति का सन्देश सुनाते रहें दुनिया उसे नहीं मानेगी।

अतएव, अगर नयी तालीम को चलाना है तो हमें वास्तविक क्रान्तिकारी बनना है। आज तो हमलोगा ने कुछ त्यागमात्र किया है अर्थात् कुछ अच्छे काम के लिए थोड़ा आरामभर छोडने को तैयार हुए हैं। वस्तुत क्रान्ति और त्याग एक ही चीज नही है। जीवन का तरीका पूर्ववत् रखते हुए रहन-सहन के थोड़ी कमी करने से हम त्यागी हो सकते है। लेकिन, क्रान्ति तो जीवन का तर्ज बदलने से ही हो सकेगी। यह हो सकता है कि एक बाबू से एक मजदूर का जीवनस्तर ऊंचा हो, लेकिन जीवन का स्तर नीचा होने पर भी अनुत्पादक उपभोक्ता के नाते वह बाबू शोषक-वर्ग का ही रहेगा, जब कि शरीर-श्रम से उत्पादन करने के कारण ऊँचे जीवन के बावजूद वह मजदूर उत्पादक वर्ग का ही रहेगा। अत नयी तालीम के सेवकों को निरन्तर अपने को कसौटी पर जाँचते रहना होगा कि उनकी गति किस ओर है। ●

नहीं देखा गया

एक जटाधारी ब्राह्मण राजा सर्वमित्र के दरबार में पहुँचा। उसके हाथ मे था एक सुरापात्र। जाते ही वह बोला—"जिसे लोक-परलोक की चिन्ता न हो, मौत का डर न हो, वह इसे ले सकता है।"

राजा बड़ा शराबी था। खुद पीता, दूसरो को भी पिलाता।

ब्राह्मण का यह वचन सुन राजा ने कहा–"ब्राह्मण देवता! सभी तो अपनी चीज के गुण बताते हैं, पर आप तो उलटे दोष बताते हैं।"

ब्राह्मण बोला—"सर्वमित्र! जो इसे पीता है, अपना होश खो बैठता है। सडक पर वह लडखडा कर गिरता है। तुम यह शराब पीकर सडक पर नगे नाचोगे। इसे पीकर लाखवाले खाक मे मिल जाते हैं। राजा लोग रक बन जाते हैं। पाप की माँ है यह शराब!"

राजा बोला—"धन्य हैं महाराज! आपने मुझे शराब के सब अवगुण बता दिये। और ऐसे अच्छे ढग से समझाये, जैसे बाप बेटे को समझाता है, मैं अब कभी शराब नही पिऊँगा।"

ब्राह्मण रूपधारी बोधिसत्व बोले–"तुम्हारा पतन मुझसे नही देखा गया, इसी से मैं ऐसे रूप में तुम्हे बचाने आया।" ●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

परीक्षाओं का मौसम

बैजनाथ महोदय

इधर कुछ वर्षो से परीक्षाओ के मौसम में हम प्राय प्रतिदिन पढते है कि पर्चे 'आउट' हो गये, चुरा लिये गये, अथवा परीक्षार्थियो ने निरीक्षको को मारने-पीटने की धमकी दी, चाकू छुरा दिखाया या प्रत्यक्ष पीट भी दिया। इन्दौर में ऐसे एक अत्यन्त आदरणीय और सज्जन शिक्षक (श्री कोचरेकर) की तो कुछ वर्ष पहले हत्या तक हो गयी थी। परन्तु इधर ऐसी घटनाओ की सख्या काफी बढने लगी है। मेरी नम्र दृष्टि मे यह हमारी शिक्षा-दीक्षा, सस्कृति और जिम्मेदारी की इतिश्री का ही चिह्न है।

परीक्षाओ के हाल मे नकल करना एक साधारण-सी बात हो गयी है। उस दिन आठ-आठ, दस-दस साल के बालक आपस में बातें कर रहे थे। एक बच्चा अपने दूसरे साथी से कह रहा था—"अरे इतना दिमाग क्यों खराब करता है ? कागज के टुकडा पर ये सवाल या प्रश्न लिखकर ले जाना और पेपर में इसकी नकल करके रख देना। मैं तो यही करता हूं।" दूसरे ने इसकी ताईद की और तीसरे ने कहा—"मैं भी यही करता हूं।"

बुराई कितनी गहरी पहुँच गयी है ? एक समझदार, जिम्मेदार और होशियार समझा जानेवाला युवक एक दिन अपनी बहादुरी और चतुराई तथा अपने मेहरबान प्रोफेसर की कृपा का वर्णन करते हुए कह रहा था कि मेरी पोस्टिंग है—शहर में, परन्तु कालेज के लेक्चर्स में मेरी बराबर हाजिरी लगती रहती है। और, यह कोई इकलौता तथा अपवाद-स्वरूप उदाहरण नही है। वर्तमान स्कूल-कालेजो और विश्वविद्यालयो की गतिविधियो से परिचित सभी जानते है कि यह अपवाद है या साधारण स्थिति है।

परीक्षाओ के परिणामो मे तथा विद्यार्थियो के बौद्धिक स्तर में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है कि पुराने जमाने मे जहाँ सारे विश्वविद्यालयो में—और तब इनका क्षेत्र आज के बरसाती विश्वविद्यालयो की अपेक्षा शायद दस-बीस गुना अधिक बडा रहा होगा—प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थियो की सख्या उँगलियो पर गिनी जा सकती थी, वहाँ अब अधिकाश विद्यार्थी प्रथम या द्वितीय श्रेणी में ही उत्तीर्ण होते है। तीसरी श्रेणी मे जाने योग्य तो बहुत कम होते है। फिर कई विद्यार्थी इतने प्रतिभावान आ जाते है कि उन्हें ऐसे विषयो में उत्तीर्ण होने के भी प्रमाण-पत्र मिल जाते है, जिनको उन्होंने न परीक्षा के लिए चुना था अथवा न जिनके पर्चे ही दिये थे। इस असाधारण गुण-परीक्षण के लिए क्या विश्वविद्यालयो की तारीफ नही की जानी चाहिए ? और परीक्षाओ के परिणाम घोषित होने में अनेक बार इतनी देरी हो जाती है कि कालेज खुलकर पढाई भी शुरू हो जाती है और विद्यार्थी प्रवेश पाने में असमर्थ रह जाते है।

इसके बाद लीजिए पाठ्य पुस्तको और कोर्सेस का प्रश्न। प्राय हर बार नवीन पुस्तकें पाने की समस्या विद्यार्थियो के सामने प्रस्तुत हो जाती है। किताबें कोर्सेस में दर्ज है, परन्तु बाजार में उपलब्ध नही। क्या वर्गो में शिक्षक पढायें और क्या विद्यार्थी पढें ?

देश में शिक्षा की मांग बढ रही है। हर जगह पाठशालाएँ खुल गयी है या खोलने की मांग हो रही है, परन्तु इनमे शिक्षा की क्या स्थिति है ? नाम है

बुनियादी शाला, परन्तु बुनियादी शिक्षा-पद्धति का पालन हो रहा है यहाँ ? हायर सेकण्डरी स्कूल और कालेजों के खोलने की माँगें आ रही हैं। मंत्रियों के लिए इस माँग को अस्वीकार करना भारी होता है। इसलिए स्वीकार करना पडता है, परन्तु इनको निबाहना आसान नहीं। परम्परागत टकसाली स्कूल-कालेज खोलने से लाभ भी क्या ? उससे तो केवल पढे-लिखे बेकारों की संख्या और देश में असन्तोष बढ़ाने का पुण्य मिलता है।

ऐसा नहीं हो इसलिए गांधीजी ने लगभग पचीस वर्ष पहले उद्योगाधारित बुनियादी शिक्षा-पद्धति की सिफारिश की थी। केन्द्र और सभी राज्यों की सरकारों ने उसे मान्यता भी प्रदान कर रखी है, परन्तु स्वराज्य प्राप्त हो जाने के सोलह वर्ष के बाद भी अबतक हम उस दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। और, बगैर उसके अमल का सच्चे दिल से यत्न किये उसे एकदम असफल और अव्यावहारिक घोषित करने का दु साहस करने लग गये हैं। अगर हमने उस पर अमल किया होता, तो आज बेकारी की समस्या इतने व्यापक और डरावने रूप में हमारे सामने खडी नहीं हो सकती थी।

समस्या नि स्सन्देह बडी है, परन्तु इतनी बडी नहीं, जिसे यदि हम चाहें तो हल नहीं कर सकें। आखिर अन्य देशों ने इसे हल किया ही तो है। ईश्वर भी तो इतना नासमझ नहीं, जो हमसे बडी समस्याओं को हमारे सामने खडी कर दे। परन्तु हम अपनी दलबन्दियों और सत्ता तथा पद की दौडधूप और तिकडमबाजियों से एकाग्रता पूर्वक उसकी तरफ ध्यान देने की फुरसत हो तभी तो समस्या हल होगी। इस अयोग्यता और एकाग्रता तथा लगन के अभाव को लेकर हम क्या अपनी जिम्मेवारियों को निबाह सकते हैं और क्या देश का भला कर सकते हैं ? यदि हमें अवकाश ही नहीं है, तो जबतक अवकाश नहीं निकाल सकते, तबतक एक-दो या चार साल तक आचार्य विनोबा के अनुसार पठितों की बेकारी बढ़ानेवाले इन अविद्यालयों को हम बन्द ही क्यों न कर दें। समस्त राष्ट्र के चारित्रिक धन का नाश करने का पाप खुली आँखों क्या कमा रहे है ?●

छुट्टियों में छात्रों के लिए रचनात्मक कार्यक्रम

●

महोदय,

आज के छात्र और छात्राओं में यथेष्ट शिष्टता, कर्मठता, प्रकृति-प्रेम, स्वावलम्बन, धार्मिक भावना, मानवता, सहिष्णुता, अनुशासन, *समाज-सेवा*, *कर्तव्य-निष्ठा तथा समय* का सदुपयोग करने की भावना आदि गुणों का समावेश नहीं हो रहा है। शिक्षा-शास्त्री और राजनीतिज्ञ युवकों की ओर से निराश प्रतीत होते हैं। गुरु और शिष्य में सम्पर्क का अभाव, स्वास्थ्य, सन्तुलित भोजन व क्रीडा-*कलाओं की उपेक्षा तथा समाज का विषाक्त वातावरण* इस समस्या के मुख्य कारण हैं। समाज, शिक्षक और माता पिता के पास भी छात्र-छात्राओं के लिए समय नहीं है। यदि यही स्थिति रही, तो छात्र समाज के लिए एक समस्या बन जायेंगे।

अत गरमी की लम्बी छुट्टियों में छात्रों के लिए शिविर-जीवन, श्रमदान, समाज-सेवा, देशाटन आदि कार्यक्रमों का आयोजन किया जाय, ताकि उनके व्यक्तित्व का विकास हो !

पुरुषोत्तम लाल चूड़ामणि,
प्रादेशिक संगठन कमिश्नर (स्काउट), उत्तरप्रदेश,

भूलसुधार

पिछले अंक में 'सम्पादक के नाम चिट्ठी' स्तम्भ के लेखक का नाम भूल से श्री शंकरराम शर्मा छप गया है। लेखक का सही नाम श्री शंकरलाल शर्मा है।

—सम्पादक

शिक्षकों
का
एक दिवसीय शिविर

●

यमुना प्रसाद शास्य

जिला-परिषद फर्रुखाबाद के सहयोग से जिला-सर्वोदय-मंडल ने विकास-खंड-स्तर पर प्राथमिक बुनियादी शालाओ के शिक्षको का एक दिवसीय शिविर का आयोजन १० दिसम्बर से ३ फरवरी ६४ तक जिले भर में किया। शिविर का विषय था—सर्वोदय-समाज की प्रक्रिया-स्वरूप नयी तालीम और उसके लिए लोकसम्मति स्वरूप सूताजंलि।

इस शिविर में ६० छात्राध्यापको ने भाग लिया। जिले के शिविरो में भाग लेनेवाले कुल शिविरार्थियो की सख्या लगभग ५०० रही।

●

शिविर की चर्चाओ में निम्नलिखित विचार सामने आये—

१—नयी तालीम के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करनेवाले इस प्रकार के शिविर प्रति वर्ष आयोजित हो।

२—शिविर लगातार कई दिनो तक चले।

३—शिक्षक नयी तालीम के सिद्धान्तो को स्पष्ट रूप से नही समझ पाते, जिससे उसे कार्यान्वित करने में असफल रहते है।

४—प्रयोगात्मक कार्यों में प्रमाद के कारण बाधा पडती है।

५—शालाओ को उपयुक्त साधन-सामग्री नहीं दी जाती और बच्चो की सख्या के अनुपात में शिक्षको की सख्या कम होती है।

६—शालाओ में विषयो का बाहुल्य तो है ही, अंग्रेजी का बोझ ऊपर से लदा हुआ है।

इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये गये, जो इस प्रकार है—

१—चालू शिक्षा पद्धति के लक्ष्य व उद्देश्य को बदला जाय।

२—दड-प्रक्रिया को रचमात्र भी स्थान न दिया जाय और शिक्षण का सयोजन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाय।

३—शिक्षण बालको के लिए आनन्द का विषय बने, न कि उनके लिए भय, बन्धन एव निष्क्रियता का द्योतक हो।

४—उपयुक्त और अच्छा सामान शालाओं को दिया जाय।

५—शिक्षको की नियुक्ति सत्र आरम्भ होने के पूर्व ही शालाओ में कर दी जाय।

इस शिविर से प्रशिक्षार्थियो को बहुत-कुछ सीखने को मिला। उनसे उलझे विचारो की स्पष्टता हुई। सूताजलि को व्यवस्थित रूप से एकत्र करने का प्रयास हुआ।

●

आत्मशुद्धि का आवाहन

काशिनाथ त्रिवेदी

आज देश के सामने एक नही, अनेक चुनौतियाँ मौजूद हैं। सारा देश संक्रमण की स्थिति में है। अन्दर-बाहर के सकटो से घिरा है। कुछ भौतिक सकट हैं और कुछ आध्यात्मिक। देश की नैतिकता में भारी गिरावट आ रही है। देश की मानवता का एक बहुत वडा अग आज भी सोया पडा है। अगर कहे कि देश पक्षाघात की स्थिति मे जी रहा है, तो शायद वह अतिशयोक्ति नही होगी, न कोई उसमें असत्य का अथवा अनौचित्य का ही अनुभव करेगा। ४५ करोड देशवासियों में से ३७–३८ करोड के जीवन में आज भी वही निराशा, निष्क्रियता, जडता और विवशता भरी पडी है, जो दासता के जमाने में थी।

गाँवो में रहनेवाले हमारे करोडो-करोड भाइयो और बहनो के जीवन की धारा आज भी कुठित होकर पडी है। उनके सामने न कोई अवसर है और न कोई आशा या उल्लास का निमित्त ही है। जीवन संघर्ष निरन्तर कठिन से कठिनतर बनता चला जा रहा है। दम घोटने-वाली महगाई और भयकर तथा अनन्त बेकारी मनुष्य के रहे सहे धैर्य को भी खाये जा रही है। शोषण, उत्पीडन और दमन का चक्र भी अपने पूरे वेग से देश की मूक मानवता को निर्मम भाव से पीस रहा है। स्वार्थ और लोभ का मारा मनुष्य अपनी मानवता खोकर बडी तेजी से दानवता की दिशा में पाँव बढाये जा रहे हैं। सत्ता और सम्पत्ति की चकाचौंध के कारण मनुष्य अपने सत्व को खो रहा है और अपने स्वरूप और स्वधर्म को भूलकर एक उन्मत्त का सा जीवन बिता रहा है। मानव अपने मूल पथ से बहुत दूर भटक गया है और लक्षणो से ऐसा लगता है कि वह आगे भी इसी तरह बहकता और भटकता चला जायेगा। शायद बहकने और भटकने को ही वह जीवन मान बैठा है। इसीलिए उसकी दशा दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है।

हममें से जो अपने देश की आजादी के लिए जूझे, जिन्होने तप, त्याग, कष्ट और बलिदान का जीवन बिताया, जिन्होने स्वतंत्र और स्वाधीन भारत के बड़े ऊँचे-ऊँचे सपने संजोये—देखे, जो अपने और अपनो के लिए नहीं, देश, समाज और मानवता के लिए निष्ठापूर्वक जीवन बिताते रहे, जिन्होने सदाचार, सयम और सादगी के साथ सेवापरायण जीवन बिताने का व्रत लिया, उनके लिए आजादी के बाद का हिन्दुस्तान एक अबूझ पहेली सा बनता जा रहा है। जिन जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा का विचार लेकर उन्होने अपनी जीवनयात्रा शुरू की थी, वे सारे मूल्य आज के सामाजिक, शासकीय और आर्थिक जगत में छिन्न-भिन्न ही नही, अप्रतिष्ठित, अप्रिय और अनादर या तिरस्कार के पात्र बन रहे हैं और जिन मूल्यो से उन्होने जीवन भर परहेज किया, वे ही आज उनके देखते राज और समाज में प्रतिष्ठा पा चुके हैं। इस विपरीत परिस्थिति ने और लोक-जीवन के ऐसे विपरीत प्रवाह ने स्वातन्त्र्य-युद्ध के अनेक सेनानियों और सैनिको के सामने एक भारी चुनौती खडी कर दी है। उनमें से कई तो हतप्रभ और हतधैर्य होकर किनारा कस चुके हैं और जो इने-गिने बचे है, वे इतने अकेले पड गये है और प्रचलित प्रवाह से इतने दूर हैं कि प्रत्यक्ष व्यवहार में उनकी अपनी कोई स्थिति बनती नही। उनके पास जो शक्ति, निष्ठा और भावना आज भी शेष है, देश या समाज के व्यापक हित और उत्कर्ष में उसके विनियोग की कोई उदार योजना आज हमारे हाथ में नही है।

आज के हमारे लोकजीवन की यह एक ऐसी हकीकत है कि देश का कोई भी जिम्मेदार, समझदार और खुले-दिमागवाला नागरिक इससे इनकार नहीं कर सकता। देश के जीवन को उन्नत और महान् बनाने में जिनके जीवन का क्षण-क्षण और जिनकी शक्ति-भक्ति का कण-कण बीतना चाहिए था, उन महानुभावों का जीवन आज के भारत में, समय के फेर से और दैव के दुर्विलास के कारण घोर उपेक्षा में, गहरी ग्लानि और खिन्नता के साथ बीत रहा है। इस दुःस्थिति के कारण राष्ट्र की और मानवता की जो हानि हो रही है, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

आजादी के बाद अपने देश में हमने लोकतंत्र की स्थापना की और अँग्रेजों के तथा राजा महाराजाओं के निरंकुश शासन के स्थान पर जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों को शासन चलाने का भार सौंपा। इसके लिए हमने विदेशों की पक्ष-पद्धति को अपनाया। राजनीति के क्षेत्र में जो पक्ष जनता से बहुमत पा सका, उसे केन्द्र में और प्रान्तों में जनता की ओर से राजकाज चलाने का अवसर मिला। इस लोकतांत्रिक प्रणाली से राजकाज चलाने का जो अनुभव इन १२–१३ वर्षों में हमें हुआ है, वह भी हमारे उत्साह को बढ़ानेवाला, हमारे अंगीकृत आदर्शों को सिद्ध करनेवाला और राष्ट्र की दृष्टि से हम निरन्तर आत्म-विकास, आत्मोद्धार और आत्मोन्नति की दिशा में ले जानेवाला सिद्ध नहीं हुआ। जात-पांत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, हिन्दू मुसलमान, मालिक-मजदूर-जैसे अनेकानेक भेदों के कारण जिस देश और समाज की शक्ति सदियों से कुंठित और क्षीण होती चली आयी थी, उस देश और समाज में राजनीतिक पक्षों के उद्गम ने देश की टूटी-फूटी मानवता को जोड़ने का और उसे समर्थ तथा सशक्त बनाने का अपना असली काम तो छोड़ दिया और अपनी सारी शक्ति तथा बुद्धि के जोर से देश के प्रायः सभी राजनीतिक पक्ष खंडित मानवता को और अधिक खंडित करने में लग गये। पक्षान्धता का विष समाज-शरीर में इतना घुल गया कि अब बहुतों के लिए वही जीवन का आधार बन गया है। पक्षगत राजनीति के क्षेत्र में काम करनेवालों में आज कदाचित् कुछ इने-गिने ही ऐसे रह गये हैं जो पक्ष से ऊपर उठकर न्याय, नीति मानवता और सदाचार की बात को ऊपर उठाने की शक्ति तथा वृत्ति रखते हों।

आज का पक्ष-पीड़ित नागरिक पक्ष के प्रति इतनी आसक्ति और मोह-बुद्धि रखने लगा है कि उसकी दृष्टि में पक्ष की कालिमा भी पूर्णिमा का रूप ले लेती है, और उसके लिए पक्ष ही उसका सब कुछ बन जाता है। आज तो पक्ष के नाम पर पामरता की चरम सीमा को छूने में भी पक्ष-भक्तों को किसी तरह का कोई संकोच, कोई शरम मालूम नहीं होती। अनुभव यह है कि पक्ष का चश्मा चढ़ने पर पक्षों को पक्ष के बाहर कहीं कोई जीवन दीखता ही नहीं। जो पक्ष में हैं, वे ही अपने हैं, नागरिकता के सारे अधिकार और अवसर भी उन्हीं के लिए हैं, जो पक्ष से दूर हैं, अलिप्त हैं, पक्षवालों की दृष्टि में नागरिक के नाते उनका कोई अस्तित्व, कोई मूल्य और महत्व नहीं होता। पक्षान्धता का यह 'ग्रहण' व्यक्ति के ही जीवन को लगता हो, सो बात भी नहीं। जो क्षेत्र, जो तहसील, जो जिला पक्ष के साथ नहीं है, पक्ष की दृष्टि में उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। पक्ष का यह भेद और पक्षवालों की यह अन्धता आज देश में लोकतंत्र की जड़ों को खोखला कर रही है।

परिस्थिति का यह चित्र जिस हद तक यथार्थ और वास्तविक है, उसी हद तक वह देश और समाज के सभी जागृत नागरिकों के लिए भारी चिन्ता का और आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण तथा आत्म-शोधन का भी विषय है। पक्षों के प्रबल और चकाचौंध-भरे प्रभाव ने आज देश के औसत नागरिक को प्रभाव शून्य, चेतनाशून्य और पुरुषार्थहीन बना रखा है। देश के व्यापक और स्वस्थ लोकजीवन के लिए यह एक बड़ा ही गम्भीर संकट है। अपेक्षा तो यह थी कि लोकतन्त्र के उदय के साथ देश के औसत नागरिक के जीवन में स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, स्वावलम्बन, पुरुषार्थ-प्रियता, साहसिकता और ऊँचे दरजे की नैतिकता, धीरता तथा वीरता का विकास होगा और सारा मानव-कुल देश के आंगन में फुलवारी की क्यारियों की तरह फला-फूला-सा नजर आयेगा। पर आजादी के बाद देश की मूक मानवता के विकास लिए जैसा दूर-

दर्शिता पूर्ण और समग्र-दृष्टिवाला आयोजन-नियोजन होना चाहिए था, देश में दुर्भाग्य से वह नहीं हो पाया।

आजादी के इन सोलह सालों में देश की साधन-सम्पत्ति का विकास तो किसी हद तक हो रहा है, बड़े-बड़े उद्योगों, कारखाना, बांधों और ऐसे ही अन्य निर्माण कार्यों के कारण देश की भौतिक समृद्धि का मार्ग तो कुछ खुला है, पर जिन करोड़ों करोड़ को इस समृद्धि का उपभोग करना है, वे तो अभी गरीबी, गुलामी बेकारी, भुखमरी कर्जदारी, अज्ञान, अन्धविश्वास और व्यसन, शोषण, उत्पीडन में इतने डूबे हुए हैं कि आज भारत में उन्हें अपना कोई भविष्य नजर नहीं आ रहा है। देश के दिग्गज नेता समय समय पर अपने भाषणों और वक्तव्यों द्वारा गरीबी आदि के अभिशापों को मिटाने की घोषणाएँ करते रहते हैं, पर लोक-जीवन में इन घोषणाओं के कारण उत्साह या उमंग की कोई लहर खडी नहीं होती। इन १६–१७ सालों के अनुभवों ने आम लोगों को यह सिखा दिया है कि नेताओं की ये घोषणाएँ केवल घोषणाएँ हैं, इनमें वह सार नहीं जो हारे-थके गरीबों के जीवन का आधार बन सके। यही कारण है कि देश की बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं ने हमारी मूक मानवता के दिलों को छुआ तक नहीं, उन्हें जगाने की तो बात ही कैसे की जाये?

जिस देश का शासन और समाज ऐसी विकट समस्याओं से घिरा हुआ हो, उसका औसत नागरिक अपने को हर तरह निरुपाय और निराधार पाता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हमारे नम्र विचार में आज की घड़ी हममें से हरेक के लिए गम्भीर चिन्तन और आत्म निरीक्षण की घड़ी है। जो जनता के प्रतिनिधि बनकर सत्ता में बैठे हैं, उन्हें भी गहरा चिन्तन करना है और आत्म निरीक्षण-पूर्वक आत्म शुद्धि की दिशा में बढ़ना है और जो अपने-अपने घरों में बैठे हैं या काम धन्धों में लगे हैं *और नागरिक जीवन बिता रहे हैं*, उन्हें भी पूरी उत्कटता से सारी स्थिति का निरीक्षण परीक्षण करके अपने लिए कोई एक पथ कोई एक लक्ष्य निश्चित करना है। प्रवाह-पतित जीवन न तो सत्ताधीशों को उनके पद पर टिकने देगा और न नागरिकों को ही समुन्नति या मुक्ति की दिशा में ले जा सकेगा। ●

जिम्मेदारी किसकी?

●

सिद्धराज ढड्ढा

आज हमारे देश में ऐसी मनोदशा बनायी जा रही है कि साम्प्रदायिक दंगों की सारी जिम्मेदारी पाकिस्तान की है इस मामले में हरबार पहल उसकी ओर से ही होती है हिन्दुस्तान में जो कुछ होता है वह केवल पाकिस्तान की घटनाओं की प्रतिक्रिया म होता है, पाकिस्तान में जो कुछ होता है उसके मुकाबले यहाँ कुछ भी नहीं होता, वहाँ के लोग स्वभाव से ही क्रूर, निर्दयी और खूँखार हैं, इत्यादि। इस सारे प्रचार का स्वाभाविक परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दुस्तान के लोग समझने लगे हैं कि यहाँ अगर अल्पसंख्यक मुसलमानों के साथ कुछ ज्यादती होती है या दंगे होते हैं तो उसमें हमारा कोई दोष नहीं है, बल्कि जो कुछ हो रहा है, वह ठीक हो रहा है। पाकिस्तान और उसके निवासियों के बारे में जो कुछ कहा जा रहा है वैसी ही वस्तुस्थिति होती तब भी इस प्रकार के चिन्तन से या मनोवृत्ति से समस्या का हल नहीं हो सकता था, पर सच्चाई भी जब इससे भिन्न हो *तब तो इस प्रकार का चिन्तन* और वातावरण और भी खतरनाक हो जाता है।

ऐसे समय में समाज का हित और अमनचैन चाहनेवाले हर जिम्मेदार व्यक्ति का फर्ज है कि वह सच्चाई को प्रकाश में लाये और जनता को गुमराह होने से बचाये, चाहे ऐसा करने में कुछ समय के लिए उसे लोगों के कोप का भाजन भी क्यों न बनना पड़े। ऐसा करने का हेतु पाकिस्तान की तरफदारी करने का नहीं, बल्कि अपनी निज की इनसानियत को, संस्कृति को और जीवन के मूल्यों को बचाने का है।

जयप्रकाशजी द्वारा संसद् को किये गये अनुरोध और सर्वोदय कार्यकर्ताओं द्वारा दिये गये सम्मिलित वक्तव्य के बारे में एक आम टीका यह की गयी है कि इससे पाकिस्तान के हाथ मजबूत होंगे, दुनिया में हमारी बदनामी होगी और हमारे विरोधी राष्ट्रों को अपने उद्देश्य की पूर्ति में मदद मिलेगी। यह दलील किसी ने नहीं दी है कि जो कुछ इन लोगों ने कहा है वह सही नहीं है। क्या यह अपने आप में एक खतरनाक मनोवृत्ति नहीं है कि हमें दूसरों की प्रतिक्रिया की और उनके भले या बुरे उद्देश्यों की पूर्ति की ज्यादा चिन्ता हो बनिस्बत हमारे अपने पतन और गिरावट की? 'अपनी नाक काट कर भी दूसरे का अपशकुन करना' यह किस बुद्धिमानी का लक्षण है! क्या हम इतना भी नहीं समझ सकते कि सामाजिक व्यवहार में सद्गुणों की और अच्छे संस्कारों की स्थापना में सदियाँ लग जाती हैं जब कि गलत आचरण और मनोवृत्ति से उन संस्कारों को नष्ट होते देर नहीं लगती।

जमशेदपुर और राउरकेला के क्षेत्रों में जिस प्रकार योजनापूर्वक हजारों मुसलमान स्त्री-पुरुष, बच्चों की हत्याएँ की गयी उसके कारण, जैसा पंडित जवाहरलालजी ने लोकसभा में कहा था, किसी भी इनसान का सिर शर्म से नीचा हो जायेगा। हम फिर यह दोहराना चाहते हैं कि पाकिस्तान में भी इस प्रकार की घटनाएँ हुई हों और यह सब कुछ उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप ही हुआ हो तब भी यह किसी भी हालत में उपेक्षणीय या बर्दाश्त करने काबिल बात नहीं है। लेकिन जमशेदपुर-राउरकेला में जो कुछ और जिस प्रकार हुआ है उससे यह आशंका होती है कि ये घटनाएँ केवल उन स्थानों से गुजरनेवाली ट्रेनों में शरणार्थियों की करुण कहानी सुनकर प्रतिक्रिया स्वरूप ही नहीं हुई, बल्कि इनके पीछे कुछ लोगों की समझ-बूझपूर्वक की गयी योजना थी। और यह आशंका केवल कुछ 'आदर्शवादी सर्वोदयी' नेताओं की ही नहीं है।

अभी ता० ७ मई के दिल्ली 'स्टेट्समैन' में उसके विशेष संवाददाता की रिपोर्ट जमशेदपुर-राउरकेला के दंगा के बारे में छपी है। उसमें उन्होंने जाहिर किया है कि श्री जे आर डी. टाटा जैसे व्यक्ति का भी कहना है कि उन्हें "यह विश्वास नहीं हो सकता कि इस प्रकार की हिंसा का विस्फोट—ऐसी गुण्डागर्दी, धमन्धिता और लूटपाट—केवल जमशेदपुर से ट्रेनों में गुजरनेवाले शरणार्थियों के साथ सहानुभूति के कारण पैदा होनेवाला साम्प्रदायिक उत्तेजना का सहज उभाड़ हो सकता है।…एक ही दिन, एक ही समय में जमशेदपुर शहर के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और जमशेदपुर से बाहर राउरकेला-जैसे स्थानों में भी एक जैसी घटनाएँ एक साथ उभड़ पड़ी। यह अपने आप में इस बात का काफी सबूत है कि इन घटनाओं का और जो कोई भी कारण रहा हो, इनके पीछे हत्या, लूट-पाट, और दंगे का एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।"

जमशेदपुर-राउरकेला की घटनाओं के ऐसे बहुत से गम्भीर पहलू हैं, जिनकी जाँच होना और सही तथ्य प्रकाश में लाया जाना आवश्यक है ताकि न केवल इस बात की सफाई हो जाय कि ये घटनाएँ पाकिस्तान की घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप सहज और स्वाभाविक उत्तेजना के फलस्वरूप हुई या इनके पीछे कोई सुनियोजित षड्यन्त्र था, *बल्कि आगे के लिए राष्ट्र की अपनी कम*-जोरियों और कमियों को दूर करने में भी मदद मिले। अगर वास्तव में इन घटनाओं के पीछे कोई षड्यन्त्र था तो यह मुल्क के लिए एक बहुत भारी खतरे का सूचक है। हालांकि प्रान्तीय सरकारें अभी झिझक रही हैं, लेकिन दिल्ली के कुछ क्षेत्रों में इस प्रकार की जाँच की आवश्यकता महसूस की जा रही है, यह शुभ लक्षण है।

'नयी तालीम' पत्रिका हर माह विद्यालय में आती है। उसमें मैं नये-नये विचार पढ़ता रहता हूँ। एक सावधान विद्यार्थी के नाते आज इस पत्र के माध्यम से एक नयी किताब के बारे में कुछ लिखने का मन हो आया। यह अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। पुस्तक के भूमिका-लेखक हैं श्री काका कालेलकर। वह लिखते हैं—

"आज तुम्हें देश के नवयुवकों को उद्देश्य करके महत्व के पत्र लिखते देखकर कितना सन्तोष होता है, इसका नाम तुम जब मेरी उम्र के बनोगे तब कर सकोगे। मैं करीब ८० के नजदीक पहुँचा हूँ, तो भी अपने को युवक ही मानता हूँ। मेरे इस दावे का सबूत मुझे तुम्हारे ये पत्र पढ़कर मिला। यहाँ पर तुमने जो सवाल छेड़े हैं, उनके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है। तुमने इन पत्रों के अन्दर अपना हृदय खुला कर दिया है और अपने जमाने को प्रेरणा दी है।"

आप जानना चाहेंगे कि लेखक ने ऐसे कौन से सवाल छेड़े हैं? आप पूरी पुस्तक पढ़ेंगे तो आपको भी श्री काका कालेलकर की तरह ही हार्दिक प्रसन्नता होगी, पर मुझे इसलिए पुस्तक अच्छी लगी कि उसमें सवाल उठाने के साथ साथ उनको हल करने के ढंग भी बताये गये हैं। विधा बताई गई है। लेखक ने लिखा है—"जीवन समस्या नहीं, वरन् समस्याओं को ही सुलझाने में जीवन है। बूढ़े हर गुलाब के पीछे एक काँटा देखते हैं और तरुण हर काँटे के सामने एक गुल खिला देखते हैं।"

पुस्तक में किशोर, विनय और अविनाश ने बाबू भाई के नाम पत्र लिखे। बाबू भाई ने उन पत्रों के सीधे, सरल, सरस और बड़े ही मनोहारी ढंग से उत्तर दिये। किसी उपदेशक की तरह नहीं, बल्कि साथी, सखा या, कहिए एक दोस्त की तरह। उन्होंने एक जगह लिखा है—"घर से भाग जाने की इच्छा होती है? आत्महत्या करने को जी चाहता है? तुम्हारी उम्र में एक बार मेरा भी वैसा ही हुआ था।" और फिर उसकी उन्होंने पूरी कहानी लिखकर आखिर में लिखा—"अब उस घटना पर विचार करता हूँ तो ऐसा मालूम होता है कि उस समय साधु बनने की अपेक्षा बड़ा बनने की आकांक्षा ही अधिक थी।" मुझे यह बात बहुत मनचीती लगी; इसलिए मैंने सोचा आपको भी इस किताब के बारे में बताऊँ।

इस पुस्तक में परस्पर पत्र व्यवहार के माध्यम से छात्रों को 'तरुण शांति दल' बनाने की एक व्यावहारिक योजना का सुझाव दिया गया है। यह योजना तो साधन है, साध्य तो है विवेक, जिसकी तरुणायी की देहरी पर पैर रखते ही बड़ी जरूरत होती है। उस विवेक की खोज की गयी है पराक्रम और शान्ति-प्रियता के बीच, अनुशासन और बगावत के बीच। लेखक ने बताया है—"कौन न्याय, कौन अन्याय, कौन जबरदस्ती, कौन स्नेह, कौन सत्य, कौन झूठ—यह ढूँढ लेने को कहते हैं विवेक।

पुस्तक किशोरों के लिए ही नहीं, बल्कि किशोरों की समस्याओं में रुचि रखनेवाले सभी जागरूक व्यक्तियों के लिए भी पठनीय है। पुस्तक को जैसे-जैसे पढ़ते जाते हैं 'अपने-आप को जानने और पहचानने की' प्रेरणा मिलती है। इसमें कुल १६ पत्र हैं जो बड़े ही खुले हृदय से लिखे गये हैं, इसीलिए प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी हैं।

४० पृष्ठों की ३० न० पै० मूल्य की, इस छोटी सी पुस्तक (किशोरपत्र) के लेखक हैं श्री नारायण देसाई, जिनकी किशोरावस्था अपने पिता स्व० महादेव भाई देसाई के साथ गांधी जी के सान्निध्य में व्यतीत हुई। पुस्तक मिलने का पता है—सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

—गुरुशरण

'मोहब्बत का पैग़ाम'

शेख अब्दुल्ला की रिहाई के बाद कश्मीर की समस्या आम चर्चा का विषय बन गयी है और लोगों की इसमें दिलचस्पी बढ़ी है, लेकिन बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्हें कश्मीर के अन्दरूनी मसलों का भरपूर परिचय हो।

जम्मू-कश्मीर की पदयात्रा में विनोबा जी ने वहाँ लगभग १५० प्रवचन दिये थे। उन प्रवचनों में बाबा ने कश्मीर-घाटी के अनुपम सौन्दर्य की सराहना के साथ साथ वहाँ के सियासी और मजहबी मसलों पर जो ख्यालात जाहिर किये थे वे आज भी तरोताजा और दिल को छूनेवाले हैं। बाबा के कश्मीर-सम्बन्धी चुने हुए प्रवचन 'मोहब्बत का पैगाम' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'मोहब्बत का पैगाम' (तीसरा संस्करण) का मूल्य २.५० है और पृष्ठ ४०४ हैं। यह किताब उर्दू में भी छपी है; कीमत ३.०० है।

इस माह के नये प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ सं०	मूल्य
१. मानवीय निष्ठा	दादा धर्माधिकारी	१९२	२.००
२ चिंगलिंग (उपन्यास)	निर्मला देशपाण्डे	२५०	३.००
३ कुरान-सार	विनोबा	२१५	२.५०
४ किशोर-पत्र	नारायण देसाई	४०	०.३०

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
मई, १९६४ नयी तालीम रजि० सं० एल १७२३

मैंने खुद जुर्माना दिया।

एक बार मुझ पर राजद्रोह का मुकदमा चला। मजिस्ट्रेट मुझे जानता था; इसलिए कहने लगा—"जेल तो तू चला जाता है, मुझे मालूम है। इसलिए मैंने यह तय किया है कि तुझ पर जुर्माना ही करूँगा, जेल नहीं भेजूँगा।" यह सुनकर दिल में धक्का तो जरूर लगा; मैं कुछ घबड़ाया भी। पर डरकर तो काम चल नहीं सकता था। मैंने कहा—"कीजिए जुर्माना। धमकाते क्यों हैं?"

मेरी कलाई पर एक सोने की घड़ी थी। उस पर उसकी दृष्टि पड़ी। मैंने सोचा—यह इस घड़ी की कीमत का तो कम-से-कम जुर्माना करेगा ही। यह बात मुझसे कैसे सही जा सकती थी? मैंने चुपके से एक वकील मित्र के हाथों घड़ी घर भिजवा दी। पता नहीं, कैसे उस बूढ़े (बापू) को इस बात का पता चल गया। मुझे बुलाकर उसने कहा कि "तूने चोरी की है।"

मैंने कहा—"बापू, इसमें चोरी कैसी? मेरी घड़ी थी, मैंने घर भेज दी।"

वह बोला—"तेरी थी, तो कलाई पर ही क्यों नहीं रखी? घर क्यों भेज दी? इसीलिए न कि तुझे पता चल गया था कि वह तेरी रहनेवाली नहीं है?"

बापू की यह बात तो ऐसी थी कि दिल में गड़ गयी। मैंने पूछा—"अब क्या करना होगा?"

वह बोला—"तुझे खुद जाकर यह जुर्माना दे आना है। पहले सरकार तुझसे वसूल करती। अब उल्टा होगा, तुझे स्वयं जाकर अदा करना होगा।"

जुर्माना हमने दिया।

—दादा धर्माधिकारी

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
गत मास छपी प्रतियाँ २,००० इस मास छपी प्रतियाँ २,०००

सर्व-सेवा-संघ की मासिक

यदि कोई मुझे स्मरण करे तो मैं यही चाहूँगा कि वह यह कहे कि वह एक ऐसा मनुष्य था, जिसने सम्पूर्ण हृदय से भारत को और भारतीय जनता को प्रेम किया और भारतीय जनता ने भी उसे खुले दिल से अपना स्नेह दिया।

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष : १२ अंक : ११-१२

वार्षिक चन्दा	६·००
एक प्रति	०·६०
संयुक्तांक	१·२०

जून-जुलाई १९६४

अनुक्रम

नयी तालीम
सर्व सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

उत्तर प्रदेशीय प्राइमरी पाठशालाओं के लिए अनिवार्य

कल के नेहरू, आज का भारत

वर्ष : बारह
अंक : संयुक्तांक

जो नेहरू कभी हमारे बीच में थे, जो बच्चों की तरह हमसे मचलते थे, डाँटते थे, फिर मुसकरा देते थे, लेकिन खीझने पर भी हमें दिल से प्यार करते थे, वह अब कल के हो गये। किसी समय जिसकी उपस्थिति इतनी प्रिय थी, आज उसकी स्मृति उतनी ही मधुर है। जो मौत करोड़ों के दिल में हमेशा के लिए दर्द छोड़ जाय, उसे शानदार नहीं तो और क्या कहेंगे? ऐसी मौत कितनों को मयस्सर होती है?

नेहरू की याद में हमने वादा किया है कि हम उनके पद-चिह्नों पर चलेंगे; लेकिन पद चिह्नों पर चलने का अर्थ क्या है? इतिहास साक्षी है कि कब, कौन, किसके पद-चिह्नों पर चला है? क्या नेहरू खुद किसी के पद-चिह्नों पर चले? सचमुच, वह हमेशा इतिहास के संकेत पर चले। उनका बड़प्पन भी यही था कि उस संकेत को जैसा उन्होंने समझा उस पर चलने से वह कभी पीछे नहीं हटे, और जाने के पहले मजबूती के साथ वह भारत को इतिहास के संकेत के साथ जोड़ गये। जिन्दगी भर की अपनी देन वह दो शब्दों में छोड़ गये हैं—लोकतान्त्रिक समाजवाद। कल के भारत का जो चित्र उनके मन में था वह इन्हीं दो शब्दों में समाया हुआ है। नेहरू ने देख लिया था कि 'लोकतंत्र' और 'समाजवाद' के बिना इस देश का गुजर नहीं है। इसके विकास की दिशा इसके सिवाय दूसरी है ही नहीं। उस संकेत को पहचानकर नेहरू ने लोकतांत्रिक समाजवाद को इस देश का नारा बना दिया। उसे चरितार्थ करना अब हमारा काम है।

हमारे देश में लोकतान्त्रिक सरकार है। इस सरकार की एक बहुत बड़ी अच्छाई यह है कि वह वोट से बदली जा सकती है। अगर डिक्टेटरी होती तो जनता के हाथ में यह अधिकार न होता। हम डिक्टेटरी नहीं चाहते, लेकिन अपने देश में हम लोकतन्त्र को सरकार से और बहुत आगे ले जाना चाहते हैं। लोकतंत्र को हम जनता के सामूहिक नेतृत्व का रूप देना चाहते हैं—केवल पार्टी का सामूहिक नेतृत्व नहीं, बल्कि जनता का सामूहिक नेतृत्व। पाँच साल में एक

बार असेम्बली और पार्लियामेंट के लिए चुनाव कर लेते से, पंचायत और नगरपालिका के नाम पर गाँव गाँव और शहर शहर को चुनाव का अखाड़ा बना देने से, लोकतंत्र के 'लोक' की शक्ति और नेतृत्व नहीं प्रकट होता। लोग जहाँ रहते हैं, कमाते खाते, जीते और मरते हैं, उस गाँव गाँव और शहर शहर में नित प्रति के जीवन में सामूहिक नेतृत्व प्रकट होना चाहिए। नये जमाने में सफल और सबल लोकतंत्र की यही पहचान है कि लोक की शक्ति बढ़े, तंत्र की शक्ति घटे अधिक-से अधिक काम जनता के आपसी सहकार से हो, सरकार पूरक शक्ति के रूप में रहे, और जनता में इतनी भावना और संगठन हो कि वह हर प्रकार की अनीति और अन्याय का प्रतिकार कर सके।

लेकिन प्रश्न यह है कि गाँव-गाँव में इस तरह का सामूहिक नेतृत्व कैसे आये? गाँव आज एक नहीं है। हर गाँव में जाति-धर्म, ऊँच-नीच, धनी गरीब की दीवालें खड़ी हैं। सत्ता और सम्पत्ति को लेकर इतने झगड़े हैं कि एक परिवार दूसरे से मिल नहीं पाता। एक ही परिवार के अन्दर परस्पर विश्वास नहीं रहता। जाहिर है कि जबतक यह स्थिति रहेगी तबतक सामूहिक नेतृत्व का प्रकट होना असम्भव ही मानना चाहिए। इसलिए मानना पड़ेगा कि जबतक गाँव चुनाव के चक्कर में रहेगा और जमीन के झगड़े आज की ही तरह होते रहेंगे तबतक मेल नहीं पैदा हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर देश को तुरत ढूँढ़ना चाहिए। नेहरू के बाद सरकार तो बन गयी, लेकिन समस्याओं के हल का रास्ता भी निकलना चाहिए। असली काम सरकार का बनना नहीं, समस्याओं का हल होना है।

सर्वोदय-आन्दोलन ने देश के सामने एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। ग्रामदान के नाम से जो विचार हमारे सामने है उसमें गाँव के हर बालिग या हर परिवार से एक सदस्य को लेकर ग्रामसभा बनती है, चुनाव नहीं होता। इस ग्रामसभा को हर परिवार अपनी जमीन की मालिकी सौंप देता है, लेकिन भूमिहीन के लिए बीघे में एक बिस्वा निकालने के बाद बची हुई भूमि को जोतने-बोने का अधिकार आज के मालिक और उसके वारिसों का ही रहता है। ग्रामसभा गाँव के रक्षण, पोषण, शिक्षण के लिए जिम्मेदार होती है। उसके निर्णय सर्व-सम्मति से होते हैं। इस योजना के अनुसार दिल को दिल से जुदा करनेवाले, जो दो मुख्य कारण हैं—चुनाव और मालिकी की लाग डॉट—उनसे मुक्ति मिल जाती है, और गाँव में आपस में मिलकर सबकी भलाई का काम करने का रास्ता खुल जाता है। यह सामूहिक स्वामित्व के आधार पर सामूहिक नेतृत्व के विकास का पहला ठोस कदम है। इसमें लोकतंत्र भी है, और समाजवाद भी।

हमारा देश बेहद गरीब है, इसमें बेहद दमन और शोषण है। इसमें अनेक पार्टियाँ हैं, लेकिन पार्टी बनाकर सत्ता की दौड़ में शरीक होने से देश की कोई समस्या नहीं हल होगी। हमारे देश की राजनीति पार्टीबन्दी के कारण स्वयं इतना जर्जर हो गयी है कि वह गरीब देश की राजनीति नहीं बन सकती। गरीब देश के लिए 'लोकनीति' चाहिए, जिसके द्वारा 'कुछ की नहीं, सबकी' शक्ति प्रकट हो। शुरू करने के लिए हम कम से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि अन्न, वस्त्र घर, स्वास्थ्य और शिक्षा के प्रश्न को दलबन्दी से बाहर निकाल दें और उस पर पार्टी की दृष्टि से नहीं, जनता और देश की दृष्टि से सोचें। यह आज के भारत के लिए इतिहास का संकेत है। यही लोकतांत्रिक समाजवाद की दिशा है।

नेहरू के बाद सरकार तो बन गया, लेकिन क्या वह नेहरू की विरासत सम्हालेगी? आज का भारत सरकार के हर कदम को लोकतांत्रिक समाजवाद के ही तराजू में तौलेगा।

–राममूर्ति

माटी हो गयी सोना

•

जवाहरलाल नहरू

मैं पूरी निष्ठा व ईमानदारी के साथ यह कहना चाहता हूँ कि मृत्यु के बाद मैं अपने लिए कोई धार्मिक संस्कार किया जाना पसन्द नहीं करता। मेरा इस तरह के संस्कारों में कोई आस्था नहीं है और रस्मी तौर पर भी इन्हें करना पाखंड होगा और यह अपने को तथा दूसरों को भ्रम में डालने का एक कोशिश होगी।

मैं जब मरूँ तब मैं चाहूँगा कि मेरा दाह संस्कार हो। अगर मैं विदेश में मरूँ तो मेरे शरीर को वहीं जलाया जाय, पर मेरी पूरी इलाहाबाद लाया जाय। इसमें से एक मुट्ठी भर गंगा में प्रवाहित किया जाय और अधिकांश भाग का जैसा मैं लिख रहा हूँ उस प्रकार उपयोग किया जाय। इस फूल का कोई भी अंश सुरक्षित न रखा जाय।

एक मुट्ठी भर भस्म इलाहाबाद में, गंगा में प्रवाहित करने की मेरी इच्छा के पीछे कोई धार्मिक बात नहीं है। बचपन से ही इलाहाबाद की गंगा और यमुना से मेरा लगाव रहा है। जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया, मेरा लगाव भी बढ़ता गया। मौसम के बदलते रंगों के साथ मैंने इतिहास, किम्वदन्तियों परम्पराओं गीतों और कहानियों का उन सभी बातों पर सोचा है जो युगों से इनके साथ जुड़ी है।

खासकर गंगा, हमारे देश की नदी है। लोगों की प्यारी है, और उसमें हमारी जनता की जातीय स्मृतियां जुड़ी हैं। उसकी आशा और उसका भय उसकी विजय का हर्ष और हार-जीत सभी चीजें तो उससे जुड़ी हैं। गंगा हमारी सदियों पुरानी सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रहा है। हरदम बदलता और हरदम बहता रहती है। वह मुझे हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों और घाटियों की याद दिलाती है जिनसे मेरा लगाव और प्यार बहुत ज्यादा रहा है। गंगा मुझे नीचे के उन शस्य श्यामल फैले हुए मैदानों की याद दिलाती है जहां मेरी जिन्दगी और मेरे काम रहे हैं।

सुबह की रोशनी में मुसकराती-नाचती गंगा मुझे याद आती है और शाम के सायों के साथ सावली

उदाम और रहस्यों से ओत प्रोत होती हुई भी मुझे वह याद आती है। जाड़ों में सँकरी, धीमी, पर उसकी मनमोहक लोच याद आती है। बरसात में समुद्र की तरह फैलती हुई उसकी भयंकर गर्जना भी याद आती है। कभी-कभी विनाश की लीला भी गंगा दिखा देती है। इस सब की वजह से गंगा मेरे लिए भारत के अतीत का प्रतीक और उसकी स्मृति है, जो वर्तमान में दौड़ी चली आती है और भविष्य के महासागर में विलीन होती है।

मैंने अतीत की बहुत-सी परम्पराओं को त्याग दिया है और मैं चाहता हूँ कि भारत इन सभी बन्धनों से मुक्त हो, जो उसे कसे हुए हैं, और संकुचित करने के साथ ही उसकी जनता में अलगाव पैदा करते हैं और उसमें से बहुतों का दमन करते हैं, तथा देह व मन के उन्मुक्त विकास में बाधा खड़ी करते हैं। यद्यपि मैं यह सब चाहता हूँ, तथापि मैं अपने को अतीत से पूरी तरह काटना नहीं चाहता। उस महान विरासत व परम्परा के लिए, जो हमारी है, मुझे नाज है।

मैं इस बात के प्रति भी जागरूक हूँ कि इतिहास के उषाकाल से, युगों-युगों से चली आ रही अटूट शृंखला की एक कड़ी मैं भी हूँ। यह शृंखला मैं तोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि मैं इसे धरोहर मानता हूँ और इससे प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। अपनी इस इच्छा के साथ महान सांस्कृतिक विरासत के प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप मैं यह अनुरोध करता हूँ कि—

'मेरी एक मुट्ठी भर भस्म इलाहाबाद की गंगा में प्रवाहित की जाय, जो गंगा में प्रवाहित होकर उस महा समुद्र में जाय, जो हमारे देश के पाँव पखारता है।'

मैं चाहता हूँ कि मेरे 'फूल' को विमान द्वारा आकाश में ले जाकर ऊपर से उन खेतों में, जहाँ हमारे किसान अपना पसीना बहाते हैं, बिखेर दिया जाय, ताकि वह भस्म भारत की धूल और माटी में रमा सके और भारत का एक अनचीन्हा अंश बन जाय।

●

भारत के ऋतुराज जवाहर

●

रवीन्द्र नाथ ठाकुर

तरुण भारत के सिंहासन पर जवाहरलाल का असन्दिग्ध अधिकार है। भव्य है उनकी भूमिका। अविकल्प है उनका निश्चय, और अदम्य है उनका साहस। नैतिक सत्य के प्रति उनकी अविचल आस्था और उनकी बौद्धिक चारित्र्यमत्ता ही उन्हें उत्तुंग ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित करती है।

राजनीतिक उथल-पुथल के बीच जहाँ धोखा-धड़ी और आत्मप्रवंचना प्रायः व्यक्ति की अस्मिता को भ्रष्ट करते हैं, उन्होंने नैतिक शुद्धता के मापदंड को कायम रखा है। सत्य के खतरनाक होने पर भी जवाहर लाल ने उसकी अवज्ञा नहीं की है, और झूठ के साथ समझौता सुविधाजनक होने पर भी नहीं किया है।

कूटनीति के रास्ते मिलनेवाली सफलता जितनी ही आसान होती है, उतनी ही क्षुद्र भी होती है; पर उन्होंने सदा ही कूटनीति का प्रखरता से तिरस्कार कर, उससे मुँह मोड़ लिया है। उद्देश्य की यह शुद्धता और सत्य-शोध की यह अविचल निष्ठा ही जवाहरलाल का सबसे बड़ा योगदान है।

जवाहरलाल हैं भारत के ऋतुराज वसन्त—उनके व्यक्तित्व में यौवन सदा चिर नवीन होकर प्रकट होता है—मिथ्या के प्रति अपराजेय युद्ध और स्वातंत्र्य के प्रति अविकल्प निष्ठा का उनका विजयी आनन्द सदा तरोताजा रहता है।

●

पंडित नेहरू
की
जीवन-झाँकियाँ

•

१८८९ . नवम्बर १४—जन्म प्रयाग में ।

१९०५ : मई—शिक्षा के लिए इंगलैंड ।

१९१२ : बैरिस्टरी–परीक्षा पास, इलाहाबाद में वकालत, बाँकीपुर-कांग्रेस में प्रतिनिधि ।

१९१३ . उत्तर प्रदेश-कांग्रेस में शामिल ।

१९१५ : प्रयाग में अखबारों पर प्रतिबन्धक कानून के विरोध में पहला भाषण ।

१९१६ : विवाह श्रीमती कमला कौल से–लखनऊ कांग्रेस मे गांधीजी से भेंट ।

१९१७ होम रूल्स आन्दोलन ।
नवम्बर १७—इन्दिराजी का जन्म ।

१९१८ . कांग्रेस-महासमिति के सदस्य ।

१९२१ दिसम्बर ६–प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के समय हड़ताल कराने के लिए गिरफ्तार ।

१९२२ मार्च ३—रिहाई ।
मई ११—विदेशी वस्त्र बहिष्कार के लिए पुन गिरफ्तार ।

१९२३ · जून ३१–रिहाई ।
सितम्बर २२—नाभा में गिरफ्तारी ।
अक्तूबर ८–रिहाई । कोकोनाडा कांग्रेस में महामंत्री, १९२४-२५ और १९२७-२९ में भी ।

१९२६ . कमलाजी को चिकित्सा के लिए स्विटजरलैंड ले गये । योरप और रूस यात्रा ।

१९२७ : ब्रुसेल्स, बेल्जियम मे पराधीन जातियों को कांग्रेस मे भारत की ओर से शामिल ।
नवम्बर २९—लखनऊ में साइमन कमीशन के बाईकाट के लिए पुलिस की लाठियों से घायल ।

१९२९ : लाहौर-कांग्रेस के अध्यक्ष, पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य, 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' पुस्तक-रचना ।

१९३० . अप्रैल १४—नमक-सत्याग्रह, ६ मास की कैद ।
सितम्बर २९—किसान-सम्मेलन में भाग लेने पर दो साल कैद ।

१९३१ . जनवरी २६–रिहाई ।
फरवरी ६—पिता की मृत्यु ।
दिसम्बर २६–प्रयाग से बाहर न जाने के हुक्म को तोड़ने पर दो साल की सजा ।

१९३३ अगस्त ३०—रिहाई ।

१९३४ : फरवरी १६—कलकत्ता में भाषणों के कारण दो साल की कैद ।
अगस्त ११–कमला नेहरू की बीमारी के कारण रिहा । दस दिन बाद सरकार-विरोधी भाषणों के लिए पुनः कैद । 'विश्व-इतिहास की झलक' प्रकाशित ।

१९३५ · अल्मोड़ा जेल में आत्मकथा पूर्ण ।
सितम्बर ४—कमलाजी की बीमारी के कारण रिहा, उनको योरप ले गये ।

१९३६ : फरवरी २८—कमलाजी की मृत्यु ।
अप्रैल २३–लखनऊ-कांग्रेस के अध्यक्ष, कांग्रेस के चुनाव-अभियान में भाग ।
दिसम्बर २६—फैजपुर-कांग्रेस के अध्यक्ष ।

१९३८ . माता स्वरूप रानी की मृत्यु । राष्ट्रीय योजना-समिति के अध्यक्ष । स्पेन के गृहयुद्ध के समय वहाँ की यात्रा ।

१९३९ : चीन-यात्रा ।

१९४० : अक्तूबर ३१—व्यक्तिगत सत्याग्रह मे चार वर्ष कैद ।

मई ३—प्रधान मंत्री-पद से हटने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु पार्टी के सदस्यों के आग्रह से अपना विचार त्यागा।

सितम्बर १६ से अक्तूबर २—भूटान यात्रा।

१९५९ . घाना के प्रधान मंत्री का स्वागत।

जनवरी १२-१५—पूर्वी जर्मनी के प्रधान मंत्री और युगोस्लाविया के प्रेसीडेंट टीटो से वार्ता।

अप्रैल २४—मसूरी में दलाईलामा से भेंट।

जुलाई ११-१५—नेपाल-यात्रा।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब से वार्ता।

सितम्बर—अफगानिस्तान यात्रा। चीन से भारत और बर्मा के सम्बन्धों के बारे में बर्मा के प्रधान मंत्री से वार्ता।

१९६० • अप्रैल—नयी दिल्ली में चीन के प्रधान मंत्री चाऊ-एन लाई से भेंट।

मई—लंदन राष्ट्रमंडल प्रधान मंत्री-सम्मेलन में भाग लिया और पेरिस, मिस्र, तुर्की तथा लेबनान की यात्रा।

सितम्बर १९-पाकिस्तान से सिन्धु-पानी-सन्धि, पेरिस यात्रा। मिस्र, तुर्की, लेबनान, सीरिया और पश्चिम पाकिस्तान की यात्रा। पाकिस्तान के प्रेसीडेंट अयूब से वार्ता। विश्व-शान्ति पर संयुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण।

१९६१ जनवरी १६—बम्बई में कनाडा भारत अणु भट्ठी का उद्घाटन।

जनवरी १८—नयी दिल्ली में घोषणा की कि चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर निश्चित रूप से हमला किया है और पाकिस्तान का कश्मीर-सीमा निर्धारण के बारे में चीन से वार्ता करने के लिए राजी होना उचित नहीं है।

फरवरी ८-१३—भूटान के महाराजा से बातचीत।

मार्च—राष्ट्र मंडल प्रधानमंत्री सम्मेलन में गये।

सितम्बर—बेलग्रेड में तटस्थ देशों के शिखर सम्मेलन में भाग लिया।

१३ दिसम्बर—रूस के राष्ट्रपति ब्रेजनेव से मिले।

१९६२ : जनवरी १—असम में नूनमाटी-तेल-शोधक कारखाने का उद्घाटन।

जनवरी ११—बर्मा के प्रधान मंत्री ऊ-नू से मिले।

राष्ट्र मंडल-शिक्षा-सम्मेलन का उद्घाटन।

जनवरी २४—भारत में बनी पहली पेट्रोल गाड़ी 'निशान' का शुभारम्भ किया।

अप्रैल १८—नेपाल के महाराजा महेन्द्र से मिले।

तीसरे चुनाव के बाद नये मन्त्रिमंडल का निर्माण।

अक्तूबर २२—चीन के आक्रमण का सामना करने के लिए राष्ट्र को संगठित होने का सन्देश।

नवम्बर १—अस्थायी रूप से प्रतिरक्षा विभाग सँभाला।

नवम्बर ३०—भारत-पाक विवाद को समाप्त करने के लिए राष्ट्रपति अयूब के साथ संयुक्त विज्ञप्ति।

१९६३ . जनवरी १३—लंका, संयुक्त अरब गणराज्य और घाना के प्रतिनिधियों से भारत-चीन-विवाद पर तथा कोलम्बो प्रस्ताव पर वार्ता।

नवम्बर—दिल्ली में लाओस के प्रधान मंत्री से भेंट।

अफ्रीकी देशों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन का उद्घाटन।

दिसम्बर—जोर्डन के शाह से भेंट।

१९६४ जनवरी—भुवनेश्वर - कांग्रेस - अधिवेशन के समय बीमार पड़े।

फरवरी—बर्मा के जनरल ने विन से मिले, सिंगापुर के प्रधान मंत्री से भेंट।

मई—कोसी और गंडक योजना के शिलान्यास के अवसर पर नेपाल-महाराजा महेन्द्र से भेंट।

मई १३ २६—आराम के लिए देहरादून रहे।

मई २७—पार्थिव शरीर का अन्त।

●

लो करो स्वीकार—

हृदयोद्गार,

हे जनदेवता !

मानवता का प्रहरी

श्री नेहरू की मृत्यु के समाचार से मुझे बहुत दुख हुआ। राष्ट्रमंडल और विश्व की शान्ति प्रेमी समस्त जनता उनके लिए दुख मनायेगी।

—साम्राज्ञी एलिजाबेथ, ब्रिटेन

महान राजनेता

पंडित जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु का समाचार सुनकर मुझे हार्दिक दुख हुआ। वह एक महान राजनेता थे।

—फ्रांस राष्ट्रपति डिगाल

शान्ति का महान योद्धा

भारतीय जनता की महान क्षति हुई है। यह क्षति इस समय बहुत ही गम्भीर है, क्योंकि आज उनका योगदान बहुत ही महत्व रखता है। तटस्थ राष्ट्रों, उन्नतिशील राष्ट्रों और समग्र विश्व ने शांति का एक महान योद्धा खो दिया है। उनकी मृत्यु केवल भारतीय जनता के लिए ही क्षति नहीं है, मेरे लिए और सारी प्रगतिशील दुनिया के लिए भी बड़ी क्षति है।

—राष्ट्रपति टीटो
यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति

महत्वपूर्ण व्यक्ति

उनकी मृत्यु से हमारे युग के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति का जीवन समाप्त हो गया है। वे आधुनिक भारत के निर्माता थे।

—राबर्ट मेंजीज
आस्ट्रेलिया के राष्ट्रपति

स्वतंत्रता का पुजारी

भारतीय नेता के रूप में उनसे वाय से पूरा इंडोनेशिया परिचित है क्योंकि उन्होंने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संसार भर की जनता शोकाकुल है। सुन्दर विश्व की स्थापना में नेहरूजी, जो योगदान करते आये, उससे अब हमें वंचित रहना होगा।

—डा० सुकर्ण
इंडोनेशिया के राष्ट्रपति

विश्व का सच्चा नेता

उनकी मृत्यु से विश्व से एक सच्चा व उदार नेता छिन गया है।

—ईरान के शाह

विश्व का रहबर

उनका प्रभाव केवल भारत और भारतीय जनता ही नहीं महसूस कर रही है, बल्कि एशिया और समस्त विश्व उनके लिए शोक मना रहा है।

—शाह जहीर
अफगानिस्तान के शाह

जनता के प्रेरणास्रोत

आप के नेता ने अपने देश को स्वतंत्र होते हुए देखा और स्वराज्य के प्रारम्भिक दिनों में उनको देश की सेवा करने का अवसर मिला। हमें विश्वास है कि उनका और महात्मा गांधी का व्यक्तित्व भारत की जनता को प्रेरित करता रहेगा और जिन आदर्शों के लिए उन्होंने काम किया, उनकी सिद्धि करने में सहायक होगा।

—डी० वेलरा
—आयरलैंड के राष्ट्रपति

प्रकाश-पुंज

उनका जीवन एक प्रकाश-पुंज था, जिसने भारत, एशिया और विश्व को ज्योतित किया।

—राष्ट्रपति नासिर
—संयुक्त अरब गणतन्त्र

तिब्बत का प्यारा मित्र

संसार ने बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ खो दिया, भारत ने अपना सबसे बड़ा नेता खो दिया, परन्तु तिब्बत ने तो अपना सब से प्यारा मित्र खो दिया।

—दलाई लामा

मातृभूमि के सपूत

मातृभूमि के एक ऐसे महान सपूत और एक ऐसे महान स्वातंत्र्य संग्राम योद्धा की, जिसने गांधीजी के शान्ति व प्रेम के आदर्शों को कार्यरूप में परिणत किया, मृत्यु की खबर सुनकर मुझे बहुत दुख पहुँचा है। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि उनके महान आदर्श भारत की जनता को प्रेरित करते रहें। —अब्दुल गफ्फार खाँ

तप.पूत नेता

न केवल भारतीयों ने अपना एक तपा हुआ समझदार नता-पह नेता, जिसने आजादी के लिए लड़ाई लड़ी और अपने राष्ट्र के पुनर्जन्म के लिए संघर्ष किया, खो दिया है, बल्कि तमाम प्रगतिशील लोगों को एक ऐसे व्यक्ति के निधन पर शोक होगा, जिसने अन्तिम क्षण तक भी मानवता के उच्च आदर्श तथा शान्ति व प्रगति की सेवा करने में अपनी पूरी ताकत लगा दी।—निकिता ख़ुश्चेव
रूस के प्रधान मंत्री

महा मानव

उनकी मृत्यु से दुनिया के उन सभी लोगों को, जो विश्वशान्ति, पूर्ण प्रगति और सभी जाति, वर्ण और धर्म के लोगों के बीच अच्छे सम्बन्धों की आशा करते हैं, भारी सदमा पहुँचेगा। —लेस्टर पी० पियर्सन
कनाडा के प्रधान मंत्री

अनोखा व्यक्तित्व

यह कितना दुखद और अजीब लगा होगा कि जब हिन्दुस्तान में किसी सुप्रभात को उठते ही मालूम हो कि देश जवाहरलाल नेहरू को खो बैठा। हिन्दुस्तान के लाखों लोगों को ऐसा महसूस हुआ होगा।

—श्रीमती भंडारनायक
प्रधान मंत्री श्री लंका

सारी दुनिया दुखी

भारतीय प्रधानमंत्री की मृत्यु से सारी दुनिया को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है। यूनानी जनता भारतीय जनता के इस गम्भीर शोक में उनके साथ है।

—जार्ज पैपानद्रेओ
यूनानी प्रधान मंत्री

सहअस्तित्व के प्रतीक

हमें भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु की खबर सुनकर गहरा सदमा पहुँचा है। भारत और चीन के बीच एक गहरी परम्परावाली मैत्री है। यद्यपि अभी हमारे दोनों देशों के बीच कुछ मतभेद हैं, पर यह दुखद स्थिति अस्थायी है। मुझे विश्वास है कि चीनी और भारतीय जनता के बीच अच्छे सम्बन्ध पुनः स्थापित होंगे और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर विकसित होंगे।

—चाऊ इन-लाई
चीनी प्रधान मंत्री

महान राजनीतिज्ञ

गांधीजी की मृत्यु के बाद भारतीय जनता की इससे बड़ी क्षति नहीं हुई। नेहरूजी अपने देश के विरोधी तत्वों को अपने व्यक्तित्व एवं निष्ठा को ताकत से एक साथ लाने में सफल हुए। उन्होंने एक आधुनिक आधार पर एक नये राष्ट्र के विकास का सफल उदाहरण रखा। भारतीय जनता के साथ जर्मन जनता इस महान शोक में दुखी है। केवल भारत ने ही एक महान राजनीतिज्ञ नही खोया है, हर आदमी ने, जो शान्ति और समृद्धि की आशा करता है, एक अच्छा मित्र खोया है।

—डा० लुडविग एरहार्ड
पश्चिमी जर्मनी के प्रधान मंत्री

दुनिया का महान व्यक्ति

वह केवल एक महान भारतीय ही नहीं थे, बल्कि आधुनिक दुनिया के महान व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु से शान्ति और विश्वशांति को भारी क्षति पहुँची है।

—पेतार स्तैम्बालिक
युगोस्लाविया के प्रधान मंत्री

मानव-समाज की प्रेरणा

भारत की यह क्षति सारे मानव-समाज की क्षति है। पंडित जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्रता, मानवीय प्रतिष्ठा, न्याय और शान्ति के आदर्शों, जिन्हें हम भी स्वीकार करते हैं, के प्रतीक थे। उनके नेतृत्व और प्रेरणा का अभाव हम सभी अनुभव करेंगे। —डीन रस्क,
अमेरिका के परराष्ट्र मंत्री

तटस्थ अगुआ

यदि हम भारत के स्वतंत्र जीवन के अधिकतर भाग पर दृष्टिपात करें तो हम भली-भाँति अनुभव कर सकते हैं कि मानव-समाज के लिए नेहरूजी का कितना बड़ा योगदान था। जिस तटस्थता की नीति का उन्होंने निर्माण किया उसने अनेक बार लड़ाई को रोका। नेहरू के राष्ट्र के लोग विविध होने पर भी एक हैं। मुझे आशा है कि जो लोग उनके जीवन-काल में उनकी निन्दा करते थे वे उन वस्तुओं के नाम पर, जिनसे उन्हें घृणा थी उन्हें अपनाने की चेष्टा नही करेंगे। —बर्ट्रेंड रसेल
निरस्त्रीकरण के आन्दोलनकर्ता

विश्व-शान्ति का सम्बल

स्वतंत्र विश्व के नेताओ और सरकारो से उनका अकसर मतभेद रहा है, पर किसी ने भी उनकी विश्वशान्ति और भारत के अल्पसंख्यकों के कल्याण के प्रति अपार निष्ठा में सन्देह नहीं किया।

—आइजनहावर
भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति

शान्ति के नेता

नेहरू जी की मृत्यु से स० अरब गणतंत्र शोकमग्न है। वह एक महान राष्ट्र के महान नेता की मृत्यु में शोक प्रकट करता है। वे शान्ति के नेता थे।

—हुसेन शफ्फे
उपराष्ट्रपति संयुक्त अरब गणराज्य

कुशल राजनीतिज्ञ

जब एक महान देश का जागृत नेता विश्वमंच को छोड़ता है तो मानवीय मामलों में चिन्तन शुरू हो जाता है, किन्तु जब पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग इस संसार से उठ जाते हैं तब इससे अधिक भी कुछ होता है। वह क्या होता है? दुख, आतुरता और श्रद्धांजलि। किन्तु लाखों लोगों में इससे भी कुछ अधिक होता है। कारण यह है कि वह मानव जाति के एक अंग हो गये थे। भारत के अमर आध्यात्मिक नेता गांधी के साथ मिलकर उन्होंने आधुनिक भारत को जन्म दिया था और अपने करोड़ों देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना पैदा की थी। नेहरूजी का प्रभाव उनके देश की सीमा को भी लाँघ गया था। वे एशिया तथा नये विकासमान देशों के नेता थे। विश्व के दूसरे देशों में उनका नाम मानव-जाति के आध्यात्मिक आदर्शों व सांसारिक आशाओं का पर्याय हो गया है। कहा जाता है कि जब एक समझदार व्यक्ति दृढ़ होता है तो उसे राजनीतिज्ञ कहा जाता है और जब एक मूर्ख व्यक्ति दृढ़ होता है तो वह मुसीबत हो जाता है। विश्व की आशा उन नेताओं में निहित होती है, जिन्हें दृढ़ता और लचीलेपन की देन होती है। नेहरूजी में ये दोनों चीजें थीं।

—एडलाइ स्टीवन्सन
अमेरिका संयुक्त राष्ट्र संघ प्रतिनिधि

इतिहास का संकेत

यह भारतीय इतिहास का सबसे ज्यादा दुखद दिन है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि भारत में इस महान क्षति को बरदाश्त करने की क्षमता हो।

—तुलसी गिरि
अध्यक्ष नेपाल-मंत्रिपरिषद

संयुक्त राष्ट्र का अग्रदूत

बहुत ही कम लोगों ने नेहरूजी-जैसी अपने देश के इतिहास पर छाप छोड़ी है। विश्व के बहुत बडे देशों में, देश की नीतियाँ बनाने के अलावा उन्होंने विश्व की घटनाओं को भी प्रभावित किया। भारत के इस दुःख में हम संयुक्त राष्ट्र के सभी लोग दुःखी हैं।

—यू थांट
संयुक्त राष्ट्र महासचिव

श्रद्धा का पात्र

नेहरूजी को दुनिया में हर जगह शोक व सम्मान के साथ याद किया जायगा।

—फरीदुन सेमान एरिन
तुर्की के विदेश मंत्री

ब्रिटेन के पत्र—

नेहरूजी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नेता तो थे ही, उन्होंने अपने देश को सुदृढ़ता और स्वतंत्रता भी दिलायी, लेकिन उनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि उन्होंने स्वतंत्रता के बाद शासक और शासित में कटुता नहीं रहने दी।

—दि टाइम्स

जवाहरलाल नेता से भी अधिक थे। वह शेष दुनिया की आजादी के प्रतीक थे। उनकी मृत्यु के बाद भारत तथा अविकसित देशों का इतिहास बदलेगा।

—डेली टेलीग्राफ

वर्तमान राष्ट्रमंडल का स्वरूप बहुत कुछ नेहरूजी की ही देन है।

—गार्जियन

नेहरूजी के निधन से विश्व निर्धन हो गया। निश्चय ही वह पूर्व-पश्चिम के अद्भुत समन्वय थे।

—डेलीमेल

नेहरूजी के भारत के लाखों व्यक्ति जब कि भूखों मरते हैं, फिर भी वहाँ लोकतंत्र और स्वतंत्रता है, यह नेहरूजी की देन है।

—डेली हेराल्ड

इतिहास बतायेगा कि नेहरूजी की महानता विश्व के मामलों में नहीं, बल्कि भारत को एक राष्ट्र बनाये रखने में थी।

—डेली स्केच

नेहरूजी की नीति से विश्व शान्ति को बल मिला है, तथा कई बार विश्व युद्ध के कगार से लौट गया है।

—डेली वर्कर

अमेरिका के पत्र—

यदि कोई व्यक्ति अपरिहार्य कहा जा सकता है तो वह नेहरूजी ही थे। वह आधुनिक भारत के प्रतीक थे तथा उनकी पूर्ति नहीं हो सकती।

—शिकागो ट्रिब्युन

इतिहास में अबतक श्री जवाहरलाल से अधिक किसी को इतने बडे जन-समुदाय का राजनीतिक विश्वास, वफादारी तथा नेतृत्व नहीं मिला।

—सैन फ्रान्सिस्को क्रानिकल

जवाहरलालजी तथा भारत, दोनों को एक दूसरे के लिए अगाध प्रेम था। वह लोगों के हृदय-सम्राट थे। लोग विदेशों में उन्हें विदेशी आईने में देखने की चेष्टा करते थे-पर वह भूल जाते थे कि नेहरूजी भारतीय थे, और एक क्रान्तिकारी नेता थे। उनकी आँखों में भारत की तसवीर सदा मौजूद रहती थी। वह भारत को प्यार करते थे और वह भारत के प्यार में ही मरे।

—न्युयार्क टाइम्स

जवाहरलालजी में अशोक का मानवीय नेतापन, राजपूत रजवाडों का गौरव, गांधीजी का आदर्श तथा श्री कृष्ण मेनन की चतुराई थी। शायद भारतीय जनता पर उनका अटूट प्रभाव इन गुणों के कारण ही बना रहा। भारत ही क्यों, विश्व भी उनके बिना निर्धन हो गया।

—न्युयार्क हेराल्ड ट्रिब्युन

नेहरूजी ने कठिन परिस्थिति में देश विदेश में सन्तुलन बनाये रखा।

—न्युयार्क डेली न्युज

मानवता की गतिशील कल्पना

समाजवाद

•

जवाहरलाल नेहरू
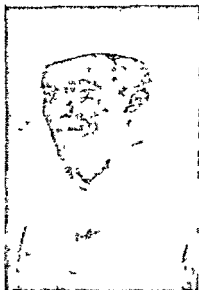
यह अक्सर कहा जाता है कि कांग्रेस द्वारा समाजवाद की जो बात कही जाती है, वह अस्पष्ट होती है। यह अंशतः सही है क्योंकि कांग्रेस किसी किताबी तरीके या किसी निश्चित सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करता।

जबसे गांधीजी कांग्रेस में आये तबसे कांग्रेस के रुख में भारत की जनता के प्रति, खासकर कृषकों के प्रति एक बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्होंने जिस सामाजिक एवं आर्थिक नीति का अनुसरण किया, उसको चाहे हम जो नाम दें, उसकी कल्पना दलित वर्ग के लाभ की दृष्टि से ही की गयी थी। यह सामान्य विचार कांग्रेस के द्वारा जनता में फैला। क्रमशः समाजवाद के तत्व पर अधिकाधिक चिन्तन किया गया और कांग्रेस ने उसकी परिभाषा धीरे धीरे की। अनिवार्यतः कांग्रेसजनों का दिमाग पहले किसानों की तरफ गया।

समाजवादी कल्पना का विकास

फिर भी समाजवाद की कल्पना लोगों के मानस में तथा कांग्रेस के मानस में अस्पष्ट रही। धीरे-धीरे वह साकार होने लगी। तो भी कांग्रेसजन समाजवाद की बात बिलकुल दूसरे रूप में करते रहे। उनमें से कुछ लोगों ने समाजवाद की व्याख्या ऐसे शब्दों में की, जो पूंजीवाद के लिए भी लागू हो सकती थी। अतः यह आवश्यक हो गया कि कांग्रेसजनों के तथा आम लोगों के मार्ग-दर्शन के लिए इस विषय पर स्पष्ट चिन्तन हो। इसी उद्देश्य से अखिल भारत कांग्रेस कमेटी ने समाजवाद और लोकतंत्र पर एक प्रस्ताव तैयार किया। यह इसलिए किया कि कांग्रेसजन इस प्रश्न पर सोचें और अपने सुझाव दें। बिना सोचे विचारे प्रस्ताव पारित करने मात्र से 'लोकतंत्र' और 'समाजवाद' शब्दों को, जिनका इस्तेमाल हम अक्सर करते हैं समझने में मदद नहीं मिलेगी।

बहुत कम लोग यह समझते हैं कि जाति प्रथा समाजवाद और लोकतंत्र दोनों के बिलकुल विरुद्ध है। अगर हमें समाजवादी समाज बनाना है तो हम जाति प्रथा का अन्त करना होगा तभी लोकतांत्रिक समाजवाद हमारे समाज में दाखिल हो सकेगा।

समाजवाद का अर्थ क्या ?

समाजवाद का क्या अर्थ है ? इसके अनेक अर्थ हैं, लेकिन यह स्मरणीय है कि पश्चिमी योरप में औद्योगिक क्रांति के बाद यह शब्द व्यापक प्रयोग म आया। यह शब्द मुख्यत उस क्रान्ति से पैदा हुआ था, जब समाज के उत्पादक यत्र द्वारा देश की सम्पत्ति बढी, तभी उसके वितरण का सवाल महत्वपूर्ण बना।

समाजवाद का अर्थ है समानता। इसका मतलब है—प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्त हों। इसका मतलब है— उत्पादन के तरीको पर राज्य का नियत्रण हो। इसका अर्थ यह नही कि उत्पादन के प्रत्येक तरीके पर राज्य का स्वामित्व हो, लेकिन समाजवादी ढांचे के समाज की दिशा में कदम उठाने के लिए यह अनिवार्य है कि उत्पादन के बड बड साधनो पर राज्य का स्वामित्व या नियत्रण रहे अन्यथा पुरानी व्यवस्था, जिसको हम बदलना चाहते है, कायम रहेगी और उस व्यवस्था के सारे निहित स्वार्थ फूलते-फलते रहेंगे।

भगवान का आदमी

पंडितजी को पूर्णतया भगवान का आदमी नही कहा जा सकता। मुझे नही मालूम कि कभी उन्होंने प्रार्थना भी की थी; लेकिन मोलियर के नाटक के नायक के समान, जो गद्य को जाने बगैर उसकी बात करता था, पडितजी अपने अनजाने ही भगवान के आदमी हैं। मुझे ताज्जुब नहीं होगा, अगर किसी दिन वे राष्ट्रों के भगवद्-प्रेरित गुरु के रूप म प्रकाशित हो उठें।

के० एम० मुंशी

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के आधार

हम लोगो ने जान-बूझकर मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को स्वीकार किया है। एक हद तक प्रत्येक अर्थ व्यवस्था, चाहे उसको आप जो नाम दें, मिश्रित अर्थ व्यवस्था होती है। प्रश्न यह है कि उस अर्थ व्यवस्था पर नियत्रण किसका है और वह सामान्य हित के लिए अथवा मुट्ठी भर लोगो के हित के लिए काम करती है। इसलिए उस अर्थव्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण स्थानो पर जनता की ओर से नियत्रण रहना चाहिए।

एक कृषि प्रधान देश म पहला कदम भूमि सुधार का है। हम लोगो ने वह कदम उठाया, कभी-कभी हिचकिचाहट के साथ उठाया और वह अभी तक पूरा नहीं हुआ। इसके आगे जाकर इस प्रक्रिया को पूरा करने की आवश्यकता है और उसके साथ कृषि के आधुनिक तरीको को भी चालू करना चाहिए। ट्रैक्टर का इस्तेमाल अवश्य ही किया जा सकता है, लेकिन यह स्पष्ट मालूम होता है कि ट्रैक्टर का विस्तृत इस्तेमाल अभी व्यावहारिक नही है। उसको इस्तेमाल करने का उचित तरीका सहकारी सस्थाओ की मार्फत हो सकता है, ताकि एक छोटा किसान भी उसका लाभ ले सके।

सहयोगी कृषि की सिफारिश की गयी है। मैं समझता हूँ कि अगर समुचित ढग से प्रशिक्षित कर्मचारियो के द्वारा वह हो तो उससे हमारी खेती और उत्पादन में बहुत तरक्की हो सकती है। सहयोगी कृषि का अर्थ सामूहिक कृषि नही है। उसमें प्रत्येक किसान के पास जमीन का अपना हिस्सा रहेगा, लेकिन लोकतांत्रिक पद्धति के कारण सम्बन्धित लोगों की राय से ही यह होना चाहिए। लोग समझ-बूझकर सहयोग दें, यह आवश्यक है। जहाँ यह सम्भव नही है, वहाँ बहुउद्देशीय सहकारी सगठना को शुरू करना चाहिए और उसके अन्दर ही ग्रामीण जनता के अधिकाश कार्य होने चाहिएँ।

समाजवाद और मानस परिवर्तन

प्रश्न केवल कानून पारित करने का नहीं है, बल्कि लोगो का मानसिक परिवर्तन करने का तथा उन्हें आधुनिक तकनीको और तरीको के लायक बनाने का है। ग्रामीण क्षेत्रों में बडी सख्या में छोटे कारखानो को प्रोत्साहित करना वाछनीय है। इससे केवल उत्पादन में वृद्धि और बेकारी म कमी ही नही होगी, बल्कि

इससे भी महत्व की बात यह है कि लोगों का मानस-परिवर्तन होगा।

लेकिन, प्रभावशाली रूप से प्रगति तभी हो सकती है जब उद्योग बड़े रूप में होगा। लगभग सभी उद्योग कुछ बुनियादी उद्योगों पर निर्भर करते हैं।

देश के उद्योगीकरण के लिए बुनियादी उद्योगों को लेना आवश्यक है। ऐसे बुनियादी उद्योगों पर स्वामित्व या नियंत्रण राज्य का ही हो सकता है। जब ये बुनियादी उद्योग विकसित होते हैं, तो औद्योगीकरण की नींव पड़ती है। इसके बाद उत्तरोत्तर तेजी से कदम उठाये जा सकते हैं।

वर्तमान स्थिति में हमारे देश के एक बहुत बड़े हिस्से में बहु-संख्यक लोगों के अन्दर भयंकर गरीबी है। यह महत्व की बात है कि इस सवाल को ऊपर बताये तरीके से हल किया जाय, लेकिन साथ ही पिछड़े क्षेत्रों में, जो गरीबी से पीड़ित लोग हैं उन पर भी ध्यान देने और उन्हें गरीबी के गर्त से, जिसमें व इतने लम्बे अरसे से घिरे हुए हैं, ऊपर उठाने की जरूरत है।

समन्वयवादी चिन्तन आवश्यक

मानवीय दृष्टि से तथा मनोवैज्ञानिक लाभ की दृष्टि से यह मुझे महत्व की बात लगती है। बहुसंख्यक लोगों की गरीबी कम करने के सवाल को हल करने के सिल-सिले में गांधीजी द्वारा सिखायी गयी बहुत-सी बातें महत्व की हैं और वे तेजी से परिणाम पैदा करनेवाली हैं। इसका अर्थ औद्योगीकरण और लघु उद्योगों एवं ग्रामोद्योगों के बीच संघर्ष नहीं है। उनमें समन्वय होना चाहिए।

हमेशा यह याद रखना चाहिए कि हमारा प्रयास यथा-सम्भव आधुनिकतम तकनीकों के इस्तेमाल की दिशा में हो तथा इन तकनीकों के इस्तेमाल के सम्बन्ध में आधुनिक मानस का विकास हो। आखिर यह सब-कुछ आदमी पर निर्भर करता है। इसलिए उसमें परिवर्तन हो, यह आवश्यक है।

समाजवाद और लोकतंत्र की कोई अन्तिम परिभाषा नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि उसकी सारी कल्पना गतिशील है, जिसमें परिवर्तन होता रहेगा, लेकिन भावी समाज का, जो हमारा लक्ष्य है, उसकी एक तसवीर हमारे दिमाग में रहनी चाहिए, ताकि जो भी कदम उठायें उसको साकार करने में सहायक हों। यद्यपि यह प्रक्रिया अनिवार्यतः क्रमिक होगी, तथापि यह स्मरणीय है कि हमारे पास खोने के लिए बहुत समय नहीं है, और इसमें किंचित् तत्वरा की आवश्यकता है।

●

महानतम विभूति

गांधी के अद्वितीय चरित्र पर नेहरू की व्यक्तिगत श्रद्धा ही मुख्यतया शोभनीय थी, जिसने सामाजिक दृष्टिकोण में इतने भेद के बावजूद नेहरूजी को महात्माजी के साथ रखा। महात्मा गांधी की सम्पूर्ण निस्वार्थता, सम्पूर्ण निर्भयता, निर्धन किसान और उपेक्षित अछूत के साथ उनकी सम्पूर्ण आत्मीयता, उनके जीवन की सुन्दरता, सरलता और करुणा इन सब ने नेहरू की श्रद्धा प्राप्त की।....
नेहरू ने यह भी पाया कि गांधी के और उनके मानवीय मूल्यों या मानदंडों में कोई अन्तर नहीं है; यद्यपि महात्माजी ने उनकी बौद्धिक अभिव्यक्ति दूसरे ढंग से की। किसान पर गांधीजी का विश्वास नेहरूजी का भी विश्वास बन गया, जब उन्होंने देखा कि किसान का जीवन किन परिस्थितियों से गुजरता है। गांधी की आस्था हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर भी। उस आदर्श की प्राप्ति नेहरू के जीवन का ध्येय बन गयी; जब उन्होंने देखा कि दोनों ही विदेशी शासन से अपमानित और आर्थिक संकट से शापित हो रहे हैं। गांधी का दावा था कि सब मनुष्य समान हैं, चाहे जिस जाति के हों। इस दावे पर नेहरू का आग्रह कम नहीं था। सामाजिक उन्नति की दोनों की परिकल्पना, चाहे जितनी भिन्न रही हो, इनके मूल सिद्धान्तों में कोई भेद न था।"

—मेनर मास्चे

●

समाजवादी कौन ?

महात्मा गांधी

समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहाँतक मुझे मालूम है, समाजवाद में सब सदस्य बराबर होते हैं—न कोई नीचा होता है, न कोई ऊँचा। किसी व्यक्ति के शरीर में सिर सबसे ऊपर होने के कारण ऊँचा नहीं होता और न पैर के तलवे जमीन को छूने के कारण नीचे होते हैं। जैसे व्यक्ति के शरीर के सब अंग बराबर होते हैं, वैसे ही समाज-रूपी शरीर के सारे अंग भी बराबर होते हैं। यही समाजवाद है।

समाजवाद और एकता

समाजवाद में राजा और प्रजा, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर सब एक स्तर पर होते हैं। धर्म की भाषा में कहें तो समाजवाद में द्वैत या भेदभाव नहीं होता। सर्वत्र एकता यानी अद्वैत का प्रमुत्व होता है। संसार भर के समाज को देखें तो द्वैत या अनेकता के सिवा कुछ नहीं दिखाई देता। एकता या अद्वैत का नामोनिशान नहीं दिखाई देता। यह आदमी ऊँचा है, वह नीचा है यह हिन्दू है, वह मुसलमान है, तीसरा ईसाई है, चौथा पारसी है, पाँचवाँ सिक्ख है और छठा यहूदी है। इनमें भी बहुत सी उपजातियाँ हैं। मेरी कल्पना की एकता या अद्वैतवाद में सब एक हो जाते हैं, एकता में समा जाते हैं।

समाजवाद-जैसी शानदार चीज झपट्टा मारने से हमसे दूर ही जानेवाली है। समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं। पहले शून्य से उसकी ताकत दसगुनी हो जायेगी। उसके बाद हरेक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दसगुना होगा। परन्तु, यदि आरम्भ करनेवाला स्वयं ही शून्य हो, दूसरे शब्दों में कोई भी आरम्भ नहीं करे, तो कितने ही शून्यों के बढ़ जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने में जितना समय और कागज खर्च होगा, व्यर्थ ही जायेगा।

सच्चा समाजवादी कौन ?

यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है, इसलिए इसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिएँ। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होनेवाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है। इसलिए राजा का सिर काट डालने से राजा और प्रजा में बराबरी नहीं आती, और न मालिक का सिर काटने से मालिक और मजदूर बराबर हो जायेंगे। हम असत्य से सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते। सत्यमय आचरण द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। क्या अहिंसा और सत्य दो चीजें हैं ? हरगिज नहीं। अहिंसा सत्य में और सत्य अहिंसा में छिपा हुआ है। इसीलिए मैंने कहा है कि वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक दूसरे से अभिन्न हैं। सिक्के को किसी भी तरफ से पढ़ लीजिए। केवल पढ़ने में ही फर्क है—एक तरफ अहिंसा है तो दूसरी तरफ सत्य। दोनों का मूल्य एक ही है। सम्पूर्ण शुद्धता के बिना यह दिव्य स्थिति अप्राप्य है। मन या शरीर की अशुद्धि रखी और आप में असत्य और हिंसा आयी।

इसीलिए सत्य-परायण, अहिंसक और शुद्ध हृदय समाजवादी ही भारत और संसार में समाजवादी समाज स्थापित कर सकेंगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है, जो शुद्ध समाजवादी हो। उपर्युक्त साधनों के बिना ऐसे समाज का अस्तित्व में आना असम्भव है।

आज देश में भयंकर आर्थिक असमानता है। समाजवाद की जड में आर्थिक समानता है। थोडे लोगो को करोड और बाकी सब लोगो को सूखी रोटी भी नही, ऐसी भयानक असमानता मे रामराज्य का दर्शन करने की आशा कभी नही रखी जा सकती।

भेद की दीवारें तोडनी होंगी

जिस तरह सच्चे नीति धर्म में और अच्छे अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीति धर्म के ऊँचे-से ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानो को दुर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नही दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है, जिससे हमें कोई लाभ नही हो सकता। उसे अपनाकर हम मृत्यु को न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय की हिमायत करता है, वह समान भाव से सबकी भलाई का, जिनमें कमजोर भी शामिल है, प्रयत्न करता है और सभ्य तथा सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है।

मै ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करनेवाले वर्गों को सैंकडा वर्षों से सभ्य समाज से अलग रखा गया है और उन्हें नीचा दरजा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्द का अर्थ किया गया है कि वे दूसरे वर्गों से नीचे है। मैं बुनकर, किसान और शिक्षक के लडको में कोई भेद नहीं होने दूँगा।

मेरी राय में भारत की—न सिर्फ भारत की, बल्कि सारी दुनिया की—अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र की तगी न सहनी पडे। दूसरे शब्दो में, हरेक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने की जरूरतें पूरी कर सके, और यह आदर्श हर जगह तभी व्यवहार में उतारा जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियत्रण में रहें। वे हरेक को बिना किसी बाधा के उस तरह प्राप्त होने चाहिएँ, जिस तरह कि भगवान की दी हुई हवा और पानी हमें प्राप्त है। किसी भी हालत मे वे दूसरा के शोषण के लिए चलाये जानेवाले व्यापार का वाहन न बनें।

समाजवाद और आर्थिक समानता

आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है—पूँजी और मजदूरी के बीच झगडों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठीभर पैसेवाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बडा भाग इकट्ठा हो गया, उनकी सम्पत्ति को कम करना, और दूसरी ओर से जो करोडों लोग अधपेट खाने और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठीभर धनवानो और करोडो भूखे रहनेवालो के बीच भारी अन्तर बना रहेगा तबतक अहिंसा की बुनियाद पर चलनेवाली राज्य-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती।

आजाद हिन्दुस्तान में देश के बडे-से-बड धनवानो के हाथ में हुकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबो के हाथ में भी होगा, और तब नयी दिल्ली के महलो और उनकी बगल मे बसी हुई गरीब मजदूर-बस्तियों के टूटे-फूटे झोपडो के बीच, जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण मिलनेवाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोडकर और सबके कल्याण के लिए सबके साथ मिलकर बरतने को तैयार न होगे, तो यह तय समझिए कि हमारे देश में हिंसक और खूनी क्रान्ति हुए बिना न रहेगी।

हिन्दुस्तान को आजादी का दूसरा के सामने उदाहरण पेश करनेवाला जीवन बिताना हो, जो दुनिया के लिए ईर्ष्या की चीज बन जाय, तो भगियो, डाक्टरो, वकीलो, शिक्षको, व्यापारियो और दूसरे सब लोगों को दिनभर ईमानदारी से काम करने के लिए एक-सा वेतन मिलना चाहिए। भारत का समाज भले ही इस लक्ष्य तक न पहुँच सके, लेकिन अगर हिन्दुस्तान को सुखी देश बनना हो तो हर हिन्दुस्तानी का यह फर्ज है कि वह इसी लक्ष्य की ओर अपने कदम बढाये।

मेरे समाजवाद का अर्थ है—'सर्वोदय'। मैं गूँगे, बहरे और अन्धों को मिटाकर उठना नहीं चाहता। उनके समाजवाद में इन लोगों के लिए कोई जगह नहीं है। भौतिक उन्नति ही उनका एकमात्र मकसद है। मसलन अमेरिका का मकसद है कि उसके हर शहरी के पास एक मोटर हो। मेरा यह मकसद नहीं। मैं अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आजादी चाहता हूँ। दूसरी तरह के समाजवाद में व्यक्तिगत आजादी नहीं है। उसमें आपका कुछ नहीं होता, आपका अपना शरीर भी आपका नहीं होता।

आदर्श समाज और राज्यसत्ता

अब सवाल यह है कि आदर्श समाज में कोई राज्य-सत्ता रहेगी या वह एक बिलकुल अराजक समाज बनेगा? मेरे खयाल में ऐसा सवाल पूछने से कुछ भी फायदा नहीं हो सकता। अगर हम ऐसे समाज के लिए मेहनत करते रहें, तो वह किसी हद तक धीरे-धीरे बनता रहेगा, और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा।

युक्लिड ने कहा है कि लकीर वही हो सकती है, जिसमें चौड़ाई न हो, लेकिन ऐसी लकीर न तो आज तक कोई बना पाया और न बना पायेगा। फिर भी आदर्श लकीर को ख्याल में रखने से ही प्रगति हो सकती है, और जो लकीर के बारे में सच है वही हरेक आदर्श के बारे में भी सच है।

हाँ, इतना याद रखना चाहिए कि आज दुनिया में कहीं भी अराजक समाज मौजूद नहीं है। अगर कभी कहीं बन सकता है, तो उसका प्रारम्भ हिन्दुस्तान में ही हो सकता है, क्योंकि हिन्दुस्तान में ऐसा समाज बनाने की कोशिश की गयी है। आजतक हम आखिरी दरजे की बहादुरी नहीं दिखा सके, मगर उसे दिखाने का एक ही रास्ता है और वह यह है कि जो लोग उसमें विश्वास रखते हैं वे उसे दिखायें। ऐसा करने के लिए जिस तरह हमने जेल के डर को छोड़ दिया है, उसी तरह मृत्यु के डर को भी पूरी तरह छोड़ देना होगा।

●

जरा बता दीजिए तो

●

रमाकान्त

"हलो, आप गांधी-निधि से बोल रहे हैं?"

"जी हाँ।"

"जरा बता दीजिए तो—गांधीजी के पिताजी का नाम?"

मैंने गांधीजी के पूज्य पिताजी का नाम बता दिया।

"एक बात और बता दीजिए कि काभा गांधी कौन थी?"

मैंने एक बार अपनी स्मृति के कोने-कोने में झाँक कर देखा, कहीं किसी का भूल चूक से यह नाम है तो नहीं, लेकिन निराशा ही हाथ आयी।

मैंने कहा—"मेरे भाई, काभा गांधी के बारे में मेरी कोई जानकारी नहीं, लेकिन गांधीजी की बहन ...।"

"नहीं-नहीं, उनकी बहन नहीं..."

"क्या आप आभा गांधी को तो नहीं पूछते हैं?"

"जी हाँ-जी हाँ, गांधीजी की पत्नी थीं न?"

मैं क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गया। लखनऊ का नागरिक, जो फर्राटे से हिन्दी बोले जा रहा है और इतना भी नहीं जानता कि गांधीजी की पत्नी का नाम क्या था!

मैंने खुशी हुई आवाज में कहा—"नहीं भाई, आभा गांधी तो कनुभाई की पत्नी है।"

"मुझे तो गांधीजी की पत्नी का नाम मालूम करना है।"

मैंने 'बा' का पूरा नाम बता दिया और उन्होंने शीघ्रता से फोन डिसकनेक्ट कर दिया।

यह घटना २९ जून, ६४ की है, और गांधी के देश की है, गाँव-गिराँव की नहीं, राजधानी की है, अपढ़ की नहीं, पढ़े-लिखे और बड़े की है।

●

रही। पुराने ढग की बात ऐसी है कि समाज के लिए कुछ नही करेंगे, और हमारी स्वतंत्रता कायम रहो। यह पुराना तरीका हुआ। यह नही चल सकता। इसलिए मैं स्वतंत्र पार्टी को समझाता हूँ कि आपका यह विचार कि व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर आक्रमण न हो, वह मैं पसन्द करता हूँ। उस तरह का विचार चाहिए, लेकिन उसके साथ समर्पण करने की तैयारी चाहिए। कम्युनिस्ट समाज का समर्पण चाहते है, लेकिन व व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को नही मानते। मैं उनसे कहता हूँ कि मालिकी समाज की हो, आप ऐसा कहते हैं उसे मैं मानता हूँ, लेकिन व्यक्ति को स्वतंत्रता रहेगी, यह विचार मान्य करो। ऐसी खूबी होनी चाहिए कि ये दोनो चीजें उसमें रहें। यह खूबी डेमोक्रेटिक सोशलिज्म मे है। दो शब्द एक करने में परम्परा-विरोधी ग्रह है। वे एक होते है और सबसे अलग विचार प्रकट करते हैं। वे अलग रूप प्रकट करते है, जो दोनो से भिन है। उसका दूसरा अर्थ है सर्वोदय।

डेमोक्रेटिक सोशलिज्म

भगवद् गीता में भगवान ने अर्जुन को सारा उपदेश दिया और आखिर में कहा कि 'यथेच्छसि तथा कुरु' तूने मेरी बातें सुन ली। अब उस पर तू विचार कर, और जैसी तेरी इच्छा हो उस तरह कर। अर्जुन को भगवान ने इच्छा स्वातन्त्र्य दे दिया और बाद म समझाते हैं—यहाँ स्वतंत्र पार्टी खत्म होती है—भगवान अर्जुन को समझा रहे है कि जैसी तेरी इच्छा हो, वह कर, लेकिन और एक बात समझाते है कि तू सब छोड़कर मेरी शरण में आ जा। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—पहले इच्छा बतायी, फिर कहते हैं कि स्वतंत्र इच्छा रखकर समर्पण करो। जबरदस्ती से समर्पण हो नही सकता, वह तो छीन लेना होगा, समर्पण अपनी इच्छा से होना चाहिए। गीता में भगवान ने अर्जुन को कहा कि तुझे स्वतंत्र इच्छा का अधिकार है और बाद में कहा—सब छोड़ कर मेरी शरण में आ जा। ये दोनो बातें एक करते हैं तो सुलभ ग्रामदान बनता है। मैं मानता हूँ कि ये दो चीजें मिलकर डेमोक्रेटिक सोशलिज्म होगा।

कांग्रेस की इज्जत के अनुरूप काम

गणतंत्र में हरेक को वोट देने का अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि हरेक को विचार का अधिकार है और हरेक को सुनना समाज की जिम्मेवारी है। इस पर कांग्रेसवालो को सोचना चाहिए। बाबा जो बात कह रहा है उसको उठा लेना चाहिए। लाखो ग्रामदान होते हैं, तो लोगो को मालूम होगा कि नीचे के तबके के लिए कुछ हो रहा है। इससे कांग्रेस की इज्जत रहेगी। कांग्रेस की इज्जत न रहे और किसी दूसरी पार्टी की इज्जत बने, तो उससे मुझे कुछ दुःख होनेवाला नहीं, लेकिन और किसी की इज्जत नही बन रही है और कांग्रेस की इज्जत भी चली जाय, इसका मतलब सारा देश बिना इज्जत का बन जाता है। इससे लाभ होनेवाला नही। इसलिए कांग्रेस ने इतना बडा प्रस्ताव किया है, तो इज्जत कायम रहे, ऐसा मैं चाहता हूँ।

ग्रामदान के लिए तीन साल

आप ग्रामदान के लिए तीन साल दें। बाबा तेरह साल से घूम रहा है, तो यह तीन साल मिलकर उसके सोलह साल होंगे। अब दस साल के तीन सौ पैंसठ दिन तो नहीं होंगे, लेकिन उसको साल गिन करके ही मैं साल कह रहा हूँ। कुछ-न-कुछ समय आपको देना चाहिए। आपके घर के काम के लिए जो समय आवश्यक है, वह छोड़कर बाकी कुल समय आप इसमें दें। यही आपका पोलिटिकल प्रोग्राम है, ऐसा समझकर दें। यह नहीं कि यह बाबा का काम है और हम उसमें समय दे रहे हैं। यह आपका ही काम है और बाबा को मदद आप लेना चाहते हैं, ऐसा होना चाहिए।

शान्तिसेना के लिए सम्मति और आधार

अभी कलकत्ता में अत्याचार हुए। खुलना में (पाकिस्तान) जो कुछ हुआ, उसकी यह प्रतिक्रिया है। क्रिया-प्रतिक्रिया का सवाल नहीं, यह काम खराब है। अपने देश को यह खतम करता है। वहाँ दंगे हुए, गोली चली। पचास साठ लोग मारे गये, सैकड़ो घायल हुए और हजारों को जेल में बन्द कर दिया गया। इस तरह देश में एकता नहीं रहेगी और बिना एकता के देश में ताकत नहीं आयेगी। इसलिए आपको यह करना चाहिए कि

नया भारत और नयी व्यवस्था

•

जयप्रकाश नारायण

जब मैं भुवनेश्वर-काँग्रेस की रिपोर्ट अखबारों में पढ़ रहा था तब एक चीज पर मेरा विशेष ध्यान गया। वह यह कि भुवनेश्वर में जो सुन्दर बातें कही गयी थीं, उनका देहात के लोगों से कोई खास सम्बन्ध नहीं था। कमोबेश ८२ फी सदी लोगों को छोड़कर ये बातें की जाती थीं। देहात का एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी समस्याओं को मार्क्सवाद भी हल नहीं कर सका है। दुनिया के दो बहुत बड़े देशों में, और कुछ अन्य देशों में भी मार्क्सवाद के अन्तर्गत शासन चल रहा है, लेकिन कृषि की समस्या का समाधान नहीं हो पा रहा है। मैं समझता हूँ कि यह बहुत ज्यादती होगी, अगर भारतीय समाजवाद भी ग्रामीण जनता की दृष्टि से इस प्रश्न को न हल कर सका।

युग की आवश्यकता : समाजवाद

आज लोग समाजवाद की ओर आने के लिए विवश हुए हैं, लेकिन यह काम केवल प्रस्ताव से होनेवाला नहीं है। आज गाँवों में जो दुःख-दर्द है, गरीबी है, अज्ञान है, बीमारी है, बेकारी है, जो सामाजिक अन्याय और अधर्म चलता है, जो समस्याएँ हैं, उनको हम तरह के प्रस्ताव स्पर्श तक नहीं करते। सोलह साल से यह प्रश्न सबके सामने रहा है कि हम लोग आजाद तो हुए लेकिन नया गाँव, नया भारत अभी बनाना बाकी है।

गांधीजी तो स्वराज्य मिलते ही चले गये, लेकिन उन्होंने आजादी की लड़ाई जिस ढंग से लड़ी, उसी तरह स्वराज्य का चित्र और उसको पाने का रास्ता भी बताकर वे गये। मगर, जनता ने यह समझा कि आप से आप सब हो जायगा, और मतदान कर देना ही काफी होगा। हमारे प्रतिनिधि हमारे प्रश्न हल कर देंगे, हम लोग केवल हाथ पर हाथ रख अधिकारियों के आगे हाथ जोड़ने या उनसे प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करेंगे, ऐसा मानकर बैठ गये। परिणाम क्या हुआ? गाँव जहाँ-के-तहाँ हैं।

मुझे जो कुछ समाजवाद मालूम है, वह यह कहता है कि जो कुछ उत्पादक सम्पत्ति है, जिसमें से सम्पत्ति पैदा होती है उस पर राज्य या समाज का अधिकार रहे। किस प्रकार के राज्य का अधिकार होगा, किस प्रकार के समाज का अधिकार होगा, इस बारे में भी समाजवादियों में नाना प्रकार के भेद हैं। उन्हीं में 'ट्रस्टीशिप' भी है। कानून से अपने देश में भूमिवान लोग 'ट्रस्ट' मान लें या उनका स्वामित्व कानून से उठा लिया जाय और जमीन गाँव सभा को दे दी जाय और सभा को जमीन की मालिकी दे दी जाय तो यह सम्भव है यह बन सकता है। कानून से बैंकों का और कारखानों का राष्ट्रीयकरण हो, ऐसा कहा है लेकिन आज समाजवादी दुनिया में लोग यह समझ रहे हैं कि उनके अन्दर से ऐसी कोई चीज पैदा हो सकती है यह सम्भव नहीं है।

भारत का उद्देश्य समाजवादी समाज रचना करना है। दो योजनाएँ खतम हुईं। तीसरी पंचवर्षीय योजना चल रही है। धन और पैसा खर्च हो रहा है लेकिन जब चर्चा हुई कि इतना खर्च होने पर भी गरीब और गरीब हुए तथा अमीर और अमीर हुए ऐसा क्यों तो प्रो॰ महलनवीस को कमेटी बनाकर धन वितरण पता करने के लिए कहा गया कि इतना पैसा गया कहाँ? कानून से और राज्य से जो हुआ, उसका यह नतीजा है।

हमारे देश में कोई भी गरीब न रहे, भूखा न रहे, भिखमंगा न रहे और हम सब अपने कर्तव्य का पालन करें तो अहिंसक समाज बनने में देर नहीं लगेगी।

समाजवाद लाने का रास्ता क्या हो ?

भारत और दुनिया में समाजवादी जीवन, सभ्यता और मूल्य किस प्रकार स्थापित हो सकेंगे ? आज समाजवादी आन्दोलन सत्ता की लड़ाई में केन्द्रीभूत हो गया है। क्या सत्ता हस्तगत कर सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन करने-मात्र से समाजवाद सफल होगा, समाजवादी मनुष्य बनेंगे, सभ्यता और मूल्य स्थापित होंगे ? अपने देश और ब्रिटेन में भी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो रहा है। क्या राष्ट्रीयकरण-मात्र से जीवन मूल्यों में परिवर्तन होगा ? विदेशों में भी विचारकों ने ऐसी आशंकाएँ जोरों से उपस्थित की हैं। आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन तो समाज के ऊपरी परिवर्तन हैं। इनसे समाज में समाजवादी मूल्य और संस्कृति की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए तो शिक्षण-प्रशिक्षण का बहुत विशाल कार्यक्रम हाथ में लेना होगा, समझा-बुझाकर जन-मानस बनाना होगा।

चीन ने डंडे के बल से समता लाने पर बहुत जोर दिया। रूस ने इसका मजाक उड़ाया। उसने कहा— ऐसा नहीं हो सकता। युगोस्लाविया ने आमदनी में एक-पाँच का अन्तर रखा। वहाँ वालों ने अनुभव किया है कि इस प्रकार की समता से अभिक्रम जगता ही नहीं। विज्ञान पढ़ने में बीस वर्ष लगते हैं और इतनी अवधि तक पढ़ने के बाद भी जब व्यक्तिगत आमदनी साधारण लोगों की आय के लगभग समान ही रहती है, तो फिर इतना गहन अध्ययन क्यों किया जाय ? इस अनुभव के बाद उन लोगों ने सोच-विचारकर विषमता पैदा करना शुरू कर दिया है। वे ऐसा करके अभिक्रम जगाना चाहते हैं, विज्ञान का विकास और समाज को लाभान्वित करना चाहते हैं।

लोकतांत्रिक अथवा हिंसा, दोनों रास्ते से बाहरी क्रान्तियाँ हुई हैं। जबतक क्रान्ति के आदर्शवाद का गांधीजी का अथवा लेनिन का रंग गाढ़ा रहता है, तबतक तो किसी सिद्धान्त के अनुसार बहुत कुछ चलता है। कुछ दिन बाद आदर्श का रंग उड़ता है और सिद्धान्त के प्रतिकूल आचरण होने लगता है।

समाजवाद का उद्देश्य

समाजवाद का मूल उद्देश्य है आवश्यकतानुसार लेना और क्षमतानुसार मेहनत करना। ऐसा किसी भी देश में नहीं हुआ। रूस, चीन, युगोस्लाविया आदि देशों में कहीं नहीं हुआ। कानून से राज को हस्तगत कर लेने-मात्र से समाजवाद नहीं होगा।

समाजवाद के दो पहिये हैं—समाज का बाहरी रूप बदलना और आदमी बनाना। दोनों ही काम करने होंगे।

मैंने सत्व, रज और तम के आधार पर तीन प्रकार के समाजवाद की चर्चा कई बार की है। विचार-परिवर्तन से जो समाजवाद आता है, वह सात्विक समाजवाद है, कानून से जो समाजवाद आता है, वह राजस समाजवाद है, और तलवार से जो समाजवाद आता है, उसे तामस समाजवाद कहना चाहिए। सात्विक समाजवाद तलवार और कानून से नहीं बन सकेगा। मनुष्य के बाहरी और भीतरी, समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में समन्वय लाना होगा। बाहर से समाजवादी और भीतर से पूँजीवादी, ऐसा बना रहेगा तबतक समाजवाद नहीं आयेगा।

लोकतंत्र और समाजवाद, दोनों ही के सम्बन्ध में अपने देश के शिक्षितों में दुर्भाग्यवश यह भ्रम फैला है कि इनका निर्माण राज्य के द्वारा ही किया जा सकता है। साथ-साथ शिक्षित समाज यह भी चाहता है कि राज्य-शक्ति का अधिक प्रसार न हो, और वह अपनी मर्यादा में रहे। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। मैं मानता हूँ कि जबतक इस पारस्परिक विरोध को हम अच्छी तरह समझ न लें तबतक भारतीय आकाश में नैराश्य की घटा फैलती ही जायेगी। इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि जो लोकतंत्र और समाजवाद राज्य के द्वारा स्थापित होगा वह न सही लोकतंत्र होगा, न समाजवाद ही।

परन्तु, जबतक हमारे देश के शिक्षित इस बात पर गम्भीरता से विचार नहीं करते कि जनता का

लोकतंत्र तथा समाजवाद के निर्माण में क्या और कैसे हाथ हो सकता है तबतक वे आलोचनाएँ ही करते रहेंगे और राज्य अपने मार्ग पर अग्रसर होता रहेगा। आजकल मेरा तो नित्य-प्रति यह अनुभव हो रहा है कि शिक्षित लोगों के मन में इस बात का क्षोभ या क्रोध भी बैठा हुआ है कि क्यों देश के कुछ समाजसेवी राजनीति से अलग-अलग है या शासन से क्यों दूर हैं ? इस मानसिक वातावरण का केवल एक ही परिणाम होता है कि राष्ट्रीय जीवन का एकमात्र केन्द्र राजनीति और राज्य बन जाते हैं।

स्वस्थ लोकतंत्र के लिए तथा सच्चे समाजवाद के लिए यह आवश्यक है कि बुद्धिजीवियों में से अधिकांश लोग नाना प्रकार की लोक प्रवृत्तियाँ, लोक संस्थान आदि का संस्थापन तथा संचालन करें। उसी प्रकार सच्चे समाजवाद के लिए आवश्यक है कि इस प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियाँ चलायी जायँ, मान्यताओं तथा आदर्शों का वातावरण निर्माण किया जाय, जिसमें समाजवादी मूल्य तथा समाजवादी संस्कृति का विकास हो।

समाजवाद के लिए शिक्षा को स्वतंत्र करें

इसलिए मैं आग्रहपूर्वक कहना चाहता हूँ कि जबतक अपने देश के वर्तमान बुद्धिजीवियों और शिक्षितों के मानस से राजनीति का भूत तथा राज्यावलम्बन के संस्कार नहीं छूटते हैं तबतक न हमारी शिक्षण संस्थाओं में प्राण आयेगा, न हमारी और प्रवृत्तियों में बल। परिणामतः लोकतंत्र और समाजवाद दोनों ही राज्य के हाथ के खिलौने बने रहेंगे। आज तो देखा यही जाता है कि ऐसी जितनी शिक्षण संस्थाएँ हैं, जो शासकीय नहीं है, उनकी हालत दयनीय है। मेरा विचार तो यह है कि शिक्षा राज्यशक्ति से सर्वथा स्वतंत्र रहनी चाहिए परन्तु आज तो जबतक राज्य का नियंत्रण इन संस्थाओं पर नहीं होता है तबतक उनमें दुर्गुणों का ही विकास दिखाई देता है। यह ठीक है कि इनमें कुछ अपवाद भी है।

यह जो दयनीय दशा जनता की, शिक्षण संस्थाओं की आज है वह मानसिक बीमारी है, जिसकी चर्चा हमने पहले की है। जबतक राज्य की मानसिक दासता से देश के शिक्षितों का उद्धार नहीं होता है तबतक लोकतंत्र और समाजवाद शब्द मात्र ही रहेंगे।

महात्मा गांधी ने जिस गणतंत्र की कल्पना रखी, उसमें अन्ततोगत्वा राज्य अथवा शासन-जैसी संस्था के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने एक राज्यहीन समाज (स्टेटलेस सोसाइटी) की कल्पना की थी। समाजवाद या साम्यवाद के विचार से जो परिचित हैं, वे जानते हैं कि कार्ल मार्क्स और लेनिन ने भी ऐसे समाज की कल्पना की थी, जिसमें सभी लोग अपनी व्यवस्था आप ही करेंगे, उनकी व्यवस्था करने के लिए, नियंत्रण या हुक्म करने के लिए, किसी संस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी, व्यक्ति का इतना विकास होगा कि शहर, गाँव और जिले में रहनेवाले लोगों पर ऊपर से दबाव देनेवाला कोई नहीं रह जायेगा।

अधिनायकवादी चिन्तन थोथा है

अब स्वराज्य के सत्रह वर्ष हो गये हैं। इतने दिनों में हममें इतनी क्षमता आनी चाहिए थी कि हम अपनी व्यवस्था स्वयं भी कुछ कर सकें, सारे देश में नहीं, तो कम-से कम प्रान्त, नगर और गाँव में कुछ कर सकें लेकिन ठीक उसका उलटा हुआ है, यानी जिस तरह और जिस दिशा में आज हमारी गति है, जिस दिशा में हम आज चल रहे हैं, इससे लगता है कि हम उसी जगह पर पहुँचेंगे, जहाँ लोग कहने लगेंगे कि यहाँ गणराज्य नहीं चल सकता, अधिनायकवाद ही चल सकता है, यहाँ 'डिक्टेटर' चाहिए, यानी हम २२-२३ करोड़ मतदाता इस लायक नहीं है कि अपना काम आप चला सकें, अब ठोकर और चाबुक मार कर, लात मार कर 'डिक्टेटर' काम कराये। कितने ही पढ़े लिखे लोगों ने मुझसे कहा है कि यह लोकतंत्री व्यवस्था नहीं चलेगी, 'डिक्टेटरशिप' होनी चाहिए।

जो 'डिक्टेटर' चाहता है वह मनुष्य नहीं, पशु, है, क्योंकि 'डिक्टेटरी' में आदमी जानवर बनता है। जैसे चाबुक मारकर गाय बैलों से काम कराया जाता है, 'डिक्टेटरशिप' में वही होता है। हम हड़ताल नहीं करेंगे, आठ घंटे के बदले बारह घंटे काम करेंगे, आज से दोगुना पैदा करेंगे, लेकिन यह तभी करेंगे जब 'डिक्टेटर' छाती

पर बैठा रहेगा, हम कर्तव्य समझकर ऐसा नहीं करेंगे।

पाकिस्तान में 'डिक्टेटरशिप' है, तो क्या हाल है वहाँ? पिछले वर्षों में वहाँ कम-से कम दस लाख व्यक्ति सीमा पार कर असम-बंगाल और त्रिपुरा में आये हैं। इसकी क्या वजह है? इसका मुख्य कारण यह है कि पाकिस्तान में यहाँ से भी ज्यादा गरीबी है। हमारे एक मित्र 'फारमोसा' गये थे। वहाँ से लौटकर उन्होंने कहा कि साम्यवादी चीन की अन्दरूनी हालत भयंकर है। वहाँ खाने को नहीं मिलता है। रूस से उसका जब से झगडा शुरू हुआ है, उन्हें मशीनरी नही मिल रही है। तो वे क्या करते है? पुरानी मशीनरी और कारखानों को तोडकर जहाँ-जहाँ पुर्जों की जरूरत होती है, वहाँ बैठा रहे है। एक हवाई जहाज को तोडकर दूसरे की मरम्मत करते हैं, और जब कि वहाँ की सरकार प्रेसिडेंट अयूब खां की सरकार से कही ज्यादा शक्तिशाली है। दूसरी पार्टियाँ नही है, सिर्फ एक कम्युनिस्ट पार्टी है। इसलिए जो 'डिक्टेटरशिप' की बातें करते है, उन्हें समझना चाहिए कि उससे समस्या हल होनेवाली नहीं है। समस्या तब हल होगी जब हम स्वय अपनी व्यवस्था करेंगे।

हमारे देश में तो 'डेमोक्रेसी' है। जहाँ अधिनायकवादी राज्य है, वहाँ भी देश का निर्माण सरकार नही कर सकती। फर्क इतना ही है कि लोकतन्त्र में लोग देश के निर्माण को अपना काम समझकर करते है, और 'डिक्टेटरी' में इसका उलटा होता है। वहाँ जनता को डिक्टेटर के हुक्म से, भय से, लाठी और डंडे के जोर से करना है। 'डिक्टेटरी' के अन्दर भी जो राज्य है, उसकी शक्ति बहुत सीमित है। जनता की शक्ति के मुकाबले राज्य की शक्ति बहुत थोडी होती है।

जन-शक्ति को जगायें

यह स्पष्ट है कि राज्य के पास जो शक्ति है, वह जनता की शक्ति के मुकाबले बहुत थोडी है। जन शक्ति और राज्य शक्ति का अनुपात दूध और जावन का अनुपात है। गाँव-गाँव और नगर-नगर में अगर जन-शक्ति तैयार हो और ऊपर से थोडी राज्य शक्ति का सहारा मिले, तो देश का निर्माण हो सकता है। आज हमारे देश में जन-शक्ति का नितान्त अभाव है। मिलकर काम करने की मनोवृत्ति तो देश में बिलकुल नही है। अगर पाँच आदमी कोई काम करते है तो उनको बिगाडने के लिए पाँच आदमी तैयार हो जाते है। ऐसी मनोवृत्ति अपने देश को छोडकर दुनिया में और कहीं नही है। जबतक यह मनोवृत्ति हम अपने दिमाग से नही निकालते, मिलजुलकर अपना काम स्वय करने की शक्ति पैदा नहीं करते, तबतक दिल्ली के तख्त पर चाहे किसी को बैठा दीजिए, देश आगे नही बढ सकता।

गाधीजी कहते थे कि गणतन्त्र ऐसा हो, जिसमें राज्य का लोप हो जाय। वे यह भी कहते थे कि भारत के गणतंत्र की बुनियाद दिल्ली और पटना में नहीं होगी, दिल्ली और पटना तो उस गणतन्त्र की इमारत पर छत की तरह होंगे, नगरों और गाँवों में नगर-राज्य और ग्राम-राज्य होंगे, जहाँ जनता स्वय अपना प्रबन्ध करेगी, और राज्य में बहुत अन्तर नही होगा। गाँवों में ग्राम-पंचायतें और नगरो में नगरपालिकाएँ उस गणतंत्र की बुनियाद होंगी।

आज गाँवों का बुरा हाल है। गाधीजी ने और पंडित नेहरू ने भी कई बार कहा कि जबतक गाँव की तरक्की नहीं होगी तबतक भारत आगे नहीं बढ सकता। शहरों में थोडा बहुत काम हुआ है, लेकिन गाँव का बुरा हाल है।

इसलिए आज की परिस्थिति में यह कहता हूँ कि जिन्हें देश का खयाल हो, जो देश के लिए कुछ करना चाहते हैं, उनका ध्यान गाँवों की ओर जाना चाहिए। पहले जो लोग अपने काम से अवकाश प्राप्त करते थे, वे गाँव में जाते थे, वहाँ उनका घर होता था, लेकिन आज तो गाँवों में कोई रहता नहीं है। गाँव छोडकर लोग शहरों में आ रहे है। शहर बस रहे है, लेकिन गाँव उजड रहे है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारे कदम फिर गाँव की तरफ मुडें, क्योंकि वही हमारी बुनियाद है।

●

भारतीय संस्कृति और लोकतांत्रिक समाजवाद

•

भक्तवत्सलम्

भारतीय विचार, साहित्य और संस्कृति में समाजवाद का सिद्धान्त नया नहीं है। सम्पत्ति से उत्पन्न सामाजिक भेदभाव, गरीबी और भुखमरी से रहित समाज व्यवस्था की कल्पना करने में भारत के दार्शनिक, विचारक और कवि पीछे नहीं रहे। विशेषतया तमिल साहित्य में अभाव, रोग और विषमता से रहित समाज का उल्लेख कई स्थानों पर मिलेगा।

तमिल साहित्य और समाजवादी कल्पना

तमिल साहित्य के संगमकाल में एक कवि ने कहा है—"प्रत्येक स्थान मेरा स्थान है और प्रत्येक व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है।"

तिरुवेल्लुवेर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तिरुकुरल में सम्पत्ति का समतापूर्ण वितरण सर्वोच्च सिद्धान्त बताया है। उन्होंने एक स्थान पर कहा है—"जिसने ऐसी दुनिया में ऐसे हालात पैदा किये हैं, जिनमें मनुष्य को भिक्षा माँगकर गुजर-बसर करने के लिए बाध्य होना पड़ा, वह खत्म हो जाना चाहिए।"

महान कवि कम्बर ने, जिन्होंने तमिल भाषा में रामायण लिखी है, अयोध्या राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है—"यहाँ न तो कोई भीख देता है और न भिखारी हैं।" एक अन्य कवि ने वैदेही नगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ देश के प्राकृतिक साधन और वस्तुएँ जनता की सम्पत्ति थी और उनका वितरण सम-दृष्टि से लोगों में किया जाता था। सन्त थियुमनावर ने, जो तमिलनाड के महान भक्त कवि हैं, अपने गीत में कहा है—"सारी दुनिया को मेरी खुशियों में हिस्सा बँटाने दो।" यहाँ उन्होंने केवल अपने आध्यात्मिक अनुभव के आनन्द का ही उल्लेख नहीं किया है, बल्कि नैतिक न्याय और समता के आधार पर देश में प्राप्त साधनों को बाँटने की बात भी कही है।

देश-भक्त कवि सुब्रह्मण्यम् भारती ने, जो हमारे समय में ही हुए हैं, समाजवादी विचारधारा का अधिक स्पष्ट ढंग से उल्लेख किया है। उन्होंने अपनी एक कविता में कहा है—"यदि एक भी व्यक्ति बिना भोजन के रहता है तो हम तमाम दुनिया को खत्म कर देंगे।"

हमारे देश के साहित्य में समाजवाद की कल्पनाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। समाजवादी धारणा हमारे महान विचारकों और सन्तों के मन और मस्तिष्क में कई पीढ़ियों से काम करती रही हैं, जिसने उन्नत होकर आज की धाराओं में विविध रूपों में नया रूप धारण किया है।

स्वामी विवेकानन्द सबसे पहले देशभक्त थे, जिन्होंने हमारी विचारधारा को समाजवाद की दिशा बतायी। देश में व्याप्त गरीबी, निरक्षरता और रोग के खतम करने की आवश्यकता पर उनके प्रवचन समाजवादी विचारों से ओत प्रोत हैं। उन्हें हमारे समाजवादी ढंग पर सोचने के लिए प्रथम देश-भक्त सन्त की संज्ञा दी जा सकती है।

भारतीय समाजवादी चिन्तन और नेहरू

सोवियत रूस में क्रान्ति आ जाने के पश्चात् कुछ लोग और भी ज्यादा समाजवाद के बारे में सोचने लगे। लेकिन, उनके विचार हमारे देश की संस्कृति और जीवन-शैली से इतने भिन्न थे कि उनका जनता के दिमाग पर असर नहीं पड़ सका। कम्युनिस्ट अथवा समाजवादी विचारधारा के प्रचार के लिए, जो दूसरे संगठन बाद में बने उनमें भी इसी प्रकार की कमी थी और इसलिए वे जनता पर अधिक प्रभाव डालने में सफल नहीं हुए, लेकिन विश्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में समाजवादी चिन्तन की ओर सुस्पष्ट प्रवृत्ति पहली बार दिखायी दी। श्री जवाहरलाल नेहरू ने, जो इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे, घोषणा की—

"समाजवाद की विचारधारा धीरे धीरे तमाम दुनिया में समाज के ढाँचे में रमती जा रही है और इसको पूरी तरह हासिल करने के लिए किसी तेजी से कौन से तरीके अपनाये जायँ, केवल यह प्रश्न ही विवादास्पद है। भारत को भी यह मार्ग अपनाना होगा। यदि यह अपने यहाँ से गरीबी और विषमता खत्म करना चाहता है, तो उसको अपने देश की प्रतिभा के अनुरूप तरीके अपनाने होंगे।"

श्री जवाहरलाल नेहरू की इस स्पष्ट घोषणा का बहुत से कांग्रेसजनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कांग्रेसजनों का यह वर्ग प्रतिवर्ष जोर पकड़ता गया। १९३१ में कराँची कांग्रेस ने बुनियादी अधिकारों सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में अन्य बातों के अतिरिक्त प्रमुख उद्योगों और खनिज उद्योगों इत्यादि पर राजकीय नियन्त्रण रखने के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। १९३६ के लखनऊ-कांग्रेस-अधिवेशन में श्री जवाहरलाल नेहरू पुनः अध्यक्ष बने। उन्होंने कहा—

"मैं देश में समाजवाद को आगे बढ़ाना चाहता हूँ; लेकिन इस प्रश्न को कांग्रेस-अधिवेशन में रखकर आजादी की लड़ाई के मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करना नहीं चाहता।" इतना कहकर उन्होंने यह भी कहा कि वह उचित समय के भीतर कांग्रेस और देश को समाजवाद की दिशा में अग्रसर कर देंगे।

संविधान के समाजवादी तत्त्व

देश और कांग्रेस में समाजवाद आसानी तथा जल्दी से नहीं लाया जा सका। इस दिशा में प्रगति धीरे-धीरे हुई। संविधान सभा ने भारत का संविधान बनाया और इसमें राज्य की नीति के निम्नलिखित निर्देशक तत्व रखे गये—

क—समान रूप से नर और नारी—सभी नागरिकों—को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,

ख—समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि वह सामूहिक हित का सर्वोत्तम साधन हो।

ग—आर्थिक-व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो।

समाजवाद की स्थापना की ओर यह एक बहुत बड़ा कदम था, लेकिन वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आवडी अधिवेशन (१९५५) में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना की घोषणा स्पष्ट रूप से की गयी। आवडी-कांग्रेस-अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ—

"कांग्रेस संविधान की धारा एक में दिये गये कांग्रेस के लक्ष्य की प्राप्ति और भारतीय संविधान की राज्य-नीति के हिदायती उसूलों व प्रस्तावों में लिखे उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए योजना इस तरह बनायी जानी चाहिए कि एक ऐसी समाजवादी ढंग की व्यवस्था कायम हो सके, जिसमें उत्पादन की रफ्तार बढ़ी हुई हो व राष्ट्र की दौलत का वाजिब बँटवारा हो।"

आवडी में इस प्रस्ताव के पास होने के पश्चात् घटना-चक्र ने तेजी पकड़ा। केन्द्र और राज्यों में अनेक कानून बने, जिनके अन्तर्गत जमींदारी खत्म हुई, मूल उद्योगों और प्रतिष्ठानों के नियंत्रण और स्वामित्व तथा श्रम-प्रबन्ध-सम्बन्धी इत्यादि के बारे में नियम बनाये गये, जिनसे स्पष्टतया समाजवादी प्रवृत्ति का आभास मिलता है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के हाल में हुए जयपुर-अधिवेशन से स्पष्ट हो गया है कि भारत का राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्य लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना करना है।

लोकतांत्रिक समाजवाद का स्वरूप

लोकतन्त्रात्मक समाजवाद के स्वरूप की किसी भी तरह व्याख्या नहीं की जा सकती। इसका स्वरूप व्यापक है और इसमें सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परम्पराओं तथा राजनीतिक पृष्ठ भूमि के अनुसार लोकतन्त्र और समाजवाद-सम्बन्धी विचारों को हमें लाना है। हमने लोकतन्त्र की ब्रिटिश परम्पराओं को अपने अनुभव के आधार पर अपनाया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकार बनकर भी हम संसदीय पद्धति की अच्छाइयों से अनभिज्ञ नहीं रहे। स्वाधीनता मिल जाने के बाद लोकतन्त्र में हमारा विश्वास और भी दृढ़ हुआ और हमने अपने यहाँ सरकार की संसदीय पद्धति अपनायी।

देश में व्याप्त भुखमरी, निरक्षरता और रोग को मिटाना है, जिसको खत्म करने की विदेशी हुकूमत ने परवाह नहीं की। अल्पविकसित देश की इन बुराइयों को केवल कृषि और उद्योग के विकास से दूर किया जा सकता है। इसके लिए स्थानीय और बाहरी साधनों को लोगों में समतापूर्वक बाँटन की व्यवस्था करनी होगी, जिससे लोगों के जीवन की आर्थिक विषमताएँ दूर हो सकें।

समाजवाद का जो स्वरूप हम अपने यहाँ विक-सित करना चाहते हैं उसमें कम्युनिस्ट राज्य की तानाशाही और अनियंत्रित निजी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की बुराइयों को कोई स्थान नहीं होगा।

●

मैं किसी को नहीं भगाता

●

उपाध्याय अमर मुनि

एक बार अन्धकार इन्द्र की सभा में शिकायत लेकर पहुँचा—"महाराज! आप-जैसे न्याय-परायण शासक के होते हुए भी मेरी सुनवाई नहीं होती, बड़ी परेशानी में हूँ।"

इन्द्र ने कहा—"कहो! तुम्हें क्या कष्ट है?"

अन्धकार ने कहना शुरू किया—"महाराज! मैं अन्धकार हूँ, जहाँ भी जाकर अपनी सत्ता जमाता हूँ, कुछ क्षण में ही सूर्य आकर मुझे खदेड़ देता है, कहीं भी मेरे पाँव जमने नहीं देता। आखिर मुझे भी तो जीने का अधिकार मिलना चाहिए। आप सूर्य से कहिए कि वह मेरा पीछा छोड़ दे।"

इन्द्र ने सूर्य को बुलाया। सूर्य के द्वार पर आने की सूचना मिली कि अन्धकार ने कहा—"अच्छा महाराज, नमस्कार, मैं चला!"

इन्द्र ने कहा—"जरा रुको, अभी दोनों को आमने-सामने कराकर न्याय करा देता हूँ।"

अन्धकार सकपका कर पीछे की मोरी से भागते हुए बोला—"जब सूर्य चला जाय, तब मुझे बुला लीजिएगा।"

इन्द्र ने सूर्य से कहा—"तुम उसे क्यों परेशान करते हो?"

सूर्य ने निवेदन किया—"महाराज! मैंने तो आज तक अन्धकार की सूरत भी नहीं देखी, जरा उसे बुलाइए तो, उसका हुलिया भी देखूँ कि अन्धकार कैसा होता है?"

इन्द्र ने उसे बुलाया तो उसने कहा—"सूर्य को चले जाने दीजिए, उसके सामने तो मैं किसी प्रकार नहीं आ सकता।"

सूर्य ने कहा—"महाराज! मैं किसी को नहीं भगाता, किन्तु मेरे पहुँचते ही उसके पाँव उखड़ जाते हैं तो मैं क्या करूँ?

●

लोकतांत्रिक समाजवाद
और
शिक्षा

•

शिरीष

आज हम-आप विज्ञान के युग से गुजर रहे हैं। नित नयी खोजें हो रही हैं। नये नये सत्य सामने आ रहे हैं। पुरानी मान्यताएँ मिट रही हैं, नयी स्थापित हो रही हैं। धरती सिमटती जा रही है, आकाश झुकता जा रहा है। अनजाने रहस्यों की गाँठें एक एक करके खुलती जा रही हैं। ऐसी हालत में लोकतंत्र की कोई सार्वभौम परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकती। फिर भी अगर लोकतंत्र के बारे में कुछ कहना हुआ तो उसे मात्र एक व्यापक जीवन-दर्शन कहा जा सकता है।

लोकतंत्र क्या ?

लोकतंत्र में हमारी विधान-सभाएँ हों और हरेक बालिग को वोट देने का अधिकार हो, इतना ही अर्थ समझना भारी भूल होगी, क्योंकि यह लोकतंत्र का अधूरा चित्र हुआ, यह तो सिर्फ बाह्य राजनीतिक लोकतंत्र हुआ। इसके अलावा हमारे लिए आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र आवश्यक है।

और, जहाँ आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र आया कि वही होगा हमारा सच्चा लोकतंत्र। दूसरे शब्दों में वही होगा हमारी कल्पना का समाजवाद। इस तरह लोकतंत्र और समाजवाद को अलग अलग इकाइयों में नहीं बाँटा जा सकता। वास्तव में दोनों का एक दूसरे से इतना गहरा सम्बन्ध है कि वे एक दूसरे में विलीन हो गये हैं। इसलिए एक पूँजीवादी देश भी, जिसके यहाँ लोकतंत्रीय शासन-पद्धति चालू है, अपने को बिना किसी हिचक के समाजवादी कहता है और कम्युनिस्ट देश अपने को लोकतंत्रीय।

समाजवादी चिन्तन क्यों ?

१९ वीं शती में योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। उसने पुराने आर्थिक ढाँचे को खंड खंड कर दिया। सम्पत्ति कुछ गिने-चुने लोगों के पास इकट्ठी होने लगी। यही कारण था कि दूरदर्शी विचारकों को समाजवादी समाज के सम्बन्ध में विचार करने के लिए विवश होना पड़ा।

प्रत्येक देश की अपनी भौगोलिक परिस्थिति होती है, अपने रीति रिवाज होते हैं, अपनी प्रतिभा होती है, अपने संस्कार होते हैं, अपनी परम्पराएँ होती हैं और अपने ढंग की सामाजिक व्यवस्था होती है। इसलिए समाजवाद का लक्ष्य एक होते हुए भी उसकी प्राप्ति के प्रयत्न और उसके स्वरूप अलग अलग हो सकते हैं और होने चाहिएँ।

भुवनेश्वर में लोकतांत्रिक समाजवाद के स्वरूप का परिष्कार हुआ है, लेकिन इसकी कल्पना तो कांग्रेस में बहुत पहले से चली आ रही थी। सन् १९३१ के कराची प्रस्ताव, जयपुर-प्रस्ताव और आवडी-प्रस्ताव में इस विचार का बीज रूप मौजूद मिलेगा। लाहौर तथा लखनऊ अधिवेशनों में श्री नेहरू ने स्पष्टतापूर्वक समाजवादी विचारधारा की बात कही थी, और गांधीजी का तो सारा जीवन आदर्श समाजवाद पर ही खड़ा था।

लोकतांत्रिक समाजवाद के आधार

यह सच है कि समाजवादी आन्दोलन का उद्देश्य मानवीय चेतना को जागरित करना है, लेकिन यह सम्भव कैसे हो? हम चाहते तो हैं अपनी पुरानी व्यवस्था को बदल देना, लेकिन हम उसमें बदल क्यों नहीं कर पा रहे हैं? हमारा लालन पालन सामन्तवादी समाज में हुआ है या उसकी छत्रछाया में, इसलिए हमारा रहन सहन दूसरे ढंग का है, सोचने विचारने के हमारे तरीके अलग हैं। जबतक हम उसमें आमूल-चूल परिवर्तन की बात नहीं

सोचेंगे, कुछ नहीं होनेवाला है। समाजवाद को लाने के लिए आज के समाज के ढाँचे को सिरे से बदलना होगा। यह काम सरकार से नहीं होने का। सम्भव है, सरकारी प्रयत्नों से कुछ तात्कालिक लाभ हो जाय, लेकिन वह समाजवाद नहीं होगा।

आज से कुछ दिनों पहले महान चिन्तक मार्क्स ने समाजवाद की एक परिभाषा तय की, लेकिन उसके बाद की परिस्थितियों ने हमारे समाज का सारा चित्र ही बदल दिया। परिणामतः आज वह परिभाषा उचित नहीं रह गयी, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि समाजवाद के स्वरूप की कोई कल्पना ही न की जाय।

लोकतांत्रिक समाजवाद में समाज रचना का पुनर्गठन करना होगा। उसमें सबको समान अधिकार, काम और श्रम के अनुसार निश्चित वेतन प्राप्त होगा। सबको काम प्राप्त करने का अधिकार होगा। हम यही चाहते हैं कि जनता की हर प्रकार की विषमताएँ, जिनका हमारे समाज में जाल बुना हुआ है, कम हों, खत्म हो जायँ, बलवान निर्बलों को न सतायें, उनका शोषण न करें, हर छोटे बड़े को समान रूप से सामाजिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो।

भुक्खड़ों का समाजवाद नहीं होता

बर्नार्ड शा के शब्दों में समाजवाद में अपव्यय और अव्यवस्था के प्रति अर्थशास्त्री को घृणा होगी, अन्याय और उत्पीड़न के प्रति वकील को घृणा होगी, रोग और अस्वस्थता के प्रति डाक्टर के मन में घृणा होगी, अश्लीलता के प्रति कलाकारों के मन में घृणा होगी। तो वह होगा सच्चा समाजवाद।

अब प्रश्न यह है कि यह सब होगा कैसे? गरीबी को हम कैसे उखाड़ फेंकेंगे? हमारे समाज की जड़ें खोखली हो गयी हैं। उनमें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिस्थापन करना है। यह काम कैसे होगा? क्या भुखमरी का भी कोई समाजवाद होगा? अगर भुखमरी, गरीबी और आश्रयहीनता की नींव पर समाजवाद का महल खड़ा नहीं हो सकता तो उसके लिए आर्थिक समृद्धि जरूर पहली शर्त होगी। और, यह बिना विज्ञान के और बिना तकनीकी शिक्षण के सम्भव नहीं।

समाजवादी स्वप्न साकार कैसे हो?

आवश्यकता इस बात की है कि साइंस और तकनीकी शिक्षण के बल पर देश को गरीबी के शिकंजे से छुड़ाया जाय। हर छोटे बड़े के लिए रोटी-रोजी सुलभ की जाय। आज विज्ञान की उपेक्षा करके कोई देश अपना विकास नहीं कर सकता, सुख और समृद्धि के सपने नहीं सँजो सकता।

लेकिन, क्या केवल विज्ञान की उन्नति मात्र से ही समाजवाद आ जानेवाला है? स्पष्ट उत्तर है नहीं। इसके लिए हमें दूसरे ठोस कदम उठाने होंगे। और, वे कदम होंगे उत्पादन के समान वितरण की व्यवस्था-सम्बन्धी। सम्पत्ति पैदा करने के ढंग में विकास करना एक बात है, और उस पैदा की हुई सम्पत्ति को पूरे समाज में समान रूप से बँटवारा करना दूसरी बात। नपे-तुले शब्दों में कहा जा सकता है कि लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की उपलब्धि बिना आर्थिक साधनों के विकेन्द्रीकरण के सम्भव नहीं है। यह तो तभी सम्भव है जब आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण यानी उत्पादन के साधनों पर सहकारी स्वामित्व स्थापित हो।

सीख और सबक के लिए हमारी निगाह इतिहास की ओर जाती है। हम पिछले कदमों के निशान से उसकी मजबूती का पता लगाते हैं, और अपने उठाये जानेवाले कदमों के बारे में एक निश्चित राय कायम करते हैं। इस संदर्भ में कम्युनिस्ट देशों में समाजवाद कहाँ तक है, हमें विचारना है। माना कि रूस और दूसरे कम्युनिस्ट देशों में साधनों पर निजी स्वामित्व नहीं है, लेकिन वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता कहाँ? कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा दूसरी पार्टी शासन ही नहीं कर सकती। हालाँकि उसे वहाँ के लोग जनतंत्र कहते हैं, लेकिन वहाँ सच्चा जनतंत्र है नहीं।

कुछ ऐसे भी देश हैं जो कम्युनिस्ट नहीं हैं, लेकिन समाजवादी हैं। जैसे—स्केंडनेविया और स्वीडेन। स्वीडेन में निःशुल्क शिक्षा का पूरा-पूरा प्रबंध है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुरूप रोजगार मिला हुआ है, लेकिन, वहाँ की व्यवस्था केन्द्रीय औद्योगीकरण पर आधारित है। देश छोटे हैं, इसलिए शायद वहाँ यह पनप सका है।

समाजवाद की मूलभूत आवश्यकताएँ

लोकतान्त्रिक समाजवाद की दो महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं—पहली शासन के अधिकारियों में ईमानदारी, जिसे संविधान की आत्मा कह सकते हैं, और दूसरी जनता में राजनीतिक चेतना जगाना। ये दोनों लोक शिक्षण से ही सम्भव हैं।

जबतक जनता की सहमति नहीं प्राप्त होगी और वह अपनी बात मनवाने में शान्ति-पूर्ण साधनों का उपयोग करने की अभ्यस्त नहीं होगी तबतक लोकतान्त्रिक समाजवाद की हमारी कल्पना आकाश-कुसुम से अधिक महत्व नहीं रखेगी। इसके लिए हमें आर्थिक समाजवाद लाने के भगीरथ प्रयत्न करने होंगे, और प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतम योगदान अपेक्षित होगा, और यह योगदान बिना अधिकतम त्याग के सम्भव नहीं है।

आर्थिक समाजवाद लाने के गुर

भारत में आर्थिक समाजवाद लाने के लिए—

- खेती की उन्नति—करनी होगी-भूमि का बिखराव, खाद और सिंचाई की कमी, वैज्ञानिक उपकरणों की कमी, श्रम की कमी, एक आदमी के पास आवश्यकता और उपयोग से अधिक जमीन का होना आदि समस्याओं का जड़मूल से हल निकालना होगा,
- लघुउद्योगों को बढ़ावा देना होगा,
- विद्युत शक्ति का विकास करना होगा, यहाँ तक कि खेती में भी इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा सके,
- मशीनों के बनाने का काम तेजी से करना होगा,
- प्राइवेट उत्पादन-केन्द्रों को शासन में लेना होगा,
- एकाधिकार की पूर्ण समाप्ति करनी होगी, और
- तकनीकी जानकारी बढ़ानी होगी।

अवरोधक तत्व और उन्हें दूर करने के उपाय

तकनीकी जानकारी के सम्बन्ध में इतना सोचना होगा कि हमारे कुशल तकनीकी जानकार विदेश की ओर क्यों खिंचते जा रहे हैं। शायद विदेश में उन्हें वैज्ञानिक साधनों की सहूलियत उनके खिंचाव का कारण बनती है। इसके अलावा वहाँ का आर्थिक लाभ भी कम आकर्षक नहीं। यह सच है कि समाजवाद लाने के लिए वेतन के अनुपात में कम से कम अन्तर रखना होगा, लेकिन यह अनुपात आज की समस्याओं और जरूरत को देखते हुए उतना नहीं रखा जा सकता, जितना आज से २०—२५ साल बाद। हमें खूब सोच समझकर कदम उठाना है और हर कदम फूँक-फूँक कर रखना है। जरा-सी असावधानी से लाभ के बदले नुकसान उठाना पड़ सकता है। यह तो स्पष्ट है कि विदेशों में हमारे जो तज्ञ लोग हैं उनके हृदय को भी देशभक्ति की भावना छूती है। वे देश के लिए आर्थिक लाभ का आग्रह छोड़ सकते हैं, बशर्ते कि हमारे देश में उसका मंगलमय वायुमंडल हो।

इनके अवरोधक तत्वों को दूर करने के लिए—

- विशेष वेतन और विशेष सुविधाएँ अगर देनी ही पड़ें तो हमें प्राविधिकों को देनी होंगी।
- बढ़ती हुई आबादी पर नियन्त्रण करना होगा, क्योंकि ऐसा न होने से खाने की चीजों की माँग बढ़ जाती है, बच्चों को पढ़ाने लिखाने की जरूरतें बढ़ जाती हैं, और बेकारी बढ़ जाती है।
- बुढ़ापे में आश्रय की अनिश्चितता दूर करनी होगी। बुढ़ापे में सबके लिए आवश्यक खान-पान, वस्त्र और आवास की जिम्मेवारी राज्य को उठानी होगी।

हमारे देश में लगभग १ लाख परिवारों की ५० हजार से भी अधिक वार्षिक आय है, जबकि १ करोड़ परिवारों की १ हजार से भी कम है। आर्थिक विषमता की भयानक खाई को हमें हर मूल्य पर यथा शीघ्र पाटना है। इस स्वार्थ भरी संग्रह वृत्ति का एक कारण भावी कल की आशंका भी है। जहाँतक इस कारण का सम्बन्ध है, जब सुरक्षा की भावना बन जायेगी तो ऐसा नहीं होगा। इसके लिए समाज के संगठन में परिवर्तन की जरूरत होगी।

लोकतान्त्रिक समाजवाद की मौलिक आवश्यकताएँ

लोकतान्त्रिक समाजवाद लाने के लिए आवश्यक है कि—

- लोकतन्त्र और समाजवाद के आपसी सम्बन्धों को मजबूत बनाया जाय, क्योंकि बिना लोकतन्त्र के समाजवाद लाना आज की परिस्थिति में लाभकर नहीं।
- राष्ट्रीय सम्पत्ति की इतनी वृद्धि की जाय कि प्रत्येक नागरिक को न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त हो सके।
- राष्ट्रीय सम्पत्ति का समानता की दृष्टि से वितरण किया जाय, ताकि न्यूनतम आय और अधिकतम आय की असमानता कम-से-कम हो जाय।

- पंचायत और सहकारी समितियों द्वारा सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाय।
- ऐसे स्कूल बन्द किये जायँ, जिनमें अधिक पैसावालों के ही बच्चे पढ़ सकें। आर्थिक और सामाजिक स्थिति में रुकावट न डालनेवाली नयी शिक्षण संस्थाएँ खोली जायँ।
- निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था जल्द-से जल्द की जाय।
- धर्म निरपेक्षता का प्रतिस्थापन प्रत्येक स्तर पर किया जाय।
- क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त हिन्दी सबको सीखनी पड़े और हिन्दीवालों को एक दूसरी क्षेत्रीय भाषा सिखायी जाय।
- सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, दूसरों के विचारों का आदर और सम्मान भावना की प्रतिस्थापना लोक मानस में की जाय।
- शुद्ध आचरण की आदत डाली जाय।
- सम्पूर्ण मानव एक है, ऐसी प्रतीति जगायी जाय।

लोकतांत्रिक समाजवाद और शिक्षा

लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए जिन उपर्युक्त बुनियादी तत्वों की जरूरत है, उनके लिए मात्र एक ही रास्ता है, और वह है शिक्षा का। जबतक शिक्षा के स्वरूप का आज के सन्दर्भ में निर्धारण नहीं किया जाता, उसका पुनर्गठन नहीं किया जाता, लोकतांत्रिक तत्वों का विकास नहीं हो सकता। हमें लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए नये मानव का निर्माण करना है और यह काम सरकार नहीं कर सकती, इसे तो सामाजिक चेतना के आधार पर शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है। शिक्षा के स्वरूप और गठन के सम्बन्ध में आचार्य राममूर्ति के विचार उल्लेखनीय है। वे लिखते है—

"ग्राम सभा, ग्राम पंचायत और ब्लाक के ग्रामदान संघ के आधार पर ही हमारी शैक्षणिक प्रवृत्तियाँ संगठित होगी—ग्राम सभा के स्तर पर, बुनियादी शाला, पंचायत सभा स्तर पर उत्तर बुनियादी शाला और ग्रामदान संघ के स्तर पर ग्रामीण विश्वविद्यालय। •

"हम पूरे ग्रामदानी गाँव को अपनी बुनियादीशाला मानेंगे, जिसके तीन वर्ग होंगे—एक, प्रौढ़, जो खेती आदि का उत्पादक काम करते है, दो, किशोर, जो उत्पादक कार्यों में अपने माता पिता के सहायक होते है, तीन, बच्चे, जो स्कूल में पढ़ते हैं या घरेलू कामों में फँसे रहने के कारण स्कूल नहीं जा पाते। पहले हम प्रथम वर्ग से यानी प्रौढ़ों की दीक्षा से शुरू करेंगे। प्रौढ़ तरह-तरह की क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ करता है, इसलिए वे ही क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ हमारे शिक्षण का माध्यम बनेंगी, और हमारा कार्यकर्ता—वह जो योग्य होगा—उनका सहयोगी और दिग्दर्शक होगा।

'ब्लाक के विशेषज्ञ भी अपने ज्ञान का लाभ पहुँचाने का काम कर सकेंगे। प्रौढ़ों को हम तुरत साक्षर बनाने की कोशिश नहीं करेंगे, हम विज्ञान से शुरू करेंगे—भौतिक विज्ञान और समाज विज्ञान से। भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत खेती, खाद, मिट्टी, पानी, मौसम, वृक्ष और पशु आदि की सामान्य उपयोगी बातें विज्ञान की कई शाखाओं से सम्बन्ध रखती है, और तत्काल उत्पादन बढ़ाने में सहायक होती है। बहुत कुछ ज्ञान खेत में, खलिहान में, या ग्राम की आपसी बैठक में देना पड़ेगा और उसकी पद्धति विकसित करनी पड़ेगी।

"कुछ उत्साही युवकों के लिए अधिक जानकारी और अनुभव प्राप्त कराने की विशेष व्यवस्था करनी पड़ेगी, ताकि उत्पादक श्रम अधिक से अधिक सक्षम हो और श्रम में श्रमिक की बुद्धि लगे, और श्रम के प्रति रुख बदले। ग्रामदान में स्वामित्व की समाप्ति और ग्रामसभा के बन जाने के कारण जिस तरह का वातावरण बनने की कल्पना है उसमें दृष्टि और भूमिका (ऐटीट्यूड और परस्पेक्टिव) का उर्ध्वीकरण (सब्लिमेशन) आवश्यक भी है, और सम्भव भी।

'समाज विज्ञान के अन्तर्गत शुरू से ही यह प्रयत्न होगा कि लोगों के जीवन में सहकार की परिधि निरन्तर बढ़ती रहे। सहकार की परिधि का विकास चित्त शुद्धि की प्रक्रिया के अन्तर्गत है। ग्राम का सत्संग धर्म ग्रन्थों का पाठ, भजन कीर्तन चोरी चमारी, झगड़ा आदि समस्याओं पर सामूहिक चर्चा, श्रम सहकार, एक दूसरे की सेवा आदि से सहकार शक्ति प्रकट होगी। योजनापूर्वक सहकार के प्रसंग बनाने पड़ेंगे। जैसे, जो चरखा चलाना जानता है वह न जाननेवाले को सिखाये, जो पढ़ा है वह अपढ़ को पढ़ाये, असहाय की सहायता दी जाय, बीमार की चिन्ता की जाय, कुछ उत्सव सामूहिक रूप से मनाये

जायें आदि ऐसे उपाय है, जो दिल को दिल से जोड़ते है, और परस्पर विश्वास पैदा करते है ।

"किशोरों के लिए दो काम करने होंगे । वे प्रौढ़ों के साथ उत्पादन की उन्नत प्रक्रियाएँ तो सीखें ही, साथ ही शाम को घंटे-दो घंटे की पढाई भी करें । पढ़ाई के साथ-साथ उनके लिए स्वस्थ मनोरंजन की बात भी सोची जानी चाहिए । इस दृष्टि से लोकगीत, नृत्य और लोकमंच का महत्वपूर्ण स्थान है ।

"बच्चों को तत्काल सरकारी स्कूलों से हटाने की जरूरत नही है । वे वही पढ़ें, लेकिन गाँव में अगर कोई शिक्षक है या शिक्षण वृत्ति का शिक्षित व्यक्ति है, तो एक संस्कार-मन्दिर खोला जाय, जिसमें बच्चे रहें, लेकिन खाना घर में खायें और दिन में स्कूल जायें । संस्कार-मन्दिर की चार प्रवृत्तियाँ होंगी—पढ़ाई, खेलाई, कताई और सफाई । इसके अन्तर्गत साग-सब्जी की थोड़ी खेती भी आयेगी ।

"स्त्री कार्यकर्त्रिया के मिलने पर बहुओं और बेटियों को कताई, सिलाई, शिशु-पालन, गृह-व्यवस्था और पर्व-उत्सव आदि मनाने के ढंग सिखाये जा सकते हैं ।

"इस तरह पूरे गाँव को बुनियादीशाला मानकर शैक्षणिक और आर्थिक कार्यक्रमो का समन्वय किया जा सकता है । आगे चलकर इसी दिशा में पंचायत सभा के स्तर पर उत्तर बुनियादीशाला होगी । ग्रामदान संघ के स्तर पर विश्वविद्यालय होगा । जिस तरह बुनियादीशाला का माध्यम होगी गाँव में चलनेवाली उत्पादक और सामाजिक क्रियाएँ और गाँव का हर व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में बुनियादी शाला के अभ्यास क्रम के अन्तर्गत होगा, उसी तरह उत्तर बुनियादी शाला उत्पादन और आपसी सम्बन्धों के क्षेत्र में आनेवाली समस्याओं का समाधान ढूँढेंगी और 'एक्सटेंशन सर्विस' के रूप में उन्नत उपाय सुझायेंगी । ग्रामदानसंघ के स्तर का विश्वविद्यालय विकास और समन्वित समाज की संभावनाओं पर अध्ययन, शोध और प्रयोग करेगा तथा ग्रामदान-संघ और नीचे की शालाओं को सलाह देगा । एक ओर खेती, भूमिसुधार, भूमि और जल संरक्षण, पशु-पालन, वृक्ष-सेवा और फल संरक्षण, ग्रामीण इंजिनियरिंग, सिल्प, वस्त्रविद्या, कुम्हारी, बढ़ईगिरी, लोहे का काम आदि तथा दूसरी ओर सामाजिक तनाव और संघर्ष आदि में मौलिक शोध का काम विश्वविद्यालय करेगा ।"

लोकतान्त्रिय समाजवाद लाने के लिए हमें प्रत्येक बच्चे को, चाहे उसकी आर्थिक स्थिति कितनी ही खराब क्या न हो, शिक्षा उपलब्ध करनी होगी । कम से-कम हाईस्कूल तक की शिक्षा तो अनिवार्य और मुफ्त होनी ही चाहिए । जहाँतक आर्थिक प्रश्न है, इसकी नैतिक जिम्मेदारी वैसे तो सरकार की है लेकिन आज की स्थिति में ऐसा होना सम्भव नही दीखता, इसलिए इस जिम्मेवारी का बोझ सरकार के साथ-साथ जनता को भी उठाना होगा । इसके अतिरिक्त शिक्षा के अनावश्यक खर्च को भी घटाना होगा ।

बापू ने प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में जोर देकर कहा था कि इसे स्वावलम्बी होना ही चाहिए । जबतक हमारी प्रारम्भिक शिक्षा स्वावलम्बी नही होती और स्कूल की चहारदीवारी तोड़कर वह बाहर नही निकलती, इसे अनिवार्य कभी नहीं बनाया जा सकता । विषयगत शिक्षण के साथ-साथ औद्योगिक शिक्षण और तकनीकी शिक्षण पर विशेष बल देना होगा । सामाजिक शिक्षण, जिसकी हमारे यहाँ अभी तक भरपूर उपेक्षा होती आयी है, सुव्यवस्थित और सुनियोजित ढंग से देना होगा । आचारिक शिक्षा को, जिसकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है, प्रारम्भ से ही पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में रखना होगा ।

इसके लिए आवश्यकतानुसार अध्यापकों के प्रशिक्षण-शिविर समय-समय पर चलाने होंगे और उनमें नया जीवन, नयी स्फूर्ति और प्रेरणा भरनी होगी । उनकी सोयी कर्तृत्व शक्ति को जगाना होगा ।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वास्थ्य की सेवाएँ मिलनी चाहिएँ । रोजगार मिलना चाहिए । भोंडे जातिगत संस्कार मिटने चाहिएँ । ऊँच-नीच का कोढ़ दूर होना चाहिए । हर प्रकार के भेद-भाव खत्म होने चाहिएँ । ये सभी कार्य लोकशिक्षण के क्षेत्र में ही आते हैं ।

इस प्रकार शिक्षण के सतत जागरूक प्रयत्नों के बाद ही लोकतांत्रिक समाजवाद का सपना साकार हो सकता है ।

●

समतावादी समाज के आधार

•

चेस्टर बाउल्स

[भारत में अमेरिकी राजदूत चेस्टर-बाउल्स ने १४ फरवरी '६४ को कलकत्ता-विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह पर किये गये भाषण में ऐसी शिक्षा-प्रणाली का प्रतिपादन किया है, जो एक विकासशील और न्यायपूर्ण समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप क्षमताओं का निर्माण और आर्थिक विकास के सम्बन्ध पर भी विचार करती है। —रामभूषण]

आज की दुनिया मे कदाचित बिना व्यंग्य किये हुए पारम्परिक रूप में यह कहना सम्भव नहीं है कि "मुझमें जो अधिकार निहित है, उनके आधार पर मैं आपको यहाँ की कार्य विधि द्वारा शिक्षितो के दायरे में प्रवेश दिलाता हूँ।" इसके बदले हमें उसी प्रकार कहना चाहिए जैसाकि मेरे देश के पूर्वी हिस्से में स्थित एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय का अध्यक्ष एम० ए० की डिग्री देते हुए कहता है—"मुझे जो अधिकार प्राप्त है उनके आधार पर मैं प्रमाणित करता हूँ कि ज्ञान प्राप्ति में आपने विशेष प्रगति की है।"

यहाँ जो उद्धरण दिये गये हैं उनका अन्तर शिक्षा-सम्बन्धी उन दो कल्पनाओं के बीच का अन्तर है, जिनमें एक के अनुसार शिक्षा का अर्थ है हैसियत विशेष, और दूसरी के अनुसार है ज्ञान-प्राप्ति की कभी समाप्त न होनेवाली प्रक्रिया।

शिक्षा की इसी दूसरी कल्पना के सम्बन्ध में मैं आज कुछ विचार-विमर्श करना चाहता हूँ। मैं एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का प्रतिपादन करना चाहूँगा, जो युवा वृद्ध सभी को इस लायक बना दे कि वे समाज में उत्पादक की हैसियत में रह सकें और साथ ही उसे क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार करे। राष्ट्र निर्माण के कठिन कार्य की दृष्टि से व्यक्तियों को एकता के सूत्र में पिरो सकना भी ऐसी शिक्षा का एक उद्देश्य होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में अमेरिकी अनुभव को समझना-बूझना हिन्दुस्तान तथा विकास कर रहे अन्य देशों के लिए लाभकारी ही होगा। इस दृष्टि से विचार करने के बाद मैं आपका ध्यान शिक्षा और आर्थिक विकास के बीच के सम्बन्ध की ओर आकृष्ट करूँगा।

पहला अनुभव

हिन्दुस्तान और अमेरिका, दोनों देशों ने साम्राज्य-वादी शिकंजे से निकलने के बाद एक ही प्रकार की शिक्षा-पद्धति विरासत म पायी और यह शिक्षा पद्धति केवल थोड़े से सभ्य, सुसंस्कृत और सम्भ्रान्त कहे जानेवाले लोगों के लिए थी।

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी में अमेरिका के कालेजों में मुख्यत: कानून, धर्म, औषधि-विज्ञान और राज्य-शास्त्र की ही शिक्षा मिलती थी। इन कालेजों में भरती होनेवाले विद्यार्थियों की प्रारम्भिक तैयारी उन स्कूलों में होती, जो समाज के विशेष सुविधा-प्राप्त लोगों के बच्चों के लिए बने होते थे।

१७७९ में टामस जेफरसन ने शिक्षा के कुछ व्यापक प्रसार की कोशिश की थी, लेकिन १८४० के पहले तक नि:शुल्क, सार्वजनिक प्रारम्भिक शिक्षा की शुरुआत न हो सकी। १८६० के पहले तक नि:शुल्क सेकंडरी शिक्षा का प्रारम्भ न हो सका और केवल पिछली शताब्दी के

अन्तिम दशक से ही हमारे विश्वविद्यालयों ने उस शिक्षा को विकसित करना शुरू किया, जिसमें अधिकाधिक लोगों और विकसित होते राष्ट्र दोनों की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाने लगा।

वास्तव में १९४०-५० के बीच के वर्षों यानी द्वितीय महायुद्ध के अन्त में ही हमारे देशवालों ने राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में शिक्षा के योगदान का महत्व समझा, और एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों के विकास से अपना सम्बन्ध महसूस करने पर ही हमने यह समझा कि शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी है कि वह विभिन्न राष्ट्रों और धार्मिक विश्वासों के लोगों को, जैसा कि हिन्दुस्तान में है, एकता और पारस्परिक सद्भावना के साथ रहना सिखाये। इसीलिए आज हम यह भावना रखते हैं कि नव विकसित देश बिना हमारी गलतियाँ दुहराये हमारे अनुभवों से लाभ उठायें।

हमारे अनुभव से जो पहला पाठ सीखने को मिलता है वह यह है कि शिक्षा का पाठ्यक्रम हर कदम पर राष्ट्र की आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहे। प्रकृति की शक्तियों को अनुशासित करने तथा प्रगतिशील और न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए शिक्षा सबसे शक्तिशाली औजार है। इसका महत्व थोड़े से शिक्षार्थियों की बौद्धिक और सौन्दर्यपरक रुचि के समाधान से कहीं अधिक है। इसका सीधा अर्थ यही है कि स्कूल में विद्यार्थियों को, जो विषय पढ़ाये जायें वे उनमें उन ज्ञानों और क्षमताओं का विकास करें, जो उनके जीवन और काम दोनों में सहायक हों और साथ ही उनके दृष्टिकोण का भी विकसित करें।

हिन्दुस्तानी गाँवों के प्राइमरी स्कूलों को अमेरिका, नाइजीरिया या कोलम्बिया के गाँवों की तरह ही सामुदायिक जीवन का केन्द्र होना चाहिए। विद्यार्थी अपना ध्यान केवल लिखने पढ़ने और गणित सीखने में ही नहीं, बल्कि सामुदायिक संगठन के मूल तत्वों, स्वास्थ्य और स्वच्छता, पशुओं की देख-भाल और आधुनिक, लेकिन साधारण कृषि के तरीकों को भी सीखने-समझने में लगायें।

प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों और साथ ही व्यावहारिक क्षमताओं व रुचिओं पर अधिक जोर देनेवाले पाठ्यक्रम को कभी कभी संकीर्ण या सांसारिक कहा जाता है, लेकिन हजारों-हजार लोगों को दुःख, अवसाद व धूल से बाहर निकालने से बढ़कर अच्छा और हो ही क्या सकता है?

ऐसा पाठ्यक्रम बनाना और उसके लिए सारे आवश्यक उपादान जुटाना, एक बड़ी चुनौती है, लेकिन इस चुनौती की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो राष्ट्र को और पीछे ले जाना होगा। ऐसी स्थिति में गांधी की बेसिक शिक्षा-सम्बन्धी कल्पना के सम्बन्ध में शंका और टीका-टिप्पणी के लिए गुंजायश कहाँ है? सबसे बड़ी चीज तो यह है कि 'मस्तिष्क और हाथ दोनों से काम' या अमेरिका में, जिसे 'मानसिक-शारीरिक श्रम कहा जाता है', इस तत्व को किसी भी उपादेय शिक्षा-प्रणाली में अनिवार्यतः विकसित करना ही चाहिए।

दूसरा अनुभव

दूसरा महत्वपूर्ण पाठ, जो हमने लम्बे अमेरिकी अनुभव के बाद सीखा है वह यह है कि पाठ्यक्रम व शिक्षा-प्रणाली, दोनों ही प्रशिक्षार्थी को इस योग्य बनने में सहायक होनी चाहिएँ कि उसमें समस्याओं का सुलझाव करने व सृजनात्मक रूप से सोचने-समझने की वृत्ति उत्पन्न हो। पाठ्यपुस्तकों और क्लास-रूम की पिटी-पिटाई प्रणाली छोड़ने में तो अमेरिका को कई पीढ़ियाँ लग गयीं।

आज तक जो तरीका रहा है उसमें परीक्षा पास करने और दिमाग में आँकड़े ठूँसने पर अधिक जोर रहा है। ये चीजें हमारी विशाल स्मरण-शक्ति का पता देती है, लेकिन मनुष्य का दिमाग यहीं तक सीमित नहीं है। जो देश आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के मार्ग पर तेजी से चल पड़ा हो और जहाँ थोड़े से लोगों के शासन के स्थान पर प्रजातन्त्र को प्रश्रय मिला हो वहाँ स्मरण-शक्ति पर बोझ और डिग्रियों के पीछे भाग दौड़-वाली शिक्षा असफलता की ओर ही ले जायगी।

तेजी से बदलनेवाले समाज के लिए उपयोगी शिक्षा की विशेषताएँ है—समस्याएँ सुलझाने की योग्यता का निर्माण, प्राप्त जानकारी का वर्गीकरण, जिज्ञासा-वृत्ति को उत्तरोत्तर प्रोत्साहन, नये-नये प्रश्न पूछने की वृत्ति, पुराने ज्ञान को नयी भूमिका मे प्रस्तुत करना, परम्परागत अधिकारो व मान्यताओ को भी चुनौती देने की शक्ति पैदा करना, नयी-नयी मान्यताओ का निर्माण और सिद्धान्तो का जीवन के साथ मेल बैठाना। यह निर्विवाद है कि ये चीजें काफी ऊँची है और जबतक शिक्षा व्यक्ति और राष्ट्र के आनेवाले जीवन के अनुरूप नही होगी, इन चीजो की प्राप्ति कठिन ही रहेगी। साथ ही, यदि शिक्षा को मनुष्य के विकास का वाहन बनना है तो उसे उसमे लगे हुए लोगो के जीवन और उनकी आवश्यकताओ के अनुकूल तो होना ही पडेगा।

इसका अर्थ यही है कि जिस विशाल शिक्षा-प्रणाली का मैं वर्णन कर रहा हूँ उसके लिए शिक्षक बडे ही ऊँचे ढग के होगे। वे स्वय आग्रह की वृत्ति से मुक्त रहेंगे और अपने विद्यार्थियो में कर्तृत्वशक्ति, कल्पना और अन्तर्दृष्टि को प्रोत्साहन करनेवाले होगे। नयी-नयी दिशाओ में प्रयास करनेवाली बुद्धि को तो प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, क्योकि ऐसी ही प्रतिभाएँ राष्ट्र का निर्माण करती है।

किसी स्थान की प्राप्ति के लिए जबतक डिग्री को मान्यता है तबतक उसके लिए भाग-दौड भी रहेगी, लेकिन जब किसी काय के लिए आवश्यक क्षमताओ का माप दड बदल जायगा तो चीजो को स्मरण-शक्ति के भरोसे दिमाग मे भर लेने के बजाय बदलती दुनिया में जीवन की समस्याओ से निबटने और उन्हें सुलझाने की वृत्ति पैदा होगी।

तीसरा अनुभव

हमारे अमेरिकी अनुभव से जो तीसरा पाठ दुनिया के सामने आता है वह है किसी भी राष्ट्र को अपनी प्रारम्भिक, माध्यमिक व ऊँची शिक्षा म बडी ही सतर्कता के साथ सन्तुलन बनाये रखने की आवश्यकता।

विकासशील अनेक देशो में नि.शुल्क प्रारम्भिक शिक्षा के लिए लोगों का बड़ा जोर है। ऊपर की शिक्षा में विश्वविद्यालयो व शोध-संस्थाओ पर बडा ध्यान दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि माध्यमिक शिक्षा इन दोना स्तरो की शिक्षा के बीच सिमट कर रह जाती है।

यह होने पर भी माध्यमिक शिक्षा किसी भी देश की शिक्षा प्रणाली की रीढ है। यदि माध्यमिक शिक्षा को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है तो उसका अर्थ ही यह हो जाता है कि माध्यमिक शिक्षा को ये आवश्यक कर्तव्य निभाने ही चाहिए, यथा—

- प्रारम्भिक शिक्षा के लिए शिक्षक तैयार करना,
- ऐसी शिक्षा प्रदान करना, जो विद्यार्थी को आज की विस्तृत, औद्योगिक, और राजनीतिक दृष्टि से जागरूक दुनिया में रहने लायक बनाये,
- विश्वविद्यालयों मे भेजने के लिए अच्छे-से-अच्छे मस्तिष्क तैयार करना, ताकि वही मेधावी विद्यार्थी सरकार, व्यापार, उद्योग, कृषि, अनुसन्धान, कला, पेशा आदि सभी में नेतृत्व प्रदान कर सकें।

स्पष्ट है कि यह काफी बडा काम है। इस काम की ओर हम अमेरिका मे बडे सगठित प्रयत्न के साथ लगे हुए है। हमें यह कहने में कोई सकोच नहीं है कि इस समस्या की प्रतीति करने में ही हमें काफी समय लगा है।

हिन्दुस्तान के शिक्षा विशारद प्रशसा के पात्र हैं, क्योकि उन्होने इस प्रश्न पर सदैव ध्यान रखा है। १८८२ से ही शिक्षा के सम्बन्ध में गठित प्रत्येक आयोग ने माध्यमिक शिक्षा का पूरा ध्यान रखकर कुछ-न-कुछ महत्वपूर्ण सुझाव रखा है, जो विकास कर रहे प्रत्येक देश के लिए एक नमूना पेश कर सकता है।

जबतक माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित स्कूलो की सख्या ही नही, बल्कि उनकी अच्छाई पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है तबतक शिक्षा के क्षेत्र में इच्छित स्थान तक पहुँचना असम्भव है। बिना उन शिक्षको के, जिन्हे

रम से कम माध्यमिक शिक्षा तो मिली हो, प्रारम्भिक शिक्षा का कोई भविष्य नहीं है। और साथ ही, जबतक माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थी विश्वविद्यालयों की शिक्षा से लाभ उठा सकने लायक नहीं बन जाता तबतक विश्वविद्यालयों पर पैसा खर्च करना जनता के पैसे का दुरुपयोग ही है।

चौथा अनुभव

चौथा व सबसे बाद में आनेवाला पाठ, जिसका अमेरिका में बड़ा ध्यान रखा जाता है, वह है पर्याप्त संख्या में अच्छे शिक्षकों की भरती। स्पष्ट है कि पिछले तीन पाठों के साथ किसी भी राष्ट्र की सफलता बहुत अंशों में उसके शिक्षकों पर ही निर्भर है।

शिक्षकों की प्राप्ति के सम्बन्ध में दो प्रश्न सामने आते हैं—पहला यह कि अच्छे से-अच्छे लोगों को अच्छा वेतन और समाज में ऊँचा स्थान देकर शिक्षण कार्य की ओर आकृष्ट करना और दूसरे, इन लोगों को अच्छे-से-अच्छा प्रशिक्षण प्रदान करना।

अमेरिकी लोगों ने समाज में शिक्षक के महत्व को पहचान लिया है और इसी के अनुरूप उन्हें अच्छा वेतन देना प्रारम्भ भी कर दिया है। जबतक यह नहीं होता तबतक अच्छे युवक-युवतियों को शिक्षण-कार्य की ओर आकृष्ट करना कठिन ही रहेगा।

एक ही पीढ़ी पहले शिक्षण-कार्य उन्हीं के लिए ठीक समझा जाता था, जो और कुछ कर सकने के अयोग्य समझे जाते थे, लेकिन अब स्थिति बहुत बदल गयी है। आज लोग समझने लगे हैं कि स्कूलों के लिए यदि योग्य लोगों की जरूरत है तो उन्हें उचित वेतन और सम्मान दोनों देना पड़ेगा। विकसित हो रहे देशों के लिए तो यह और भी सत्य है।

अन्ततः, अच्छे शिक्षकों का प्रशिक्षण भी बहुत अच्छा होना चाहिए। अमेरिका में यह प्रयास हो रहा है और सभी देशों में यही होना चाहिए।

पाँचवा अनुभव

इस सिलसिले में अब अपनी आखिरी बात कहना चाहूँगा और वह है गतिशील, सुव्यवस्थित और सुपुष्ट शिक्षा-पद्धति और समाज के बीच का सम्बन्ध। ऐसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण, जो मानव-मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्तियों को प्रकाश में लाये, समाज के सामने एक चुनौती ही है। प्रकृति की शक्तियों को मानव की सेवा की ओर मोड़ना और साथ ही ऐसी सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण, जो समाज की सेवा के लिए मनुष्य को पर्याप्त अवकाश व स्वतन्त्रता देती हो, लाखों-लाख के लिए एक नयी दुनिया का द्वार खोल देना ही है।

ऐसी शिक्षा पद्धति से, जो युवक-युवतियां निकलें उनके लिए समाज में उचित स्थान हो, यह देखना समाज और सरकार दोनों का कर्त्तव्य है। विकास की कुंजी के रूप में, जो देश शिक्षा पद्धति को देखता है उसे ऐसी शिक्षा-पद्धति के कल्याणकारी प्रभाव का तो स्वागत करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान जैसे देश में जहां आयोजित विकास का प्रयत्न चल रहा है, यह और भी जरूरी है कि विकसित शिक्षा-पद्धति और उसके परिणाम का स्वागत हो।

आयोजन की मूल-भावना व्यक्तियों को जिम्मेदारी के साथ कार्य करने का मौका देना होना चाहिए, न कि लोगों के कार्यों को अधिक-से-अधिक विस्तार देना। यदि कोई राष्ट्र अपने नौजवान वर्ग को इस प्रकार प्रशिक्षित करता है कि वह अपने सम्बन्ध में सोच सके और अपने प्रश्नों को हल कर सके और उसके बाद उसकी योग्यताओं के इस्तेमाल के लिए मौके प्रदान नहीं करता है तो गहरी विरोध भावना ही एकमात्र परिणाम होगी।

राष्ट्रीय योजनाओं के निर्माण और उनके क्रियान्वयन में यह सम्बन्ध स्थापना आज बहुत जरूरी है। राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा को अनिवार्यतः करनी ही चाहिए और राष्ट्र को भी ऐसी शिक्षा-पद्धति और उससे निर्मित विद्यार्थियों का उचित उपयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

—अनु० रामभूषण

लोकतांत्रिक भावना और शिक्षा

•

सुरेशराम

किसी ने कहा है कि आप मुझे किसी देश की शिक्षण संस्थाएँ दिखला दीजिए, मैं बतला दूँगा कि वहाँ की समाज रचना कैसी है। शिक्षा समाज का आईना होती है और आज के विद्यार्थी ही कल के समाज निर्माता।

सारी दुनिया में आज लोकतंत्र का बोलबाला है। कोई देश हो, पूरब में या पश्चिम में सभी जनतंत्र को मानते हैं और जनतांत्रिक प्रणाली पर अमल करने का दावा करते हैं। साथ-ही-साथ पिछले १०० बरस से समाजवाद का मंत्र लोगों के दिल दिमाग में घर करता जा रहा है। आज लगभग दो तिहाई से ज्यादा दुनिया समाजवाद को अपना लक्ष्य मानती है।

मगर, 'लोकतांत्रिक समाजवाद' मात्र कह देना काफी नहीं है। सवाल है कि उसका स्वरूप कैसा हो और उसकी स्थापना का साधन क्या हो? योरप या एशिया के देशों के सामने अबतक इसका स्वरूप केन्द्रीय समाज का रहा है और इसकी सिद्धि के लिए जो हाथ लग जाये, उस साधन को उपयुक्त समझा जाता रहा है। हिंसा या अहिंसा का परहेज नहीं है, और वे 'प्रेम या युद्ध में सभी कुछ ठीक है' के सिद्धांत के पक्षपाती हैं। नतीजा यह हुआ है कि चाहे न चाहते हुए भी सत्ता का केन्द्रीकरण होता गया और इसका अन्तिम आधार दण्डाश्रित बन गयी है। इस जमाने में यन्त्रों ने, जो विकास किया है, उससे फलस्वरूप सत्ता और साधनों का केन्द्रीकरण और भी बढ़ गया है, और समाज निर्माण की प्रक्रिया में अधिकांश जनसंख्या सक्रिय सहयोग नहीं दे पा रही है।

क्या हम भारत में भी यही करेंगे? नहीं, इसका उत्तर स्व० पंडित जवाहरलाल नेहरू दे गये हैं। उन्होंने कहा था कि हमारा समाजवाद विकेन्द्रित होगा और उसे हम शान्तिमय उपायों से हासिल करेंगे। दूसरे शब्दों में, भारत का उद्देश्य है—शान्तिमय उपायों द्वारा विकेन्द्रित लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना।

अब प्रश्न यह है कि इस लक्ष्य की ओर हम कैसे बढ़ें? जाहिर है कि आर्थिक रचना में बदल करना होगा, राजनीतिक पद्धति में परिवर्तन करना होगा, सामाजिक ढाँचे में फरक करना होगा, लेकिन इसके साथ ही-साथ हमें शिक्षा का भी कायाकल्प करना होगा। यह किसी से छिपा नहीं है कि स्वराज्य प्राप्ति को १७ साल हो गये मगर हमारी शिक्षा का वही ढर्रा चला आता है, जो सवा सौ साल पहले अँग्रेजों शासकों ने कायम किया था। देश में हुकूमत बदली, झंडा बदला, नीति बदली, मगर शिक्षा नहीं बदली। वह जैसी-की-तैसी चल रही है। ऐसी हालत में अगर हमारे नौजवान भारत की माँग को पूरा नहीं कर सके तो उनको कैसे दोष दिया जा सकता है? दोष तो पुरानी पीढ़ी का है हमलोगों का है जो नौजवानों पर, आजाद भारत के आजाद बालकों पर वही शिक्षा लाद रहे हैं, जो हमने—गुलाम भारत की गुलाम औलाद के रूप में—खुद ग्रहण की थी।

संक्षेप में पुरानी शिक्षा का केन्द्र पाठ्यक्रम था, आधार पुस्तक थी और उसका आदर्श सरकारी नौकरी। अँग्रेजों को अपना राज्य बरकरार रखने के लिए नौकरों की जरूरत थी। इस काम के लिए वे पुस्तकें और पाठ्यक्रम, दोनों ही विलायत से लाये। उन्हें मतलब आदमी से नहीं था, अपने शासन की मशीन से था और

कोशिश यह नहीं थी कि हिन्दुस्तान का रहनेवाला इनसान बने और सिर उठाकर खड़ा हो, बल्कि यह था कि वह अंग्रेजी राज्य को माई-बाप समझकर उसकी तावेदारी बजाता रहे। अंग्रेजी शासकों ने अपनी दृष्टि से जो ठीक समझा, किया और उसमें उन्हें अच्छी कामयाबी भी मिली, लेकिन जाहिर है कि अब इससे हमारा काम नहीं चल सकता। विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक समाजवाद लाने का यह रास्ता हरगिज नहीं हो सकता।

सवाल है कि उसका तरीका क्या होगा? हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जो अपने मकसद तक पहुँचा सके। इसका दो टूक जवाब नहीं दिया जा जा सकता। शिक्षा या तालीम कोई ऐसी पकी-पकाई चीज नहीं है, जिसे हम कायदे-कानून के अन्दर बाँध दें और एक प्रणाली बना दें, जिसकी नकल आँख मूंदकर सब करते रहें। तालीम का वास्ता बालक से है, यानी इनसान से, और आजाद इनसान से, जिसे नयी परिस्थिति में नयी चीज सूझती है और जिसका नयी उमग से नयी तैयारी के साथ वह सामना करता है। इस कारण आगामी शिक्षा का कोई पक्का ढाँचा अभी से तैयार नहीं किया जा सकता। उस दिशा में हमारा अनुभव भी नहीं के जैसा है। इसलिए फिलहाल तो इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा कि मोटे तौर से कुछ रूपरेखा बना ली जाय और अनुभव की रोशनी में उसमें फेर-बदल होता रहे।

हम फिर अपने लक्ष्य को दोहरायें,—'विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक समाजवाद'। समाज के विकेन्द्रित होने के माने हैं कि समाज का कोई भी हिस्सा किसी दूसरे हिस्से का मुहताज नहीं रहेगा और सभी मरसक अपने पैरों पर खड़े हो जायेंगे, यानी अपनी बुनियादी जरूरतें, अपनी मेहनत और आपकी मदद से पूरी कर ली जायेंगी। इससे जाहिर है कि अब शिक्षा में किताब के बजाय शारीरिक श्रम को आधार मानना होगा।

दूसरे, हम चाहते हैं कि समाज लोकतान्त्रिक हो। यह तभी सम्भव है जब हर व्यक्ति को यह भान हो जाय कि वह मशीन का एक पुर्जा-मात्र नहीं, समाज का एक जानदार अंग है और उसकी अपनी एक हस्ती है। उसके सही और गलत काम पर समाज का उठना और गिरना निर्भर करता है। इसलिए अपनी शिक्षा का केन्द्र अब बालक या विद्यार्थी रहेगा, न कि पाठ्यक्रम। उसकी अभिरुचि, स्वभाव और प्रगति को देखते हुए सारे शिक्षण का सिलसिला बैठाना होगा और यह ध्यान सदैव रखना होगा कि उसका अभिक्रम बना रहे।

तीसरे, लोकतन्त्र के साथ समाजवाद लाना है। इसके लिए जरूरी है कि शिक्षण के दौरान हमारा आदर्श नौकरी का न रहकर समाज की सेवा का हो। इसका अर्थ है सृजनात्मक वृत्ति से काम करना और समाज से कम-से-कम लेकर ज्यादा-से-ज्यादा देना। नौकरी का आमतौर से एक-दम विपरीत अभिप्राय होता है। नयी शिक्षा में हमारा आराध्य समाज यानी जनता-स्थित नारायण होगा।

सारांश यह कि विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक समाजवाद के लिए शिक्षा का केन्द्र बालक [illegible] [illegible] उत्पादक शारीरश्रम होगा, और आदर्श [illegible] का होगा। इस तरफ हम जिस हद तक बढ़ेंगे उसी हद तक हमारी शिक्षा सार्थक होगी, हमारे तरुण नागरिक प्राणवान और यशस्वी होंगे, और जिस समाज का हम स्वप्न देखते हैं उसकी ओर हम आगे बढ़ सकेंगे।

●

शिक्षा से राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी ही चाहिए, और स्वयं राष्ट्र को अपनी इस प्रणाली और उसमें निकले हुए विद्यार्थियों का पूरा उपयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। —चेस्टर बाउल्स

●

परिवर्तन
और
लोकतांत्रिक व्यक्तित्वपरक शिक्षा

•

राजाराम शास्त्री

वर्तमान युग में शिक्षा के उद्देश्य के चार पहलू है–१—जीविकोपार्जन की योग्यता प्रदान करना, २—मनीषा का विकास करना, ३—चरित्र निर्माण करना, और ४—सांस्कृतिक रिक्तता का मवरण तथा उत्कर्ष करना।

इनमें प्रथम और द्वितीय उद्देश्यों को एक साथ रखा जा सकता है। जीविकोपार्जन के लक्ष्य के निहितार्थ वही है, जो महात्मा गांधी द्वारा परिपुष्ट बेसिक शिक्षा की परिकल्पना में निहित है। पहला निहितार्थ यह है कि सारा ज्ञान और सिद्धान्त व्यवहार के लिए है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात'। पाठ्यक्रम को ज्ञान-प्राप्ति और तथ्य-संग्रह की अपेक्षा क्रियाकलाप और अनुभव के अर्थ में देखना होगा। बच्चा स्वभावत क्रियाकलाप पसन्द करता है और वास्तविक उपलब्धि में उसे आनन्द आता है। ज्ञान क्रियाकलाप के द्वारा तथा बाद में प्राप्त होता है। अच्छे शिक्षक के प्रभाव की छाया में ज्ञान और तथ्य प्राप्त करने का बहुमूल्य अवसर मिलता है।

जान डुई का कहना है—"क्रिया के परिणाम से परे विशुद्ध अभिज्ञता और फलप्रद समझ-जैसी कोई चीज नहीं है। ज्ञान और अभिव्यक्ति शक्ति के लिए अपरिहार्य तथ्यों के पुनर्विन्यास का विश्लेषण और सही वर्गीकरण सिर के भीतर दिमाग से नहीं हो सकता। कोई चीज पाने के लिए कुछ करना होता है, परिस्थितियाँ बदलनी होती हैं।"

अंतिम अभिप्रेत शर्त यह है कि सभी चरणों में शिक्षा की पद्धति समस्या-समाधानमूलक होनी चाहिए। उसे ऐसा होना चाहिए कि वह समस्या हल कर सके आधुनिक शिक्षक बच्चे को प्रदत्त ज्ञान का मात्र-निश्चेष्ट प्राप्तिकर्ता नहीं समझता, वरन समस्या या प्रयोग को लेकर सक्रिय रूप में कुछ करने की स्थिति में बहुत प्रसन्नता से शिक्षा प्राप्त करनेवाला मानता है। वह विकासोन्मुख मानस पर दृष्टि रखता है और उसकी सहायता तथा पथ-प्रदर्शन करता है, क्योंकि छात्र को बाहर से जो कुछ मिलता है वह उसका विचार नहीं होता। समस्या की स्थितियों का स्वयं प्रत्यक्ष सामना करके और खुद रास्ता ढूँढकर वह सोचता है।

अभिभावक या शिक्षक जब विचार के लिए प्रेरित कर देता है और अनुभव प्राप्ति में भागीदार बनकर ज्ञानार्थी के क्रियाकलापों के प्रति सहानुभूति-पूर्वक रुख अपनाता है तो वस्तुत वे सारी बातें हो जाती हैं, जो दूसरा पक्ष ज्ञान प्राप्ति के लिए सुलभ कर सकता है। शेष कार्य के लिए शिक्षार्थी को–अकेले नहीं, बल्कि शिक्षक तथा अन्य शिक्षार्थियों के सहयोग से—खुद रास्ता निकालना होगा। इस तरीके से ही छात्र अध्ययन में लिप्त होता है। छात्र स्वयं अध्ययन में लग जाय तो अनुशासनहीनता अनुपस्थिति, रुचि का अभाव, पढ़ने की आदत की कमी आदि अधिकांश समस्याएँ समाप्त हो जायें।

लेकिन, स्कूल केवल कर्मशाला नहीं है और न छात्र केवल प्रशिक्षार्थी, क्योंकि छात्र सामाजिक प्राणी भी है और स्कूल समाज भी है।

चरित्र-निर्माण के पीछे शिक्षण का लक्ष्य उस मानवता के बहुत निकट है, जिसमें शिक्षण-शाला बृहद् समाज के लघु आकार के रूप में मानी गयी है। चरित्र-निर्माण का सर्वोत्तम तरीका स्कूल के सान्निध्य में बालक और बालिकाओं को ऐसे अवसर प्रदान करना है, जिससे वे समाज में जीने की कला सीख सकें। किशोर अपनी ही उम्र के लोगों के समाज में रहना चाहता है, जिसके कार्यक्रमों में वह समान-रूप से भाग ले सके, जहाँ वह अपनी निष्ठा और लगन का परिचय दे सके, और जहाँ उसे प्रतीति हो सके कि उसकी उपस्थिति अपेक्षित है।

सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उसमें किसी और प्रकार से पैदा नहीं की जा सकती। ऐसा होने पर ही पारिवारिक वातावरण का प्रतिबिम्ब उसके व्यवहारों पर अनुकूल रूप में पड़ता है। उसका प्यार परिवार की चहारदीवारी पारकर स्कूल और समाज तक पहुँचता है। उसे जहाँ-कहीं प्यार मिलता है, उसे पाने के लिए वह दौड़ पड़ता है। घर पर इसी प्यार के अभाव में बालक कभी-कभी उग्र और विरोधी प्रवृति का बन जाता है।

प्यार-जैसी आवश्यक खुराक दे पाना अभिभावकों के लिए भी आसान काम नहीं है। बच्चों के प्रति अधिक चिन्ता और लाड-प्यार उनसे ऐसे व्यवहार कराता है, जो भविष्य में एक समस्या का रूप ग्रहण कर लेता है। इन समस्याओं का निराकरण स्कूलों में पिछले अनुभवों के आधार पर करना चाहिए। हमारी पाठशालाओं की जिम्मेवारी आज के राष्ट्रीय जीवन में हो रहे नित-नवीन परिवर्तनों से और भी बढ़ जाती है।

नगरीकरण की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति, टूटते हुए परिवार, उद्योग-विशेषज्ञों की बढ़ती हुई माँग, गाँवों से शहरों की ओर आबादी की निरन्तर दौड़ ने पुराने जमाने के अपेक्षाकृत सरल, किन्तु दृढ़ सामूहिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिसमें बालक अपने को खोया-खोया-सा महसूस करता है। परिवार से बच्चों को दूर भेजने की अभिभावकों की प्रवृत्ति और उनका एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरण शिक्षण शालाओं के लिए आवश्यक बना दिया है कि वे ऐसे वातावरण का निर्माण करें, जिसमें बालक सुरक्षा महसूस करें और वे समझें कि यह स्कूल उन्हीं का है। साथ ही, अनुभव के आधार पर ऐसे सुधार की व्यवस्था की जाय, जिससे टूटते हुए परिवार के बालकों के मन में उत्पन्न निराशा दूर की जा सके।

इस सन्दर्भ में मैं छात्रों को सामाजिक कार्यकर्ताओं-द्वारा दी गयी सहायता का उल्लेख करूँगा। काशी-विद्यापीठ के समाजशास्त्र विभाग ने दो हाईस्कूलों के कमजोर छात्रों पर कुछ प्रयोग किये और उनकी इस प्रकार सहायता की—

(१) हाईस्कूल कक्षा के सभी कमजोर छात्रों को एक वर्ग में रखा गया। उनकी संख्या ४० और ५० के बीच थी।

(२) दस दस, बारह-बारह छात्रों को ४ टोलियाँ बनाकर ४ लोगों को सुपुर्द किया गया।

(३) इस वर्ग का शिक्षण प्रारम्भ हुआ फिल्म दिखाना, खेलकूद और आमोद-प्रमोद आदि कार्यक्रमों से।

इन सारे कार्यक्रमों का लक्ष्य उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विकास करना था। हमें उम्मीद थी कि यदि उनके आपसी सम्बन्ध अच्छे रहे और काम करने का नवीन अनुभव उन्होंने किया तो ज्ञानार्जन में उनकी आन्तरिक और बाह्य शक्तियों का भरपूर उपयोग होगा। कमजोर छात्र की सहायता अच्छे छात्र करते थे। इस बात का प्रयत्न किया गया कि हर छात्र में जो प्रतिभा मौजूद है उसका उपयोग दूसरों के लिए हो। अतः यदि कोई छात्र मैथमेटिक्स में अच्छा होता था तो वह उस ग्रुप के अन्य कमजोर छात्रों की मदद करता था। यह आदान-प्रदान तभी सम्भव था जब वे एक दूसरे के प्रति अच्छे भाव रखें।

(४) चूँकि अध्यापक इतने व्यस्त थे कि कक्षा के घंटों के बाद अतिरिक्त समय विद्यार्थियों को नहीं दे सकते थे, अतः उनकी कम-से-कम सेवाएँ लेने की योजना बनायी गयी। एक छात्र, जो किसी विषय में अच्छा था उस विषय के अध्यापक के पास जाकर एक

साध्य समझ लेता था और फिर लौटकर सभी टोलियों को समझा देता था।

(५) ऐसा देखा गया कि जब कक्षा के अच्छे विद्यार्थी समझाने का काम करते थे उस समय टोली के छात्र उन्हें बडी तन्मयता से सुनते थे।

(६) चूँकि ऐसे कमजोर छात्रो के समूह की शक्तियाँ सीमित थी, अतः उसी कक्षा के दूसरे वर्गों से अच्छे छात्र उनको सहायता के लिए बुलाने पडे।

(७) जब उक्त वर्ग के शिक्षण का कार्य उन स्कूलो के प्रधानाध्यापकों ने हम पर सौंपा ता उन्हें उम्मीद थी कि उस वर्ग के २०% से अधिक छात्र उत्तीर्ण नहीं होगे, पर आठ माह की निरन्तर सहायता के बाद ७१% छात्र उत्तीर्ण हुए, जिनमें ५०% द्वितीय श्रेणी में और १ प्रथम श्रेणी में।

मानवता का महान पुजारी

दुनिया ने मानवता का एक महान पुजारी और हमारे देश का एक अद्वितीय नेता खो दिया।

...जब गाधीजी हमसे विदा हुए तब देश कठिन घडी से गुजर रहा था। आज भी पडितजी ने हम ऐसे समय मे छोडा है, जब देश नाजुक दौर से गुजर रहा है। आज हमारा स्पष्ट कर्तव्य है कि गरीबी दूर करने के लिए नयी शक्ति से काम करें और शहरों व गाँवो के नागरिको के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित करें। पडितजी के बाद हमें उसे पूरा करने के लिए बडी मेहनत करनी है। मैंने ऐसा राजनीतिज्ञ नही देखा जो घृणा और दुर्भावना से इतना मुक्त हो। मै उसकी आत्मा को नमस्कार करता हूँ।

—विनोबा भावे

शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य सास्कृतिक रिक्तता का संचरण तथा उत्कर्ष करना है। सस्कृति का सम्बन्ध लोगों के पारस्परिक व्यवहार और समयोपरान्त उससे उद्भूत स्वतः निर्बाध प्रवाह से है। सामाजिक सम्पर्कों द्वारा व्यक्तित्व का देशज विकास होता है तथा जीवन की सतत प्रवाहित तरगिणी म कालिक। इस प्रकार एक ओर तो हमारे समस्त समाज की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की समस्या है दूसरी ओर इन दोनो के आपसी सम्बन्धो के स्थायित्व और दृढ़ीकरण की। हमें दो प्रकार के समाजों पर सर्वप्रथम ध्यान देना है। एक है अधिनायकवादी, दूसरा लोकतात्रिक। यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र को शिक्षण की आवश्यकता है, पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि शिक्षण को लोकतन्त्र की आवश्यकता है। इसे समझना बडा ही आसान है।

शिक्षा का विकास आपसी क्रिया-कलापो और सम्बन्धो से होता है। इसके लिए आवश्यक है कि तथ्यो और व्यक्तियो से इसका निर्बाध समागम हो, क्योंकि इस प्रकार के समागम हमारी बुद्धि, व्यक्तित्व और व्यवहारो के प्रेरक और सुधारक होते है। एक प्रजातान्त्रिक समाज में यह सम्भव नही। वर्ग विशेष के प्रति निष्ठा और जबरदस्ती से कराये गये व्यवहार मानव-जीवन की प्रगति को ही समाप्त कर देते है और उसके बौद्धिक, भावात्मक, सवेगात्मक और सामाजिक प्रवृत्तियो को ही नियन्त्रित कर देते हैं। ऐसे समाज में शिक्षण के लक्ष्यो की पूर्ति नही की जा सकती। चाहे हम प्रजातात्रिक या अप्रजातात्रिक समाज की स्थापना थोडी या अधिक अवधि के लिए करें, उपर्युक्त तथ्य, तथ्य ही रहेगा। एक अप्रजातान्त्रिक समाज और शिक्षा दो विरोधी शब्द है, जो एक साथ नही चल सकते। यही कारण है कि अप्रजातात्रिक समाजो में शिक्षा के लिए रुचि नही ली जाती। उन देशों म शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ऐसे मस्तिष्को मे बीज बोना है, जिनकी अपनी कोई सत्ता न हो। इसके परिणाम सीमित और ढग अनुत्पादक और निष्फल होते है।

यह हमारे समस्त सामाजिक क्रान्तियों और स्वतः नवीनीकरण के लिए शिक्षण की समस्या पैदा करता है।

मैं यह नहीं कहता कि अप्रजातांत्रिक समाज क्रान्ति नहीं ला सकता। क्रान्ति के लिए ही उसकी प्रसिद्धि है। पर इस क्रान्तिकारी समाज को दूसरी क्रान्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह समाज उसी प्रकार विघटित हो जाता है जिस प्रकार इसके पूर्व का समाज इसके द्वारा हुआ था। इसके अपने दृढ़ संस्कार और मूढ़ श्रद्धाएँ बन जाती हैं। ऐसे समय यदि कोई व्यक्ति समय के साथ चलते-चलते अपनी नयी पद्धति का आविष्कार करके कोई ऐसी चाल चलता है, जिसमें वह एक नये राज्य की स्थापना कर सके तो पहलेवाला समाज टूट जाता है, पर यह सामाजिक क्रान्ति नहीं है। अधिकांश लोगों को यह क्रान्ति असम्भव-सी प्रतीत होगी, क्योंकि उस समय तक उन्होंने प्रचलित व्यवस्था से अपना पूर्ण समायोजन-सा कर लिया होगा।

अत: क्रान्ति का प्रारम्भ थोड़े से लोग करते हैं। यह क्रान्ति आर्थिक दबाव के कारण ही नहीं, वरन राजनीतिक दबाव और गुटबन्दी की वजह से होती है। इस प्रकार निरन्तर चलनेवाली कठोर परीक्षा से मानवता को बचाने के लिए इस अहिंसक क्रान्ति की महान आवश्यकता है। बहुमत-द्वारा वास्तविक सामाजिक क्रान्ति सिर्फ उन लोगों द्वारा की जा सकती है, जिनका शिक्षण ही अहिंसक पद्धति से प्रजातंत्र, स्वतंत्रता और क्रान्ति लाने के लिए हुआ है। इस प्रकार के शिक्षण से ही हम ऐसे दक्ष लोग पैदा कर सकते हैं, जिनका स्थानान्तरण हम दूसरे समाजों और बदली हुई परिस्थितियों में कर सकें।

दूसरे प्रकार के शिक्षण और समाज ऐसे लोगों को तैयार करते हैं, जो किसी विशेष कला में प्रवीण हों। इस प्रकार के लोग काफी मात्रा में तैयार किए जाते हैं, पर उनकी प्रवीणता जितनी ही बढ़ती है उतनी ही उनकी शक्ति दूसरे समाजों या परिस्थितियों से समायोजन करने में कम हो जाती है। इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है कि उन्होंने लोगों का शिक्षण नहीं किया, बरन उन्हें कुछ जानकारी दी। सारांश यह है कि उन्होंने व्यक्ति का निर्माण नहीं किया, बल्कि समूह का किया। मुक्त शिक्षण ही ऐसे स्वतन्त्र क्रान्तिकारी और परिवर्तनशील समाज का निर्माण कर सकता है, जिसका मुख्य कार्य ऐसे समय नयी क्रान्ति करना है जब आवश्यकता प्रतीत हो। अत: मैं पुन: इस बात को दुहराता हूँ कि शिक्षा को लोकतंत्र की अधिक आवश्यकता है, अपेक्षाकृत लोकतंत्र को शिक्षण की।

इस प्रकार व्यक्ति का विकास ही काफी महत्व का है, जो समाज को हिंसक क्रान्तियों और Fossilation से बचा सके, लेकिन व्यक्ति के इस विकास के लिए एक संगठन की आवश्यकता है। ऐसे क्रान्ति लानेवाले और प्रजातान्त्रिक व्यक्तित्व के शिक्षण के लिए एक ऐसी शिक्षणशाला की आवश्यकता है, जिसका नारा होगा प्रजातान्त्रिक व्यक्तित्व का विकास और सतत स्वयम परिवर्तनशील समाज का शिक्षण।

अनु०—विक्रम प्रसाद सिंह

न रहे, जिन से अपना नाता था

मुझसे बारह साल छोटे, परन्तु राष्ट्र के लिए बारह गुना अधिक महत्वपूर्ण, बारह सौ गुना देश के अधिक लाड़ले, श्री नेहरू अचानक हमारे बीच से उठ गये और यह विषादपूर्ण समाचार सुनने और उससे आहत होने के लिए मैं जीवित हूँ। मेरी तो विचार-शक्ति ही लुप्त हो गयी है। ......और अब वे मुझे अपने संघर्षों में इतना कमजोर बनाकर चले गये, जितना कमजोर मैं कभी नहीं था। सारे मतामत से परे मेरा एक अत्यन्त परम मित्र मुझसे बिछुड़ गया है। वह, जो हम-सबमें सबसे अधिक सभ्य था। हममें से अभी बहुत से लोग अभी सभ्य नहीं हैं। भगवान हमारे लोगों की रक्षा करें।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

पूर्व बुनियादी शिक्षा की चुनौती

●

धीरेन्द्र मजूमदार

आज के युग की दो बडी देनें है। पहली विज्ञान और दूसरी लोकतंत्र। विज्ञान ने दुनिया को छोटा भी बनाया है और बडा भी। पुराने जमाने में शिक्षा का क्षेत्र एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित था लेकिन आज ऐसी बात नहीं रही। अगर शिक्षा आज भी विशिष्ट वर्ग के अन्दर ही रह जायेगी तो विज्ञान की निष्पत्ति मानव निरपेक्ष रह जायेगी। वह मानव का निर्माण नही कर सकेगा। विज्ञान को बढाने के लिए शिक्षा को अनिवार्य करना ही होगा।

विज्ञान का प्रसार तो हुआ है, लेकिन अभी उसका जीवन में प्रवेश नहीं हो पाया है। मैंने ऊँची कोटि के वैज्ञानिकों को रूढ प्रथा में फँसे रहते देखा है। जबतक वैज्ञानिक दृष्टि नहीं होगी तबतक वैज्ञानिक चरित्र का निर्माण कैसे हो सकता है? और, जबतक वैज्ञानिक चरित्र नही होगा तबतक मानव के विकास का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार जबतक समाज का सारा चिन्तन, सारा कार्यक्रम वैज्ञानिक नहीं होगा तबतक मानव आगे नहीं बढ सकता।

लोकतंत्र की दूसरी विशेषता यह है कि इसने हरेक आदमी के अन्दर आवश्यकता का निर्माण किया है। पहले हर आदमी राजा नहीं हो सकता था, लेकिन आज लोकतंत्र में हर आदमी राजा हो सकता है। इसलिए आज हमारी अकाक्षाओ का दायरा अति वृहद हो गया है। आज के शत प्रतिशत आदमी में तालीम की आकाक्षा हो गयी है। पहले राजा का पहला बेटा युवराज होता था, तब शिक्षा की सर्वोत्तम व्यवस्था युवराज के लिए होती थी लेकिन आज तो हर आदमी को उच्चतर शिक्षा देने की जिम्मेदारी समाज पर आती है, क्योकि हर बच्चा युवराज है।

हम आज प्रत्येक काम सरकार पर आधारित करना चाहते है यह विचार लोकतंत्र का विरोधी है। आज लोक तंत्र के अनुसार चलता है, तंत्र लोक के अनुसार नही। लोकनायक वह है, जो जमाने को आगे ले चले। लोक प्रतिनिधि वह है, जो लोकमत के पीछे चले, लेकिन आज दोनों एक हैं। आज इस बात की जरूरत है कि लोक-नायक शिक्षक हों और लोक प्रतिनिधि सरकार चलायें।

मेरे विचार से सरकार-आधारित शिक्षण कभी नहीं होना चाहिए। अगर आप लोकतंत्र को फलते-फूलते देखना चाहते है तो शिक्षण को सरकार से अलग रखना होगा। कोई भी चौखटा बनाकर शिक्षा का काम नहीं चलाया जा सकता। मानव किसी ढाँचे में नहीं ढाला जा सकता। कोई सरकार चालीस करोड को एक-सा ढालने के लिए साँचा भी नहीं बना सकती। इस प्रकार यह काम सरकार के स्वधर्म के विरुद्ध है, उसकी शक्ति के बाहर है।

इसलिए मै जोर देकर कहना चाहूँगा कि आप-सब और जो कुछ करें, लेकिन शिशु शिक्षा को सरकार के हाथ में

में जाने दें। अभी जगदीश गांधी कह रहे थे कि हमारी प्रान्तीय सरकार हमारी बात नहीं सुन रही है, पूर्व प्राथमिक शिक्षा की जरूरत नहीं महसूस कर रही है और इसके सचालन तथा सगठन की ओर से आँख मूँदे हुए है। जब जगदीश भाषी ये बातें कह रहे थे तो मैं मन म मना रहा था कि हे भगवान, सरकार का यही ध्यान कायम रहे तो बहुत अच्छा। मैं उस दिन की भयावह कल्पना से काँप उठता हूँ जिस दिन सरकार शिशु-शिक्षा को अपने हाथ में ले लेगी।

जैसे हम शराब के कामो की पिकेटिंग करते हैं उसी तरह अगर सरकार ने शिशु-शिक्षा का काम शुरू किया तो मैं उसके विरुद्ध पिकेटिंग करना पसन्द करूँगा।

पूर्व प्राथमिक शिक्षा आज की अनिवार्य आवश्यकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ७ वर्ष के बाद आप बच्चे को विद्वान बना सकते हैं, लेकिन शिक्षित नहीं। क्योंकि शिक्षा का काम तो ७ साल में ही पूरा हो जाता है।

७ लाख गाँवों का निर्माण हमेशा लोक द्वारा ही होगा। आवश्यकता है कि ७ लाख तरुण-तरुणियाँ—शिक्षक-शिक्षिकाएँ—गाँवों में जायें और नन्हे-मुन्नों की शिक्षा की जिम्मेवारी अपने ऊपर लें। यह काम अगर सरकारी तत्र करता है तो तत्र प्रधान हो जायेगा। लोक की भावना का उसमें समावेश नहीं हो पायेगा।

कोई भी नर्सरी के दो स्कूल कभी भी एक से नहीं हो सकते। जब दो प्रकार के बच्चे और दो प्रकार के शिक्षक तो दो दिमाग एक कैसे होंगे, पद्धति एक कैसे होगी? रही बात 'रेकाग्नाइज' करने की, तो यह काम सरकार का है, हमारा नहीं। वह चाहे तो करे, या न करे।

शिक्षा एक ललित कला है। सगीत और चित्रकला फाइन आर्ट है। इन कलाओं के लिए शिक्षिकाओं का चुनाव करके आप शिक्षा की गाडी नहीं चला सकते। जिस तरह किसी को माँजकर आप गायक नहीं बना सकते उसी तरह किसी को माँजकर शिक्षक नहीं बना सकते। मनुष्य की ट्रेनिंग नहीं होती, एजुकेशन होना है। ट्रेनिंग तो पशु की होती है। फिर ट्रेनिंग देकर शिक्षण की बात सोचना कितना गलत है। शिक्षक बना बनाया होता है, ट्रेनिंग देकर नहीं बनाया जा सकता।

जैसे वर्षा के बाद बीज अकुरित हो जाता है वैसे ही शिक्षक का बीज भी उभर आयेगा, आप उसे अवसर तो दें, वातावरण तो बनायें। उसके लिए सम्मेलन करें, अपील करें और चाहे जो करें। आपकी अपीलो से जो भी भाई-बहन इस काम को उठायें, आप उनकी मदद करें। जरूरत पडे तो आप सरकार से मदद लें, लेकिन बिना किसी शर्त के।

एक बात हमेशा याद रखने की है कि कण्डिशनल आर्थिक मदद हो ही नहीं सकती। आप यह बात सरकार को लिख दें। आप फेडरेशन की ओर से स्कूल न चलायें, शिक्षक की ओर से ही शिक्षा चलने दें। जब शिक्षक ही दबाव के अन्दर रहेंगे तो शिक्षा क्या होगी? जहाँ दबाव हुआ कि तत्र प्रधान हो जायेगा।

आज पूर्व बुनियादी शिक्षा पर विशदता-पूर्वक सोचने के पहले हमें यह तय करना है कि एक पूरे समाज के लिए हमारी शिक्षा की दिशा क्या हो पैटर्न क्या हो, तकनीक क्या हो। अगर इस दिशा में कोई नयी बात सोचनी है तो उसके लिए अगुआ (पायनियर्स) की जरूरत है। एक सस्था बनाकर यह काम नहीं चलेगा। हमारे समाज में शिक्षा कैसी हो, इस पर सोचना चाहिए। इस सन्दर्भ में सोचने पर दो बातें सामने आती हैं—

१—वर्तमान समाज का पैटर्न क्या है, और

२—हम किस पैटर्न का समाज बनाना चाहते हैं।

हमारे देश में वर्तमान समाज के मूल्य सामन्तवादी हैं। मैं विनोद में कहा करता हूँ कि यह देश त्रिदोष-ग्रस्त है। हमारे देश का सस्कार सामन्तवादी है, आकाक्षा पूँजीवादी है और घोषणा समाजवादी। हम इस त्रिदोष से इस तरह घिरे हैं कि किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहे हैं। यह विसंगति हमारे भारतीय समाज के व्यक्तित्व में घुसी हुई है। इसके कारण हम सोच नहीं पाते।

आज हम पारम्परिक समाज म रह रहे हैं, वह वैज्ञानिक समाज नहीं है। वह 'ट्रेडिशनल सोसायटी'

है। इसमें बाल-शिक्षण अलग से नहीं किया जा सकता। पारस्परिक समाज तो माँ के पेट से बने रहते हैं। इस-लिए आँगन और पड़ोस को छोड़कर हमारी शिक्षा नहीं हो सकती। समाज का केन्द्र आँगन है और उसकी परिधि है पड़ोस। यह कहना गलत होगा कि हम माँ-बाप को छोड़कर शिक्षा की गाड़ी चला सकते हैं।

हम आँगन के समवाय में शिक्षा को कैसे जोड़ें, यह एक प्रश्न है। आँगन स्कूल में आयेगा नहीं, तो शाला को ही वहाँ जाना होगा। इसलिए पहली चीज जो हमें करनी है वह यह कि हमारी शाला सिटी मान्टेसरी नहीं, मुहल्ला मान्टेसरी हो। अब मोटर और रिक्शे से बच्चे बटोरने का धन्धा नहीं चलना चाहिए। आप कहेंगे कि महल्ले में इतने बच्चे नहीं मिलते, इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि क्या जरूरत है इतने बड़े-बड़े स्कूल चलाने की?

मैंने बम्बई में देखा कि एक स्कूल में २०० बच्चे हैं और १८ शिक्षक। बच्चों का मेला लगा हुआ है। इसकी क्या जरूरत है? आज जरूरत तो इस बात की है कि एक ऐसी तकनीक निकाली जाय कि बच्चे शाला में कितने समय तक रहें और शिक्षक कितने समय तक बच्चों के घरों पर रहें। इतना याद रहे कि ये शिक्षक बच्चों के घरों पर जाकर उपदेश न करें, माताओं-पिताओं की गलतियाँ न निकालें। नहीं तो वे शिक्षक को थप्पड़ मारकर निकाल देंगे। जरूरत इस बात की है कि शिक्षक माताओं पिताओं के स्तर पर उतर कर गप्प मारें। शिक्षक की किसी साधना का प्रारम्भ बिन्दु सिद्धि पर से नहीं होता। जो जहाँ है, वहीं से उसका शिक्षण शुरू होगा। उसके साथ ही उसके समवाय में स्वाभाविक रूप से हम जितना विचार दे सकते हैं, दें।

पूर्व बुनियादी शिक्षा के साधन स्वाभाविक होने चाहिएँ। हम मान्टेसरी शिक्षा-पद्धति तथा दूसरी पद्धतियों की नकल कर रहे हैं। सच तो यह है कि अन्ध नकल भी इसे नहीं कह सकते। मान्टेसरी-पद्धति कितनी पुरानी है। आज वे भी वास्तविक जीवन से इस शिक्षा पद्धति को जोड़ने लगे हैं। जब यह पद्धति निकली तब दुनिया में बड़ा जोश था। विकासशील मुल्क इंग्लैंड, अमेरिका वगैरह भगवान की तरफ से मानते थे कि पिछड़े मुल्कों में रहनेवालों को हमें सभ्य बनाना है। यह जिम्मेदारी संयुक्त रूप से उन सभी देशों की है, जो सभ्यता में उनसे आगे हैं। उस समय मनुष्य 'स्टेट-आर्गेनाइजेशन' की बात करता था, लेकिन आज हमारी भूख 'स्टेट आर्गेनाइजेशन' छोड़ने की है। अगर हम अपने को नकलची ही रखना चाहते हैं तो हमें आज की विकसित प्रणालियों की नकल करनी चाहिए, न कि चालीस साल पुरानी। लेकिन जरूरत इस बात की है कि हम स्वयं नयी पद्धति निकालें।

मैं स्पष्ट शब्दों में कहना चाहूँगा कि साधन जुटाने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर नहीं, बच्चों पर होनी चाहिए। आप उन बच्चों के पास जायँ, जो पढ़ते नहीं हैं। आप उन्हें देखें कि खेलन में वे प्रौढ़ों की किस तरह नकल करते हैं कैसे-कैसे साधन बनाते हैं। यह मनो-वैज्ञानिक सत्य है कि कोई छोटा रहना नहीं चाहता। आज शिक्षक भी बड़ा बनना चाहता है, मिनिस्टर बनना चाहता है। इसलिए आप उनके निर्माण में विज्ञान और संस्कृति जोड़ दें। आप 'फालो' करें, उन्हें 'लीड' न दें।

'लीड' एक खतरा है, जो लोकतन्त्र पर आघात करता है वह है, 'ब्रेन वाशिंग' का। यह शब्द कम्युनिस्ट देशों में खूब कहा जाता है। हम इसकी टीका करते हैं, लेकिन हम भूल जाते हैं कि हम भी तो बचपन से 'ब्रेन कन्डीशनिंग' करते हैं, फिर स्वतन्त्र चिन्तन कहाँ रहा। लोकतन्त्र कहाँ रहेगा। लोक तन्त्र का हो जायेगा, तन्त्र लोक का नहीं। अगर हम अपना बनाया सामान बच्चे को देते हैं, तो वह बच्चा जब वोटर बनेगा तब वह तन्त्र का निर्माता नहीं होगा, बल्कि तन्त्र उसका निर्माता होगा।

आज हो यह रहा है कि लोकतन्त्र, जिसे नेता लोक के हाथ में बाँटना चाहते हैं उसके हाथ में न जाकर सिर पर नजर आ रहा है। हम तन्त्र के साँचे में लोक को ढालते हैं, लोक के दिमाग के अनुसार हम तन्त्र को नहीं बनाते। लोकतन्त्र की जड़ शिक्षा में है और शिक्षा में

अधिनायक तान्त्रिक शिक्षा नहीं होनी चाहिए, लोकतान्त्रिक शिक्षा होनी चाहिए, लेकिन दुर्भाग्यवश हम अधिनायक तान्त्रिक शिक्षा ही दे रहे हैं।

इस प्रकार बच्चे के हाथ में ही सारा काम आना चाहिए। शिक्षक के हाथ में केवल परिमाजन का काम होना चाहिए, तभी वह लोकतान्त्रिक होगा। इसलिए साधन में ऐसा चिन्तन आप सबका चलना चाहिए। आप खेल के साधनों का जहाँ निर्माण करते हैं इसकी रिसर्च भी आप को चालू करनी चाहिए। हम जो कुछ बनाते हैं उनका सुसंस्करण और शोधन होना चाहिए और उसका आधार खेल-खेल में बच्चे का निर्माण होना चाहिए।

हमने कुछ नर्सरी स्कूलों में अक्षर ज्ञान कराते देखा है। बच्चों को जिन बातों का अनुभव नहीं है, ऐसी बातें उन्हें बतानी ही नहीं चाहिएँ। बच्चों को जो कुछ बताया जाय वह उनकी पूर्व जानकारी पर आधारित होना चाहिए। मेरी राय से नर्सरी में लिखाने पढ़ाने का काम बिलकुल नहीं होना चाहिए। उनमें देखकर वर्णन करने की शक्ति ही जगायें, यही काफी है। आप उन्हें घुमाते हैं, फिराते हैं तो उनसे पूछिए, वह अपनी देखी हुई बातों का वर्णन करेंगे। आप वर्णन की कमजोरियों को दूर कर सकते हैं, लेकिन जिन बातों का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है उस दिशा में उन्हें ले जाने का प्रयास कदापि नहीं करना चाहिए। उनके सामने आप कौवा की बात तो कर सकते हैं, लेकिन 'क' से 'कौवा' शब्द की चर्चा नहीं कर सकते। अगर आप यह काम करते हैं तो इसे मैं जबरदस्ती घुसाने की प्रक्रिया कहूँगा, जो सीधे नहीं होती और जिससे बच्चा के मस्तिष्क के कोमल रेशे टूटते हैं। यह आगे चलकर खतरनाक होगा और इससे उनके विकास में बाधा पड़ेगी। इसलिए इन बच्चा को केवल भाषा-ज्ञान ही दीजिए और दिया जानेवाला भाषा ज्ञान केवल 'इम्प्रेशन' तक ही रहे। गिनती आप जरूर सिखायें, लेकिन यह सब व्यावहारिक इम्प्रेशन के माध्यम से होना चाहिए।

आज की एक दूसरी परिस्थिति है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। और, वह परिस्थिति है गाँवों की। हम देश के लाखों लाख गाँवों को छोड़ नहीं सकते, उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

आज माँ-बाप बच्चा के साथ समय नहीं दे पाते। अभी हमलोगों ने एक प्रयास किया था—अभिभावक संघ बनाने का। मैंने ही सुझाव दिया था। मेरे सुझाव पर लोगों ने मुझसे पूछा कि अभिभावक का सदस्यता शुल्क क्या होगा। मैंने बताया कि जो व्यक्ति रोज घंटा, आध घंटा समय कम-से-कम अपने बच्चे के साथ दे सके, वह हमारे अभिभावक-संघ का सदस्य होगा। फिर लोगों ने पूछा कि वे लोग बच्चे के साथ करेंगे क्या ? तो मैंने कहा कि गप्प मारेंगे।

आज तो माँ-बाप और बच्चों का ठेका उठाते हैं। नर्सरी स्कूल ठेका नहीं तो और क्या है ? मैं चाहता हूँ कि अभिभावक-संघ हर महल्ले में कायम हो। अगर आप मान्टेसरी स्कूल खोलना ही चाहते हैं तो यह काम शुरू-शुरू में हो करता है। ये अभिभावक-संघ ही इस पूर्व प्राथमिक शिक्षा का संचालन करें। अब स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों को स्कूल चलाना बन्द कर देना चाहिए। इन संघों का काम होगा कि वे शिक्षा-शास्त्रियों को लायें और उनका मार्गदर्शन प्राप्त करें।

शिक्षा में अब जमींदारी प्रथा नहीं चलनी चाहिए। शाला आदमी रखकर नहीं चलानी चाहिए, बल्कि खुद चलानी चाहिए। आज तो इसके चलानेवाले शाला चलाते नहीं, बल्कि 'चलवाते' हैं। यह धन्धा छोड़ना होगा। जबतक शिक्षा में यह क्रम रहेगा तबतक शिक्षा से आदमी निकलेगा या बन्दर, यह मैं नहीं कह सकता। अगर आप शाला खुद नहीं चला सकते तो चलानेवाले की मदद कीजिए। आप जानते हैं कि जमींदारी प्रथा पहले उत्तर प्रदेश में खत्म हुई, इसलिए यह काम भी सबसे पहले उत्तर प्रदेश से ही शुरू होना चाहिए।

पाँचवें राज्य पूर्व बुनियादी सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से—

पूर्व बुनियादी शिक्षा
और
राह के रोड़े

•

डा० भक्तदर्शन

जबतक हम छोटे बच्चों की शिक्षा सगठित नहीं करते तबतक हमारी शिक्षा किसी भी तरह सफल नहीं होती। सौभाग्यवश आज धीरे-धीरे वातावरण अनुकूल होता जा रहा है। राज्य-सरकारों को भी इस विषय पर सोचने और ध्यान देने की जरूरत है।

मैं स्वय सोचता रहा कि प्रान्तीय स्तर पर, जिसमें सरकार के प्रतिनिधि भी हो, जिसकी मैं यहाँ कमी पाता हूँ और इसमें काम करनेवाले भी रहें, हम-सब मिलकर रास्ता निकालें। आशा है, शीघ्र ही यह कमी दूर हो जायगी, जब जनसेवक और सरकारी आदमी साथ बैठकर सोचने और विचारने लगेंगे।

यह शिक्षा खर्चीली है, आम तौर पर यह बात कही जाती है, और बहुत हद तक सही भी है। खर्चीली होने की वजह से कुछ लोग ही इससे लाभ उठा रहे हैं, बाकी करोड़ा करोड लोग इसके लाभ से वंचित रह रहे हैं। सबको विचार करना है कि इस शिक्षा के अधिक खर्च को किस तरह घटायें, ताकि सभी अमीर-गरीब के बच्चे एक साथ सुविधा पूर्वक इसे हासिल कर सकें।

शिक्षा को देश का और समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की जरूरत है। हम इस प्रयत्न म लगे हुए हैं। हम विज्ञान और टेक्नालाजी के समन्वय मे ऐसी ही शिक्षा चालू करना चाहते हैं, यद्यपि पिछले १६-१७ वर्षों में हम असफल रहे हैं, लेकिन श्री छागला न घोषणा की है कि शिक्षा के बुनियादी सिद्धान्तों को निर्धारित करने, उनके स्वरूप का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए आयोग बनाया जानेवाला है। मैं चाहूँगा कि आप-सब अपने विचार आयोग को जरूर भेजें, ताकि हम शीघ्र ही हर स्तर की शिक्षा का रूप स्थिर करने में सफल हो सकें।

आपके ऊपर नयी पीढ़ी को एक अच्छे साँचे में ढालने की जिम्मेवारी है। अगर आपने गलत साँचे का उपयोग किया तो बडा खेद होगा, भावी पीढ़ी हमें माफ नहीं करेगी। आज हम देखते हैं कि हमारे दैनिक व्यवहार में भारतीयता का लोप सा हो गया है। इस ओर भी ध्यान देने की जरूरत है।

आप नर्सरी स्कूलो में अंग्रेजी के सस्कार डालते हैं। यह प्रयास आज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। हमारे देश की परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और इन बदलती हुई परिस्थितियों में अंग्रेजी को बिलकुल स्थान नहीं होना चाहिए।

आज दक्षिण भारत के लोग अपने बच्चों को हिन्दी पढा रहे हैं, खुद भी पढ़ रहे हैं, लेकिन हमलोग आज भी अपने दैनिक जीवन में बड गर्व के साथ अंग्रेजी का उपयोग करते जा रहे हैं। एक ओर तो हम हिन्दी के प्रचार और प्रसार की बात करते हैं और दूसरी ओर खुद ही उसके पैर में कुल्हाडी मारते हैं। यह विसगति हमारे लिए घातक है। मै विशेष रूप से आपसे अपेक्षा रखता हूँ कि आपके द्वारा जो कुछ उपलब्धि समाज को हो, वह हिन्दी के माध्यम से ही हो।

आज हमारे नन्हें-मुन्ना के लिए पाठ्यपुस्तकों का बिलकुल अभाव है। जो है भी उनमें कूड़ा कचरा ही अधिक है। ऐसी हालत म पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का काम भी आपको करना है।

–लखनऊ पूर्व बुनियादी शिक्षा सम्मेलन के भाषण से

•

शिशु-शिक्षा के शैक्षिक उपकरण

•

ब्रह्मदत्त दीक्षित

आज हमारे जागृत समाज में पर्याप्त चर्चा है कि शिशु-शिक्षा पर विशेष बल दिया जाय। समुन्नत समाज के लिए यह लक्षण तो अच्छा है, किन्तु शिशु शिक्षण-सदन निरन्तर बढ़ती हुई अच्छी आय का साधन बन रहे हैं। वही एक-दो अध्यापक, वही रंगीन खिलौने और घिसे-पिटे यंत्र। पैटर्न सोचा नहीं, परानुकरण के शिकार बने। फैशन ने सहायता की और चल पड़ा शिशु-शिक्षा-सदन। केवल इतनी ही चिन्तना पर शिशु-शिक्षा समुन्नत न बन सकेगी। अन्य स्तरों पर दी जानेवाली शिक्षा-पद्धति के कारणों तथा उनके परिणामों को देखकर जिस प्रकार हम निराश हो रहे हैं, वही परिणाम हमें यहां भी मिलेगा, ऐसी ही सम्भावना अधिक है।

शिशु अपने मौलिक लक्षण रखता है, उसके विकास के कुछ क्रम हैं। मन की सरलता और सहजता द्वारा वह अपने ही वातावरण में से कुछ वस्तुओं की खोज करने के लिए लालायित रहता है। उसे अपना ही संसार इतना विचित्र लगता है कि वह उसी में रमना चाहता है। प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक क्रिया उसका खेल बन जाती है। उस खेल के माध्यम ही खिलौने कहलाते हैं हमारी अपनी भाषा में। शिशु व्यापार के यही उपकरण हैं, जिनसे वह अपने संसार का परिचय पाने का प्रयत्न करता है। ये उपकरण कौन हों, यही प्रश्न शिक्षा शास्त्रियों की चर्चा का विषय बनता है। अतएव विचारणीय है।

शिशु साक्षात वर्तमान को देखता है। अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करता है तथा अपनी उत्कट अभिलाषा का समाधान भी चाहता है। अतएव वह विगत की खोज में उतरता है और समस्त सामाजिक प्रक्रियाओं में दखलन्दाजी करता है। वर्तमान एवं विगत की समस्त परम्पराएँ, रीति-रिवाज, कार्यकलाप उसके चिन्त्य विषय बन जाते हैं। मानव के समस्त कार्य उसकी प्रयोगशाला के प्रयोग बनते हैं।

बालक का विकास क्रमशः होता है। उसके शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, नैतिक तथा सामाजिक विकास में उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ और वातावरण योग देते हैं। अपने वातावरण को समझने का माध्यम वे अपने खेल खिलौनों में पाते हैं। उन्हीं के द्वारा वे अपने भावी जीवन को समायोजित भी करते हैं। खिलौना का अस्तित्व उनकी परम आवश्यकता है। उनके बाल जीवन का यही अभिनयात्मक आधार भावी जीवन की सफलता की दिशा सूचित करता है। इसी कारण शिशु-शिक्षा का आधार एवं माध्यम खेल और खिलौनों पर आ टिका है।

प्राणी होने के नाते शिशु का अपना वातावरण ही उसका प्रथम गुरु होता है। जीवनभर वह अपने वातावरण में ही रमता है और उसी से जीवन-रस खींचता है। अतएव जिस समाज का वह प्राणी है उसके ही विगत, वर्तमान और भविष्य को वह अपना क्रीड़ा-क्षेत्र बनाता है। इस प्रकार हमें देखना चाहिए कि हमारी परम्पराओं में शिशु के शैक्षिक उपकरण यानी खेल और खिलौनों की विकास-रेखा किस प्रकार की रही है।

प्रत्येक देश में खेल-खिलौनों का बड़ा ही रोचक और मनोरंजक इतिहास है। ये खेल और खिलौने

हमारी ऐतिहासिक अभिरुचियो मे विशेष प्रतीत है। मानव की प्रगति में उनका स्पष्ट योग देखा जा सकता है। मिश्री कुम्हार के बालक का चक्र, ग्रीक की गेंद सुमेरियनो का रथ चक्र, मोहनजोदड़ो की बैलगाड़ी का पहिया आदि क्या उस गति तथा प्रगति के प्रतीक नहीं हैं, जो अपने विविध रूपों में विकसित होते होते कालान्तर में मशीन युग के अलौकिक स्वप्न साकार करने में समर्थ हुए। वर्तमान मशीन युग उसी पहिए के खिलौने पर आधारित खेल है। प्रत्येक देश के खिलौने के सहारे आप देश की सहस्त्रो वर्षों की जीवन-परम्परा का परिचय प्राप्त कर सकते है। बालको को यदि खेल और खिलौने सर्वाधिक प्रिय हैं, उनके व्यापार के अभिन्न अग है तो उनके सशक्त शैक्षिक उपकरण भी हो सकते है।

प्रत्येक देश, समाज, सस्कृति म खेल और खिलौना की अपनी एतिहासिक परम्परा है, जिसका सहारा लेकर शिशु को अपन सामाजिक विकास से अवगत कराया जा सकता है। खेल खिलौना के विविध स्वरूपो का निरूपण समाजगत परम्पराओ, स्थान और वस्तु सम्बन्धी प्रभावो, समय के परिवर्तनो, धार्मिक रीति रिवाजो, सामाजिक स्तरो विविध अभिरुचियो, और भौगोलिक वातावरण की विविध परिस्थितियो द्वारा हुआ है। यही तो सामाजिक वातावरण का अध्ययन है जो शिशु को अभीष्ट है। मिट्टी के खिलौनो से लेकर प्लास्टिक-युग के आधुनिक खिलौनो तक के विविध स्तर शिक्षा की दृष्टि से बडे ही महत्व के है।

जब हम यह देखते है कि इससे अधिक उपयोगी शैक्षिक उपकरण शिशु के लिए नहीं है तो हमें इस ओर ध्यान देना पडेगा कि ये खेल और खिलाने क्या हो। आज हम प्रत्यक्ष रूप से परानुकरण कर रहे हैं। विदेशी खेल और खिलौनो को एकत्र करके शिशु-वग को उनके अपन समाज से पृथक कर रहे है। विकास उनके अपने सहज वातावरण में होता है, काल्पनिक वातावरण म नहीं। अतएव शिशु को पहले व ही उपकरण दिये जायें, जो उसके समाज के अभिन्न अग हो, उनकी जीवन-परम्परा म जिनका सास्कृतिक एव ऐतिहासिक महत्व हो। समाज के खेल खिलौने उनके विविध उत्सवा, परम्पराओ, रीति रिवाजों, धार्मिक अवस्थाओ विश्वासों, प्राकृतिक एव भौगोलिक परिस्थितियो तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक व्यापारों पर अवलम्बित होते हैं। उनके स्वरूप में एक क्रम होता है। वही शिशु के विकास में सगति बिठा पाता है और विकास भी द्रुतगामी बनता है।

अतएव हम सभी आज यह भलीभाँति अनुभव कर रहे हैं और इस सत्य को छिपाना भी सम्भव नहीं है कि शिशुओ की शिक्षा जिस प्रकार स्वतत्र देश में आयोजित होनी चाहिए, नहीं है। इस देश की भूमिज-शाखाओं में यत्र तत्र चार-छ माटेसरी स्कूलो की कलम लगाकर नये बाग-बगीचे कहाँतक बन पायगे। कठिन प्रयास ही होगा तथा निराशा भी मिलेगी। उसका तो भारतीय सस्करण ही करना होगा, जो इसी भूमि की उपज हो।

शिशु शिक्षा को सशक्त बनाने के लिए हम अध्यापको के प्रशिक्षण का काय पूण कर सकते है। बच्चे लाखो की सख्या में शिक्षा के लिए आतुर हैं। शिशु-शालाओ का भी सम्यक् प्रबन्ध सोचा जा सकता है, किन्तु शिक्षण सामग्री, जिस पर शिशु जीवन का भावी स्वरूप आधारित होगा उसे एक दिन में एकत्र न कर पायेंगे। यदि बाहर के देश से वह सामग्री एकत्र की, जैसा कि आज कर रहे है तो एक ओर तो हम अपना मौलिक विकास खो देंग और दूसरी ओर अन्धानुकरण के माध्यम को लेकर हम साध्य को सिद्ध न कर पायेंग।

व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व का विकास तो उसी के समाज, वातावरण और अनुरूप सास्कृतिक परम्परा में होता है। निरे परानुकरण से हमारे सस्कार दूषित ही बनते है। व्यक्ति को कारखाने की वस्तु बना डालना भावी मानव के लिए अभिशाप ही बन रहा है। अतएव हमें उस दिशा की ओर चलना है, जिसके द्वारा हम शिशु शिक्षा के स्तर पर मौलिक शिक्षण सामग्री प्रस्तुत कर सकें। इसके लिए आवश्यक है कि हम खेल और खिलौनो के जगत का पर्यान्वेषण करें, सर्वेक्षण

करें और अपने अनुरूप इस प्रकार की सामग्री का चयन, एकत्रीकरण और निर्माण करें, जो हमारे देश के बच्चों की शिक्षा में उपयोगी और सम्भव हो सके। क्या निम्नांकित आयोजना को हम साकार बना सकते हैं—

- किसी भी संस्था या संस्थान-द्वारा खेल खिलौना-सम्बन्धी विशेष अध्ययन मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा समाज शास्त्रीय आधार पर संचालित करना।
- शिशु-शिक्षा के स्तर पर उपयुक्त सामग्री का पर्यान्वेषण करना।
- समाज के विविध जनपदों में प्रचलित और प्रतिष्ठित खेल तथा खिलौनों-सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन करना।

एकत्रीकरण—

- प्रदेश के विविध क्षेत्रों एवं मंडलों से प्रचलित खिलौनों का चयन-वर्गीकरण तथा उनकी सम्यक् रूपरेखा निर्धारित करना।
- विविध क्षेत्रों में खिलौना-निर्माण की विविध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना और उन कच्चे सामानों के व्यावसायिक रूप पर विचार करना।
- विविध व्यापक खेलों की सामग्री एकत्र करना।
- खिलौनों के एकत्रीकरण की व्यवस्था करना।

निर्माण—

- किसी संस्थान या ट्रेनिंग-सेंटर द्वारा शैक्षिक खिलौनों के निर्माण की व्यवस्था करना।
- कच्चे माल का प्रबन्ध करना।
- खिलौना-निर्माण के कुटीर-उद्योगों का संचालन करना।
- खिलौना-निर्माण में संलग्न सहस्रों पेशेवर व्यक्तियों की सेवा को मान्यता देना, सहायता करना, सहकारी पद्धति पर संगठित करना, सहकारी समितियों द्वारा उनके क्रय-विक्रय को प्रोत्साहन देना।
- निर्माण-सम्बन्धी साहित्य के सृजन पर विचार करना।
- शिशु शिक्षा के स्तर के नवीन पाठ्यक्रम का निर्धारण, जिसमें अनुरूप खेल तथा खिलौनों-द्वारा शिक्षा का पर्याप्त आधार हो। यह कार्य अति-आवश्यक है।

आज जनप्रिय शासन को शिशु-शिक्षा की ओर अग्रसर होना है। प्रदेश में सैकड़ों संस्थाएँ व्यक्तिगत तथा सरकारी सहायता पर खुलेंगी। यह उपयुक्त अवसर है कि प्रदेश के शिक्षाविद्, शासन के अधिकारी चिन्तन और मनन के पश्चात एक सुनियोजित पाठ्यक्रम का सूत्र-पात करें, अन्यथा विस्तार और प्रसार के काल में अस्त-व्यस्तता के ही दर्शन हमें पुन इस क्षेत्र में भी करने पड़ेंगे। ऐसी अनुभूतियाँ हमने कितनी ही योजनाओं में की है और कर रहे हैं। शिशु-शिक्षा का यह स्तर अपने आगामी स्तरों को भी प्रकाशमय करे, ऐसी ही कामना और दृढ़ संकल्प लेकर हम इस कार्य मे यदि प्रवृत्त हों तो निश्चय ही प्रकाश की किरण हमारा पथ आलोकित कर सकेगी।

—पंचम राज्य-बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन का पठित भाषण

●

मेरे लिए समाजवाद धर्म है

मेरे नजदीक समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त भर नहीं है, जिसके पक्ष में मैं हूँ; बल्कि मेरे लिए यह धर्म है, जिसे मैं अपने पूरे दिलोदिमाग से मानता हूँ। ......यह व्यक्ति को विकसित होने की आजादी देता है, उसे अपनी क्षमता और योग्यता को पूरी तौर से काम में लाने का अवसर देता है।

—जवाहरलाल नेहरू

●

हम बच्चे को बनाना क्या चाहते हैं ?

डा० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय

आज हमारे देश की शिक्षा की कुछ ऐसी दशा है कि हम ऊपर-ऊपर चलते हैं लेकिन बुनियाद के लिए कुछ नहीं सोचते विचारते। हम कहते हैं कि हमारे कालेजों में अनुशासन नहीं रहा। आखिर अनुशासन हो कहाँ से ? हमने उन्हें अनुशासन सिखाया ही कहाँ ! हमने तो चरित्र निर्माण की उम्र को यों ही बरबाद होने दिया। प्लेटो से आजतक समाज रचना के लिए जैसा सोचा गया उसके अनुरूप देश में शिक्षा की व्यवस्था की गयी। पिछले दो महायुद्धों को देखनेवालों ने अनुभव किया है कि इनसानियत के निर्माण में कुछ कमी रह गयी है। उसको लाये बिना देश पनप नहीं सकता, इसलिए उन देशों में छोटे बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। हमें अपना समाज ही नहीं, वरन सम्पूर्ण विश्व को ध्यान में रखकर विश्व-नागरिक के निर्माण की शिक्षा के बारे में सोचना है।

पहले आदमी जंगलों में रहता था। अपने स्वार्थ के लिए लड रहा था, अपने धर्म के लिए लड रहा था, अपनी राष्ट्रीयता के लिए लड रहा था। इस लडाई के उद्देश्यों में जैसे जैसे मनुष्य का विकास होता गया, सुधार होता रहा, लेकिन आज के युग में यह सब टूटनेवाला है। अब राष्ट्रीयता नहीं चल सकती, अब तो विश्वबन्धुत्व ही चल सकता है।

क्योंकि, आज आदमी एक घर का नहीं, सारे संसार का बन गया है। आज भौगोलिक सीमाएँ टूट रही हैं। हमको पूरे संसार को सामने रखकर आज के मानव को देखना है। मनोविज्ञान ने साबित कर दिया है कि बच्चा गर्भ से ७ वर्ष तक निर्माण काल में रहता है। इस अवधि में ही उसका वास्तविक निर्माण कार्य पूरा हो जाता है। आगे चलकर हम केवल रंग भर सकते हैं, चित्र को बदल नहीं सकते।

तो क्या हम अपनी रूढियों पर मानव का निर्माण करना चाहते हैं या विश्वमानव का निर्माण करना चाहते हैं ? आज का यह जीवित प्रश्न है कि बच्चे का निर्माण हम किस भारतीय मान्यता या रूढि पर करना चाहते हैं ?

आज हमारे यहाँ विभिन्न नामों से भी प्राइमरी स्कूल चलाये जा रहे हैं। हम पुराने विचारकों के सोचने के तरीके पर भी नहीं चलते और अपना भी कोई तरीका नहीं निकालते। मांटेसरी और पेस्टालाजी आदि ने क्या सोचा और कैसे सोचा, आदि बातों पर हम विचार नहीं करते। हम तो बिना सोचे समझे अंधानुकरण मात्र करते हैं। मैडम मांटेसरी ने इन्द्रिय शिक्षण पर जोर दिया है, यह ठीक है लेकिन आज के सन्दर्भ में हम मैडम मांटेसरी के अपनाये गये साधन किसी भी मूल्य पर नहीं अपना सकते, क्योंकि हमारे सामने साधन सामान का द्वार मुक्त रूप से खुला हुआ है।

मैंने देखा है कि बच्चा चाहे वह किसी भी देश का हो उसमें सनातन सत्य के प्रति समान रूप से सजगता होती है। हमें जरूरत है इसी सनातन सत्य को विकसित करने की, यही हमारा प्रश्न है। हम ने इस दिशा में प्रयास किये हैं,और असफलताएँ भी मिली हैं। हमें इन्हीं

असफलताओं से अपना मार्ग ढूँढना है। आज हम-आप लखनऊ में बच्चों की समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं, लेकिन यहाँ कितने माँ-बाप आ सके हैं! क्या बिना माँ-बाप के सहयोग के उनके बच्चों के सम्बन्ध में विचार करना ठीक होगा?

हमें बाल मन्दिरों की दुकानदारी को बन्द करने की जरूरत है। इस तरह की दुकानदारी खूब चल रही है। एक साहब ने दिल्ली में इस तरह की दुकानों का जाल-सा बिछा रखा है। वे दस हजार रुपये मासिक तक कमाते हैं। मैंने उनसे कहा कि तुमने नक में अपनी जगह रिजर्व करा ली है। तुम अपनी यह सत्यानाशी वृत्ति छोड़ो। तुम जितने बच्चों को समझ सकते हो, जितने बच्चों के माँ-बाप से मिल सकते हो, उतने ही बच्चों को लेकर पाठशाला चलाओ।

एक बार मैं डा० जाकिर हुसैन से मिला। उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम्हारे पास कितने भाड़े के टट्टू हैं, और कितने वर्कर? अगर तुम्हारे पास वर्कर हैं तो काम चला सकते हो। इस प्रकार इस काम के लिए हमें कुशल बहनों की जरूरत है। लेकिन, क्या माँ बनने की ट्रेनिंग भी कहीं होती है? जबतक यह नहीं होगा, हमारी गाड़ी ठीक ढग से नहीं चल सकती। जरूरत एक ऐसा केन्द्र बनाने की है, जिसमें माँ के पेट में बच्चे के आने से सात वर्ष तक के पूरे विकास का स्पष्ट चित्र आ जाये।

हिटलर और मुसोलिनी को आप अच्छी तरह जानते हैं। वे भी गांधीजी की तरह ही दृढ़ सकल्प थे, लेकिन गांधी ने निर्माण किया, और हिटलर तथा मुसोलिनी ने ध्वस। क्या हम अपने बच्चे को हिटलर और मुसोलिनी बनाना चाहते हैं? आज का यह जीवित प्रश्न है।

आज के युग में नर्सरी को जबतक निश्चित धारणा बनाकर नहीं चलायेंगे तबतक इसकी उपयोगिता नहीं होगी।

मैं अपने बच्चों से कहता हूँ कि तुम भोजन करते हो और कपड़ा पहनते हो, इसमें कितना का सहयोग है। उसी तरह आज पूरा विश्व सबके विकास के लिए एक-जुट होकर काम कर रहा है। आज जरूरत हमें इसी सन्दर्भ में विचार करने की है।

जैसे हमें कोई चित्र बनाना है तो चित्र बनाने के पहले हम आउटलाइन बनाते हैं अगर हमारी असावधानी से आउटलाइन मिट जाय तो वह चित्र पूरा न होगा, और होगा भी तो शुद्ध न होगा। ये रेखाएँ हमारे निश्चित दृष्टिकोण हैं। हमें इनका ध्यान रखना होगा।

जब मैंने अमेरिका में जान डुई से बातें कीं तो उन्होंने कहा कि आज का सत्य कल मिट जायेगा। तो मैंने कहा कि कुछ सत्य ऐसे भी हैं, जिन्हें हम सनातन सत्य कहते हैं, जो कभी नहीं मिट सकते। जे० कृष्णमूर्ति का भी कहना है कि हमें परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालना है, लेकिन मैं कहता हूँ कि ये परिस्थितियाँ ऊपर से नहीं आतीं। उन्हें अपने ढग से हमें ढालना है। मानव की सम्भावनाएँ, सवेग, क्रियाएँ सबको एक कड़ी में गूँथना है।

जो बहनें शिक्षा के प्रत्यक्ष काम में जुटी हुई हैं, मैं उनसे कहूँगा कि वे अपने अन्दर मातृत्व पैदा करें। माएँ अपना खून दूध में बदलकर बच्चा को देती हैं। उन्हें यह समझना है कि बच्चा मानवता की धरोहर है। उसके कल्याण में ही सारी मानवता का कल्याण है।

मैं जब शान्तिनिकेतन में एक छोटा अध्यापक था तो गुरुदेव ने कहा कि तुम बच्चों से सीखो। वृक्षों के आसपास और उन खड्डों में घूमो और देखो कि वहाँ सीखने के लिए कितनी ज्ञानराशि बिखरी हुई है। एक बार उन्होंने कहा था कि इन खड्डों का निर्माण शायद भगवान ने प्रकृति के निर्माण के अभ्यास में किया है। उस समय कुछ शिक्षकों ने रवि बाबू की इस बात का प्रतिवाद भी किया, लेकिन उन्हें बाद को अपनी गलती मालूम हुई।

उमग आने पर कभी-कभी बच्चे कहते—हम पेड़ पर बैठते हैं, आप नीचे बैठकर पढ़ायें। मैं उनकी इच्छा के अनुरूप ही करता था। उन्हें डाँटता-डपटता नहीं था, लेकिन मैंने देखा कि उसका अन्तिम परिणाम हमेशा-हमेशा अच्छा ही रहा। इसलिए मैं अपनी बहनों से कहना चाहता हूँ कि वे सोचें, समझें कि बच्चा हमसे चाहता क्या है। हम जो कुछ कर रहे हैं उसका उद्देश्य क्या है। हमें इस सम्बन्ध में अपनी धारणा निश्चित कर लेनी होगी।

माताओं को मित्र भाव से इस दिशा में कुछ सुझाव देती रहेंगी, तो निश्चय ही इसका सुंदर प्रभाव पड़ेगा।

सात साल की उम्र होने पर बालक गाँव की प्राथमिक पाठशाला में भरती होगा। सारे देश में इस प्रकार की प्राथमिक पाठशालाओं का संचालन या तो जिलों के शिक्षा मंडलों-द्वारा या शासन के शिक्षाधिकारियों द्वारा होता है। देश की सरकार समझती है कि ७ से १४ वर्ष की उम्र के बालकों को अनिवार्य और व्यापक शिक्षा देना उसका कर्तव्य है। इन प्राथमिक पाठशालाओं को चलाने में सरकार करोड़ों रुपये खर्च करती है। यही नहीं, बल्कि वही अपने विद्वान शिक्षाशास्त्रियों की मदद से इस उम्र के बालकों के लिए पाठ्यक्रम भी तैयार करवाती है।

पाठ्यक्रमों की रचना करनेवाले विद्वान शिक्षाशास्त्रियों से हम सानुरोध प्रार्थना करेंगे कि वे ध्यान रखें कि कक्षाओं का वातावरण और जीवन ऐसा न हो कि बालकों को वहाँ एक कतार में सीधे-सच्चे बनकर बैठने और शिक्षक की बातों को सुनने के लिए विवश होना पड़े और काम के नाम पर सारा दिन पढ़ना लिखना और पहाड़े रटना पड़े। छोटे छोटे औजारों की मदद से छोटे छोटे उद्योग चलाये जायें, दिन का ज्यादातर हिस्सा उठने बैठने और तरह-तरह के कामों को करने में बिताया जाय। सीधे सच्चे बनकर बैठने के लिए दिन में कई बार मिलाकर मुश्किल से घंटा डेढ़ घंटा बीते, इस तरह शुरू की कक्षाएँ चलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके लिए शिक्षकों को भी वैसा प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

हम सरकारों से भी यह विनती करना चाहेंगे कि वे प्रत्येक प्राथमिक पाठशाला के लिए केवल भवन की व्यवस्था करके सन्तोष न मानें, बल्कि उसके लिए बाग-बगीचे, खेती, उद्योग और खेल-कूद के हेतु आवश्यक जमीन की व्यवस्था भी उदारता पूर्वक कर दें। सच पूछा जाये तो यह कर्तव्य प्रत्येक गाँव की अपनी सरकार यानी ग्राम पंचायतों का ही है। राज्य-सरकारें पैसा खर्च करके जमीन आदि खरीदने बैठें, तो उन्हें साला-साल लग जायें और फिर भी काम उनके बस का न रहे, लेकिन ग्राम-पंचायतें चाहें तो गाँव के लोगों को समझाकर बालकों के लिए आसानी से भूदान प्राप्त कर सकती हैं।

बालवाड़ी की शिक्षिका कौन ?

हरेक ऐसी बहन, जिसके दिल में बच्चों के लिए प्रेम उमड़ा पड़ता हो, बाल शिक्षिका बनने के लायक है।

इस उमड़ते प्रेम की निशानी क्या है ? उमड़ते प्रेम की एक निशानी तो यह है कि बालक के साथ रहने, उसकी बातें सुनने और उसके साथ सब कामों में सम्मिलित होने के लिए जितना धीरज जरूरी है, उतना उसमें भरपूर हो।

उमड़ते प्रेम की दूसरी निशानी यह है कि वह अपने रोज रोज के काम-काज में से दो-तीन घंटों का समय बालकों के लिए निकालने को तैयार हो, इसके लिए अपनी घर गृहस्थी के कामों को आवश्यकतानुसार समेट लेने की उसकी तैयारी हो।

उमड़ते प्रेम की तीसरी निशानी यह है कि बाल-सेवा का काम करने के बदले वेतन लेने का विचार उसे स्वप्न में भी न आये, उसे बाल सेवा की आन्तरिक लगन लगी हो, उसके बदले में वेतन लेना उसे हल्का मालूम होता हो, वेतन की बात पूछने पर उसे अपमान सा लगता हो, अपनी आत्मा के सन्तोष को ही, जो अपना वेतन समझती हो, बालवाड़ी में बालकों को आनन्दपूर्वक खिलते देखना ही जिसका वेतन हो।

चूँकि आज इस प्रकार की बहनें सामने आती दिखाई नहीं पड़तीं, इसलिए हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विशाल बाल प्रेम रखनेवाली बहनें है ही नहीं। कारण इसका यही है कि बालवाड़ियाँ चलाकर अपना बाल प्रेम प्रकट करने का रास्ता अभी खुला नहीं है। जब कुछ उत्साही बहनें इस रास्ते चलने लगेंगी तो हर मुहल्ले-टोले में दबी छिपी बाल-सेविकाएँ प्रकट होने लगेंगी और समूचे देश में बालवाड़ियों की बाढ़-सी आ जायेगी।

इस नये रास्ते को खोलने की पहली अपेक्षा हम बहनों की शिक्षा-संस्थाओं से रख सकते हैं। छोटी उम्र

को कन्याओं की कन्या शालाएँ हों, माध्यमिक शिक्षा के कन्या विद्यालय हों अथवा उच्च शिक्षा के कन्या महाविद्यालय हों, सहज ही सब कहीं विद्यार्थियों को बाल संगोपन और बाल शिक्षा का पाठ पढ़ाना उनके पाठ्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। नयी तालीम तो इस पर विशेष रूप से जोर देती ही है।

अगर इस तरह की हरेक संस्था अपने आस पास के मुहल्लों टोलों में एक या एक से अधिक बालवाड़ियाँ चलाये तो मुहल्ले टोले के बालकों को बालवाड़ी का लाभ मिल जाये और संस्था की विद्यार्थिनियों को बाल शिक्षा के काम का प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभव प्राप्त हो जाये।

आश्रमों, सर्वोदय मण्डलों, खादी कार्यालयों आदि रचनात्मक संस्थाओं से भी हम यह अपेक्षा रख सकते हैं कि उनकी कार्यकर्ता बहनें अपने नित्य के कर्तव्यों का पालन करने के अलावा मुहल्लों-टोलों में बालवाड़ियाँ भी चलायें। यदि वे ऐसा करेंगी तो बालकों को बालवाड़ियों का लाभ मिलेगा और संस्थाओं को लोगों के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाने का एक जीता जागता साधन मिल जायेगा।

चूँकि यह स्वाभाविक है कि बालवाड़ियों का काम ज्यादातर बहनें चलायें, इसलिए हमने जहाँ तहाँ 'बाल शिक्षिकाओं' की ही चर्चा की है लेकिन हम यह अपेक्षा रखते हैं कि बाल सेवा का शौक रखनेवाले लोग भाइयों में से भी बड़ी संख्या में निकलेंगे। अतएव रचनात्मक संस्थाओं में से उनके कुछ पुरुष कार्यकर्ता भी इस काम में योग दे सकते हैं।

रचनात्मक संस्थाओं से अपेक्षा रखना तो स्वाभाविक ही है, लेकिन सरकारों के अनेकानेक विभागों में काम करनेवाले लाखों सेवक सारे देश में सार्वजनिक काम कर रहे हैं। हम यह अपेक्षा रख सकते हैं कि कलक्टर अपना कलक्टरी टोप उतारकर, न्यायाधीश न्याय का 'क्लोक' उतारकर और सेनापति अपनी फौजी वर्दी उतारकर रोज सुबह शाम दो घण्टों के लिए मुहल्ला में पहुँचें और अपने शौक की खातिर बालवाड़ियाँ चलायें। इससे न केवल बालकों को उच्चकोटि के शिक्षक मिलेंगे, बल्कि अधिकारियों के सार्वजनिक कामों पर भी इसका अत्यन्त शुभ प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा।

आज तो सारा समाज बेढंगा सा बन गया है। यही कारण है कि माताओं को अपनी अन्तःस्फूर्ति से बालवाड़ी चलाने की कोई इच्छा होती दीखती नहीं है। कभी कभी कहीं किसी धनवान या विद्वान या नेता के मन में यह इच्छा अवश्य जागती है कि अपने गाँव या नगर में बालवाड़ी खोली जाये। यहाँ भी विचार खुद 'चलाने' का नहीं, बल्कि 'चलवाने' का है। चूँकि आज की दुनिया में सभी काम वेतनधारी नौकरों से कराने की एक रीति ही चल पड़ी है, इसलिए वे भी बाल शिक्षिकाओं और बाल शिक्षकों की खोज में निकल पड़ते हैं और फिर लम्बी उसाँसें ले-लेकर इस बात का असन्तोष प्रकट करते पाये जाते हैं कि समाज में कहीं ऐसी सुयोग्य शिक्षिकाएँ नहीं मिलतीं, जिनके दिलों में बच्चों के लिए प्रेम उमड़ा पड़ता हो।

कहीं कहीं सरकारी या गैर सरकारी संस्थाएँ कायम होती हैं। हमें इनसे भी हमेशा इसी आशय के निराशासूचक उद्गार सुनने को मिलते हैं कि साहब क्या करें न तो पर्याप्त संख्या में शिक्षिकाएँ मिलती हैं और न अच्छी शिक्षिकाएँ ही। नौकरी की तलाश में घूमनेवाली कुछ बहनें इनके विज्ञापन पढ़कर खिंच आती हैं। फिर ये संस्थाएँ उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण-केन्द्र चलाती हैं।

भला सोचिए, इस तरीके से वह स्थिति कैसे खड़ी हो सकती है जिसके कारण हर मुहल्ले टोले में बालवाड़ियाँ फैल जायें और वे सब उन बहनों द्वारा चलें, जिनके दिलों में बच्चों के लिए प्रेम उमड़ा पड़ता है। यह स्थिति तो तभी खड़ी की जा सकती है, जब जैसाकि हम ऊपर सुझा चुके हैं, बाल प्रेमी बहनें और सेविकाएँ स्वयं ही सेवाभाव से बालवाड़ियाँ चलाने का रास्ता खोलें और उनके काम को देखकर घरों में रहनेवाली माताएँ भी अपने आन्तरिक बाल प्रेम से प्रेरित होकर मुहल्ले मुहल्ले में बालवाड़ियाँ चलाने लग जायें।

●

सही जाँच-परख कर ली जाय और ऐसे कदम उठाये जायँ कि इस दिशा में काम करनेवाले उनके महत्व का उचित मूल्यांकन कर सकें और उसकी कार्यान्विति में ईमानदारी के साथ योगदान दे सकें। विभिन्न क्रियाकलापों का समावेश करते जाने से अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन क्रियाकलापों का पाठ्यक्रमों में समावेश किया जाय उन्हें सही रूप से कार्यान्वित किया जाय और उसकी उपयोगिता से बच्चों को लाभान्वित किया जाय।

शिक्षा और विश्व-बन्धुत्व की भावना

देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भोजन-वस्त्र की विकट, किन्तु अनिवार्य एवं प्राथमिक समस्या हमारे सामने चौबीस घंटे मुँह बाये खड़ी न रहे। इसके लिए बच्चों को ऐसी वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा देनी है, जो उनके लिए उपयोगी हो। साथ ही उस समाज के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो, जहाँ बच्चा रहता है या बाद के जीवन में जहाँ उसे रहना है। इस प्रकार शिक्षा पा लेने के बाद वह बच्चा अपने और अपने आश्रितों के भोजन वस्त्र की प्राथमिक समस्या का हल कर देश के निर्माण में योगदान कर सके। भोजन-वस्त्र की समस्या के समाधान के बाद ही विचार ऊँचे होंगे, आदर्श ऊँचा होगा और कथनी-करनी में सामंजस्य आ सकेगा। इस उपलब्धि के बाद ही स्वार्थपूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता एवं विश्व-बन्धुत्व की बात सही ढंग से सोची जा सकेगी।

विद्यालय हमारे समाज का एक आवश्यक एवं अनिवार्य अंग है। उनसे हमारे समाज की असंख्य आशाएँ संलग्न हैं। विद्यालय से समाज बहुत बड़ी बड़ी अपेक्षाएँ रखता है। इसलिए विद्यालयों का समाज के साथ निकट सम्पर्क होना ही चाहिए। *व्यावहारिक रूप* में शिक्षण-संस्थाओं का, जो स्वरूप सामने दिखाई पड़ता है वह निराशाजनक ही नहीं, लज्जास्पद भी है। आये-दिन विद्यालयों में घटनेवाली दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ, राजनीतिक पैंतरेबाजियाँ और फलस्वरूप बच्चों में पैदा होनेवाली उच्छृंखलता और अनुशासन हीनता से कौन अपरिचित है? काश, ऐसे देशद्रोहियों की गतिविधियों पर ध्यान देकर ईमानदारी से इसका समाधान निकाला जाता तो यह देश रसातल में जाने से बच जाता और शिक्षण संस्थाएँ पवित्र हो जातीं।

बेकारी की समस्या का समाधान

देश में शिक्षा की प्रगति हो रही है, *यह प्रसन्नता* की बात है, परन्तु इस तथाकथित प्रगति का सही मूल्यांकन करने पर निराशा ही हाथ आयेगी। मात्र-साक्षरों की संख्या बढ़ा देना, उन्हें कुछ किताबी ज्ञान दे देना, शिक्षा नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी बच्चों को कालेज की ऊँची शिक्षा देकर बेकारी की बढ़ती हुई समस्या को दिन दिन विकराल न बनाया जाय, वरन बच्चों की रुचि, क्षमता एवं कार्यकुशलता का सही मूल्यांकन कर उनको उचित सलाह दी जाय और इस प्रकार उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे स्वावलम्बी बनकर अपनी जीविका चलायें और साथ ही, राष्ट्रनिर्माण के महान कार्य में अपना समुचित योगदान देते रहें। वे किसी व्यक्ति या समाज पर भार न बनें, वरन स्वयं अपने देश का भार उठाने की क्षमता रखें, देश को आगे बढ़ाने में योगदान दें।

बच्चों में गणतंत्रात्मक भावना भरने और उन्हें योग्य नागरिक तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय के क्रिया-कलापों के संचालन में छात्रों का भी हाथ हो और वे अपने उत्तरदायित्व को निभाने का सही प्रशिक्षण प्राप्तकर अपने भावी जीवन के लिए तैयार हों। वे अपनी जिम्मेवारी समझें, अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से पूर्ण परिचित रहें। साथ ही उनमें यह भी गुण आये कि वे दूसरों के कर्तव्य एवं अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें, बाधा उपस्थित न करें, ईमानदार एवं कर्तव्यपरायण बनें। कोई विद्यालय बच्चे-बच्चियों को ऐसा प्रशिक्षण न दे पाया तो उसे शिक्षण संस्था कहना ही नहीं चाहिए।

हमारे विद्यालय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाएँ

विद्यालयों के कार्यक्रम इस प्रकार सम्पादित होने चाहिएँ, जिससे छात्र-छात्राओं में राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ हो, देश की पुकार पर वे उसके लिए प्राणों तक

प्रादेशिक विवरण

मध्यप्रदेश में नयी तालीम

●

काशिनाथ त्रिवेदी

१ नवम्बर, १९५६ को नये मध्यप्रदेश का जन्म हुआ। भाषावार प्रान्त-रचना के देश व्यापी कार्यक्रम के अन्तर्गत देश में जिन नये प्रान्तों का निर्माण हुआ, उनमें एक मध्यप्रदेश भी है। इसमें पुराने मध्यभारत राज्य के अलावा विन्ध्यप्रदेश, महाकोशल और भोपाल राज्य का समावेश हुआ है। पूरा प्रांत ४३ जिलों में बँटा हुआ है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह प्रान्त देश के सभी प्रान्तों में सबसे बड़ा है। इसकी जनसंख्या ३ करोड २३ लाख बतायी जाती है। इसमें पूर्व मध्यभारत के १६, विन्ध्यप्रदेश के ८, महाकोशल के १७ और भोपाल के २ जिले सम्मिलित हैं। इस प्रदेश की राजधानी भोपाल है।

शिक्षा की दृष्टि से मध्यप्रदेश देश के पिछड़े हुए राज्यों की श्रेणी में आता है। यहाँ शिक्षित व्यक्तियों का औसत १७ प्रतिशत बताया गया है। स्वतन्त्रता के बाद मध्यप्रदेश में प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का विस्तार बड़ी तेजी से हुआ है। अबतक इस राज्य के महाकोशल-क्षेत्र में जबलपुर और सागर के दो विश्वविद्यालय चल रहे थे। मध्यभारत क्षेत्र में उज्जैन का एक विश्वविद्यालय था। अब इसी जुलाई, '६४ से मध्यप्रदेश में इन्दौर, ग्वालियर और रायपुर में एक-एक विश्वविद्यालय खुलनेवाला है। रायगढ़ में एक संगीत विश्व विद्यालय भी है।

कहा जाता है कि सन् '४७-'४८ की तुलना में उच्चशिक्षा के साधनों का और उच्चशिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्रों का विकास कई गुना हो गया है। राज्य में शिक्षा के विस्तार के साथ ही प्रशिक्षण संस्थाओं का भी आशातीत विस्तार हुआ है। जहाँ पहले पूरे राज्य में गिनती की प्रशिक्षण संस्थाएँ थीं, वहाँ अब राज्य का एक भी जिला ऐसा नहीं है, जहाँ एक या एक से अधिक प्रशिक्षण संस्थाएँ न हों। पूरे राज्य में स्नातकोत्तर श्रेणी के शिक्षकों अथवा अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए १३ स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय हैं। प्रशिक्षण-संस्थाएँ भी कुछ को छोड़कर सब बुनियादी की प्रशिक्षण-संस्थाएँ मानी जाती हैं। इनमें हर साल सैकड़ों सेवा नियुक्त और सेवाभिलाषी शिक्षक-शिक्षिकाएँ प्रशिक्षण पाती हैं।

सन् '५८ में वर्तमान मध्यप्रदेश शासन ने अपने शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत नयी तालीम के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए बुनियादी शिक्षा का एक सलाहकार-मंडल गठित किया था, जिसके अशासकीय सदस्यों में सवश्री जी रामचन्द्रन्, मार्जरी साइक्स, डा० हरि रामचन्द्र दिवेकर और काशिनाथ त्रिवेदी भी सम्मिलित हैं। शासन के शिक्षा विभाग ने शुरू के दो-तीन साल तक पचमढ़ी में अपने इस सलाहकार मंडल की बैठक बुलायी। '६१ में आखिरी बैठक हुई थी। फिर अचानक पता नहीं क्या शासन के शिक्षा विभाग ने अपने इस सलाहकार-मंडल की बैठकें बुलाना बन्द कर दिया। पिछले तीन सालों में मंडल की कोई बैठक नहीं हुई। न मंडल के सदस्यों को विश्वास में लेकर कभी इस बात की कोई जानकारी ही दी गयी कि विभाग अपने सलाहकार मंडल की बैठक क्यों नहीं बुला रहा है। इस सम्बन्ध में सदस्यों-द्वारा की गयी पूछ ताछ का कोई उत्तर भी नहीं दिया जा रहा है। जहाँतक मेरी जानकारी है, शासन ने प्रांत में नयी तालीम के काम को व्यवस्थित रीति से चलाने और बढ़ाने के लिए अपने उच्च पदाधिकारियों में से

किसी को नयी तालीम के काम का विशेष दायित्व नहीं सौंपा है। इस तरह प्रान्त में नयी तालीम का नाम तो बहुत लिया जा रहा है, पर शासकीय स्तर पर कहीं पूरी निष्ठा, गम्भीरता और साधना के साथ नयी तालीम के काम की उपासना चलती दीखती नहीं।

सन् '६१ में पूरे मध्यप्रदेश में कोई २५०० बुनियादी विद्यालय (प्राथमिक पाठशालाएँ) शासन द्वारा चलाये जा रहे थे। इन तीन वर्षों में प्रान्त में कोई नया बुनियादी विद्यालय शायद ही कहीं खोला गया हो। पहली से आठवीं तक लगातार नयी तालीम के ढग से चलनेवाले शासकीय विद्यालय तो प्रान्त में इने-गिने ही हैं, और जो हैं वे भी महाकोशल क्षेत्र में ही हैं। अन्य क्षेत्रों में बुनियादी का काम पाँचवीं तक ही सीमित रह गया है। शासन-द्वारा उत्तर बुनियादी की तो कोई संस्था प्रान्त में कहीं भी नहीं चलायी जा रही है। शासन ने उसे अपना कार्य-क्षेत्र ही नहीं माना है।

आज के मध्यप्रदेश की एक खास विशेषता यह है कि यहाँ प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की सारी शैक्षणिक व्यवस्था शासन-तंत्र के अधीन है। बड़े-बड़े नगरों में कहीं-कहीं कुछ स्वतंत्र अशासकीय शिक्षा-संस्थाएँ अवश्य हैं, पर उनमें से भी अधिकांश शासनाभिमुख ही रहती हैं। यदि शासन की ओर से उन्हें पर्याप्त आर्थिक अनुदान न मिले, तो उनका जीवन ही संकट में पड़ जाय। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ है कि प्रान्त में स्वतंत्र रूप से शिक्षा के तेजस्वी और मार्गदर्शक प्रयोग करनेवाली अग्रगामी शिक्षा-संस्थाओं का भारी अकाल है। प्रान्त की प्रायः सारी शिक्षा गतानुगतिक रूप से ही चल रही है।

मुझे याद नहीं पड़ता कि स्वतंत्रता के इन १७ वर्षों में पूर्व मध्यभारत-क्षेत्र में अथवा वर्तमान मध्यप्रदेश के क्षेत्र में कहीं भी शासन द्वारा या अशासकीय शिक्षा-संस्थाओं-द्वारा पूर्व प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की विविध शिक्षा के अनेकानेक ज्वलन्त प्रश्नों पर सामूहिक रूप से विचार करने के लिए कभी प्रान्तीय अथवा जिला-स्तर पर कोई सम्मेलन आयोजित किया गया हो। मध्यप्रदेश में आजतक इसकी कोई परम्परा ही नहीं बनी। प्रान्त का सारा शिक्षा-विभाग पिछले कई वर्षों से एकतंत्री व्यवस्था का शिकार बना हुआ है। उसकी रचना में और व्यवस्था में कहीं लोकतंत्र का कोई आधार नहीं मिलता।

विडम्बना नहीं तो और क्या ?

पूर्व मध्यभारत-क्षेत्र में कुछ प्रमुख अशासकीय संस्थाओं और उनके प्रमुख पुरस्कर्ताओं ने भारी प्रयास के बाद तत्कालीन मध्यभारत की शिक्षा-समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रान्तीय स्तर के एक सम्मेलन का आयोजन किया था। उसकी एक स्वागत-समिति गठित हुई थी। महीनों के प्रयत्न और दौड़-धूप के बाद उक्त समिति ने सम्मेलन की तिथियाँ निश्चित कीं, स्थान निश्चित किया। मनोनीत अध्यक्ष और उद्घाटक का भी निर्णय किया, सम्मेलन की काफी तैयारियाँ बड़ी मेहनत, लगन और श्रद्धा से कीं, पर तत्कालीन शासन के शिक्षाधिकारियों ने इस सम्मेलन के साथ सहयोग करना उचित नहीं समझा। सम्मेलन में शासकीय शिक्षा-संस्थाओं के शिक्षकों और अध्यापकों आदि को सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी गयी, इसलिए भारी निराशा के वातावरण में मध्यभारत के उन साथियों को अपना वह सकल्पित सम्मेलन रद्द कर देना पड़ा। स्वतंत्र भारत में शिक्षा-जैसे निर्दोष विषय की चर्चा के लिए शिक्षक स्वतंत्रता-पूर्वक कहीं एकत्र नहीं हो पाते और अपने सुख-दुःख की तथा अपने अंगीकृत सेवाकार्य की विविध समस्याओं पर उन्मुक्त भाव से सहचिंतन का अवसर नहीं पाते, इससे बड़ी विडम्बना हमारे शिक्षा-जगत की और हमारी स्वतंत्रता की क्या हो सकती है!

जब से वर्तमान मध्यप्रदेश बना है, तब से मानो इन पिछले सात-आठ वर्षों से मैं बराबर देख रहा हूँ और अनुभव कर रहा हूँ कि प्रान्त का सारा शिक्षा-जगत भारी घुटन के बीच जी रहा है और ज्यों-त्यों अपने पल्ले पड़े काम के बोझ को घसीट रहा है, पर कहीं से एक भी ऐसी आवाज उठती सुनाई नहीं पड़ती, जिसमें स्वतंत्रता की प्यास का आभास हो, इस घुटन-भरी जिन्दगी से छुटकारा पाने की तड़प हो, उत्कटता और अधीरता हो। कभी कोई भावनाशील और भला व्यक्ति

इस बारे में कुछ कहता-लिखता भी है, तो शासन के ऊँचे पदो पर बैठे हमारे मंत्री और अधिकारी उधर ध्यान देने की न तो कोई जरूरत समझते हैं और न स्वयं उनमें ऐसे किसी कार्यक्रम के लिए कोई प्रेरणा जागती है। ऐसा लगता है कि सारा शिक्षा विभाग किसी एक तानाशाह की मुट्ठी में बन्द हो गया है और किसी की हिम्मत नहीं है कि वह उसे उस बन्द मुट्ठी की मौसत स छुटकारा दिलाये। कोई थोडी बहुत चूँ-चाँ करता भी है तो या तो उसका मुँह अनुदान आदि के सुवर्ण पात्र से ढक दिया जाता है या उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।

ऐसी विकट परिस्थिति में प्रान्त में गांधी के सपनों को सार्थक करनेवाली नयी तालीम की तेजस्वी उपासना करने का साहस भला कौन करे? कोई विरला अपनी एक निष्ठा लेकर करता भी है, तो सारे परम्परागत प्रवाह की भारी बाढ के सामने उसका टिकना बहुत ही कठिन हो जाता है। प्रवाह के विपरीत चलने का साहस और धैर्य दिखानेवाले को प्रोत्साहन, सहानुभूति और सहयोग के दो शब्द कहनेवाला वहाँ कोई नजर नहीं आता। अधिकतर लोग उसे सब्ती समझकर उसकी उपेक्षा करने म ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते है। इनमे जनसाधारण से लेकर ऊँचे ऊँचे अधिकारी तक सभी आ जाते है।

सन्तोष इस बात का है कि ऐसी विपरीत और विडम्बना-प्रधान परिस्थिति में भी मध्यप्रदेश के कुछ निष्ठावान साथी अपने सीमित साधनों के सहारे, अपनी सूझ समझ के अनुसार, नयी तालीम की उपासना अशासकीय रूप से कर रहे हैं। इनकी दौड भी अभी बुनियादी तक ही सीमित है। प्रान्त में उत्तर बुनियादी की तो एक भी शासकीय अथवा अशासकीय संस्था है ही नहीं। जो अशासकीय संस्थाएँ प्रान्त में नयी तालीम का काम कर रही हैं, उनमे उल्लेखनीय ये हैं—

१–श्री जयनारायण विद्यालय, करजगाँव, जिला बैतूल।

छात्रावास की सुविधा के साथ ८वीं तक की शिक्षा खेती-बागवानी और खादी आदि के माध्यम से देने की व्यवस्था है। श्री गंगाधरजी पाटणकर इसके संचालक हैं। संस्था ने पिछले कुछ वर्षों में अच्छी प्रगति की है। संस्था लोकप्रिय है और शासन-द्वारा मान्यता प्राप्त भी है।

२–बुनियादी विद्यालय, कस्तूरबाग्राम, इन्दौर।

८वीं तक की शिक्षा की व्यवस्था है। छात्रावास नहीं है। श्री कुमुद रंजन त्रिवेदी इसके आचार्य हैं। आठवीं तक मान्यता मिली हुई है।

३–बुनियादी विद्यालय, रसूलिया, होशंगाबाद।

क्वेकर मित्र मण्डल द्वारा संचालित इस विद्यालय मे भी ८वीं तक की शिक्षा की व्यवस्था है। मान्यता प्राप्त है।

४–बुनियादी विद्यालय, रूपाखेड़ा, रतलाम।

रतलाम सर्व सेवा संघ-द्वारा संचालित यह संस्था अपने क्षेत्र मे पिछले कुछ वर्षों मे ८वीं तक नयी तालीम की शिक्षा देती है। मान्यता प्राप्त है।

५–कुमार मन्दिर, ग्रामभारती-आश्रम, टवलाई।

सन् '५९ के जुलाई महीने से नयी तालीम का काम चल रहा है। छात्रावास की व्यवस्था है। पहले पाँचवीं तक शासकीय मान्यता थी। इसी वर्ष मार्च में ८वीं तक की मान्यता मिली है। वस्त्र स्वावलम्बन की दिशा मे संस्था ने सन्तोषजनक प्रगति की है। छात्रावास के सब छात्र वस्त्र स्वावलम्बी है। खेती बागवानी के माध्यम से ज्ञानग्रहण करते है। छात्रावास में अधिकतर छात्र आदिवासी और कुछ हरिजन भी है।

पिछले साल नवम्बर '६३ मे प्रान्तीय गांधी-स्मारक-निधि के तत्वावधान में इन संस्थाओं ने अपना एक सप्ताह का एक कार्य शिविर श्रीमती मार्जरी बहन साइक्स के कुलपतित्व में बडी सफलता के साथ चलाया। शिविर कस्तूरबाग्राम, इन्दौर में हुआ था। इस शिविर के सुखद और प्रेरणाप्रद अनुभवों के कारण सभी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं ने निश्चय किया है कि वे अपने कामों और अनुभवों की चर्चा तथा आपसी विचार-विनिमय के लिए साल में कम से कम एक बार एक सप्ताह के लिए मिला करेंगे। प्रान्तीय गांधी स्मारक-निधि इस काम मे अपना सहयोग देगी।

पिछले वर्षों में इन संस्थाओं का काम इतना बढ़ा है कि अब ये अपने लिए उत्तर बुनियादी की आवश्यकता अनुभव करने लगी है। साथी सोच रहे हैं कि प्रान्त में कोई एकाध केन्द्र ऐसा अवश्य रहे, जहाँ उत्तर बुनियादी की शिक्षा का कार्य समुचित रीति से पूरे साधनों के साथ चलाया जा सके।

अभी प्रान्त में अशासकीय संस्थाओं का अपना कोई ऐसा संगठन नहीं है, जो नयी तालीम के विषय में प्रान्त की जनता को और शासन को अधिकार पूर्वक कुछ कह सके।

कुल मिलाकर आज मध्यप्रदेश में नयी तालीम के काम का जो चित्र बनता है, उसकी एक मोटी रूपरेखा मात्र ऊपर की पंक्तियों में दी जा सकी है। बहुत गहराई में जाने का कोई उपयोग आज दीखता नहीं। गहराई जितनी अधिक, अँधेरा भी उतना ही घना। थोड़े में वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है।

एक व्यापक अनास्था, अश्रद्धा, शंका, और आशंका से घिरे वातावरण में नयी तालीम के प्राणों का पोषण कौन करे और कैसे करे, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर देना इक्के दुक्के व्यक्ति के बस की बात नहीं। प्रश्न कुछ व्यक्तियों के भविष्य का नहीं, पूरे प्रान्त, देश और मानवता के भविष्य का है। जिस प्रकार की प्रवाह पतित उथली छिछली आदर्शहीन, लक्ष्यहीन, निष्प्राण और नौकरी प्रधान शिक्षा की हवा आज देश में जोर शोर से बह रही है, उसके चलते भारत की मूल प्रकृति का पोषण करनेवाली और लोक जीवन को समग्र भाव से ऊपर उठानेवाली, नये जीवन मूल्यों के साथ नये निष्ठावान नागरिकों को खड़ा करनेवाली नित्य नयी तालीम का काम सारे देश में व्यापक रूप से कैसे खड़ा किया जाय और जनसाधारण से लेकर विशिष्ट जनों तक सबके दिलों में इस प्राणवान शिक्षा के प्रति आन्तरिक अनुराग किस प्रकार उत्पन्न किया जाय, यही आज का हमारा एक यक्ष प्रश्न है। भगवान हमें इसका सही उत्तर खोज सकने लायक बुद्धि, भावना, भक्ति और शक्ति दे।

●

अच्छा स्कूल किसे कहें ?

●

डा० जाकिर हुसैन

केवल इम्तहान का अच्छा नतीजा देखकर किसी स्कूल को अच्छा समझना धोखा है। अच्छा स्कूल उसे कहा जा सकता है, जहाँ के उस्ताद अपना काम पूजा की भावना से करते हैं।

रटाई के बल पर किसी भी स्कूल का नतीजा शत-प्रतिशत हो सकता है। नतीजे का अच्छा होना निस्सन्देह एक अच्छी बात है, परन्तु केवल अच्छा नतीजा होने से ही स्कूल में सारी अच्छाइयाँ नहीं हो सकतीं। अच्छा स्कूल कोई तभी हो सकता है, जब उसके अध्यापक दुनिया के महानतम काम के रूप में अध्यापन को निःस्वार्थ भाव से ग्रहण करें।

छात्रों को कभी भी दर्जे में अव्वल आने के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उनमें यह भावना रहनी चाहिए कि हमारे सभी साथी अव्वल दर्जे में पास हों। घुड़-दौड़ की तरह एक इनसान का दूसरे इनसान के साथ मुकाबला करना ठीक नहीं है। वही इनसान अपने जीवन में तरक्की कर सकता है, जो अपने आप से मुकाबला करना जानता है, अपने साथियों से नहीं।

प्रायः यह देखा जाता है कि अच्छे स्कूलों को कालेज और अच्छे कालेजों को विश्वविद्यालय बना देने से सारा-का-सारा चौपट हो जाता है। न तो स्कूल ही अच्छे रह पाते हैं और न कालेज व विश्वविद्यालय ही अच्छे बन पाते हैं।

○

प्रारम्भिक शिक्षा
का
एक विचारणीय पहलू

सरदार मोहन सिंह

सन् १९५८-५९ की शिक्षा-रिपोर्ट का अध्ययन करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कक्षा १ में प्रवेश पानेवाले प्रति १०० विद्यार्थियों में से ५९ विद्यार्थी दूसरी कक्षा में दाखिल हो पाते हैं। दूसरी कक्षा से तीसरी कक्षा में यह संख्या घट कर ४७ रह जाती है और चौथी कक्षा में पहुँचने पर ४० और पाँचवी में मात्र ३५ विद्यार्थी ही पहुँच पाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पहली से पाँचवी कक्षा तक पढ़नेवाले हर १०० विद्यार्थियों में से केवल १२.५ प्रतिशत विद्यार्थी ही पाँचवी कक्षा में पहुँच पाते हैं।

प्राइमरी पाठशालाओं में पढ़नेवाले इन विद्यार्थियों पर प्रति विद्यार्थी करीब २६ रुपया व्यय होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्र ने ८६८ करोड रुपया तीसरी कक्षा में पढ़नेवाले विद्यार्थियों पर खर्च किया, जो प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या का ३१ प्रतिशत है। और, चौथी कक्षा में पढ़नेवाले विद्यार्थियों पर, जो कुल छात्र-संख्या का १४.२ प्रतिशत है, १,१०८ करोड रुपया खर्च होता है।

इस हिसाब से अगर पहली से पाँचवीं कक्षाओं में यदि कुल १०० विद्यार्थी हैं तो उनमें से प्रत्येक ४१ विद्यार्थियों पर जो चौथी कक्षा तक पहुँच पाते हैं, कुल १९७६ करोड रुपये खर्च होते हैं। अब यदि हम प्रारम्भिक स्कूलों में कुल विद्यार्थियों की संख्या ३ करोड मान लें तो वे विद्यार्थी, जो पाँचवीं तक नहीं पहुँचे हैं, बल्कि जिन्होंने दूसरी कक्षा तक ही पढ़कर छोड़ दिया है, तीसरी कक्षा का मुँह भी नहीं देखा है, उनकी गिनती ९३ लाख बैठेगी। अनुमानतः इन छात्रों की शिक्षा पर राष्ट्र का लगभग ६० करोड रुपया लगा होगा। चूँकि हमारे पास इन शिक्षार्थियों को निरक्षरता की ओर लौट जाने से बचा रखने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है, इसलिए निश्चित है कि हम प्रति वर्ष राष्ट्र का ६० करोड रुपया व्यर्थ बरबाद कर दिया करते हैं।

राष्ट्र के सामने यह समस्या महान चुनौती के रूप में खड़ी है। इस साक्षरता से निरक्षरता की ओर लौट जाने से बचाने के लिए दो उपाय काम में लाये जा सकते हैं। पहला, लगभग एक वर्ष तक सप्ताह में तीन दिन अनुवर्तन कक्षाएँ लगायी जायँ, जिस पर आनुमानिक रूप में प्रति छात्र ११ रुपया खर्च आने की सम्भावना है। इस प्रकार ९३ लाख विद्यार्थियों पर करीब १० करोड २५ लाख रुपये खर्च होंगे। दूसरा, कम खर्च मगर व्यापक 'पुस्तकालय सेवा' है। इस योजना पर लगभग १० करोड रुपये व्यय होने की सम्भावना है। इस प्रकार—९३ लाख लड़के-लड़कियों को साक्षरता से निरक्षरता की ओर जाने से बचाने के लिए २० करोड रुपये और व्यय करें, ताकि ६० करोड रुपये, जो उनकी शिक्षा पर पहले व्यय किया जा चुका है, नालों में व्यर्थ न बह जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते तो दुनिया हमारी इस किफायत पर हम पर मूर्ख कह सकती है।

अमेरिका में बाल-शिक्षा

•

एक शिक्षक

अमेरिका में बाल-शिक्षा के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण का समर्थन करनेवाले शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि आज के अन्तरिक्ष युग में विकसित होनेवाला शिशु बौद्धिक दृष्टि से *प्रारम्भ से ही इतना* विकसित रहता है कि उसे आसानी से गम्भीर अध्ययन की ओर उन्मुख किया जा सकता है। उनका कहना है कि रेडियो, टेलिविजन तथा सचित्र पत्र पत्रिकाओं को सुन-देखकर उसकी कल्पना शक्ति पहले से ही जागृत हो जाती है और उन अनेक विषयों का उसे थोड़ा-बहुत बोध हो जाता है, जो उसे स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं।

सत्य तो यह है कि वह स्कूल में इस जिज्ञासा को लेकर जाता है कि उस विषय के बारे में, जिसका कुछ आभास उसे है, और अधिक जानकारी मिलेगी। लेकिन, शिक्षाशास्त्रियों का एक ऐसा वर्ग भी है, जो उनके इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं। इस वर्ग के शिक्षाशास्त्रियों का यह मत है कि बाल-सुलभ जिज्ञासा और प्रवृत्तियों का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए तथा बालकों द्वारा खेल-खेल में ही पढ़ाने की विधि को अपनाया जाना चाहिए। उनका कहना है कि वस्तुतः बालक खेल-खेल में ही ज्ञानोपार्जन करता है।

अमेरिका में बालकों की शिक्षा के लिए मुख्यतः दो प्रकार की शिक्षा प्रणालियाँ—किण्डरगार्टेन और माण्टेसरी—अपनायी गयी हैं और दोनों ही अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण उपयोगी और व्यावहारिक सिद्ध हुई हैं।

अमेरिका में किण्डरगार्टेन शिक्षा-प्रणाली का उपयोग सर्वप्रथम विस्कौन्सिन राज्य में कार्ल शुर्ज नामक व्यक्ति ने अपने प्राइवेट स्कूल में किया। १८८० के दशक में तीन राज्यों में इस आशय का कानून स्वीकार कर लिया गया कि किण्डरगार्टेन अवस्थावाले बालकों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए सरकारी शिक्षा-कोष से धन व्यय किया जा सकता है; और आज तो अमेरिका के ५० राज्यों में से २३ राज्यों में किण्डरगार्टेन प्रणाली-द्वारा शिक्षा देनेवाले स्कूलों को सरकारी आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है। सरकारी कोष से चलनेवाले किण्डरगार्टेन स्कूलों के अलावा चर्चों और गैर-*सरकारी संस्थाओं-द्वारा भी अनेक किण्डरगार्टेन स्कूलों* का संचालन किया जा रहा है।

यद्यपि, अमेरिका की प्रचलित बाल शिक्षा-प्रणाली मुख्यतः फौरबेल - द्वारा प्रतिपादित किण्डरगार्टेन-सिद्धान्त पर आधारित है, इस प्रणाली में इस बात पर बल दिया जाता है कि बालकों को इस प्रकार के वातावरण में रखा जाय, जिससे वे स्वयं कुछ न-कुछ करने या सीखने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित हों, परन्तु इसमें डा० मेरिया माण्टेसरी की मान्यताओं और सिद्धान्तों का भी उल्लेखनीय प्रभाव परिलक्षित होता

है। डा० माण्टेसरी की शिक्षा प्रणाली और शिक्षा विधियाँ कुछ दशक पूर्व अमेरिका म काफी लोकप्रिय थी। लेकिन, धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता घट गयी और उसकी कुछेक उल्लेखनीय विशेषताएँ ही शेष रह गयी थी, परन्तु इधर वह पुन लोकप्रियता की दिशा मे अग्रसर हो रही है।

माण्टेसरी शिक्षा प्रणाली

पाँच वर्ष पूर्व, अमेरिका म माण्टेसरी प्रणाली से शिक्षा देनेवाला केवल एक ही स्कूल था। ग्रीनविच (कनेक्टिकट) राज्य स्थित इस स्कूल का नाम ह्विटनी स्कूल था। लेकिन, इस समय अमेरिका में माण्टेसरी स्कूलो की सख्या कम से-कम ५० है, तथा इनमें से अधिकाश का सचालन रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा किया जा रहा है। यहाँ पर माण्टेसरी स्कूल की कक्षा का एक दृश्य प्रस्तुत किया जाता है।

एक छोटा सा बालक विभिन्न प्रकार का स्वर निकालनेवाली घटियो से खेल रहा है। वह इस बात की कोशिश करता है कि उन्ही घटियो को बजाये, जिनसे एक समान स्वर निकलते हो। एक लडका आँख मूँदकर बैठा हुआ है और स्पर्श-द्वारा विभिन्न ज्यामिति-आकारो को टटोलने का प्रयास कर रहा है। बालक काँच से बने अक की गोलियो को—इनमें दस सौ और हजार के अक की प्रतीक गोलियाँ शामिल है—क्रम से लगाने और तोडने में जुटे हुए या सज्ञा, विशेषण तथा 'पार्ट आव् स्पीच' की अन्य विशिष्टताओ के प्रतीक रगीन कागज के टुकडो को इधर-उधर कर रहे होते है। एक छोटी लडकी यूरोप की एक 'जिगसा' पहेली को हल करने में जुटी है।

इन सभी बालको को तेजी के साथ बौद्धिक विकास की दिशा मे अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उन्हें गणित, व्याकरण और सगीत के अमूर्त सिद्धान्तो से भौतिक रूप में परिचित कराने के लिए विशेष प्रकार के उपकरण प्रदान किए जाते है। इन उपकरणो से बालको को इन सिद्धान्तो की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

इन स्कूलो मे बालको को रहन-सहन की भी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। स्वावलम्बन और व्यावहारिक ढग के व्यायामो पर विशेष जोर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, बालको को अपने हाथ साफ करने के ऐसे तरीको की शिक्षा दी जाती है, जिसम उन्हे १७ बार यह क्रिया करनी पडती है। बालक मध्याह्न भोजन के समय एक दूसरे को दूध बाँटते है। य बातें उन किण्डरगार्टेन स्कूलो-द्वारा भी अपना ली गयी है, जो माण्टेसरी प्रणाली का उपयोग नहीं करत।

कुछ किण्डरगार्टेन स्कूल, माण्टेसरी शिक्षा-प्रणाली की अन्य कई विधियो को भी अपना रहे है। आयोवा स्टेट यूनिवर्सिटी मे इस वर्ष 'मिरीमैप' (सुन्दर मन्दिर)

नयी तालीम-विद्यालय
शिवदासपुरा
का
सत्रारम्भ

राजस्थान-सरकार से मान्यता प्राप्त लोकभारती, शिवदासपुरा में बुनियादी शिक्षा पद्धति के आधार पर नयी तालीम का विद्यालय चल रहा है। उसमें बालकों का प्रवेश प्रारम्भ हो गया है। विद्यालय में ७ वें वर्ग तक के शिक्षण की व्यवस्था है। छात्रावास का उचित प्रबन्ध है। शिक्षण नि शुल्क है। खेती एव कताई-बुनाई मुख्य उद्योग है। इसके अलावा मिट्टी-कला काष्ठ-कला, कागज व साबुन बनाना, सिलाई इत्यादि उद्योगों के सिखाने की भी व्यवस्था है, और इन्हीं के आधार पर विषयगत शिक्षण का व्यवस्था है। विशेष विवरण के लिए आचार्य, नयी तालीम विद्यालय, लोकभारती, शिवदासपुरा (राजस्थान) से पत्र-व्यवहार कीजिए।

—रामचन्द्र शर्मा

विषय को अध्ययन-क्रम में शामिल किया जा रहा है। 'मिनीमैथ' का विकास मिनिसोटा यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक-मण्डल द्वारा किया गया है। इसमें गणित के सिद्धान्तो को व्याख्या करने के लिए कहानियो, कविताओं, खेलो तथा अन्य प्रकार के क्रियाकलापों का सहारा लिया जाता है। ६ कीरीज के एक सेट में तीन वेनीला तथा तीन चाकलेट के दो छोटे सेट हो सकते हैं। इसी प्रकार बालक यह बात भी सहज ही जान सकता है कि तीन कीरीज के दो सेटो में कुल ६ कीरीज होगे। बस, इस प्रकार वह जोड सीख जायेगा।

किसी दूसरे किण्डरगार्टेन स्कूल में ५ वर्षीय बालक अपना हाथ ऊपर उठा सकता है और अपने शिक्षक से यह कह सकता है—हाँ, मैं समझता हूँ कि 'रेनवार' एक अच्छा चित्रकार है। इसके कुछ समय उपरान्त वह और उसके साथी हलका सिम्फोनी संगीत सुनने में मग्न दिखाई पड सकते हैं। अनेक किण्डरगार्टेन स्कूलो में खेल-खेल में ही बालको को सगीत और कला-जैसे ललित विषयो से परिचित कराया जा रहा है।

फिर भी, अमेरिकी किण्डरगार्टेन स्कूल इस बात पर विशेष बल देते हैं कि बालकों में बाल-सुलभ चापल्य और जिज्ञासा बनी रहनी चाहिए। उनका मुख्य कार्य बालक को समाज में प्रवेश करने के लिए तैयार करना रहता है। यहाँ बालक अन्य बालको के साथ मिलकर खेलना और पढ़ना सीखता है। उन्हें सभी प्रकार के खिलौने—इनमें नाना प्रकार के खिलौने, रग, ब्लाक इत्यादि शामिल होते हैं—दिये जाते हैं। इसके अलावा बालकों के बैठने के लिए छोटी-छोटी कुर्सियाँ और मेजें भी रहती हैं। हर प्रकार की वस्तुओ को बालक की छोटी सी दुनिया में समेटने का प्रयास किया जाता है।

बालक अपने साथी बालको के साथ घनिष्ठता बढाते हैं। एक दूसरे के नामो से परिचित होने के साथ-साथ वे उनके निवास-स्थान के बारे में भी जानकारी प्राप्त करते हैं। यही नहीं, साथ-साथ उठने बैठने, घूमने-फिरने, काम करने इत्यादि की शिक्षा भी वे यहाँ प्राप्त करते हैं। चिडियाघरों की सैर भी उन्हें करायी जाती है, ताकि वह विभिन्न प्रकार के जन्तुओं के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी भी प्राप्त कर सकें।

कुछ अमेरिकी किण्डरगार्टेन स्कूलों में बालकों को विदेशी भाषाओं की शिक्षा भी प्रारम्भ से ही दी जाती है। शिक्षाशास्त्रियो का विश्वास है कि बालक का मस्तिष्क बहुत अधिक मेधावी एव सवेदनशील होता है और हर बात को आसानी से ग्रहण कर सकता है। वार्तालाप तथा अन्य वैज्ञानिक उपायो-द्वारा उन्हें देशी-विदेशी भाषा की जानकारी धीरे-धीरे करायी जाती है। हर वर्ष उन्हें विदेशी भाषा के कुछ नये शब्द सिखाये जाते है और इस प्रकार कुछ ही वर्षों में उनको विदेशी भाषा के काफी शब्दो की जानकारी हो जाती है।●

विद्यार्थी और जिम्मेदारी की भावना

•

कृष्ण कुमार

विद्यार्थी अनुशासनहीन न हों, उनमें गैर-जिम्मेदारी न आये, उद्दण्डता न बढ़े, इसके लिए विद्यालयों में क्या कोई कार्यक्रम है ? सिलेबस में इसका कोई स्थान है ? शिक्षा विभाग ने इसके लिए क्या किया है ?

यह गम्भीरता-पूर्वक सोचने का प्रश्न है—कि इसके लिए किया क्या जाय ? इसके लिए मेरा एक नम्र निवेदन है कि पूरे विद्यालय के संचालन का तरीका बदलना होगा। रमेश ने महेश को पीटा, उसकी शिकायत शिक्षक के पास, दण्ड शिक्षक के द्वारा, वीरेन्द्र ने धीरेन्द्र को गाली दी, शिकायत शिक्षक के पास, और शिक्षक ने दण्ड दिया, यह प्रक्रिया बदलनी होगी। विद्यार्थियों को अलग-अलग बारी-बारी से विद्यालय की अन्दरूनी जिम्मेदारियाँ सौंपनी होंगी। विद्यार्थी को यह भान होना चाहिए कि यह हमारी जिम्मेदारी है, अकेले शिक्षक की नहीं। और, यह तभी होगा जब वे विद्यालय के कामों में शिक्षक के साथ हिस्सा लेंगे।

एक ग्राम-सहायक-प्रशिक्षण विद्यालय से मेरा सम्बन्ध था। मैं वहाँ का शिक्षक था। वहाँ भी ऐसी समस्याएँ थीं और हम चाहते थे कि इसके लिए जल्दी कुछ किया जाय। प्रशिक्षणार्थियों की उम्र २० वर्ष से ४० वर्ष तक की थी। संख्या ६० थी। सब छात्रावास में रहते थे, साथ खाना खाते थे। उन्हें बारी-बारी से खुद ही भोजन पकाना पड़ता था। वे दो घंटे खेत में काम करते थे। किसी काम के लिए नौकर नहीं था।

हमारे सामने रोज एक न-एक समस्या आती ही रहती थी। आज राजेन्द्र श्रम पर नहीं आये, माधव रसोई पकाने देर से आये, बरतन अच्छी तरह से साफ नहीं किया। उमेश ने मंत्री को गाली दी; क्योंकि उन्हें खाने के लिए रोटी नहीं मिली आदि तरह-तरह की शिकायतें रोज-रोज सुनने को मिलती थीं। एक अजीब बात थी। ये ग्राम-सहायक प्रशिक्षण लेकर एक साल के बाद गाँवों में समाज निर्माण के काम में लगनेवाले हैं और इतनी छोटी-छोटी बात के लिए आपस में झगड़ते रहते हैं।

हमने तय किया कि ये प्रशिक्षणार्थी शिकायत लेकर शिक्षक के पास आने के बजाय खुद ही आपस में हल करें। इन्हें जिम्मेदारियों का भान होना आवश्यक है। हमने इसे प्रशिक्षण का अंग ही बना लिया।

विद्यार्थियों की समितियाँ बनाकर विद्यालय की अधिक-से अधिक जिम्मेदारी उन पर सौंप दी गयी। जितने विद्यार्थी थे सब ग्रामसभा के सदस्य मान लिये गये। ग्रामसभा का एक संयोजक सर्व-सम्मति से चुना गया। ग्रामसभा में कई उपसमितियाँ बनीं। मुख्य काम उपसमितियों के ही जिम्मे था। ग्रामसभा का हर सदस्य किसी-न-किसी उप-समिति से सम्बन्धित होता था। उपसमितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार था—१. श्रम-समिति, २ स्वास्थ्य समिति, ३ भोजन-समिति, ४ रंजन-समिति, ५. वर्ग-समिति, ६ सफाई-समिति।

विद्यालय के हर शिक्षक का एक एक समिति से सम्बन्ध था। ये उपसमितियाँ जब चाहें शिक्षक को अपनी बैठक में बुला सकती थी। इन समितियों ने अपना-अपना काम समझ लिया और कुछ सामान्य नियम बना लिये। ये नियम आमसभा में सुना दिये जाते थे और जब ये नियम सर्वसम्मति से आमसभा-द्वारा मान्य होते थे तभी ही अमल में लाये जाते थे।

उपसमितियों का वर्गीकरण अपने काम की दृष्टि से किया गया था। दूसरी जगहों में कुछ दूसरे नाम से भी समितियाँ बनायी जा सकती हैं। उपसमितियों की बैठक सप्ताह में एक बार रखी जाती थी, लेकिन बाद में उपसमितियों की बैठक एक सप्ताह में करना सम्भव नहीं हुआ, इसलिए इसकी अवधि १५ दिन कर दी गयी। आमसभा महीने में एक बार होती थी।

अब किसी भी प्रकार की समस्या सीधे शिक्षक के सामने न आकर समितियों और आमसभा के सामने पेश की जाने लगी और बड़ा ही आसान हो गया उन समस्याओं को सुलझाना। हाँ, इसके लिए शिक्षकों में धैर्य होना आवश्यक है। सम्भव हैं, उन्हें विद्यार्थियों की आलोचना प्रत्यालोचना का शिकार होना पड़े।

रमेश श्रम पर नहीं आया, इसके कारणों की पूछ-ताछ श्रमसमिति का संयोजक करता था। किसी को श्रम में नहीं आना है, इसकी सूचना वह श्रम समिति के संयोजक को देता था। फिर, शिक्षक की परेशानियाँ कम हो गयीं और विद्यार्थियों को भी समाधान मिलने लगा। काम की क्षमता बढ़ गयी। उत्तरदायित्वों को महसूस किया जाने लगा।

यह सामान्य मनोविज्ञान है कि जिसके ऊपर जिम्मेदारियाँ सौंप दी जाती हैं वह उसे अपनी योग्यतानुसार पूरा करने की कोशिश करता है और उसकी कार्य-क्षमता भी बढ़ जाती है। कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि जिम्मेदारियाँ बाँटी जायें और जिसे जिम्मेदारी दी जाय उस पर विश्वास रखा जाय और उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न किया जाय। सुझाव देना हो, दे सकते हैं। सुझाव देना एक बात है और हस्तक्षेप करना दूसरी। हस्तक्षेप से काम करनेवाले के स्वाभिमान को धक्का लगता है, और कोई भी स्वाभिमान खोकर अपनी कार्यक्षमता नहीं बढ़ा सकता। जिसे स्वाभिमान नहीं—उसकी क्षमता क्या!

मैंने ऊपर प्रौढ़ों के एक विद्यालय का अनुभव बताया। हु-बहू ऐसी ही समितियाँ स्कूल और कालेज में नहीं बना सकते। प्राथमिक पाठशालाओं में छात्रों की जिम्मेदारियाँ कम होंगी। उनका सगठन दूसरे ढग का हो सकता हैं। विद्यालय का शिक्षक सोचकर विद्यार्थियों का सगठन बनायेगा। शिक्षक को इतना ध्यान रखना होगा कि वह सगठन पर हावी न हो।

कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए और लोकतांत्रिक भावना विकसित करने के लिए आवश्यक है कि विद्यालयों में विद्यालय की अन्दरूनी जिम्मेदारी विद्यार्थियों पर सौंपी जाय और उसकी निगरानी अलग से की जाय। लोकतंत्र की सुरक्षा बन्दूक की ट्रेनिंग से नहीं होनेवाली है। उसकी सुरक्षा होगी देश के भावी कर्णधारों के सस्कारों और स्वभावों की ट्रेनिंग से।

शिक्षाशास्त्री, शिक्षाविद् तथा शिक्षकों को सोचने और समझने की बात है कि हमारी शिक्षा के मूलभूत दोष कहाँ हैं। इसकी सबसे ज्यादा जिम्मेदारी शिक्षकों पर है। विश्वास है, हमारे शिक्षक बन्धु इस दिशा में सोचेंगे और कुछ करेंगे। ●

क्या यह शोभा की बात होगी ?

सुकरात ज्ञान चर्चा में लगे हुए थे कि एक उजड्ड ईर्ष्यालु ने उनकी पीठ पर लात मारी और वे औंधे मुँह गिर पड़े।

अपने को सँभाल कर सुकरात उठे और बात जहाँ से छूटी थी वहीं से फिर करनी आरम्भ कर दी।

अपमान का कुछ भी ख्याल न करते देख—उपस्थित लोगों ने कहा—इस दुष्ट को सजा क्यों न दी जाय ?

सुकरात ने कहा—कोई गधा हमें लात मार दे तो क्या हमारे लिए यह शोभा की बात होगी कि हम भी उसे लात मारें ? ●

वाणी की स्वच्छता

•

क्रान्ति

काका साहब १० दिन के लिए बोधगया आये। समन्वय आश्रम में उनका निवास रहा। जीवन में समन्वयी वृत्ति लाने की प्रक्रिया क्या हो, यह था चिंतन का विषय। जब जीवन ही चिंतन का विषय बनता है तो अनेक पहलू, अनेक स्तर और अनेक प्रसंग चर्चा में आते हैं। आज बुद्ध-पूर्णिमा के दिन हिंसा अहिंसा पर चिन्तन विशेष रूप से चला। समन्वयी वृत्ति अहिंसा से पोषण पाती है। अहिंसा की भावना जीवन में प्रतिपल प्रकाशित होती है। अगर हम धीरज से काम लें तो विषम प्रसंगों पर भी अहिंसक उपाय सूझ जाता है। इस विचार को एक घटना द्वारा समझाने की कोशिश करते हुए काका साहब ने अपने शिक्षक काल का वर्णन किया—

'जब मैं बड़ौदा में शिक्षक था उस समय अनेक अवसरों पर विद्यार्थियों का मध्यस्थ बनना पड़ता था। कभी फैसला किसी के अनुकूल होता था, कभी किसी के प्रतिकूल। एक बार एक लड़के ने दूसरे लड़के को गालियाँ दीं। मेरे पास शिकायत आयी। मैंने हकीकत जानी। बात सही निकली। करना क्या? गाली की परम्परा चले, यह भी सहन नहीं। उपाय सूझा। समझाया—गाली देने से मुँह गन्दा हुआ, मुँह को स्वच्छ करना चाहिए। कुल्ला करने से मुँह साफ होगा। पानी मँगाया। कुल्ला करने को कहा। एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार कुल्ला करते-करते विद्यार्थी शर्मिन्दा हुआ। सारे लड़के खड़े देख रहे थे। सबके सामने इस तरह कुल्ला करने में अपमान लगा। इस घटना के बाद स्कूल में से गाली निकल गयी। लड़कों ने समझ लिया कि यह शिक्षक पीटेगा नहीं, पर सबके सामने कुल्ला करायेगा तो फजीहत होगी।'

मैंने यह घटना सुनी। अहिंसा की विजय पर प्रसन्नता होनी चाहिए थी, लेकिन मुझे चोट पहुँची। प्रश्न उठा—यह अहिंसा है या हिंसा का सूक्ष्म प्रकार? एक व्यक्तित्व जो अभी बच्चे के रूप में है उसका अपमान करना अहिंसा कैसे है? अपनी इस शंका को मैंने काका साहब के सामने रखा। पूछा—"धीरज से काम लिया आपने यह तो सही, लेकिन इस व्यवहार के पीछे छिपी अहिंसक दृष्टि की आपकी क्या व्याख्या है? क्योंकि अपमानित होने का भय भी तो व्यक्तित्व को कुंठित करेगा। मार के भय से भी बड़ा भय है यह।'

काका साहब ने इस शंका का समाधान करते हुए मात्र अहिंसक दृष्टि ही नहीं समझायी, परन्तु शिक्षक की किस भूमिका में वह अपने को रखते हैं, यह भी विस्तार से बताया, जो इस प्रकार है—'मेरी मुख्य भावना हमेशा यह रही कि बच्चे सूक्ष्म रूप से ईश्वर के अवतार हैं। भगवान ने उनके द्वारा उपासना करने का हमें मौका दिया है। उपासना के नाम से न बच्चों की पूजा करनी है, न खुशामद। बच्चों को चाहिए सच्ची और पूरी सह-अनुभूति तथा हार्दिक आदर।

"बच्चो मे हमारी अपेक्षा शारीरिक ताकत कम होती है और बुद्धि का विकास पूरा नहीं होता। उनकी इस स्थिति का लाभ उठाकर अगर हम उनको मारें-पीटें और कदम-कदम पर डाँटें तो वह बेचारे तो कुछ कर नही सकते, किन्तु हमारी असस्कारिता बढती है। बच्चे भी उस असस्कारिता की दीक्षा लेते है। हमेशा पीटते रहने से बच्चे आदी बन जाते हैं और उसकी परवाह नही करते। इस तरह शिक्षक के हाथ का एक-मात्र अस्त्र तथा इलाज निर्वीर्य बन जाता है। मैंने देखा है कि कुछ पति भी अपनी पत्नी को पीटते है काबू में रखने के लिए। वहाँ भी यह इलाज व्यर्थ हो जाता है। पत्नी सोचती है—ज्यादा-से-ज्यादा क्या करेगा, पीटेगा ही न।

"मैंने देखा है कि मार खाने से बच्चे इतने दु:खी नहीं होते जितना अपमान करने से या औपरोधिक (सारकेस्टिक) भाषा के द्वारा उनकी फजीहत करने से। वे अपने अपमान का बदला कैसे लें? उनके हाथ में जो चीज है वही वे करते है। अपना प्रेम, अपना आदर और अपनी उत्सुकता वापस खींच लेते हैं। एक कवच सा धारण कर लेते है। फिर वे बच्चे हमारे नही रहते। सच्चे शिक्षक के लिए यह सबसे बडी सजा है।

"कुदरती तौर पर बच्चे हमारे पास सबकुछ लेने के लिए—ज्ञान, प्रेम, सहानुभूति, नमोहत, प्रोत्साहन और विनोद—अपना हृदयक-मल खुला, उत्फुल्ल रखकर हमारे पास आते हैं। यह स्थिति एक तरह से स्वर्गीय होती है। उत्फुल्ल वृत्ति के बच्चो को पाना सच्चे शिक्षको के लिए स्वर्गीय आनन्द पाना है। जब बच्चे इस चीज मे हार्दिक असहकार करते है तब हम शिक्षक के स्वर्ग मे से गिर कर नरक मे पहुँच जाते है।

"कुदरत की कृपा है कि बच्चे हमारे इस दुर्व्यवहार को जल्दी भूल जाते है या उस चीज का मन मे महत्व ही कम कर देते है, मानो हमें क्षमा कर देते है।

"बच्चे बडो के प्रति, शिक्षक-समुदाय के प्रति, जितनी क्षमावृत्ति जताते हैं, उससे आधी क्षमावृत्ति भी अगर शिक्षक में आ जाय तो उनका उद्धार हो जाय और बच्चे बच जायें।

"जिस समय का यह अनुभव मैंने बताया उस समय मै अहिंसा का कायल नहीं था। प्रारम्भ मे बच्चो को पशु के जैसा पीटता था। (बच्चो को पशु समझकर और अपने को पशु बनाकर दोनो अर्थ यहाँ अभिप्रेत है।) बाद में देखा कि सजा करना अपनी अध्यापन-कला को बट्टा लगाना है और परास्त होना है। तब पीटने का रिवाज कम किया, असाधारण प्रसंग के लिए पिटाई को सुरक्षित रखा। धीरे-धीरे अहिंसा का साक्षात्कार होने पर मै देख सका कि हिंसा का अल्पमात्र प्रयोग भी शिक्षण के क्षेत्र को बिगाड देता है।

"बच्चो का अपमान करना मेरे शिक्षक मन के लिए हीनता की पराकाष्ठा है। साथ ही अपनी उपासना में से भ्रष्ट होना है। तो भी मैंने कभी-कभी अपमान करने का इलाज जरूरी माना है। जब कोई लडका नैतिक क्षेत्र में बहुत गिरा है, बार-बार समझाने पर भी नहीं माना तब मैं सोच-समझकर शान्ति-वृत्ति से उसके ऊपर मानापमान का इलाज अजमाता। अपनी तरफ से उसकी प्रतिष्ठा सँभालता हूँ, विद्यार्थी-समाज में उसकी प्रतिष्ठा हो या न हो। सच तो यह है कि उसकी आबरू का सवाल होता है, जिसे खोने को कोई भी तैयार नही होता। आबरू खोने पर आत्महत्या कई लोगो ने की है।

"आबरू तीन किस्म की होती है। एक, आन्तरिक, स्वय अपनी हीनता को देखने के बाद अपने ही बारे में तिरस्कार पैदा होता है। अपनी नजर में अपनी आबरू खो बैठने का दर्द सबसे अधिक होता है।

"आबरू का दूसरा प्रकार दो आदमी के बीच का होता है। जहाँ परस्पर प्रेम, आदर और आत्मीयता होती है वहाँ एक दूसरे के बीच एक सुन्दर स्वच्छ चित्र होता है। एक दूसरे के प्रति एक सद्भाव होता है। जब यह सद्भाव टूट जाय, आदर नष्ट हो जाय तो भले इसे बाहर की दुनिया न जाने मनुष्य को प्राणान्तिक दु:ख होता है।

"मैंने देखा है कि गाधीजी ने जब कभी किसी का पतन देखा तब वे उसे खानगी में डाँटने में कमी नहीं करते थे। डाँटने के बाद उसे समझाते थे कि समाज के

सामने दम्भी बनकर न रहना है तो अपना दोष समाज के सामने प्रकट करना ही अच्छा है। प्रकट करने में स्वयं मदद करते थे, पर किसी की फजीहत नहीं करते थे। वे जानते थे कि फजीहत करना पराकोटि की हिंसा है। आबरू का तीसरा क्षेत्र है सामाजिक प्रतिष्ठा का। मनुष्य का व्यक्तित्व तीनों क्षेत्रों में पनप सकता है, या क्षीण हो सकता है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहने के साथ ही सामाजिक आबरू का भाव पैदा होता है, जिसका व्यक्ति के व्यक्तित्व में बहुत बड़ा हिस्सा है। इन तीन प्रकारों में पहले प्रकार को 'सेल्फ रेस्पेक्ट' कहते हैं, दूसरा प्रकार 'म्युचुअल रेस्पेक्ट' और तीसरा प्रकार है सोशल रेस्पेक्ट। मामूली व्यवहार में जब आदमी सेल्फ रेस्पेक्ट की बात करता है तब उसके मन में सोशल रेस्पेक्ट की ही बात होती है। जो व्यक्ति सच्चा पारमार्थिक है वही सच्चे 'सेल्फ रेस्पेक्ट' को पहचानता है। जब दो व्यक्तियों के बीच उत्कट और आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है तभी म्युचुअल रेस्पेक्ट की बात आती है। यह प्रकार गूढ़ होता है। बहुत कम लोग इसका अनुभव करते हैं।'

"जब मैंने गालियाँ देनेवाले लड़के को सबके सामने कुल्ला करने को कहा तब मैं जानता था कि मैं एक बहुत तेज (तेजाब के जैसा) इलाज काम में ला रहा हूँ। उसका प्रभाव उस लड़के पर तो पड़ेगा ही, साथ ही सारे विद्यार्थी-समाज पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

"जो विद्यार्थी दूसरे का अपमान करने के लिए तैयार हुआ वह समाज में अपने को असंस्कारी और हीन बनाता है। इसकी ओर उसका ध्यान खींचना जरूरी होता है। ध्यान खींचने का प्रयोग ही कारगर होगा। यह सब सोचकर सबके सामने खड़ा होकर कुल्ला करने को कहा। गन्दे मुँह को साफ करने की बात सबके लिए नयी थी। इस नाटकीय ढंग से जब मैंने गाली के प्रति अपनी नफरत बतायी तब वे लड़के एक नया सबक सीख सके।

"यह प्रयोग पूरा अहिंसक था, यह मैं नहीं कहूँगा लेकिन मेरे सामने एक लड़के या एक व्यक्ति का सवाल नहीं था, सारे समाज का था। इसी कारण मुझे आज भी उस प्रयोग का दुख नहीं है। मैंने इसे वाणी की स्वच्छता का पाठ कहा।

"गालियाँ देकर किसी का अपमान करना अलग चीज है और रोजमर्रा के सम्भाषण में गन्दे, 'अश्लील शब्दों' का उपयोग करना अलग चीज है। गाली देना नैतिक गुनाह है। अश्लील शब्दों का उपयोग करना सामाजिक शिष्टाचार का भंग करना है। दोनों में फर्क करना चाहिए। हरेक समाज का अपना-अपना शिष्टाचार होता है। एक ही चीज के लिए स्वाभाविक, प्राकृतिक शब्द और अश्लील शब्द दोनों होते हैं। दोनों में विवेक करने-जितनी संस्कारिता तो होनी ही चाहिए। कई सन्तों को भी अश्लील शब्दों का उपयोग करने की आदत होती है। वह सवाल इससे अलग है।"

शिक्षा, परीक्षा, परीक्षार्थी और निरीक्षक

•

डा० गोपीनाथ तिवारी

"क्यों मास्टर साहब, जान प्यारी नहीं ?"

"है, पर उससे अधिक कर्तव्य प्रिय है।"

"जानते है इसका फल ?"

"पेडो से पत्थर मारकर तोडे जाते हैं, पर वृक्ष घबराता नही।"

पुस्तक के वे पर्चे जिनसे वह छात्र नकल कर रहा था, २८ वर्ष के सुन्दर, गौर वर्ण शिक्षक ने अपने हाथ में और दृढता से पकड लिये। पर, उसने मन में सोचा–रिपोर्ट न करो और उसने उन्हें फेंक दिया। वह स्कूल से घर गया। पत्नी ने कहा—"क्यों आग में कूदते हो। आज के छात्र छात्र नही रहे।"

सन्ध्या को जब वह घर वापस जा रहा था, उसके पेट में छुरा भोक दिया गया। वह अस्पताल में मर गया। यह घटना पीपरी की है।

उधर बुलन्द शहर में भी छुरा भोंका गया। पचास वर्ष का प्रौढ शिक्षक था वह, लेकिन बच गया है। ५० से अधिक घटनाएँ हुई है, जिनमें छुरा मेज पर रखा गया था। सौ से अधिक घटनाओं में शिक्षकों ने आंखे मूंद ली।

'कौन निरीक्षण कर जान गँवाये' यह प्रश्न है प्रत्येक शिक्षक के सामने। शिक्षक-सघ इस समस्या को उठानेवाला है। एक अध्यापक को धमकी दी गयी। वह दूसरे गाँव के स्कूल के परीक्षार्थियो को लाया था। उसने थोडी बुद्धिमानी की। वह अपने परीक्षार्थियों के साथ चला। रास्ते में पकडे गये नकलची का गिरोह खडा था। गिरोह में बीस-पचीस छात्र थे, कुछ छुरा-चाँकों के साथ, पर अध्यापक के साथ साठ-सत्तर छात्र थे। अत वह बच गया। वह तुरत अपने स्कूल गया। उसने प्रधानाध्यापक से घटना सुनायी। अध्यापक वापस बुला लिया गया।

इस भीषण समस्या का समाधान क्या है ? एक अनुभवी अध्यापक ने कहा—"खुली आँखो पर पट्टी बाँधना। होने दें नकल।" दूसरे ने कहा—"पुलिसवाले निरीक्षण-कार्य करें, अध्यापक नही।" तीसरे ने कहा—"अमेरिका के समान छात्रो को पुस्तकें साथ रखने एवं प्रयोग करने की आज्ञा दी जाय।" अबतक चुप बैठे बूढे अध्यापक ने कहा—"कुर्सियों के झगडे में देश के बिगडने या बनने का ध्यान किसे है ?"

समस्या का समाधान यदि शीघ्र न किया गया तो शिक्षा शकट चर्र-चर्र कर बैठ जायेगा। निरीक्षण का कार्य इसलिए कठिन हो रहा है—कि छात्र-जीवन का केन्द्र केवल एक वार्षिक परीक्षा के फल पर टिका है। वह जानता है, बस इसी वैतरणी के पार हो जाने पर पौ-बारह है। अतः येन-केन-उपायेन वह उसे पार करना चाहता है। चाहे बर्छा चलाये; चाहे रुपया। यदि परीक्षण-पद्धति बदल दी जाय तो यह समस्या सुलझ सकती है। मासिक परीक्षाएँ चलनी चाहिएँ, जिनके अंक वार्षिक परीक्षा में जोडे जायें। लिखित और मौखिक दोनो परीक्षाएँ होनी चाहिएँ, कुछ अंक साधु-व्यवहार के लिए रहें। जब छात्र देखेगा कि प्रतिदिन की तैयारी

पर पास होना निर्भर है तो वह अध्यापक पर रुक जायेगा।

इस विषय में कुछ सावधानी से काम लेना है। सभी शिक्षक दूध के धोये नहीं हैं, यह माना जायेगा। इंजीनियर भी दूध के धोये नहीं, पर वे ठेके देते हैं। उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करना होगा। परीक्षण एक अध्यापक न करके सब करें। मेरा सुझाव है कि सभी अध्यापक परीक्षा लें और वे सब सकलित होकर औसत पर आ जायें। विश्वास की सीढ़ी पर तो चढ़ना ही पड़ेगा, तभी ऊँची अट्टालिका पर चढ़ पायेंगे।

●

माफ करने की लाचारी

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध सामाजिक नेता श्री० निवास शास्त्री एक समय विश्वविद्यालय के कुलपति थे। अध्यापकों द्वारा किये हुए जुर्माने की अपील लेकर अक्सर छात्र उनके पास जा पहुँचते थे और उनसे माफी लिखा लाते।

एक दिन अध्यापक मिलकर शास्त्री जी के पास पहुँचे और कहा—"हम जुर्माना करते हैं और आप उसे माफ कर देते हैं, इस प्रकार क्या अनुशासन बिगड़ेगा नहीं?"

शास्त्री जी ने सहानुभूति के साथ अध्यापकों की बातें सुनीं और उसका औचित्य भी माना। पर अपनी भावनागत कठिनाई बताते हुए उन्होंने कहा—"जब मैं छोटा था तो बड़ी निर्धन स्थिति थी। साबुन खरीदने के लिए एक आना जब मेरी माता न जुटा सकती तो मुझे मैले कपड़े पहन कर स्कूल जाना पड़ता। इस पर अध्यापक ने मेरे ऊपर आठ आना जुर्माना कर दिया। एक आना साबुन के लिए ही न था तो आठ आना जुर्माना कहाँ से देता?"

अपनी इस स्थिति का स्मरण मुझे हो आता है और छात्रों का जुर्माना माफ करने पर विवश होना पड़ता है।

—डा० गोपालप्रसाद 'वंशी'

●

मैं सफल चित्रकार हूँ

●

रा० वीजिनाथन्

सम्पादक 'कल्कि' उस वक्त 'आनन्द विकटन' के सम्पादक थे। बच्चों के लिए एक चित्र स्पर्धा रखी गयी थी। स्पर्धा का फल घोषित हुआ और बच्चों के कई चित्र पत्र में छपे। एक लड़के के पिता को अपने पुत्र का चित्र उसमें न पाकर इतना गुस्सा चढ़ आया कि वे पैर पटकते हुए 'आनन्द विकटन' कार्यालय की सीढ़ी पर चढ़ आये, और बरस पड़े कि मेरे पुत्र का चित्र क्यों नहीं छापा? मेरे पुत्र के चित्र से बढ़ कर अच्छा चित्र इसमें कोई नहीं है।

शोरगुल सुनकर 'कल्कि' वहाँ पहुँचे और शान्त स्वर में बोले—"यह आप कैसे कहते हैं कि वही चित्र उत्तम है।"

"आपको मालूम हो या न हो, मैं एक सफल चित्रकार हूँ। अपने हाथों मैंने वह चित्र बनाया है और बेटे के नाम पर भेजा है। ऐसी स्थिति में आप ही कहिए कि मेरा चित्र स्पर्धा में असफल कैसे हो सकता है?" चित्रकार ने गुस्से के आवेश में सच्ची बात उगल दी।

कल्कि ने मुसकुराते हुए कहा—"स्पर्धा का नियम आपने पढ़ा है न? स्पर्धा तो बच्चों के लिए चलायी गयी है, बच्चों के बाप के लिए नहीं।"

चित्रकार अपना सा मुँह लेकर रह गये।

●

बोलती कतरनें

हिसार जिले के अवकाश-प्राप्त अध्यापकों की एक बैठक ने फिर से नौकरी की माँग की है। २४ मई-हिन्दुस्तान

माँग तो अच्छी है, लेकिन फुरसत किसे कि इस पर विचार करे?

बिहार स्कूल परीक्षा बोर्ड की सेकण्डरी परीक्षा में बैठे ८४ प्रतिशत छात्र इसलिए अनुत्तीर्ण हो गये कि उन्हें अँग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान न था। २४ मई-हिन्दुस्तान

अँग्रेजी का ज्ञान पर्याप्त हो जाय, इसके लिए पाठ्यक्रम में ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि एक वर्ष केवल अँग्रेजी ही पढ़ायी जाय।

मद्रास के शारीरिक विकास और प्रतिरक्षा संस्थान ने शोध की है कि बच्चों के लिए स्कूल का बस्ता कन्धे पर लटकाने के बजाय पीठ पर लटकाना ज्यादा अच्छा है। २४ मई-हिन्दुस्तान

शोध का अगला कदम यह होना चाहिए कि अगर बस्ता ही न रहे तो ... !

योग्य और गरीब छात्रों की सहायता के लिए बाकेला में पाठ्य पुस्तकों के पुस्तकालय बनेंगे। —हिन्दुस्तान

पुस्तकें पढ़ने को मिलें या न मिलें, इस खबर से गरीब और योग्य छात्रों में काफी उत्साह है। यही क्या कम है कि उनके बारे में सोचा जा रहा है!

दिल्ली में एक प्राइवेट स्कूल का छज्जा गिर जाने से छ छात्राएँ घायल हो गयी। ११ मई-हिन्दुस्तान

पता नहीं, नगरपालिका के अधिकारी अब भी इस घटना को जान पाये हैं या नहीं!

सरकार गुरुकुल शिक्षा-पद्धति को बढ़ावा देने के लिए भी यथा सम्भव प्रयत्न करेगी। ११ मई–हिन्दुस्तान

किसी को शिकायत का मौका न मिले, इसीलिए सरकार हर पद्धति को एक ऑख से देखती है।

दिल्ली प्रशासन के शिक्षा निदेशालय ने आठवीं कक्षा के लिए परीक्षा-बोर्ड बना रखा है। उसमें आधे से अधिक छात्र एक-एक विषय में फेल हुए। ६ मई–हिन्दुस्तान

फेल होनेवाले विद्यार्थियों के विषय क्या रहे, यह तो बताया नहीं गया, शायद वह विषय अँग्रेजी रहा हो।

नरेन्द्र सिंह (लतीफपुर, जौनपुर) सूचित करते हैं कि स्थानीय मिडिल स्कूल-जिसकी स्थापना वहाँ के उत्साही व्यक्तियों ने की है—की ओर शिक्षा विभाग ज्ञापन के बावजूद ध्यान नहीं देता। २६ मई–हिन्दुस्तान

शिक्षा विभाग ध्यान दे या न दे, आप अपना उत्साह ठंडा क्यों होने दे रहे हैं?

उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री ने राज्य-विधान सभा में बताया है कि केन्द्रीय सरकार ने एक सुझाव भेजा है कि सहायता प्राप्त हायर सेकंडरी स्कूलों और इंटरमिडिएट स्कूलों के अध्यापकों का वेतनक्रम एक सा होना चाहिए। इसके लिए प्रान्तों ने ५० प्रतिशत केन्द्र से सहायता माँगी है। १० मई-हिन्दुस्तान

सुझाव तो अच्छा है, लेकिन न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।

दिल्ली नगर-निगम के शिक्षा-विभाग ने अगले साल से अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून को सख्ती से लागू करने का फैसला किया है। —हिन्दुस्तान

कठिनाई क्या है, गाया गीत दुहराने में विशेष असुविधा नहीं होती। रजिस्टरों में जाली संख्याएँ भर दी जायेंगी।

मुरादाबाद से श्री सुरेशकुमार जी लिखते हैं कि उत्तर-प्रदेश सरकार ने जूनियर टेक्निकल स्कूल का उद्देश्य छात्रों को तीन वर्ष की ट्रेनिंग देकर उन्हें कुशल कारीगर बना देना है, लेकिन कोर्स पास करने के बाद भी केन्द्रीय सरकार में इसकी कोई मान्यता नहीं है। २१ मई-हिन्दुस्तान

कारीगर के लिए समाज में मान्यता की जरूरत नहीं होती, फिर सरकार इस झंझट में क्यों पड़े?

पता चला है कि पुरजा (उ० प्र०) में उच्चतर माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं के लगभग सवा सौ अध्यापकों को पिछले एक माह का वेतन अभीतक नहीं मिला है। साथ ही आगामी दो मासों में भी वेतन मिलने की आशा नहीं है। २१ मई हिन्दुस्तान

लेकिन आशा क्यों छोड़ते हैं? सब्र और सन्तोष से काम लें। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों—'फिर ऐहैं बसन्तऋतु'।

श्री शंकर-द्वारा आयोजित बालक-बालिकाओं की तरबाज चित्रकला प्रतियोगिता में लगभग १० हजार सदस्यों ने भाग लिया। पुरस्कार वितरण श्रीमती बोस-द्वारा हुआ। ८ मई-हिन्दुस्तान

बच्चों को पुरस्कार माँ से ही मिलना उचित था और यही हुआ लेकिन यह पुरस्कार उन्हें प्रतियोगिता के दलदल से निकलने भी देगा, कौन बताये, मैं या शंकर?

भारत में प्रत्येक व्यक्ति पर शिक्षा का औसत खर्च केवल एक आना है, जबकि अमेरिका में सोलह आने। २४ मई-हिन्दुस्तान

हम अभी प्रयोग कर रहे हैं, इसलिए आप इस बात की शिकायत नहीं कर सकते।

'विकास-योजना में बच्चे और युवक' विषय पर इटली में हुए सम्मेलन सम्मेलन से लौटने पर योजना आयोग के सदस्य डा० राव ने कहा है कि बाल समस्याओं पर विचार करने के लिए संसदीय समिति बने। ११ मई-हिन्दुस्तान

बात तो सवासोलह आने ठीक है, लेकिन कबतक और उसका बजट क्या हो, यह तो बताया ही नहीं?

जयपुर में १५ जुलाई से स्वावलम्बी छात्रावास खुलने जा रहा है। २० मई-हिन्दुस्तान

लेकिन दूसरे छात्रावासों पर क्या गुजरेगी, भगवान जाने।

योजना आयोग के सदस्य श्री श्रीमन्नारायण ने कहा है कि योजना आयोग चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान देश में प्रौढ़ों को शिक्षा देने के लिए विशाल कार्यक्रम तैयार कर रहा है। १७ मई-हिन्दुस्तान

अभी तो योजना तैयार हो रही है न! उसे दिल्ली से गाँवों तक पहुँचने में कितना समय लगेगा, इसे कौन बताये?

गुरु कौन?

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्मान में द्विवेदी मेला का आयोजन किया गया था। आमन्त्रितों में डा० गंगानाथ झा भी थे। ज्यों ही झा जी आये त्योंही द्विवेदी जी उनका चरण स्पर्श करने के लिए आगे बढ़े। डा० झा तुरन्त पीछे हटते हुए बोले—अरे, अरे! आप यह अन्याय क्यों कर रहे हैं? आप तो मेरे गुरु हैं।

दूसरी ओर द्विवेदी जी उन्हें अपना गुरु बना रहे थे। बाद में डाक्टर झा ने कहा—एक बार मैंने 'सरस्वती' में एक लेख छापने के लिए भेजा। जब वह लेख छपकर आया तो देखा उसमें आदि से लेकर अन्त तक संशोधन किया गया था। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप मेरे गुरु हैं, क्योंकि हिन्दी लिखना आपने बताया है।

शिक्षा-मंत्रि-सम्मेलन के निष्कर्ष

रामशरण उपाध्याय

[२५, २६ अप्रैल '६४, नयी दिल्ली में सभी राज्यों के शिक्षा मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसका मुख्य विषय था—देशभर की स्कूली शिक्षा में एकरूपता लाना और शिक्षा के स्तर को ऊँचा करना।—सम्पादक]

१. विद्यालयीन शिक्षा के अन्तर्गत समावेशित विषयों में स्थूल रूप से एकरूपता होनी चाहिए। यद्यपि इसके लिए कोई ऐसा कड़ा नियम नहीं होना चाहिए कि विद्यालय-शिक्षा कितनी अवधि की हो।

२. विश्वविद्यालयों में अभी चलते हुए प्राक्‌विश्व-विद्यालय पाठ्यक्रम (प्री युनिवर्सिटी कोर्स) को कुछ वर्षों की योजना बनाकर क्रमशः विद्यालयों को स्थानान्तरित कर देना चाहिए। यह सुझाव इसलिए दिया गया है कि सारी माध्यमिक शिक्षा को विद्यालयों में ही पूरा हो जाना चाहिए और विद्यालय छोड़ते समय छात्रों की योग्यता पुराने इंटरमीडियट स्तर तक की हो जानी चाहिए।

३. इस सम्बन्ध में काफी चर्चा हुई। इन चर्चाओं में विद्यालय-शिक्षा के सम्बन्ध में सामान्यतः बारह वर्षों की अवधि की वाछनीयता स्वीकार की गयी। फिर भी, देश के विभिन्न भागों की विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन ने ऐसा कोई कड़ा नियम बनाना ठीक नहीं समझा कि विद्यालय-शिक्षा की अवधि बारह वर्षों की ही हो। इसके बदले जोर इस बात पर दिया जायेगा कि विद्यालय शिक्षा में समावेशित विषय सारे देश में एकरूप के हों और विभिन्न राज्यों में, जो परीक्षाएँ ली जायें, उनमें किन-किन राज्यों की किन-किन परीक्षाओं को अन्य राज्यों की किन-किन परिक्षाओं के समान माना जाय, इसका निर्णय स्पष्ट रूप से कर दिया जाय।

४. शिक्षा का संचालन राज्य-प्रशासन के अधिकार का विषय है। इधर केन्द्र शिक्षा-मंत्रणालय की ओर से अधिकाधिक अनुदान शिक्षा के लिए राज्यों को मिलते हैं। इस विचार से सम्मेलन में एक प्रस्ताव ऐसा रखा गया कि शिक्षा को केवल राज्य विषय नहीं मानकर राज्य-शिक्षा मंत्रणालय और केन्द्र-शिक्षा मंत्रणालय—दोनों का साझा विषय माना जाय। राज्य-शिक्षा-मंत्रियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। किन्तु, उन्होंने ऐसा विचार रखा कि केन्द्र को क्रमशः वर्द्धमान दायित्व, शिक्षा की गुणात्मक अभिवृद्धि का लेना चाहिए, सामान्यतया प्रारम्भिक शिक्षा की अवस्था से ही विज्ञान की शिक्षा का और प्रारम्भिक तथा माध्यमिक दोनों विद्यालयों में शिक्षक-प्रशिक्षण का। ऐसा प्रस्तावित हुआ कि इन योजनाओं का सूत्रपात केन्द्र की ओर से हो, उसकी अर्थ-व्यवस्था भी उसकी ओर से हो और इनका संचालन भी वे ही करें। इन केन्द्रीय परियोजनाओं के लिए केन्द्र थोक रकम उन पर ही खर्च होने के लिए अनुदान में दिया करे।

५ एक अखिल भारतीय शिक्षा-अधिसेवा का निर्माण हो।

६ प्रशासन को शिक्षा के ऊपर अपने राजस्व का १० प्रतिशत व्यय करना चाहिए और राज्य प्रशासनों को अपने-अपने राजस्व के २० प्रतिशत से कम नहीं व्यय करना चाहिए।

७ ११ वर्ष की अवस्था के सभी बालक बालिकाओं की शिक्षा का लक्ष्य चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक पूर्ण हो जाना चाहिए। बालिकाओं और ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों के छात्रों की भरती पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

श्री छागला ने ऐसा सुझाव दिया कि गाँव में आंशिक समय की शाला चलायी जाय। इससे लड़के विद्यालय की ओर आकृष्ट होंगे। उन्हें फिर कुछ समय भी मिल पायेगा कि वे अपने घरेलू कामों में हाथ बटा सकेंगे। स्कूलों में दोपहर के भोजन की व्यवस्था भी अपेक्षित मानी गयी। मद्रास राज्य की जनसहयोग के द्वारा विद्यालय सुधार की योजना दूसरे राज्य के अनुकरण के लिए विचारार्थ सुझायी गयी।

८ शिक्षा को बहुमुखी बनाया जाय और अधिकाधिक तकनीकी विद्यालय खोले जायें। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा को कृषि की ओर अभिमुख किया जाय और सामान्यतः विद्यालय स्तर की सभी शिक्षा को कृषि का पुट दिया जाय।

श्री छागला ने ऐसा बताया कि अभी भारत के छात्र माध्यमिक शिक्षा में केवल १२ प्रतिशत तकनीकी शिक्षा ग्रहण करते हैं, जबकि कुछ अन्य देशों में ६० से ७० प्रतिशत तक तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते हैं।

राज्यों के शिक्षा-सचिवों और लोक शिक्षा निदेशकों की एक बैठक दूसरे दिन के लिए बुलायी गयी और मन्त्रियों के सम्मेलन की ओर से उन्हें सुझाव दिया गया कि वे उनके निर्णयों को शीघ्र से शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करें।

●

बाईस गुंडी सूत

●

शिरीष

मैं विष्णु पंडित के साथ करीब ९ बजे सबेरे उनके घर पहुँच गया।

देखा एक ७० वर्षीय ताजगी से भरे पूरे वृद्ध को, जिनके अंग प्रत्यंग से जागृत जीवन झाँक रहा था। वे हमारी प्रतीक्षा में बाहर खड़े थे। वे थे श्री चिरंजीलाल जी बड़जाती, जिन्हें सभी श्रद्धापूर्वक काकाजी कहते हैं। वे श्रद्धेय जमनालालजी के मुनीम थे और आज भी उनके परिवार के वरिष्ठ सदस्य जैसे हैं।

उनकी मिलन की ललक और थोड़े ही समय में उनसे मिली असीम आत्मीयता कभी भुलायी नहीं जा सकती। देर तक हमलोगों की बातें चलती रहीं। इसी बीच एक लड़का आया। काकाजी ने उससे पूछा "क्यों मुकुल, आज तुम स्कूल नहीं गये ?"

वह चुप रहा। शायद वह हम अपरिचितों के कारण झिझक रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि वह चौथी कक्षा का छात्र है। काकाजी ने उसे पास बुलाया और स्नेह पूर्वक सिर पर हाथ फेरते हुए कहा— "बताओ न, चुप क्यों हो ?"

"मास्टर साहब ने कहा है कि कोई लड़का बिना २२ गुंडी सूत जमा किये इम्तहान में शरीक नहीं किया जा सकता।"—उसने कहा।

"तो क्या तुम्हारे पास सूत नहीं है ?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं है ?"

"स्कूल में कभी कताई हुई नहीं, सूत कहाँ से हो ?"

काकाजी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर उन्होंने हमलोगों की ओर रुख करके कहा—"देखते हैं न, यह है आज की पढ़ाई।" ●

पुस्तक-परिचय

'मानवीय निष्ठा'

"सर्वोदय विचार का साहित्य इन दिनों काफी परिणाम में निर्मित हो रहा है, उसके बुनियादी तत्वों पर विभिन्न व्याख्याएँ और विवेचन निकल रहे हैं। मैं कह सकता हूँ कि इन सिद्धान्तों का स्पष्टता से सरल भाषा में, दृष्टान्तों का हवाला देते हुए विशद विवेचन करने की कला में श्री दादा धर्माधिकारी निष्णात हैं। विश्वनीडम् (बंगलोर) में हुए दादा के प्रवचनों का संकलन 'मानवीय निष्ठा' सर्वोदय के बुनियादी सिद्धान्तों का दर्पण है।" गांधी विचार के जाने-माने विद्वान और गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर की उपर्युक्त भूमिका पढ़ने के पश्चात् पूरी पुस्तक पढ़ने की एक सहज ही जिज्ञासा हुई।

पुस्तक पढ़ चुकने के बाद मन बड़ा ही अनुप्राणित हुआ। ऐसा लगा कि एक बार फिर 'संजय' ने इस देश की सुषुप्त जनता को परिस्थिति का बोध कराया हो। कुछ दिन पहले चलती ट्रेन में दो पढ़े लिखे व्यक्ति देश की अधोगति पर जोरदार बहस कर रहे थे तबतक तीसरे व्यक्ति ने उबकर उनकी वार्ता में विराम लगाते हुए कह दिया कि ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ और भोग की प्रवृत्ति कब नहीं रही, यह तो जब से पहले मानव ने इस धरती पर पैर रखा तब से चली आ रही है। जोरदार वाद-विवाद में शामिल होकर गाल बजाने में हलुवा खाने से भी ज्यादा मजा आता है। इसलिए मैं भी बीच में बोल पड़ा कि स्वार्थ और भोग की प्रवृत्ति पहले भी थी, यह ठीक है, पर आज विज्ञान ने भोग के साधन बहुत बढ़ा दिये हैं, इसलिए अब जिन्दगी जीने के लिए पहले से कहीं ज्यादा सोच-विचार और विवेक की जरूरत है।

श्री दादा धर्माधिकारी की पुस्तक 'मानवीय निष्ठा' में आज के युग-बोध के विविध पहलुओं पर आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य चिन्तन-मनन के कई प्रसंग, जैसे—सत्यनिष्ठा, वस्तुनिष्ठा, स्वतंत्रता, समानता, समदर्शिता, सत्याग्रह आदि विविध दृष्टान्तों के साथ बोधगम्य शैली में बड़े ही मनोहारी ढंग से परिस्थिति-विश्लेषण के रूप में वर्णित हैं। किसी भी जिज्ञासा का नपा-तुला घिसा-पिटा उत्तर देने के बजाय उस विषय की तर्क-संगत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है और पाठक को स्वयं समाधान खोजने में प्रवृत्त किया गया है। सह चिन्तन की पद्धति पर व्याख्याकार ने श्रोताओं के साथ पूरा-पूरा तादात्म्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सहज बातचीत हो रही हो।

इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ने से दादा के तेजस्वी और मूलगामी विचारों का दर्शन होता है, जो व्यक्ति को समष्टि की समग्रता का बोध कराता है। शुद्ध मानव निष्ठ विचार हर प्रकार के पक्षवाद आदि से परे है। वह मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं करता, क्योंकि मानव विश्व की उच्चतम उपलब्धियों से भी उच्चतम है। मानव-निष्ठा की व्याख्या करते हुए दादा कहते हैं—"एक है जीवन की कला और दूसरी है जीवन की विद्या (साइंस आव् लाइफ), जीवन की कला या व्यवहार जीवन की शक्ति को बढ़ाने में है। जीवन की शक्ति का मतलब है, जीने की क्षमता। जीवन में जितनी जीने की शक्ति बढ़ती चली जायेगी उतनी दूसरों को अपने जीवन में शामिल करने की सम्भावना भी बढ़ती चली जायेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में देश विदेश की कई प्रसिद्ध पुस्तकों का सार-भाव-भीना दर्शन भी प्रसंग विशेष व अवसर पर उन पुस्तकों के नामोल्लेख के साथ दिया हुआ है जो विचारशील व्यक्तियों को और गहराई से स्वाध्याय की

प्रेरणा देता है। यह पुस्तक रूप में न लिखी जाकर भाषणों के संकलन के रूप में होने से जहाँ आमने-सामने की सहज वार्ता और सहचिन्तन का स्वरूप है, वहीं कहीं पुनरुक्ति का दोष भी आ गया है। सभी अध्याय मुक्तक के रूप में अलग-अलग माला के गुरिया की तरह हैं, जिन्हें एक में जोड़नेवाला केन्द्रबिन्दु (की प्वाइंट) मानवीय निष्ठा है। और, इसीलिए पुस्तक का नाम भी यही रखा गया है।

यह पुस्तक कन्नड भाषा में भी प्रकाशित हुई है। आशा है कि हिन्दी के पाठकों में भी इसका समादर होगा। मुद्रण, साज-सज्जा आकलन सभी उत्कृष्ट हैं और प्रूफ की अशुद्धियाँ नाम मात्र को भी नहीं हैं। मुखपृष्ठ सादा होते हुए भी आकर्षक और प्रभावोत्पादक है। १९० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य है केवल दो रुपये मात्र। इसके प्रकाशक हैं—मंत्री, सर्व-सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी।

उनके-जैसी अहिंसा कहाँ मिलेगी? बुद्ध धर्म सारा विश्व-धर्म हो सकता है, बुद्ध-धर्म को खतम कर सकता है।'

पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक सामग्री से ओत-प्रोत, संक्षेप में बड़ी कुशलता के साथ लिखी गयी है, जो अध्ययनशील पाठकों को भगवान बुद्ध और उनके भावदर्शन की जानकारी देने के साथ साथ जीवन की और भी कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन करती है। इन पंक्तियों के लेखक का यह सौभाग्य रहा है कि उसने श्री शिवाजी न. भावे को साहित्य-साधना में रत देखा है। वे एक उच्च कोटि के साहित्य-साधक हैं। विषय का शोध-अध्ययन ही नहीं, वरन् उस पर सम्यक् चिन्तन मनन कर मक्खनीत की तरह सार निकालने की कला में वे दक्ष हैं। इस ८८ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य है पचहत्तर नये पैसे-मात्र और इसे सर्व-सेवा संघ, वाराणसी ने प्रकाशित किया है। —गुरुशरण

●

भगवान बुद्ध : साररूप भावदर्शन

लेखक—श्री शिवाजी न. भावे

गागर में सागर भरनेवाली कहावत को अक्षरशः चरितार्थ करनेवाली यह छोटी सी पुस्तिका अभीतक के प्रकाशित बौद्ध-साहित्य में कई दृष्टियों से अनुपम है। इतिहास, साहित्य संस्कृति और धर्म के अध्ययन में गहरी रुचि रखनेवालों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

हठयोग, राजयोग, लोकयोग आदि गम्भीर विषयों को अत्यन्त सरल ढंग से 'हित मनोहारी' शैली में प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में महात्मा गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र, उनके जीवन दर्शन की सुदर पूर्व-पीठिका, निकटवर्ती पूर्व-पीठिका और उनके महापरिनिर्वाण के बाद की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कुछ प्रश्नों का भी समाधान किया गया है। भारत में बौद्ध-धर्म क्यों नहीं टिका? इसके कारणों का भी विवेचन इस पुस्तक में है। और, अन्त में बुद्ध-धर्म की वैदिक धर्म को देन बताते हुए कहा गया है कि बुद्ध भगवान-जैसी करुणा, बुद्ध भगवान जैसा वैराग्य, बुद्ध भगवान-जैसा सामूहिक ऐक्यमय जीवन, उनके-जैसी महान अन्तर्मुखता,

'सर्वोदय-सामयिकी'

समस्याएँ कई तरह की होती है—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि-आदि। और, उनका हल भी अलग-अलग ढग से होता है। ये समस्याएँ कभी-कभी इतनी तीव्र हो जाती हैं कि लोकमानस विक्षुब्ध हो उठता है। यह समय इतना नाजुक होता है कि मामूली-सी भूल हमारा बहुत बडा नुकसान कर जाती है और बाद मे हमे पछताने के सिवा और कोई चारा नही होता।

इसलिए जरूरत इस बात की है कि इन ज्वलन्त समस्याओं पर सागोपाग प्रकाश पडे और उनके हल के लिए एक सुगम रास्ता निकाला जाय। लेकिन, वह सुगम रास्ता क्या हो सकता है, इसका निर्णय कौन करे? मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार कोई अन्तिम बात तो नही कही जा सकती; लेकिन अपनी बात अपने ढग से तो कही ही जा सकती है।

इस सन्दर्भ मे सर्वोदय एक जीवन-विचार है, इससे आप परिचित हैं। उसका चिन्तन न केवल पक्षातीत है, बल्कि हर तरह के पूर्वाग्रह से मुक्त भी है। इस विचारधारा के अनुसार सामयिक समस्याओं पर सक्षेप मे, किन्तु समग्रता-पूर्ण सर्वोदय विचारकों की दृष्टि 'सर्वोदय-सामयिकी' पुस्तिका के माध्यम से प्रस्तुत करने का एक नया प्रयास सर्व-सेवा-सघ ने प्रारम्भ किया है।

यह पुस्तिका हिन्दी-अँग्रजी दोनो भाषाओं मे सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन, वाराणसी से निकलती है।

'सर्वोदय सामयिकी' की पहली पुस्तिका 'कश्मीर-समस्या' पर निकल चुकी है, जिसका मूल्य है ५० नये पैसे। अगली पुस्तिका का विषय है—साम्प्रदायिक दगे और उनका निराकरण।

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
नयी तालीम
रजि० सं० एल, १७२३
जून-जुलाई १९६५

अनियंत्रित राजसत्ता

एक बड़ा जमींदार था। वह सवेरे उठ नहीं सकता था। घटियाँ बजाकर लोग उसे उठाते थे, पर वह उठता नहीं था। एक दिन उसने अपने नौकर से कहा—"मैं कल से सवेरे घूमने जाना चाहता हूँ। तू मुझे सवेरे उठा दिया कर। तभी तुझे तनख्वाह मिलेगी।"

दूसरे दिन नौकर ने उसे बहुत पुकारा, पर वह नहीं जगा।

उठने पर उसने नौकर से कहा—"तूने मुझे क्यों नहीं जगाया ?"

नौकर ने कहा—"हुजूर, मैंने आपके कान के पास आकर आवाज दी, पर आप उठे ही नहीं।"

"फिर तेरी तनख्वाह नहीं मिलेगी।"

तीसरे दिन नौकर ने जाकर उसे खूब हिलाया-डुलाया, फिर भी वह नहीं उठा।

चौथे दिन नौकर ने उस पर पानी उँडेल दिया। इस पर वह उठा और नौकर को एक तमाचा मारकर फिर सो गया।

पाँचवें दिन नौकर ने फिर उस पर पानी उँडेला और जब वह उठा तो नौकर ने ही उसे एक तमाचा लगा दिया। दोनों में कुश्ती हो पड़ी। तब वह उठ खड़ा हुआ और उसने यह बात मंजूर की कि—"हाँ आज तूने मुझे जगाया है।"

इसी तरह का राज्यसत्ता का आधार है। इसे 'दण्ड' कहते हैं। हमने राजा को यह सत्ता दी; लेकिन हमने अपने को इतना गाफिल और बेवकूफ समझ लिया कि राजा से कह दिया कि "हमारा कल्याण करने की सारी सत्ता हम तेरे हाथ में देते हैं, कल्याण करने के लिए हम यदि स्वयं तैयार न हों, तो तू मार-मारकर हमारा कल्याण कर; लेकिन कल्याण का ठेका तेरा है।"

इसे हम 'अनियंत्रित राजसत्ता' कहते हैं।

—दादा धर्माधिकारी

श्रीकृष्णदत्तभट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३२,००० इस मास छपी प्रतियाँ ३२,०००